PALI GRANTHAMĀLĀ—1

Anuruddhācariya's

ABHIDHAMMATTHASAṄGAHO

[Vol. II]

Along with

Hindi Translation

&

ABHIDHARMA-PRAKĀŚINĪ Commentary

General Editor

BALADEVA UPADHYAYA

Director : Research Institute.

Critically Edited, Translated & Commented

by

BHADANT REWATADHAMMA (Burma)

AND

RAM SHANKAR TRIPATHI

Varanaseya Ṣanskrit Vishwavidyalaya

VARANASI.

पालिग्रन्थमाला—२

आचार्य-अनुरुद्ध-प्रणीत

अभिधम्मत्थसङ्गहो

[द्वितीय भाग]

हिन्दी अनुवाद और अभिधर्मप्रकाशिनी व्याख्या से विभूषित

सम्पादक, अनुवादक तथा व्याख्याकार

भदन्त रेवतधम्म (ब्रह्मदेश)

रामशंकर त्रिपाठी

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी

अभिधम्मत्थसङ्गहो

विषयानुक्रमणिका

द्वितीय भाग

षष्ठ परिच्छेद

सप्तम परिच्छेद

अष्टम परिच्छेद

नवम परिच्छेद

—:०:—

परिशिष्ट–२

वीथिसमुच्चय

(रूपवीथि)

—:०:—

परिशिष्ट–१

पट्ठानसमुच्चय

-:०:-

पञ्चमो परिच्छेदो

वीथिमुत्तसङ्गहविभागो

१. वीथिचित्तवसेनेवं पवत्तियमुदीरितो* ।
पवत्तिसङ्गहो नाम सन्धियं दानि वुच्चति ।।

इस प्रकार पहले वीथिचित्तों के वश से प्रवृत्तिकाल में 'प्रवृत्तिसङ्ग्रह' नामक वीथिसङ्ग्रह का कथन किया गया है। और अब प्रतिसन्धिकाल में 'प्रवृत्तिसङ्ग्रह' नामक वीथिमुक्तसङ्ग्रह कहा जाता है।

वीथिमुक्तसङ्ग्रहविभाग

१. अनुसन्धि – पूर्वोक्त क्रम से प्रवृत्तिकाल में वीथिचित्तों की उत्पत्ति (प्रवृत्ति) कहने के अनन्तर अब प्रतिसन्धिकाल में वीथिमुक्त चित्तों की उत्पत्ति कहने के लिये आचार्य 'वीथिचित्तवसेनेवं....' आदि द्वारा इस प्रकरण का आरम्भ करते हैं[1]।

इस गाथा में यद्यपि प्रधानतया प्रतिसन्धि के वर्णन की ही प्रतिज्ञा की गयी है, तथापि प्रतिसन्धि के साथ भवङ्ग एवं च्युति चित्तों की उत्पत्ति भी यहाँ कही जायेगी[2]। इसलिये यह वीथिमुक्तपरिच्छेद प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति चित्तों की उत्पत्ति दिखलानेवाला एक प्रकार का 'प्रवृत्तिसङ्ग्रह' है। इस गाथा के अनुसार 'प्रवृत्तिसङ्ग्रह' यह नाम वीथिसङ्ग्रह एवं वीथिमुक्तसङ्ग्रह – इन दोनों विभागों का नाम है – यह सिद्ध होता है।

---

* पवत्तिसमुदीरितो – रो०।

१. "एवं पवत्तिकाले पवत्तिसङ्गहं दस्सेत्वा इदानि पटिसन्धियं पवत्तिसङ्गहं दस्सेतुं आदिगाथामाह।" – प० दी०, पृ० १६२।

"एत्तावता वीथिसङ्गहं दस्सेत्वा इदानि वीथिमुत्तसङ्गहं दस्सेतुमारभन्तो आह – 'वीथिचित्तवसेनेवं' त्यादि।" – विभा०, पृ० १२२।

२. "एत्थ च पटिसन्धियं चित्तचेतसिकानं पवत्तिया कथिताय ततो परं भवङ्गकाले च चुतिकाले च तेसं पवत्ति कथिता येव होतीति कत्वा 'सन्धियं'मिच्चेव वुत्तं।" – प० दी०, पृ० १६२।

"इदानि तदनन्तरं सन्धियं पटिसन्धिकाले तदासन्नताय तंगहणेनेव गहित-चुतिकाले च पवत्तिसङ्गहो वुच्चतीति योजना।" – विभा०, पृ० १२२।

चत्तारि चतुक्कानि

२. चतस्सो भूमियो, चतुब्बिधा पटिसन्धि, चत्तारि कम्मानि, चतुधा मरणुप्पत्ति चेति* वीथिमुत्तसङ्गहे चत्तारि चतुक्कानि वेदितब्बानि।

चार भूमियाँ, चतुर्विध प्रतिसन्धि, चार कर्म एवं चतुर्विध मरणोत्पत्ति – इस प्रकार (इस) वीथिमुक्तसङ्ग्रह में चार चतुष्क ज्ञातव्य हैं।

चतस्सो भूमियो

३. तत्थ अपायभूमि, कामसुगतिभूमि, रूपावचरभूमि, अरूपावचरभूमि चेति चतस्सो भूमियो नाम।

इन चार चतुष्कों में से अपायभूमि, कामसुगतिभूमि, रूपावचरभूमि एवं अरूपावचरभूमि – ये चार भूमियाँ हैं।

भूमिचतुक्कं

कामावचरभूमि

अपायभूमि

४. तासु निरयो, तिरच्छानयोनि, पेत्तिविसयो, असुरकायो चेति अपायभूमि चतुब्बिधा होति।

उन चार भूमियों में निरय, तिरश्चीनयोनि, पेत्रविषय, (पितृस्थान) एवं असुरकाय – इस प्रकार अपायभूमि चतुर्विध है।

चार चतुष्क

२. इस परिच्छेद में भूमिचतुष्क, प्रतिसन्धिचतुष्क, कर्मचतुष्क एवं मरणोत्पत्तिचतुष्क – इस प्रकार चार चतुष्कों का क्रमशः वर्णन किया जायेगा।

चार भूमियाँ

३. उपर्युक्त चार चतुष्कों में से 'भूमिचतुष्क' में अपायभूमि, कामसुगतिभूमि, रूपावचरभूमि एवं अरूपावचरभूमि – इस प्रकार ये चार भूमियाँ होती हैं। इन चार भूमियों का आगे विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायेगा।

भूमिचतुष्क

कामावचरभूमि

४. अपायभूमि – 'तिविधसम्पत्तियो अयन्ति गच्छन्ति पवत्तन्ति एतेना ति अयो, अयतो अपगतो अपायो' – अर्थात् मनुष्यसुख, देवसुख एवं निर्वाणसुख नामक त्रिविध

---

*. स्या० में नहीं।

सम्पत्तियों की उत्पत्ति के कारणभूत कुशल कर्मों को 'अय' कहते हैं। उस 'अय' नामक कुशल कर्मों से अपगत (विरहित) स्थान को 'अपाय' कहते हैं। 'भवन्ति एत्था ति भूमि' अर्थात् जहाँ सत्त्व उत्पन्न होते हैं, उसे 'भूमि' कहते हैं[1]।

निरय – यहाँ 'अय' शब्द सुखार्थक है। उस 'अय' से विनिर्गत भूमि को 'निरय' कहते हैं। 'अयति वड्ढतीति अयो' अथवा 'अयितब्बो सादितब्बो ति अयो' अर्थात् जो कुशल कर्मों को बढ़ाता है अथवा जिसका आस्वादन किया जा सकता है, वह धर्म 'अय' है और जिस भूमि में 'अय' (सुख) नहीं है, उसे 'निरय' कहते हैं[2]।

वह निरय, सञ्जीव, कालसुत्त (कालसूत्र) सङ्घात, जालरोरुव (ज्वालरौरव), धूमरोरुव (धूमरौरव), तापन (तपन), पतापन (प्रतापन), एवं अवीचि – इस तरह ८ प्रकार का होता है[3]।

कहते हैं कि यह पृथ्वी २,४०,००० योजन गम्भीर है। वह १,२०,००० योजन-पर्य्यन्त मृत्तिकामय है, शेष १,२०,००० योजनपरिमित भाग पाषाणमय है। ऊपर के १,२०,००० योजन परिमाणवाले मृत्तिकामय भाग में क्रमशः ऊपर से नीचे ८ निरय होते हैं। एक निरय से दूसरे निरय के मध्य में १५,००० योजन का अन्तर (फासला)

---

१. "पुञ्ञसम्मता अया येभुय्येन अपगतो ति अपायो, सो येव भूमि; भवन्ति एत्थ सत्ता ति अपायभूमि।" – विभा०, पृ० १२२।
"भवन्ति सत्ता सङ्खारा च एतासू ति भूमियो, अयो ति वड्ढि, अत्थतो पन सुखञ्च सुखहेतु सुखपच्चया च वेदितब्बा, येभुय्येन ततो अपगता एत्थ निब्बत्ता सत्ता ति अपायो, सो येव भूमीति अपायभूमि।" – प० दी० पृ० १६२।

"अपायं ति एवमादि सब्बं निरयवेवचनमेव। निरयो हि सग्गमोक्खहेतुभूता पुञ्ञसम्मता अया अपेतत्ता, सुखानं वा आयस्स अभावा अपायो।... अथ वा अपायगहणेन तिरच्छानयोनिं दीपेति। तिरच्छानयोनि हि अपायो सुगतितो अपेतत्ता, न दुग्गति, महेसक्खानं नागराजादीनं सम्भवतो। दुग्गतिगहणेन पेत्तिविसयं। सो हि अपायो चेव दुग्गति च सुगतितो अपेतत्ता, दुक्खस्स च गतिभूतत्ता, नतु विनिपातो, असुरसदिसं अविनिपातत्ता। विनिपातगहणेन असुरकायं। सो हि यथावुत्तेन अत्थेन अपायो चेव दुग्गति च सब्बसमुस्सयेहि च विनिपातत्ता विनिपातो ति वुच्चति।" – विसु०, पृ० २९७-२९८।

२. "अयतो सुखतो निग्गतो ति निरयो।" – विभा०, पृ० १२३।
"सुखसङ्खातो अयो एत्थ नत्थीति निरयो।" – अट्ठ०, पृ० ३०७।
"नत्थि एत्थ अस्सादसञ्ञितो अयो ति निरयो।" – विसु०, पृ० २९७।
नरकादि शब्दों की व्युत्पत्ति के लिये द्र० – विभ० अ०, पृ० ४५९; स्फु०, पृ० २५३।

३. तु० – अभि० को० ३ : ५८, पृ० ३७१। जातक, द्वि० भा०, पृ० ६५।

होता है। अर्थात् इस मनुष्यभूमि के तल से १५,००० योजन नीचे 'संजीव' नामक निरय है। उससे १५,००० योजन नीचे 'कालसूत्र' है। इसी प्रकार अन्य निरयों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये।

'परमत्थसरूपभेदनी' के अनुसार सुमेरु पर्वत के नीचे असुरभूमि होती है और उसके नीचे क्रमशः ८ निरय होते हैं[1]।

यमराज – चातुर्महाराजिक देवों में परिगणित वैमानिक प्रेतराज को ही 'यमराज' कहते हैं। वे कभी कभी देवसुख का भोग करते हैं तथा कभी कभी अपने अकुशल कर्मों के फलस्वरूप अन्य प्रेतों के सदृश भी अनुभव करते हैं। यमराज एक नहीं, अनेक होते हैं। जिस प्रकार मनुष्यभूमि में अनेक राजा होते हैं उसी प्रकार एक निरयभूमि के चारों द्वारों पर चार यमराज आसीन होते हैं और वे उस भूमि में आनेवाले सत्त्वों से विविध प्रकार की पूछताछ करते हैं। वे उस भूमि में आनेवाले सभी सत्त्वों से पूछताछ नहीं करते। जिनके अकुशल कर्म अतिबलवान् होते हैं ऐसे सत्त्वों को तो सीधे नरक में चले जाना पड़ता है, उनकी पूछताछ नहीं होती; परन्तु जिनके अकुशल कर्म उतने बलवान् नहीं होते ऐसे सत्त्वों को नरक से छुटकारा दिलाने के लिये नरकपाल उन्हें यमराज के पास ले जाते हैं। यमराज उन सत्त्वों से जो पूछताछ करते हैं वह यातना देने के लिये नहीं होती; अपितु उन्हें नरक से छुटकारा दिलाने के लिये कोई रास्ता खोजने के बारे में होती है। जिस तरह आजकल मनुष्यलोक में भी उच्च न्यायालयों में अपील करने पर छुटकारे के लिये पूछताछ होती है। इसलिये यमराज दुष्टराज न होकर 'धर्मराज' होते हैं[2]।

नरकपाल – ये भी चातुर्महाराजिक देवों में परिगणित देवराक्षस हैं। जिन सत्त्वों के अकुशल कर्म अल्प होते हैं उन्हें नरक से छुटकारा दिलाने के लिये यमराज के पास ले जाना तथा जिनके अकुशल कर्म अधिक बलवान् होते हैं उन्हें भयङ्कर नारकीय यातनायें देना – यही इनका कर्म है। नरक में अनुभूत होनेवाले अग्नि-आदि अन्तराय

---

१. तु० – जम्बूद्वीप से २० सहस्र योजन नीचे 'अवीचि' नामक महानरक है। इसकी ऊँचाई और चौड़ाई २०,००० योजन है। इसके ऊपर ७ नरक हैं। द्र० – अभि० को० ३ : ५८, पृ० ३७१-३७२।

२. विस्तार के लिये द्र० – प० दी०, पृ० १६३।
"यमराजा नाम वेमानिकपेतराजा। एकस्मिं काले दिब्बविमाने दिब्बकप्परुक्खदिब्बउय्यानदिब्बनाटकादिसम्पत्तिं अनुभवति, एकस्मिं काले कम्मविपाकं। धम्मिको राजा। न चेस एको व होति, चतुसु पन द्वारेसु चत्तारो जना होन्ति।" – म० नि० अ० (उपरिपण्णासट्ठकथा), पृ० १६४; अ० नि० अ०, द्वि० भा०, पृ० ११८। तु० – अभि० को०, आ० न० दे०, पृ० ३७८।

नारकीय सत्त्वों के कर्म से उत्पन्न होनेवाले कर्मप्रत्यय ऋतुजरूप होते हैं, अतः नारकीय सत्त्वों को ही उनसे सन्ताप होता है, नरकपालों को नहीं[1]।

यमराजपरिपृच्छा– हम यहाँ यमराज द्वारा की जानेवाली परिपृच्छा (पूछताछ) के सम्बन्ध में 'देवदूतसुत्त'[2] के आधार पर सङ्क्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करते हैं–

मनुष्यभूमि में विद्यमान शिशु, वृद्ध, रुग्ण, अपराधी (चोर-आदि) एवं मृत – ये पाँच देवदूत कहे जाते हैं; क्योंकि ये यमराज द्वारा प्रेषित दूत की भाँति होते हैं। यमराज नरक में पहुँचनेवाले सत्त्वों से इन्हीं पाँच देवदूतों को दिखा दिखा कर पूछताछ करते हैं[3]।

यमराज – ऐ पुरुष! क्या तुमने मनुष्यभूमि में अपने मलमूत्र को भी साफ करने में असमर्थ अथ च उसी मलमूत्र में पड़े रहनेवाले अज्ञानी शिशुओं को नहीं देखा?

नारकीय – मैंने अच्छी तरह देखा है मान्यवर!

यमराज – तो फिर जब तुम अच्छी तरह समझने योग्य अवस्था में थे तब तुम्हें उन अज्ञानी शिशुओं को देखकर 'मुझे भी इन अज्ञानी शिशुओं की भाँति प्रतिसन्धि लेनी पड़ेगी, मैं अभी तक प्रतिसन्धि लेने के नियम का अतिक्रमण नहीं कर सका हूँ। अब से मैं अपने काय-वाक् का संयम करके भलीभाँति रहूँगा' – इस प्रकार के विचार कभी उत्पन्न नहीं हुए?

(यमराज इस प्रश्न को अत्यन्त दयार्द्र होकर करुणापूर्वक पूछते हैं।)

नारकीय – प्रमाद के कारण मैं कुशल कर्मों में कभी दिलचस्पी न ले सका।

यमराज – तुम्हारे अकुशल कर्म तुम्हारे माता, पिता, भ्राता, भगिनी-आदि किसी सम्बन्धी द्वारा नहीं किये गये हैं, अपितु प्रमादवश वे तुम्हारे द्वारा स्वयं किये गये हैं। अतः अपने द्वारा किये हुए उन अकुशल पापकर्मों का फल भी तुम्हें स्वयं भोगना पड़ेगा।

१. द्र० – प० दी०, पृ० १६३-१६४।

"एकच्चे थेरा 'निरयपाला नाम नत्थि, यन्तरूपं विय कम्ममेव कारणं कारेती' ति वदन्ति। तेसं तं 'अत्थि निरये निरयपाला ति? आमन्ता! अत्थि च कारणिका' ति आदिना नयेन अभिधम्मे पटिसेधितमेव। यथा हि मनुस्सलोके कम्मकारणकारका अत्थि, एवमेव निरये निरयपाला अत्थी ति।" – म० नि० अ० (उपरिपण्णासट्ठकथा), पृ० १६४; अ० नि० अ०, द्वि० भा०, पृ० ११८। द्र० – अभि० को०, आ० न० दे०, पृ० ३७५-३७६; मिलि०, पृ० ७०-७१।

२. म० नि०, तृ० भा०, पृ० २५०-२५४।

३. "देवो ति मच्चु, तस्स दूता ति देवदूता। जिण्णव्याधिमता हि संवेगजननट्ठेन 'इदानि ते मच्चुसमीपं गन्तब्बं' ति चोदेन्ति विय; तस्मा 'देवदूता' ति वुच्चन्ति।" – अ० नि० अ०, द्वि० भा०, पृ० ११७। विस्तार के लिये भी द्र० – वहीं।

इसी प्रकार यमराज वृद्ध को दिखाकर दूसरी बार, रुग्ण को दिखाकर तीसरी बार, अपराधी को दिखाकर चौथी बार एवं मृत को दिखाकर पाँचवीं बार भी प्रश्न करते हैं।

इस तरह पाँचवीं बार पूछने पर भी जब सत्त्व को अपने द्वारा किये हुए कुशल कर्मों का स्मरण नहीं होता तब यमराज 'इसने अकुशल कर्म करते समय अपने प्राप्त पुण्य का कुछ अंश (पत्तिदान) मुझे दिया है कि नहीं?' – इस प्रकार स्वयं विचार करने लगते हैं। जब यमराज को यह स्मरण होता है कि इसने मुझे अपने प्राप्त पुण्य का कुछ भाग (पत्तिदान) अमुक समय दिया है तब पुनः उस सत्त्व से कहते हैं – 'तुमने तो अमुक समय मेरे लिये अपने पुण्य में से पत्तिदान (अंशदान) किया था?' यमराज के इस प्रकार कहने पर इस बार भी यदि सत्त्व अपने द्वारा किये हुये कुशल कर्म का स्मरण करने में समर्थ हो जाता है तो यमराज उसे नरक से छुटकारा देकर अपने कर्म के अनुसार तदनुरूप योनि में भेज देते हैं। किन्तु यदि यमराज भी उसके प्राप्त पुण्य के पत्तिदान का स्मरण नहीं कर पाते तो वे उसे नरक की यातना भोगने की आज्ञा प्रदान कर देते हैं[1]।

[अत एव बौद्धों में अपने पुण्यों में से यमराज के लिये पत्तिदान करने की प्रथा आज भी प्रचलित है।]

सञ्जीव –

> "जलितावुधहत्थेहि खण्डितापि नेरयिका।
> जीवन्ता यम्हि पुनो पि 'सञ्जीवो' ति पवुच्चते॥"

जिस नरक में नारकीय सत्त्व जलते हुए आयुध लिये नरकपालों द्वारा खण्ड खण्ड किये जाने पर भी पुनः पुनः जीवित हो जाते हैं, उस निरय को 'सञ्जीव' कहते हैं[2]।

काळसुत्त (कालसूत्र) –

> "काळसुत्तेन तच्छन्ति यम्हि निरयपालका।
> अनुबन्धा पपतन्ते 'काळसुत्तो' पवुच्चते॥"

जिस नरक में नरकपाल सत्त्वों के पीछे (अनुबन्ध रूप में) दौड़ते हैं और उन सत्त्वों को कालसूत्र से चिह्नित करके (उस चिह्न के अनुसार बढ़ई की तरह) उन्हें काटते हैं – उस नरक को 'कालसूत्र' कहते हैं।

सङ्घात –

> "अयोमयपथव्यं हि कटिमत्तं पवेसिते।
> अयोसिला सङ्घाटेन्ति 'सङ्घातो' ति पवुच्चते॥"

---

१. द्र० – म० नि० (उपरिपण्णास), तृ० भा०, (देवदूतसुत्त), पृ० २५०-२५४। तु० – अ० नि०, प्र० भा०, पृ० १२८-१३०।

२. तु० – अभि० को०, आ० न० दे०, पृ० ३७२।

जिस नरक में, नरकपाल नारकीय सत्त्वों को नौ योजन लौहमय पृथ्वी में कटिपर्यन्त प्रवेश करा के अयोमय शिलाओं द्वारा सङ्घट्टन करते (पीसते) हैं उस नरक को 'सङ्घात' कहते हैं।

जालरोरुव (ज्वालरौरव) –

"जालाहि पविसित्वान डय्हमाना दयावहं।
महारवं रवन्तेत्थ वुच्चते 'जालरोरुवो'॥"

इस निरय में (शरीर के) नौ द्वारों में प्रविष्ट ज्वालाओं द्वारा दग्ध होते हुये नारकीय पुद्गल दयनीय रूप से क्रन्दन करते हैं। इसलिये इस नरक को 'जालरोरुव' (ज्वालरौरव) कहते हैं।

धूमरोरुव (धूमरौरव) –

"धूमेहि पविसित्वान सेदमाना दयावहं।
महारवं रवन्तेत्थ वुच्चते 'धूमरोरुवो'॥"

इस नरक में (शरीर के) नौ द्वारों में प्रविष्ट धूम द्वारा स्विन्न होते हुए नारकीय सत्त्व दयनीय रूप से क्रन्दन करते हैं, इसलिये इस नरक को 'धूमरोरुव' (धूमरौरव) कहते हैं।

तापन (तपन) –

"जलिते अयसूलम्हि निच्चलं निसिदापिते।
तापेति पापके पाणे 'तापनो' ति पवुच्चति॥"

जलते हुए अयःशूल पर निश्चल बैठाकर जो नरक पापी प्राणियों को सन्ताप देता है, उस नरक को 'तापन' (तपन) कहते हैं।

पतापन (प्रतापन) –

"अयसेलं आरोपेत्वा हेट्ठा सूलं पतापिय।
पापके यो पतापेति 'पतापनो' ति वुच्चते॥"

अयःशैल पर आरोपित कर के (वहाँ से) नीचे तीक्ष्ण शूलों पर गिराकर जो नरक पापी प्राणियों को सन्ताप देता है उसे 'प्रतापन' कहते हैं।

अवीचि –

"जालानं सत्तानं यत्थ नत्थि दुक्खस्स अन्तरं।
बालानं निवासो सो हि 'अवीचीति' पवुच्चते॥"

जिस नरक में ज्वालाओं और सत्त्वों के दुःख का विराम नहीं है अर्थात् ज्वालायें एवं सत्त्वों के दुःख निरन्तर प्रवर्तमान होते रहते हैं, मूढ पुद्गलों के निवासभूत उस नरक को 'अवीचि' कहते हैं[1]।

---

१. "अवीचिनिरयं ति वा अग्गिजालानं वा सत्तानं वा दुक्खवेदनाय वीचि, अन्तरं, छिद्दं एत्थ नत्थी ति अवीचि।" – अट्ठ०, पृ० ३०७।
"न विद्यते वीचि सुखं यत्र।" – अ० को०, अ० वि०, पृ० ५३। द्र० – अभि० को०, आ० न० दे०, पृ० ३७२।

ये आठ महानरक हैं। ये दुरतिक्रम हैं। ये रौद्र सत्त्वों से आकीर्ण हैं। इनके ४ प्राकार एवं ४ द्वार हैं। ये जितने लम्बे हैं उतने ही चौड़े हैं। इन के चारों ओर लौह प्राकार परिक्षिप्त हैं। इनकी छत भी लोहे की है। इनकी भूमि प्रज्वलित एवं तेजोयुक्त लोहे की है। ये अनेक शत योजन तक दीर्घ ज्वालाओं से व्याप्त हैं[1]।

उस्सद नरक (उत्सद) – 'उस्सद' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। यहाँ 'उत्' शब्द 'अधिक' अर्थ में हैं। अधिक यातना का स्थान होने से इन्हें 'उत्सद' कहते हैं[2]। उपर्युक्त ८ महानरकों के अतिरिक्त 'उस्सद' नामक क्षुद्र नरक भी होते हैं। ये मूलभूत उन ८ महानरकों को चारों ओर से घेर कर अवस्थित रहते हैं। इन उस्सद नरकों का वर्णन अनेक ग्रन्थों में अनेक प्रकार से किया गया है; किन्तु यहाँ 'देवदूत-सुत्त'[3] में कथित नरकों की ही व्याख्या की जायेगी। उस 'देवदूतसुत्तपालि' में "तस्स खो पन, भिक्खवे! महानिरयस्स समनन्तरा सहितमेव महन्तो गूथनिरयो" – इस प्रकार 'गूथनिरय' अवीचि-नरक के परिवाररूप में ही कहा गया है। किन्तु अन्य महानरकों में भी ये उनके परिवाररूप में होंगे ही। महानिरय के ४ द्वार हैं, जिनके समनन्तर ४ उपनिरय हैं। यथा – गूथनिरय, कुक्कुलनिरय, सिम्बलिवन, असिपत्रवन। इन सबके समन्ततः खारोदका नदी है।

गूथनिरय –

"अवीचिम्हा पमुत्तापि अमुत्ता सेसपापिनो।
पच्चन्ति पूतिके गूथे तस्सेव समनन्तरे॥"

अर्थात् अवीचि से मुक्त होने पर भी जिनके अकुशल कर्म अवशिष्ट हैं वे पापी सत्त्व मुक्त न होकर उस महावीचि के समनन्तर अवस्थित 'पूतिगूथ' नामक नरक में पकाये जाते हैं।

कुक्कुलनिरय – (कुकूल)

"पूतिगूथा पमुत्तापि अमुत्ता सेसपापिनो।
पच्चन्ति कुक्कुले उण्हे तस्सेव समनन्तरे॥"

अर्थात् 'पूतिगूथ' नामक नरक से मुक्त होने पर भी जिनके अकुशल कर्म अवशिष्ट हैं वे पापी सत्त्व मुक्त न होकर उस पूतिगूथ के समनन्तर अवस्थित उष्ण भस्म-वाले 'कुक्कुलोण्ह' नामक नरक में पकाये जाते हैं।

सिम्बलिवन – (अयःशाल्मलीवन)

"कुक्कुलोण्हा पमुत्तापि अमुत्ता सेसपापिनो।
पच्चन्ति सिम्बलीदाये तस्सेव समनन्तरे॥"

---

१. द्र० – जातक, द्वि० भा०, पृ० ६५; मं० नि०, तृ० भा०, (उपरिपण्णास), पृ० २५५; अं० नि०, प्र० भा०, पृ० १३१।

२. "अधिकयातनास्थानत्वादुत्सदः।" – स्फु०, पृ० ३२६।

३. म० नि०, तृ० भा०, पृ० २५७।

अर्थात् 'कुक्कुलोण्ह' नामक नरक से मुक्त होने पर भी जिनके अकुशल कर्म अवशिष्ट हैं वे पापी सत्त्व मुक्त न होकर उस 'कुक्कुलोण्ह' नामक नरक के समनन्तर अवस्थित 'सिम्बलीदाय' (अयःशाल्मलि वन) नामक नरक में पकाये जाते हैं।

असिपत्त (असिपत्र) –

"सिम्बलिम्हा पमुत्तापि अमुत्ता सेसपापिनो ।
पपचन्ति असिपत्ते तस्सेव समनन्तरे ॥"

अर्थात् उस 'सिम्बलीदाय' नरक से, मुक्त होने पर भी जिनके अकुशल कर्म अवशिष्ट हैं वे पापी सत्त्व मुक्त न होकर उस 'सिम्बलीदाय' के समनन्तर अवस्थित 'असिपत्त' (असिपत्र) नामक नरक में पकाये जाते हैं।

खारोदक (क्षारोदक) –

"असिपत्ता पमुत्तापि अमुत्ता सेसपापिनो ।
पपचन्ति खारोदके तस्सेव समनन्तरे ॥"

अर्थात् उस 'असिपत्त' नामक नरक से मुक्त होने पर भी जिनके अकुशल कर्म अवशिष्ट हैं वे पापी सत्त्व 'खारोदक' (क्षारोदक) नामक नरक में पकाये जाते हैं[1]।

'उस्सद' नामक क्षुद्रनरक अनेक होते हैं। पूर्वकथित आठ महानरकों में से प्रत्येक की चारों दिशाओं में ये अवस्थित होते हैं[2]। इन एक एक उस्सद नरकों की चारों दिशाओं में और भी अनेक क्षुद्रनरक होते हैं[3]। राजगृह के चारों ओर भी ये उस्सद (उत्सद) नरक हैं। कहा जाता है कि राजगृह में प्राप्त उष्णजल का स्रोत लौहकुम्भी नरक से आया हुआ है। इन नरकों और इनके दुःखों का वर्णन करना अत्यन्त दुःसाध्य है। अतः कहा गया है – "यावञ्चिदं भिक्खवे ! न सुकरा अक्खानेन पापुणितुं याव दुक्खा निरया[4]" अर्थात् भिक्षुओ ! नरक में जितने दुःख होते हैं उनका व्याख्यान द्वारा पार पाना अत्यन्त दुष्कर है।

---

१. इन सब उपनिरयों के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिये द्र० – म० नि०, तृ० भा०, पृ० २५७। अभि० को०, ३ : ५६, पृ० ३७३।

२. तु० – प्रत्येक महानिरय के चारों द्वारों पर चार उपनिरय होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक नरक के १६ उस्सद (उत्सद) होते हैं। द्र० – अभि० को० ३ : ५८-५६। जातक, द्वि० भा०, पृ० ६५।

३. द्र० – शीतनरक १०, सं० नि०, प्र० भा०, पृ० १५२; खु० नि० (सुत्त-निपात) पृ० ३७०। शीतनरक ८, अभि० को०, ३ : ५६, पृ० ३७३। इनके अतिरिक्त ८ उष्णनरक भी हैं। इस तरह नरकों की संख्या अनन्त होती है।

४. म० नि०, तृ० भा०, पृ० २३७।

तिरच्छानयोनि (तिरश्चीनयोनि) –

'तिरो अञ्चन्तीति तिरच्छाना, तिरच्छानानं योनि तिरच्छानयोनि' जो तिरछे गमन करते हैं अर्थात् जो मनुष्यों की तरह सीधे न जाकर तिरछे बढ़ते हैं उन्हें (तिरश्चीन) कहते हैं। उनकी योनि (जाति) तिरच्छानयोनि है।

यहाँ 'योनि' शब्द स्कन्धसमूह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वह स्कन्धसमूह तिरच्छान (तिरश्चीन) की जाति है। तिरच्छानों की अपनी कोई भूमि नहीं है। जहाँ ये रहते हैं उसे 'तिरच्छानभूमि' कहते हैं[1]।

पेत्तिविसय (पैत्र विषय) –

'सुखसमुस्सयतो पकट्ठं एन्तीति पेता, पेतानं समूहो पेत्ति, पेत्तिया विसयो पेत्तिविसयो।" जो सुखसमूह से अत्यन्त दूर प्रदेश में पहुँच जाते हैं उन्हें 'पेत' (प्रेत) कहते हैं। प्रायः 'प्रेत' शब्द मनुष्यभूमि से च्युत होकर जानेवालों के लिये ही प्रयुक्त होता है; परन्तु यहाँ यह सुख से दूर जानेवालों के अर्थ में प्रयुक्त है। उन प्रेतों के समूह को 'पेत्ति' कहते हैं। उस 'पेत्ति' के रहने के स्थान को 'पेत्तिविसय' (पैत्र विषय) कहते हैं। इनकी भी अपनी कोई भूमि नहीं है। जहाँ ये रहते हैं उसे ही 'पेत्तिविसय' कहते हैं[2]।

असुरकाय – 'न सुरन्ति न दिब्बन्तीति असुरा, असुरानं कायो असुरकायो' जो ऐश्वर्य एवं क्रीडा-आदि में देवताओं की तरह दीप्त नहीं होते उन्हें 'असुर' कहते हैं।

---

१. "तिरो अञ्चिता ति तिरच्छाना, तेसं योनि तिरच्छानयोनि, यावन्ति ताय सत्ता अमिस्सिता पि समानजातिताय मिस्सिता विय होन्ती ति योनि। सा पन अत्थतो खन्धानं पवत्तिविसेसो।" – विभा०, पृ० १२३।

"मनुस्सा विय उद्धं उच्चा अहुत्वा तिरो अञ्चिता ति तिरच्छाना।" – प० दी०, पृ० १६२। द्र० – म० नि०, तृ० भा०, पृ० २३७-२३९; विभ० अ०, पृ० ४५९; अभि० को०, आ० न० दे०, पृ० ३७८।

२. "पकट्ठेन सुखतो इता गता ति पेता। निज्झामतण्हिकादिभेदानं पेतानं विसयो ति पेत्तिविसयो।" – विभा०, पृ० १२३।

"पेच्च इता गता ति पेता। इतो अपक्कम्म चवित्वा भवन्तरे गता ति अत्थो। ये केचि कालङ्कता दिवङ्गता पि हि लोके कालङ्कता 'पेता' ति वुच्चन्ति। इध पन सुखसमुस्सयतो पेच्च पकट्ठं पवासं दूरं गता ति अत्थेन याव ततो न मुच्चन्ति ताव निच्चं दुक्खप्पत्ता लक्खणसंयुत्तादीसु आगता ततिया अपायिकसत्ता अधिप्पेता। पेतानं समूहो पेत्ति, पेत्तिया विसयो ति पेत्तिविसयो। 'विसयो' ति पवत्तिदेसो वुच्चति।" – प० दी०, पृ० १६३; विभ० अ०, पृ० ४५९।

अनेक प्रकार के प्रेतों के लिये द्र० – सं० नि०, द्वि० भा० (लक्खणसंयुत्त), पृ० २११-२१८।

असुरों के काय अर्थात् समूह को 'असुरकाय' कहते हैं। इनकी भी अपनी कोई भूमि नहीं है। जहाँ ये रहते हैं उसे 'असुरकायभूमि' कहते हैं। ये असुर प्रेतों की तरह होते हैं[1]।

नाना असुर—सुमेरु के नीचे रहनेवाले देवताओं को भी 'असुर' कहते हैं। 'असुर' शब्द में आनेवाला 'अ' (नञ्) शब्द प्रतिपक्षी के अर्थ में है। अतः त्रायस्त्रिंश देवों के प्रतिपक्षी देवों को भी 'असुर' कहा जाता है[2]।

'विनिपातिक' असुर वे हैं जो मनुष्यभूमि में रहनेवाले देवताओं का आश्रय लेकर रहते हैं। ये क्षुद्र-ऋद्धिवाले देवता होते हैं। यहाँ 'असुर' शब्द के 'अ' का अर्थ क्षुद्र है[3]।

कभी कभी देवताओं की तरह सुख-भोग करनेवाले तथा कभी कभी प्रेतों की तरह दुःख का अनुभव करनेवाले वैमानिक प्रेतों को भी 'असुर' कहते हैं। यहाँ 'अ' शब्द 'सदृश' अर्थ में है[4]।

तीन चक्रवालों के बीच में जहाँ चन्द्र एवं सूर्य का प्रकाश न पहुँचने के कारण घोर अन्धकार रहता है उस प्रदेश को 'लोकान्तरिक नरक' कहते हैं। उसमें रहनेवाले नारकीयों को भी 'असुर' कहा जाता है[5]।

असुर प्रेतजाति ही है। अतः कुछ पालियों में चार अपायभूमि के बजाय तीन अपायभूमियों को ही कहा गया है। इन प्रेत एवं असुरों को 'काल-कञ्चिक' असुर भी कहते हैं। इसके बारे में 'खन्धविभङ्गट्ठकथा' देखिये[6]।

अपायभूमि समाप्त।

---

१. "न सुरन्ति इस्सरियकीळादीहि न दिब्बन्तीति असुरा, पेतासुरा।"—विभा०, पृ० १२३।

२. "इतरे पन न सुरा सुरपटिपक्खा ति असुरा। इध च पेतासुरानमेव गहणं। इतरेसं तावतिंसेसु गहणस्स इच्छितत्ता।"—विभा०, पृ० १२३।
"न सुरा ति असुरा। वेपचित्तिपहारादादयो सन्धाय सुरपटिपक्खा सुरसदिसा वा ति अत्थो।"—प० दी०, पृ० १६३।

३. "पियङ्करमाता-उत्तरमातादयो विनिपातिके सन्धाय खुद्दकसुरा चूळकसुरा ति अत्थो।"—प० दी०, पृ० १६३।

४. "यमराजादयो वेमानिकपेते सन्धाय एकदेसेन सुरसदिसा ति अत्थो। वेमानिकपेता पि हि कत्थचि 'असुरकाया' ति आगता।"—प० दी०, पृ० १६३।

५. "लोकन्तरिकनेरयिके सन्धाय सब्बसो सुरगुणरहिता ति अत्थो। ते पि हि बुद्धवंसनिदानट्ठकथायं जातिदुक्खनिद्देसेसु च 'असुरकाया' ति वुत्ता।"—प० दी०, पृ० १६३।

६. विभ० अ०, पृ० ५।

कामसुगतिभूमि

५. मनुस्सा, चातुम्महाराजिका*, तावतिंसा, यामा, तुसिता, निम्मानरति†, परनिम्मितवसवत्ती‡ चेति कामसुगतिभूमि सत्तविधा होति।

मनुष्यभूमि, चातुर्महाराजिकभूमि, त्रायस्त्रिंशभूमि, यामभूमि, तुषितभूमि, निर्माणरतिभूमि एवं परनिर्मितवशवर्ति भूमि – इस प्रकार कामसुगतिभूमि सात प्रकार की होती है।

कामसुगतिभूमि

५. 'गन्तब्बा ति गति, सुन्दरा गति सुगति' गन्तव्य स्थान को 'गति' कहते हैं। प्रशस्त गति 'सुगति' कहलाती है। यथासम्भव सुखभोग करानेवाली भूमियाँ सुगतिभूमियाँ हैं। मनुष्य, देव, रूप, एवं अरूप भूमियाँ सुगतिभूमि' कहलाती हैं। यहाँ कामतृष्णा के आलम्बनभूत क्षेत्र को 'कामसुगतिभूमि' कहा गया है। अतः 'कामसहचरिता सुगति कामसुगति' अर्थात् कामतृष्णा के साथ होनेवाली सुगतिभूमि को 'कामसुगतिभूमि' कहते हैं। वह कामसुगतिभूमि ७ प्रकार की होती है। (इनके नाम मूल पालि में देखें।)

[इन भूमियों के सम्बन्ध में पालि एवं अट्ठकथाओं में विभिन्न स्थानों पर विभिन्न प्रकार से पुष्कल वर्णन उपलब्ध होता है। 'विभावनी' एवं 'परमत्थदीपनी' टीकाओं में उन्हीं ग्रन्थों के आधार पर वर्णन किया गया है। अतः सुगमता के लिये हम इन्हीं टीका-ग्रन्थों के आधार पर भूमिसम्बन्धी व्याख्यान प्रस्तुत कर रहे हैं।]

मनुस्सा – 'मनो उस्सन्नं येसं ति मनुस्सा' जिन सत्त्वों का मन तीक्ष्ण (उत्कट) होता है उन्हें 'मनुस्स' (मनुष्य) कहते हैं। जम्बूद्वीप में रहनेवाले पुद्गलों का मन अकुशल कर्म करने में – मातृघात-आदि पञ्चानन्तर्य कर्म करने तक में; तथा कुशलकर्म में – बुद्धत्व प्राप्तिरूप कर्म करने तक में समर्थ या तीव्र शक्तिसम्पन्न होता है, अतः उन्हें ही मुख्यरूप से 'मनुष्य' कहते हैं। अन्य द्वीपों एवं चक्रवालों में रहनेवाले पुद्गल इन जम्बूद्वीप में रहनेवाले पुद्गलों से रूप, संस्थान-आदि में सदृश होते हैं, अतः सदृशोपचार से उन्हें भी 'मनुष्य' कहा जाता है।

अथवा कल्प के आदिकाल में 'मनु' नामक धर्मराज होते हैं। उनके धर्मशासन के अनुसार आचरण करने से मनुष्य उनके पुत्र-पुत्री की तरह होते हैं, अतः वे 'मनुष्य' कहलाते हैं। 'मनुनो अपच्चं मनुस्सं' अर्थात् मनु की सन्तान को 'मनुष्य' कहते हैं।

---

*. चातुमहाराजिका – म० (ख) (सर्वत्र)।

†. निम्माणरति – सी० (सर्वत्र); ०रती – स्या०, रो०।

‡. ०वसवत्ति – म० (क)।

'मनुस्सानं निवासा मनुस्सा' मनुष्यों की निवासभूत भूमि 'मनुस्सा' कही जाती है[1]।

चातुम्महाराजिका – 'चत्तारो महाराजानो चतुमहाराजं, चतुमहाराजे भत्ति एतेसं ति चातुमहाराजिका' धृतराष्ट्र, विरूळ्हक, विरूपाक्ष एवं कुबेर (वेस्सवण=वैश्रवण) ये चार 'चातुम्महाराज' हैं। इनमें जिनकी भक्ति है, उन देवताओं को 'चातुम्महाराजिक' कहते हैं। इन देवों की निवासभूत भूमि 'चातुम्महाराजिका' कहलाती है। यह भूमि सुमेरु के मध्य से लेकर भूमिपर्यन्त अवस्थित होती है।

इस मनुष्यभूमि में आश्रय करके रहनेवाले देवों को 'भुम्मदेव' (भूमिदेव) कहते हैं। वृक्ष, वन एवं पर्वत-आदि की रक्षा करनेवाले देवों को 'रुक्खदेव' (वृक्षदेव) कहते हैं। इनकी गणना भी भूमिदेवों में ही होती है। योगिनी, गन्धर्व-आदि सभी देव जो भूमि से सम्बद्ध होते हैं, भूमिदेवों में ही परिगणित होते हैं। ये भूमिदेव चार महाराजाओं के सेवक होते हैं अतः इन्हें 'चातुमहाराजिक' कहते हैं[2]।

तावतिंसा – 'तेत्तिंस एत्था ति तेत्तिंसा', इस भूमि में ३३ पुद्गल होते हैं, अतः इसे 'तेत्तिंसा' कहते हैं। ('ते' के स्थान पर 'ताव' आदेश करने से तथा एक 'त' का लोप करने से 'तावतिंस' शब्द निष्पन्न होता है।) मघ-आदि ३३ माणवकों की उत्पत्ति-स्थान होने के कारण इस भूमि को 'तावतिंसा' कहते हैं। परन्तु मघ-आदि के पहुंचने से पहले भी यह भूमि 'तावत्तिंस' ही कहलाती है। अतः 'तावतिंसा' यह नाम रूढिवश ही जानना चाहिये। यह भूमि सुमेरु के मूर्धस्थान में अवस्थित है। सुमेरु की ऊंचाई पृथ्वी से ऊपर ८४,००० योजन होती है[3]। यह भूमि उस सुमेरु पर अवस्थित है। सुमेरु के मध्य में 'चातुम्महाराजिका' भूमि है जो पृथ्वी से ४२,००० योजन ऊपर है; इस भूमि से ४२,००० योजन ऊपर 'तावतिंसा' भूमि होती है। (इसी प्रकार क्रम से अन्य देवभूमियों को भी ४२,००० योजन ऊपर ऊपर समझना चाहिये।) इन 'चातुम्महाराजिका' एवं 'तावतिंसा' भूमियों का सुमेरु से लगाव होने के कारण इन्हें 'भूमट्ठक-

---

१. "सतिसूरभावब्रह्मचरिययोग्यतादिगुणेहि उक्कट्ठमनताय मनो उस्सन्नं एतेसं ति मनुस्सा। तथा हि परमसंतिनेपकादिपत्ता बुद्धादयो पि मनुस्सभूता-येव 'जम्बूदीपवासिनो चेत्थ निप्परियायतो मनुस्सा। तेहि पन समान-रूपादिताय सद्धिं परित्तदीपवासीहि इतरमहादीपवासिनो पि मनुस्सा ति वुच्चन्ति। लोकिया पन मनुनो आदिखत्तियस्स अपच्चं पुत्ता ति मनुस्सा ति वदन्ति। मनुस्सानं निवासभूता भूमि इध मनुस्सा।" – विभा०, पृ० १२३; प० दी०, पृ० १६४; विभ० अ०, पृ० ४५६।

२. विस्तार के लिये द्र० – प० दी०, पृ० १६५-१६६; तु० – विभ० अ०, पृ० ५२७।

३. अभि० को० के अनुसार सुमेरु पर्वत जल के ऊपर ८०,००० योजन है। द्र० – अभि० को० ३:५०, पृ० ३६५।

विमान' (भूमिस्थ विमान) भी कहते हैं। यामा आदि भूमियों का स्थान आकाश में होने के कारण इन्हें 'आकासट्ठा' (आकाशस्था) भूमि भी कहते हैं[१]।

यामा—'दुक्खतो याता अपयाता ति यामा' दुःख से अपगत अर्थात् रहित देवों को 'याम' कहते हैं। अथवा 'दिब्बं सुखं याता पयाता सम्पत्ता ति यामा' अर्थात् दिव्य-सुख प्राप्त देवों को 'याम' कहा जाता है। उनकी निवासभूत भूमि को 'यामा' कहा गया है[२]। जैसे त्रायस्त्रिंश भूमि के अधिपति इन्द्र होते हैं इसी प्रकार इस यामा भूमि के अधिपति 'सुयाम' नामक देव होते हैं। इसी तरह तुषित भूमि के अधिपति 'सन्तुषित' देव होते हैं[३]।

तुसिता—'तुसं इता ति तुसिता' अर्थात् तोष को प्राप्त देव 'तुसित' (तुषित) कहलाते हैं। उनके निवासस्थान को 'तुसिता' कहते हैं[४]।

निम्मानरति—'निम्माने रति येसं ति निम्मानरतिनो' सुख के निर्माण में जिनकी रति होती है उन्हें 'निम्मानरति' (निर्माणरति) कहते हैं। ये अपने प्राप्त सुख से भी अधिक सुख का भोग करना चाहते हैं, अतः ये अपनी रुचि के अनुसार सुखों का भोग करने के लिये स्वयं निर्माण कर के उनमें रमण करते हैं। नीचे की चार देवभूमियों में रमण करने के लिये नियत रूप से देवों के साथ रमणियाँ भी होती हैं; किन्तु इस निम्मानरतिभूमि में इस प्रकार की नियत रमणियाँ नहीं होतीं। ये देव अपनी इच्छानुसार उनका निर्म्माण करके उस निर्म्मित आलम्बन में रमण करते हैं[५]।

---

१. "सह पुञ्ञकारिनो तेत्तिंसजना माघेन नाम जेट्ठपुरिसेन सह एत्थ निब्बत्ता ति तेत्तिंसा। सा एव तावतिंसा निरुत्तिनयेन।"—प० दी०, पृ० १६६। विस्तार के लिये भी द्र०—वहीं। विभा०, पृ० १२३; द्र०—विभ० अ०, पृ० ५२७। तु०—अभि० को० ३ : ६५, पृ० ३८१।

२. प० दी०, पृ० १६६; विभा०, पृ० १२३; विभ० अ०, पृ० ५२८।

३. द्र०—दी० नि०, प्र० भा०, पृ० १८७।

४. "अत्तनो सिरिसम्पत्तिया तुसं पीतिं इता गता ति तुसिता।"—विभा०, पृ० १२३।

"विपुलाय सिरिसम्पत्तिया समङ्गीगतत्ता निच्चं तुसन्ति अतिविय हट्ठतुट्ठमुखा होन्ति एत्था ति तुसिता।"—प० दी०, पृ० १६६।

"तुट्ठा पहट्ठा ति तुसिता।"—विभ० अ०, पृ० ५२८।

५. विभा०, पृ० १२३। "यथारुचिते भोगे सयमेव निम्मिनित्वा रमन्ति एत्था ति निम्मानरति।"—प० दी०, पृ० १६६।

"पकतिपटियत्तारम्मणतो अतिरेकेन रमितुकामकाले यथारुचिते भोगे निम्मिनित्वा रमन्तीति निम्माणरती।"—विभ० अ०, पृ० ५२८।

६. सा पनायं एकादसविधापि कामावचरभूमिच्चेव* सङ्खं† गच्छति।

एकादश प्रकार की वह भूमि – 'कामावचरभूमि' इस प्रकार की संज्ञा को प्राप्त होती है६।

रूपावचरभूमि

पठमज्झानभूमि

७. ब्रह्मपारिसज्जा, ब्रह्मपुरोहिता, महाब्रह्मा चेति‡ पठमज्झानभूमि।

ब्रह्मपारिषद्या, ब्रह्मपुरोहिता, और महाब्रह्मा – इस प्रकार ३ प्रथमध्यान-भूमियाँ हैं।

परनिम्मितवसवत्ती – 'परनिम्मित्तेसु भोगेसु अत्तनो वसं वत्तेन्तीति परनिम्मित-वसवत्तिनो" जो दूसरों द्वारा निर्म्मित आलम्बन के वश में रहते हैं उन्हें 'परनिम्मित-वसवत्ती' (परनिर्मितवशवर्ती) कहते हैं। ये निर्म्माणरति देवों की तरह अपने सुखों के आलम्बनों का स्वयं निर्माण नहीं करते, अपितु अपने अधीनस्थ सेवकों द्वारा निर्म्माण करके दिये हुए आलम्बनों में ही रमण करते हैं[२]।

[पालि, अट्ठकथा एवं टीकाओं में विभिन्न स्थानों पर देवभूमि एवं देवों के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन पाया जाता है। ग्रन्थ-गौरव के भय से हम उसे छोड़ रहे हैं। विस्तृत ज्ञान के लिये वहीं देखें।]

६. चार अपायभूमि एवं सात कामसुगतिभूमि – इस प्रकार कुल मिलाकर ११ भूमियों को 'कामावचरभूमि' कहते हैं।

कामावचरभूमि समाप्त।

रूपभूमि

७. (१) **प्रथमध्यानभूमि** –

(क) **ब्रह्मपारिसज्जा** – 'परिसति भवा पारिसज्जा, ब्रह्मानं पारिसज्जा ब्रह्मपारि-सज्जा' ब्रह्माओं की परिषद् में होनेवाले छोटे ब्रह्माओं को 'ब्रह्मपारिषद्य' कहते हैं। उनकी आवासभूमि 'ब्रह्मपारिषद्या' कही जाती है[३]।

---

* ० चेव – रो०। † सङ्खयं – सी० (सर्वत्र); सङ्गहं – स्या० (सर्वत्र);

‡. च – स्या०।

१. विभा०, पृ० १२४।

२. प० दी०, पृ० १६६। "चित्ताचारं ञत्वा परेहि निम्मितेसु भोगेसु वसं वत्तेन्तीति परनिमितवसवत्ती।" – विभ० अ०, पृ० ५२८; अट्ठ०, पृ० ३०७। तु० – अभि० को०, आ० न० दे०, पृ० ३८५-३८६।

३. द्र० – विभा०, पृ० १२४; विभ० अ०, पृ० ५२८।

ब्रह्मपुरोहिता – 'पुरे अग्गे धीयते ठपीयते ति पुरोहितो, ब्रह्मानं पुरोहितो ब्रह्मपुरोहितो' ब्रह्माओं के आगे स्थापित किये जानेवाले देवों को 'ब्रह्मपुरोहित' कहते हैं। उनकी निवासभूमि 'ब्रह्मपुरोहिता' कहलाती है[1]।

(ग) महाब्रह्मा – 'ब्रूहति परिवद्धतीति ब्रह्मा, महन्तो ब्रह्मा महाब्रह्मा' जो (गुणों में अन्य देवों से आगे) बढ़े होते हैं उनको 'ब्रह्मा' कहते होते हैं। महान् (बड़े या श्रेष्ठ) ब्रह्माओं को 'महाब्रह्मा' कहते हैं। ये ध्यान एवं अभिज्ञा प्राप्त होते हैं, अतः ऊपर की ब्रह्मभूमियों में दीर्घकाल तक सुखपूर्वक रहना – आदि गुणों द्वारा अन्य देव एवं मनुष्यों से उत्तम होते हैं। अतः उन्हें 'ब्रह्मा' कहा जाता है। ब्रह्मपारिषद्य एवं ब्रह्मपुरोहित ब्रह्माओं से ये महान् (श्रेष्ठ) होते हैं। इसलिये इन्हें 'महाब्रह्मा' कहा गया है। इनकी निवासभूत भूमि को 'महाब्रह्मा' कहते हैं[2]।

इन तीनों भूमियों को प्रथमध्यानप्राप्त ब्रह्माओं का निवासस्थान होने के कारण 'प्रथमध्यानभूमि' कहते हैं। ब्रह्मपारिषद्य ब्रह्माओं से ब्रह्मपुरोहितों के आयुःपरिमाण एवं विमान तथा ब्रह्मपुरोहितों से महाब्रह्माओं के आयुःपरिमाण एवं विमान बड़े होते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि ये तीनों भूमियाँ क्रम से ऊपर की ओर एक के ऊपर दूसरी – इस प्रकार अवस्थित हैं; किन्तु ऐसा न होकर ये तीनों एक ही स्तर पर हैं। बीच में महाब्रह्माओं की भूमि होती है और उसके चारों ओर महाब्रह्मा के सेवक की तरह ब्रह्मपारिषद्य एवं ब्रह्मपुरोहित होते हैं। महाब्रह्मा सर्वदा एक ही होता है, एक से अधिक नहीं। 'ब्रह्मजालसुत्त' में कहा है कि 'सृष्टिकाल में महाब्रह्मा अकेले ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। उस महाब्रह्मा की इच्छा होने पर अन्य क्षुद्र ब्रह्माओं का उत्पाद हुआ[3]'। 'ब्रह्मसंयुत्त' में भी "तत्र सुदं भिक्खवे ! ब्रह्मा (महाब्रह्मा) च ब्रह्मपरिसा च ब्रह्मपारिसज्जा च उज्झायन्ति खियन्ति[4]" – आदि में महाब्रह्मा के लिये एकवचन का ही प्रयोग किया गया है। अतः तीन प्रथमध्यानभूमियों में एक महाब्रह्मा के अस्तित्व को ही जानना चाहिये। (परमत्थदीपनीकार ने अपने ग्रन्थ में इन ब्रह्माओं एवं ब्रह्मभूमियों का एक विशेष प्रकार से वर्णन किया है, उसे वहाँ अवश्य देखें[5]।)

१. द्र० – विभा०, पृ० १२४; विभ० अ०, पृ० ५२८।

२. द्र० – विभा०, पृ० १२४; "वण्णवन्तताय चेव दीघायुकताय च महन्तो ब्रह्मा ति महाब्रह्मा।" – विभ० अ०, पृ० ५२८।
ब्रह्मपारिषद्य, ब्रह्मपुरोहित, महाब्रह्मा – आदि की व्युत्पत्ति के लिये द्र० – स्फु०, पृ० २५५।

३. दी० नि०, प्र० भा०, (ब्रह्मजालसुत्त), पृ० १७।

४. सं० नि०, प्र० भा०, (ब्रह्मसंयुत्त), पृ० १५७।

५. द्र० – प० दी०, पृ० १६६-१६७।

दुतियज्झानभूमि

८. परित्ताभा, अप्पमाणाभा, आभस्सरा चेति* दुतियज्झानभूमि।

परित्ताभा, अप्रमाणाभा एवं आभास्वरा – इस प्रकार तीन द्वितीयध्यान-भूमियाँ है।

---

८. (२) द्वितीय ध्यानभूमि –

(क) परित्ताभा – 'परित्ता आभा एतेसं ति परित्ताभा' अप्रमाण, एवं आभास्वर ब्रह्माओं से अल्प आभावाले ब्रह्माओं को 'परित्ताभ' कहते हैं। उनके निवासस्थान को 'परित्ताभा' कहते हैं[1]।

(ख) अप्पमाणाभा – 'अप्पमाणा आभा एतेसं ति अप्पमाणाभा' जिनकी आभा अप्रमाण होती है, उन ब्रह्माओं को 'अप्रमाणाभ' कहते हैं। इनकी निवासभूता भूमि को 'अप्रमाणाभा' कहा गया है[2]।

(ग) आभस्सरा – 'सरति निस्सरतीति सरा, आभा सरा एतेसं ति आभस्सरा' इस भूमि में रहनेवाले ब्रह्माओं के शरीर से आभा प्रस्फुटित होती रहती है, अतः इन्हें 'आभास्वर' कहते हैं। इनके निवास स्थान को 'आभास्वरा' कहते हैं[3]।

द्वितीय ध्यानभूमि की ये तीनों भूमियाँ भी प्रथमध्यानभूमि के ऊपर आकाश में समान स्तर पर अवस्थित रहती हैं। इनमें आभास्वर ब्रह्मा, महाब्रह्मा की तरह, द्वितीय-ध्यानभूमि का अधिपति होता है। परीत्ताभ एवं अप्रमाणाभ ब्रह्मा उसके परिचारक एवं पुरोहित होते हैं। इसमें परीत्ताभ ब्रह्मा को ब्रह्मपारिषद्य, अप्रमाणाभ को ब्रह्मपुरोहित एवं आभास्वर ब्रह्मा को 'महाब्रह्मा' कहा जा सकता था, इसी तरह अन्य भूमियों में भी अधिपति को महाब्रह्मा एवं अन्यों को ब्रह्मपारिषद्य एवं ब्रह्मपुरोहित कहा जा सकता था; किन्तु ब्रह्माओं के नामों में सम्मिश्रण न होने देने के लिये अपने अपने गुणों के अनुसार उनके 'परित्ताभ' आदि विशिष्ट नामकरण किये गये हैं[4]।

---

*. च – स्या०।

१. विभा०, पृ० १२४; प० दी०, पृ० १६७। द्र० – म० नि०, तृ० भा०, पृ० २१६-२१८। विभ० अ०, पृ० ५२८।

२. विभा०, पृ० १२४; प० दी०, पृ० १६७। द्र० – म० नि०, तृ० भा०, पृ० २१६-२१८; विभ० अ०, पृ० ५२८।

३. विभा०, पृ० १२४; प० दी०, पृ० १६७। "दण्डदीपिकाय अच्चि विय एतेसं सरीरतो आभा छिज्जित्वा पतन्ती विय सरति विसरतीति आभस्सरा।" – विभ० अ०, पृ० ५२८।

४. "तत्थ दुतिये तले परित्ताभा ति ब्रह्मपारिसज्जा एव, अप्पमाणाभा ति ब्रह्मपुरोहिता एव, आभस्सरा ति महाब्रह्मानो एव। तस्मिं तले अधिपतिब्रह्मानो एवा ति अत्थो। हेट्ठिमतलतो पन विसेसकरणत्थं आभावसेन नामगहणं होतीति दट्ठब्बं।" – प० दी०, पृ० १६७। ब्रह्मपारिसज्जं ति ब्रह्मपारिचारिकं। थेरानं हि भण्डगाहकदहरा विय ब्रह्मानं पि पारिसज्जब्रह्मानो नाम होन्ति।" सं० नि० अ०, प्र० भा०, पृ० १९५।

ततियज्झानभूमि

६. परित्तसुभा, अप्पमाणसुभा, सुभकिण्हा चेति* ततियज्झानभूमि ।

परीत्तशुभा, अप्रमाणशुभा एवं शुभाकीर्णा – इस प्रकार तीन तृतीयध्यान-भूमियाँ हैं ।

---

६. (३) तृतीयध्यानभूमि –

(क) परित्तसुभा – 'परित्ता सुभा एतेसं ति परित्तसुभा' अपनी भूमि से ऊपर के ब्रह्माओं से अल्प शोभा युक्त होने के कारण इस भूमि के ब्रह्माओं को 'परीत्तशुभ' कहते हैं । इनके निवासस्थान को 'परीत्तशुभा' कहते हैं[1] ।

(ख) अप्पमाणसुभा – 'अप्पमाणा सुभा एतेसं ति अप्पमाणसुभा' जिनकी शरीर-कान्ति अप्रमाण होती है उन्हें 'अप्रमाणशुभ' कहते हैं । इन ब्रह्माओं की निवासभूता भूमि 'अप्रमाणशुभा' है[2] ।

(ग) सुभकिण्हा – 'सुभाय किण्णा ति सुभकिण्णा' शुभा (शरीरकान्ति) से आकीर्ण (युक्त) ब्रह्माओं को शुभाकीर्ण (शुभकृत्स्न) कहते हैं । उनकी निवासभूता भूमि शुभाकीर्णा (शुभकृत्स्ना) है[3] ।

'मूलटीका' में 'सुभकिण्हा' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है –

"सोभनभाय किण्णा सुभाकिण्णा ति वत्तब्बे आकारस्स रस्सत्तं अन्तिमणकारस्स हकारञ्च कत्वा 'सुभकिण्हा' ति वुत्ता । अथ पन सुभेन किण्णा सुभकिण्णा[4] ।"

तृतीयध्यानभूमि की ये तीनों भूमियाँ द्वितीयध्यानभूमि के ऊपर आकाश में समान स्तर पर अवस्थित होती हैं । मध्य में शुभाकीर्ण (शुभकृत्स्न) ब्रह्मा प्रथमध्यानभूमि के महाब्रह्मा की तरह स्थित होते हैं, जो इस तृतीयध्यानभूमि के अधिपति होते हैं । इनके चारों ओर इस भूमि के अन्य परीत्तशुभ एवं अप्रमाणशुभ ब्रह्मा, शुभाकीर्ण ब्रह्मा के चारों ओर अनुचर एवं पुरोहित की तरह अवस्थित होते हैं ।

---

* च – स्या० ।

१. विभा०, पृ० १२४; प० दी०, पृ० १६८; विभ० अ०, पृ० ५२८ ।

२. विभा०, पृ० १२४; प० दी०, पृ० १६८; विभ० अ०, पृ० ५२८ ।

३. विभा०, पृ० १२४; प० दी०, पृ० १६८; "सुभेन वोकिण्णा विकिण्णा, सुभेन सरीरप्पभावण्णेन एकघना, सुवण्णमञ्जूसाय ठपितसम्पज्जलितकञ्चन-पिण्डसस्सिरीका ति सुभकिण्णा ।' विभ० अ०, पृ० ५२८ ।

४. विभ० मू० टी०, पृ० २३२-२३३ ।

चतुत्थज्झानभूमि

१०. वेहप्फला, असञ्ञसत्ता*, सुद्धावासा चेति† चतुत्थज्झानभूमीति‡ रूपावचरभूमि सोळसविधा होति ।

बृहत्फला, असंज्ञिसत्त्वा एवं शुद्धावासा – इस प्रकार सात चतुर्थध्यान-भूमियाँ होती हैं। इस तरह रूपावचरभूमि १६ प्रकार की होती हैं।

---

१०. (४) चतुर्थध्यानभूमि –

(क) वेहप्फला – 'विपुलं फलं एतेसं ति वेहप्फला' जिनका फल अत्यन्त विशाल (बृहत्) होता है उन्हें 'बृहत्फल' कहते हैं। इनकी निवासभूत भूमि को 'बृहत्फला भूमि' कहते हैं[1]।

(ख) असञ्ञसत्ता – 'नत्थि सञ्ञा एतेसं ति असञ्ञा' जिनमें संज्ञा नहीं होती उन्हें 'असंज्ञ' (असंज्ञी) कहते हैं। 'असञ्ञा च ते सत्ता चेति असञ्ञसत्ता' असंज्ञ होते हुये जो सत्त्व होते हैं उन्हें 'असंज्ञसत्त्व' या 'असंज्ञिसत्त्व' कहते हैं। उनकी निवासभूता भूमि को 'असंज्ञिसत्वभूमि' कहते हैं। यहाँ संज्ञा चित्तचैतसिक धर्मों का उपलक्षणमात्र है। अर्थात् इन ब्रह्माओं में कोई भी चित्त या चैतसिक नाम-धर्म नहीं होता। चित्त-चैतसिकों के न होने से ये सत्त्व भी हैं कि नहीं – ऐसा भ्रम होता है, अतः इनमें 'सत्त्व' शब्द विशेषण लगाया गया है। ये केवल रूपस्कन्धमात्र होते हैं[2]।

असंज्ञिभूमि एवं बृहत्फला भूमि – ये दोनों आकाश में समान स्तर पर अवस्थित होती हैं। ये पृथक्-पृथक् भी न होकर एक क्षेत्र में ही होती हैं।

(ग) सुद्धावासा – 'सुद्धानं आवासा सुद्धावासा' क्लेश-धर्मों से सुविशुद्ध अनागामी एवं अर्हत्पुद्गलों की आवासभूता भूमि 'शुद्धावासभूमि' है। ये अवृहा, अतपा-आदि ५ भूमियाँ होती हैं। ये पाँचों भूमियाँ भी समानतल पर अवस्थित न होकर क्रमशः ऊपर ऊपर स्थित होती हैं[3]।

इस प्रकार प्रथमध्यानभूमि ३, द्वितीयध्यानभूमि ३, तृतीयध्यानभूमि ३ एवं चतुर्थध्यानभूमि ७ होती हैं। और कुल मिलाकर १६ भूमियों को 'रूपावचर भूमि' कहते हैं[4]।

---

*. असञ्ञीसत्ता – स्या० (सर्वत्र)।

†. च – स्या०।

‡. ०भूमि चेति – स्या०।

१. विभा०, पृ० १२४; प० दी०, पृ० १६८; विभ० अ०, पृ० ५२१।

२. विभा०, पृ० १२४; प० दी०, पृ० १६८; विभ० अ०, पृ० ५२१।

३. विभा०, पृ. १२५; प० दी०, पृ० १६९।

४. तु० – अभि० को० ३ : २, पृ० २५८।

सुद्धावासभूमि

११. अविहा, अतप्पा, सुदस्सा, सुदस्सी, अकनिट्ठा चेति सुद्धावासभूमि पञ्चविधा होति।

अविहा (अवृहा), अतप्पा (अतपा), सुदस्सा (सुदृशा), सुदस्सी (सुदर्शी) एवं अकनिट्ठा (अकनिष्ठा) – इस प्रकार सुद्धावासभमि ५ प्रकार की होती है।

---

११. सुद्धावासभूमि –

(क) अविहा – 'न विहन्ती (न विजहन्ती) ति अविहा' अपनी भूमि का क्षणमात्र के लिये भी त्याग न करके अनेक कल्प तक रहनेवाले ब्रह्माओं को अविहा (अवृहा) कहते हैं[1]। उनकी निवासभूता भूमि 'अविहा' है। अथवा 'अत्तनो सम्पत्तिया न हायन्ति न विहायन्तीति अविहा' जो अपनी प्राप्त सम्पत्ति से क्षणभर भी हीन नहीं होते वे 'अविहा' (अवृहा) हैं[2]।

(ख) अतप्पा – 'न तपन्तीति अतप्पा' किसी भी कारण सन्ताप को प्राप्त न होनेवाले ब्रह्माओं को 'अतपा' कहते हैं। अथवा 'किञ्चि सत्तं न तप्पेन्तीति अतप्पा' जो किसी सत्त्व को ताप नहीं पहुँचाते उन्हें 'अतप्पा' कहते हैं। इनकी आवासभूता भूमि को 'अतप्पा' (अतपा) कहते हैं[3]।

(ग) सुदस्सा – 'सुखेन दिस्सन्तीति सुदस्सा' अत्यन्त शोभित होने के कारण सुख से दिखाई देने योग्य ब्रह्माओं को 'सुदृश' कहते हैं। इनकी आवासभूमि को 'सुदस्सा' (सुदृशा) कहते हैं[4]।

(घ) सुदस्सी – 'सुखेन पस्सन्तीति सुदस्सी' जो प्राकृत चक्षु एवं प्रज्ञाचक्षुओं द्वारा भली प्रकार देखते हैं उन ब्रह्माओं को 'सुदस्सी' (सुदर्शी) कहते हैं। इनकी आवासभूमि को 'सुदस्सी भूमि' (सुदर्शिभूमि) कहते हैं[5]।

(ङ) अकनिट्ठा – 'नत्थि कनिट्ठो एतेसं ति 'अकनिट्ठा' अपनी सम्पत्ति एवं गुणों द्वारा ये सबसे ज्येष्ठ होने के कारण किसी भी प्रकार किसी से कनिष्ठ नहीं होते अतः इन्हें 'अकनिष्ठ' कहते हैं। इनकी आवासभूमि 'अकनिष्ठा' है[6]।

---

१. विभा०, पृ० १२५; प० दी०, पृ० १६६।

२. विभ० अ०, पृ० ५२६।

३. विभा०, पृ० १२५; प० दी०, पृ० १६६; विभ० अ०, पृ० ५२६।

४. विभा०, पृ० १२५; प० दी०, पृ० १६६; "सुन्दरा दस्सना अभिरूपा पासादिका ति सुदस्सा।" – विभ० अ०, पृ० ५२६।

५. विभा०, पृ० १२५; प० दी०, पृ० १६६; विभ० अ०, पृ० ५३०।

६. विभा० पृ० १२५; प० दी०, पृ० १६६; "सब्बेहि एव गुणेहि च भवसम्पत्तिया च जेट्ठा, नत्थेव कनिट्ठा ति अकनिट्ठा।" – विभ० अ०, प० ५३०।

अरूपावचरभूमि

१२. आकासानञ्चायतनभूमि, विञ्ञाणञ्चायतनभूमि, आकिञ्चञ्ञायतनभूमि, नेवसञ्ञानासञ्ञायतनभूमि चेति अरूपभूमि* चतुब्बिधा होति।

आकाशानन्त्यायतनभूमि, विज्ञानानन्त्यायतनभूमि, आकिञ्चन्यायतनभूमि एवं नैवसंज्ञानासंज्ञायतनभूमि – इस प्रकार अरूपभूमि चार प्रकार की होती है।

इन उपर्युक्त पाँचों भूमियों को 'शुद्धावासभूमि' कहते हैं।

इन रूपी ब्रह्माओं के उद्यान, विमान एवं कल्पवृक्ष-आदि अन्य देवों से श्रेष्ठ एवं महान् होते हैं। इन ब्रह्माओं को अपने उद्यान-आदि के प्रति अनुराग भी होता है; किन्तु अपनी ब्रह्मभूमि में पहुँचने से पहले जब ध्यानभावना करते हैं तब लौकिक कामगुणों के प्रति इनमें घृणा उत्पन्न हो गयी रहती है, अतः ये कामभूमि के देवताओं की तरह कामभोग नहीं करते। तथा इस रूपावचर भूमि में कामभूमि की तरह कामोपभोग करने के लिये स्त्री-पुरुषयोनियाँ भी नहीं होतीं। ये सभी ब्रह्मा पुरुषाकार एवं योगी की तरह होते हैं। कुछ ब्रह्मा मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा नामक ब्रह्मविहार की भावना करते हैं। कुछ ब्रह्मा ध्यानसमापत्ति का समावर्जन करते हैं तथा कुछ आर्यब्रह्मा फलसमापत्ति का आवर्जन करके सुखपूर्वक विहार करते हैं[1]।

रूपावचरभूमि समाप्त।

अरूपभूमि

१२. रूपी ब्रह्माओं के ऊपर ४ अरूपी ब्रह्माओं की ४ अरूपी भूमियाँ होती हैं। ये चारों भूमियाँ क्रम से ऊपर ऊपर अवस्थित होती हैं। भूमि कहने पर भी इनमें विमान-आदि नहीं होते। आकाशानन्त्यायतनविपाक चित्त-चैतसिक से प्रतिसन्धि लेकर निरन्तर उत्पन्न होनेवाली नाम-स्कन्धसन्तति के अधिष्ठानभूत आकाश को 'आकाशानन्त्यायतनभूमि' कहते हैं। इसी तरह विज्ञानानन्त्यातनविपाक चित्त-चैतसिकों द्वारा प्रतिसन्धि लेकर निरन्तर उत्पन्न होनेवाली नाम-स्कन्धसन्तति के अधिष्ठानभूत आकाश को 'विज्ञानानन्त्यायतनभूमि' कहते हैं। इसी प्रकार आकिञ्चन्यायतनभूमि एवं नैवसंज्ञानासंज्ञायतनभूमि को भी जानना चाहिये[2]।

---

*. अरूपावचरभूमि – रो०।

१. द्र० – अभि० स० ३ : ६६ की व्याख्या पृ० २७५-२७६। तु० – अभि० को० ३ : ७०, पृ० ३८६।

२. विभा०, पृ० १२५; प० दी०, पृ० १६६; विभ० अ०, पृ० ५३०।

तु० – "आरूप्यधातुरस्थान उपपत्त्या चतुर्विधः।
निकायं जीवितं चात्र, मिश्रिता चित्तसन्ततिः ॥"

– अभि० को० ३ : ३, पृ० २६०।

१३. पुथुज्जना न लब्भन्ति सुद्धावासेसु* सब्बथा ।
सोतापन्ना च सकदागामिनो† चापि पुग्गला ॥
अरिया नोपलब्भन्ति असञ्ञापायभूमिसु ।
सेसट्ठानेसु लब्भन्ति‡ अरियानरियापि च ।

इदमेत्थ भूमिचतुक्कं ।

शुद्धावासभूमियों में सर्वथा पृथग्जन, स्रोतापन्न एवं सकृदागामी पुद्गल उपलब्ध नहीं होते । असंज्ञिभूमि एवं अपायभूमि में आर्यपुद्गल उपलब्ध नहीं होते । शेष भूमियों में आर्य एवं अनार्य (पृथग्जन), दोनों प्रकार के पुद्गल उपलब्ध होते हैं ।

इस वीथिमुक्तसङ्ग्रह में यह भूमिचतुष्क है ।

कुछ लोग कहते हैं कि रूपभूमियों की तरह अरूपभूमियों में भी विमान होते हैं; किन्तु सभी रूपों के प्रति घृणा होने से तथा केवल नाममात्र को ही प्राप्त करने के लिये आरब्ध की गयी भावना के कारण 'विमान' नामक रूप-धर्म का इस भूमि में होना असम्भव है । अतः इस वाद पर विचार करना चाहिये ।

१३. शुद्धावासभूमि में पृथग्जन, स्रोतापन्न एवं सकृदागामी नहीं होते । तथा मार्गस्थ पुद्गल के एकचित्तक्षणमात्र होने से अनागामिमार्गस्थ पुद्गल भी शुद्धावासभूमि में प्रतिसन्धि नहीं लेते । अतः शुद्धावासभूमि में अनागामिफलस्थ, अर्हत्-मार्गस्थ एवं अर्हत्फलस्थ – इस प्रकार त्रिविध पुद्गल ही उपलब्ध होते हैं ।

असंज्ञिसत्त्वभूमि एवं अपायभूमि में केवल अहेतुक पुद्गल ही होते हैं; अतः इन भूमियों में आर्यपुद्गल नहीं हो सकते ।

शुद्धावासभूमि असंज्ञिभूमि एवं अपायभूमि से अवशिष्ट काम, रूप एवं अरूप भूमियों में आर्य एवं अनार्य – दोनों प्रकार के पुद्गल यथायोग्य होते हैं ।

भूमि एवं पुद्गल –

अपायभूमि – दुर्गति-अहेतुक-पुद्गल १ ।

मनुष्य एवं चातुर्महाराजिक भूमि – दुर्गति-अहेतुकवर्जित पुद्गल ११ ।

ऊपर की पांच देवभूमि – दुर्गति-अहेतुक एवं सुगति-अहेतुक वर्जित पुद्गल १० ।

शुद्धावास एवं असंज्ञिवर्जित दश रूपभूमि – त्रिहेतुक पुद्गल ९ (=आर्यपुद्गल ८ एवं त्रिहेतुक पृथग्जन १)

---

*. सुद्धवासेसु – म० (ख) ।

†. सकिदागामिनो – स्या० ।

‡. लब्भति – ना० ।

पटिसन्धिचतुक्कं

१४. अपायपटिसन्धि, कामसुगतिपटिसन्धि, रूपावचरपटिसन्धि, अरूपावचरपटिसन्धि चेति चतुब्बिधा पटिसन्धि नाम।

अपायप्रतिसन्धि, कामसुगतिप्रतिसन्धि, रूपावचरप्रतिसन्धि एवं अरूपावचरप्रतिसन्धि – इस प्रकार प्रतिसन्धि चतुर्विध होती है।

कामपटिसन्धि

अपायपटिसन्धि

१५. तत्थ अकुसलविपाकोपेक्खासहगतसन्तीरणं अपायभूमियं ओक्कन्तिक्खणे पटिसन्धि हुत्वा ततो परं भवङ्गं*, परियोसाने* चवनं† हुत्वा वोच्छिज्जति। अयमेकापायपटिसन्धि नाम।

उपर्युक्त चार प्रतिसन्धियों में अकुशलविपाक उपेक्षासहगत सन्तीरणचित्त अपायभूमि में अवक्रान्ति (अवतरण) के क्षण में प्रतिसन्धिचित्त होकर उस प्रतिसन्धि के अनन्तर भवङ्गचित्त होता है. तथा पर्यवसान (अन्त) में च्युतिचित्त होकर विच्छिन्न होता है। यह एक 'अपायप्रतिसन्धि' नामक प्रतिसन्धि है।

असंज्ञिभूमि – सुगति-अहेतुक पुद्गल १।

शुद्धावासभूमि – अनागामिफलस्थ, अर्हत्-मार्गस्थ एवं अर्हत्फलस्थ।

अरूपभूमि – स्रोतापन्नमार्गस्थ पुद्गलवर्जित आर्यपुद्गल ७ एवं त्रिहेतुक पृथग्जन।

अरूपावचरभूमि समाप्त।

भूमिचतुष्क समाप्त।

प्रतिसन्धिचतुष्क

१४. यहाँ 'प्रतिसन्धिचतुष्क' के वर्णन का उपक्रम किया जा रहा है। पुराने भव के विच्छिन्न होनेपर प्रतिसन्धान के रूप में उन उन नवीन भवों में चित्त-चैतसिक एवं कर्मज रूपों की आदिम उत्पत्ति को 'प्रतिसन्धि लेना' कहते हैं।

यह प्रतिसन्धि चार प्रकार की होती है; यथा – अपायप्रतिसन्धि, कामसुगतिप्रतिसन्धि, रूपावचरप्रतिसन्धि एवं अरूपावचरप्रतिसन्धि।

कामप्रतिसन्धि

१५. **अपायप्रतिसन्धि** – अहेतुकविपाक उपेक्षासहगत सन्तीरणचित्त चार अपायभूमियों में अवतरण के काल में प्रतिसन्धिकृत्य करता है। प्रतिसन्धिक्षण के अनन्तर प्रवृत्ति-

---

-. भवङ्गं हुत्वा भवङ्गपरियोसाने – स्या०; भवङ्गपरियोसाने – रो०, म० (ख)।

†. जवनं – रो०।

कामसुगतिपटिसन्धि

१६. कुसलविपाकोपेक्खासहगतसन्तीरणं पन कामसुगतियं मनुस्सानं चेव जच्चन्धादीनं*, भुम्मनिस्सितानञ्च† विनिपातिकासुरानं पटिसन्धि-भवङ्ग-चुति-वसेन पवत्तति।

कुशलविपाक उपेक्षासहगत सन्तीरणचित्त कामसुगतिभूमि में जात्यन्ध-आदि मनुष्यों तथा भूमिनिश्रित विनिपातिक असुरों के प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति के वश से प्रवृत्त होता है।

काल में (जब वीथिचित्त नहीं होते) वह भवङ्गकृत्य करता है तथा प्रत्युत्पन्न भव के अन्तिम काल में वही च्युतिकृत्य करता है। इस प्रकार एक भव में प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति कृत्यों को करनेवाला चित्त एक ही होता है[1]।

अपायभूमि में चूँकि एक दुर्गतिअहेतुक पुद्गल ही होता है अतः प्रतिसन्धि भी एक ही (अकुशलविपाक-अहेतुकप्रतिसन्धि) होती है।

नवनीतकार का मत – कुशल हेतुओं के समागम से कुशलकर्म बलवान् होते हैं; भावना द्वारा बढ़ाये जाते हुए वे और अधिक वृद्धि एवं वैपुल्य को प्राप्त होते हैं। वे कुशल हेतु परस्पर उपकारक होकर कुशलकर्म को स्थिरता प्रदान करते हैं। अकुशल हेतुओं का स्वभाव ऐसा नहीं है। अकुशल हेतुओं में लोभ एवं मोह अथवा द्वेष एवं मोह एक साथ उपलब्ध होते हैं। वे (अकुशल हेतु) परस्पर एक दूसरे को विकसित नहीं करते, अपितु दुर्बल करते हैं। वे भावना से वृद्धि को प्राप्त नहीं होते। वे पुद्गल को मन्द एवं मूढ ही करते हैं। अतः उनसे सम्प्रयुक्त अकुशल कर्म एक 'अकुशलविपाक-अहेतुकप्रतिसन्धि' ही देते हैं[2]।

कामसुगतिप्रतिसन्धि

१६. कुशलविपाक उपेक्षासहगत सन्तीरणचित्त कामसुगतिभूमि में जात्यन्ध-आदि मनुष्यों एवं भूमिनिश्रित विनिपातिक असुरों में प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति कृत्य करता है[3]।

यहाँ 'कामसुगतियं मनुस्सानञ्चेव' में 'कामसुगति' शब्द द्वारा मनुष्य एवं चातुर्महाराजिक भूमि का ग्रहण होता है, तथा 'सब्बत्था पि कामसुगतियं'[4] में 'कामसुगति' शब्द द्वारा सातों कामसुगतिभूमियों का ग्रहण होता है।

---

*. जच्चन्धादीनं सत्तानं – स्या०। †. भूमिस्सितानञ्च – रो०।

१. द्र० – अट्ठ०, पृ० २११।

२. द्र० – नव० टी०, पृ० ८६-६०।

३. द्र० – अट्ठ०, पृ० २१४।

४. अभि० स० ५ : १७, पृ० ४६०।

जच्चन्ध–'जातिया अन्धो जच्चन्धो' जो प्रतिसन्धिकाल से ही अन्ध होता है उसे 'जच्चन्ध' (जात्यन्ध) कहते हैं। संस्वेदज एवं औपपातिक–इन दोनों प्रकार के सत्त्वों में प्रतिसन्धिक्षण में चक्षुष्, श्रोत्र एवं घ्राण प्रसाद होते हैं। यदि इनमें प्रतिसन्धिक्षण में चक्षुःप्रसाद नहीं होता है तो इन्हें भी 'जात्यन्ध' कहा जा सकता है। गर्भशयक (गब्भ-सेय्यक) सत्त्वों में प्रतिसन्धि लेने के अनन्तर ११वें सप्ताह में चक्षुःप्रसाद उत्पन्न होता है। उस चक्षुःप्रसाद के उत्पन्न होते समय यदि चक्षुःप्रसाद उत्पन्न नहीं होता है तो उन्हें 'जात्यन्ध' कहा जाता है। प्रतिसन्धिफल देनेवाला कर्म यदि चक्षुःप्रसाद को उत्पन्न करने में समर्थ होता है तो चक्षुःप्रसाद के उत्पन्न होते समय या तो वह स्वयं चक्षुःप्रसाद का उत्पाद करता है या अन्य किसी कर्म को चक्षुःप्रसाद के उत्पाद के लिये अवकाश-प्रदान करता है। उस कर्म के स्वामी को 'जात्यन्ध' नहीं कहा जा सकता। प्रतिसन्धि-फल देनेवाला कर्म, चक्षुःप्रसाद के उत्पाद के समय यदि स्वयं भी चक्षुःप्रसाद का उत्पाद नहीं कर सकता और न चक्षुःप्रसाद को उत्पन्न करने के लिये अन्य किसी कर्म का ही उपकार कर सकता है तो ऐसी स्थिति में उस कर्म से प्रतिसन्धि लेनेवाला पुद्गल मुख्य रूप से चक्षुःप्रसाद न होने के कारण 'जात्यन्ध' कहा जाता है।

कुछ लोग 'जातिया अन्धो जच्चन्धो'–यहाँ 'जाति' शब्द का अर्थ अभिधर्म के अनुसार 'प्रतिसन्धिक्षण' न करके 'सुत्तन्तनय', (सूत्रान्तनय) के अनुसार 'माता के गर्भ में रहने का काल'–यह अर्थ करते हैं और इस प्रकार अर्थ करके माता के गर्भ से ही अन्धा होकर आनेवाले पुद्गल को 'जात्यन्ध' कहते हैं; किन्तु माता के गर्भ में ही चक्षुःप्रसाद उत्पन्न होने के बाद पुद्गल कीटाणु, दुष्टवायु-आदि अन्तरायों से पीडित होने से चक्षुर्हीन हो सकते हैं। उनमें से कुछ पुद्गल कला, शिल्प-आदि में विशेष निपुण भी होते हैं अतः उन्हें अहेतुकचित्त द्वारा प्रतिसन्धि लेनेवाला नहीं कहा जा सकता। वे द्विहेतुक या त्रिहेतुक पुद्गल भी हो सकते हैं। किन्तु यदि उन्हें जात्यन्ध माना जाता है तो उनकी अहेतुक-विपाक सन्तीरणचित्त से ही प्रतिसन्धि माननी पड़ेगी। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त वाद समीचीन प्रतीत नहीं होता।

'जच्चन्धादीनं' में 'आदि' शब्द द्वारा जच्चबधिर (जातिबधिर), जच्चघाणक (जात्यघ्राणक), जच्चमूग (जातिमूक) जच्चजळ (जातिजड) जच्चुम्मत्तक (जात्युन्मत्तक), पण्डक, उभतोव्यञ्जनक, नपुंसक एवं मम्म-आदि का ग्रहण होता है[1]।

श्रोत्रप्रसाद की उत्पत्ति के समय जिनमें श्रोत्रप्रसाद उत्पन्न नहीं होता उन्हें जच्चबधिर (जातिबधिर) तथा जिनमें घ्राणप्रसाद की उत्पत्ति के समय घ्राणप्रसाद उत्पन्न नहीं होता उन्हें 'जच्चघाणक' (जात्यघ्राणक) कहते हैं। जिसमें वाक्शक्ति का अभाव होता है उसे 'जातिमूग' (जातिमूक) कहते हैं। जिसे प्रतिसन्धिकाल से ही किसी प्रकार का भान नहीं होता अर्थात् पूर्व-पश्चिम तक का ज्ञान नहीं होता उसे 'जच्चजळ' (जातिजड) कहते हैं। (किसी किसी ग्रन्थ में 'जच्चजळ' के स्थान पर 'जच्चएळ' पाठ भी मिलता है। 'एळ' का अर्थ 'लाला खेलो एळा'[2] के अनुसार 'लार'

---

१. विभा०, पृ० १२५; प० दी०, पृ० १६६। २. अभि० प०, गाथा २८१।

१७. महाविपाकानि पन अट्ठ सब्बत्थापि* कामसुगतियं पटिसन्धि-भवङ्ग-चुतिवसेन पवत्तन्ति।

आठ महाविपाकचित्त सर्वत्र ही कामसुगतिभूमि में प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति के रूप में प्रवृत्त होते हैं।

होता है, अतः 'जच्चजळ' ही पाठ होना चाहिये; क्योंकि 'एळमूगन्ति पग्घरितलालमुखं' के अनुसार मुख से लार गिरते रहनेवाले पुद्गल को 'एळमूग' कहते हैं, वह पुद्गल जच्चमूग में गृहीत होगा। ऐसे पुद्गल का यहाँ ग्रहण नहीं हो सकता।) प्रतिसन्धि से ही उन्मत्त होनेवाले को 'जच्चुम्मत्तक' (जात्युन्मत्तक) कहते हैं। पण्डक पाँच प्रकार के होते हैं। जैसे – आसित्तक, उस्सूय, ओपक्कमिक, पक्ख एवं नपुंसक। इनमें से जिन्हें मुखमैथुन द्वारा अन्य पुद्गलों का शुक्रपान करने से रागशान्ति होती है उन्हें 'आसित्तक' कहते हैं। जिन्हें अन्य दम्पत्ति का सहवास देखने से शक्ति मिलती है उन्हें 'उस्सूय' कहते हैं। अण्डकोषविहीन पुद्गल को 'ओपक्कमिक' कहते हैं। कृष्णपक्ष या शुक्लपक्ष के हिसाब से (किसी एक पक्ष में) जिन पुद्गलों में कामशक्ति प्रबल होती है उन्हें 'पक्ख' कहते हैं। 'पण्ड' नपुंसक उसे कहते हैं जिसमें स्त्री या पुरुष किसी के भी चिह्न स्पष्ट नहीं होते। इन पाँचों प्रकार के पण्डकों में से 'ओपक्कमिक' पण्डक दूसरों के प्रयोग द्वारा होने से अहेतुक पुद्गल नहीं होता। वह द्विहेतुक या त्रिहेतुक पुद्गल भी हो सकता है। जिनमें स्त्री को देखकर पुरुषभाव जाग्रत होकर पुरुषलिङ्ग व्यक्त होता है तथा पुरुष को देखकर स्त्रीभाव जाग्रत होकर स्त्रीयोनि व्यक्त होती है – ऐसे स्त्री एवं पुरुष, दोनों के चिह्नों से युक्त पुद्गल को 'उभतोव्यञ्जनक' कहते हैं। 'नपुंसक' एवं 'उभतोव्यञ्जनक' का विशेष वर्णन रूपपरिच्छेद में किया जायेगा। एक एक शब्द के उच्चारण में जिन्हें अत्यधिक प्रयास करना पड़ता है और एक अक्षर का ही कई बार लगातार उच्चारण करना पड़ता है – ऐसे हकलानेवाले पुद्गलों को 'मम्म' कहते हैं[1]।

भूमि का निश्रय करके रहनेवाले भूमिदेव, वृक्षदेव-आदि देव एवं विनिपातिक असुर भी अहेतुक कुशलसन्तीरण से प्रतिसन्धि ग्रहण करते हैं।

•१७. आठ महाविपाकचित्त सात कामसुगतिभूमियों में प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति कृत्य करते हैं। आठ महाविपाकचित्त केवल मनुष्य एवं विनिपातिक असुरों में ही नहीं; अपितु सभी सात कामसुगतिभूमियों में प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति कृत्य करते हैं। सभी विनिपातिक असुर अहेतुककुशलविपाक सन्तीरण से ही प्रतिसन्धि नहीं लेते; अपितु उनमें से कुछ महाविपाकचित्तों से भी प्रतिसन्धि लेते हैं। अतः उन विनिपातिक असुरों में द्विहेतुक एवं त्रिहेतुक पुद्गल भी होते हैं[2]।

---

*. सब्बथापि – स्या०।

१. द्र० – प० दी०, पृ० १७०।

२. विस्तार के लिये द्र० – प० दी०, पृ० १७०-१७१; अट्ठ०, पृ० २१५।

१८. इमा नव कामसुगतिपटिसन्धियो नाम।

नौ प्रकार की ये प्रतिसन्धियाँ 'कामसुगतिप्रतिसन्धि' कही जाती हैं।

१९. सा पनायं दसविधापि कामावचरपटिसन्धिच्चेव सङ्ख्यं गच्छति।

दश प्रकार की ये (उपर्युक्त) प्रतिसन्धियाँ 'कामावचर-प्रतिसन्धि' -इस संज्ञा को प्राप्त होती हैं।

कामपुग्गलानं आयुप्पमाणं

२०. तेसु चतुन्नं अपायानं, मनुस्सानं, विनिपातिकासुरानञ्च आयुप्पमाणगणनाय नियमो नत्थि।

उन कामवचरप्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गलों में से चार प्रकार के अपाय-पुद्गलों, मनुष्यों एवं विनिपातिक असुरों के आयःप्रमाण की गणना नियत नहीं है।

---

१८. अहेतुककुशलविपाक सन्तीरण १ एवं महाविपाक ८ इन ९ चित्तों को 'कामसुगतिप्रतिसन्धि' कहते हैं।

१९. अपायप्रतिसन्धि १ (अकुशलविपाक उपेक्षासन्तीरण) एवं कामसुगति-प्रतिसन्धि ९ इस प्रकार कुल १० प्रतिसन्धियों को 'कामप्रतिसन्धि' कहते हैं।

कामपुद्गलों का आयुःप्रमाण

२०. आपायिक सत्त्व, मनुष्य एवं विनिपातिक असुरों का आयुःप्रमाण नियत नहीं होता[1]। इनमें से नारकीय सत्त्व, प्रेत एवं असुरों का आयुःप्रमाण कर्मों के अधीन होता है। जबतक सम्पूर्ण कर्मों का फलभोग पूरा नहीं होता तबतक उनको उसी भूमि में रहना पड़ता है[2]। तिरच्छान (तिरश्चीन) एवं मनुष्यों में भी आयुःप्रमाण को नियत

---

१. "अपायानं मनुस्सानं भुम्मदेवानं च तादिसो नियमपरिमाणो नाम नत्थि। न हि सकलचक्कवाळपरियापन्ना एकभूमका सब्बनिरया एकआयुपरिच्छेदा होन्ति। तिरच्छानादीसू पि एसेव नयो।" -प० दी०, पृ० १७१; विभा०, पृ० १२६।
द्र० -"मनुस्सानं कित्तकं आयुप्पमाणं? वस्ससतं, अप्पं वा भिय्यो।" -विभ०, पृ० ५०४।

तु० - "आयुप्पमाणनियमो नत्थि भुम्मे च मानवे।
वस्सानं गणना नत्थि चतुरापायभूमियं॥"
-परम० वि०, पृ० २७; अभि० को० ३:७८, पृ० ३९०।

२. द्र० -प० दी०, पृ० १७१, तु० -म० नि०, तृ० भा०, २३६-२३७, २५५-२५८।

२१. चातुम्महाराजिकानं पन देवानं दिब्बानि पञ्च वस्ससतानि आयुप्पमाणं, मनुस्सगणनाय नवुतिवस्ससतसहस्सप्पमाणं होति।

चातुर्महाराजिक भूमि में रहनेवाले देवों का आयुःप्रमाण दिव्य पाँच सौ वर्ष है। यह मनष्यों की गणना से ९० लाख वर्ष होता है।

नहीं कह सकते[1]। मनुष्यों के आयुःप्रमाण का न्यून-अधिक होना ऋतु एवं आहार पर निर्भर करता है। यदि वे अनुकूल ऋतु में रहकर ओजः सम्पन्न आहार का ग्रहण करते हैं तो आयुःप्रमाण अधिक हो जाता है। ऋतु एवं आहार के प्रतिकूल होने पर आयुःप्रमाण न्यून हो जाता है। उन ऋतु एवं आहार का अनुकूल एवं प्रतिकूल होना सत्त्व के कर्मों के अधीन होता है। अर्थात् सत्त्व का कर्म अच्छा होगा तो ऋतु एवं आहार अनुकूल प्राप्त होंगे; यदि कर्म अच्छा न होगा तो ऋतु एवं आहार प्रतिकूल प्राप्त होंगे। उन कर्मों का अच्छा या बुरा होना सत्त्वों की स्वाभाविक चित्तधातु पर निर्भर है। लोभ, द्वेष, मोह एवं मान-आदि के प्राबल्यकाल में कर्म भी अच्छे नहीं हो सकते। जब पुद्गलों की पुण्यक्रियाओं की अभिवृद्धि होती है तो उनके कर्म भी अच्छे होते हैं। आजकल मनुष्यों में दुश्चरित-आदि पाप-धर्मों का आधिक्य हो जाने से उनके आयुःप्रमाण का भी क्रमशः ह्रास होता जा रहा है। मनुष्यों की तरह ऋतु एवं आहार पर निर्भर रहनेवाले तिरच्छान (तिरश्चीन) भी मनुष्यों की तरह ही होते हैं।

२१. चातुर्महाराजिक देवों का आयुःप्रमाण अपने हिसाब से ५०० वर्ष होता है। मनुष्यभूमि के ५० वर्ष चातुर्महाराजिक भूमि के १ अहोरात्र के बराबर होते हैं। तथा मनुष्यों की ही तरह उनका मास ३० दिन का एवं १२ मास का एक वर्ष होता है। इस हिसाब से उनकी ५०० वर्ष आयु होती है। मनुष्यों की गणना से वह आयु ९० लाख वर्ष होती है[2]। यथा –

> "यानि पञ्ञासवस्सानि मनुस्सानं दिनो तहिं।
> तिंस रत्तिदिवो मासो मासा द्वादस संवच्छरं॥
> तेन संवच्छरेनायु दिब्बं पञ्चसतं मतं[3]॥"

---

१. "कल्पं तिरश्चां प्रेतानां, मासाहशतपञ्चकम्॥" – अभि० को० ३ : ८३, पृ० ३९३।

२. द्र० – विभ०, पृ० ५०४; अभि० को० ३ : ७९, पृ० ३९१।

३. विभा०, पृ० १२६; परम० वि०, पृ० २५।

२२. ततो चतुग्गुणं* तावतिंसानं। ततो चतुग्गुणं यामानं† । ततो चतुग्गुणं तुसितानं। ततो चतुग्गुणं निम्मानरतीनं। ततो चतुग्गुणं परनिम्मितवसवत्तीनं‡ ।

त्रायस्त्रिंश भमि में रहनेवाले देवों का (आयु:प्रमाण) चातुर्महाराजिक देवों सें चौगुना होता है। यामभूमि में रहनेवाले देवों का (आयु:प्रमाण) त्रायस्त्रिंश देवों से चौगुना होता है। तुषितभूमि में रहनेवाले देवों का (आयु:प्रमाण) यामदेवों से चौगुना होता है। निर्माणरति भूमि में रहनेवाले देवों का (आयु:प्रमाण) तुषित देवों से चौगुना होता है। तथा परनिर्मितवशवर्ती देवों का आयु:प्रमाण निर्माणरति देवों से चौगुना होता है।

२३. नवसतञ्चेकवीसवस्सानं§ कोटियो तथा।
वस्ससतसहस्सानि सट्ठि* च वसवत्तिसु ।।

वशवर्ती देवताओं का आयु:प्रमाण ९२१ करोड़ ६० लाख वर्ष (मनुष्यगणना से) होता है।

---

२२. चातुर्महाराजिक देवों के आयु:प्रमाण में चार का गुणा करने पर २००० वर्ष होते हैं। किन्तु ये चातुर्महाराजिक देवों के हिसाब से होते हैं। त्रायस्त्रिंश देवों का अहोरात्र चातुर्महाराजिक दोनों से दुगुना बड़ा होता है। अत: त्रायस्त्रिंश देवों की आयु अपने हिसाब से एक हजार वर्ष होती है। मनुष्यभूमि के १०० वर्ष त्रायस्त्रिंश भूमि के एक अहोरात्र के बराबर होते हैं। अत: मनुष्य हिसाब से त्रायस्त्रिंश देवों की आयु ३ करोड़ ६० लाख वर्ष होती है।

इसी प्रकार याम, तुषित, निर्माणरति एवं परनिर्मितवशवर्त्ती देवों की आयु क्रमश: चतुर्गुण अधिक-अधिक होती है[1]।

देवभूमि का आयु:प्रमाण (मनुष्य-गणना से)

देवभूमि	देव-आयु:	मनुष्यों की गणना से
चातुर्महाराजिक	५००	९००००००
त्रायस्त्रिंश	१०००	३६०००००
याम	२०००	१४४००००००
तुषित	४०००	५७६००००००
निर्माणरति	८०००	२३०४००००००
परनिर्मितवशवर्ती	१६०००	९२१६००००००

---

*. चतुगुणं – स्या०, रो० । (सर्वत्र)। †. यामाणं – रो०। ‡. ० देवानं आयुप्पमाणं – स्या०। §. नवस्सत० – रो०। *. सट्ठि – स्या०; सट्ठी – रो०।

१. विभा०, पृ० १२६-१२७; प० दी०, पृ० १७२-१७३; विभ०, पृ० ५०४-५०६; अभि० को० ३ : ८०, पृ० ३९१; अ० नि०, तृ० भा०, पृ०३५३-३५४।

रूपपटिसन्धि

२४. पठमज्झानविपाकं पठमज्झानभूमियं पटिसन्धि-भवङ्ग-चुतिवसेन पवत्तति।

प्रथमध्यानविपाकचित्त प्रथमध्यानभूमि में प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति के रूप में प्रवृत्त होता है।

२५. तथा दुतियज्झानविपाकं, ततियज्झानविपाकञ्च दुतियज्झानभूमियं।

तथा द्वितीयध्यानविपाकचित्त एवं तृतीयध्यानविपाकचित्त द्वितीयध्यानभूमि में प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युतिवश प्रवृत्त होते हैं।

नारकीय सत्त्वों का आयु:प्रमाण—

इन देवों के आयु:प्रमाण से तुलना करके नारकीयों के आयु:प्रमाण का भी प्रतिपादन किया जा रहा है। चातुर्महाराजिक देवताओं का सम्पूर्ण आयु:प्रमाण सञ्जीव-नरक के एक अहोरात्र के बराबर होता है। इस प्रकार के अहोरात्र से मास एवं संवत्सर बनाकर ५०० संवत्सर सञ्जीवनरक का आयु:प्रमाण है। इस नरक में होनेवाले सत्त्व अपने हिसाब से ५०० संवत्सर से अधिक वहाँ नहीं रहते; किन्तु इस अवधि से पूर्व भी कर्म के अनुसार वहाँ से मुक्ति पा सकते हैं।

त्रायस्त्रिंश देवों का सम्पूर्ण आयु:प्रमाण 'कालसुत्त' नरक के १ अहोरात्र के बराबर होता है। इस प्रकार के अहोरात्र से मास एवं संवत्सर बनाकर १००० संवत्सरकाल 'कालसुत्त' नरक का आयु:प्रमाण है। यामदेवों का सम्पूर्ण आयु:प्रमाण 'सङ्घात' नरक के १ अहोरात्र के बराबर होता है। इस प्रकार के अहोरात्रों से निर्मित २००० संवत्सरकाल 'सङ्घात' नरक का आयु:प्रमाण होता है। तुषित देवों का सम्पूर्ण आयु:प्रमाण 'जालरोरुव' नरक के १ अहोरात्र के बराबर होता है। इस प्रकार के अहोरात्रों से निर्मित ४००० संवत्सरकाल 'जालरोरुव' नरक का आयु:प्रमाण है। इसी तरह निर्माणरति देवों के आयु:प्रमाण से 'धूमरोरुव' एवं परनिर्मितवशवर्ती देवों के आयु:प्रमाण से 'तापन' नरकों के आयु:प्रमाण को जानना चाहिये।

अन्तरकल्प का आधा काल 'महातापन' नरक का आयु:प्रमाण है। एक अन्तर-कल्प का काल 'अवीचि' नरक का आयु:प्रमाण है[1]।

कामप्रतिसन्धि समाप्त।

रूपप्रतिसन्धि

२४-२७. प्रथमध्यानविपाक की प्रथमध्यानभूमि में प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति-कृत्यवश प्रवृति होने में अपना विपाक एवं अपनी भूमि होने के कारण उसके बारे में विचार करने का कोई अवसर नहीं है।

---

१. जिनालङ्कार०, पृ० ६४-६५; तु०—अभि० को० ३ : ८२-८३, पृ० ३९३। अं० नि०, चतु० भा०, पृ० २३८-२३९; खु० नि० (सुत्त०), पृ० ३७०।

२६. चतुत्थज्झानविपाकं ततियज्झानभूमियं ।

२७. पञ्चमज्झानविपाकं चतुत्थज्झानभूमियं* ।

चतुर्थध्यानविपाकचित्त तृतीयध्यानभूमि में –

तथा पञ्चमध्यानविपाकचित्त चतुर्थध्यानभूमि में प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति के रूप में प्रवृत्त होता है ।

२८. असञ्ञसत्तानं पन रूपमेव पटिसन्धि होति । तथा ततो परं पवत्तियं चवनकाले च रूपमेव पवत्तित्वा निरुज्झति ।

असंज्ञी ब्रह्माओं की प्रतिसन्धि रूप ही होती है तथा प्रतिसन्धिक्षण के अनन्तर प्रवृत्तिकाल में एवं च्युतिकाल में रूप ही प्रवृत्त होकर निरुद्ध होते हैं ।

२९. इमा छ रूपावचरपटिसन्धियो नाम ।

ये ६ प्रतिसन्धियाँ 'रूपावचरप्रतिसन्धि' कहलाती हैं ।

परन्तु द्वितीयध्यानविपाक एवं तृतीयध्यानविपाक – दोनों का द्वितीयध्यानभूमि में प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति कृत्य करना, चतुर्थध्यानविपाक का तृतीयध्यानभूमि में उक्त कृत्य करना एवं पञ्चमध्यानविपाक का चतुर्थध्यानभूमि में उक्त कृत्य करना विचित्र-सा प्रतीत होता है; किन्तु ध्यानविपाकक्रम एवं भूमिक्रम में इस प्रकार की विषमता, आचार्य अनुरुद्ध द्वारा रूपध्यानों का चतुष्कनय न कहा जाकर पञ्चक नय के अङ्गीकार से होता है[1] ।

ब्रह्मभूमियों में भूमिक्रम का नामकरण चतुष्कनय के अनुसार ही किया गया है । बृहत्फल एवं असंज्ञिभूमि तक भूमियों के चार स्तर ही होते हैं । पञ्चकनय के अनुसार रूपध्यानों को चारों भूमियों में फैलाने पर वितर्क का अतिक्रम करने में समर्थ द्वितीय-ध्यान की शक्ति द्वितीय भूमि में ही उत्पन्न हो सकती है । औदारिक (ओळारिक) वितर्क का अतिक्रम करके सूक्ष्म विचार का पुनः अतिक्रम करने में समर्थ तृतीयध्यान की शक्ति भी द्वितीयध्यानभूमि से ऊपर फल नहीं दे सकती, अतः पञ्चकनय के अनुसार द्वितीय एवं तृतीय – दोनों ध्यानों को द्वितीयध्यानभूमि में अपना फल देना पड़ता है[2] ।

२८. असंज्ञी ब्रह्मा जीवितनवककलाप नामक रूप-धर्मों द्वारा ही प्रतिसन्धि ग्रहण करते हैं, तदनन्तर प्रवृत्तिकाल में उनकी सन्तति में कर्मज रूप एवं ऋतुज रूप भी

---

*. ०पटिसन्धिभवङ्गचुतिवसेन पवत्तंति – स्या० ।

१. विभा०, पृ० १२७; प० दी०, पृ० १७४ ।

२. "यस्मा अवितक्कविचारमत्तं झानं ओळारिकस्स वितक्कस्स समतिक्कमा पठमज्झानतो सुट्ठु बलवं होति, ततो येव ततियज्झानतो पि नातिदुब्बलञ्च होति, तस्मा तं ततियज्झानेन एकतो हुत्वा समतले भूमन्तरे विपाकं देतीति वुत्तं – 'दुतियज्झानविपाकं ततियज्झानविपाकञ्च दुतियज्झानभूमियं' ति ।" – प० दी०, पृ० १७३-१७४ । विशेष मत के लिये द्र० – नव० टी०, पृ० ९२ ।

रूपपुग्गलानं आयुप्पमाणं

३०. तेसु ब्रह्मपारिसज्जानं देवानं कप्पस्स ततियो भागो आयुप्पमाणं, ब्रह्मपुरोहितानं उपड्ढकप्पो, महाब्रह्मानं एको कप्पो।

रूपावचर प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गलों में से ब्रह्मपारिषद्य ब्रह्माओं का आयु:प्रमाण असङ्ख्येय कल्प का तृतीय भाग होता है। ब्रह्मपुरोहित ब्रह्माओं का आयु:प्रमाण असङ्ख्येय कल्प का आधा होता है। महाब्रह्माओं का आयु:प्रमाण एक असङ्ख्येय कल्प होता है[1]।

प्रतिष्ठित होते हैं। जिस ईर्यापथ से कामभूमि में च्युति होती है उसी ईर्यापथ से ५०० कल्पपर्यन्त वे असंज्ञिभूमि में रहते हैं। उन रूपधर्मों के निरोध को ही च्युति कहते हैं। रूपधर्मों में सम्प्रयुक्त-हेतुओं के न होने से उन्हें 'अहेतुक' कहा जाता है। अतः अहेतुक रूपधर्मों से प्रतिसन्धि लेनेवाले असंज्ञी ब्रह्माओं को 'अहेतुक पुद्गल' कहते हैं। तथा उनकी भूमि सुगतिभूमि में परिगणित है, अतः उन्हें 'सुगति-अहेतुक पुद्गल' भी कहते हैं।

रूपपुद्गलों का आयु:प्रमाण

३०. **ब्रह्माओं की आयु** – प्रथमध्यान की तीन भूमियाँ, जब प्रलय होता है तब, विनष्ट हो जाती हैं। वे एक महाकल्पपर्यन्त स्थित नहीं रह सकतीं, अतः उन प्रथम-ध्यानभूमि के ब्रह्माओं के आयु:प्रमाण की गणना महाकल्प से न करके महाकल्प के एक चौथाई प्रमाणवाले असङ्ख्येय कल्प से की गयी है।

परीत्ताभ-आदि ऊपर की भूमियाँ प्रलयकाल में सर्वदा विनष्ट नहीं होतीं, कभी कभी ही प्रलयकाल में उनका विनाश होता है, अतः उनकी गणना महाकल्प से होती है।

उन उन ब्रह्माओं का आयु:प्रमाण, उन उन भूमियों में होनेवाले ब्रह्माओं के अधिक से अधिक आयु:प्रमाण के आधार पर कहा गया है। कल्प के आधे भाग में आनेवाले या प्रलय के आसन्न काल में आनेवाले ब्रह्माओं का आयु:प्रमाण उतना ही नहीं होता। इसी प्रकार उनके कर्म का भोग यदि बीच में ही पूरा हो जाता है तो उन्हें प्रलय से पूर्व भी च्युत होना पड़ सकता है।

कल्पभेद – कल्प ४ प्रकार के होते हैं; यथा – १. आयु:कल्प, २. अन्तरकल्प, ३. असङ्ख्येयकल्प एवं ४. महाकल्प।

'कप्पीयते परिच्छिज्जते ति कप्पो, आयु च तं कप्पो चा ति आयुकप्पो' उन उन भूमियों में परिच्छिन्न आयु:परिमाण उन उन भूमियों का 'आयु:कल्प' है।

---

१. विभ०, पृ० ५०६; तु० – अभि० को० ३ : ८०, पृ० ३९१।

३१. परित्ताभानं द्वे कप्पानि, अप्पमाणाभानं चत्तारि कप्पानि, आभस्सरानं अट्ठ कप्पानि ।

परीत्ताभ ब्रह्माओं का आयु:परिमाण २ महाकल्प होता है । अप्रमाणाभ ब्रह्माओं का आयु:प्रमाण ४ महाकल्प तथा आभास्वर ब्रह्माओं का आयु:प्रमाण ८ महाकल्प होता है[1] ।

३२. परित्तसुभानं सोळस कप्पानि, अप्पमाणसुभानं द्वत्तिंस कप्पानि, सुभकिण्हानं चतुसट्ठि* कप्पानि ।

परीत्तशुभ ब्रह्माओं का १६ महाकल्प, अप्रमाणशुभ ब्रह्माओं का ३२ महाकल्प एवं शुभाकीर्ण (शुभकृत्स्न) ब्रह्माओं का ६४ महाकल्प आयु:-प्रमाण होता है[2] ।

असङ्ख्येय कल्प से धीरे धीरे ह्रास होते हुये दस वर्ष आयु:प्रमाण तक आना, तथा दस वर्ष के आयु:प्रमाण से धीरे धीरे असङ्ख्येय कल्प तक जाना, इस प्रकार आयु के एक अवरोह-आरोहयुगल को अन्तरकल्प (असङ्ख्येय कल्प के बीच में होनेवाला कल्प) कहते हैं ।

[कुछ लोग कहते हैं कि १०० वर्षों के अनन्तर १ वर्ष का ह्रास (कमी) होता है तथा कुछ लोग कहते हैं कि १०० वर्षों के अनन्तर आयु में १० वर्ष का ह्रास हो जाता है । उनमें से प्रथम मत ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है; क्योंकि भगवान् बुद्ध के समय मनुष्य का आयु:प्रमाण १०० वर्ष माना गया है १०० वर्षों में १ वर्ष कम करने से २५०० वर्षों में २५ वर्ष कम होंगे; इसीलिये आज-कल मनुष्य का आयु:प्रमाण लगभग ७५ वर्ष ही होता है । इसी प्रकार आयु:प्रमाण के बढ़ने में भी १०० वर्षों के अनन्तर १ वर्ष की वृद्धि होती है ।]

इस प्रकार के ६४ अन्तरकल्पों का एक असङ्ख्येय कल्प होता है ।

[कुछ आचार्य कहते हैं कि २० अन्तरकल्पों का १ असङ्ख्येय कल्प होता है तथा अन्य आचार्य कहते हैं कि ८० अन्तरकल्पों के बराबर १ असङ्ख्येय कल्प होता है । कुछ के अनुसार १४ अन्तरकल्पों के बराबर १ असङ्ख्येय कल्प होता है ।]

४ असङ्ख्येय कल्पों का एक महाकल्प होता है । १०० योजन लम्बे चौड़े एक गोदाम (भाण्डार गृह) में सरसों के बीज भरकर सौ सौ वर्षों में १-१ बीज को निकालने पर जितने वर्षों में सम्पूर्ण बीज निकलेंगे उनसे भी अधिक वर्ष १ महाकल्प में होते हैं ।

असङ्ख्येय कल्प ४ होते हैं; यथा – १. संवट्ट (संवर्त्त), २. संवट्टट्ठायी (संवर्त्तस्थायी), ३. विवट्ट (विवर्त्त) एवं ४. विवट्टट्ठायी (विवर्त्तस्थायी)[3] ।

---

*. चतुसट्ठी – स्या० ।

1. विभ०, पृ० ५०७ ।

2. विभ०, पृ० ५०७; वि० प्र० वृ०, पृ० ११७ ।

3. विसु०, पृ० २८८ ।

३३. वेहप्फलानं असञ्ञसत्तानञ्च पञ्च कप्पसतानि।

बृहत्फल ब्रह्माओं का आयुःप्रमाण एवं असंज्ञिसत्त्वों का आयुःप्रमाण ५०० कल्प होता है[1]।

उनमें से प्रलयकाल 'संवट्ट' (संवर्त्त) असङ्ख्येय-कल्प है। प्रलयकाल के अनन्तर एवं सृष्टिकाल के पूर्व का मध्यकाल 'संवट्टट्ठायी' (संवर्त्तस्थायी) असङ्ख्येय कल्प है सृष्टिकाल 'विवट्ट' (विवर्त्त) असङ्ख्येय कल्प है, तथा सृष्टिकाल के अनन्तर स्थितिकाल 'विवट्टट्ठायी (विवर्त्तस्थायी) असङ्ख्येय कल्प है। आजकल 'विवट्टट्ठायी' असङ्ख्येय कल्प है। उनमें से संवट्ट कल्प (प्रलयकाल) त्रिविध होता है; यथा—जब अग्नि से प्रलय होता है तो उसे 'तेजोसंवट्टकप्प' (तेजःसंवर्त्तकल्प), जब जल से प्रलय होता है तो उसे 'आपोसंवट्टकप्प' (अप्संवर्त्तकल्प), एवं जब वायु से प्रलय होता है तो उसे 'वायोसंवट्टकप्प' (वायुसंवर्त्तकल्प) कहते हैं। उनमें ७ वार तेजोसंवट्टकप्प होने के बाद १ आपोसंवट्ट-कप्प होता है। अर्थात् प्रथमवार अग्नि से प्रलय, प्रलय के अनन्तर फिर सृष्टि, सृष्टि के अनन्तर फिर अग्नि से प्रलय—इस तरह सृष्टि हो होकर ७ वार अग्नि से प्रलय होने पर आठवीं वार जल का प्रलय होता है। उपर्युक्त प्रकार से अर्थात् ७ वार अग्नि का प्रलय और तदनन्तर आठवीं वार जल का प्रलय होते होते जब सातवीं बार जल का प्रलय होने के अनन्तर ७ वार अग्नि का प्रलय होता है तो प्रलयों की सङ्ख्या ६३ पूरी हो जाती है तब चौंसठवीं वार वायु से प्रलय होता है[2]।

"सत्त सत्तग्गिना वारा अट्ठमे अट्ठमे दका।
चतुसट्ठि यदा पुण्णा एको वायु वरो सिया[3]"॥

इस प्रकार प्रलय होने में जब कल्प का अग्नि से प्रलय होता है तब आभास्वर भूमि से नीचे की भूमियाँ अग्नि से जल जाती हैं। जब जल से प्रलय होता है तब शुभाकीर्णभूमि के नीचे की भूमियाँ जल से घुल जाती हैं। जब वायु से प्रलय होता है तब बृहत्फल से नीचे की भूमियाँ वायु से विध्वस्त हो जाती हैं[4]।

"अग्गिना भस्सरा हेट्ठा आपेन सुभकिण्हतो।
वेहप्फलतो वातेन एवं लोको विनस्सति[5]"॥

---

१. विभ०, पृ० ५०८।

२. कल्पभेद, सृष्टिप्रलय-आदि के बारे में द्र०—प० दी०, पृ० १७४-१७५; विसु०, पृ० २९३।

३. विभा०, पृ० १२७; प० दी०, पृ० १७५।

४. विसु०, पृ० २८८। तु०—अभि० को० ३ : १००-१०१, पृ० ४२०; ३ : १०२, पृ० ४२५; अभि० दी० १५१ का०, पृ० ११६।

५. विभा०, पृ० १२७; प० दी०, पृ० १७५; विसु०, पृ० २८८

इस प्रकार जब प्रलय होता है तब प्रथम ध्यान की तीनों भूमियाँ विनष्ट हो जाती हैं, उनके १ महाकल्पपर्यन्त स्थित न रह सकने के कारण उनके आयु:प्रमाण की गणना असङ्ख्येय कल्प से की गयी है।

प्रलयकाल—सत्त्वों की स्थितिवाले 'विवट्टट्ठायी' (विवर्त्तस्थायी) असङ्ख्येय कल्प के ६४ अन्तर कल्प पूर्ण होने पर जब प्रलय होता है तो इसमें एक लाख करोड़ चक्रवाल एक साथ नष्ट एवं एक साथ स्थित होते हैं। सर्वप्रथम अनावृष्टि होती है, तदनन्तर महावृष्टि होती है। कृषक अत्यन्त प्रसन्न होकर खेतों में सब बीजों को बो देते हैं और उनसे जब गायों द्वारा खानेयोग्य फसल उत्पन्न होती है तब पुन: आकाश में गर्दभ के स्वर की भाँति अति कर्कश एवं कर्णकटु ध्वनियों से युक्त मेघगर्जन होता है; किन्तु एक बूँद भी पानी नहीं गिरता और खुली हुई वर्षा खुली हुई ही रह जाती है जिससे दुर्भिक्ष होते हैं।

प्रलयकाल से १ लाख वर्ष पूर्व 'लोकव्यूह' नामक देवता खुले सिर, बिखरे बाल, रोते हुए मुख वाले, हाथों से आँसुओं को पोंछते हुए, लाल रङ्ग के वस्त्र पहने अत्यन्त विरूप भेष धारण करके मनुष्य लोक में घूमते हुए ऐसा कहते हैं—

"भो: ! आज से लाख वर्ष बीतने पर कल्प का विनाश होगा, यह लोक विनष्ट हो जायेगा, चारों महासमुद्र भी सूख जायेंगे, यह महापृथ्वी एवं पर्वतराज सुमेरु जल जायेंगे, विनष्ट हो जायेंगे। ब्रह्मभूमिपर्यन्त लोक का विनाश होगा। आप लोग मैत्री, करुणा-आदि ब्रह्मविहारों की भावना करें तथा माता-पिता की सेवा करें एवं कुल के ज्येष्ठ लोगों का सत्कार करें।"

इस प्रकार के घोष को सुनकर एवं लोकव्यूह देवताओं को देखकर लोगों में महाभय, संत्रास एवं संवेग उत्पन्न होता है।

[प्रलयकाल से एक लाख वर्ष पूर्व देवताओं द्वारा इस कार का कोलाहल होता है, बुद्धोत्पाद के एक सहस्र वर्ष पूर्व भी इसी प्रकार देवताओं द्वारा कोलाहल होता है तथा चक्रवर्ती राजा के उत्पाद से सौ वर्ष पूर्व भी इसी प्रकार कोलाहल होता है। इस प्रकार के कोलाहलों का तीन समयों में होना 'धर्मता' है।]

लोकव्यूह देवताओं का कोलाहल सुनकर मनुष्य एवं भूमिनिश्रित देवता संवेग को प्राप्त हो परस्पर मृदुचित्त होकर मैत्री, करुणा-आदि की भावना करके च्युति के अनन्तर ऊपर की देवभूमियों में उत्पन्न होते हैं। वहाँ दिव्य सुधा-भोजन करके वायोकसिण (वायुकात्स्न्र्य) में परिकर्म करके ध्यान को प्राप्त होते हैं। अन्य तिरच्छान (तिरश्चीन), प्रेत-आदि सत्त्व (जो नियतमिथ्यादृष्टिवाले नहीं हैं) एवं नारकीय सत्त्व भी अपरपर्यायवेदनीय कुशल कर्मों के कारण च्युत होकर देवभूमियों में पहुँच जाते हैं। इस प्रकार देवभूमियों में पहुँचनेवाले ये सत्त्व पहले ही की तरह कामगुणों में (संवेग के कारण) आसक्त न होकर वहाँ भी ध्यानभावनाओं में तल्लीन रहते हैं; अत: ध्यानों को प्राप्त करके, जिन भूमियों का अग्नि से प्रलय नहीं होता, ऐसी आभास्वर-आदि ब्रह्मभूमियों में उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार सत्त्वों के ब्रह्मभूमियों में पहुंचने के

कुछ काल बाद स्वाभाविक सूर्य के अस्तमनकाल में दूसरा प्रखर तेजःसम्पन्न सूर्य उदित होता है। उसके उदित होने पर न तो रात्रि का परिच्छेद जान पड़ता है, न दिन का ही। एक सूर्य निकलता है तो एक डूबता है। जैसे साधारण सूर्यविमान में सूर्य देवता होते हैं, वैसे प्रलयकालिक कल्पविनाशक इस सूर्यविमान में कोई देवता नहीं होता। इस दूसरे सूर्य के उदित होने के कुछ काल के भीतर ही उसकी दहनशक्ति से ५०० क्षुद्र नदियाँ सूख जाती हैं।

इस प्रकार एक लाख करोड़ चक्रवालों में २ सूर्यों के भ्रमण करते हुए दीर्घ-काल वीतने पर तीसरा सूर्य उदित होता है। यह पहले से भी अधिक उष्ण होता है, अतः इसकी उष्णता से गङ्गा, यमुना, अचिरवती (राप्ती), मही (बड़ी गण्डक) एवं सरभू (सरयू) नामक पाँच महानदियों का भी सम्पूर्ण जल सूख जाता है। ३ सूर्यों के होने के दीर्घ काल बाद जब चौथा सूर्य उदित होता है तब हिमालय में महानदियों के उद्गम स्थान सिंहप्रपातन, हंसपातन, कर्णमुण्डक, रथकार ह्रद, अनवतप्त ह्रद, छद्दन्त ह्रद एवं कुणाल ह्रद—इस प्रकार ये ७ महासरोवर सूख जाते हैं। उससे भी दीर्घकाल बीतने पर पञ्चम सूर्य के उत्पन्न होने पर चारों महासमुद्र भी अशेष सूख जाते हैं। छठें सूर्य के उदित होने पर एक लाख करोड़ चक्रवालों में आर्द्रता का अशेष विनाश होकर उनसे धूम उठने लगता है तथा सप्तम सूर्य उदित होने पर अग्नि प्रज्वलित हो उठती है जिससे एक लाख करोड़ चक्रवालों के पृथ्वी, अप् एवं वायुधातु के तल से लेकर प्रथमध्यान ब्रह्मभूमि तक सब कुछ जल कर नष्ट हो जाता है[1]।

इस प्रकार पृथ्वी, जल एवं वायुमण्डल का प्रलय हो जाने पर प्रथमध्यानभूमि एवं उसके नीचे कोई भी नाम एवं रूप धर्म अणुमात्र भी शेष नहीं रहता। "सा याव अणुमत्तं पि सङ्खारगतं अत्थि ताव न निब्बायति[1]।" नामरूप-धर्मों के अणुमात्र भी शेष न रहने पर अग्नि शान्त हो जाती है एवं सम्पूर्ण क्षेत्र शून्य महाअन्धकार की तरह प्रतीत होता है[2]।

इस प्रकार प्रलयकालिक अतिवृष्टि-काल से लेकर अग्नि के शान्त होने तक के काल को 'संवट्ट-असङ्ख्येय्य कल्प' कहते हैं। यह संवट्ट-असङ्ख्येय्य कल्प महाकल्प का एक चौथाई है।

इस प्रलय के अनन्तर एवं पुनः सृष्टयुत्पाद के बीच वाले काल को 'संवट्टट्ठायी' कल्प (संवर्तस्थायी कल्प) कहते हैं। जैसे किसी एक ग्राम के जल जानेपर जब तक दूसरे ग्राम का निर्माण नहीं होता तब तक वह नष्ट रूप में ही होता है; इसी प्रकार इस कल्प की तमाम वस्तुओं के नष्ट होनेपर एवं अग्नि के भी शान्त हो जाने पर जब तक नये कल्प का निर्माण करनेवाली महावृष्टि नहीं होती तब तक उसी अवस्था में स्थित रहनेवाले समय को 'संवट्टट्ठायी-असङ्ख्येय कल्प' कहते हैं। यह 'संवट्टट्ठायी असङ्ख्येय कल्प' भी महाकल्प के एक चौथाई काल के बराबर होता है।

जल से प्रलय—उपर्युक्त कथन के अनुसार सात वार प्रलय एवं सात वार सृष्टि होने के अनन्तर आठवीं वार उपर्युक्त प्रकार से ही लोकव्यूह देवताओं द्वारा कोलाहल

---

१. विसु०, पृ० २९० ।

२. द्र०—विसु०, पृ० २८८–२९० ।

होता है। तदनन्तर द्वितीय सूर्य का उत्पाद न होकर उसके स्थान पर क्षार (नमकीन) वृष्टि होती है। और लगातार सम्पूर्ण समय (महाकल्प का चौथाई) में अतिवृष्टि होते रहने से द्वितीयध्यानभूमि तक के अशेष पदार्थ घुलकर विनष्ट हो जाते हैं[1]।

वायु से प्रलय—अग्नि से सात वार फिर जल से एक वार—इस प्रकार क्रम से प्रलय होते होते चौंसठवीं वार वायु से प्रलय होता है। इससे पूर्व भी लोकव्यूह देवताओं द्वारा कोलाहल होता है। इस समय चारों ओर से प्रलयकालिक प्रचण्ड पवन अतिवेग से उठने लगते हैं। जिससे पृथ्वीसहित सम्पूर्ण लोक चूर्णविचूर्ण होकर उड़ने लगते हैं। बड़े बड़े सुमेरु-आदि पर्वतों, वृक्षों एवं चट्टानों के परस्पर सङ्घट्टन से अतिभयावह शब्द होता है। इससे तृतीयध्यानभूमि तक सभी पदार्थ अणुमात्र भी अवशिष्ट न रहकर पूर्ण रूप से विनष्ट हो जाते हैं[2]।

सृष्टिकाल—महाकल्प के एक चौथाई काल तक 'संवट्टट्ठायी' (संवर्तस्थायी) कल्प (प्रलयजन्य शून्य अन्धकार) रहने के बाद जब सृष्टि का उत्पाद आरम्भ होता है तब सर्वप्रथम वर्षा होती है। वह वर्षा भी प्रारम्भ में धीरे धीरे होकर क्रम से तेज होती जाती है और इससे सम्पूर्ण प्रलयजन्य शून्यतावाला (एकलाख करोड़ चक्रवाल) क्षेत्र जल से परिपूर्ण हो जाता है। उस जल को फैलने न देने के लिये चारों ओर से, ऊपर तथा नीचे से, वेगवान् वायु उठते हैं जिससे वह जल नीचे, ऊपर या चारों ओर कहीं न जाकर कमलपत्र पर स्थित जल की तरह स्थित रहता है।

इस प्रकार वायु द्वारा जब जल सूखने लगता है और ऊपर की ब्रह्मभूमियों का जल सूखकर नीचे उतर आता है तो आकाश में ब्रह्मभूमियाँ उत्पन्न होती हैं। (जब प्रलय आरम्भ होता है तब ब्रह्मभूमियों का विनाश अन्त में होता है और जब सृष्टि प्रारंभ होती है तब ब्रह्मभूमियों का उत्पाद पहले होता है।) तदनन्तर ऊपर की चार देवभूमियाँ उत्पन्न होती हैं। उन देव एवं ब्रह्मभूमियों के विमान-आदि उन भूमियों में आनेवाले सत्त्वों (ब्रह्मा एवं देवों) के कर्म एवं ऋतु से उत्पन्न रूपों से निर्मित होते हैं। सत्त्वों के पहुँचने से पूर्व वहाँ विमान-आदि नहीं रहते; केवल भूमियों का निर्माणमात्र हुआ रहता है। चातुर्महाराजिक एवं त्रायस्त्रिंश भूमियों का सुमेरु से सम्बन्ध होने के कारण अभी उनका निर्माण नहीं होता।

धीरे धीरे जल सूखकर कम होते होते जब पृथ्वी तक आ जाता है तब प्रचण्ड वायु उत्पन्न होते हैं, अतः जल इधर उधर नहीं जा पाता। वायुवेग से जल का मन्थन होता रहता है। कुछ काल के अनन्तर उस जल में 'रस-पृथ्वी' नामक ओजस् का उत्पाद होता है और वह रस-पृथ्वी वर्ण, गन्ध और रस से युक्त, जलरहित दूध से पकायी हुई खीर के ऊपरी पटल के समान होती है।

उपर्युक्त क्रम से सृष्टि का उत्पाद आरम्भ होने पर भी चन्द्र, सूर्य एवं नक्षत्र-आदि के उत्पन्न न होने से अभी उत्पादक्रम अपूर्ण ही रहता है।

---

१. तु०—विसु०, पृ० २९२।

२. तु०—विसु०, पृ० २९२–२९३।

रस-पृथ्वी के उत्पाद के अनन्तर उन ऊपर की आभास्वर-आदि भूमियों के ब्रह्माओं का, जिनका प्रलयकाल में विनाश नहीं हुआ था और जिनका अब कर्मफलभोग पूर्ण हो चुका है वहां से च्यवन हो कर नीचे की ब्रह्मभूमियों में उत्पाद होता है और उन्हीं में से कुछ ब्रह्मा अपने कर्म के अनुसार मनुष्यभूमि में प्रतिसन्धि लेते हैं। वे ब्रह्माओं के रूप में नहीं, अपितु मनुष्य के रूप में उत्पन्न होते हैं। फिर भी ब्रह्मभूमि की परिचित वासना वश कामगुणों के प्रति अनुरक्त न होने से उनमें स्त्रीभाव या पुरुषभाव नहीं होता। वे प्रभावान् एवं आकाश में विचरण करनेवाले होते हैं। उनका आहार भी 'प्रीति-आहार' होता है।

कुछ काल के अनन्तर उनमें से कुछ सत्त्व रस-पृथ्वी को सुगन्धपूर्ण देखकर 'यह मधुर होगी'–ऐसा सोचकर उस (पृथ्वी) को थोड़ा लेकर चख लेते हैं। इस प्रकार चखने से अत्यन्त मधुर लगने के कारण सभी लोग उसे खाने लगते हैं और उनमें रस-तृष्णा का उत्पाद हो जाता है। इस रस-तृष्णा के ताप से उनके शरीर की कान्ति नष्ट हो जाती है और पुनः अन्धकार छा जाता है। इस अन्धकार के कारण सृष्टि के ये आदिम सत्त्व अत्यन्त भयभीत हो उठते हैं। तब उनको साहस देने के लिये पूर्व दिशा से ५० योजन परिमण्डलाकार एक प्रकाशपिण्ड उत्पन्न होता है। उस प्रकाशपिण्ड को "लोकानं सूरभावं जनेतीति सुरियो" के अनुसार लोगों में सूरभाव उत्पन्न करने के कारण 'सूर्य' कहा जाता है। उस सूर्य के अस्त होने पर पुनः भयभीत उन लोगों में 'इस सूर्य के सदृश कोई अन्य प्रकाशपिण्ड हो तो अच्छा हो'!'–ऐसा छन्द उत्पन्न होता है। उनके उस छन्द के अनुरूप ४९ योजन परिमण्डलाकार एक दूसरा प्रकाशपिण्ड उत्पन्न होता है। उस प्रकाशपिण्ड को अपने छन्द से उत्पन्न होने के कारण प्रारम्भ में 'छन्द, छन्द' कहते हैं। बाद में वही शब्द बिगड़कर 'चन्द' हो जाता है[1]। इस तरह चन्द्र एवं सूर्य का उत्पाद होने के अनन्तर उनके परिवार के अन्य नक्षत्र-आदि भी उत्पन्न हो जाते हैं। वे अपने अपने निश्चित मार्ग से आकाश में परिभ्रमण करने लगते हैं। इन चन्द्र एवं सूर्य के परिभ्रमण का प्रथम दिन चैत्र शुक्लपक्ष की प्रतिपदा माना जाता है। इस समय से लेकर रात्रि-दिन जान पड़ते हैं तथा क्रमशः पक्ष, मास, ऋतु एवं वर्ष-आदि का प्रचलन होता है[2]।

चावल पकते समय, जैसे कुछ चावल ऊपर और कुछ नीचे होते रहते हैं इसी प्रकार यह पृथ्वी भी प्रारम्भ में कहीं ऊपर कहीं नीचे–इस तरह उन्नतावनत (ऊबड़-खाबड़) रूप में होती है। ऊपरवाले भाग को पर्वत, नीचे के तल को नदी-तड़ाग-आदि एवं समभूमि को मैदान कहा जाता है। इस प्रकार पर्वत, नदी-आदि की उत्पत्ति होती है[3]।

इस सृष्टि को उत्पन्न करनेवाली महावृष्टि के काल से लेकर चन्द्र-सूर्य-आदि के परिभ्रमण काल तक व्याप्त इस काल को विवट्ट (विवर्त्त) असङ्ख्येय कल्प कहते हैं। वह भी महाकल्प के एक चौथाई काल के बराबर होता है।

---

१. अभि० को० के अनुसार सूर्य-बिम्ब ५१ योजन का तथा चन्द्रबिम्ब ५० योजन का है। द्र० – ३ : ६०, पृ० ३७८।

२. द्र० – दी० नि०, तृ० भा०, पृ० ६७। तु० – अभि० को०, आ० न० दे० पृ० ४६१।

३. द्र० – विसु०, पृ० २९०-२९१।

पृथ्वी-जल-वायु—उपर्युक्त क्रम के अनुसार जल के धीरे धीरे सूखने से जब पृथ्वी का भाग निर्मित होता है तब उस पृथ्वी की सम्पूर्ण गहराई दो लाख चालीस हजार योजन होती है। उसका ऊपर का आधा भाग (१ लाख २० हजार योजन) मृत्तिकामय तथा नीचे का आधा भाग पाषाणमय हो जाता है। इस पृथ्वी के नीचे ४ लाख ८० हजार योजन गहराईवाला एक अन्य जल का समूह होता है। वह जल द्रव न होकर बर्फ की तरह जमा हुआ होता है। जल का वह समूह इस पृथ्वी का वहन करता है। उस जलसमूह को स्थिर रखने के लिये उसके नीचे ९ लाख ६० हजार योजन गहरा एक वायुसमूह होता है। उस वायु के नीचे और कुछ न होकर केवल अनन्त अजटाकाश होता है। उसको 'निम्न अजटाकाश' कहते हैं। तथा नैवसंज्ञानासंज्ञा-यतन भूमि के ऊपर जो अनन्त अजटाकाश होता है उसे 'ऊर्ध्व अजटाकाश' कहते हैं[1]।

इसके अनन्तर, सुमेरु, महासमुद्र, हिमवान् एवं असुरभूमि-आदि की उत्पत्ति का वर्णन 'अट्ठसालिनी', 'विसुद्धिमग्ग' एवं 'सारत्थदीपनी' आदि ग्रन्थों में देखना चाहिये।

मनुष्यों की उत्पत्ति—सृष्टिकाल के प्रारम्भिक सत्त्वों द्वारा पृथ्वी के रस को खाने से तथा उनमें से कुछ लोगों में उसके प्रति आसक्ति (तृष्णा) बलवती होने से वे कुरूप हो जाते हैं तथा जिनमें रस-तृष्णा अल्प मात्रा में होती है, वे सुरूप होते हैं। कुरूप लोगों की तुलना में सुरूप लोगों में रूपाभिमान होने से पृथ्वी का रस भी सूख जाता है। जिससे रस-पृथ्वी के स्थान पर 'भूमिपप्पटक' (भूमिपर्पटक) पड़ जाता है। मनुष्यों में उस भूमिपप्पटक के प्रति भी तृष्णा-आदि के कारण एक दूसरे के प्रति उपर्युक्त नय के अनुसार ईर्ष्या-आदि उत्पन्न होने से भूमिपप्पटक के स्थान पर 'पदा-लता' की उत्पत्ति होती है। यहाँ रस-पृथ्वी का परिवर्तन 'पूर्व का नाश होकर नवीन का उत्पाद' नहीं, अपितु मनुष्यों के कर्मों से उत्तम रस का क्रमशः ह्रास है। पदालता के अनन्तर अपने आप उत्पन्न होनेवाले शालि का उत्पाद होता है। वह शालि निस्तुष (भूसारहित) होता है। उस शालि को ज्योतिष्पाषाण में रखने से अपने आप पाक हो जाता है। वह इतना मधुर होता है कि उसे खाने के लिये किसी अन्य व्यञ्जन की अपेक्षा नहीं होती। रस-पृथ्वी से लेकर पदालता तक के भोजन में मनुष्यों के भीतर होनेवाले पाचकतेजस् से सम्पूर्ण भुक्त पदार्थ का रस-रक्त के रूप में पाक हो जाता है कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता; किन्तु जब शाल्यन्न का भोजन प्रारब्ध होता है तब वह पाचकतेजस् उस शालि का सम्पूर्ण पाक नहीं कर पाता, इसलिये मनुष्यों में मल-मूत्र की उत्पत्ति होती है। उन मल-मूत्रों के उत्पन्न होने से उन्हें शरीर से बाहर निकालने के लिये मनुष्यों में मलेन्द्रिय एवं मूत्रेन्द्रिय का उत्पाद होता है। इन इन्द्रियों के उत्पाद के समय जो सत्त्व ब्रह्मभूमि में उत्पन्न होने से पहले स्त्री थे उनमें स्त्रीयोनि तथा जो पुरुष थे उनमें पुरुषयोनि का उत्पाद होता है। विसदृश योनियों के देखने से उन सत्त्वों (मनुष्यों) में कामराग की उत्पत्ति होती है। कामपरिदाह की शान्ति के

---

१. अभि० को० ३ : ४५-४६, पृ० ३६३-३६४; अट्ठ०, पृ० १३, २४१। दी० नि०, द्वि० भा०, पृ० ८४-८५।

लिये वे परस्पर मैथुनधर्म का आचरण करने लगते हैं। उन सत्त्वों में से कुछ आलसी पुद्गल कई दिनों के लिये शालियों का सङ्ग्रह करने लगते हैं और इस प्रकार उनमें लोभप्रकृति का प्रादुर्भाव होता है जिससे शालि की उत्तमता भी नष्ट होने लगती है। पहले जहाँ से शालि का ग्रहण किया जाता था वहाँ पुनः शालि का उद्भव होता था; किन्तु अब उस स्थान पर पुनः शालि का प्रादुर्भाव नहीं होता। तब मनुष्यों ने अपने अपने लिये शालिक्षेत्रों का विभाजन कर लिया और तदनन्तर वे एक दूसरे के शालि-क्षेत्रों से चोरी करने लगे। इस प्रकार उनमें परस्पर कलह, लड़ाई-झगड़ा एवं युद्ध तक होने लगे। इस प्रकार की अशान्त स्थिति से बड़ा कष्ट होने लगा। तब उनमें से कुछ विचारकों ने 'इस प्रकार की स्थिति अधिक दिन नहीं चल सकती, इससे हमारी बड़ी हानि हो रही है'—ऐसा सोचकर शान्ति स्थापित करने के लिये तथा समाज पर शासन करने के लिये एक शासक चुनने का निश्चय किया। उस समय बोधिसत्त्व के सर्वगुण सम्पन्न होने के कारण उन लोगों ने उन्हें ही सर्वसम्मति से अपना शासक चुना। वे सर्वसम्मति से चुने जाने के कारण 'महासम्मत', क्षेत्र के दसवें भाग के भागी होने के कारण 'क्षत्रिय' तथा प्रजाओं का रञ्जन करने के कारण 'राजा' नाम से प्रसिद्ध हुये। उन महासम्मत बोधिसत्त्व को ही 'मनु' भी कहा जाता है और उनके शासन में रहनेवाले तथा पुत्र की तरह उनका प्रेम प्राप्त करनेवाले सत्त्व 'मनुष्य' कहलाये। इस प्रकार क्षत्रियगोत्र की उत्पत्ति के अनन्तर 'ब्रह्मं अणतीति ब्राह्मणो' के अनुसार मन्त्रों का स्वाध्याय करने-वाले ब्राह्मणगोत्र की उत्पत्ति हुई। (इस प्रकार क्षत्रियों को शासन एव ब्राह्मणों को स्वाध्यायरूप व्यापाराधिक्य के कारण अवकाश न मिलने से वे यथेच्छ भोग नहीं कर पाते।) तदनन्तर 'विसत्ति उपभुञ्जतीति वेस्सो' के अनुसार कामगुणों का उपभोग करनेवाले वैश्य उत्पन्न हुए। ये कृषि, वाणिज्य-आदि से धर्मपूर्वक अपना जीविकोपार्जन करते थे। तदनन्तर 'सोचतीति सुद्दो' के अनुसार शोक करनेवाले या व्याकुल रहनेवाले शूद्र उत्पन्न हुये। अथवा 'सूदति सामिकेहि भत्तिं पग्घरतीति सुद्दो' के अनुसार स्वामियों की सेवा करनेवाले शूद्रों की उत्पत्ति हुई। ये हिंसा, सेवा-आदि सभी प्रकार के क्षुद्र कर्म करनेवाले हुए। अथवा 'सुद्द' शब्द में 'सु' यह शीघ्रार्थक एवं 'दा' गर्हार्थक होने के कारण जो पर-विहेठन (दूसरों को कष्ट पहुँचाना), काष्ठविक्रयण-आदि कर्मों द्वारा शीघ्र कुत्सा को प्राप्त होनेवाले हुए वे शूद्र कहलाये[1]।

इस प्रकार कुशलकर्मों के विनाश एव अकुशल कर्मों की वृद्धि से सृष्टि के आदि-काल में सत्त्वों का आयुःप्रमाण जो असङ्ख्येय होता था, उसका ह्रास होते होते दस वर्ष तक पहुँच जाता है। शस्त्रान्तर, रोगान्तर एव दुर्भिक्षान्तर में से किसी एक द्वारा विनाश होने लगता है[2]। इस विनाश से बचे रहनेवाले पुद्गल संविग्न होकर पुनः

---

१. दी० नि०, तृ० भा०, पृ० ६७-७४।

२. तु०—"आलस्यात् सन्निधिं कृत्वा, साग्रहैः क्षेत्रपो भृतः।
ततः कर्मपथाधिक्यादपह्रासे दशायुषः॥
कल्पस्य शस्त्ररोगाभ्यां दुर्भिक्षेण च निर्गमः।
दिवसान् सप्तमासांश्च वर्षाणि च यथाक्रमम्॥"
—अभि० को० ३:९८-९९, पृ० ४१५-४१९।

३४. अविहानं कप्पसहस्सं*, अतप्पानं द्वे कप्पसहस्सानि, सुदस्सानं चत्तारि कप्पसहस्सानि, सुदस्सीनं अट्ठ कप्पसहस्सानि, अकनिट्ठानं सोळस कप्पसहस्सानि† ।

अवृहा ब्रह्माओं का आयुःप्रमाण एक सहस्र महाकल्प, अतपा ब्रह्माओं का दो सहस्र महाकल्प, सुदृश ब्रह्माओं का चार सहस्र महाकल्प, सुदर्शी ब्रह्माओं का आठ सहस्र महाकल्प एवं अकनिष्ठ ब्रह्माओं का सोलह सहस्र महाकल्प होता है[1] ।

कुशलकर्मों का सम्पादन करने लगते हैं जिससे उनका आयुःप्रमाण धीरे-धीरे बढ़ने लगता और बढ़ते बढ़ते असङ्ख्येय तक पहुँच जाता है। आयुःप्रमाण के इस प्रकार अवरोह-आरोह को एक अन्तरकल्प कहते हैं। जब इन अन्तरकल्पों की सङ्ख्या ६४ पूरी हो जाती है तो पुनः प्रलयकाल उत्पन्न होता है। इस प्रकार चन्द्र, सूर्य के उत्पाद से लेकर प्रलयकालिक अतिवृष्टि के उत्पादकाल तक के काल को विवट्टट्ठायी (विवर्त्त-स्थायी) असङ्ख्येय कल्प कहते हैं। यह भी महाकल्प के एक चौथाई भाग के बराबर होता है[2] ।

आभास्वर एवं शुभाकीर्ण भूमि की आयु—

'आभस्सरानं अट्ठ कप्पानि' द्वारा आभास्वर ब्रह्माओं का आयुःप्रमाण आठ महाकल्प कहा गया है। परन्तु आठवीं वार जब जल का प्रलय होता है तब आभास्वर भूमि के भी नष्ट हो जाने के कारण वह (आभास्वरभूमि) आठ महाकल्प तक स्थित नहीं रह पाती। सृष्टि के आदिकाल में ब्रह्मभूमियों का सर्वप्रथम उत्पाद होता है तथा प्रलयकाल में सर्व से अन्त में विनष्ट होती है अतः जब जल से प्रलय होता है तब संवट्ट (संवर्त) असंख्येय कल्प के अन्तिम भाग एवं संवट्टट्ठायी (संवर्तस्थायी) असङ्ख्येयकल्प में आभास्वर ब्रह्मभूमि नहीं होती तथा विवट्ट असङ्ख्येय कल्प के आदि भाग में भी इसका उत्पाद नहीं होता, अतः आयुःप्रमाण के आठ महाकल्प में से लगभग डेढ़ असङ्ख्येयकल्प परिमित काल कम हो जाता है। परन्तु इतने अल्प काल के कम होने से उनके आयुःप्रमाण (८ महाकल्प) की गणना कम नहीं कही जा सकती।

इसी प्रकार 'सुभकिण्हानं चतुसट्ठि कप्पानि' के अनुसार जब वायु से प्रलय होता है तब इनका भी विनाश होता है। उपर्युक्त क्रम के अनुसार इनके आयुःपरिमाण अल्प न्यूनाधिक होने पर भी आयुःप्रमाण की गणना में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

---

*. ०सहस्सानि – सी०, रो०, म० (क – ख)। †. ०आयुप्पमाणं – स्या०।

१. द्र० – विभ०, पृ० ५०५।

२. तु० – विसु०, पृ० २९१-२९२।

आरुप्पपटिसन्धि

३५. पठमारुप्पादिविपाकानि* पठमारुप्पादिभूमीसु† यथाक्कमं पटिसन्धि-भवङ्ग-चुतिवसेन पवत्तन्ति । इमा चतस्सो आरुप्पपटिसन्धियो‡ नाम ।

प्रथमारूप्य-आदि विपाकचित्त प्रथमारूप्य-आदि भूमियों में यथाक्रम प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति वश प्रवृत्त होते हैं । ये चार प्रतिसन्धियाँ 'आरूप्य प्रतिसन्धि' कहलाती हैं[1]।

अरूपपुग्गलानं आयुप्पमाणं

३६. तेसु पन§ आकासानञ्चायतनूपगानं देवानं वीसति कप्पसहस्सानि आयुप्पमाणं ।

आरूप्यप्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गलों में से आकाशानन्त्यायतन भूमि को प्राप्त देवों का आयु:प्रमाण २०००० महाकल्प होता है[1] ।

३७. विञ्ञाणञ्चायतनूपगानं देवानं चत्तालीस कप्पसहस्सानि ।

विज्ञानानन्त्यायतनभूमि को प्राप्त देवों का आयु:प्रमाण ४०००० महाकल्प होता है[2] ।

आरूप्यप्रतिसन्धि

३५. ['आरूप्य' शब्द अरूपभूमि में होनेवाले चित्तों एवं पुद्गलों के अर्थ में होता है, 'अरूप' शब्द अरूपभूमि के अर्थ में होता है, अतः यहाँ 'पठमारूपादिभूमीसु' ऐसा पाठ होना चाहिये ।]

प्रथम आरूप्यविपाकचित्त प्रथम आरूप्यभूमि में प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति कृत्य करते हुये प्रवृत्त होता है । इसी तरह द्वितीय आरूप्य, तृतीय आरूप्य एवं चतुर्थ आरूप्य विपाकचित्त क्रमशः द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ आरूप्यभूमियों में यथाक्रम प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति रूप में प्रवृत्त होते हैं ।

इन चारों प्रतिसन्धियों को 'आरूप्यप्रतिसन्धि' कहते हैं ।

कामप्रतिसन्धि १०, रूपप्रतिसन्धि ६ (रूपविपाकचित्त ५, एवं जीवित नवककलाप १) एवं अरूपप्रतिसन्धि ४=२० प्रतिसन्धियाँ होती हैं । इन २० प्रतिसन्धियों में १ रूपप्रतिसन्धि (असंज्ञिसत्त्वों की) को भी जानना चाहिये ।

---

*. पठमारूपादि० – स्या०, रो० ।

†. ० भूमिसु – सी०, ना०; पठमारूपादभूमीसु – स्या० ।

‡. अरूपपटिसन्धियो – स्या०, म० (ख) ।

§. स्या० में नहीं ।

१. द्र० – विभ०, पृ० ५०८ ।

२. द्र० – विभ०, पृ० ५०८ ।

३८. आकिञ्चञ्ञायतनूपगानं देवानं सट्ठि* कप्पसहस्सानि।

३९. नेवसञ्ञानासञ्ञायतनूपगानं देवानं चतुरासीति कप्पसहस्सानि†।

४०. पटिसन्धि भवङ्गञ्च तथा चवनमानसं।
एकमेव तथेवेकविसयञ्चेकजातियं‡ ॥

इदमेत्थ पटिसन्धिचतुक्कं।

आकिञ्चन्यायतनभूमि को प्राप्त देवों का आयु:प्रमाण ६०००० महाकल्प होता है[1]।

नैवसंज्ञानासंज्ञायतनभूमि को प्राप्त देवों का आयु:प्रमाण ८४००० महाकल्प होता है[2]।

एक भव में प्रतिसन्धिचित्त, भवङ्गचित्त एवं च्युतिचित्त एक ही होता है। तथा एक ही आलम्बन होता है।

इस वीथिसङ्ग्रह-क्रम में यह 'प्रतिसन्धिचतुष्क' है।

---

४०. यहाँ 'एक' शब्द का 'तुल्य' अर्थ में ग्रहण कर के "भूमितो, जातितो, सम्पयुत्तधम्मतो, सङ्खारतो समानमेव" - इस प्रकार व्याख्या की जाती है; जैसे - यदि प्रतिसन्धिचित्त भूमि से कामभूमि, जाति से अव्याकृत जाति, सम्प्रयुक्त धर्म से सौमनस्यसहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त, संस्कार से असंस्कारिक होता है तो भवङ्गचित्त भी उसी तरह कामभूमि में होकर अव्याकृत जातिवाला, सौमनस्यसहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त, असंस्कारिक ही होगा।

अथवा - 'एक' शब्द 'एक प्रकार' के अर्थ में है। अर्थात् प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति - इन तीनों कृत्यों को करनेवाले चित्त एक भव में एक प्रकार के ही होने चाहियें। जैसे - प्रतिसन्धिचित्त महाविपाक प्रथमचित्त होता है तो भवङ्ग एवं च्युतिचित्त भी महाविपाक प्रथमचित्त ही होगा।

एकविसयञ्च - प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युतिचित्तों का आलम्बन भी एक भव में एक ही होता है। जैसे - प्रतिसन्धिचित्त जिस कर्मालम्बन का आलम्बन करता है, भवङ्ग एवं च्युति चित्त भी उसी कर्मालम्बन का आलम्बन करते हैं। प्रतिसन्धिचित्त जिस रूपालम्बन कर्मनिमित्त का आलम्बन करता है भवङ्ग एवं च्युति चित्त भी उसी रूपालम्बन कर्मनिमित्त का आलम्बन करते हैं। तथा प्रतिसन्धिचित्त जिस गतिनिमित्त आलम्बन का आलम्बन करता है, भवङ्ग एवं च्युति चित्त भी उसी गतिनिमित्त आलम्बन का आलम्बन करते हैं - इस प्रकार जानना चाहिये।

प्रतिसन्धिचतुष्क समाप्त।

---

*. सट्ठी - स्या०। †. ०आयुप्पमाणं होति - स्या०। ‡. ०वीसय० - रो०।

१. द्र० - विभ०, पृ० ५०८।

२. द्र० - विभ०, पृ० ५०९। तु० - अभि० को० ३ : ८१, पृ० ३९१।

३. द्र० - विभा०, पृ० १२८।

कम्मचतुक्कं

किच्चचतुक्कं

४१. जनकं, उपत्थम्भकं, उपपीळकं, उपघातकञ्चेति किच्चवसेन ।

जनककर्म, उपष्टम्भककर्म्म, उपपीडक कर्म, एवं उपघातक कर्म – इस प्रकार कृत्य वश से चार कर्म होते हैं ।

कर्मचतुष्क

४१. आचार्य अनुरुद्ध यहाँ इस कर्मचतुष्क का चार चतुष्कों में विभाजन करके दिखलाते हैं, यथा – किच्चचतुक्क (कृत्यचतुष्क), पाकदानपरियायचतुक्क (पाकदान-पर्यायचतुष्क), पाककालचतुक्क (पाककालचतुष्क) एवं पाकट्ठानचतुक्क (पाकस्थान-चतुष्क) ।

इनमें से प्रथम तीन 'सूत्रान्तदेशना' में आनेवाले नय हैं । तथा 'पाकट्ठानचतुक्क' (पाकस्थानचतुष्क) ही 'अभिधर्मदेशना' में आनेवाला नय है । सूत्रान्तनय मुख्य न होकर प्रायिक होते हैं । अभिधर्मनय ही मुख्य नय होता है । चूँकि सूत्रान्तनयों के तीन चतुष्कों का वर्णन अट्ठकथा, टीका-आदि में किया गया है अतः, उन्हीं ग्रन्थों का अनुसरण करते हुए यहाँ उनका वर्णन किया जायेगा[1] ।

कृत्यचतुष्क

'जनेतीति जनकं, उपत्थम्भेतीति उपत्थम्भकं, उपगन्त्वा पीळेतीति उपपीळकं, उपगन्त्वा घातेतीति उपघातकं' ।

यहाँ उत्पाद करना, उपष्टम्भ करना, उपपीडन करना तथा उपघात करना—ये इन ४ कर्मों के ४ कृत्य हैं । इस प्रकार कृत्य-भेद से विभक्त किये गये चार कर्मसमूह को कृत्यचतुष्क कहते हैं[2] ।

जनककर्म – प्रतिसन्धिकाल एवं प्रवृत्तिकाल में यथायोग्य विपाकचित्त, चैतसिक, कर्मजरूप एवं कर्मप्रत्ययऋतुज रूपों को उत्पन्न करने में समर्थ कुशल एवं अकुशल चेतना 'जनककर्म' कहे जाते हैं[3] ।

---

१. "सुत्तन्तिकपरियायेन हि एकादस कम्मानि विभत्तानि; सेय्यथिदं – दिट्ठधम्मवेदनीयं, उपपज्जवेदनीयं, अपरापरियवेदनीयं; यग्गरुकं, यब्बहुलं, यदासन्नं, कटत्ता वा पन कम्मं; जनकं, उपट्ठम्भकं, उपपीळकं, उपघातकं ति ।" – अ० नि० अ०, द्वि० भा०, पृ० १०४ ।

२. विसु०, पृ० ४२५; विभा०, पृ० १२८; प० दी०, पृ० १७५ ।

३. "तत्थ जनकं नाम पटिसन्धिपवत्तीसु विपाकक्खन्धकटत्तारूपानं निब्बत्तिका कुसलाकुसला चेतना ।" – प० दी०, पृ० १७५-१७६; विभा०, पृ० १२८ ।

ये जनककर्म प्रतिसन्धिकाल में प्रतिसन्धिचित्त, चैतसिक एवं कर्मज रूपकलापों को, देवभूमि में विमानों को, नरक में शस्त्र, चक्र, यन्त्र-आदि कर्मप्रत्यय-ऋतुज रूपों को तथा प्रवृत्तिकाल में पञ्चविज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, तदालम्बन, महाविपाक-आदि नामविपाक धर्मों को एवं प्रत्येक क्षण में कर्मज रूपों को उत्पन्न करते हैं। अकुशल कर्म के कारण तिरच्छान (तिरश्चीन) भूमि में नाग, गरुड, अश्व, हस्ती-आदि योनि में उत्पन्न होने पर भी प्रवृत्तिकाल में उनके सुन्दर रूप एवं विमान-आदि की उत्पत्ति के लिये प्रवृत्ति-कुशल जनककर्म अभिसंस्कार करते हैं। कुशल कर्म के कारण मनुष्यभूमि एवं देवभूमि में उत्पन्न होने पर भी प्रवृत्तिकाल में कुरूप एवं अनिष्ट रूप होने के लिये प्रवृत्ति-अकुशल जनक-कर्म अभिसंस्कार करते हैं। ये जनककर्म कर्मपथ हों या न हों, प्रवृत्तिफल तो दे ही सकते हैं; किन्तु प्रतिसन्धिफल देने के लिये इन्हें कर्मपथ होना ही चाहिये। अर्थात् कर्मपथ न होंगे तो प्रतिसन्धि फल न दे सकेंगे; किन्तु कर्मपथ न होने पर भी प्रतिसन्धि-फल देनेवाले विषय आगे स्पष्ट होंगे[1]।

उपष्टम्भक कर्म—जनककर्म एवं जनककर्म से उत्पन्न विपाक का उपष्टम्भ करने-वाली चेतना 'उपष्टम्भक कर्म' है[2]।

मरणासन्न काल में यदि कुशलजवन जवित होते हैं तो अनन्तरभव में कुशल कर्मों को फल देने का अवकाश मिलता है। इसी तरह मरणासन्नकाल में यदि अकुशल-जवन जवित होते हैं तो अनन्तरभव में अकुशल कर्मों को फल देने का अवकाश मिलता है। यहाँ मरणासन्न कुशल या अकुशल जवन स्वयं फल न देकर दूसरे कर्मों को फल देने का अवकाश मिलने के लिये उपष्टम्भ करनेवाले कर्म हैं। प्रवृत्तिकाल में भी कुशल-

---

१. "तत्थ पटिसन्धिनिब्बत्तिका कम्मपथपत्ता व दट्ठब्बा, पवत्तिनिब्बत्तिका पन कम्म-पथं पत्तापि अप्पत्तापि अन्तमसो पञ्चद्वारिकजवनचेतनापि सुपिनन्ते कुसला-कुसलचेतनापीति।" – प० दी०, पृ० १७६।

"जनकं नाम एकं पटिसन्धिं जनित्वा पवत्तिं न जनेति, पवत्ते अञ्ञं कम्म-विपाकं निब्बत्तेति। यथा हि माता जनेति येव, धाती येव पन जग्गति; एवमेव माता विय पटिसन्धिनिब्बत्तकं जनककम्मं, धाती विय पवत्ते सम्पत्त-कम्मं। अपरो नयो – जनकं नाम कुसलं पि होति अकुसलं पि। तं पटि-सन्धियं पि, पवत्ते पि रूपारूपविपाकक्खन्धे जनेति।" – अं० नि० अ०, द्वि० भा०, पृ० १०९; विसु०, पृ० ४२५; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ३७९।

२. "उपत्थम्भकं नाम विपच्चितुं अलद्धोकासा वा विपक्कविपाका वा सब्बा पि कुसलाकुसलचेतना। सा हि जनकभूता पि समाना अत्तनो विपाकवारतो पुरे वा पच्छा वा सभागं कम्मन्तरं वा कम्मनिब्बत्तखन्धसन्तानं वा उपत्थ-म्भयमाना पवत्तति।" – प० दी०, पृ० १७६।

"सयं विपाकं निब्बत्तेतुं असक्कोन्तं पि कम्मन्तरस्स चिरतरविपाकनिब्बत्तने पच्चय-भूतं, विपाकस्सेव वा सुखदुक्खभूतस्स विच्छेदपच्चयानुप्पत्तिया उपब्रूहन-

कर्म करते समय उस कुशल कर्म द्वारा उपष्टम्भ करने (अवकाश देने) के कारण पूर्व पूर्व कृत कुशल कर्मों को फल देने का अवकाश प्राप्त होता है। उसी तरह अकुशल कर्म करते समय उस अकुशल कर्म द्वारा उपष्टम्भ करने के कारण पूर्व पूर्व कृत अकुशल कर्मों को फल देने का अवकाश प्राप्त होता है। जनक कर्मों को फल देने का अवकाश मिलने पर भी उस फल को और प्रबल एवं भली भाँति उत्पन्न कराने के लिये ये कर्म उपष्टम्भ करते हैं। बोधिसत्व के प्रतिसन्धि लेते समय उस प्रतिसन्धि-फल को देने वाले किसी एक जनककर्म का 'उस प्रतिसन्धि-फल को और प्रबल करन के लिये' कुशल पारमितायें उपष्टम्भ करती हैं। जिस प्रकार अनेक अपराध करनेवाला व्यक्ति जब किसी एक अपराध में पकड़ा जाता है तब उसके पूर्वकृत अनेक अपराधों द्वारा उपष्टम्भ करने से पकड़ाये गये अपराध का और कठोर दण्ड मिलता है। इसी प्रकार इसे समझना चाहिये।

जनककर्म द्वारा उत्पादित विपाकसन्तति को (इष्ट-अनिष्ट चित्त-चैतसिक एवं रूप-धर्मों को) चिरकाल तक स्थित रहने के लिये ये उपष्टम्भ करते हैं। कुशल जनक-कर्म के वश से मनुष्यभव या देवभव प्राप्त करने पर मनुष्य एवं देव रूप में चिर-काल तक रहने के लिये कुशल उपष्टम्भक कर्मों द्वारा अन्तरायों का निवारण किया जाता है। तथा दीर्घायु होने की कारणभूत अनुकूल सम्पत्तियों को प्राप्त करने के लिये उपष्टम्भन किया जाता है। अकुशल जनककर्म के वश से श्वान-आदि योनि प्राप्त होने पर उस भव में दुःखपूर्वक चिरकाल तक वास करने के लिये अकुशल उपष्टम्भक कर्मों द्वारा उपष्टम्भन किया जाता है। ये जनककर्म की विपाकसन्तति को चिरकाल तक स्थित रहने के लिये उपष्टम्भ करनेवाले उपष्टम्भककर्म हैं।

इस प्रकार अट्ठकथा, टीकाओं में कुशलजनक कर्म का कुशल उपष्टम्भककर्म द्वारा उपष्टम्भ करने का एवं अकुशल जनककर्म का अकुशल उपष्टम्भककर्म द्वारा उपष्टम्भ करने का वर्णन प्राप्त होता है; किन्तु कुशल जनककर्म का अकुशल उपष्टम्भक कर्म द्वारा एवं अकुशल जनककर्म का कुशल उपष्टम्भक कर्म द्वारा उपष्टम्भ करने का नियम् भी होना चाहिये। जैसे – आजकल शक्तिशाली रूस, अमेरिका-आदि राष्ट्रों में अणु-आयुधों का निर्माण हो रहा है वह अकुशल कर्मों द्वारा पूर्व पूर्व कृत कुशल जनककर्मों को अवकाश देने से हो रहा है। अतः कुशल जनककर्म एवं उस कर्म के (आयुध-निर्माणरूप) विपाक का अकुशल उपष्टम्भक द्वारा उपष्टम्भ किया जा रहा है। अथवा जैसे – सुराविक्रयरूप अकुशल कर्म द्वारा पूर्व पूर्व कृत कुशल जनककर्मों के फलस्वरूप आमदनी होती है। यहाँ अकुशल कर्म पूर्व पूर्व कृत कुशल जनककर्मों को फल (आम-

---

पच्चयुप्पत्तिया च जनकसामत्थियानुरूपं चिरतरप्पवत्तिपच्चयभूतं कुसलाकुसल-कम्मं उपत्थम्भकं।" – विभा०, पृ० १२८।

"उपत्थम्भकं पन विपाकं जनेतुं न सक्कोति, अञ्ञेन कम्मेन दिन्नाय पटि-सन्धिया जनिते विपाके उप्पज्जनकसुखदुक्खं उपत्थम्भेति, अद्धानं पवत्तेति।" – अ० नि० अ०, द्वि० भा०, पृ० १०९; विसु०, पृ० ४२५; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ३७९।

दनी रूप) देने के लिये अवकाश प्रदान कर रहे हैं। यहाँ अकुशल उपष्टम्भककर्म द्वारा कुशल जनककर्म का उपष्टम्भ होता है।

ऊपर कहे गये श्वान के उदाहरण में सुन्दर आवास एवं भोजन-आदि मिलने के लिये पूर्वकृत कुशल कर्मों द्वारा उपष्टम्भ किया जाता है, अतः अकुशल जनककर्मों के विपाकभूत श्वान की योनि चिरकाल तक रहती है। अर्थात् पूर्वकृत अकुशल कर्म के विपाकभूत श्वान की योनि में पूर्वकृत कुशल कर्मों द्वारा प्रवृत्तिकाल में उपष्टम्भ करने से इस श्वान के भव में भी उसे सुन्दर आवास एवं सुन्दर भोजन प्राप्त होता है[1]।

उपपीडककर्म – अन्य कर्म एवं कर्मों की विपाकसन्तति का उपपीडन करनेवाले कर्मों को 'उपपीडककर्म' कहते हैं[2]।

ग्रन्थारम्भ में प्रणामकुशलचेतना अन्य अकुशल कर्मों का 'विघ्नरूप फल न देने के लिये' उपपीडन करती है। माता, पिता एवं पूज्य गुरुजनों के प्रति अवमानना-आदि पापाचरणरूप अकुशलकर्म उसके (कर्त्ता के) पूर्व पूर्व कृत कुशल कर्मों का निवारण करके, फल न देने के लिये उपपीडन करते हैं।

अन्य कर्मों को फल देने का अवकाश मिलने पर भी उस फल की शक्ति को कम करने के लिये भी उपपीडन किया जाता है। जैसे – कर्म में आँख, कान-आदि सम्पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्गों से सम्पन्न मनुष्यभव को देने की शक्ति होने पर भी अकुशलकर्म द्वारा उपपीडन किये जाने से पुद्गल विकलाङ्ग, जात्यन्ध-आदि के रूप में उत्पन्न होता है।

अजातशत्रु का, अपने पिता बिम्बसार का वधरूप अकुशल कर्म अवीचि नरक तक फल देनेवाला होने पर भी बुद्ध, धर्म एवं सङ्घ के प्रति श्रद्धारूप कुशल कर्मों द्वारा उसका उपपीडन हो जाने के कारण वह (अजातशत्रु) अवीचि में न जाकर केवल उस अवीचि के परिवाररूप 'उस्सद' नामक क्षुद्र नरक तक ही पहुँचता है।

जैसे – उगे हुए वृक्ष को तलवार-आदि से काट देने पर उसकी स्कन्ध, शाखा आदि उत्पन्न करने की शक्ति कम हो जाती है; उसी तरह अन्य कर्म द्वारा उत्पन्न विपाकसन्तति को पूरी शक्ति के साथ उत्पन्न न होने देने के लिये उपपीडक कर्म उपपीडन करते हैं।

जैसे – कुशल जनककर्म के वश से मनुष्यस्कन्ध प्राप्त होने पर भी, प्रवृत्तिकाल में अकुशल कर्मों द्वारा उसका उपपीडन होने से रोग-आदि होना तथा ज्ञाति, गुण एवं शरीर-

---

१. विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – प० दी०, पृ० १७६–१७७; अ० नि० अ०, द्वि० भा०, पृ० १०६।

२. "कम्मन्तरजनितविपाकस्स ब्याधिधातुसमतादिनिमित्तविबाधनेन चिरतरपवत्ति-विनिबन्धकं यं किञ्चि कम्मं 'उपपीळकं' नाम।" – विभा०, पृ० १२८। "'उपपीळकं' अञ्ञेन कम्मेन दिन्नाय पटिसन्धिया जनिते विपाके उप्पज्जनक-सुखदुक्खं पीळेति बाधति, अद्धानं पवत्तितुं न देति।" – विसु०, पृ० ४२५; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ३८०; अ० नि० अ०, द्वि० भा०, पृ० १०६।

सम्पत्तियों का नाश होने से दौर्मनस्य-आदि होना, कुशल-कर्म के फल का अकुशलकर्म द्वारा उपपीडन होने से होता है।

अकुशलकर्म की विपाकसन्तति का कुशलकर्म द्वारा उपपीडन किये जाने के बारे में यद्यपि किसी ग्रन्थ में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता; तथापि अकुशल कर्म से उत्पन्न नाग, गरुड-आदि की स्कन्ध-सन्तति में अच्छे अच्छे भोजन एवं आवास-आदि का मिलना, कुशल कर्म द्वारा अकुशलकर्म की विपाकसन्तति के उपपीडन से ही होता है। किन्तु यह उपपीडन स्पष्ट नहीं है, अतः इस पर विचार करना चाहिये। इस प्रकार अकुशल कर्म के फल का कुशल कर्म द्वारा उपपीडन होना एवं कुशल कर्म के फल का अकुशल कर्म द्वारा उपपीडन होना समझना चाहिये। अपि च, अकुशल कर्म की फल-सन्तति का अकुशल कर्म द्वारा उपपीडन किया जाना भी जानना चाहिये। जैसे—अकुशल कर्म से श्वान की योनि प्राप्त होने पर उसी भव में अन्य अकुशल कर्मों द्वारा उपपीडन होने से उसे रोग, अपर्याप्त भोजन-आदि की प्राप्ति होती है[1]।

उपघातक कर्म—यह कर्म, अन्य कर्मों एवं उनके फलों का उपपीडनमात्र न करके उनका समूल उपघात करता है[2]। उपपीडन कर्म अन्य कर्मों का उपपीडन करते समय उनका तत्काल (प्रत्युत्पन्न काल में) फल न देने के लिये उपपीडन करता है, अनागत काल में फल देने के लिये उपपीडन नहीं करता; किन्तु उपघातक कर्म अनागत काल में भी अर्थात् बिलकुल फल न देने के लिये उनका समूल विघात करता है।

अङ्गुलिमाल के डाका डालने एवं हिंसा करने-आदि अकुशल कर्मों का 'मार्ग-चेतना' नामक कुशल कर्म द्वारा समूल उपघात हो जाने से उन अकुशल कर्मों को अनागत काल में फल देने का अवकाश नहीं मिला।

देवदत्त के 'महग्गतध्यान' नामक कुशल कर्म का उसके द्वारा किये गये सङ्घभेद एवं बुद्ध के शरीर से लोहितोत्पादरूप अकुशलकर्म द्वारा समूलघात हो जाने से महग्गत-ध्यान-कुशलकर्म का भविष्य में कुछ भी फल नहीं हुआ[3]।

अन्य कर्मों की विपाक-सन्तति का उपघात करने में—१. केवल उपघातमात्र करना; २. उपघात करने के अनन्तर अन्य जनककर्मों को विपाक देने के लिये अवकाश देना; तथा ३. उपघात करने के अनन्तर स्वयं प्रतिसन्धिफल देना—इस प्रकार त्रिविध रूप होते हैं।

---

१. द्र०—प० दी०, पृ० १७७।

२. "उपघातकं पन सयं कुसलम्पि अकुसलम्पि समानं अञ्ञं दुब्बलकम्मं घातेत्वा तस्स विपाकं पटिबाहित्वा अत्तनो विपाकस्स ओकासं करोति। एवं पन कम्मेन कते ओकासे तं विपाकं उप्पन्नं नाम वुच्चति।"—विसु०, पृ० ४२५; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ३८९; अ० नि० अ०, द्वि० भा०, पृ० ११०।

३. द्र०—प० दी०, पृ० १७७—१७८।

१. (क) उनमें से 'धम्मपद' में वर्णित चक्खुपाल थेर द्वारा अपने वैद्यजीवनकाल में किये गये अकुशल कर्मों द्वारा उपघात होने से उनके कुशल जनककर्म से उत्पादित चक्षुःप्रसाद कर्मजरूप का नाश हुआ[1]।

(ख) मोग्गल्लान थेर के कुशल कर्मों का, अपने पूर्वजन्म में किये हुए मातृघात-रूप अकुशल कर्म द्वारा उपघात होने से ५०० चोरों द्वारा मारे जाने पर उनका परिनिर्वाण हुआ[2]।

इन उदाहरणों में उपघातक कर्मों द्वारा अन्य कर्मों के फलों का केवल उपघात-मात्र होता है।

२. (क) बिम्बसार, अपने पूर्वजन्म में जूते पहन कर चैत्य के पास गये थे— इस अकुशल कर्म द्वारा उपघात होने से अजातशत्रु द्वारा उनके पैर छुरे से चीरे जाने कारण वे मृत्यु को प्राप्त हुए। तदनन्तर अन्य कुशल जनककर्म के कारण चातुर्महाराजिक-भूमि में देवरूप में उत्पन्न हुए[3]।

(ख) सामावतीप्रमुख परिचारिकायें पूर्वकृत अकुशलकर्म द्वारा उपघात करने से जल कर मरने के अनन्तर अन्य कुशल जनककर्म से देवभूमि एवं ब्रह्मभूमियों में उत्पन्न हुईं[4]।

इस प्रकार यह उपघातककर्म स्वयं उपघात करके अन्य जनककर्मों को विपाक देने के लिये अवकाश देनेवाला उपकारक कर्म है।

इसलिये विभावनीकार का "जनकं कम्मन्तरस्स विपाकं अनुपच्छिन्दित्वा विपाकं जनेति, उपघातकं उपच्छेदकपुब्बकं ति[5]"—यह वचन उपर्युक्त अभिप्राय के अनुकूल नहीं होता। विभावनीकार का मत है कि 'जनककर्म, अन्य कर्म के विपाक को उच्छिन्न न करके फल देता है तथा उपघातक कर्म, अन्य कर्म के फल का पहले उच्छेद करके पुनः प्रतिसन्धिफल देता है'। उपर्युक्त कथाओं में उपघातक कर्म द्वारा अन्य कर्मों के फल का उपघातमात्र होता है। वह स्वयं प्रतिसन्धिफल नहीं देता अतः, 'विभावनी' का उपर्युक्त कथन पूर्वोक्त कथाओं के अभिप्राय के अनुरूप नहीं होता;' परन्तु आगे आनेवाली कथाओं के अनुरूप होगा।

३. 'दुस्सीमार' नामक मारदेवता 'कस्सप' (काश्यप) नामक बुद्ध के अग्रश्रावक के सिर को पत्थर से मारता है। 'नन्द' नामक देवयक्ष सारिपुत्त के मुण्डित सिर को देखकर उस पर अपने हाथ से प्रहार करता है; कलाबू राजा बोधिसत्त्व खन्ती-वादी ऋषि को मरणपर्य्यन्त पीटता है[6]—इन मार, यक्ष एवं राजा की स्कन्ध-सन्तति का

१. द्र० – ध० प० अ०, प्र० भा०, चक्खुपालत्थेरवत्थु।

२. द्र० – ध० प० अ०, द्वि० भा०, पृ० ४१-४५।

३. तु० – दी० नि०, प्र० भा०, पृ० ७४-७५।

४. द्र० – ध० प० अ० (अप्पमादवग्ग) 'सामावतीवत्थु'।

५. विभा०, पृ० १२८।

६. द्र० – प० दी०, पृ० १८०।

पाकदानपरियायचतुक्कं

४२. गरुकं, आसन्नं, आचिण्णं, कटत्ताकम्मञ्चेति पाकदानपरियायेन* ।

गुरुक, आसन्न, आचिण्ण (आचीर्ण), एवं कटत्ताकम्म (कृतत्वात्कर्म) – इस प्रकार पाकदानपर्याय से चार कर्म होते हैं ।

इन अकुशल कर्मों द्वारा उपघात होकर फिर उसी अकुशल कर्म द्वारा अवीचिनरक में प्रतिसन्धि भी होती है । इसलिये "उपघातकं (कम्मन्तरस्स विपाकं पनतं) सब्बसो उपच्छिन्दित्वा अञ्ञस्स ओकासं देति, न पन सयं विपाकनिब्बत्तकं"[1] – इस प्रकार का 'विभावनी' में उल्लिखित अन्य आचार्यों का वाद भी उपर्युक्त कथाओं के अनुरूप नहीं होता । इन अन्य आचार्यों का मत है कि 'उपघातक कर्म अन्य कर्मों के विपाक का पूर्ण रूप से उच्छेद करके अन्य कर्मों को फल देने के लिये अवकाश देता है, स्वयं विपाक नहीं दे सकता'; किन्तु उपर्युक्त कथाओं में उपघातक कर्म स्वयं प्रतिसन्धिफल देता है । अतः अन्य आचार्यों का वाद भी उपर्युक्त कथाओं के अभिप्राय के अनुरूप नहीं है; परन्तु बिम्बसार एवं सामावती की कथा के अनुरूप है ।

तथा एक कुशल जनककर्म के फल का अन्य प्रबल कुशल कर्म द्वारा भी उपघात होता है । अतीत काल में तीन ध्यानलाभी भिक्षु मरणासन्न काल में निकन्तिक तृष्णा (पूर्ववासस्थान के प्रति तृष्णा) के कारण ध्यान नष्ट हो जाने से अन्य महाकुशल कर्म के कारण चातुर्महाराजिक भूमि में उत्पन्न होते हैं । उनमें से दो देवता पूर्वध्यानों के पुनः प्राप्त होने से उस महाकुशल कर्म से उत्पन्न विपाकसन्तति (देवयोनि) को उस ध्यान द्वारा उच्छिन्न करके फिर ब्रह्मभूमि में उत्पन्न होते हैं[2] ।

उसी प्रकार एक अकुशल जनककर्म के फल का अन्य प्रबल अकुशल कर्म द्वारा उपघात होता है । जैसे – अकुशल कर्म के विपाकस्वरूप श्वान होने पर अन्य प्रबल अकुशल कर्म द्वारा उपघात किया जाने से यह श्वान पीटा जाने के कारण मारा जाता है[3] ।

अट्ठकथा, टीकाओं में चाहे कुशल का विषय हो चाहे अकुशल का, जनककर्म एवं उपष्टम्भक कर्म का एक विभाग करके तथा उपपीडक एवं उपघातक कर्म का एक विभाग करके वर्णन किया गया है । परन्तु पीछे की टीकाओं में यथायोग्य सम्मिश्रण करके वर्णन किया गया है, अतः यहाँ भी उन्हीं के अनुसार प्रतिपादन किया गया है ।

कृत्यचतुष्क समाप्त ।

पाकदानपर्यायचतुष्क

४२. **गरुककम्मं** – 'गरुं करोतीति गरुकं' जो गुरु फल प्रदान करता है वह कर्म 'गुरुककर्म' है । यह गुरुक कर्म कुशल के विषय में महग्गत तथा अकुशल के विषय में आनन्तर्य कर्म

---

*. पाकादान० – रो० ।

१. विभा०, पृ० १२८ ।

२. तु० – दी० नि०, द्वि० भा०, पृ० २०२-२०३ ।

३. "दुग्गतियं पन उभिन्नं उप्पत्तिविनासो च अकुसलकम्मेनेव" – सारत्थदीपिनी टीका ।

हैं[1]। अट्ठकथा एवं प्राचीन टीकाओं में नियतमिथ्यादृष्टि को गुरुककर्म में सङ्गृहीत नहीं किया है; किन्तु आजकल उसका गुरुककर्म में सङ्ग्रह किया जाता है। द्वितीय भव में फल देनेवाले कर्मों को ही दिखलाना अभिप्रेत होने से मार्गचेतना का गुरुक कर्म में सङ्ग्रह नहीं किया गया।

स्वभाव से ही गुरु होनेवाले कर्म को 'गुरुककर्म' कहा जाता है। अन्य कर्मों द्वारा उसका अभिभव होना या न होना, गुरुक कर्म के स्वभाव से सम्बद्ध नहीं है। अतः दो तीन आनन्तर्य कर्म करने पर किसी एक कर्म द्वारा अन्य कर्मों का अभिभव करके फल दे देने पर एवं दो तीन महग्गत ध्यान प्राप्त करने पर ऊपर के ध्यान द्वारा अन्य ध्यानों का अभिभव कर के फल दे देने पर भी, फल नहीं देनवाले कर्मों का गुरुक नाम नष्ट नहीं होता। वे स्वभाव से ही गुरु हैं, अतः उनका नाम 'गुरुककर्म' होता ही है[2]।

आनन्तर्य कर्म – द्वितीय भव में मुख्यरूप से फल देनेवाले कर्म को 'आनन्तर्य कर्म' कहते हैं[3]। दो तीन आनन्तर्य कर्म करने पर किसी एक प्रबल कर्म द्वारा अनन्तर भव में फल दे दिये जाने पर, अपना करने योग्य कृत्य उसके द्वारा कर दिया जाने से, उस प्रबल कर्म का ही अन्य दुर्बल कर्म भी उपकार कर देते हैं। इस प्रकार उपकार करने के कारण ये अन्य दुर्बल कर्म भी आनन्तर्य स्वभाव के ही होते हैं[4]।

---

१. "'गरुकं' ति अञ्ञेन कम्मेन पटिबाहितुं असक्कुणेय्यं कुसलपक्खे महग्गतकम्मं, अकुसलपक्खे नियतमिच्छादिट्ठिया सह पञ्चानन्तरियकम्मं।" – प० दी०, पृ० १८०।

"'गरुकं' ति महासावज्जं महानुभावञ्च, अञ्ञेन कम्मेन पटिबाहितुं असक्कुणेय्यकम्मं।" – विभा०, पृ० १२९।

"तत्थ कुसलं वा होतु अकुसलं वा, गरुकागरुकेसु यं गरुकं मातुघातादिकम्मं वा, महग्गतकम्मं वा, तदेव पठमं विपच्चति।" – विसु०, पृ० ४२५।

"'यं गरुकं' ति यं अकुसलं महासावज्जं कुसलं महानुभावं कम्मं।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ३७७।

२. द्र० – विभा०, पृ० १२९; प० दी०, पृ० १८०-१८१; विसु०, पृ० ४२५; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ३७७।

३. "'आनन्तरिकानी' ति अनन्तरायेन फलदायकानि; मातुघातकम्मादीनं एतं अधिवचनं। एतेसु हि एकस्मिं पि कम्मे कते तं पटिबाहित्वा अञ्ञं कम्मं अत्तनो विपाकस्स ओकासं कातुं न सक्कोति। सिनेरुप्पमाणे हि सुवण्णथूपे कत्वा चक्कवाळमत्तं वा रतनमयपाकारं विहारं कत्वा तं पूरेत्वा निसिन्नस्स बुद्धपमुखस्स भिक्खुसङ्घस्स यावजीवं चत्तारो पच्चये ददतो पि कम्मं एतेसं कम्मानं विपाकं पटिबाहितुं न सक्कोति एव।" – अट्ठ०, पृ० २८६; विभ० अ०, पृ० ४२९।

४. प० स० अनु०, पृ० १७८।

वह आनन्तर्य कर्म पांच प्रकार का होता है, यथा – १. मातृघातक कर्म, २. पितृघातक कर्म, ३. अर्हत्-घातक कर्म, ४. लोहितोत्पादक कर्म एवं ५. सङ्घभेदक कर्म।

माता का घात करनेवाली चेतना एवं पिता का घात करनेवाली चेतना को ही 'मातृघातक कर्म' एवं 'पितृघातक कर्म' कहते हैं। माता-पिता को जानकर अथवा न जानकर मारने की इच्छा से जब घात किया जाता है तो वह घातचेतना मातृघातक एवं पितृघातक कर्म होती है। माता-पिता यदि तिरश्चीन होते हैं या घात करनेवाला तिरश्चीन होता है तो वह घातचेतना आनन्तर्य कर्म नहीं होती। परन्तु आनन्तर्य कर्म की ही तरह वह बहुत भारी अकुशल कर्म होती है। अन्य किसी पुरुष को लक्ष्य करके गोली या तीर मारने पर यदि वह गोली या तीर लक्ष्यभ्रष्ट होकर माता-पिता को लग जाते हैं और उससे माता-पिता का घात हो जाता है तो यह भी आनन्तर्य कर्म होता है[1]।

अर्हत् का घात करने की चेतना को ही 'अर्हत्-घातक' कर्म (अरहन्तघातकम्म) कहते हैं। अर्हत् होने के पूर्व घात करने पर यदि वह पुद्गल अर्हत् होकर मरता है तो उस भव की जीवितेन्द्रियसन्तति का घात होने से वह भी अर्हत्-घात कर्म होता है[2]।

भगवान् बुद्ध के शरीर से लोहित-उत्पाद करनेवाली चेतना को ही 'लोहितो-त्पादक कर्म' कहते हैं। भगवान् बुद्ध को मारने की इच्छा से देवदत्त द्वारा उनपर शिलाखण्ड गिराने के रूप में किया गया कर्म भगवान् बुद्ध में केवल चोट पहुँचाने-वाला होने से वह प्राणातिपात-कर्मपथ नहीं हुआ, लेकिन व्यापाद-कर्मपथ हुआ[3]।

"मरणाधिप्पाये पन सति अत्थसिद्धितदभावेसु पाणातिपाता व्यापादा च होन्ति[4]।"

सङ्घ का भेद करनेवाली चेतना को 'सङ्घभेदक कर्म' कहते हैं। भिक्षुओं को परस्पर लड़ा देना आदि से सङ्घभेदक कर्म नहीं होता, अपितु एक सीमा में परस्पर मिलकर कर्म न करने देनेवाली चेतना अर्थात् एक सीमा में एक साथ दो भिक्षुसङ्घों को

---

१. वि० पि० अ०, द्वि० भा०, पृ० ४३, ४६।
"एत्थ हि मनुस्सभूतस्सेव मनुस्सभूतं मातरं वा पितरं वा अपरिवत्तलिङ्गं जीविता वोरोपेन्तस्स कम्मं आनन्तरियं होति।...यो पन सयं मनुस्सभूतो तिरच्छानभूतं मातरं वा पितरं वा, सयं वा तिरच्छानभूतो मनुस्सभूतं, तिरच्छानभूतो येव वा तिरच्छानभूतं जीविता वोरोपेति, तस्स कम्मं आनन्तरियं न होति, कम्मं पन भारियं होति। आनन्तरियं आहच्चेव तिट्ठति।...'एळकं मारेमी' ति अभिसन्धिनापि हि एळकट्ठाने ठितं मनुस्सो मनुस्सभूतं मातरं वा पितरं वा मारेन्तो आनन्तरियं फुसति। एळकाभिसन्धिना पन मातापिति-अभिसन्धिना वा एळकं मारेन्तो आनन्तरियं न फुसति। मातापितिअभि-सन्धिना मातापितरो मारेन्तो फुसतेव।" – विभ० अ०, पृ० ४२९-४३०।
तु० – अभि० को० ४:१०३ का०, पृ० १२२।
२. द्र० – विभ० अ०, पृ० ४३०।
३. तु० – विभ० अ०, पृ० ४३०।
४. ध० स० अनु०, पृ० ८६।

उपोसथ-आदि कर्म करने के लिये प्रेरित करनेवाली चेतना 'सङ्घभेदक' कर्म कही जाती है। एक ही सीमा में परस्पर विरुद्ध दो भिक्षुसङ्घों के एक के बाद एक उपोसथ आदि कर्म करने से भी सङ्घभेद नहीं होता। निकायभेद करना भी 'सङ्घभेदक कर्म' नहीं कहा जाता। यह सङ्घभेदक कर्म गृहस्थ मनुष्य या श्रामणेर-आदि नहीं कर सकते, केवल भिक्षु ही कर सकते हैं[1]।

इन पाँच आनन्तर्य कर्मों में 'सङ्घभेदक कर्म' सबसे गुरु होता है। अतः यदि पाँचों आनन्तर्य कर्म किये गये हों तो सङ्घभेदक कर्म ही गुरु होने से अनन्तरभव में प्रतिसन्धि देगा, अन्य कर्म नहीं देंगे। पूर्व के चार आनन्तर्य कर्म किये जाने पर लोहितोत्पादक कर्म ही प्रतिसन्धिफल देगा। पूर्व के तीन कर्म किये गये हों तो अर्हत्-घातकर्म ही प्रतिसन्धिफल देगा। पूर्व के दो आनन्तर्य कर्म किये गये हों तो मातृघातकर्म ही प्रतिसन्धिफल देगा। यदि माता शीलवती नहीं हैं और पिता शीलवान् है तो पितृघातककर्म ही फल देगा[2]।

आसन्नकम्मं – 'आसन्ने अनुस्सरितं आसन्नं, आसन्ने वा कतं आसन्नं' मरणासन्नकाल में अनुस्मृत कर्म 'आसन्न कर्म' हैं। अथवा मरणासन्नकाल में किया गया कर्म 'आसन्न कर्म' है। अर्थात् जीवन में जो कुशल और अकुशल कर्म किये जाते हैं वे प्रायः याद नहीं रहते; किन्तु मरणासन्नकाल में उनका स्मरण हो आता है, उन मरणासन्नकाल में स्मृत कर्मों को 'आसन्न कर्म' कहते हैं। कुछ लोग मरणासन्नकाल में धर्मश्रवण (गीता, धम्मपद – आदि धार्मिक ग्रन्थों का श्रवण), या पूजापाठ करते हैं, या कुछ लोग लड़ाई झगड़ा, मार-पीट करते हुए मर जाते हैं उनके धर्मश्रवण, मारपीट-आदि कर्म भी 'आसन्नकर्म' हैं[3]।

आचिण्णकम्मं – 'आचीयते वड्ढापीयते ति आचिण्णं' अर्थात् जिस कर्म को बार बार कर के बढ़ाया जाता है वह कर्म 'आचिण्ण' (आचीर्ण) है। अकुशल के विषय में–

---

१. द्र० – विभ० अ०, पृ० ४३०-४३१; अभि० को० ४ : ९८-१०५ का०, पृ० १२०-१२२।

२. विभ० अ०, पृ० ४३२।

तु० – "सङ्घभेदमृषावादः, सावद्यं सुमहन्मतम् ॥"
–अभि० को० ४ : १०५ का०, पृ० १२२।

"इयमानन्तर्यकर्मपथानुपूर्वी। मातृवधः पितृवधोऽर्हद्वधः सङ्घभेदस्तथागते दुष्टचित्तरुधिरोत्पादनमिति। पञ्चमं दुष्टचित्तरुधिरोत्पादनम्, तत् सङ्घभेदवर्जेभ्योऽवशिष्टेभ्यश्चतुर्भ्यो गुरुतरम्। तृतीयमर्हद्वधः, तन्मातृपितृवधाभ्यां गुरुतरम्। प्रथमं मातृवधस्तत् पितृवधात् गुरुतरम्। तेनाह – सर्वलघुः पितृवध इति। ...विपाकविस्तरमधिकृत्य सङ्घभेदो महासावद्य उक्तः।" – स्फु०, पृ० ४३०।

३. प० दी०, पृ० १८१; विभा०, पृ० १२९। "यदासन्नं नाम मरणकाले अनुस्सरितकम्मं। यं हि आसन्नमरणो अनुस्सरितुं सक्कोति तेनेव उप्पज्जाति।" – विसु०, पृ० ४२५।

प्राणातिपात, चोरी-आदि कर्मों द्वारा जीविकोपार्जन करना; कुशल के विषय में — नित्य दान, शील, भावना-आदि करना — ये कर्म निरन्तर एवं बार बार किये जाने से 'आचिण्णकम्म' कहे जाते हैं। एक अकुशल कर्म करने के अनन्तर उसका पुनः पुनः स्मरण करके पश्चात्ताप नामक विप्रतिसार कौकृत्य (विप्पटिसारकुक्कुच्च) एवं दौर्मनस्य-आदि करके उसके बढ़ाये जाने से एक बार किया गया अकुशल कर्म भी 'आचिण्ण' कर्म हो जाता है। एक कुशल कर्म करने के अनन्तर उसका पुनः पुनः स्मरण करके यदि सौमनस्य होता है तो एक बार किया हुआ वह कुशल कर्म भी 'आचिण्ण' होता है[1]।

आसन्नकर्म एवं आचिण्णकर्म — इन दोनों में (अनन्तरभव में प्रतिसन्धिफल देने की अपेक्षा न करके यदि स्वभाव का विचार किया जाता है तो) आसन्नकर्म से आचिण्ण कर्म प्रबल होता है। इसी प्रबलता को दिखाने के लिये पालि अट्ठकथाओं में 'यब्बहुलं यदासन्नं[2]' कह कर 'यब्बहुलं' शब्द द्वारा आचिण्ण कर्म पहले कहा गया है। परन्तु 'अङ्गुत्तरट्ठकथा' में 'यब्बहुलं' एवं 'आचिण्णकं' का पूर्ववत् अर्थ न करके पूर्वकाल में एक बार करके मरणासन्नकाल में पुनः स्मृत हुए आसन्न कर्म को 'यब्बहुल आसन्न' (यद्बहुल आसन्न) कर्म कहा गया है। अर्थात् 'यब्बहुल' को 'आसन्न' का विशेषण बना कर 'एक विशेष प्रकार का आसन्न कर्म' — यह अर्थ किया गया है[3]। यद्यपि स्वभाव से ही आसन्न कर्म की अपेक्षा आचिण्ण कर्म प्रबल होता है, तथापि अनन्तरभव में प्रतिसन्धि देने के समय मरणासन्न जवनवीथि के अत्यन्त निकट होने के कारण आसन्न कर्म ही आचिण्ण से प्रमुख होता है। अतएव यहाँ उसे आचिण्ण कर्म से पहले रखा गया है। मरणासन्न-जवन में कर्म, कर्मनिमित्त या गतिनिमित्त — इनमें से कोई एक, प्रतिसन्धि देनेवाले कर्म के वश से प्रतिभासित होने लगता है। इस प्रकार प्रतिभासित करने में समर्थ कर्म मुख्य रूप से प्रतिसन्धिफल देनेवाला होता है। इस प्रकार मरणासन्नजवन में किसी एक निमित्त के अवभासन कृत्य को, पूर्व पूर्व परिचित आचिण्ण कर्म की अपेक्षा मरणासन्न-जवन के अत्यन्त निकट रहनेवाला आसन्नकर्म ही ज्यादा अच्छी तरह करने में समर्थ होता है। अतः प्रतिसन्धिफल देने में आचिण्ण कर्म की अपेक्षा पहले बार (पहल) करने के कारण फल देनेवाले कर्मों की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ में आचिण्ण कर्म की अपेक्षा आसन्न कर्म को पहले स्थान दिया गया है। जैसे — सायङ्काल गोशाला में सभी गाय, बैल-आदि पशुओं को प्रविष्ट कर के दरवाजा बन्द कर देने पर प्रातःकाल दरवाजा खोलने पर वृद्ध बैल अत्यन्त दुर्बल होने पर भी सब से पहले निकलता है; उसी तरह आसन्नकर्म यद्यपि आचिण्ण कर्म से दुर्बल होता है फिर भी मरणासन्न काल के समीप होने के कारण अनन्तरभव में आचिण्ण कर्म की अपेक्षा पहले फल देता है[4]।

---

१. प० दी०, पृ० १८१; विभा०, पृ० १२६।

२. विसु०, पृ० ४२५।

३. अं० नि० अ०, द्वि० भा०, पृ० १०५।

४. प० दी०, पृ० १८१; अं० नि० अ०, द्वि० भा०, पृ० १०७।

विशेष—यदि वह दरवाजे के पासवाला बैल अत्यन्त दुर्बल होने के कारण जल्दी उठ भी न सके तो वह कैसे पहले निकलेगा ? इसी तरह अत्यन्त दुर्बल होने के कारण कर्म, कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त को अवभासित करने में असमर्थ आसन्नकर्म, आचिण्ण कर्म का अभिभव करके कैसे फल देगा ? — इसे भी समझना चाहिये।

कटत्ताकम्मं—'कटत्ता एव कम्मं कटत्ताकम्मं' किया हुआ कर्म ही 'कटत्ताकर्म' है। अर्थात् पूर्व पूर्व भव में कृत चेतना एवं इस भव में गुरुक, आसन्न एवं आचिण्ण की अवस्था में न पहुँचा हुआ तथा सामान्यतः किया हुआ कर्म 'कटत्ताकर्म' है[1]। विग्रह में प्रयुक्त निर्धारणार्थक 'एव' के द्वारा गरुक, आसन्न एवं आचिण्ण का निवारण होता है।

पाकदानपरियायेन—द्वितीय भव में प्रतिसन्धिफल देने के लिये वार या क्रम के रूप में चार कर्म होते हैं। यथा—गुरुक-आदि चारों कर्म करनेवाले पुद्गल में द्वितीय भव में गरुककर्म ही सर्वप्रथम फल देगा। गुरुक कर्म न होने पर अर्थात् केवल तीन ही कर्म होने पर आसन्नकर्म पहले फल देगा। यदि आचिण्ण एवं कटत्ता कर्म दोनों ही होंगे तो आचिण्ण कर्म पहले फल देगा। ऊपर के तीनों कर्म न होंगे तो कटत्ताकर्म ही फल देगा[2]। इसलिये इस भव में किसी उद्देश्य के बिना सामान्यतया किये गये कर्म जो गुरुक, आसन्न या आचिण्ण नहीं हो सकते, वे कटत्ताकर्म हैं। यथा—भोजन बचा होने पर (दान के उद्देश्य से नहीं) उसे कुत्ते को दे देना आदि कटत्ताकर्म हैं; तथा पूर्व भव में किये गये कर्म (सञ्चित कर्म) कटत्ता कर्म हैं। अतः बिना कटत्ताकर्म के कोई पुद्गल नहीं होता अर्थात् सभी के कुछ न कुछ कटत्ताकर्म अवश्य होते हैं।

उपर्युक्त कथन के अनुसार द्वितीय भव में सुगति या दुर्गति का प्राप्त होना, इस भव में किये गये कर्मों पर निर्भर है, अतः इस भव में कुशल कर्म करने का प्रयास करना चाहिये।

कुछ आचार्यों के अनुसार इस भव में सामान्यतया किये गये कर्म, जो गुरुक-आदि नहीं होते, वे कटत्ताकर्म नहीं कहे गये हैं; अपितु पूर्व पूर्व भव में कृत कर्म ही कटत्ताकर्म हैं; किन्तु यदि यह मत मान्य होगा तो इस भव में सामान्यतया किये गये वे कर्म जिनका पुनः स्मरण नहीं होता उन्हें गुरुक, आसन्न या आचिण्ण—इन तीन विभागों में से किस विभाग में सम्मिलित करेंगे ? इन चार कर्मों के अतिरिक्त अन्य कोई कर्म भी नहीं है—ऐसी स्थिति में उपर्युक्त आचार्यों के मत में न केवल सभी कर्मों का ही सङ्ग्रह नहीं होता, अपितु उनका मत "एतेहि पन तीहि मुत्तं अञ्ञाणवसेन कतं कटत्ता वा पन कम्मं नाम"[3]—इस अङ्गुत्तरट्ठकथा के अनुरूप भी नहीं हो पाता[4]।

पाकदानपर्यायचतुष्क समाप्त।

---

1. प० दी०, पृ० १८१; विभा०, पृ० १२९; "एतेहि पन तीहि मुत्तं पुनप्पुनं लद्धासेवनं 'कटत्ता वा पन कम्मं' नाम होति।"—विसु०, पृ० ४२५।
2. द्र०—विसु०, पृ० ४२५।
3. अ० नि० अ०, द्वि० भा०, पृ० १०९।
4. प० दी०, पृ० १८१-१८२।

पाककालचतुक्कं

४३. दिट्ठधम्मवेदनीयं*, उपपज्जवेदनीयं, अपरापरियवेदनीयं, अहोसि-कम्मञ्चेति पाककालवसेन चत्तारि कम्मानि नाम॥।

दृष्टधर्मवेदनीय, उपपद्यवेदनीय, अपरपर्यायवेदनीय एवं अहोसिकर्म–इस प्रकार पाककाल के वश से चार कर्म होते हैं।

पाककालचतुष्क

४३. विपाक देनेवाले काल के भेद से विभाजित चार प्रकार के कर्मसमूह को 'पाककालचतुष्क' कहते हैं।

सात बार जवनों में से प्रथम जवन चेतना 'दृष्टधर्मवेदनीय' कर्म है। वह जिस भव में कर्म किया गया है, उसी भव अर्थात् प्रत्युत्पन्न भव में ही फल देने वाला कर्म है। सप्तम जवन चेतना 'उपपद्यवेदनीय कर्म' है। यह कर्म प्रतिसन्धि एवं प्रवृत्ति–दोनों फलों को या इनमें से किसी एक को द्वितीय भव में प्रदान करता है। मध्यवर्ती पाँच जवनचेतनायें 'अपरपर्यायवेदनीय कर्म' हैं।[1] ये कर्म तृतीय भव से लेकर निर्वाणप्राप्ति-पर्यन्त कभी भी फल देते हैं। उपर्युक्त चेतनायें यदि स्वसम्बद्ध भव में फल नहीं देतीं तो ये 'अहोसिकर्म' हैं। अर्थात् प्रथम जवनचेतना यदि फल न देकर प्रत्युत्पन्नभव का अतिक्रमण कर देती है तो वह 'अहोसि कर्म' है। सप्तमजवन जवनचेतना फल न देकर यदि द्वितीयभव का अतिक्रमण कर देती है तो वह 'अहोसिकर्म' है। मध्यवर्ती पाँच चेतनाओं द्वारा बिना फल दिये ही यदि भव का उच्छेद हो जाता है तो ये 'अहोसिकर्म' होती हैं।[1]

---

*. ० वेदनियं–सी०, म० (क) (सर्वत्र); दिट्ठिधम्मवेदनियं–रो०।

१. प० दी०, पृ० १८४; विभा०, पृ० १३०।

"तेसु एकजवनवीथियं सत्तसु चित्तेसु कुसला वा अकुसला वा पठमजवनचेतना 'दिट्ठ-धम्मवेदनीयकम्मं' नाम; तं इमस्मिं येव अत्तभावे विपाकं देति। तथा असक्कोन्तं पन, अहोसि कम्मं, नाहोसिकम्मविपाको, न भविस्सति कम्मविपाको, नत्थि कम्मविपाको ति इमस्स तिकस्स वसेन 'अहोसिकम्मं' नाम होति। अत्थसाधिका पन सत्तमजवनचेतना 'उपपज्जवेदनीयं कम्मं' नाम; तं अनन्तरे अत्तभावे विपाकं देति। तथा असक्कोन्तं वुत्तनयेनेव 'अहोसि कम्मं' नाम होति। उभिन्नं अन्तरे पञ्च जवनचेतना 'अपरापरियवेदनीयकम्मं' नाम; तं अनागते यदा ओकासं लभति, तदा विपाकं देति; सति संसारपवत्तिया 'अहोसिकम्मं' नाम न होति।"–विसु०, पृ० ४२५। द्र०–विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ३७६।

तु०–"पुनश्चतुर्विधं कर्म, दृष्ट-वेदयादिभेदतः।"–अभि० दी० १७८ का०, पृ० १४०। "तत्र दृष्टधर्मवेदनीयं यत्रैव जन्मनि कृतं तत्रैव विपच्यते। उपपद्यवेदनीयं यद् द्वितीये जन्मनि। अपरपर्यायवेदनीयं तस्मात् परेण।"–वि० प्र० वृ०, पृ० १४१।

"नियतानियतं तच्च, नियतं त्रिविधं पुनः।
दृष्टधर्मादिवेद्यत्वात्, पञ्चधा कर्म केचन॥"
–अभि० को० ४:५० का०, पृ० १०३;

अभि० समु०, पृ० ५८-५९।

कुछ आचार्य कहते हैं कि यदि ये चेतनायें मुख्यरूप से फल नहीं देती हैं तो अपने भव के अतिक्रमण से पूर्व भी 'अहोसि कर्म' इस नाम को प्राप्त हो जाती हैं। अर्थात् मध्यवर्ती पाँच जवनचेतनायें यदि मुख्य रूप से फल देनेवाली नहीं होती हैं तो निर्वाण प्राप्त करनेवाले भव के अतिक्रमण से पूर्व ही अर्थात् कर्म करते समय ही 'अहोसिकर्म' हो जाती हैं। इन आचार्यों के इस कथन का "सति संसारप्पवत्तिया अहोसिकम्मं नाम न होति"[1]–इस अङ्गुत्तरट्ठकथा के वचन के साथ विचार करना चाहिये।

प्रश्न–फल देने के काल के भेद से कर्मों के चार विभाग होते हैं, इनमें से 'अहोसिकर्म' जब बिलकुल फल देनेवाला नहीं है तो पाककालचतुष्क में उसकी गणना क्यों की गयी? पूर्ववर्त्ती तीन कर्मों को ही पाककालभेद से दिखाना चाहिये था, 'अहोसि-कर्म' को पाककालचतुष्क में क्यों सम्मिलित किया गया?

उत्तर–जिस तरह तीन प्रकार की तृष्णाओं द्वारा भूमियों का विभाजन करते समय उन तृष्णाओं से विमुक्त होने पर भी एक लोकोत्तरभूमि का ग्रहण करके 'भूमिचतुष्क' कहा जाता है, उसी प्रकार पाककाल से विभाजन करते समय पाककाल से विमुक्त होने पर भी एक अहोसिकर्म का ग्रहण करके 'पाककालचतुष्क' कहा गया है।

दिट्ठधम्मवेदनीयं–'दिट्ठो धम्मो दिट्ठधम्मो, दिट्ठधम्मे वेदनीयं दिट्ठधम्मवेदनीयं' प्रत्यक्ष देखा गया स्वभाव दृष्टधर्म है अर्थात् इस प्रत्युत्पन्न भव में दृष्ट प्रत्युत्पन्न-आत्मभाव दृष्टधर्म है। इस प्रत्युत्पन्न-आत्मभाव में वेदनीय कर्म 'दृष्टधर्मवेदनीय कर्म' है। यद्यपि 'वेदनीय' शब्द का कारण 'कर्म' से कोई सम्बन्ध नहीं है, कार्य 'विपाक' से ही सम्बन्ध है; क्योंकि कारण 'कर्म' वेदनीय नहीं हो सकता, कार्य 'विपाक' ही वेदनीय हो सकता है, तथापि कार्य 'विपाक' के 'वेदनीय'–इस नाम का, कारण 'कर्म' में उपचार करके फलोपचार से कारण 'कर्म' को भी वेदनीय कहा गया है। अर्थात् प्रत्युत्पन्नभव में फल देनेवाला कर्म। आगे आनेवाले 'वेदनीय' शब्दों को भी इसी प्रकार जानना चाहिये[2]।

"इधेव तं वेदनीयं ति तं कम्मं तेन बालेन इध सके अत्तभावे येव वेदनीयं, तस्सेव तं अत्तभावे विपच्चतीति अत्थो[3]।"

यह दृष्टधर्मवेदनीय कर्म यदि एक सप्ताह के भीतर फल देता है तो 'परिपक्व दृष्टधर्मवेदनीय कर्म' कहा जाता है। यदि एक सप्ताह के अनन्तर फल देता है तो 'अपरिपक्व दृष्टधर्मवेदनीय कर्म' कहा जाता है।

'दृष्टधर्मवेदनीय' नामक प्रथमजवनचेतना सात बार प्रवृत्त होनेवाले जवनों में सर्वप्रथम होने के कारण अपने पूर्ववर्त्ती किसी जवन से आसेवनशक्ति द्वारा उपकार प्राप्त न कर पाने के कारण (वह) द्वितीय तृतीय-आदि जवनचेतनाओं की तरह प्रबल नहीं होती। अतः अन्य जवनों की भाँति प्रतिसन्धिफल देकर एक नये भव का निर्माण करने

१. अ० नि० अ०, द्वि० भा०, पृ० १०५।

२. विभा०, पृ० १२६; प० दी०, पृ० १८३।

३. अ० नि० अ०, द्वि० भा०, पृ० ११५।

में भी असमर्थ होती है। वह केवल इस प्रत्युत्पन्न भव में ही अहेतुक कुशलविपाक, अकुशलविपाक, कर्मजरूप एवं कर्मप्रत्यय-ऋतुजरूप नामक अहेतुक विपाकों को ही उत्पन्न कर सकती है।

'महादुग्गत' नामक एक अत्यन्त दरिद्र गृहस्थ काश्यप भगवान् को भिक्षा देने से उसी दिन अत्यन्त धनी श्रेष्ठी हो गया[1]। पुण्ण (पूर्ण) दम्पती सारिपुत्त को एवं काकवळिय-दम्पती महाकाश्यप को भिक्षा देकर उसी दिन धनी हो गये। इस प्रकार धनी होने के समय अच्छे अच्छे आलम्बनों को देखने, सुनने आदि के कारण अहेतुक कुशलविपाक चक्षुर्विज्ञान-आदि उत्पन्न होते हैं और स्कन्धसन्तति में कुशल कर्मजरूपों की वृद्धि भी होती है। धनी होने पर बढ़ी हुई सम्पत्ति कर्मप्रत्यय-ऋतुजरूप हैं। ये रूप-धर्म भी अहेतुक होने से अहेतुकफल कहे जाते हैं। नन्द नामक माणवक, उप्पलवण्णा (उत्पलवर्णा) भिक्षुणी के साथ बलात्कार करने से तत्काल जमीन में धँसकर अवीचिनरक में चला गया। नन्द नामक कसाई (वधक) सर्वदा गाय, बैलों को काटता था और बिना मांस के भोजन नहीं करता था। एक दिन अपने भोजन में मांस न देखकर वह एक जीवित गाय की जीभ काटकर ले आया और उसे भूनकर खा गया। इससे उसी समय उसकी जीभ कट गयी[2]। इस प्रकार के दुःखों की प्राप्ति के समय यथायोग्य अहेतुक अकुशलविपाक चक्षुर्विज्ञान-आदि, अकुशल कर्मजरूप एवं अकुशल कर्मप्रत्यय-ऋतुजरूप होते हैं।

दृष्टधर्मफल महान् नहीं – आजकल तत्काल धनी हो जाने, जमीन फटकर उसमें धँस जाने या तत्काल जीभ कट जाने आदि फलों को बड़ा महत्त्वपूर्ण समझा जाता है; किन्तु तत्काल धनी होना एवं नयी प्रतिसन्धि का निर्माण करके देवभूमि में उत्पन्न होना – इन दोनों में तुलना करके देखने से बहुत बड़ा अन्तर प्रतीत होता है। तत्काल धनी होना दृष्टधर्मफल है तथा नयी प्रतिसन्धि का निर्माण करके देवभूमि में उत्पन्न होना, उपपद्यवेदनीय एवं अपरपर्यायवेदनीय फल हैं। इस दृष्टि से देखने पर दृष्टधर्म-वेदनीय कर्म, उपपद्यवेदनीय-आदि के सदृश उत्तम सहेतुक प्रतिसन्धिफल नही दे सकता, केवल अहेतुकविपाक प्रवृत्तिफलमात्र ही दे सकता है। यह बीज की प्राप्ति के लिये फल न देकर केवल पुष्पमात्र देने की तरह है। "सा इधेव पुप्फमत्तं विय पवत्तिविपाकमत्तं अहेतुकफलं देति[3]"।

उपकार मिलने से ही दृष्टधर्म फल देता है – यह प्रथम जवनचेतना, इतने अल्प प्रवृत्तिफल को भी प्रत्ययों द्वारा उपकार मिलने पर ही दे पाती है। अर्थात् यह (प्रथम जवनचेतना) पूर्वजवनों से आसेवनशक्ति द्वारा उपकार न मिलने से अतिदुर्बल होने के कारण, प्रतिपक्षधर्मों द्वारा अनभिभूत होने पर ही तथा प्रत्ययविशेष से विशेष कारण प्रतिलब्ध होने पर ही पूर्वाभिसंस्कार वश सबल होकर यथासम्भव दृष्टधर्मफल देने में समर्थ होती है।

---

१. ध० प० अ०, प्र० भा०, (पण्डितवग्ग-महादुग्गतवत्थु) पृ० २६०।

२. इन सब कथाओं के लिये द्र० – अ० नि० अ०, द्वि० भा०, पृ० १०४।

३. विभा०, पृ० १३०।

"पटिपक्खेहि अनभिभूतताय पच्चयविसेसेन पटिलद्धविसेसताय च बलवभावप्पत्ता तादिसस्स पुब्बाभिसङ्खारस्स वसेन सातिसया[1]।"

अथवा – गुणविशेष से युक्त बुद्ध, अर्हत्, अनागामी-आदि पुद्गलों में उपकार अपकार करने के वश से प्रवृत्त होने पर ही यह प्रथमजवनचेतना दृष्टधर्मफल देती है; जैसे कहा भी गया है –

"गुणविसेसयुत्तेसु उपकारानुपकारवसप्पवत्तिया[2]।"

'धम्मपद' की 'सुखसामणेरवत्थु' मे दृष्टधर्म फल की प्राप्ति के चार कारण दिखाये गये हैं[3]। यथा – १. वत्थुसम्पदा (वस्तुसम्पदा अर्थात् अनागामी अर्हत् सदृश दक्षिणेय पुद्गलरूपी वस्तु का होना), २. चेतनासम्पदा (चेतना का तीक्ष्ण होना), ३. पच्चयसम्पदा (प्रत्ययसम्पदा अर्थात् धर्म से उपलब्ध दानीय वस्तु के होने से प्रत्यय की सम्पन्नता); ४. गुणातिरेकसम्पदा (निरोध समापत्ति से उत्थित पुद्गल; क्योंकि यह अन्य दक्षिणेय पुद्गलों से गुणों में अधिक होता है, अतः निरोधसमापत्ति से उठने के समय दिया हुआ दान तत्काल फलदायी होता है[4])।

ये चार कारण केवल दानचेतना द्वारा दृष्टधर्मफल दिये जाने से ही सम्बद्ध हैं। अन्य कुशल एवं अकुशलों से इनका सम्बन्ध नहीं है।

जनक, उपष्टम्भक एवं सामान्य दृष्टधर्मफल – 'जनकशक्ति द्वारा दृष्टधर्मफल दिये जाने में यह प्रथम जवनचेतना ही फल दे सकती है। अन्य कर्मों का उपष्टम्भन करने में सभी जवन उपष्टम्भ कर सकते हैं' – इस प्रकार कहा जाता है। इसीलिये 'ग्रन्थ के आरम्भ में ग्रन्थकार की प्रणामचेतना अन्तराय का निवारण कर सकती है' – इस तरह के कथन में, कुछ टीकाओं में 'जनकशक्ति से प्रथम जवन द्वारा विघ्न-निवारण किया जाता है' – ऐसा कहा गया है।

---

१. विभा०, पृ० १२९-१३०; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ३७६।

२. विभा०, पृ० १३०; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ३७६।

३. ध० प० अ०, द्वि० भा०, (सुखसामणेरवत्थु) पृ० ५९; अट्ठ०, पृ० १३२।

४. तु० – "क्षेत्राशयविशेषाच्च, फलं सद्यो विपच्यते।
निरोधव्युत्थितादौ च, सद्यः कालफलक्रिया॥"
–अभि० दी० १८२ का०, पृ० १४३।

"दृष्टधर्मफलं कर्म, क्षेत्राशयविशेषतः।
तद्भूम्यत्यन्तवैराग्याद्, विपाके नियतं हि यत्॥
ये निरोधारणामैत्री-दर्शनार्हत्-फलोत्थिताः।
तेषु कारापकारस्य, फलं सद्योऽनुभूयते॥"
–अभि० को० ४:५५-५६ का०, पृ० १०५।

"दृष्टधर्मवेदनीयं कर्म क्षेत्रविशेषाद् वा भवति; यथा – सङ्घस्त्रीवादसमुदाचाराद् व्यञ्जनपरिवृत्तिः श्रूयते। आशयविशेषाद् वा; यथा – षण्ढस्य गवामपुंस्त्वप्रतिमोक्षणात् पुम्भावः।" – अभि० को० ४:५५ का० पर भाष्य; स्फु०, पृ० ३९४।

अपि च – कुछ टीकाओं में 'स्कन्धसन्तति में अन्तरायों को न पहुँचने देने के लिये पूर्व कर्म की विपाकसन्तति का उपष्टम्भक शक्ति द्वारा उपष्टम्भ किया जाता है' – इस प्रकार कहा गया है। तथा 'यह दृष्टधर्मवेदनीय प्रत्युत्पन्नभव में अस्पष्ट रूप से फल देनेवाला होता है' – ऐसा भी कहा गया है। जैसे – कुशलकर्म करने से गुणों (कीर्ति) का फैलना, भाग्य का समृद्ध होना, व्यापार-आदि में उन्नति होना; तथा अकुशल कर्म करने से राजदण्ड प्राप्त होना-आदि दृष्टधर्मवेदनीय कर्म के फल कहे जाते हैं। इस बारे में यह प्रथम जवनचेतना का दृष्टधर्मफल है या यह पूर्व पूर्व कुशल, अकुशल कर्मों को फल देने के लिये अवकाश देनेवाले इस भव के कुशल, अकुशल कर्मों द्वारा उपष्टम्भक शक्ति से उपष्टम्भन किया गया है – ऐसा विभाग करके जानना अत्यन्त दुष्कर है।

अट्ठकथा, टीकाओं में स्पष्टतया फल देनेवाले कर्मों को ही 'दृष्टधर्मवेदनीय कर्म' कहा गया है[1]।

उपपज्जवेदनीयं – 'उपपज्ज' शब्द में 'उप' शब्द समीपार्थक है, अतः समीपवर्ती द्वितीयभव में पहुँचकर वेदनीय कर्म ही 'उपपद्यवेदनीय' है। अथवा – 'उप' शब्द अनन्तर अर्थ में है, अतः अनन्तरभव में वेदनीयकर्म 'उपपद्यवेदनीय कर्म' है। यहाँ भी 'कार्य' विपाक के वेदनीय नाम का 'कारण' कर्म में उपचार करके फलोपचार से 'कारण' कर्म को ही वेदनीय कहा गया है। अर्थात् अनन्तर (द्वितीय) भव में फल देनेवाला कर्म 'उपपद्यवेदनीय' है[2]।

सप्तम जवनचेतना को 'उपपद्यवेदनीय कर्म' कहते हैं। दान, शील-आदि कुशल कर्म एवं प्राणातिपात-आदि अकुशल कर्म सप्तम जवनक्षण में ही कर्मपथ होते हैं।

उन उन कुशल या अकुशल कर्मों को करते समय पूर्व पूर्व जवनों से कर्मपथ नहीं होता। वे पूर्व पूर्व जवन सप्तम जवन को प्रबल करने के लिये उपकारकमात्र होते हैं। सप्तम जवनक्षण तक पहुँचने पर ही सम्बद्ध कर्म सिद्ध हो सकता है। इसलिये "अत्थ-साधिका पन सन्निट्ठापकचेतनाभूता सत्तमजवनचेतना उपपज्जवेदनीयं नाम[3]" अर्थात् अर्थ को सिद्ध करने में समर्थ सन्निष्ठापकचेतनाभूत सप्तम जवनचेतना 'उपपद्यवेदनीय कर्म' है – इस प्रकार टीकाओं में कहा गया है। सप्तम जवनचेतना कर्म की सिद्धि में प्रधान होती है। पञ्चानन्तर्य कर्म एवं नियत मिथ्यादृष्टिकर्म भी यह सप्तम-जवनचेतना ही है। इस तरह यह सत्तम जवन चेतना कृत्यों को सिद्ध करनेवाली

१. विभा०, पृ० १३०; प० दी०, पृ० १८४-१८५।

२. "तस्मा दिट्ठधम्मस्स समीपे अनन्तरे पज्जितब्बो गन्तब्बो ति उपपज्जो; दुतियो अत्तभावो। उपपज्जे वेदितब्बं फलं एतस्सा ति उपपज्जवेदनीयं ति एवमत्थो तस्स पाठस्स वसेन वेदितब्बो। उपपज्जा ति वा अनन्तरे भवे पवत्तो एको निपातो।" – प० दी०, पृ० १ १।

३. प० दी०, पृ० १८५।

सन्निष्ठापक चेतना होने के कारण प्रतिसन्धिफल देने में समर्थ अन्य चेतनाओं में सबसे आगे बढ़कर अनन्तर (द्वितीय) भव में ही प्रतिसन्धिफल देने में समर्थ चेतना होती है। ('मूलटीका' में दूसरे प्रकार से व्याख्या की गयी है उसे वहाँ अवश्य देखें[1]।)

'परमत्थदीपनी' में 'सात वार प्रवृत्त होनेवाले जवनों में, प्रथम जवन से लेकर चतुर्थ जवन तक तो उन जवनों की शक्ति क्रमशः बढ़ती जाती है और चतुर्थ जवन से धीरे धीरे कम होते होते सप्तम जवन तक पहुँचते पहुँचते उनकी शक्ति एकदम समाप्त हो जाती है' – इस प्रकार 'अट्ठसालिनी' के 'लोकुत्तर कुसलपथ' की व्याख्या का आधार करके (जिस प्रकार केले एवं पपीते के वृक्ष विरस एवं अपुष्ट होने के कारण शीघ्र फल देते हैं, उसी प्रकार) 'सप्तम जवन दुर्बल होने के कारण चिरकाल तक फल नहीं दे सकता; केवल द्वितीयभव में ही फल देने में समर्थ होने के कारण शीघ्र आगे बढ़कर फल दे देता है' – इस प्रकार कहा गया है। किन्तु स्वसम्बद्ध कृत्यों को सम्पन्न करने में समर्थ तथा गुरुक (गुरु) कर्म हो सकनेवाले सप्तम जवन को विपाक देने में दुर्बल कहना विचारणीय है। परमत्थदीपनीकार 'बीचवाले पाँच जवनों का फल अत्यन्त महान् एवं विपुल है' – ऐसा कहना चाहते हैं; किन्तु उस फल की महत्ता एवं विपुलता न होने के कारणों पर आगे विचार किया जायेगा[2]।

विभावनीवाद – विभावनीकार का कहना है कि सप्तमजवनचेतना द्वितीयभव में प्रतिसन्धिफल दे देने पर ही प्रवृत्ति-फल देने में समर्थ होती है। वह प्रतिसन्धिफल बिना दिये केवल प्रवृत्तिफल नहीं दे सकती; क्योंकि प्रत्युत्पन्न च्युति के बाद का (प्रतिसन्धि) काल ही सप्तमजवनचेतना का फल देने का काल होता है। अतः प्रतिसन्धिकाल में यदि उसे फल देने के लिये अवकाश नहीं मिलता है तो उसे प्रवृत्तिफल देने का भी अवसर नहीं मिलेगा।

"सा च पटिसन्धिं दत्वा व पवत्तिविपाकं देति, पटिसन्धिया पन अदिन्नाय पवत्तिविपाकं देतीति नत्थि, चुति-अनन्तरं हि उपपज्जवेदनीयस्स ओकासो[3]।"

विभावनीकार का यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि द्वितीयभव में प्रतिसन्धिफल न देते हुये भी केवल प्रवृत्तिफल ही देनेवाली कथायें बहुत हैं[4]; जैसे – 'भूरिदत्तजातक' में बोधिसत्त्व नागसम्पत्ति की अभिलाषा से कुशलकर्म करते हैं। च्युति के अनन्तर उन्हें अकुशल कर्म के कारण अहेतुक नागप्रतिसन्धि लेनी पड़ती है। (यहाँ कुशल कर्म प्रतिसन्धिफल नहीं देते।) प्रवृत्तिकाल में कृत कुशल कर्मों के कारण वे (बोधिसत्त्व) अत्यन्त महान् नाग की सम्पत्ति के सुख का भोग करते हैं।

१. ध० स० मू० टी०, पृ० ४५-४६।
२. द्र० – प० दी०, पृ० १८५।
३. विभा०, पृ० १३०।
४. प० दी०, पृ० १८५।

तथा 'विभावनी' में ही "पटिसन्धिया पन दिन्नाय जातिसते पि पवत्तिविपाकं देति[1]" – इस प्रकार के एक आचार्यवाद का उल्लेख किया गया है। अर्थात् सप्तम जवन-चेतना च्युति के अनन्तर यदि प्रतिसन्धिफल न दे सकेगी तो एक सौ भव तक भी प्रवृत्तिफल दे सकती है। यह आचार्यवाद भी युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि एक सौ भव को तो छोड़ दीजिये, यदि तृतीय भव ही पहुँच जाता है तो वह कुछ नहीं कर सकती, क्योंकि वह अपरपर्यायवेदनीय का काल है। उस काल में उपपद्यवेदनीय कुछ भी कर सकने में असमर्थ है। तृतीय भव से लेकर आगे के भवों का उपपद्यवेदनीय कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अपरपर्यायवेदनीय कर्म ही उन भवों में फल देते हैं। 'अङ्गुत्तर-ट्ठकथा' में भी कहा गया है कि दृष्टधर्मवेदनीय-आदि कर्म अपने स्थान का सङ्क्रमण नहीं करते, अपितु वे अपने अपने स्थानों में ही अवस्थित रहते हैं[2]। यथा –

"दिट्ठधम्मवेदनीयं, उपपज्जवेदनीयं, अपरापरियवेदनीयं ति तेसं सङ्कमनं नत्थि, यथाठाने एव तिट्ठन्ति[3]।"

अपरापरियवेदनीयं – 'अपरो च अपरो च अपरापरो, अपरापरो येव अपरापरियं; अपरापरिये वेदनीयं अपरापरियवेदनीयं' अपरापरभव में वेदनीय कर्म को ही 'अपरपर्याय-वेदनीय कर्म' कहते हैं[4]।

विभावनीकार ने अपर में अपादान (विश्लेष की अवधि) 'दिट्ठधम्मतो' कहकर 'प्रत्युत्पन्नभव से अपर' – ऐसा अर्थ किया है। उनके मतानुसार प्रत्युत्पन्नभव से भिन्न अन्य भव की सन्तति 'अपरापरिय' है[5]। इससे सिद्ध होता है कि अपरपर्याय-वेदनीय कर्म प्रत्युत्पन्न भव के अनन्तरवर्त्ती द्वितीयभव से लेकर निर्वाणप्राप्तिपर्यन्त फल देनेवाला कर्म है।

यदि इसी प्रकार मान लिया जाये तो द्वितीय भव में फल देनेवाले उपपद्य-वेदनीय कर्म से इसका विरोध हो जायेगा। अतः 'दिट्ठधम्म' में अपादान नहीं मानना चाहिये[6]। फलतः प्रत्युत्पन्नभव एवं तदनन्तरवर्त्ती द्वितीयभव से अन्य भवपरम्परा (तृतीय-भव से लेकर निर्वाणप्राप्ति तक के भवों) को 'अपरापरिय' कहा जाता है[7]।

प्रतिसन्धिफल देने में चेतनायें – एक वीथि में आनेवाले सात जवनों में से प्रथम एवं अन्तिम को वर्जित करके मध्यस्थ पाँच जवनचेतना अपरपर्यायवेदनीय कर्म हैं।

---

१. विभा०, पृ० १३०।

२. प० दी०, पृ० १८५।

३. अ० नि० अ०, द्वि० भा०, पृ० ११४।

४. तु० – प० दी०, पृ० १८३।

५. "अपरे अपरे दिट्ठधम्मतो अञ्ञस्मिं यत्थकत्थचि अत्तभावे वेदितब्बं कम्मं अपरापरियवेदनीयं।" – विभा०, पृ० १२९।

६. प० दी०, पृ० १८४।

७. "अपरापरियायेति दिट्ठधम्मानन्तरानागततो अञ्ञस्मिं अत्तभावपरियाये अत्तभाव-परिवत्ते।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ३७६।

"एकाय चेतनाय कम्मे आयूहिते एका व पटिसन्धि होति"[1] – इस 'अट्ठसालिनी' के 'एक चेतना से कर्म आरब्ध करता है तो एक प्रतिसन्धि होती है' – इस अभिप्राय का आधार करके कुछ आचार्य 'अपरपर्यायवेदनीय कर्म पांच जवनचेतना होने से वे पाँच प्रतिसन्धिफल देती हैं'—इस प्रकार अर्थ करते हैं।

यहाँ 'अट्ठसालिनी' के उसी वचन को लक्ष्य करके 'अपरपर्यायवेदनीयकर्मरूपी पाँचों जवनचेतनाओं से एक ही प्रतिसन्धिफल होता है' – ऐसा प्रतिपादन किया जायेगा; क्योंकि 'एकाय चेतनाय कम्मे आयूहिते' – इस पाठ में जवन से सम्प्रयुक्त चेतना चैतसिक को ही 'चेतना' कहा गया है तथा काय, वाक्, एवं मनस् की क्रिया को 'कर्म' कहा जाता है। वह कर्म एक ही जवनचेतना द्वारा कर्मपथ होने के लिये आरब्ध नहीं किया जा सकता। एक वीथि में होनेवाले सातों जवनों से आरब्ध किये जाने पर ही एक कर्म, कर्मपथ हो सकता है। उन सातों बारों की जवनचेतना को एक ही स्वभाव की होने के कारण 'एक चेतना' कहा जाता है। अतः सप्तम जवन के लिये एक प्रतिसन्धिफल एवं मध्यवर्त्ती पाँच जवनों के लिये पाँच सन्धिफल कहना – बिलकुल ही युक्तियुक्त नहीं है। एक वीथि में आनेवाली सभी जवनचेतनायें एक प्रतिसन्धि ही दे सकती हैं। इसलिये यदि उपपद्यवेदनीय कर्म (सप्तम जवनचेतना) द्वितीयभव में प्रतिसन्धि फल दे देता है तो मध्यवर्त्ती पाँच जवनचेतनायें पुनः प्रतिसन्धिफल नहीं दे सकतीं, वे प्रवृत्तिफल ही दे सकती हैं। सप्तम जवन द्वारा प्रतिसन्धिफल दे देने पर भी मध्यवर्त्ती पाँच जवन यदि पुनः प्रतिसन्धिफल देंगे तो 'आनन्तर्य एवं नियतमिथ्यादृष्टि सप्तमजवन के कारण अवीचि में उत्पन्न होने के अनन्तर मध्यवर्त्ती जवनों के कारण पुनः अवीचि में उत्पन्न होना पड़ेगा' किन्तु ऐसा नहीं हो सकता।

'अट्ठसालिनी' के "नानाचेतनाहि कम्मे आयूहिते ··· बहुका व पटिसन्धियो होन्ति"[2] – इस कथन में भी एक वीथि में आनेवाली सात जवनचेतनाओं को 'नाना चेतना' नहीं कहा गया है; अपितु 'पुब्बचेतना' (पूर्वचेतना), 'मुञ्चचेतना' एवं 'अपरचेतना' को ही 'नाना चेतना' कहा गया है। उन चेतनाओं द्वारा यदि कर्म आरब्ध किया जाता है तो पूर्व-अपरचेतनाओं के कारण प्रतिसन्धिफल अनेक हो सकते हैं।

आधार – उपर्युक्त विवेचन के आधार लक्खणसंयुत्त, चतुत्थ-पाराजिकट्ठकथा तथा 'विमतिविनोदनी' टीका-आदि हैं[3]।

गोघातक एक कसाई अपने गोघातक कर्म के कारण अनेक वर्षों तक नरक में पचता रहा, फिर भी कर्मों के अवशिष्ट रह जाने के कारण गृध्रकूट में अस्थिपुञ्जभूत प्रेत हुआ। इस कथा में कुछ आचार्यों के मतानुसार कहना पड़े तो गोघातकरूप प्राणातिपात कर्म को कर्मपथ सिद्ध करनेवाली वीथि में आनेवाले सात जवनों में से सप्तम जवन नामक उपपद्यवेदनीय कर्म द्वारा नरक में उत्पन्न होकर, उस वीथि के

1. अट्ठ०, पृ० २१६।
2. तु० – अट्ठ०, पृ० २१६।
3. वि० पि० अ०, द्वि० भा०, पृ० ६८; वि० वि० टी०, पृ० २४८।

मध्यवर्ती पाँच जवनों में से किसी एक जवनरूप अपरपर्यायवेदनीय कर्म के कारण प्रेत हुआ – इस प्रकार मानना पड़ेगा; किन्तु ऐसा नहीं होता। होता यह है कि गोघात कर्म करते समय प्राणातिपात कर्म को एक बार कर्मपथ होने के लिये पुब्बचेतना, मुञ्च-चेतना एवं अपरचेतना अपेक्षित होती हैं। कर्मपथ होनेवाली एक वीथि में आगत सभी जवनचेतनायें 'मुञ्चचेतना' है। कर्मपथ होनेवाली वीथि के पूर्व होनेवाली वीथियों में आगत चेतनायें 'पुब्बचेतना' हैं। कर्मपथवीथि के अनन्तर होनेवाली वीथियों की चेतनायें 'अपरचेतना' हैं। उनमें से 'मुञ्चचेतना' में आनेवाले सप्तम जवन के कारण नरक में प्रतिसन्धि लेने के अनन्तर पुब्बचेतना एवं अपरचेतना में से किसी एक वीथि में आनेवाली मध्यस्थ पाँच जवनचेतनाओं के कारण प्रेतयोनि में उत्पाद हुआ।

"तेन गोघातककम्मक्खणे पुब्बचेतना अपरचेतना सन्निट्ठापक(मुञ्च)चेतना ति एकस्मिं पि पाणातिपाते बहू चेतना होन्ति; नाना पाणातिपातेसु वत्तब्बमेव नत्थि। तत्थ (तीसु पुब्ब-मुञ्च-अपरचेतनासु) एकाय चेतनाय नरके पच्चित्वा तदञ्ञाचेतनासु एकाय अपरापरियचेतनाय इमस्मिं पेतत्तभावे निब्बत्तो ति दस्सेति'।"[1]

अपरपर्यायवेदनीय कर्म की शक्ति का क्षयकाल –

'अपरपर्यायवेदनीय कर्म तृतीयभव से लेकर निर्वाणपर्यन्त प्रवृत्तिफल दे सकता है' – इस आधार पर कुछ लोग 'कोई अपरपर्यायवेदनीय चेतना अनेक बार (पुनः पुनः) फल दे सकती है' – इस प्रकार विश्वास करते हैं; किन्तु ऐसा नहीं माना जा सकता। क्योंकि अपनी शक्ति के अनुसार फल दे देने के पश्चात् निर्वाणप्राप्ति से पूर्व भी उन चेतनाओं की शक्ति क्षीण हो जाती है। यदि फल नहीं दिया जाता है तो अन्तिम भव (निर्वाण) तक वह शक्ति सुरक्षित रहती है।

अनेक जातकों में किसी सत्त्व को जान से मारने से उसके फलस्वरूप नरक में पाक होकर उस सत्त्व के रोमों की संख्या के बराबर (पूर्व-अपर चेतनाओं के कारण) वह भी दूसरे सत्त्वों द्वारा काटा जाता है। अन्तिम बार दूसरों द्वारा मारे जाते समय वह अपने अकुशलों से मुक्त होने के कारण प्रसन्न होता है – ऐसी अनेक कथायें आती हैं।

'निमिजातक-अट्ठकथा' के "अपरापरियवेदनीयं पन विपाकं अदत्वा न नस्सति"[2] अर्थात् अपरपर्यायवेदनीय कर्म बिना फल दिये नष्ट नहीं होता। इस वचन से भी यह सिद्ध होता है कि वह (अपरपर्यायवेदनीय कर्म) फल दे देने के अनन्तर ही नष्ट होता है, पहले नहीं।

अहोसिकम्मं – "अहोसि कम्मं नाहोसि कम्मविपाको, अहोसि कम्मं नत्थि कम्म-विपाको, अहोसि कम्मं न भविस्सति कम्मविपाको"[3] – इस 'पटिसम्भिदामग्ग' पालि के आधार पर अट्ठकथाओं में 'अहोसि' – इस नाम का प्रयोग किया गया है। 'अहोसि च तं

१. वि० वि० टी०, प्र० भा०, पृ० २४८।

२. द्र० – जातक० अ०, (निमिजातक)।

३. पटि० म०, पृ० ३२२।

पाकट्ठानचतुक्कं

४४. तथा अकुसलं, कामावचरकुसलं, रूपावचरकुसलं, अरूपावचरकुसलञ्चेति पाकट्ठानवसेन*।

उसी तरह अकुशल कर्म, कामावचर कुशल कर्म, रूपावचर कुशल कर्म एवं अरूपावचर कुशल कर्म – इस प्रकार पाकस्थान वश से कर्म चार प्रकार के होते हैं।

कम्मञ्चाति अहोसिकम्मं' अर्थात् जो 'अहोसि' भी होता है और कर्म भी होता है, उसे 'अहोसिकर्म' कहते हैं। इस 'अहोसिकर्म' द्वारा न तो फल दिया ही गया है, न दिया जा रहा है और न दिया ही जायेगा[१]।

"दिट्ठधम्मवेदनीयादीसु पन बहूसु पि आयूहितेसु एकं दिट्ठधम्मवेदनीयं विपाकं देति, सेसानि अविपाकानि। एकं उपपज्जवेदनीयं पटिसन्धिं आकड्ढति, सेसानि अविपाकानि। एकेनानन्तरियेन निरये उपपज्जति, सेसानि अविपाकानि। अट्ठसु समापत्तीसु एकाय ब्रह्मलोके निब्बत्तति, सेसा अविपाका। इदं सन्धाय 'नाहोसि कम्मविपाको' ति वुत्तं[२]।"

अर्थात् यदि प्रत्युत्पन्न भव में दृष्टधर्मफल देनेवाले अनेक कर्म किये जाते हैं तो उनमें से एक कर्म ही फल देता है, शेष कर्म फल नहीं देते, वे 'अहोसि कर्म' होते हैं। अनेक उपपद्यवेदनीय कर्म किये जाने पर उनमें से यदि कोई एक कर्म ही द्वितीय भव में प्रतिसन्धि फल देता है तो शेष कर्म प्रतिसन्धिफल नहीं दे सकते, वे प्रवृत्तिफल दे सकते हैं; किन्तु यदि वे प्रवृत्तिफल भी नहीं देते हैं तो 'अहोसि कर्म' होते हैं। पाँच आनन्तर्य कर्म करने पर सबसे शक्तिशाली सङ्घभेदक कर्म प्रतिसन्धिफल देता है, शेष कर्म 'अहोसि कर्म' होते हैं। आठ समापत्तियों का लाभ करने पर एक ही समापत्ति प्रतिसन्धिफल देती है, शेष समापत्तियाँ 'अहोसि कर्म' होती हैं। इस प्रकार 'अहोसि कर्म' होनेवाले कर्म अनेक होते हैं। कर्मपथ होनेवाले अनेक छोटे मोटे कुशल कर्म किये जाने पर उनमें से महग्गत-आदि महत्त्वपूर्ण कुशल कर्मपथों द्वारा ही फल दिया जाने के कारण अन्य छोटे कुशल कर्मों को फल देने का अवकाश नहीं मिलता, अतः वे भी 'अहोसि कर्म' हो जाते हैं।

पाककालचतुष्क समाप्त।

पाकस्थानचतुष्क

४४. चार कर्मचतुष्कों में से कृत्य, पाकदानपर्याय एवं पाककालचतुष्कों के सूत्रान्तदेशनानय होने के कारण उन्हें विस्तारपूर्वक न कहकर, पाकस्थानचतुष्क के ही अभिधर्म

*. पाकठानवसेन – म० (ख)।

१. "'अहोसि' नामकं कम्मं अहोसिकम्मं। अहोसि कम्मं, भविस्सति कम्मं, अत्थि कम्मं, न तस्स विपाको ति' एवं वुत्तपाठवसेन आचरियेहि तथागहितनामधेय्यं सब्बसो अलद्धविपाकवारं कम्मं ति वुत्तं होति।" – प० दी०, पृ० १८४।
"अहोसि एव कम्मं, न तस्स विपाको अहोसि अत्थि भविस्सति वा ति एवं वत्तब्बकम्मं अहोसिकम्मं।" – विभा०, पृ० १२९; अ० नि० अ०, द्वि० भा०, पृ० ११३।

२. विसु० अ०, पृ० ४५८।

४५. तत्थ अकुसलं – कायकम्मं, वचीकम्मं, मनोकम्मञ्चेति कम्मद्वारवसेन तिविधं होति ।

उन चार कर्मों में अकुशल कर्म – कायकर्म, वाक्कर्म एवं मनःकर्म – इस प्रकार कर्मद्वारवश से तीन प्रकार का होता है ।

कायकम्मं

४६. कथं ? पाणातिपातो, अदिन्नादानं, कामेसुमिच्छाचारो चेति* कायविञ्ञत्तिसङ्खाते कायद्वारे बाहुल्लवुत्तितो कायकम्मं नाम ।

कैसे ? प्राणातिपात कर्म, अदिन्नादान (अदत्तादान) कर्म एवं काममिथ्याचार कर्म – इस प्रकार ये तीन कर्म 'काय-विज्ञप्ति' नामक कायद्वार में बहुलतया प्रवृत होने के कारण कायकर्म हैं ।

देशनानय होने के कारण उसे विस्तारपूर्वक कहने के लिये आचार्य 'तत्थ अकुसलं कायकम्मं' से लेकर कर्मचतुष्क की परिसमाप्ति तक उसका वर्णन करते हैं ।

४५-४६. तीन कायकर्म – कर्मों की उत्पत्ति के कारण को 'कर्मद्वार' कहते हैं । अकुशल कर्म, कर्मद्वार के साथ सम्बन्ध होने पर, तीन प्रकार के होते हैं; यथा – कायकर्म, वाक्कर्म एवं मनःकर्म ।

कायकर्म

उनमें से प्राणातिपात, अदिन्नादान एवं काममिथ्याचार – इन तीन कर्मों को 'कायकर्म' कहते हैं ।

पाणातिपातो – इसमें 'पाण' (प्राण) एवं 'अतिपात' – ये दो शब्द हैं । लोकव्यवहार में 'पाण' सत्त्व को कहते हैं । परमार्थ स्वभाव से रूपजीवित एवं नामजीवित 'पाण' हैं । 'अतिपात' शब्द में 'अति' शब्द शीघ्रार्थक एवं अतिक्रमणार्थक है । 'पात' का अर्थ निपात है । प्राण का अतिशीघ्र निपात करना 'प्राणातिपात' है । अर्थात् अपने कर्म के अनुसार पूरे समय तक न रहने देकर शीघ्र (समय से पूर्व) निपात करना 'प्राणातिपात' कहलाता है । अथवा – किसी शस्त्र-आदि द्वारा अतिक्रमण करके जीवितेन्द्रिय के निपात (विघात) करने की चेतना को 'प्राणातिपात' कहते हैं[1] । 'पाणस्स अतिपातो पाणातिपातो' सत्त्व अर्थात् जीवितेन्द्रिय का शीघ्रतया अतिक्रमण करके निपात करने की कारणभूत चेतना ही प्राणातिपात कर्म है ।

---

*. च – स्या० ।

१. "पाणं अतिपातेन्ति एतेनाति पाणातिपातो, अतिपातनञ्चेत्थ सरसतो पतितुं अदत्वा अन्तरा एव पयोगबलेन पातनं दट्ठब्बं ।" – प० दी०, पृ० १८६ ।
"पाणस्स सनिकं पतितुं अदत्वा अतीव पातनं पाणातिपातो ।" – विभा० पृ० १३० ।

उपर्युक्त कथन के अनुसार किसी दूसरे सत्त्व का स्वयं वध करण रूप कायप्रयोग एवं 'उसका वध कर दो'--इस प्रकार के आज्ञारूप वाक्प्रयोग का उत्पाद करनेवाली वधकचेतना 'प्राणातिपात' है[1]।

अङ्गप्रयोग – ये अकुशल कर्म कर्मपथ होनेवाले भी होते हैं और कर्मपथ न होनेवाले भी होते हैं (अपायभूमि तक पहुँचानेवाले पथभूत कर्म को ही 'कर्मपथ' कहते हैं)। यदि वे (अकुशल कर्म) कर्मपथ होते हैं तो उनमें अपायभूमि में प्रतिसन्धि फल देने में समर्थ जनकशक्ति मुख्य रूप से होती है। यदि कर्मपथ नहीं होते हैं तो वे प्रतिसन्धिफल देनेवाले होते भी हैं और नहीं भी होते। 'कर्मपथ हुआ कि नहीं' – इसके ज्ञान का निश्चय करने के लिये 'उससे सम्बद्ध अङ्ग (लक्षण) सम्पन्न (परिपूर्ण) हुए हैं कि नहीं' – यह देखना पड़ेगा। यदि सम्बद्ध अङ्ग सम्पन्न होते हैं तो कर्मपथ होता है और यदि वे सम्पन्न नहीं होते तो कर्मपथ न होकर केवल कायदुश्चरित, वाग्दुश्चरित या मनोदुश्चरित ही होता है। इसलिये यहाँ पर अङ्ग एवं प्रयोग का वर्णन किया जायेगा---

"पाणो च पाणसञ्ञिता घातचित्तञ्चुपक्कमो।
तेनेव मरणञ्चाति पञ्चिमे वधहेतुयो[2]॥"

इस गाथा के अनुसार प्राण, प्राण की संज्ञा (अर्थात् यह मालूम होना चाहिये कि यह प्राण है), घात (वधक) – चित्त, उपक्रम अर्थात् उस कर्म में उत्साहरूप वीर्य तथा उस उत्साह के कारण मृत्यु – ये पाँच प्राणातिपात की वधक चेतना के कारणभूत

"तत्थ पाणस्स अतिपातो पाणातिपातो नाम; पाणवधो, पाणघातो ति वुत्तं होति। पाणो ति चेत्थ वोहारतो सत्तो, परमत्थतो जीवितिन्द्रियं, तस्मिं पन पाणे पाणसञ्ञिनो जीवितिन्द्रियुपच्छेदक-उपक्कमसमुट्ठापिका कायवचीद्वारानं अञ्ञतरद्वारप्पवत्ता वधकचेतना पाणातिपातो।" – अट्ठ०, पृ० ८०; विभ० अ०, पृ० ३८४।

१. "परपाणे पाणसञ्ञिनो तस्स जीवितेन्द्रियसन्तानुपच्छेदकस्स कायवचीपयोगस्स समुट्ठापिका वधकचेतना पाणातिपातो नाम।" – प० दी०, पृ० १८६।
"तस्मिं पाणे पाणसञ्ञिनो जीवितेन्द्रियुपच्छेदकप्पयोगसमुट्ठापिका वधकचेतना पाणातिपातो।" – विभा०, पृ० १३०।
तु० – "प्राणातिपातः सञ्चित्याभ्रान्त्यैव परमारणम्।" –
–अभि० को० ४:७३ का०, पृ० ११०।
"प्राणातिपातो धीपूर्वमभ्रान्त्या परमारणम्।" –
–अभि० दी० १९५ का०, पृ० १५६।
"यदि खलु 'हनिष्यामि हन्म्येनम्' इति सञ्चित्याभ्रान्तचित्तः परं जीविताद् व्यपरोपयति एवं प्राणातिपातो भवति। प्राणो वा वायुः कायचित्ताश्रितो वर्तते; तमतिपातयतीति प्राणातिपातः।" – वि० प्र० वृ०, पृ० १५७।

२. तु० – वि० पि० अ० (समन्तपासादिका), द्वि० भा०, पृ० ३९।
"तस्स पञ्च सम्भारा होन्ति – पाणो, पाणसञ्ञिता, वधकचित्तं, उपक्कमो, तेन मरणं ति।" – अट्ठ०, पृ० ८०।

अङ्ग होते हैं। इन पाँचों अङ्गों के परिपूर्ण होने पर प्राणातिपात कर्मपथ होता है। पूर्व के चार अङ्गों के परिपूर्ण (सम्पन्न) होने पर भी यदि पाँचवा अङ्ग सम्पन्न नहीं होता है अर्थात् यदि मरण नहीं होता है तो प्राणातिपात कर्मपथ नहीं होता। आपत्ति (अपराध) का छोटा होना या बड़ा होना मरनेवाले सत्त्व के छोटे होने एवं बड़े होने पर निर्भर करता है तथा सत्त्व के शील-आदि पर भी निर्भर करता है। यदि सत्त्व स्थूल होता है तो उसके जीवितकलाप भी बहुत होते हैं, अतः उसके वध में अधिक आपत्ति (पाप) होती है। यदि सत्त्व शीलवान् होता है तो उसके शीलगुण के कारण उसके वध का पाप भी बड़ा होता है। यदि दो सत्त्व छोटाई या स्थूलता में अथवा शील में बराबर होते हैं तो उनका वध करते समय, जिसको मारने में अधिक प्रयोग (प्रयत्न) होगा, उसके वध में अधिक पाप होगा[1]।

यहाँ प्रयोग छह प्रकार के होते हैं—

"साहत्थिको आणत्तिको निस्सग्गियो च थावरो।
विज्जामयो इद्धिमयो पयोगा छयिमे मता[2]॥"

१. 'साहत्थिक' प्रयोग—अपने हाथ से, दण्ड शस्त्र-आदि लेकर मारना ही 'साहत्थिक प्रयोग' है।

२. 'आणत्तिक' प्रयोग—मुख द्वारा, लिखकर, सङ्केत बनाकर या सन्देशवाहक द्वारा वध की जो आज्ञा दी जाती है उसे 'आणत्तिक प्रयोग' कहते हैं।

३. 'निस्सग्गिय' प्रयोग—तीर, बन्दूक, भाला, पत्थर या दण्ड-आदि फेंककर वध करना 'निस्सग्गिय प्रयोग' है।

४. 'थावर' प्रयोग—मारने के लिये मार्ग में गड्ढा आदि बनाकर रखना या टाइम-बम-आदि रख देना तथा बन्दूक-आदि मारक शस्त्र बनाना आदि 'स्थावर-प्रयोग' हैं। वधकचेतना द्वारा बनाये हुए शस्त्रों से जब युद्ध होता है और प्राणियों का वध होता है तो 'थावरप्रयोग' द्वारा शस्त्र बनानेवाले को भी प्राणातिपात होता है।

५. 'विज्जामय' प्रयोग—तन्त्र, मन्त्र, योगिनी-आदि द्वारा वध करना 'विज्जामय प्रयोग' है।

६. 'इद्धिमय' प्रयोग—कर्मज ऋद्धि के बल से वध करना 'इद्धिमय प्रयोग' है।

---

१. "सो गुणविरहितेसु तिरच्छानगतादीसु पाणेसु खुद्दके पाणे अप्पसावज्जो, महासरीरे महासावज्जो। कस्मा? पयोगमहन्तताय। पयोगसमत्ते पि वत्थुमहन्तताय। गुणवन्तेसु मनुस्सादीसु अप्पगुणे पाणे अप्पसावज्जो, महागुणे महासावज्जो। सरीरगुणानं पन समभावे सति किलेसानं उपक्कमानं च मुदुताय अप्पसावज्जो, तिक्खताय महासावज्जो वेदितब्बो।"—अट्ठ०, पृ० ८०; विभ० अ०, पृ० ३८६-३८७।

२. तु०—वि० पि० अ०, द्वि० भा०, पृ० ३९।
"छप्पयोगा—साहत्थिको, आणत्तिको, निस्सग्गियो, थावरो, विज्जामयो, इद्धिमयो ति।"—अट्ठ०, पृ० ८०।

प्रश्न – पहले जो यह कहा गया है कि जीवितेन्द्रिय का शीघ्रतया निपात करना प्राणातिपात है, उसमें यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कितनी भी शीघ्रता की जाये तब भी जब तक १७ चित्तक्षण पूर्ण नहीं होंगे तब तक इस बीच जीवितेन्द्रिय का निपात नहीं किया जा सकता, तथा जब १७ चित्तक्षण पूर्ण हो जायेंगे तब स्वयं ही जीवितेन्द्रिय का निरोध हो जायेगा, अतः किस तरह जीवितेन्द्रिय का शीघ्रतया निपात सम्पन्न होगा?

उत्तर – प्राणातिपात चेतना जीवितेन्द्रिय का शीघ्रतया निपात करनेवाली चेतना नहीं है; अपितु एक भव की जीवितेन्द्रियसन्तति की चिरकाल तक प्रवृत्ति न होने देने के लिये शीघ्रतया उसका उच्छेद करने की चेतना है, उसी को 'प्राणातिपात' कहते हैं।

जब एक चित्त निरुद्ध होता है तब वह दूसरे चित्त के उत्पाद के लिये 'अनन्तर' आदि शक्तियों से उपकार करता है। उसी प्रकार जब एक जीवितरूप कलाप निरुद्ध होता है तब वह दूसरे जीवितरूपकलाप के उत्पाद के लिये 'अनन्तर' आदि शक्तियों से उपकार करता है। जीवितेन्द्रिय के आश्रयभूत महाभूतों पर जब शस्त्र-आदि का पात होता है तब वे महाभूत एवं जीवितरूप यद्यपि १७ चित्तक्षणों के पूर्ण होने तक जीवित रहकर ही निरुद्ध होते हैं फिर भी शस्त्रपात के कारण वे दुर्बल हो जाते हैं। दुर्बल हो जाने के कारण वे पुनः अनन्तर उत्पन्न होनेवाले रूपजीवितकलाप का अधिक उपकार नहीं कर पाते। इसलिये अनन्तर उत्पन्न होनेवाले रूपजीवितकलाप भी अत्यन्त दुर्बल उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जीवित कलापों की सन्तति के दुर्बल हो जाने के कारण वह चिरकाल तक जीवित न रहकर अल्पकाल में ही उच्छिन्न हो जाती है[1]।

अदिन्नादानं – 'अदिन्नस्स आदानं अदिन्नादानं' अर्थात् अदत्त वस्तु को ग्रहण करने का प्रयोग अथवा ग्रहणकरण रूप चेतना 'अदिन्नादान' है[2]। स्वामी द्वारा अदत्त वस्तु

---

१. तु० – "विनाशानुषक्ताः खलु संस्काराः प्रतिक्षणविनश्वराश्चाभ्युपगम्यन्ते। तेषामित्थम्भूतानां स्थितिशक्तिक्रियाऽभावे सत्यनागतानाञ्च तुल्यातुल्यजातीयानां निरात्मकत्वाविशेषे केन हन्त्रा किमापद्यते?...

अयं त्वत्र परिहारः – हन्तुर्हेतुसामर्थ्योपघातकरणे सत्यनागतसंस्कारशवितस्थिग्रधानविधानविघ्नकरणात् प्राणातिपातोपपत्तिः। कस्य पुनस्तज्जीवितं यस्तेन वियोज्यते, ते वा प्राणा इति? प्रसिद्धस्य पुद्गलस्य योऽसावेवं नामैवं गोत्र इति विस्तरः।" – वि० प्र० वृ०, पृ० १५७-१५८।

२. "अदिन्नस्स आदानं 'अदिन्नादानं'; परस्सहरणं थेय्यं, चोरितं ति वुत्तं होति। ...तस्मिं पन परपरिग्गहिते परपरिग्गहितसञ्ञिनो तदादायक-उपक्कमसमुट्ठापिका थेय्यचेतना अदिन्नादानं।" – अट्ठ०, पृ० ८१।

"अदिन्नं आदियन्ति एतेना ति अदिन्नादानं। परपरिग्गहिते परपरिग्गहितसञ्ञिनो ततो वियोगकरणस्स कायवचीपयोगस्स समुट्ठापिका अच्छिन्दकचेतना आदिन्नादानं नाम" – प० दी०, पृ० १८६; विभ० अ०, पृ० ३८४।

"परभण्डे तथासञ्ञिनो तदादायकपयोगसमुट्ठापिका थेय्यचेतना अदिन्नादानं।" – विभा०, पृ० १३१।

तु० – "अदत्तादानं परस्वस्वीकरणं बलाच्छलात्"। – अभि० को० ४:७३ का०, पृ० १११। "अत्यक्तान्यधनादानमदत्तादानमुच्यते।" – अभि० दी० १९५ का०, पृ० १६०।

का, स्वयं चोरी आदि करके या झूठ बोलकर या आज्ञा देकर, ग्रहणरूप काय-प्रयोग एवं वाक्प्रयोग का उत्पाद करनेवाली चेतना ही 'अदिन्नादान' है। विनय के अनुसार तिरच्छान (तिरश्चीन) की सम्पत्ति ले लेने में आपत्ति नहीं होती; किन्तु सूत्रान्त (सुत्तन्त) एवं अभिधर्म के अनुसार अदिन्नादान कर्म हो जाता है।

इस अदिन्नादान कर्म के कर्मपथ होने में भी पाँच अङ्ग होते हैं; यथा—

"परस्स सं तथा सञ्ञा थेय्यचित्तञ्चुपक्कमो।
तेन हारो ति पञ्चङ्गा, थेय्यस्स यतना समा[1]॥"

दूसरे की सम्पत्ति का होना, 'यह दूसरे की सम्पत्ति है'—ऐसा ज्ञान होना, स्तेय चित्त का होना, उपक्रम (स्तेय कर्म में कायप्रयोग या वाक्प्रयोग द्वारा प्रयत्न का होना), उस प्रयत्न द्वारा अपहरण किया जाना—इस प्रकार स्तेय कर्म के पाँच अङ्ग होते हैं। 'यतन' अर्थात् प्रयोग भी प्राणातिपात कर्म के सदृश छह ही होते हैं[2]।

अदिन्नादान रूपी आपत्ति का बड़ा या छोटा होना भी पूर्ववत् सम्पत्ति के मूल्य एवं परिमाण के अधिक होने या कम होने के आधार पर होता है; तथा उस सम्पत्ति के स्वामी के शील-आदि पर भी निर्भर करता है[3]।

कामेसुमिच्छाचारो - 'कामेसु मिच्छाचारो कामेसुमिच्छाचारो' अर्थात् काम में पापाचार करना ही काममिथ्याचार है[4]। इसके भी चार अङ्ग एवं एक प्रयोग होता है;—

१. तु० — "तस्स पञ्च सम्भारा होन्ति — परपरिग्गहितं, परपरिग्गहितसञ्ञिता, थेय्यचित्तं, उपक्कमो, तेन हरणं ति।" — अट्ठ०, पृ० ८१।

२. "छप्पयोगा — साहत्थिकादयो व।" — अट्ठ०, पृ० ८१।

३. अट्ठ०, पृ० ८१; विभ० अ०, पृ० ३८६-३८७।

४. "कामेसुमिच्छाचारो ति एत्थ पन 'कामेसू' ति मेथुनसमाचारेसु। 'मिच्छा-चारो' ति एकन्तनिन्दितो लामकाचारो। लक्खणतो पन असद्धम्माधिप्पायेन कायद्वारप्पवत्ता अगमनीयट्ठान-वीतिक्कमचेतना 'कामेसुमिच्छाचारो'।" — अट्ठ०, पृ० ८१; विभ० अ०, पृ० ३८४।

"अगमनीयवत्थूसु मग्गेन मग्गपटिपादकस्स कायप्पयोगस्स समुट्ठापिका अस्साद-चेतना कामेसुमिच्छाचारो नाम।" — प० दी०, पृ० १८६।

"मेथुनवीतिक्कमसङ्खातेसु कामेसु मिच्छाचरणं 'कामेसुमिच्छाचारो'।" — विभा०, पृ० १३०।

तु० — "अगम्यागमनं काममिथ्याचारः चतुर्विधः।" — अभि०को० ४:७४ का०, पृ० ७४।

"परस्त्रीगमनं काममिथ्याचारो विकल्पवान्।" — अभि० दी० १८६ का०, पृ० १६०।

"अगम्यगमनं खल्वपि काममिथ्याचारः। स च बहुप्रकारविकल्पो भवति। अगम्यां गच्छति, मातरं वा दुहितरं वा परपरिगृहीतां वा स्वामप्यनङ्गे गच्छत्यदेशे च। नियमस्थां वा। अभ्रान्त्येत्युक्तम्।" — वि० प्र० वृ०, पृ० १६०।

"वत्थुं अगमनीयञ्च तस्मि सेवनचित्तता।
पयोगो मग्गेन मग्गपटिपत्याधिवासिनं॥
इति कामस्स चत्तारो पयोगेको सहत्थिको[1]।"

१. अगमनीय वस्तु का होना, २. उसके सेवन का चित्त होना, ३. प्रयोग (सेवन के लिये प्रयत्न होना), ४. मार्ग द्वारा मार्ग के सेवन में रसानुभूति या मार्ग से मार्ग की प्राप्ति की कामना—इन चार अङ्गों की परिपूर्णता से 'कामेसुमिच्छाचार' (काम-मिथ्याचार) कर्मपथ होता है।

इस कर्मपथ का केवल एक 'साहत्थिक' प्रयोग ही होता है।

इन चार अङ्गों के बारे में बहुत विवाद है।

कुछ आचार्य कहते हैं कि स्वयं अपने प्रयोग न करके दूसरों द्वारा किये जाने-वाले प्रयोग में यदि रसानुभूति होती है तो प्रयोग न होने के कारण कर्मपथ नहीं होता।

अन्य आचार्य कहते हैं कि प्रयोग नहीं होने पर भी यदि सेवन करने का चित्त होता है तो कर्मपथ हो ही जाता है, क्योंकि कभी कभी स्त्री-आदि द्वारा प्रयोग न होने पर भी कृत्य सम्पन्न होता है।

दूसरे आचार्य कहते हैं कि बिना प्रयोग के भी यदि कृत्य सम्पन्न हो जाता है तो चार अङ्ग नहीं होने चाहिये, तीन ही होने चाहिये। किन्तु 'अट्ठकथा' में चार अङ्ग कहे गये हैं, इसलिये चार अङ्ग परिपूर्ण होने चाहिये[2]।

इस 'कामेसुमिच्छाचार' रूपी आपत्ति का छोटा होना या बड़ा होना—आदि अगमनीय वस्तु के शीलवान् होने या न होने पर निर्भर करता है[3]।

ये अगमनीय वस्तुयें पुरुषों के लिये २० तथा स्त्रियों के लिये १२ होती हैं[4]। यथा—

१. मातुरक्षिता (मातुरक्खिता)
२. पितुरक्षिता (पितुरक्खिता)
३. मातापितुरक्षिता (मातापितुरक्खिता)
४. भगिनीरक्षिता (भगिनिरक्खिता)
५. भ्रातुरक्षिता (भातुरक्खिता)
६. ज्ञातिरक्षिता (ञातिरक्खिता)
७. गोत्ररक्षिता (गोत्तरक्खिता)
८. धर्मरक्षिता (धम्मरक्खिता—समान धर्म का आचरण करनेवाली वृद्ध भिक्षुणी-आदि द्वारा रक्षित)

---

१. तु० – "तस्स चत्तारो सम्भारा – अगमनीयवत्थु, तस्मि सेवनचित्तं, सेवनप्पयोगो, मग्गेन मग्गपटिपत्ति-अधिवासनं। एको पयोगो साहत्थिको व।" – अट्ठ०, पृ० ८१।

२. प० दी०, पृ० १८६-१८७।

३. "सो पनेस मिच्छाचारो सीलादिगुणरहिते अगमनीयट्ठाने अप्पसावज्जो, सीलादि-गुणसम्पन्ने महासावज्जो।" – अट्ठ०, पृ० ८१; विभ० अ०, पृ० ३८६।

४. द्र० – अट्ठ०, पृ० ८१।

इन आठ प्रकार की स्त्रियों के कामवस्तु (योनि) का कोई स्वामी नहीं होता। अतः ये अपनी कामवस्तु को अपनी इच्छानुसार दूसरों को दे सकती हैं। अतः दूसरों को देने पर भी इन्हें काममिथ्याचार नहीं होता, केवल कायदुश्चरित होता है।

९. **सपरिदण्डा**— 'यस्सा गमने रञ्ञा दण्डो ठपितो सा सपरिदण्डा' अर्थात् जिसके गमन में राजा द्वारा दण्ड निर्धारित किया गया है वह 'सपरिदण्डा' है।

१०. **सारक्खा**— "सारक्खा" नाम गब्भे पि परिग्गहिता होति – 'मय्हं एसा' ति' अर्थात् गर्भावस्था से ही जो किसी द्वारा परिगृहीत होती है – 'यह मेरी है' वह 'सारक्खा' है। आजकल भी सगाई-आदि द्वारा जिसकी बात पक्की हो गई रहती है उसे भी 'सारक्खा' कह सकते हैं।

११. **धनक्कीता**— धन द्वारा खरीदी हुई स्त्री।

१२. **छन्दवासिनी**— माता-पिता की अनुज्ञा के विना अपने द्वारा मनोनीत पति के घर वास करनेवाली स्त्री।

१३. **भोगवासिनी**— किसी पुरुष की सम्पत्ति का भोग करने के लिये अपने आप उसे पति बनाकर उसके घर में वास करनेवाली स्त्री।

१४. **पटवासिनी**— पट (=वस्त्रों) की प्राप्ति के कारण होनेवाली स्त्री।

१५. **ओदपत्तकिनी**— पाणिगृहीती – अर्थात् पात्र में जल गिराकर ग्रहण की गयी स्त्री।

१६. **ओभटचुम्बटा**— वह स्त्री जो पहले लकड़ी, पानी आदि ढोने के लिये अपने सिर पर चोमली रखे रहती थी; किन्तु अब पति मिल जाने के कारण जिसकी चोमली हट चुकी है।

१७. **धजाहटा**— पराजित देश से बन्दी बनाकर लायी हुई स्त्री।

१८. **कम्मकारी भरिया**—पत्नी के रूप में रखी हुई नौकरानी।

१९. **दासी भरिया**— पत्नी के रूप में रखी हुई दासी।

२०. **मुहुत्तिका**— पैसा देकर कुछ समय के लिये रखी गयी स्त्री – वेश्या-आदि।

उपर्युक्त १२ स्त्रियों की कामवस्तु का कोई स्वामी अवश्य होता है, अतः ये अपने पतियों के साथ सहवास कर सकती हैं। अपनी कामवस्तु को दूसरों को देने का इन्हें अधिकार नहीं है। यदि देती हैं तो इन्हें 'कामेसुमिच्छाचार' आपत्ति होती है। पैसा लेकर अपनी कामवस्तु को देनेवाली वेश्या, जिससे पैसा लिया है, उस पुरुष के साथ कृत्य सम्पन्न होने से पूर्व यदि किसी अन्य पुरुष से सहवास करती है तो उसे काममिथ्याचार होगा।

सङ्क्षेपतः मातुरक्खिता-आदि ८ स्त्रियों द्वारा अपनी कामवस्तु को दूसरों को देने पर भी काममिथ्याचार नहीं होता। सारक्खा-आदि १२ स्त्रियाँ यदि अपने पति के अतिरिक्त अन्य पुरुषों को अपनी कामवस्तु देंगी तो उन्हें काममिथ्याचार होगा। पुरुषों के लिये – अपनी पत्नी के अतिरिक्त उपर्युक्त सभी बीसों प्रकार की स्त्रियों से

सहवास करने पर काममिथ्याचार होता है। वह अपने धन से खरीदी हुई धनक्कीता आदि के साथ वास कर सकता है, अन्य से नहीं।

प्रश्न – १. अन्धकार में परपत्नी को स्वपत्नी समझकर गमन करनेवाला तथा अपना पति समझकर स्वीकृति देनेवाली स्त्री, २. अपनी पुत्री के साथ गमन करनेवाला पिता, ३. वेश्यागामी पुरुष एवं ४. तिरश्चीन (तिरच्छान) मादा के साथ या पागल औरत के साथ गमन करनेवाला – इन चार प्रकार के पुद्गलों को 'कामेसुमिच्छाचार' आपत्ति होगी कि नहीं ?

उत्तर – १. यहाँ पर पुरुष एवं पर स्त्री, दोनों अगमनीय वस्तु होने के कारण उन्हें 'मिच्छाचार' आपत्ति अवश्य होगी। लेकिन यह पापाचरण गलती (भ्रम) से होने के कारण तीव्र नहीं होगा। 'अभिधर्मनय' के अनुसार पापचेतना होने के कारण यह तीव्र भी हो सकता है।

२. यदि पुत्री माता के जीवित रहने के कारण मातृरक्षिता होगी तो काममिथ्याचार होगा। माता के न होने पर भगिनी एवं भ्राता द्वारा रक्षिता होने पर भी पिता प्रमुखतया रक्षक होता है, अतः काममिथ्याचार नहीं होगा; परन्तु पिता के साथ न रहकर यदि वह पुत्री भाई, भगिनी या धर्मचारिणी के साथ रहती है तो पिता को पातक होगा।

३. वेश्याओं के माता-पिता के राजी न होने पर भी, उन वेश्याओं द्वारा अवैध व्यापार चला कर जीविकोपार्जन करनेवाला उनका स्वामी (ऐसा आदमी जो कुछ वेश्याओं को रखकर उनसे अवैध व्यापार चला कर अपना जीविकोपार्जन करता है) यदि राजी होगा तो काममिथ्याचार नहीं होगा।

४. जो तिरच्छान मादा किसी स्वामी के अधीन होती है या नाग-आदि जातियों में मादा अपने माता पिता द्वारा संरक्षिता होती है, उस प्रकार की तिरच्छानमादा में गमन करने से काममिथ्याचार होता है। यदि इस प्रकार की स्थिति न होगी तो काममिथ्याचार नहीं होगा। पागल औरत भी यदि अपने माता पिता या किसी सम्बन्धी द्वारा संरक्षिता होगी तो मिथ्याचार होगा। यदि न होगी तो नहीं। (इन उत्तरों के बारे में मतभेद हो सकता है, अतः इनका अपने अङ्गों के साथ विचार 'विनयपिटकसङ्घादिसेस-सिक्खापदपालि, अट्ठकथा एवं टीकाओं को देखकर करना चाहिये।)

सुरापान – सुरापान करना अथवा सुरापान की कारणभूत चेतना को 'सुरापान' कहते हैं[1]। यह सुरापान 'अकुशल कर्मपथ है' – ऐसा साक्षात् नहीं कहा जा सकता। 'मूलटीका' के अनुसार, सभाग कर्मपथ होने के कारण उस (सुरापान) को अकुशल कर्मपथों में परिगणित किया गया है[2]। पाँच कामगुणों में कामस्पर्श स्प्रष्टव्यालम्बन कामगुण होता है एवं सुरापान रसालम्बन कामगुण होता है, अतः जैसे स्प्रष्टव्यालम्बन कामगुण को मिथ्याचार कहते हैं, उसी तरह रसालम्बन कामगुण (सुरापान) को भी एक प्रकार का मिथ्याचार माना जाता है। मूल टीका के इस उपर्युक्त वचन का अनुगमन करके विभावनीकार ने भी

१. "याय चेतनाय तं पिवन्ति सा पमादकारणत्ता पमादट्ठानं; तस्मा सुरामेरयमज्जपमादट्ठाना।" – विभ० अ०, पृ० ३८४।

२. द्र० – विभ० मू० टी०, पृ० १८६।

कहा है कि "सुरापानं पि एत्थेव संगय्हतीति वदन्ति, रससङ्खातेसु कामेसु मिच्छाचार-भावतो[1]।"

"उपकारकत्तेन दससु पि कम्मपथेसु" के अनुसार[2] वह (सुरापान) दसों कर्मपथों में उपकार करनेवाला है। जैसे – कोई स्वभाव से भीरु पुद्गल भी यदि सुरापान करता है तो वह निर्भय होकर प्राणातिपात, काममिच्छाचार-आदि कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है तथा सुरापान से मृषावाद-आदि वाक्कर्म एवं अभिध्या-आदि मनःकर्म भी मुख्यरूप से होते हैं, अतः यह सुरापान दस अकुशल कर्मपथों का आधारभूत होता है[2]। इसीलिये 'कुम्भजातक' में सुरा बेचते हुए इन्द्र कहते हैं कि –

> "यं वे पिवित्वा दुच्चरितं चरन्ति,
> कायेन वाचाय च चेतसा च।
> निरयं वजन्ति दुच्चरितं चरित्वा,
> तरसा पुण्णं कुम्भमिमं कीणाथ[3]॥"

कम्मपथवाद – जैसे "पाणातिपातो भिक्खवे! आसेवितो भावितो..."[4] – इस प्रकार की देशना की गयी है उसी तरह अङ्गुत्तरपालि में –

"सुरामेरयपानं, भिक्खवे! आसेवितं भावितं बहुलीकतं निरयसंवत्तनिकं तिरच्छान-योनिसंवत्तनिकं पेत्तिविसयसंवत्तनिकं। यो सब्बलहु सो सुरामेरयपानस्स विपाको मनुस्स-भूतस्स उम्मत्तकसंवत्तनिको होतीति[5]" –

अर्थात् भिक्षुओ! सुरामेरयपान, आसेवित, भावित एवं बहुलीकृत किया गया निरय का प्रापक, तिरश्चीन योनि का प्रापक एवं पितृस्थान का प्रापक होता है। सुरापान का जो सबसे छोटा फल है वह भी मनुष्य को उन्मत्त करनेवाला होता है। तथा 'सिक्खापद-विभङ्गट्ठकथा' में भी "कोट्ठासतो पञ्च पि (पाणातिपातादयो) कम्मपथा एव[6]" –

---

१. विभा०, पृ० १३१; द्र० – प० दी०, पृ० १८७।

२. तु० – "सुरापानं पसतमत्तस्स पाने अप्पसावज्जं, अञ्जलिमत्तस्स पाने महासावज्जं; कायचालनसमत्थं पन बहुं पिवित्वा गामघातनिगमघातकम्मं करोन्तस्स एकन्तमहासावज्जमेव।" – विभ० अ०, पृ० ३८६।

द्र० – अभि० को० ४:३४ का०, पृ० ६७; अभि० दी० १६४ का०, पृ० १२७-१२८।

"मद्यपानेऽपि स्मृतिलोपो भवति, सर्वशिक्षापदक्षोभो भवतीत्यतः प्रतिक्षेपण-सावद्यमपि सन्मद्यपानं कुशाग्रेणापि भवता नाभ्यनुज्ञातम्।" – वि० प्र० वृ०, पृ० १२८; स्फु०, पृ० ३७९-३८०।

३. जातक, प्र० भा० (कुम्भजातक), पृ० ३६३। द्र० – प० दी०, पृ० १८७-१८८।

४. अ० नि०, तृ० भा०, पृ० ३४५।

५. अ० नि०, तृ० भा०, पृ० ३४६।

६. विभ० अ०, पृ० ३८५।

द्वारा प्राणातिपात–आदि पाँच अकुशल कर्मों को कर्मपथ कहा गया है। इसीलिये औषध के रूप में भी सुरापान करने पर तथा उसको पीकर दुश्चरित न करने पर भी कर्मपथ होता है। इस प्रकार कम्मपथवादी कहते हैं[1]।

अकम्मपथवाद–अकर्मपथवादी उपर्युक्त विचार का प्रतिवाद करते हुए कहते हैं कि 'सुरामेरयपानं भिक्खवे...' आदि पालि, मुख्यतः कर्मपथ कहनेवाली पालि नहीं हैं, अपितु नरकगमन-आदि फलों को कहने वाली है। नरक-आदि में उत्पाद भी औषध के रूप में सुरा के सेवन से नहीं होगा। 'यं वे पिवित्वा दुच्चरितं चरन्ति...' आदि कुम्भ-जातक' के अनुसार सुरापान के अनन्तर दुश्चरित करने पर ही नरक-आदि में 'उत्पाद' हो सकता है–ऐसा जानना चाहिये।

"कोट्ठासतो पञ्चपि (पाणातिपातादयो) कम्मपथा एव" यह भी कर्मपथ कहने वाला वाक्य नहीं है, अपितु यह 'कम्मपथकण्ड', 'झानकण्ड' आदि नाना प्रकार के काण्डों में से प्राणातिपात-आदि, 'झानकण्ड', आदि में परिगणित न होकर 'कम्मपथकण्ड' में ही सङ्गृहीत होते हैं–इस प्रकार काण्डों का विभाजन करनेवाला वाक्य है। इसीलिये 'मूलटीका' में "'कम्मपथा वा' ति कम्मपथकोट्ठासिका व[2]"–ऐसा कहा गया है। 'अनुटीका' में भी "कम्मपथकोट्ठासिका एव, न झानादिकोट्ठासिका[3]"–इस प्रकार कहकर 'एव' शब्द द्वारा ध्यानादि कोट्ठासों का निवारण किया गया है। इन कथनों के अनुसार सुरापान, सुरापान का कारणभूत चेतना-चैतसिक होने से कम्मपथ भाग (कोट्ठास) में होता है, ध्यानादि-विभाग में नहीं–ऐसा प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार के प्रतिपादन से सुरापान 'कर्मपथ होता ही है'–ऐसा नहीं कहा जा सकता। 'खुद्दकपाठ-अट्ठकथा' में सुरापान कर्मपथ नहीं कहा गया है। वह केवल कायकर्ममात्र होता है–ऐसा कहा गया है।

"मुसावादो वचीकम्ममेव, यो पन (मुसावादो) अत्थभञ्जको, सो कम्मपथप्पत्तो, इतरो कम्ममेव। सुरामेरयमज्जपमादट्ठानं कायकम्ममेव[4]।"

निर्णय–उपर्युक्त साधक प्रमाणों के आधार पर ज्ञात होता है कि केवल सुरापान कर्मपथ नहीं होता। यदि कर्मपथ नहीं होता है तो 'यह अपायप्रतिसन्धि देने में समर्थ जनकशक्ति होता है"–ऐसा मुख्य रूप से नहीं कहा जा सकता। कुछ लोगों का सुरापान अपायप्रतिसन्धि दे सकता है, कुछ का नहीं–ऐसा जानना चाहिये। यथा—

"कुसलाकुसलापि च पटिसन्धिजनका येव 'कम्मपथा' ति वुत्ता। वुत्तावसेसा पटिसन्धिजनने अनेकन्तिकत्ता 'कम्मपथा' ति न वुत्ता[5]।"

"'वुत्तावसेसा' ति सुरापानादयो तब्बिरमणादयो च[6]।"

---

१. प० दी०, पृ० १८६।

२. विभ० मू० टी०, पृ० १८६।

३. विभ० अनु०, पृ० १६०।

४. खु० पा० अ०, पृ० २२।

५. पटि० म० अ०, प्र० भा०, पृ० २७३।

६. पटिसम्भिदामग्गटीका।

जैसे कोई व्यक्ति स्वयं अकुशल कर्म न करके दूसरों को अकुशल कर्म करने की प्रेरणा देता है और प्रेरणा देने के कारण वह अधिक पातक का भागी होता है, इसी तरह सुरापान स्वयं में पातक न होने पर भी प्राणातिपात-आदि दुश्चरित कर्मों का प्रेरक होने से अधिक भयङ्कर होता है, इसलिये इससे विरत रहना एक प्रकार का नित्यशील होता है।

कायविञ्ञत्तिसङ्खाते कायद्वारे—प्राणातिपात-आदि तीन अकुशल कर्म कायद्वार में सम्पन्न होने के कारण 'कायकर्म' कहे जाते हैं। यह कायद्वार 'कायविज्ञप्ति' है। इसलिये 'कायविञ्ञत्तिसङ्खाते कायद्वारे'—ऐसा कहा गया है। हाथ, पैर-आदि के हिलते डुलते समय हिलने डुलने वाले रूपकलापों में वायु धातु की शक्ति सब से अधिक होती है। वह वायुधातु सहभूत रूपकलापों का सन्धारण (उपष्टम्भन) कृत्य करती है। तथा चित्त की इच्छा के अनुसार गन्तव्य स्थल तक पहुँचने के लिये अभिनीहार (उदीरण) करती है। उस सन्धारण कृत्य को करते समय भी वह अकेले उसमें समर्थ नहीं होती; अपितु 'विज्ञप्ति' नामक विकाररूपों द्वारा उपकार (सहारा) मिलने पर ही समर्थ होती है; यदि विकाररूपों का सहारा नहीं मिलेगा तो वह अपने सम्बद्ध कृत्यों को सम्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकेगी। इसलिये किसी को मारने के समय डण्डे को पकड़ना, हाथ उठाना एवं उसका सम्बद्ध व्यक्ति पर पात करना-आदि सभी क्रियायें विज्ञप्तियां ही हैं। इन विज्ञप्तियों से ही प्राणातिपात-आदि कर्मों का सम्बन्ध होता है[1]।

यहां काय त्रिविध होते हैं—१. ससम्भारकाय, २. प्रसादकाय एवं ३. चोपनकाय। अङ्ग-प्रत्यङ्गरूप सम्भार से युक्त स्कन्ध को ही 'ससम्भारकाय' कहते हैं। प्रसादरूपों को 'प्रसादकाय' कहते हैं। तथा वायुधातु की सहायता से हाथ, पैर-आदि अङ्गों के व्यापार को करनेवाली विज्ञप्तियां 'चोपनकाय' हैं। 'चोपेतीति चोपनो' अर्थात् हाथ, पैर—आदि अङ्गों को चलानेवाली विज्ञप्ति 'चोपन' है। उन हाथ, पैर आदि अङ्गों के हिलाने डुलाने में समर्थ कायविज्ञप्ति काय के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में प्रविष्ट रहने कारण 'काय' कहलाती है। "चोपनो च सो कायो चाति चोपनकायो" अर्थात् चोपन होकर जो काय भी होता है वह 'चोपनकाय' है। कायविज्ञप्तिरूप 'चोपन' ही यहां 'काय' है, अतः विज्ञप्ति ही 'चोपनकाय' है। वह काय कर्मपथ का कारणभूत होने से 'द्वार' कहा जाता है। 'कायो येव द्वारं कायद्वारं' के अनुसार कायविज्ञप्ति ही 'कायद्वार' है[2]।

बाहुल्लवुत्तितो कायकम्मं नाम—कायद्वार में प्रवृत्त कर्म को 'कायकर्म' कहते हैं। प्राणातिपात, अदिन्नादान-आदि करने के लिये दूसरों को आज्ञा देते समय ये प्राणातिपात आदि कर्म कभी कभी वाग्द्वार में भी होते हैं। इस प्रकार वाग्द्वार में होने पर भी इन प्राणातिपात—आदि को वाक्कर्म नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ये बहुलतया कायद्वार में ही सम्पन्न होते हैं, अतएव 'बाहुल्लवुत्तितो'—ऐसा कहा गया है। जैसे—'वने चरतीति वनेचरो' के अनुसार वन में भ्रमण करनेवाले को 'वनेचर' कहते हैं, किन्तु वह कभी

१. द्र०—अट्ठ०, पृ० ६८; विभा०, पृ० १३१।
२. द्र०—अट्ठ०, पृ० ७०; प० दी०, पृ० १८९-१९०।

वचीकम्मं

४७. मुसावादो, पिसुणवाचा*, फरुसवाचा†, सम्फप्पलापो चेति‡ वचीविञ्ञत्तिसङ्खाते वचीद्वारे बाहुल्लवुत्तितो वचीकम्मं नाम।

मृषावाद, पिशुनवाक्, परुषवाक् एवं सम्फप्पलाप (सम्भिन्न प्रलाप) – इस प्रकार ये चार कर्म 'वचीविञ्ञत्ति' नामक वाग्द्वार में बहुलतया प्रवृत्त होने के कारण 'वाक्कर्म' कहे जाते हैं।

कभी ग्राम में भी चलता है फिर भी चूंकि वह प्रायः (अधिकतर) वन में रहता है अतः ग्राम में आ जाने पर भी 'वनेचर' ही कहा जाता है, इसी तरह कभी कभी वाग्द्वार में सम्पन्न होने पर भी प्राणातिपात-आदि योगरूढि से 'कायकर्म' ही कहे जाते हैं[1]।

'कायद्वारे बाहुल्लवुत्तितो कायकम्मं नाम' इस पालि द्वारा आचार्य 'कायकर्म' नाम का (वाक्कर्म एवं मनःकर्म से मिश्रण न होने देने के लिये) द्वार से विभाजन करते हैं। यदि 'बाहुल्ल' शब्द न होगा तो आचार्य का अभिप्राय सिद्ध नहीं होगा; क्योंकि ऐसी स्थिति में कायद्वार में होनेवाला कर्म ही 'कायद्वार' होगा और दूसरों को मारने-आदि की वाचिक आज्ञा देने से होनेवाले प्राणातिपात-आदि कायकर्म नहीं होंगे और इस प्रकार प्राणातिपात आदि कर्म कायकर्म एवं वाक्कर्म – दोनों हो जायेंगे; तथा उनमें (कायकर्म एवं वाक्कर्मों में) मिश्रण हो जायगा, जो कि अभीष्ट नहीं है। अतः बाहुल्ल' शब्द का प्रयोग किया गया है।

'वचीविञ्ञत्तिसङ्खाते वचीद्वारे बाहुल्लवुत्तितो वचीकम्मं नाम' तथा 'मनस्मिं येव बाहुल्लवुत्तितो मनोकम्मं नाम' – इन पालियों को भी उपर्युक्त विधि से ही समझना चाहिये। इनमें भी 'वचीद्वार' से 'वचीकम्मं' इस नाम का, मनोद्वार से 'मनोकम्मं' इस नाम का (अन्य कर्मों से अमिश्रण के लिये) द्वार द्वारा विभाजन करके प्रतिपादन किया गया है। 'विभावनी' में न केवल द्वार द्वारा ही काय कर्म-आदि नामों का विभाजन दिखाया गया है, अपितु 'कर्म द्वारा भी कायद्वार-आदि नामों का विभाजन करने के लिये 'बाहुल्ल' शब्द का प्रयोग किया गया है' – ऐसा प्रतिपादित है[2]। किन्तु यह आचार्य का अभिप्राय नहीं हो सकता[3]।

वाक्कर्म

४७. **मुसावादो** – 'मुसा ति अभूतवत्थु' के अनुसार 'मृषा' यह 'अभूतवस्तु' अर्थ में आनेवाला निपात है। जैसे – किसी के यह पूछने पर कि 'आपके पास अमुक पुस्तक है'

---

*. पिसुणा० – सी०, रो० (सर्वत्र)।

†. फरुसा० – सी०, रो० (सर्वत्र) ‡. च – स्या०।

१. विभा०, पृ० १३१; प० दी०, पृ० १६०।
"कायकम्मं पन कायद्वारम्हि येव बहुलं पवत्तति, अप्पं वचीद्वारे; तस्मा कायद्वारे बहुलं पवत्तितो एतस्स कायकम्मभावो सिद्धो, वनचरक-थुल्लकुमारिकादिगोचरानं वनचरकादिभावो विया ति।" – अट्ठ०, पृ० ७०-७१।

२. विभा०, पृ० १३१। ३. प० दी०, पृ० १६०-६१।

तब पुस्तक होने पर भी 'नहीं है' कहना, या नहीं होने पर 'है' कहना – यह 'मृषा' (अभूतवस्तु) है। इसी तरह किसी समाचार के पूछने पर, मालूम होने पर भी 'नहीं कहना', या ठीक से न मालूम होने पर भी कुछ का कुछ कह देना – यह 'मृषा' है। इस प्रकार वस्तु का अस्तित्व हो या न हो, कहने में सचाई न होने के कारण वह 'मृषा' कहा जाता है। 'मुसा वदन्ति एतेना ति मुसावादो' जिस चेतना द्वारा मृषा अर्थात् अभूत का कथन किया जाता है वह चेतना ही मृषावाद है[1]। लिखकर या सङ्केत द्वारा भी मृषावाद होता है। इस तरह काय एवं वाग् – दोनों से मृषावाद होने पर भी वाग् द्वारा ही अधिकतर मृषावाद होता है, अतः उसे ही 'मृषावाद' कहा जाता है।

अङ्ग एवं प्रयोग –

"मुसावादस्स अतथं विसंवादनचित्तता।
तज्जो वायामो परस्स तदत्थजाननं इति॥
सम्भारा चतुरो होन्ति पयोगेको सहत्थिको।
आणत्तिकनिस्सग्गियथावरापि च युज्जरे[2]॥"

अर्थात् मृषावाद के सम्भार (अङ्ग) चार होते हैं, यथा – १. अभूतवस्तु, २. विसंवादन (वञ्चन) चित्तता, ३. विसंवादनचित्त के अनुसार होनेवाला व्यायाम (प्रयत्न) तथा ४. दूसरों द्वारा उस वचन के अर्थ का जानना।

प्रयोग केवल एक साहत्थिक ही होता है – ऐसा अट्ठकथाओं में कहा गया है; किन्तु आणत्तिक, निस्सग्गिय एवं थावर प्रयोग भी हो सकते हैं।

---

१. "'मुसा' ति अभूतं वत्थु, तं तच्छतो वदन्ति एतेना ति मुसावादो।" – विभा०, पृ० १३१
"'मुसा' ति अभूतत्थे निपातो, मुसा वदन्ति एतेना ति मुसावादो।" – प० दी०, पृ० १६१।

"'मुसा' ति विसंवादनपुरेक्खारस्स अत्थभञ्जको वचीपयोगो, कायप्पयोगो वा। विसंवादनाधिप्पायेन परस्स परं विसंवादका कायवचीपयोगसमुट्ठापिका चेतना मुसावादो। अपरो नयो – 'मुसा' ति अभूतं अतच्छं वत्थु। 'वादो' ति तस्स भूततो तच्छतो विञ्ञापनं। लक्खणतो पन अतथं वत्थुं तथतो परं विञ्ञापेतुकामस्स तथाविञ्ञत्तिसमुट्ठापिका चेतना मुसावादो ति।" – अट्ठ०, पृ० ८१; द्र० – विभ० अ०, पृ० ३८४।

तु० – "अन्यसंज्ञोदितं वाक्यमर्थाभिज्ञे मृषा वचः" – अभि० को० ४ : ७४, पृ० १११;
"अर्थज्ञयान्यथावादो द्रोहबुद्ध्या मृषावचः।" – अभि० दी० १६६ का०, पृ० १६०।
"वक्तृश्रोतृबुद्ध्यपेक्षया खलु मृषावादो भवति। यदि वक्ता ऽर्थानामभिज्ञो भवति स तं विगोप्य द्रोहबुद्ध्याऽन्यथा ब्रूते, श्रोता च तथैवावगच्छति, तदास्य मृषावादः कर्मपथो भवति।" – वि० प्र० वृ०, पृ० १६०।

२. तु० – अट्ठ०, पृ० ८२; विभ० अ०, पृ० ३८७।

इस मृषावाद के विषय में ४ अङ्गों के दिखलाने से 'गृहस्थों के मृषावाद में' चार अङ्गों के सम्पन्न होने से ही शीलभङ्ग होता है। 'भिक्षुओं के मृषावाद में' विसंवादनचित्तता एवं तज्जन्य व्यायाम – इन दोनों अङ्गों के सम्पन्न होने से ही 'पाचित्तिय' आपत्ति होती है – इस प्रकार कहा जाता है।

किन्तु गृहस्थों में भी दो अङ्गों के सम्पन्न होने से शीलभङ्ग हो सकता है। चार अङ्ग कहना – केवल कर्मपथ होनेवाले मृषावाद के लिये ही है। चार अङ्गों में से 'तदत्थजाननं' का अभिप्राय मृषा, कहे हुए वचन पर विश्वास करना है, अतः मृषा कहने पर भी यदि दूसरों द्वारा विश्वास नहीं किया जाता है तो कर्मपथ नहीं हो सकता। यदि विश्वास होता है और विश्वास करके किसी कृत्य के करने से अनर्थ भी होता है तभी मृषावाद कर्मपथ होता है[1]। दूसरों की प्रसन्नता एवं हित के लिये मृषा कहने पर वह मृषावाद कर्मपथ नहीं होता। जैसे – चोरी करने के अपराध में किसी को प्राणदण्ड की सजा मिलने पर यदि धनस्वामी कहता है कि 'मेरी चोरी नहीं हुई है, तो इससे शासन एवं चोरी – दोनों से सम्बद्ध व्यक्तियों को प्रसन्नता होती है और किसी का अहित नहीं होता। ऐसे स्थलों में मृषावाद कर्मपथ नहीं होता; क्योंकि दूसरे के अर्थ का भञ्जक वचन ही कर्मपथ होता है। जो अहित नहीं करता – ऐसा मृषावाद केवल वाग्दुश्चरितमात्र होता है।

पिसुणवाचा – 'पिसति सामग्गिं सञ्चुण्णेतीति पिसुणा' समग्र भाव (एकता) को जो पीसती है अर्थात्, सञ्चूर्ण करती है वह 'पिसुणा' है। अर्थात्, दो व्यक्तियों के परस्पर ऐक्य को जो नष्ट करती है वह 'पिसुणा' है। अथवा 'पियं सुञ्ञं करोतीति पिसुणा' अर्थात् जो अपना प्रिय बनाने के लिये किसी को दूसरों के प्रेम से शून्य कर देती है वह 'पिसुणा' है। जैसे – राम एवं श्याम में परस्पर प्रेम होने पर मोहन जाकर राम को श्याम के दोष दिखलाता है और अपने गुणों को बखानता है, इससे राम मोहन से प्रेम करने लगता है। इस प्रकार स्वयं को प्रिय बनाने के लिये दूसरों की मित्रता के विलोप करने को 'पिसुणा' कहते हैं। इस प्रकार मैत्रीविलोप के लिये प्रयुक्त वाक्य को 'पिसुणा वाचा' कहते हैं। उस वाक्य के शब्दों को भी 'पिसुणवाचा' कहते है। तथा कहने की कारणभूत समुत्थापिका चेतना को भी 'पिसुणवाचा' (पैशुन्यवाक्) कहते हैं[2]।

---

१. विभा०, पृ० १३२; प० दी०, पृ० १६२।

२. "पिसति परेसं अञ्ञमञ्ञसम्मोदभावसङ्खातं सामग्गिरसं सञ्चुण्णेति परिभिन्दति मिथुभेदं करोति एताया ति पिसुणा। अत्तनो पियभावं परेसं च मेत्तसुञ्ञभावं करोति एताया ति वा पिसुणा, निरुत्तिनयेन। वदन्ति एताया ति वाचा, पिसुणा च सा वाचा चा ति पिसुणा वाचा।...परस्स भेदपुरेक्खारेन भेदककायवचीपयोगसमुट्ठापिका सङ्किलिट्ठचेतना पिसुणा वाचा।" – प० दी०, पृ० १६२।

अङ्ग –

"पिसुणाय भिन्दितब्बो तप्पुरपियकम्यता।
वायामो जाननं चतु भिन्ने कम्मपथो भवे[1] ॥"

भेदनीय वस्तु, उसके प्रति प्रिय की कामना अथवा उसके प्रिय को अपना प्रिय बनाने की कामना, उस कामना से उत्पन्न व्यायाम (प्रयत्न) तथा भेद करने के अभिप्राय का दूसरों द्वारा जानना 'पिसुणवाचा' के ये चार अङ्ग हैं। भेद होने पर ही कर्मपथ होता है[2]। 'तप्पुरपियकम्यता' के, भेद होने की इच्छा एवं अपने को प्रिय करने की इच्छा – ये दो अर्थ होते हैं। दो आदमियों का परस्पर झगड़ा कराने में अपने को प्रिय बनाने की इच्छा न होने पर भी 'पिसुणा वाचा' हो जायेगी। 'वायामो' में मुख से बोलने पर वाक्प्रयोग होता है तथा हाथ, पैर से इशारा करके झगड़ा कराने पर कायप्रयोग होता है। इस 'पिसुणवाचा' में दूसरों के दोष को यथाभूत कहकर झगड़ा कराने को ही 'पिसुणवाचा' कहते हैं। अयथाभूत दोषों का आरोप करके झगड़ा कराने में मृषावाद भी होता है।

फरुसवाचा – 'फरुसं करोतीति फरुसा' कठोर को 'परुष' कहते हैं। आरी की तरह कठोर वाक् को 'फरुसवाचा' (परुषवाक्) कहते हैं। इस परुषवाक् की कारणभूत चेतना को भी कार्योपचार से परुषवाक् (फरुसवाचा) कहा जाता है[3]।

"पिसति सामग्गिं सञ्चुण्णेति विक्खिपति, पियभावं सुञ्ञं करोतीति वा पिसुणा। ....परेसं भेदकामताय अत्तपियकामताय वा परभेदकरवचोपयोगसमुट्ठापिका सङ्किलिट्ठचेतना पिसुणावाचा।" – विभा०, पृ० १३१-१३२।

"तत्थ सङ्किलिट्ठचित्तस्स परेसं वा भेदाय अत्तनो पियकम्यताय वा कायवचीपयोगसमुट्ठापिका चेतना पिसुणा वाचा नाम।" – अट्ठ०, पृ० ८२।

तु० – "पैशुन्यं परभेदाय, क्लिष्टचित्तस्य भाषणम्।" – अभि० को० ४ : ७६ का०, पृ० १११।

"पैशुन्यं भेदकृद्वाक्यम्।" – अभि० दी० १९८ का०, पृ० १६३।

"यत्खलु क्लिष्टचित्तस्य परभेदाय वचनमभ्रान्त्या तत् पैशुन्यमित्युच्यते।" – वि० प्र० वृ०, पृ० १६३।

१. तु० – "तस्सा चत्तारो सम्भारा – 'भिन्दितब्बो परो' इति 'इमे नाना भविस्सन्तीति' भेदपुरेक्खारता वा, 'इति अहं पियो भविस्सामि विस्सासिको' ति पियकम्यता वा, तज्जो वायामो, तस्स तदत्थविजाननं ति।" – अट्ठ०, पृ० ८२।

२. "परे पन अभिन्ने कम्मपथो नत्थि, भिन्ने एव होति।" – अट्ठ०, पृ० ८२।

३. "येन सुय्यति तस्स हृदयं फरमाना उसति दहतीति फरुसा, फरुसा च सा वाचा चाति फरुसा वाचा।" – प० दी०, पृ० १९१।

"अत्तानं पि परं पि फरुसं करोति, ककचो विय खरसम्फस्सा ति वा फरुसा।" – विभा०, पृ० १३२।

अङ्ग –

"फरुसाय तयो कोपो उपकुट्ठो अक्कोसना।
मम्मच्छेदकरा तग्घ फरुसा फरुसा मता[1]॥"

फरुसवाचा (परुषवाक्) के तीन अङ्ग होते हैं; यथा – कोप, उपक्रुष्ट (भर्त्सित) एवं आक्रोश (गाली देना या शाप देना)। इन अङ्गों से सम्पन्न, मर्मच्छेद करनेवाली एकान्त कठोर चेतना को ही 'फरुसवाचा' (परुषवाक्) कहते हैं। चेतना के कठोर होने पर, वाणी के मृदु होने पर भी फरुसवाचा कर्मपथ होती है। जैसे – किसी न्यायाधीश द्वारा मृदुवाणी से 'आप सदा के लिये सोयें' इस प्रकार प्राणदण्ड की सजा दी जाती है तो उनकी वाक् के मृदु होने पर भी चेतना के कठोर होने से यह 'फरुसवाचा' ही कही जायेगी।

माता, पिता एवं गुरु-आदि अपने पुत्र, पुत्री एवं शिष्य को उन्हीं की भलाई के लिये डाँटते डपटते हैं या कठोर वाणी का प्रयोग करते हैं; किन्तु उनकी चेतना मृदु होती है, अतः वाणी कठोर होने पर भी चेतना मृदु होने के कारण उनका डाँटना-डपटना 'फरुसवाचा' नहीं कहा जाता[2]।

सम्फप्पलाप – 'सं हितं सुखं फलति विनासेतीति सम्फं' हित, सुख का नाश करनेवाला 'सम्फ' कहलाता है। 'सम्फं येन पलपतीति सम्फप्पलापो' जिस चेतना द्वारा हित, सुख का नाश करनेवाली वाणी का कथन होता है उस चेतना को 'सम्फप्पलाप' कहते हैं[3]।

"याय पन अत्तानं पि परं पि फरुसं करोति, या वाचा सयं पि फरुसा नेव कण्णसुखा, न हदयङ्गमा, अयं 'फरुसा वाचा' नाम।...परस्स मम्मच्छेदककायवचीपयोगसमुट्ठापिका एकन्तफरुसचेतना 'फरुसवाचा'।" – अट्ठ०, पृ० ८२।
"पारुष्यमप्रियम्।" – अभि० को० ४:७६ का०, पृ० १११।
"पारुष्यं तु यदप्रियम्।" – अभि० दी० १९८ का०, पृ० १६३।
"अभ्रान्त्या क्लिष्टचित्तस्य यद्वचनं तत्पारुष्यमिति।" – वि० प्र० वृ०, पृ० १६३।

१. तु० – अट्ठ०, पृ० ८३।

२. विभा०, पृ० १३२; प० दी०, पृ० १९२; अट्ठ०, पृ० ८२-८३।

३. "साधुजनेहि अधिगन्तब्बं सं सुखं हितञ्च फलति विसरति विनासेति हितसुखमग्गं भिन्दतीति 'सम्फं'। तं वा फलति भिज्जति एतेना ति सम्फं। अत्थधम्मापगतस्स पटिभानचित्तस्स भारतयुद्ध-सीताहरणादिकस्स वाचा वत्थुमत्तस्सेतं नामं। यत्थ दिट्ठधम्महितबुद्धिया वा सम्परायिकहितबुद्धिया वा उपायदीपकं किञ्चि अत्थधम्मविनयपदं नत्थि। सम्फं पलपन्ति पकारेन कथयन्ति एतेना ति 'सम्फप्पलापो'।" – प० दी०, पृ० १९१-१९२।

अङ्ग –

"सम्फस्स निरत्थकथापुरता-कथनं दुवे ।
परेण गहिते येव होति कम्मपथो न नो[१] ॥"

इस सम्फप्पलाप के दो अङ्ग होते हैं – १. निरर्थक कथा की पुरस्सरता एवं २. उसका कथन ।

दूसरों द्वारा 'यह सत्य है' – ऐसा ग्रहण किया जाने पर ही यह सम्फप्पलाप-रूप अकुशलकर्म कर्मपथ होता है, अन्यथा नहीं । यहाँ अभूत विषय को केवल हित, सुख का नाश करने के लिये कहने पर ही 'सम्फप्पलाप' होता है । स्वभावतः अभूत होने पर भी दूसरों के हित सुख के लिये उदाहरण-आदि के रूप में कल्पना करके कहने या लिखने पर 'सम्फप्पलाप' नहीं होता[२] ।

ये मृषावाद-आदि बहुलतया वाग्द्वार में होते हैं अतः 'वाक्कर्म' कहे जाते हैं; किन्तु हाथ, पैर-आदि के सङ्केत एवं लेखन-आदि द्वारा कायद्वार में भी हो सकते हैं । इसीलिये 'बाहुल्ल' शब्द का प्रयोग किया गया है[३] ।

"सं सुखं हितञ्च फलति विसरति विनासेतीति सम्फं । अत्तनो परेसञ्च अनुपकारं यं किञ्चि तं पलपति एतेना ति 'सम्फप्पलापो ।" – विभा०, पृ० १३२ ।

"येन सम्फं पलपति निरत्थकं सो 'सम्फप्पलापो' ।...अनत्थविञ्ञापिका कायवचीपयोगसमुट्ठापिका अकुसलचेतना 'सम्फप्पलापो' ।" – अट्ठ०, पृ० ८२-८३ ।

तु० – ".....सर्वं क्लिष्टं भिन्नप्रलापिता ।
ततोऽन्यत्क्लिष्टमन्ये तु लपनागीतनाटयवत् ।
कुशास्त्रवत्...................... ॥"
– अभि० को० ४:७६-७७ का०, पृ० १११ ।

"क्लिष्टं सम्भिन्नलापित्वमन्ये गीतकथादिवत् ।"
– अभि० दी० १९८ का०, पृ० १६४ ।

"अन्ये पुनर्ब्रुवते – यदेतन्मृषावादादि त्रिविधं वचनं ततो यदन्यत्क्लिष्टं लपन-गीतनाटयतीर्थशास्त्रादि तत्सर्वं सम्भिन्नप्रलापः ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० १६४ ।

१. तु० – "तस्स द्वे सम्भारा – भारतयुद्ध-सीताहरणादिनिरत्थककथापुरेक्खारता, तथारूपि कथाकथनञ्च ।" – अट्ठ०, पृ० ८३ ।

२. "परे पन तं कथं अगण्हन्ते कम्मपथभेदो नत्थि, परेन सम्फप्पलापे गहिते येव होति ।" – अट्ठ०, पृ० ८३ ।

३. विभा०, पृ० १३२; प० दी०, पृ० १९३ ।

मनोकम्मं

४८. अभिज्झा, ब्यापादो* मिच्छादिट्ठि चेति† अञ्ञत्रापि विञ्ञत्तिया मनस्मिं येव बाहुल्लवुत्तितो मनोकम्मं नाम।

अभिध्या, व्यापाद एवं मिथ्यादृष्टि – इस प्रकार ये तीन अकुशल कर्म कायविज्ञप्ति एवं वाग्विज्ञप्ति के बिना भी मनोद्वार में ही बहुलतया प्रवृत्त होने से मनःकर्म कहे जाते हैं।

मनःकर्म

४८. अभिज्झा – 'अभिमुखं झायतीति अभिज्झा' परसम्पत्ति को अभिमुख करके लोभचित्त से चिन्ता करना 'अभिध्या' है[1]। परमार्थ स्वभाव से यह परसम्पत्ति की अभिलाषा करनेवाला लोभ ही है; किन्तु परसम्पत्ति की कामनामात्र से ही कर्मपथ नहीं होता, अपितु दूसरे की सम्पत्ति को देखकर 'अहो बत इदं मम सिया' अर्थात् यह सम्पत्ति मेरी हो जाये – इस प्रकार अभिमुख करनेवाला लोभ ही अभिध्याकर्मपथ होता है। 'दूसरों की अपने कर्म, ज्ञान एवं वीर्य द्वारा उपार्जित सम्पत्ति उनके पास न रहकर मेरे पास आ जाये' – इस प्रकार की इच्छा, सामान्य लोभ न होकर विशेष प्रकार का लोभ होने से इसे 'अभिध्या' कहा जाता है। माँगकर या खरीद कर लेने की इच्छा या उस प्रकार की सम्पत्ति होने की इच्छामात्र होना सामान्य अभिध्या होती है, कर्मपथ नहीं होता[2]।

---

*. व्यापादो – रो० (सर्वत्र)। †. च – स्या०।

१. "अभिज्झायन्ति अस्सादमत्ते अट्ठत्वा परभण्डस्स अत्तनो परिणामनवसेन अतिरेकतरं झायन्ति निज्झायन्ति एताया ति अभिज्झा।" – प० दी०, पृ० १९३।
"परसम्पत्तिं अभिमुखं झायति लोभवसेन चिन्तेतीति अभिज्झा।" – विभा०, पृ० १३२।
"अभिज्झायतीति अभिज्झा। परभण्डाभिमुखी हुत्वा तन्निन्नताय पवत्ततीति अत्थो। सा 'अहो वत इदं ममस्सा' ति एवं परभण्डाभिज्झायनलक्खणा।" – अट्ठ०, पृ० ८३।
तु० – ".....अभिध्या या परस्वे विषमा स्पृहा।"
– अभि० को० ४ : ७७, पृ० ११२।
"सर्वैव कामावचरी तृष्णा अभिध्येत्यपरे।" – अभि० को० ४ : ७७, पर भाष्य।
"परस्वासत्स्पृहाऽभिध्या।" – अभि० दी०, १९९ का०, पृ० १६४।
"अभिध्या तावद् द्विषतः स्पृहा। अहो बत यत्परेषां तन्मम स्यादित्येषा विषयप्रार्थना विषमलोभाख्यां अभिध्येत्युच्यते।" – वि० प्र० वृ०, पृ० १६४।

२. तु० – विभा०, पृ० १३२; प० दी०, पृ० १९३-१९४; अट्ठ०, पृ० ८३।
"अतो न सर्वाभिध्या कर्मपथः, किं तर्हि? या परस्वे विषमस्पृहा सा 'कर्मपथ' इत्यपरेषामभिप्रायः।" – स्फु०, पृ० ४०९।

ब्यापादो–'ब्यापज्जति हितसुखं एतेना ति ब्यापादो' जिस द्वेष के कारण पुरुष दूसरे सत्त्वों के हित, सुख को उनके अहित की कामना से नष्ट करने में प्रवृत्त होता है वह द्वेष ही 'व्यापाद' है[1]। यहाँ द्वेषमात्र कर्मपथ नहीं होता, अपितु दूसरे सुखी सत्त्वों को देखकर 'अहो वत अयं सत्तो विनस्सेय्या ति' अर्थात् यह सत्त्व विनष्ट हो जाये तो अच्छा हो, यह कब विनष्ट होगा, इसके लिये मैं क्या करूँ'–इत्यादि प्रकार से उनका विनाश चाहनेवाला विशेष प्रकार का द्वेष ही व्यापाद कर्मपथ होता है। दूसरों के प्रति केवल क्रोधमात्र करने से कर्मपथ नहीं होता, व्यापादमात्र होता है[2]।

"द्वेभिज्झाय परभण्डं अत्तनो परिणामनं।
ब्यापादस्स परसत्तो तस्स विनासचिन्तनं[3]।।"

अर्थात् अभिध्या के दो अङ्ग होते हैं; यथा–१. परभाण्ड अर्थात् परसम्पत्ति, एवं २. उसके स्वायत्तीकरण की अभिलाषा।

व्यापाद के भी दो अङ्ग होते हैं; यथा–१. परसत्त्व एवं २. उसके विनाश की चिन्ता।

मिच्छादिट्ठि–'मिच्छा पस्सतीति मिच्छादिट्ठि' मिथ्या अर्थात् जो विपरीत रूप से देखती है वह 'मिथ्यादृष्टि' है[4]। श्रेष्ठ आर्य पुद्गलों द्वारा प्रज्ञप्त (उपदिष्ट) सत्य-

---

१. "ब्यापादेन्ति परसत्ते विनासं आपन्ने कत्वा चिन्तेन्ति एतेना ति ब्यापादो।" –प० दी०, पृ० १९३।
"ब्यापज्जति हितसुखं एतेनाति ब्यापादो।" –विभा०, पृ० १३२।
"हितसुखं ब्यापादयतीति 'ब्यापादो'। सो परविनासाय मनोपदोसलक्खणो।" –अट्ठ०, पृ० ८३।
"व्यापादः सत्त्वेषु द्वेषः।" –अभि० को० ४:७८, पृ० ११२; अभि० दी० १९९ का०, पृ० १६४।
"व्यापादः खल्वपि सत्त्वपरित्यागबुद्ध्या प्रतिघः।" –वि० प्र० वृ०, पृ० १६४।
२. विभा०, पृ० १३२; प० दी०, पृ० १९४; अट्ठ०, पृ० ८३।
३. तु०–अट्ठ०, पृ० ८३।
४. "मिच्छा विपरीततो पस्सतीति मिच्छादिट्ठि।" –विभा०, पृ० १३२।
"यथाभुच्चगहणाभावेन मिच्छा पस्सतीति 'मिच्छादिट्ठि'। सा 'नत्थि दिन्नं' ति आदिना नयेन विपरीतदस्सनलक्खणा।" –अट्ठ०, पृ० ८३।
"नास्तिदृष्टिः शुभाशुभे मिथ्यादृष्टिः।" –अभि० को० ४:७८, पृ० ११२; अभि० दी० १९९ का०, पृ० १६४।
"मिथ्यादृष्टिरपि हेतुं वा फलं वा क्रियां वा सद् वा वस्तु नाशयतः या दृष्टिर्मतिरित्येवमादि सा मिथ्यादृष्टिरित्युच्यते।" –वि० प्र० वृ०, पृ० १६४
"तत्र नास्ति दत्तं यावन्नास्ति दुश्चरितमिति कर्मापवादिका; तथा नास्ति

धर्मों को न मानकर उन्हें विपरीत रूप में देखनेवाले दृष्टिचैतसिक को 'मिथ्यादृष्टि' कहते हैं। यह मिथ्यादृष्टि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान नामक पाँच स्कन्धों में से किसी एक स्कन्ध में 'यह आत्मा है'–इस प्रकार उपादान करनेवाली सत्काय-दृष्टि, 'ब्रह्मजालसुत्त'[1] में वर्णित ६२ दृष्टियाँ, तथा 'सामञ्ञफलसुत्त'[2] में आनेवाली 'नत्थिक' (नास्तिक) आदि भेद से अनेक प्रकार की होती हैं। इनमें से 'नत्थिक', 'अहेतुक' एवं 'अकिरिय'–ये तीन दृष्टियाँ ही कर्मपथ होती हैं। शेष दृष्टियाँ सामान्य मिथ्यादृष्टि ही होती हैं[3]।

"दिट्ठिया दुवे सम्भारा वत्थुनो विपरीतता।
तथा भावेनुपट्ठानं कम्मपथो तीहेव च[4]॥"

अर्थात् मिथ्यादृष्टि के दो सम्भार (अङ्ग) होते हैं; यथा–१. गृहीत वस्तु की विपरीतता एवं २. उसे (विपरीत को) सत्यरूप में मानना। तथा 'नत्थिक' (नास्तिक) दृष्टि, अहेतुकदृष्टि एवं अक्रियदृष्टि–ये तीन ही कर्मपथ होते हैं।

नत्थिकदिट्ठि–'अनन्तरभव में कर्मों का विपाक नहीं होता'–इस प्रकार कर्मफल का अपलाप करनेवाली दृष्टि ही 'नत्थिकदिट्ठि' (नास्तिकदृष्टि) है। अथवा–'सत्त्व मरने के अनन्तर उच्छिन्न हो जाता है' अर्थात् उसकी सन्तति मरणोत्तर विद्यमान नहीं रहती–इस प्रकार की उच्छेददृष्टि भी नत्थिकदिट्ठि' ही है। इस प्रकार की दृष्टि रखनेवाले नास्तिकों के मत को दिखलानेवाली कुछ पालि इस प्रकार है; यथा–

"नत्थि महाराज! दिन्नं, नत्थि यिट्ठं, नत्थि हुतं, नत्थि सुकतदुक्कटानं कम्मानं फलं विपाको; नत्थि अयं लोको, नत्थि परो लोको; नत्थि माता, नत्थि पिता; नत्थि सत्ता ओपपातिका, नत्थि लोके समणब्राह्मणा सम्मग्गता सम्मापटिपन्ना ये इमञ्च लोकं परञ्च लोकं सयं अभिञ्ञा सच्छिकत्वा पवेदेन्ति[5]।"

माता, नास्ति पितेति कर्मापवादिकैव। नास्ति सुचरितदुश्चरितानां कर्मणां फलविपाकः, नास्त्ययं लोकः, नास्ति परलोकः, तथा नास्ति सत्त्व उपपादुक इति फलापवादिका। 'न सन्ति लोकेऽर्हन्तः' इत्यार्यापवादिका।"–स्फु०, पृ० ४०९।

१. द्र०–दी० नि०, प्र० भा०, पृ० १२-४०।

२. द्र०–दी० नि०, प्र० भा०, पृ० ४५-५२।

३. "एत्थ पन नत्थिक-अहेतुक-अक्रियदिट्ठीहि येव कम्मपथो।"–विभा०, पृ० १३५।

"कम्मस्स वा कम्मविपाकस्स वा सब्बसो पटिबाहिका नत्थिकाहेतुकाक्रिया-वसेन तिविधा नियतमिच्छादिट्ठि एव कम्मपथभेदो।"–प० दी०, पृ० १९४; अट्ठ०, पृ० ८३।

४. तु०–अट्ठ०, पृ० ८३।

५. दी० नि०, प्र० भा०, पृ० ४८।

अर्थात् दान नहीं है, यजन नहीं है, हवन नहीं है; सुकृत, दुष्कृत कर्मों का फल नहीं है; यह लोक नहीं है, परलोक नहीं है; माता नहीं है, पिता नहीं है; औपपातिक सत्त्व नहीं हैं; संसार में ऐसे ऐक्य- सम्पन्न (सङ्घीभूत) एवं सम्यक्प्रतिपन्न श्रमण, ब्राह्मण नहीं हैं जो इस लोक एवं परलोक को स्वयं जानकर, साक्षात् करके लोक को उपदेश करें।

'अनन्तरभव में फल नहीं होता'—इस प्रकार का मत 'नास्तिक दृष्टि' है। जब फल का अपलाप किया जाता है तो उन फलों को देनेवाले कारणभूत कर्मों (चेतना) का भी अपलाप होता है। अतः 'सामञ्ञफलसुत्तट्ठकथा में "विपाकं पटिबाहन्तेनापि कम्मं पटिबाहितं होति"[1]—ऐसा कहा गया है।

अहेतुकदिट्ठि—'हेतु (कारण) भी नहीं है और फल (कार्य या विपाक) भी नहीं है'—इस प्रकार हेतु एवं फल, दोनों का अपलाप करनेवाली दृष्टि 'अहेतुकदृष्टि' है। इस मत को दिखलानेवाली कुछ पालि यह है—

"नत्थि महाराज! हेतु, नत्थि पच्चयो सत्तानं सङ्किलेसाय; अहेतू अप्पच्चया सत्ता सङ्किलिस्सन्ति। नत्थि हेतु, नत्थि पच्चयो सत्तानं विसुद्धिया; अहेतू अप्पच्चया सत्ता विसुज्झन्ति[2]।"

अर्थात् सत्त्वों के सङ्क्लेश के लिये हेतु (जनककारण) नहीं हैं, प्रत्यय (उपष्टम्भक कारण) भी नहीं हैं। जनककारण एवं उपष्टम्भक कारणों के न होने पर भी सत्त्व स्वयं सङ्क्लिष्ट होते हैं। सत्त्वों की विशुद्धि के लिये भी जनककारण एवं उपष्टम्भककारण नहीं हैं। सत्त्व अपने आप विशुद्ध हो जाते हैं।

यहाँ भी हेतु के अपलाप के कारण उनसे सम्प्रयुक्त (होनेवाले) फलों का भी अपलाप होता है। अतएव 'सामञ्ञफलसुत्तट्ठकथा' में कहा गया है कि "'नत्थि हेतू' ति वदन्तो उभयं पटिबाहति[3]," अर्थात् हेतुओं का अपलाप करनेवाले दोनों का अपलाप करते हैं।

अकिरियदिट्ठि—'कुशल एवं अकुशल कर्म किये जाने पर भी वे नहीं के बराबर हैं', अर्थात् वे कुछ नहीं हैं—इस प्रकार कारणभूत कर्मों का अपलाप करनेवाली दृष्टि ही 'अक्रियदृष्टि' है। इस मत का प्रतिपादन करनेवाली कुछ पालि इस प्रकार है—

"करोतो खो महाराज! कारयतो छिन्दतो छेदापयतो...न करीयति पापं[4]।"

अर्थात् करते हुए, कराते हुए, काटते हुए, कटवाते हुए भी कोई पाप नहीं किया जाता।

इस मत में भी कर्मों का अपलाप करने से उनके फलों का भी अपलाप होता है। इसीलिये 'सामञ्ञफलसुत्तट्ठकथा' में—"'कम्मं पटिबाहन्तेनापि विपाको पटिबाहितो होति[5]'"—कहा गया है।

---

१. दी०, नि० अ०, (सामञ्ञफलसुत्तट्ठकथा) पृ० १५०।

२. दी० नि०, प्र० भा०, पृ० ४६-४७।

३. दी० नि० अ०, (सामञ्ञफलसुत्तट्ठकथा) पृ० १५०।

४. दी० नि०, प्र० भा०, पृ० ४५-४६।

५. दी० नि० अ०, (सामञ्ञफलसुत्तट्ठकथा) पृ० १५०।

इस प्रकार ये तीनों दृष्टियाँ कर्म एवं कर्मफल का अपलाप करती हैं।

नियत मिथ्यादृष्टि का होना – इन तीन मिथ्यादृष्टियों में से 'नत्थिक' (नास्तिक) दृष्टि का अजित केसकम्बलि ने, अहेतुक दृष्टि का मक्खलि गोसाल ने एवं अक्रियदृष्टि का पूरण कस्सप ने ग्रहण किया था। इन तीन आचार्यों द्वारा गृहीत दृष्टि को भगवान् बुद्ध भी हटाने में असमर्थ हैं अतः इन्हें 'नियतमिथ्यादृष्टि' कहते हैं। इन आचार्यों के शिष्य चूंकि उपर्युक्त मत का सामान्यतया ग्रहण करते हैं, अतः ये नियत नहीं कहे जा सकते; किन्तु उन आचार्यों के ग्रन्थों को पढ़कर, उनका अर्थ समझकर, कम्मट्ठान भावना की तरह उनका पुनः पुनः अभ्यास करके जब उन्हें मिथ्यासमाधि प्राप्त हो जाती है तब वे भी नियत हो जाते हैं और तब उनका मत भगवान् बुद्ध-आदि द्वारा भी दुर्निवार हो जाता है।

अथवा – च्युति के अनन्तर नरक में नियत फल देनेवाली होने के कारण इस प्रकार की दृष्टियों को 'नियतमिथ्यादृष्टि' कहते हैं।

मिच्छत्तनियत – दृष्टि एवं प्रज्ञा में आकाश पाताल का अन्तर होता है। प्रज्ञा के पक्ष में श्रद्धा, वीर्य, स्मृति एवं समाधि होने से उसकी वृद्धि होकर जब चार आर्य-सत्य का ज्ञान होता है एवं त्रिरत्न के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है तब पुद्गल 'सम्मत्त-नियत' होकर स्रोतापन्न होता है। उसके अपायगमन का पथ सर्वथा सर्वदा के लिये अवरुद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार दृष्टि के पक्ष में भी मिथ्यास्मृति, मिथ्यासमाधि एवं मिथ्यावीर्य होने से जब वह वृद्धि को प्राप्त होकर दृढ़ हो जाती है और जब बुद्ध-आदि भी उसको हटाने में असमर्थ हो जाते हैं तब पुद्गल 'मिच्छत्तनियत' होकर मार्ग एवं फल की प्राप्ति का अनधिकारी हो जाता है और मृत्यु के अनन्तर वह अवश्य अवीचि में उत्पन्न होता है। यह मिच्छत्तनियतदिट्ठि 'सङ्घभेद' नामक कर्म से भी अधिक आपत्तिजनक होती है[1]।

अज्झत्तापि विञ्ञत्तिया... बाहुल्लवुत्तितो – 'मनस्मिं पवत्तं कम्मं' के अनुसार मनोद्वार में होनेवाले कर्मों को 'मनःकर्म' कहते हैं। तृतीय परिच्छेद में भवङ्गचित्त को 'मनोद्वार' कहा गया है[2]। पूर्व पूर्व चित्त पश्चिम पश्चिम चित्तों की उत्पत्ति के कारण होने से सभी चित्तों को 'मनोद्वार' कहनेवाले भी अनेक स्थल हैं। यहाँ अभिध्या, व्यापाद एवं मिथ्यादृष्टि के साथ होनेवाले अकुशल जवनचित्तों को 'मनोद्वार' कहा गया है। [अकुशल जवनचित्तों का ग्रहण करने में मोहमूलचित्त द्वारा अभिध्या-आदि की उत्पत्ति न होने से लोभमूल एवं द्वेषमूल जवनचित्तों का ही ग्रहण करना चाहिये। कुशल मनःकर्म

---

१. अट्ठ०, पृ० ३८-३९।

२. द्र० – अभि० स० ३ : ३५ की व्याख्या, पृ० २४०-२४२।

के विषय में अनभिध्या, अव्यापाद एवं सम्यग्दृष्टि के साथ होनेवाले कुशल 'जवनचित्तों को 'मनोद्वार' कहना चाहिये'[1] ।]

'मनो एव द्वारं मनोद्वारं' जवनचित्त ही कर्म के उत्पत्तिकारण होने से 'मनोद्वार' कहलाते हैं। अर्थात् जब अभिध्या का उत्पाद होता है तब सहोत्पन्न जवनचित्तों द्वारा उस 'अभिध्या' नामक लोभ का सहजात-आदि प्रत्ययशक्तियों से उपकार किया जाता है, अतः वे (जवनचित्त) ही अभिध्या के उत्पत्तिकारण होते हैं। पूर्वकथित कायकर्म एवं वाक्कर्म भी इस 'जवनचित्त' नामक मनोद्वार के उपकार के बिना नहीं हो सकते। जैसे—प्राणातिपातचेतना की उत्पत्ति 'द्वेषजवन' नामक मनोद्वार के बिना नहीं हो सकती, तथापि प्राणातिपात-आदि कर्म केवल 'अकुशल जवन' नामक मनोद्वार द्वारा ही कर्मपथ नहीं हो सकते; अपितु विज्ञप्तियों के होने पर ही कर्मपथ हो सकते हैं। मनोद्वार का सभी कर्मों से सम्बन्ध होता है, 'विज्ञप्ति' नामक कायद्वार एवं वाग्द्वार का कुछ कर्मों से ही सम्बन्ध होता है; किसी वस्तु का नामकरण करते समय कुछ विशेषता का ध्यान रखना होता है जिससे उसका अन्य वस्तुओं से मिश्रण न (व्यवच्छेद) हो सके। इसीको दृष्टि में रखकर प्राणातिपात-आदि तीन कर्मों को कायद्वार से उपलक्षित कर के 'कायकर्म' तथा मृषावाद-आदि चार कर्मों को वाग्द्वार से उपलक्षित करके 'वाक्कर्म' कहते हैं। अभिध्या-आदि कर्म उन विज्ञप्तिद्वारों से असम्मिश्रित होकर मनोद्वार में ही उत्पन्न होते हैं, अतः उन्हें मनोद्वार से उपलक्षित करके 'मनःकर्म' कहते हैं। इसीलिये 'अञ्ञत्रापि विञ्ञत्तिया मनस्मिं येव' कहा गया है।

ये अभिध्या-आदि तीन कर्म कायद्वार एवं वाग्द्वार में भी हो सकते हैं। 'यह सम्पत्ति मेरी होती तो अच्छा होता'—इस प्रकार लिखकर या कहकर प्रकट करते समय यद्यपि ये अभिध्या-आदि कायद्वार एवं वाग्द्वार में भी प्रवृत्त होते हैं, तथापि चूंकि ये अधिकतर मनोद्वार में ही प्रवृत्त होते हैं अतः, 'मनःकर्म' कहलाते हैं। कायद्वार एवं वाग्द्वार कायविज्ञप्ति एवं वाग्विज्ञप्ति को ही कहते हैं। मनोद्वार का किसी विज्ञप्ति से सम्बन्ध नहीं है। अतएव 'अञ्ञत्रापि विञ्ञत्तिया' कहा गया है। 'अञ्ञत्रापि' में 'अपि' शब्द समुच्चयार्थक है, अतः वह कायविज्ञप्ति एवं वाग्विज्ञप्ति का भी समुच्चय करता है। इसलिये ये अभिध्या-आदि कर्म कभी कभी इन विज्ञप्तियों के साथ भी हो सकते हैं—यह दिखलाया गया है[2]।

अभिध्या-आदि चेतनापाक्षिक—दूसरों की सम्पत्ति का अपहरण करते समय या प्राणातिपात-आदि कर्म करते समय भी ये अभिध्या, व्यापाद एवं मिथ्यादृष्टि यथायोग्य होते हैं। जैसे—'दूसरे की वस्तु का अपहरण करते समय अभिध्या एवं मिथ्यादृष्टि होते हैं, क्या उस समय 'अदिन्नादान' कर्मपथ के अतिरिक्त अभिध्या एवं मिथ्यादृष्टि कर्मपथ भी होंगे ?'—इस प्रकार का प्रश्न उपस्थित हो सकता है। इसका उत्तर है—नहीं।

---

१. अट्ठ०, पृ० ७२।

२. द्र०—प० दी०, पृ० १९५।

उस समय अभिध्या एवं मिथ्यादृष्टि कर्मपथ नहीं होंगे; क्योंकि उस समय ये मुख्यरूप से न हो कर 'अदिन्नादान' कर्मपथ के अनुगामी होते हैं, इसलिये कर्मपथ नहीं होते[1]।

नानादुश्चरित – 'अट्ठसालिनी' के "कायवचीद्वारेसु हि चोपनं पत्वा कम्मपथं अप्पत्तं पि अत्थि, मनोद्वारे च समुदाचारं पत्वा कम्मपथं अप्पत्तं अत्थि; तं गहेत्वा तंतंद्वारपक्खिकमेव अकंसु[2]" – इस वचन के अनुसार कायद्वार एवं वाग्द्वार में चोपन (हस्त, पाद-आदि अङ्गों का व्यापार) प्राप्त करके भी अङ्गों के परिपूर्ण न होने से कर्मपथ न होनेवाले कर्म भी हैं। तथा मनोद्वार में उत्पन्न होने पर भी अङ्गों के परिपूर्ण न होने से कर्मपथ न होनेवाले कर्म भी हैं। उन उन कर्मों को ग्रहण करके उन उन द्वारों में सम्मिलित करना चाहिये। जैसे – किसी सत्त्व के हस्त, पाद-आदि के छेदनरूप कर्म के बहुलतया कायद्वार में प्रवृत्त होने पर भी उसे केवल कायदुश्चरित ही नहीं समझना चाहिये। स्वयं करेगा तो कायदुश्चरित होगा, दूसरों द्वारा करवायेगा तो वाग्-दुश्चरित होगा एवं मन में उस प्रकार करने का चिन्तन करेगा तो मनोदुश्चरित होगा। इसी प्रकार सभी कर्मों के सम्बन्ध में समझना चाहिये।

अथवा प्राणातिपात करने से पूर्व होनेवाली चेतना 'पुब्बचेतना' है। प्राणातिपातवीथि में होनेवाली चेतना 'मुञ्चचेतना' है। प्राणातिपात के अनन्तर प्रसन्नतारूपी (सौमनस्य) चेतना 'अपरचेतना' है[3]—इस प्रकार प्राणातिपात कर्म में तीन चेतनायें होती हैं। इसी प्रकार दस दुश्चरित धर्मों में से प्रत्येक को इन तीन तीन चेतनाओं के साथ गुणन करने से ३० दुश्चरित होते हैं।

अथवा इन दुश्चरित कर्मों में से प्राणातिपात कर्म पुद्गल स्वयं करता है तो 'साहत्थिक दुच्चरित', दूसरों द्वारा करवाता है तो 'आणत्तिक दुच्चरित' एवं दूसरों से न कह कर दूसरों के सम्मुख प्राणातिपात के गुणों की प्रशंसा करता है तो 'वण्णभासन-दुच्चरित' तथा दूसरों द्वारा किये जानेवाले प्राणातिपात में प्रीति करता है तो 'समनुञ्ञा-दुच्चरित' होता है। इस प्रकार प्रत्येक दुश्चरित को इन चार प्रकारों से गुणन करने पर उनकी संख्या ४० होती है। इनमें से कुछ कर्मपथ होते हैं, कुछ नहीं।

---

१. द्र० – विभा०, पृ० १३२; प० दी०, पृ० १६५; अट्ठ०, पृ० ७४-७५।

२. अट्ठ०, पृ० ७४।

३. तु० – "यथा तावदिह कश्चित् परस्वं हर्त्तुकामो मञ्चादुत्तिष्ठति शस्त्रं गृह्णाति परगृहं गच्छति सुप्तो न वेत्याकर्णयति परस्वं स्पृशति यावन्न स्थानात् प्रच्यावयति तावत् प्रयोगः। यस्मिंस्तु क्षणे स्थानात् प्रच्यावयति तत्र या विज्ञप्तिस्तत्क्षणिका चाविज्ञप्तिरयं मौलः कर्मपथः। द्वाभ्यां हि कारणाभ्यामदत्तादानावद्येन स्पृश्यते – प्रयोगतः, फलपरिपूरितश्च। ततः परमविज्ञप्तिक्षणाः पृष्ठं भवन्ति, यावत्तत् परस्वं विभजते विक्रीणीते गोपायति अनुकीर्तयति वा तावदस्य विज्ञप्तिक्षणा अपि पृष्ठं भवन्तीति। एवमन्येष्वपि पञ्चसु यथासम्भवं योज्यम्" – स्फु०, पृ० ४०१ – ४०२; वि० प्र० वृ०, पृ० १५३।

४९. तेसु पाणातिपातो, फरुसवाचा, ब्यापादो च दोसमूलेन जायन्ति।

५०. कामेसु मिच्छाचारो, अभिज्झा, मिच्छादिट्ठि च लोभमूलेन।

५१. सेसानि चत्तारि पि द्वीहि* मूलेहि सम्भवन्ति।

५२. चित्तुप्पादवसेन पनेतं अकुसलं सब्बथापि द्वादसविधं होति।

इन दस अकुशल कर्मों में से प्राणातिपात, परुषवाक् एवं व्यापाद द्वेषमूल चित्त से उत्पन्न होते हैं।

काममिथ्याचार, अभिध्या एवं मिथ्यादृष्टि लोभमूलचित्त से उत्पन्न होते हैं।

शेष चार अकुशल कर्म, लोभमूल एवं द्वेषमूल – इन दो चित्तों से उत्पन्न होते हैं।

चित्तोत्पाद-वश से ये अकुशल कर्म सर्वथा १२ प्रकार के होते हैं।

४९-५२. यह अकुशल कर्मपथों के मूल को दिखलानेवाला वाक्य है। 'प्राणातिपात' – यह कर्म द्वेषमूल में सम्प्रयुक्त चेतना है। 'परुषवाक्' भी द्वेषमूल में सम्प्रयुक्त चेतना है। इसीलिये ये दोनों कर्मपथ द्वेषमूल से सम्प्रयुक्त होते हैं। अर्थात् ये द्वेषमूल द्वारा 'सहजात'-आदि प्रत्ययशक्ति से उपकार करने से उत्पन्न धर्म हैं। 'व्यापाद' – यह कर्म द्वेष-चैतसिक ही है। इसलिये यह व्यापाद, द्वेषमूल चित्त से उत्पन्न है। अर्थात् यह, व्यापाद (द्वेषचैतसिक) से सम्प्रयुक्त चित्त द्वारा सहजात-आदि प्रत्ययशक्ति से उपकार करने से उत्पन्न धर्म है।

उपर्युक्त कथन के आधार पर प्राणातिपात एवं परुषवाक् की अपेक्षा करके 'दोसमूलेन जायन्ति' – यह कहा गया है तथा व्यापाद चूंकि स्वयं द्वेषचैतसिक है अतः उसके लिये 'दोसमूलेन जायन्ति' यह कहना अपेक्षित नहीं – ऐसा आचार्य का अभिप्राय होना चाहिये। इसलिये मूल का अर्थ इस प्रकार करना चाहिये – जब प्राणातिपात एवं परुष-वाक् की अपेक्षा होती है तब 'दोसमूलेन' का 'द्वेषरूपी मूल से' – ऐसा अर्थ करना चाहिये। (दोसो च सो मूलञ्चाति दोसमूलं); तथा जब व्यापाद की अपेक्षा हो तब 'द्वेषमूल होने वाले चित्त से' – ऐसा अर्थ करना चाहिये। (दोसो मूलं यस्सा ति दोसमूलं)।

काममिथ्याचार भी लोभमूल में सम्प्रयुक्त चेतना है। मिथ्यादृष्टि लोभमूल दृष्टिगतसम्प्रयुक्त चित्त में सम्प्रयुक्त दृष्टिचैतसिक है। उन दोनों में लोभ के सम्प्रयुक्त होने के कारण जब उनकी अपेक्षा होती है तब 'लोभमूलेन' का अर्थ 'लोभमूल से' – ऐसा करना चाहिये। अभिध्या का परमार्थस्वरूप लोभमूल चित्त में सम्प्रयुक्त लोभ-चैतसिक ही है। उससे सम्प्रयुक्त कोई लोभ नहीं होता। अतः जब अभिध्या की अपेक्षा की जाती है तब 'लोभमूलेन' का 'लोभमूल होनेवाले चित्त से' – ऐसा अर्थ करना चाहिये।

---

*. तीहि – सी०, स्या०।

उपर्युक्त व्याख्याएं पालिटीकाओं के आधार पर की गयी हैं, किन्तु वे आचार्य की अभिप्रेत नहीं हो सकतीं; क्योंकि अभिघ्या एवं व्यापाद कर्मपथ होने से पूर्व लोभ एवं द्वेष के उत्पन्न होने के कारण वे लोभ एवं द्वेष, अभिघ्या एवं व्यापाद कर्मपथ होने के लिये प्रकृत्युपनिश्रयशक्ति से उपकार करते हैं, इसलिये सहोत्पन्न एवं सहजात लोभ तथा द्वेष का ही ग्रहण न करके, अपितु पूर्वभाग के लोभ एवं द्वेष का भी ग्रहण करके 'दोस-मूलेन' का द्वेषमूल से, एवं 'लोभमूलेन' का लोभमूल से – ऐसा एक ही अर्थ करना चाहिये[1]।

चत्तारि पि द्वीहि मूलेहि – शेष अदिन्नादान, मुसावाद, पिसुणवाचा एवं सम्फप्प-लाप – ये चार कभी कभी लोभमूल से होते हैं और कभी कभी द्वेषमूल से होते हैं। अतएव 'अवशिष्ट ४ दो मूलों से होते हैं'[2] – ऐसा कहा गया है।

अपने पुत्र-कलत्र के भरण-पोषण के लिये जो अदत्तादान किया जाता है वह लोभमूल से ही होता है। दूसरों से वैर करने के लिये या उनके द्वारा कृत वैर के प्रतिकार के लिये उनकी सम्पत्ति का अपहरण किया जाता है, वह अदत्तादान द्वेषमूल से होता है।

'विभावनी' में लिखा है कि "नीतिशास्त्रकारों के प्रमाणानुसार दुष्टों का निग्रह करने के लिये दूसरों की सम्पत्ति का अपहरण करनेवाले राजाओं एवं ब्राह्मणों का 'सब कुछ (सभी सम्पत्ति) ब्राह्मणों का ही राजाओं द्वारा दिया हुआ है, उन ब्राह्मणों के दुर्बल हो जाने से अन्य (शूद्रादि) उसका भोग कर रहे हैं, इसलिये उस (सम्पत्ति) का अपहरण करते हुए ब्राह्मण तो अपनी ही सम्पत्ति का भोग करते हैं' – इत्यादि कहकर 'स्व' (आत्मीय) संज्ञा से अपहरण करनेवालों एवं कर्म और कर्मफल के सम्बन्ध का निषेध करनेवालों का यह अदत्तादान मोहमूल से उत्पन्न है[3]।"

---

१. प० दी०, पृ० १९६-१९७।

२. तु० – "'मूलतो' ति पाणातिपातो दोसमोहवसेन द्विमूलको होति। अदिन्नादानं दोसमोहवसेन वा लोभमोहवसेन वा। मिच्छाचारो लोभमोहवसेनेव। मुसा-वादो दोसमोहवसेन वा लोभमोहवसेन वा; तथा पिसुणा वाचा सम्फप्पलापो च। फरुसा वाचा दोसमोहवसेन। अभिज्झा मोहवसेन एकमूला; तथा ब्यापादो। मिच्छादिट्ठि लोभमोहवसेन द्विमूला ति।" – अट्ठ०, पृ० ८४; विभ० अ०, पृ० ३८५; अभि० को० ४ : ६९-७० का०, पृ० १०९-११०; अभि० दी०, १९१ – १९३ का०, पृ० १५५-१५६; अभि० समु०, पृ० ५५।

३. विभा०, पृ० १३३।

द्र० – "लोभजमदत्तादानं यस्तेनार्थी तद्धरति। द्वेषजं वैरनिर्यातनार्थम्। मोहजं यथा राज्ञां धर्मपाठकप्रामाण्यात् दुष्टनिग्रहणार्थम्। यथा च दुष्टब्राह्मणा आहुः – 'सर्वमिदं प्रजापतिना ब्राह्मणेभ्यो दत्तं ब्राह्मणानां दौर्बल्याद् वृषलाः परिभुञ्जन्ते। तस्मादपहरन् ब्राह्मणः स्वमादत्ते स्वमेव तु कोष्ठं वस्ते स्वं ददाति' इति।" – वि० प्र० वृ०, पृ० १५४।

तु० – "स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जन्ते हीतरे जनाः॥"
– मनु० १ : १०१।

कामावचरकुसलकम्मं

५३. कामावचरकुसलम्पि कायद्वारे पवत्तं कायकम्मं, वचीद्वारे पवत्तं वचीकम्मं, मनोद्वारे पवत्तं मनोकम्मञ्चेति कम्मद्वारवसेन तिविधं होति।

५४. तथा दानसीलभावनावसेन।

५५. चित्तुप्पादवसेन पनेतं अट्ठविधं होति*।

कामावचर कुशल भी कायद्वार में प्रवृत्त होनेवाला कायकर्म, वाग्द्वार में प्रवृत्त होनेवाला वाक्कर्म एवं मनोद्वार में प्रवृत्त होनेवाला मनःकर्म – इस प्रकार कर्म एवं द्वार के सम्बन्ध से त्रिविध होता है।

उसी प्रकार दान, शील एवं भावना भेद से कामावचर कुशल त्रिविध होता है।

चित्तोत्पाद वश से यह कामावचर कुशलकर्म ८ प्रकार का होता है।

'विभावनी' की यह व्याख्या भी आचार्य के अभिप्राय के अनुकूल नहीं हो सकती। उस प्रकार ग्रहण करने में जब ग्रहण किया जा रहा है उस क्षण में, लोभ अथवा द्वेष – दोनों में से किसी एक का सम्प्रयोग होना चाहिये तथा अपनी वस्तु समझकर उसका ग्रहण करनेवाले ब्राह्मणों को अदिन्नादान भी नहीं हो सकता। यदि कपटपूर्वक ग्रहण होता है तो वह लोभ से ही होता है।

न्यायालय में मुकदमे के समय किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये यदि मृषावाद किया जाता है तो वह लोभ से ही होता है। यदि दूसरों को हानि पहुँचाने के लिये मृषावाद किया जाता है तो वह द्वेष से होता है। पैशुन्यवाक् के विषय में भी, जब पुद्गल अपने को प्रिय बनाने के लिये चुगली करता है तो वह लोभ से होती है और यदि दो व्यक्तियों के पारस्परिक प्रेम को भङ्ग करने के लिये की जाती है तो वह द्वेष से होती है। 'सम्फप्पलाप' भी यदि किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये किया जाता है या अपनी प्रसन्नता के लिये लिखकर या बोलकर किया जाता है तो वह लोभ से ही होता है। यदि वह 'सम्फप्पलाप' क्रोध के कारण होता है तो वह द्वेष से होता है।

इन कर्मपथों की उत्पत्ति में मोह तो नित्यसंप्रयुक्त रहता है, परन्तु उसके सर्वसाधारण होने से उसे विशेषरूप में न दिखलाकर 'असाधारण नय' के अनुसार लोभ एवं द्वेष को ही दिखलाया गया है[1]।

चित्तुप्पादवसेन...द्वादसविधं होति – ये १० अकुशल कर्मपथ, चित्त की उत्पत्ति के अनुसार १२ होते हैं। अर्थात् १२ अकुशलचित्त यथायोग्य प्राणातिपात-आदि के रूप में उत्पन्न होते हैं।

कामावचर कुशलकर्म

५३-५५. अकुशल कर्म ही कायकर्म, वाक्कर्म एवं मनःकर्म भेद से त्रिविध नहीं होते; अपितु कामावचर कुशलकर्म भी कायकर्म, वाक्कर्म एवं मनःकर्म–इस तरह तीन प्रकार के होते हैं; जैसे–

---

*. रो० में नहीं।

१. प० दी०, पृ० १९७।

तीन कायकर्म –

१. प्राणातिपातविरति, २. अदत्तादानविरति एवं ३. कामेसुमिथ्याचारविरति।

चार वाक्कर्म –

१. मृषावादविरति, २. पैशुन्यवाग्विरति ३. परुषवाग्विरति एवं ४. सम्भिन्न-प्रलापविरति (सम्फप्पलापविरति)।

तीन मनःकर्म –

१. अनभिध्या (अलोभ) २. अव्यापाद (अद्वेष) एवं ३. सम्यग्दृष्टि (अमोह =प्रज्ञा)।

इन दस धर्मों को 'कुशल कर्मपथ' एवं 'सुचरित' भी कहते हैं।

यहाँ 'कायद्वारे पवत्तं कायकम्मं' – आदि कहने पर भी कायद्वार से सम्बद्ध दुश्चरित (अकुशल कर्मपथ) से विरत होने को 'कायकर्म' कहा गया है। जैसे – जब किसी मनुष्य को प्राणातिपात करने का अवकाश प्राप्त होता है तब 'मैं प्राणातिपात नहीं करूँगा' – इस प्रकार की विरतिचेतना यद्यपि 'कायविज्ञप्ति' नामक कायद्वार में होनेवाली चेतना नहीं है, अपितु विज्ञप्तिरहित मनोद्वार में ही होती है; तथापि कायकर्मरूपी अकुशल प्राणातिपात से विरत होने के कारण उस विरतिचेतना को भी 'कायकर्म' कहा जाता है। वाक्कर्म में भी इसी तरह विचार करना चाहिये। कभी कभी 'दूसरों की प्राणहिंसा नहीं करूँगा' – इस प्रकार का मनसिकार करके पुद्गल उस प्राणहिंसा से विरत होता है, उस समय कायविज्ञप्ति भी हो सकती है। इसी तरह वाग्विज्ञप्ति भी हो सकती है[1]।

"तंतंद्वारिकमेवाहु तंतंद्वारिकपापतो।
विरमन्तस्स विञ्ञत्तिं विना वा सह वा पुन[2] ॥"

कुछ स्थलों पर मुख्य रूप से भी कायकर्म एवं वाक्कर्म कुशल होते हैं। दान करने में – साहत्थिक (अपने हाथ से) दान देता है तो कायविज्ञप्ति होने से वह कायकर्म दान होता है। 'मैं इस वस्तु का दान कर रहा हूँ' – इस प्रकार कहने पर वाग्विज्ञप्ति होने से वह वाक्कर्म दान होता है। इस प्रकार मुख्य रूप से कायकर्म एवं वाक्कर्म होने वाले कुशल भी होते हैं।

दान-सील-भावनावसेन – कुशल कर्मपथ के बारे में १० प्राणातिपात-विरति-आदि से ही कर्मपथ पूर्ण नहीं हो जाते; अपितु दान, शील-आदि से कर्मपथ होनेवाले अनेक कुशल-धर्म भी होते हैं, अतः उन कुशल धर्मों को दिखलाने के लिये 'तथा दान-सील-भावना-वसेन' कहा गया है। कुशल के विषय में – स्वप्न में होनेवाली जवनचेतना, पञ्चद्वारिक वीथि में होनेवाली जवनचेतना एवं मरणासन्नवीथि में होनेवाली जवनचेतना – इस प्रकार इन तीन चेतनाओं के अतिरिक्त अन्य सभी कुशल चेतनाओं के सम्बन्ध में 'उनके अङ्ग परिपूर्ण हैं या नहीं'? – इस प्रकार का विचार आवश्यक नहीं होता; क्योंकि सभी कर्म कर्मपथ ही होते हैं। परन्तु अत्यन्त तीक्ष्ण कुशलकर्म एवं अच्छी प्रकार से उपकारप्राप्त कुशलकर्म ही प्रतिसन्धिफल दे सकता है[3]।

---

१. प० दी०, पृ० १९७।

२. नाम० परि० ३८१ का०, पृ० २७।

३. प० दी०, पृ० १९७-१९८।

५६. दान-सील-भावना-अपचायन*-वेय्यावच्च-पत्तिदान-पत्तानुमोदन†-धम्मसवन‡-धम्मदेसना-दिट्ठुजुकम्मवसेन§ दसविधं होति ।

दान, शील, भावना, अपचायन, वैयावृत्य, पत्तिदान, प्राप्तानुमोदन, धर्मश्रवण, धर्मदेशना एवं दृष्टि-ऋजुकर्म भेद से कामावचर कुशलकर्म दस प्रकार के होते हैं ।

चित्तुप्पादवसेन अट्ठविधं होति' – चित्तोत्पाद के भेद से ये कामकुशल कर्म ८ महाकुशलचित्त ही होते हैं । अर्थात् ८ महाकुशल चित्त ही कायकर्म दान-आदि कुशल-कर्मों के रूप में होते हैं।

५६. दान – चेतनादान एवं वस्तुदान – इस प्रकार दान द्विविध होता है । 'दीयति एतेना ति दानं' जिस चेतना से दिया जाता है, वह चेतना 'दान' है । यहाँ देने की कारणभूत चेतना 'दान' कही गयी है¹ । अथवा 'दातब्बं ति दानं' अर्थात् दानीय (देय) वस्तु 'दान' है । यहाँ दातव्य वस्तु को 'दान' कहा गया है । इन दोनों में यहाँ

---

*. पमायन – रो०; पचायन – म० (ख) । †. पत्तानुमोदना – स्या० ।

‡. धम्मसवण – सी०; धम्मस्सवन – स्या० ।

§. दिट्ठुजु० – स्या०, दिट्ठिज्जु० – सी०, रो०, ना० ।

१. "दीयति एतेना ति दानं, वत्थुपरिच्चागचेतना ।" – प० दी०, पृ० १९८ ।
"दीयति एतेना ति दानं, परिच्चागचेतना ।" – विभा०, पृ० १३३ ।
"तत्थ चीवरादीसु चतूसु पच्चयेसु, रूपादीसु वा छसु आरम्मणेसु अन्नादीसु वा दससु दानवत्थूसु तं तं देन्तस्स तेसं तेसं उप्पादनतो पट्ठाय पुब्बभागे, परिच्चागकाले, पच्छा सोमनस्सचित्तेन अनुस्सरणे चा ति तीसु कालेसु पवत्ता चेतना 'दानमयं पुञ्ञकिरियवत्थु' नाम ।" – अट्ठ०, पृ० १२९; विभ०, पृ० ३८५; विभ० अ०, पृ० १४१ ।

तु० – "दीयते येन तद्दानं, पूजानुग्रहकाम्यया ।
कायवाक्कर्म सोत्थानं, तन्महाभोगवत्फलम् ।।"
– अभि० को० ४ : ११३ का०, पृ० १२५ ।

"दानं हि दीयते येन, स्वपरार्थाद्यपेक्षया ।
कायादिकर्म तत्तत्त्वमविज्ञप्तिः क्वचित्पुनः ।।"
– अभि० दी० २४४ का०, पृ० २१० ।

"फलेन सह सर्वस्वत्यागाच्चित्ताज्जनेऽखिले ।
दानपारमिता प्रोक्ता तस्मात् सा चित्तमेव तु ।।" – बोधि० ५ : १०, पृ० ५३ । द्र० – अभि० समु०, पृ० ५९ । विस्तार के लिये द्र० – म० नि०, तृ० भा० (दक्खिणाविभङ्गसुत्त), पृ० ३३९-३४४; अं० नि०, तृ० भा० (दानवग्गो), पृ० ३३६-३४६ ।
अभि० को० ४ : ११३-१२१ का०; अभि० दी० २४३-२५३ का०; वि० प्र० वृ०, पृ० २१०-२१५ ।

दानचेतना को 'दान' कहना अभीष्ट है। वह दानचेतना पुब्बचेतना, मुञ्चचेतना एवं अपरचेतना भेद से त्रिविध होती है। इनमें से 'दान दूँगा'– इस प्रकार के विचार से लेकर अथवा देय वस्तु न होने पर उस वस्तु को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करने से लेकर 'देता हूँ' (देमि) – इस प्रकार की चेतना के उत्पादक्षण से पूर्वभाग तक उत्पन्न चेतना को 'पुब्बचेतना' कहा जाता है। 'देता हूँ' (देमि) इस क्षण में उत्पन्न होनेवाली चेतना को 'मुञ्चचेतना' कहा जाता है, इसे 'सन्निट्ठानचेतना' भी कहते हैं। दान के अनन्तर उस दान का स्मरण करके उत्पन्न सौमनस्यचेतना को 'अपरचेतना' कहा जाता है। ये पुब्ब, मुञ्च एवं अपर चेतनाएँ जब सुअवसर लब्ध होता है तब, प्रतिसन्धिफल भी दे सकती हैं[1]।

"एकपुप्फं यजित्वान असीतिकप्पकोटियो।
दुग्गतिं नाभिजानामि एकपुप्फस्सिदं फलं[2] ॥"

अर्थात् एक पुष्प का दान देकर ८० कोटि कल्पपर्यन्त (मैं) दुर्गति को नहीं जानता हूँ – यह एक पुष्प का फल है।

यहाँ एक पुष्प का दान करने के कारण अनेक भवपर्यन्त दुर्गतिभूमि में उत्पाद न होकर निर्वाण तक की प्राप्ति की जा सकती है। इसमें अनेक भवपर्यन्त देवभूमि, मनुष्यभूमि-आदि में उत्पन्न होना इन पुब्ब, मुञ्च एवं अपर चेतनाओं द्वारा प्रतिसन्धि फल देने के फलस्वरूप होता है। इस पुष्पदानरूपी कुशल कर्म के फलस्वरूप पुद्गल जब सुगतिभूमि में उत्पन्न होता है तब वहाँ कल्याणमित्र-आदि के समागम से उपकार मिलने के कारण पुनः पुनः कुशल कर्म करने से निर्वाण तक की प्राप्ति की जा सकती है।

अथवा – हीन, मध्यम एवं प्रणीत भेद से दान तीन प्रकार के होते हैं। उनमें छन्द, चित्त, वीर्य एवं मीमांसा (वीमंसा=प्रज्ञा) के दुर्बल होने पर हीन दान, मध्यम होने पर मध्यम दान, एवं तीक्ष्ण होने पर दान 'प्रणीतदान' कहलाता है।

---

१. "तत्थ सानुसयसन्तानवतो परेसं पूजानुग्गहकामताय अत्तनो विज्जमानवत्थु-परिच्चजनवसप्पवत्तचेतना दानं नाम, दानवत्थुपरियेसनवसेन दिन्नस्स सोमनस्सचित्तेन अनुस्सरणवसेन च पवत्ता पुब्बपच्छाभागचेतना एत्थेव समोधानं गच्छन्ति।" – विभा०, पृ० १३३-१३४।

"एत्थ एकमेव तिविधं होति पुरिमं मज्झिमं पच्छिमं ति। तत्थ दाने ताव पटिग्गाहकस्स परिच्चागकरणं मज्झिमं नाम। ततो पुब्बे इमिना पच्चयेन दानमयं पुञ्ञं पवत्तयिस्सामीति पच्चयुप्पादनतो पट्ठाय दानं आरब्भ दानं उद्दिस्स तीसु द्वारेसु पवत्ता कुसलचेतना पुरिमा नाम। पच्छाभागे पन अत्तना दिन्नदानं आरब्भ पुनप्पुनं अत्तमनचित्तं उप्पादेन्तस्स पवत्ता कुसलचेतना पच्छिमं नाम।" – प० दी०, पृ० १९९।

तु० – अभि० को० ४ : ११६, पृ० १२७।

"आशयादिमृदुत्वादेर्मृदुत्वादीनि कर्मणः।" – अभि० दी० २४८ का०, पृ० २१३।

२. प० दी०, पृ० २०५।

अथवा – कीर्ति एवं गुणों के लिये किया गया दान 'हीनदान', कुशल फल प्राप्ति की इच्छा से किया गया दान 'मध्यमदान' एवं किसी फल की इच्छा न कर 'सभी सज्जन दान करते हैं अतः मुझे भी दान करना चाहिये' – ऐसा सोचकर निष्काम भाव से किया गया दान 'प्रणीत (उत्तम) दान' कहलाता है।

अथवा – अपने को बड़ा दिखाने के लिये तथा दूसरों को नीचा दिखाने की इच्छा से किया गया दान 'हीनदान', इस प्रकार की इच्छा न करके केवल लौकिक सुखों की कामना से किया गया दान 'मध्यमदान' एवं मार्ग तथा फल के सुख की कामना से किया गया दान 'प्रणीतदान' है।

अथवा – भवसम्पत्ति की कामना से किया गया दान 'हीनदान', केवल अपने को सांसारिक प्रपञ्च से मुक्त करने के लिये किया गया दान 'मध्यम दान' तथा सभी प्राणियों की मुक्ति के लिये की जानेवाली बोधिसत्त्वों की दानपारमिता 'प्रणीतदान' है[1]।

इस प्रकार शील एवं भावना-आदि में भी उपर्युक्त प्रकार से उनके हीन, मध्यम एवं प्रणीत भाव को यथायोग्य समझना चाहिये[2]।

सील – 'सीलयति काय-वची-कम्मानि सम्मा दहतीति सीलं' अर्थात् काय एवं वाक् कर्मों को भली भाँति सन्धारण एवं प्रतिष्ठापन करनेवाला 'शील' है।

---

१. द्र० – "अट्ठिमानि भिक्खवे ! दानानि...।" – अ० नि०, तृ० भा०, पृ० ३३६।

"यो वीतरागो वीतरागेसु ददाति दानं, धम्मेन लद्धं सुपसन्नचित्तो।
अभिसद्दहं कम्मफलं उळारं, तं वे दानं आमिसदानानमग्गं ति॥"
– म० नि०, तृ० भा०, पृ० ३४४।

तु० – "श्रेष्ठं मुक्तस्य मुक्ताय, बोधिसत्त्वस्य चाष्टमम्।"
– अभि० को० ४ : ११७, पृ० १२६।

"बोधिसत्त्वस्य यद्दानमन्यस्यापि यदष्टमम्।
विपश्चिद्भिस्तदाख्यातं, श्रेष्ठं यच्चार्हतोऽर्हते॥"
– अभि० दी० २५० का०, पृ० २१३।

"यत्खलु बोधिसत्त्वः सर्वसत्त्वहिताध्याशयेन दानं ददाति तदग्र्यमुत्तमार्थफलत्वात्। भगवताष्टौ खलु दानान्युक्तानि सूत्रे – 'आसाद्यदानम्, भयदानम्, अदात् मे दानम्, दास्यति मे दानम्, दत्तपूर्वं मे पितृभिर्दानम्, ददाति स्वर्गार्थम्, कीर्त्यर्थम्, यावदुत्तमार्थस्य प्राप्तये ददात्येतदग्र्यम्, यच्च त्रैधातुकवीतरागो अर्हन्नर्हते ददाति दानमिदमग्र्यमिति।" – वि० प्र० वृ०, पृ० २१४।

२. प० दी०, पृ० १९९।

अकुशल न होने देने के लिये कायकर्म एवं वाक्कर्मों को अच्छी प्रकार धारण करनेवाली या सम्यक् प्रतिष्ठापित करनेवाली चेतना शील है[1]। (दान एवं शील चेतना अर्हत् की सन्तान में भी हो सकती है, परन्तु यहाँ कुशलकर्म पुण्यक्रियावस्तु दिखलाना ही अभीष्ट होने के कारण कुशल चेतना का ही ग्रहण करना चाहिये। भावना-आदि में भी इसी प्रकार समझना चाहिये।)

वह शील भिक्षुशील, भिक्षुणीशील, श्रामणेरशील एवं गृहस्थशील – इस तरह चार प्रकार का होता है। उनमें से भिक्षु-प्रातिमोक्ष में आनेवाला शील 'भिक्षुशील' एवं भिक्षुणी-प्रातिमोक्ष में आनेवाला शील 'भिक्षुणीशील' है। वे शील पृथक् रूप से 'सिक्खापदं समादियामि' – इस प्रकार शिक्षापद का समादान करके ग्रहण किये जानेवाले शील नहीं हैं; अपितु भिक्षुओं के भिक्षुकर्म के लिये बनाये गये सीमागृह[2] में उपसम्पदा-ग्रहण करने के बाद अर्थात् भिक्षु या भिक्षुणी दीक्षा ले लेने के बाद अपने आप गृहीत हो जानेवाले शील हैं। भिक्षु या भिक्षुणियों को वे शील जीवनभर पालन करने पड़ते हैं। ये उनके नित्य शील हैं। जब किसी भिक्षु को पाराजिक आपत्ति[3] प्राप्त होती है या वह शिक्षापद का स्वयं त्याग कर देता है तब वह इन भिक्षुशीलों से मुक्त

---

१. "सीलयतीति सीलं काय-वची-कम्मानि सम्मा दहति, सम्मा ठपेतीत्यत्थो। सीलयति वा उपधारेतीति सीलं, उपधारणं पनेत्थ कुसलानं अधिट्ठानभावो।" – विभा०, पृ० १३३। "सीलयतीति सीलं, काय-वची-कम्मानि सावज्जानि निवारेत्वा अनवज्जानि सुसमाहितानि कत्वा सम्मा दहति, ठपेति, उपरिमे कुसलधम्मे च उपधारेति, तेसं पतिट्ठा हुत्वा धारेतीति अत्थो।" – प० दी०, पृ० १९८।

द्र० – विसु०, पृ० ४-५; मिलि०, पृ० ३५-३६; पटि० म०, पृ० ४९-५३; विभ०, पृ० ३८५।

"पञ्चसीलं अट्ठसीलं दससीलं समादियन्तस्स 'पब्बजिस्सामी' ति विहारं गच्छन्तस्स, पब्बजन्तस्स, 'मनोरथं मत्थके पापेत्वा पब्बजितो वतम्हि साधु सुट्ठू' ति आवज्जेन्तस्स, पातिमोक्खं संवरन्तस्स, चीवरादयो पच्चये पच्चवेक्खन्तस्स, आपाथगतेसु रूपादीसु चक्खुद्वारादीनि संवरन्तस्स, आजीवं सोधेन्तस्स च पवत्ता चेतना 'सीलमयं पुञ्ञकिरियवत्थु' नाम।" – अट्ठ०, पृ० १२९; विभ० अ०, पृ० १४५।

तु० – "दौःशील्यमशुभं रूपं, शीलं तद्विरतिर्द्विधा।
बुद्धेन प्रतिषिद्धाच्च, परिशुद्धं चतुर्गुणम्॥" – अभि० को० ४ : १२२ का०, पृ० १२७-१२८; अभि० दी० २५४-२५५ का०, पृ० २१५-२१६; अभि० समु०, पृ० ६०।

२. द्र० – म० व०, पृ० १०९।

३. द्र० – परा०, पृ० २७, ५५, ८८, ११३।

हो जाता है। इसके बाद भी यदि वह अपने को भिक्षु रूप में स्वीकार करता है तो उसका वह 'दुःशील' कहलाता है। यदि पाराजिक के अतिरिक्त अन्य शिक्षापदों में से किसी एक का अतिक्रमण करके वह विनय के अनुसार उसकी शुद्धि नहीं करता है तो उसे 'अलज्जी' पुद्‌गल कहा जाता है। भिक्षुणी के बारे में भी इसी प्रकार जानना चाहिये[1]। श्रामणेर यदि त्रिशरण का समादान करता है तो उसे त्रिशरण समादान के साथ ही साथ प्राणातिपातविरति-आदि दस शीलों का समादान अपने आप हो जाता है। उन्हें वे शील जबतक श्रामणेर रहता है पालन करने होते हैं। उन शीलों में से यदि उसका श्रामणेर-लिङ्गनाशक एक शील भी भङ्ग हो जाता है तो उसका श्रामणेर-भाव नष्ट हो जाता है और उसे पुनः त्रिशरण का समादान करना पड़ता है तथा ऐसा करने से वह पुनः शीलसम्पन्न हो जाता है। ये दस शील श्रामणेरों के नित्य-शील हैं[2]। गृहस्थों के लिये प्राणातिपातविरति-आदि पांच शील ही कहे गये हैं। उनका पृथक् रूप से समादान करना पड़ता है। वे उनके नित्यशील होते हैं। वे नित्य शील चाहे समादान किये हुये हों या न किये हुये हों, उनका पालन न करने से आपत्ति (पाप) होती है और यदि पालन किया जाता है तो लाभ होता है[3]।

उपोसथसील – अष्टाङ्गशील गृहस्थों का उपोसथशील है। उपोसथशील केवल उपोसथदिवस के लिये ही नहीं होता, अन्य दिनों में भी उसका पालन किया जा सकता है। गृहस्थ यदि चाहें तो दशशील का भी पालन कर सकते हैं। उपोसथ के दिन या अन्य दिनों में गृहस्थ द्वारा पालन किये जा रहे अष्टशील या दशशील में से पञ्चशील के अतिरिक्त किसी एक शील के भङ्ग होने से एक शील का भङ्ग होता है, किन्तु पञ्चशील के नित्यशील होने के कारण उनमें से किसी एक के भङ्ग होने से सम्पूर्ण शील भङ्ग हो जाता है। पञ्चशील से अतिरिक्त शीलों में से किसी एक के भङ्ग होने पर पाप नहीं होता, केवल फल की प्राप्ति नहीं होती; किन्तु पञ्चशील में से किसी एक के भङ्ग होने पर पाप होता है।

चारित्तसील एवं वारित्तसील – अपने देश, जाति, कुल एवं काल के अनुसार उचित समझे जानेवाले एवं आचरण किये जानेवाले कर्म 'चारित्त' (चारित्र्य) शील हैं तथा 'विनय-खन्धक' में आनेवाले वे कर्म जिनके पालन करने से तो कुशल फल होता है किन्तु पालन न करने से कोई आपत्ति नहीं होती, वे भी 'चारित्तशील' ही हैं। उनके न जानकर पालन न करने से पाप न होने पर भी लोक में निन्दा अवश्य होती है।

---

१. प० दी०, पृ० १९९-२००।

२. प० दी०, पृ० २००।

३. प० दी०, पृ० २००। तु० – विसु०, पृ० १०-११; विभ०, पृ० २१४-२१६।

जिनके पालन न करने से आपत्ति (पाप) होती है, वे पांच शील (पञ्चशील) 'वारित्तशील' हैं[1]। इनके पालन करने से कायिक एवं वाचिक कर्मों का संयमन एवं संरक्षण होता है। इसे 'इन्द्रियगुप्ति' भी कहते हैं[2]। चित्त का संयम – इनके द्वारा नहीं होता, वह केवल भावना से होता है।

भावना – 'अधिकुसलं भावेति उप्पादेति, वड्ढेतीति भावना' जो श्रेष्ठ कुशल-चित्तों का उत्पाद करती है या बढ़ाती है वह भावना है[3]। जब भावना प्रारम्भ की जाती है तब कुशलचित्त उत्पन्न होते हैं और तब 'उप्पादेति' – यह व्याख्या सार्थक

---

१. "यं भगवता 'इदं कत्तब्बं' ति पञ्ञत्तसिक्खापदपूरणं, तं चारित्तं; यं 'इदं न कत्तब्बं' ति पटिक्खित्तस्स अकरणं, तं वारित्तं। तत्रायं वचनत्थो – चरन्ति तस्मिं सीलेसु परिपूरकारिताय पवत्ततीति 'चारित्तं'; वारन्ति तायन्ति रक्खन्ति तेना ति 'वारित्तं'। तत्थ सद्धाविरियसाधनं 'चारित्तं'; सद्धासतिसाधनं 'वारित्तं'।" – विसु०, पृ० ७।

२. तु० – विसु०, पृ० १३-१५; विभ०, पृ० २६८-२६९; दी० नि०, प्र० भा०, पृ० ६२।

३. "भावेन्ति एताया ति 'भावना'। अधिकुसलधम्मे अनुप्पन्ने वा उप्पादेन्ति, उप्पन्ने वा वड्ढेन्तीति अत्थो।" – प० दी०, पृ० १९८।

"भावेति कुसलधम्मे आसेवति वड्ढेति एताया ति 'भावना'।" – विभा०, पृ० १३३।

"पटिसम्भिदायं वुत्तेन विपस्सनामग्गेन चक्खुं अनिच्चतो दुक्खतो अनत्ततो भावेन्तस्स....जरामरणं अनिच्चतो दुक्खतो अनत्ततो भावेन्तस्स पवत्ता चेतना अट्ठतिंसाय वा आरम्मणेसु अप्पनं अप्पत्ता सब्बापि चेतना 'भावना-मयं पुञ्ञकिरियवत्थु' नाम।" – अट्ठ०, पृ० १२९; विभ०, पृ० ३८५; विभ० अ०, पृ० १४५।

द्र० – पटि० म०, पृ० ५३-५५; विसु०, पृ० ५७-५९।

तु० – "समाहितं तु कुशलं, भावना चित्तवासनात्।" – अभि० को० ४ : १२३ का०, पृ० १२८।

"समाहितग्रहणमसमाहितनिवृत्त्यर्थम्। कुशलग्रहणं समाहितास्वादनासम्प्र-युक्तक्लिष्टध्याननिवृत्त्यर्थम्। तत्समाहितकुशलसदृशमुत्पद्यते।" – स्फु०, पृ० ४३७।

"पुण्यं समाहितं त्वत्र, भावना चित्तभावनात्।" – अभि० दी० २५६ का०, पृ० २१६।

"यत्समाधिस्वभावं समाहितं पुण्यं तद्भावनेत्युच्यते। कस्मात्? चित्तभावनात्। यथा – तैलं पुष्पैश्चम्पकादिभिर्वासितं तन्मयीभवति तत्समाधिसम्प्रयुक्तैस्तत्सह-भूभैश्च धर्मैश्चित्तं भावितं वासितमित्युच्यते, तन्मयीकरणात्।" – वि० प्र० वृ०, पृ० २१६-२१७।

होती है। कुशलचित्तों के उत्पाद के अनन्तर पुनः पुनः भावना करने से वे कुशलचित्त वृद्ध होते हैं तब 'वड्ढेति'—यह विग्रह सार्थक होता है। 'कम्मट्ठान' परिच्छेद में आनेवाली शमथभावना एवं विपश्यनाभावना—इन दोनों को 'भावना' कहते हैं। यहाँ कामकुशल को दिखलानेवाला विषय प्रस्तुत होने से उन दोनों भावनाओं की भावना करते समय अर्पणा के पूर्वभाग में होनेवाली कामावचर कुशलभावना का ही ग्रहण करना चाहिये। यहाँ दोषरहित शिल्प एवं धार्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय (परियत्ति) भी भावना के भीतर ही समाविष्ट होते हैं[1]।

अपचायन—'अपचायन्ति एतेना ति अपचायनं' कामकुशलचेतना से अभिवादन करना, अभ्युत्थान करना एवं आदर व्यक्त करना—आदि अपचायन है[2]। अतः इस अपचायन की कारणभूत चेतना को ही 'अपचायन' कहते हैं। माता, पिता, गुरु एवं धर्म का पालन करनेवाले श्रमण एवं ब्राह्मणों के प्रति सम्मान व्यक्त करना एवं उनका अभिवादन करना—आदि, जो अपने लाभ या यश के लिये नहीं होता, 'अपचायन' है[3]।

वेय्यावच्च—'व्यावटस्स भावो वेय्यावच्चं' व्यापृत (अपने गुरुजनों की शुश्रूषा में संलग्न पुद्गल) का भाव 'वेय्यावच्च' है[4]। अर्थात् माता पिता एवं रोगी-आदि

---

१. "उपरि वुच्चमाना समथविपस्सनावसेन दुविधा भावना 'भावना' नाम। सा इध अप्पनं अप्पत्ता व अधिप्पेता। धम्मविनयपरियत्तिया सह अनवज्जकम्मसिप्पविज्जाठानेसु परिचयकरणचेतनापि एत्थेव सङ्गय्हति।"—प० दी०, पृ० २०१।

"चत्तालीसाय कम्मट्ठानेसु खन्धादीसु च भूमीसु परिकम्मसम्मसनवसप्पवत्ता अप्पनं अप्पत्ता गोत्रभूपरियोसानचेतना 'भावना' नाम। निरवज्जविज्जादिपरियापुणनचेतनापि एत्थेव समोधानं गच्छति।"—विभा०, पृ० १३४।

२. प० दी०, पृ० १९८; विभा०, पृ० १३३।

३. "रतनत्तये पन मातापितूसु कुले जेट्ठेसु आचरियेसु धम्मिकसमणब्राह्मणेसु अञ्ञेसु च गुणवयवुद्धेसु यथारहं पच्चुट्ठानं वन्दनं अञ्जलिकरणं सामिचिकरणं वत्तपटिवत्तकरणं ति एवमादि सब्बं 'अपचायनं' नाम।"—प० दी०, पृ० २०१।

"वयसा गुणेहि च जेट्ठानं चीवरादीसु पच्चासाररहितेन असङ्किलिट्ठज्झासयेन पच्चुट्ठान-आसनाभिनीहारादिविधिना बहुमानकरणचेतना 'अपचायनं' नाम।"—विभा०, पृ० १३४।

"महल्लकं पन दिस्वा पच्चुग्गमन-पत्तचीवरपटिग्गहण-अभिवादनमग्गसम्पदानादिवसेन 'अपचितिसहगतं' ति वेदितब्बं।"—अट्ठ०, पृ० १२९।

४. "विसेसेन आवरन्ति उस्सुकं आपज्जन्तीति व्यावटा, व्यावटानं भावो कम्मं वा वेय्यावच्चं।"—प० दी०, पृ० १९८; विभा०, पृ० १३३।

अन्य व्यक्तियों के अद्दिष्ट कार्यों में सहायता करने की कारणभूत चेतना 'वेय्यावच्च' है[1]।

पत्तिदान – 'पत्तब्बा ति पत्ति, पत्तिया दानं पत्तिदानं' प्राप्तव्य को 'पत्ति' कहते हैं। उस प्राप्तव्य कुशल का समभाग देना 'पत्तिदान' है[2]। जब पुद्गल सर्वप्रथम किसी वस्तु का दान करता है तब उस दान की कारणभूत दानचेतना दायक में ही प्राप्तव्य होने के कारण 'पत्ति' कही जाती है। उस प्राप्तव्य कुशलभाग को किसी एक सत्त्व के या सम्पूर्ण सत्त्वों के उद्दिष्ट से 'यह कुशल, जितना मुझे प्राप्त हुआ है, उतना किसी एक को या सम्पूर्ण सत्त्वों को प्राप्त हो' – ऐसा मनसिकार करके देने की कारणभूतचेतना 'पत्तिदान' है[3]। इस प्रकार कुशलभाग दूसरों को देने से दानस्वामी में कुशल कम नहीं होता। जैसे किसी मोमबत्ती से दूसरी मोमबत्ती जला लेने से प्रथम मोमबत्ती का प्रकाश कम नहीं होता, अपितु प्रकाश में वृद्धि ही होती है; उसी प्रकार अपने प्राप्त कुशल दूसरों को देने से दानस्वामी में होनेवाले दानकुशल के अतिरिक्त और पत्तिदान कुशल भी हो जाता है[4]। इस विषय में यद्यपि अट्ठकथाओं में दान करके उसका समभाग अन्य के लिये विसर्जित करनामात्र 'पत्तिदान' कहा गया है[5]; किन्तु 'संगीतिसुत्तटीका' में अन्य कुशल अर्थात् शील, भावना, आदि करके उसके समभाग का दूसरों के लिये विसर्जन भी 'पत्तिदान' कहा गया है।

---

१. "तेसमेव गिलानानञ्च यथावुत्तज्झासयेन तंतंकिच्चकरणचेतना 'वेय्यावच्चं' नाम।" – विभा०, पृ० १३४। द्र० – प० दी०, पृ० २०१।
"वुड्ढतरानं वत्तपटिवत्तकरणवसेन गामं पिण्डाय पविट्ठं भिक्खुं दिस्वा पत्तं गहेत्वा गामे भिक्खं समादपेत्वा उपसंहरणवसेन, 'गच्छ, भिक्खूनं पत्तं आहरा' ति सुत्वा वेगेन गन्त्वा पत्ताहरणादिवसेन च कायवेय्यावटिककाले 'वेय्यावच्च-सहगतं' वेदितब्बं।" – अट्ठ०, पृ० १२६।

२. "पज्जितब्बा ति पत्ति, अत्तनि लद्धपुञ्ञकोट्ठासस्स नाम। पापीयतीति वा पत्ति, परेहि अनुमोदन्तेहि लद्धब्बस्स पुञ्ञनिस्सन्दस्सेतं नाम। पत्तिं ददन्ति एतेना ति पत्तिदानं।" – प० दी०, पृ० १९८।
"अत्तनो सन्ताने निब्बत्ता पत्ति दीयति एतेना ति पत्तिदानं।" – विभा०, पृ० १३३।

३. प० दी०, पृ० २०१।

४. "किं पनेवं पत्तिं ददतो पुञ्ञक्खयो होतीति? न होति। यथा पन एकं पदीपं जालेत्वा ततो दीपसहस्सं जालेन्तस्स 'पठमदीपो खीणो' ति न वत्तब्बो। पुरिमालोकेन पन सद्धिं पच्छिमालोको एकतो हुत्वा अतिमहा होति, एवमेव पत्तिं ददतो परिहानि नाम नत्थि।" – अट्ठ०, पृ० १२६।

५. "दानं दत्वा गन्धादीहि पूजं कत्वा 'असुकस्स नाम पत्ति होतू' ति वा 'सब्ब-सत्तानं होतू' ति वा पत्तिं ददतो 'पत्तानुप्पदानं' वेदितब्बं।" – अट्ठ०, पृ० १२६।

पत्तानुमोदन – 'पत्तिया अनुमोदनं पत्तानुमोदनं' दूसरों द्वारा दिये गये कुशल भाग का अनुमोदन करनेकी कारणभूत चेतना 'पत्तानुमोदन' है[1]।

"परेहि दिन्नाय पत्तिया 'साधु, सुट्ठू' ति अनुमोदनवसेन 'पत्तब्भनुमोदनं' वेदितब्बं[2]।"

"परेहि दिन्नाय पत्तिया वा अञ्ञाय वा पुञ्ञकिरियाय 'साधु, सुट्ठू' ति अनुमोदनवसेन 'अब्भनुमोदनं' वेदितब्बं[3]।"

– इन दोनों अट्ठकथाओं को ध्यान में रखना चाहिये। 'सङ्गीतिसुत्तट्ठकथा' में 'पत्तब्भनुमोदनं' कहने के कारण 'पत्तिया अब्भनुमोदनं' – इस प्रकार पदच्छेद करके 'पत्तिया' की 'परेहि दिन्नाय पत्तिया' – ऐसी व्याख्या की गयी है। इसका अर्थ हुआ कि 'दान-स्वामी द्वारा दिये गये समभाग का साधुवाद करने से पत्तानुमोदन' कुशल होता है। 'अट्ठसालिनी' में 'अब्भनुमोदन' कहने के कारण दानस्वामी द्वारा दिये गये समभाग दान कुशल के प्रति अनुमोदन की अपेक्षा करके 'परेहि दिन्नाय पत्तिया वा' कहा गया है तथा दानस्वामी द्वारा समभाग नहीं दिये गये दानकुशल एवं शील-पालन करनेवाले के शीलकुशल-आदि के प्रति किये गये अनुमोदन की अपेक्षा करके 'अञ्ञाय वा पुञ्ञकिरियाय' – ऐसी व्याख्या की गयी है। इनमें से समभाग देने के कारण अनुमोदन करना 'पत्तानुमोदन' होता है। समभाग न देने पर भी किया गया अनुमोदन केवल अनुमोदन ही होता है, पत्तानुमोदन नहीं।

"परेहि अनुप्पदिन्नताय पत्तं अब्भनुमोदति एतेना ति पत्तब्भनुमोदनं, अनुप्पदिन्नं पन केवलं अब्भनुमोदयति एतेना ति अब्भनुमोदनं[4]।"

'पत्ति' शब्द भी दो प्रकार का होता है – १. उद्दिस्सिक पत्ति एवं २. अनुद्दिस्सिक पत्ति। किसी एक प्रेत व्यक्ति के उद्देश्य से दिये गये समभाग को 'उद्दिस्सिक पत्ति' तथा किसी एक व्यक्ति के उद्देश्य से नहीं, अपितु सम्पूर्ण प्राणियों के उद्देश्य से दिये गये समभाग को 'अनुद्दिस्सिक पत्ति' कहते हैं। उनमें से उद्दिस्सिक पत्ति प्रेत द्वारा साधुवाद किये जाने पर दृष्टधर्मफल देनेवाली होती है। अनुद्दिसिक पत्ति का साधुवाद किया जाने पर दृष्टधर्मफल की प्राप्ति-सम्बन्धी कोई कथा उपलब्ध नहीं है, किन्तु उसका फल भी महान् होता है[5]।

---

१. "पत्तिं अनुमोदति एताया ति 'पत्तानुमोदना'।" – विभा०, पृ० १३३।
"तदेव परेहि दिन्नं अनुमोदन्ति, साधुकारं ददन्ति एतेना ति पत्तानुमोदनं।" – प० दी०, पृ० १९८।

२. दी० नि० अ०, तृ० भा० (पाथिकवग्गट्ठकथा), पृ० १८२।

३. अट्ठ०, पृ० १२९।

४. सङ्गीतिसुत्तटीका।

५. प० दी०, पृ० २०१।

धम्मसवन—लोकप्रशंसा की अपेक्षा न करके अपने ज्ञान के लिये तथा दूसरों को भली प्रकार धर्मदेशना करने के लिये धर्मश्रवण करना 'धम्मसवन' है[1]।

धम्मदेसना—लाभ, सत्कार, यश-आदि की कामना न करके सत्त्वों के हित सुख के लिये पवित्र चेतना द्वारा की गयी धर्मदेशना 'धर्मदेशनाकुशल' है[2]।

दिट्ठिजुकम्म—इसमें सम्यक् देखनेवाले ज्ञान को 'दृष्टि' कहते हैं। वह दृष्टि स्वसम्बद्ध कारणों द्वारा ऋजु किये जाने के कारण 'ऋजु कर्म' कहलाती है। 'अत्तनो पच्चयेहि उजुं करीयतीति उजुंकम्मं'।

सत्त्वों में कर्म एवं कर्मफलों के विचित्र होने तथा एक के दूसरे से असदृश होने आदि के कारणों का जब विचार किया जाता है तब सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होती है। इस तरह विचार करने आदि कारणों द्वारा वह दृष्टि ऋजु कर दी जाती है। इसलिये 'दिट्ठि एव उजुकम्मं दिट्ठिजुकम्मं' कहा जाता है[3]।

सत्कायदृष्टि का प्रहाण न किया जा सकने पर भी नत्थिक, अहेतुक एवं अक्रिय दृष्टियों का उपादान न करके यदि कर्म, कर्मफल पर विश्वास करनेवाला कम्मस्सकता (कर्मस्वकता) ज्ञान होता है तब 'दिट्ठिजुकम्मपुञ्ञक्रियावत्थु' होती है।

"कम्मस्सकता ञाणं दिट्ठिजुकम्मं[4]"—यहाँ 'दिट्ठिजुकम्मं' शब्द द्वारा यद्यपि ज्ञान का ही ग्रहण होता है, तथापि चूंकि यहाँ कुशलकर्म चेतना दिखानेवाला विषय ही प्रस्तुत होने के कारण ज्ञान से सम्प्रयुक्त चेतना को भी अविनाभावनय से 'दिट्ठिजुकम्म' कहा जा सकता है।

'कम्मं सकं येसं ति कम्मस्सका, कम्मस्सकानं भावो कम्मस्सकता; कम्मस्सकताय ञाणं कम्मस्सकताञाणं' अर्थात् जिनका कर्म ही अपना होता है वे पुद्गल कर्मस्वक हैं, उनका भाव कर्मस्वकता है तथा उसका ज्ञान 'कर्मस्वकताज्ञान' कहलाता है[5]।

जब सत्त्वों की नाना प्रकार की उत्पत्ति पर विचार किया जाता है तब 'कर्म ही स्कन्धसन्तति का अनुसरण करता है, धन, सम्पत्ति—आदि नहीं; अतः कर्म ही अपना है, धन सम्पत्ति अपनी नहीं'—इस प्रकार उत्पन्न ज्ञान ही 'कर्मस्वकताज्ञान' कहा जाता

---

१. विभा०, पृ० १३४; प० दी०, पृ० २०१; अट्ठ०, पृ० १३०।

२. विभा०, पृ० १३४; प० दी०, पृ० २०१; अट्ठ०, पृ० १२६।

३. "अत्थि दिन्नं, अत्थि यिट्ठं, अत्थि हुतं, अत्थि सुकतदुक्कटानं कम्मानं फलं विपाको ति आदिना दसवत्थुकं सम्मादिट्ठि उजुं करोति एतेना ति दिट्ठिजुकम्मं।"—प० दी०, पृ० १६८-१६६; विभा०, पृ० १३३; अट्ठ०, पृ० १३०।

४. ध० स० मू० टी०, पृ० १००।

५. विभा०, पृ० १३४; प० दी०, पृ० २०१। द्र०—अट्ठ०, पृ० ३२१; विभ० अ०, पृ० ४१५; मिलि०, पृ० ६८-६६। तु०—अभि० दी०, पृ० १८३; अभि० समु०, पृ० ६१।

५७. तं पनेतं वीसतिविधम्पि कामावचरकम्ममिच्चेव सङ्खं गच्छति ।

बीस प्रकार का भी वह कुशल एवं अकुशल कर्म 'कामावचर कर्म' – इस प्रकार की संज्ञा को ही प्राप्त करता है ।

है । अपनी सन्तान में जब उसी प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है तब वह 'दिट्ठिजुकम्म' कहलाता है ।

जिस क्षण में 'दिट्ठिजुकम्म' होता है उस क्षण में ज्ञानसम्प्रयुक्त महाकुशल चित्त ही होते हैं । उस दृष्टि-ऋजुकर्म के पूर्वभाग (पूर्व चेतनाक्षण) एवं अपरभाग (अपर चेतनाक्षण) में भी आठ महाकुशल चित्त ही यथायोग्य होते हैं[1] ।

कुछ स्थलों पर पुण्यक्रियावस्तु दस न कह कर तीन ही कही गयी हैं । जैसे – दानमय, शीलमय एवं भावनामय । अवशिष्ट सात का भी इन तीनों में ही अन्तर्भाव हो जाता है[2] । यथा –

१. दान – पत्तिदान, पत्तानुमोदन ।

२. शील – अपचायन, वेय्यावच्च ।

३. भावना – धम्मसवन, धम्मदेसना, दिट्ठिजुकम्म ।

अथवा – दिट्ठिजुकम्म सभी पुण्यक्रियावस्तुओं के महत्फल होने में प्रधान कारण है । जैसे नाविक के न होने पर नाव अपने गन्तव्य स्थान पर सीधे नहीं पहुँच सकती, उसी प्रकार दान, शील - आदि में कम्मस्सकताज्ञान नाम का दिट्ठिजुकम्म नहीं होता है तो उन कर्मों का महाफल नहीं हो पाता । दिट्ठिजु कर्म होने पर ही ज्ञानसम्प्रयुक्त कुशलचित्त हो सकते हैं । यदि दिट्ठिजु कर्म नहीं होगा तो ज्ञानविप्रयुक्त कुशल चित्त ही होंगे । अतः 'दिट्ठिज्जुकर्म, दान शील एवं भावना में प्रधान होने से उसका दान, शील, भावना – तीनों में अन्तर्भाव करना चाहिये' – इस प्रकार सङ्गीतिसुत्तट्ठकथा में कहा गया है[3] ।

५७. अकुशलचित्त १२, महाकुशल ८=२०में सम्प्रयुक्त होनेवाली चेतना को 'कामावचर कर्म' कहते हैं ।

कामावचर कुशलकर्म समाप्त ।

---

१. "'दिट्ठिं उजुकं करिस्सामी' ति चिन्तेन्तो पि तेसं येव अञ्ञतरेन चिन्तेति, दिट्ठिं उजुकं करोन्तो पन चतुन्नं ञाणसम्पयुत्तानं अञ्ञतरेन करोति, 'दिट्ठि मे उजुका कता' ति पच्चवेक्खन्तो अट्ठन्नं अञ्ञतरेन पच्चवेक्खति ।" – अट्ठ०, पृ० १३१ ।

२. "सुत्ते पन तीणि येव पुञ्ञकिरियवत्थूनि आगतानि । तेसु इतरेसं पि सङ्गहो वेदितब्बो । अपचिति-वेय्यावच्चानि हि सीलमये सङ्गहं गच्छन्ति; पत्तानुप्पदान-अब्भनुमोदनानि दानमये; देसना-सवण-दिट्ठुजुकम्मानि भावनामये ।" – अट्ठ०, पृ० १३० ।

३. दी० नि० अ०, तृ० भा० (सङ्गीतिसुत्तट्ठकथा), पृ० १८२ ।
द्र० – विभा०, पृ० १३४-१३५; अट्ठ०, पृ० १३०-१३१ ।

महग्गतकुसलकम्मं

रूपकुसलकम्मं

५८. रूपावचरकुसलं पन मनोकम्ममेव। तञ्च भावनामयं, अप्पनापत्तं* झानङ्गभेदेन पञ्चविधं होति।

रूपावचर कुशल कर्म मनःकर्म ही है। वह भी भावनामय, अर्पणाप्राप्त होता है तथा ध्यानाङ्गों के भेद से पाँच प्रकार का होता है।

अरूपकुसलकम्मं

५९. तथा अरूपावचरकुसलञ्च मनोकम्मं। तम्पि भावनामयं, अप्पनापत्तं, आरमणभेदेन† चतुब्बिधं होति।

उसी प्रकार अरूपावचर कुशल कर्म भी मनःकर्म ही है। वह भी भावनामय है अर्पणा प्राप्त होता है तथा आलम्बन के भेद से चार प्रकार का होता है.

महग्गत कुशलकर्म

५८. रूपावचर कुशलकर्म – रूपावचर कुशलकर्मों के कायकर्म, वाक्कर्म एवं मनःकर्म – इस प्रकार के तीन भेद नहीं होते, अपितु वे केवल मनःकर्म ही होते हैं। तथा वे दान, शील, भावना भेद से भी त्रिविध न होकर केवल भावनामय ही होते हैं।

यहाँ मनःकर्म को भावनामय कहने पर भी वे कामकुशल मनःकर्म, जिस प्रकार भावनामय होते हैं उस प्रकार भावनामय नहीं हैं; अपितु 'अर्पणा' नामक ध्यान को प्राप्त होनेवाले भावनामय मनःकर्म हैं। इसलिये 'अप्पनापत्तं' कहा गया है।

चित्तपरिच्छेद के अनुसार किसी चित्त में पाँच ध्यानाङ्ग, किसी में चार ध्यानाङ्ग, किसी में तीन ध्यानाङ्ग, किसी में दो ध्यानाङ्ग – इस प्रकार ध्यानाङ्गों द्वारा भेद किया जाने के कारण रूपावचर कुशल पाँच प्रकार के होते हैं।

५९. अरूपावचर कुशलकर्म – अरूपावचर कुशलकर्म भी मनःकर्म, भावनामय तथा अर्पणाप्राप्त होते हैं। चित्तपरिच्छेद के अनुसार आकाशप्रज्ञप्ति-आदि आलम्बनों के भेद से अरूपावचर कुशल कर्म चार प्रकार के होते हैं।

महग्गत कुशलकर्म समाप्त।

---

*. अप्पणाप्पत्तं – सी०।

†. आलम्बन० – सी०, स्या०; आलम्बणभेदेण – रो०; आरम्मण० – मं० (ख), ना०।

कम्मविपाकट्ठानं

कामावचर-अकुसलकम्मविपाकट्ठानं

६०. एत्थाकुसलकम्ममुद्धच्चरहितं अपायभूमियं पटिसन्धिं जनेति। पवत्तियं पन सब्बम्पि द्वादसविधं सत्ताकुसलपाकानि सब्बत्थापि* कामलोके रूपलोके च यथारहं विपच्चति।

इन चार प्रकार के कर्मों में औद्धत्यरहित अकुशल कर्म अपायभूमि में प्रतिसन्धिफल का उत्पाद करते हैं। प्रवृत्तिकाल में तो सभी १२ अकुशल कर्म, ७ अकुशलविपाकचित्तों को सभी कामभूमि एवं रूपभूमि में यथायोग्य उत्पन्न करते हैं।

कर्मविपाकभूमि

कामावचर अकुशलकर्म विपाकभूमि

६०. बारह अकुशल कर्मों में से औद्धत्यचेतनावर्जित शेष ग्यारह चेतनायें प्रतिसन्धिफल देती हैं। औद्धत्य चेतना प्रतिसन्धिफल नहीं दे सकती। जैसे—लोक में किसी को 'तेजस्वी' (पराक्रमी) कहा जाता है, फिर भी वस्तुतः वह अकेले अपने में तेजस्वी नहीं हो सकता। इसी तरह सेनापति बड़ा प्रतापी समझा जाता है तो भी वह अकेले प्रतापी नहीं हो सकता, यदि उसके पीछे सैन्यबल न हो। सेना का बल पाकर ही वह शत्रु को पराजित कर पाता है। जिस तरह वह यथायोग्य सहायता प्राप्त करके ही अपने कृत्य में समर्थ हो पाता है उसी तरह यह 'चेतना' चैतसिक भी एक तीक्ष्ण (तेजःसम्पन्न) चैतसिक है। सभी कृत्यों में वही चेतना 'कर्म' यह नाम प्राप्त करती है। और वही चेतना अनागतकाल में प्रतिसन्धिफल का उत्पाद करती है। प्रतिसन्धिफल देकर एक भव का निर्माण करना सामान्य कार्य नहीं है। सहायक चैतसिकों का बल प्राप्त करके ही वह उस कार्य में सक्षम हो पाती है।

'औद्धत्य चेतना प्रतिसन्धिफल देने में समर्थ है कि नहीं?'—इस पर विचार करने के लिये 'उसका अनुसरण करनेवाले (सम्प्रयुक्त) धर्म पर्याप्त हैं कि नहीं?'—इस पर विचार किया जाता है। औद्धत्यसहगतचित्त में लोभ एवं द्वेष नहीं होते तथा दृष्टि, मान, ईर्ष्या, मात्सर्य एवं कौकृत्य भी उसमें सम्प्रयुक्त नहीं होते। बुद्ध, धर्म-आदि के प्रति संशय करनेवाली विचिकित्सा भी उसके साथ नहीं है। इस प्रकार तीक्ष्ण चैतसिकों में से कोई भी चैतसिक उसके साथ सम्प्रयुक्त नहीं होता। इस तरह प्रबल सहायकों से सहायता प्राप्त न होने के कारण वह औद्धत्यसहगत चित्त में सम्प्रयुक्त चेतना प्रतिसन्धिफल को धारण करके एक नये भव का कथमपि निर्माण नहीं कर सकती[1]।

---

*. सब्बथापि—स्या०।

१. ब० भा० टी०।

'अट्ठसालिनी' में 'अकुशल' पद की व्याख्या के प्रसङ्ग में अधिमोक्ष के साथ सम्प्रयुक्त न होने पर भी जब दुर्बल विचिकित्सासहगतचित्त प्रतिसन्धिफल आकृष्ट कर सकता है तो अधिमोक्ष से सम्प्रयुक्त होने से प्रबल होनेवाला औद्धत्यसहगतचित्त क्यों प्रतिसन्धिफल का आकर्षण नहीं कर सकता?—इस प्रकार प्रश्न करके 'स्रोतापत्तिमार्ग द्वारा प्रहातव्य धर्मों में सम्मिलित न होने के कारण औद्धत्यसहगतचित्त प्रतिसन्धिफल का आकर्षण नहीं कर सकता'—ऐसा उत्तर दिया गया है।

औद्धत्यचेतना यदि प्रतिसन्धि फल देगी तो उसे अपायभूमि में ही प्रतिसन्धिफल देना पड़ेगा। औद्धत्यचेतना का स्रोतापत्तिमार्ग द्वारा प्रहाण नहीं किया जा सकने के कारण स्रोतापन्न पुद्गल को अपायभूमि में ही उत्पन्न होना पड़ेगा—यह कठिनाई होगी। 'चतूहापायेहि च विप्पमुत्तो' के अनुसार स्रोतापन्न पुद्गल अपायभूमि में उत्पन्न नहीं हो सकते—यह स्पष्ट है। इस प्रकार स्रोतापत्तिमार्ग द्वारा प्रहातव्य क्लेश-धर्मों में औद्धत्य के न होने से औद्धत्यचेतना अपाय प्रतिसन्धिफल नहीं दे सकती—ऐसा जानना चाहिये[1]।

औद्धत्यचेतना यद्यपि स्रोतापत्तिमार्ग द्वारा प्रहातव्य धर्मों में नहीं होती, तथापि ऊपर के मार्गों द्वारा प्रहातव्य धर्मों में सम्मिलित है। अतः स्रोतापत्तिमार्ग द्वारा प्रहातव्य धर्मों में सम्मिलित न होने मात्र से ही उसके प्रतिसन्धिफल न दे सकनेवाला कारण कैसे जाना जा सकता है?

'पट्ठानपालि' में 'नानक्खणिक कम्मपच्चय', फल देनेवाली चेतनाओं को चुनकर उपदेश किया गया प्रत्यय है[2]। उस 'नानक्खणिककम्मपच्चय' में ऊपर के मार्गों द्वारा प्रहातव्यधर्मों को पृथक् न दिखलाया जाकर स्रोतापत्तिमार्ग द्वारा पृथक् प्रहातव्यधर्मों को तथा ऊपर एवं नीचे के मार्गों द्वारा सम्मिलित रूप से प्रहातव्यधर्मों को ही दिखलाया जाने से स्रोतापत्तिमार्ग द्वारा प्रहातव्यधर्मों में न आनेवाला धर्मसमूह प्रतिसन्धिफल नहीं दे सकता—ऐसा स्पष्टतया ज्ञात होता है।

'नानक्खणिककम्मपच्चय' प्रतिसन्धि एवं प्रवृत्तिफल—दोनों को या प्रवृत्तिफल को ही देनेवाले धर्मों को दिखलानेवाला प्रत्यय है। उस 'नानक्खणिककम्मपच्चय' में ऊपर के मार्गों द्वारा पृथक् प्रहातव्य औद्धत्य को नहीं दिखलाया जाने से वह (औद्धत्यचेतना) प्रवृत्तिफलमात्र भी नहीं दे सकती—क्या ऐसा माना जा सकता है?

इसका समाधान 'पट्ठानपालि' में नहीं किया गया है; किन्तु 'पटिसम्भिदा-विभङ्गपालि' में "यस्मिं समये अकुसलं चित्तं उप्पन्नं होति उपेक्खासहगतं उद्धच्चसम्पयुत्तं...। इमेसु धम्मेसु ञाणं धम्मपटिसम्भिदा, तेसं विपाके ञाणं अत्थपटिसम्भिदा"[3]—ऐसा कहा गया है। इस पालि के अनुसार औद्धत्यचेतना फल दे सकती है—ऐसा जाना जा सकता

१. अट्ठ०, पृ० २११।

२. द्र०—पट्ठान, तृ० भा० (नानक्खणिककम्मपच्चय), पृ० ४८; विसु०, पृ० ३७७।

३. विभ०, पृ० ३५४-३५५।

कामावचरकुसलकम्मविपाकट्ठानं

६१. कामावचरकुसलम्पि* कामसुगतियमेव† पटिसन्धि जनेति, तथा पवत्तियञ्च महाविपाकानि, अहेतुकविपाकानि पन‡ अट्ठ पि सब्बत्थापि कामलोके रूपलोके च यथारहं विपच्चति।

कामावचर कुशल भी कामसुगतिभूमियों में ही प्रतिसन्धिफल का उत्पाद करते हैं, तथा उस कामसुगतिभूमि में ही प्रवृत्तिकाल में महाविपाकचित्तों को उत्पन्न करते हैं। आठ अहेतुकविपाकचित्तों को भी सभी कामभूमि एवं रूपभूमि में यथायोग्य उत्पन्न करते हैं।

है। वह फल भी प्रतिसन्धिफल एवं प्रवृत्तिफल - दोनों में से स्रोतापन्न के अपायभूमि से विमुक्त होने के कारण स्रोतापत्तिमार्ग द्वारा अप्रहातव्य औद्धत्य चेतना का, अपायप्रतिसन्धिफल नहीं हो सकता, केवल प्रवृत्ति-अकुशलफल ही हो सकता है – ऐसा जाना जा सकता है। इसीलिये प्रस्तुत ग्रन्थ में 'पवत्तियं पन सब्बम्पि द्वादसविधं' कहा गया है[1]।

औद्धत्यचेतना के साथ बारह अकुशल चेतनायें सभी कामभूमियों एवं असंज्ञिभूमिवर्जित पन्द्रह रूपभूमियों में यथायोग्य प्रवृत्तिफल देती हैं। प्रतिसन्धिफल अपायभूमि में ही दिया जाने पर भी वे प्रवृत्तिफल को सभी कामभूमियों में दे सकती हैं। ७ अहेतुक अकुशलविपाक को ११ कामभूमियों एवं १५ रूपभूमियों में दे सकती हैं – ऐसा कहा जाने पर भी यह फल देना समानरूप से नहीं है। रूपभूमि में घ्राण, जिह्वा एवं काय द्वार न होने के कारण वहाँ गन्धालम्बन, रसालम्बन एवं स्प्रष्टव्यालम्बन का आलम्बन करनेवाले घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान एवं कायविज्ञान – ये तीन विपाक न हो सकने के कारण मूल में 'यथारहं' कहा गया है[2]।

कुशलकर्म विपाकभूमि

६१. आठ कामावचर कुशलकर्म कामसुगतिभूमि में ही प्रतिसन्धि का उत्पाद कर सकते हैं। 'तथा' शब्द द्वारा 'कामसुगतियमेव' 'एवं 'जनेति' इन दोनों शब्दों का आकर्षण होता है। अतः कामसुगतिभूमि में ही प्रवृत्तिफल का उत्पाद कर सकते हैं; रूप, अरूप एवं अपायभूमियों में नहीं।

महाविपाकचित्त प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति एवं तदालम्बन कृत्य करते हैं। इनमें से प्रतिसन्धि-आदि तीन कृत्य रूप एवं अरूपभूमियों में रूप-अरूपविपाकों के कृत्य हैं तथा अपायभूमि में अकुशल सन्तीरण के कृत्य हैं। रूप-अरूपभूमि के पुद्गलों

---

*. ०पि च – स्या०। † कामावचरसुगतियमेव - रो०। ‡ रो० में नहीं।

1. प० दी०, पृ० २०२-२०३; विभा०, पृ० १३५-१३६।

2. प० दी०, पृ० २०३-२०४।

६२. तत्थापि तिहेतुकमुक्कट्ठं कुसलं तिहेतुकं पटिसन्धिं दत्वा पवत्ते सोळस विपाकानि विपच्चति।

६३. तिहेतुकमोमकं द्विहेतुकमुक्कट्ठञ्च कुसलं द्विहेतुकं पटिसन्धिं दत्वा पवत्ते तिहेतुकरहितानि द्वादस* विपाकानि विपच्चति।

६४. द्विहेतुकमोमकं पन कुसलं अहेतुकमेव पटिसन्धिं देति। पवत्ते च अहेतुकविपाकानेव विपच्चति।

कामावचर कुशलकर्मों में भी त्रिहेतुक एवं उत्कृष्ट कुशल कर्म, त्रिहतुक प्रतिसन्धिफल देकर प्रवृत्तिकाल में सोलह विपाकचित्तों को विपाकरूप में उत्पन्न करते हैं।

त्रिहेतुकहीन (कुशलकर्म) एवं द्विहेतुक उत्कृष्ट कुशल कर्म द्विहेतुक प्रतिसन्धिफल देकर प्रवृतिकाल में त्रिहेतुकविपाकरहित बारह विपाकचित्तों को विपाकरूप में उत्पन्न करते हैं।

द्विहेतुकहीन कुशल कर्म अहेतुक प्रतिसन्धिफल ही देता है, प्रवृत्तिकाल में अहेतुक विपाकचित्तों को ही विपाकरूप में उत्पन्न करता है।

में तदालम्बन न होने का कारण वीथिपरिच्छेद में दिखाया जा चुका है अतः रूप, अरूप भूमि में महाविपाकचित्त नहीं हो सकते। अपायभूमि में तदालम्बनकृत्य होता है, परन्तु 'वीथिपरिच्छेद' के 'पुद्गलभेद' के अनुसार महाविपाकचित्त अपायभूमि के पुद्गलों (दुर्गति-अहेतुक पुद्गलों) में नहीं हो सकते, अतः अपायभूमि में तदालम्बनकृत्य सन्तीरणचित्त ही सम्पन्न करते हैं।

अहेतुकविपाकानि.. विपच्चति - इस वाक्य का अर्थ अकुशलकर्मविपाक के वर्णन-प्रसङ्ग में आये हुये 'सत्ताकुसलपाकानि' की तरह ही होता है। अपायभूमि में नागराज एवं गरुडराज का महान् सुखभोग तथा हस्तिरत्न, अश्वरत्न-आदि कुछ अपायभूमियों में रहनेवाले सत्त्वों के स्कन्ध में सुन्दर रूप, शब्द-आदि इन कामकुशलकर्मों के प्रवृत्तिफल हैं। उस सुखसम्पत्ति, रूप एवं शब्द-आदि की अपेक्षा करके कुशलविपाक चक्षुर्विज्ञान आदि की उत्पत्ति के लिये सुअवसर प्राप्त होता है। इष्टालम्बन कर्मज रूप, कर्मप्रत्यय-ऋतुजरूप एवं अनायासप्राप्त इष्टालम्बन को प्राप्त करानेवाली कामसुगतिभूमि एवं १५ रूपभूमियों में कामकुशलकर्म कुशलविपाक चक्षुर्विज्ञान-आदि को उत्पन्न करते हैं।

६२-६४. त्रिहेतुक द्विहेतुक कुशल भेद - उपर्युक्त कामावचर कुशल त्रिहेतुक एवं द्विहेतुक - इस प्रकार द्विविध होता है। ज्ञानसम्प्रयुक्त महाकुशल ४ चित्तों में से किसी एक द्वारा कृत कुशल 'त्रिहेतुक कुशल' है। अर्थात् वह अलोभ, अद्वेष एवं अमोह - इन

---

*. द्वादस पि - ना०।

हेतुओं से सम्प्रयुक्त कुशल है। तथा ज्ञानविप्रयुक्त महाकुशल ४ चित्तों में से किसी एक द्वारा कृत कुशल 'द्विहेतुक कुशल' हैं। अर्थात् वह अलोभ एवं अद्वेष – इन दो हेतुओं से सम्प्रयुक्त कुशल हैं। इनमें कुशलकर्म करते समय कर्म, कर्मफल पर विश्वास करनेवाला 'कम्मस्सकताञाण'[1] (कर्मस्वकताज्ञान) प्रधान होता है। नाम-रूप-धर्मों को अनित्य, अनात्म एवं दुःख देखनेवाला 'विपश्यनाज्ञान'[2] होता है तो कुशलकर्म और तीक्ष्ण होते हैं। अतः कुशलकर्म करते समय 'कम्मस्सकताज्ञान' एवं विपश्यनाज्ञान में से कोई एक होता है तो कुशलकर्म 'त्रिहेतुक' होता है। इस प्रकार का ज्ञान न होने पर कुशलकर्म 'द्विहेतुक' होता है[3]।

उक्कट्ठ-ओमक भेद – उन त्रिहेतुक एवं द्विहेतुक कुशलों में पूर्वचेतना एवं अपरचेतना भी प्रायः होती है। 'दान दूंगा' – इस प्रकार के विचार से लेकर 'दान देने तक' होनेवाली पूर्वचेतना कुछ लोगों में अत्यन्त तीक्ष्ण होती है। कुशल से सम्पन्नजवन भी अतिवेग से होते रहते हैं। कुशल कर्मों के सम्पादन के अनन्तर अपरचेतना-क्षण में भी अत्यन्त प्रीति एवं सौमनस्य होती है, 'मैंने कुशलकर्म किया है' – इस प्रकार की प्रीति से हृदय आप्यायित होता रहता है। वह कुशलकर्म इस प्रकार की पूर्व एवं अपर चेतनाओं से सम्पुटित होने के कारण अत्यन्त प्रबल होता है उसे ही उक्कट्ठ (उत्कृष्ट) कुशलकर्म कहते हैं। यदि वह कुशलकर्म त्रिहेतुक होता है तो उसे 'तिहेतुक-उक्कट्ठ' और यदि वह द्विहेतुक होता है तो उसे 'द्विहेतुक उक्कट्ठ' कहते हैं। कुछ लोगों में पूर्वचेतनाकाल में प्रीति एवं सौमनस्य न होकर कुछ हिचकिचाहट होती है एवं दौर्मनस्य तथा विप्रतिसार (पश्चात्ताप) होता है तथा अपने गुण एवं यश को बढ़ाने की अभिलाषा – आदि अकुशलधर्म (उस कुशलकर्म के) पूर्वभाग में होते हैं। कुशलकर्म करने के अनन्तर अपरचेतनाकाल में 'मैंने गलत काम किया' – इस प्रकार का विप्रतिसार होता है। इस प्रकार उनका कुशलकर्म पूर्व एवं अपर काल में होनेवाले अकुशलधर्मों से सम्पुटित होता है अतः वह कुशलकर्म दुर्बल होने के कारण 'ओमक' (हीन) कुशल कहा जाता है। यदि वह त्रिहेतुक कुशलकर्म होता है तो 'त्रिहेतुक-ओमक' और यदि वह द्विहेतुक होता है तो 'द्विहेतुक-ओमक' कहलाता है[4]।

---

१. "कम्मस्सकतं वा ति 'इदं कम्मं सत्तानं सकं, इदं नो सकं' ति एवं जाननञाणं।" – विभ० अ०, पृ० ४१५; अट्ठ०, पृ० ३२१।

२. "सच्चानुलोमिकं वा ति विपस्सनाञाणं। तञ्हि चतुन्नं सच्चानं अनुलोमनतो 'सच्चानुलोमिकं' ति वुच्चति। इदानिस्स पवत्तनाकारं दस्सेतुं 'रूपं अनिच्चं ति वा' ति आदि वुत्तं। एत्थ च अनिच्चलक्खणमेव आगतं, न दुक्खलक्खण-अनत्तलक्खणानि; अत्थवसेन पन आगतानेवा ति दट्ठब्बानि – यञ्हि अनिच्चं तं दुक्खं, यं दुक्खं तदनत्ता ति।" – विभ० अ०, पृ० ४१५; अट्ठ०, पृ० ३२१।

३. प० दी०, पृ० २०५।

४. प० दी०, पृ० २०५।

उक्कट्ठुक्कट्ठ-आदि भेद – पूर्वचेतनाकाल में कुशल एवं अकुशल की उत्पत्ति ऊपर की तरह होती है। कुशलकर्मों के सम्पादन के अनन्तर कुछ काल के भीतर ही अपरचेतनाकाल में कुशल-धर्मों से सम्बद्ध होकर पुनः पुनः कुशल होता है तो 'उक्कट्ठ' कुशल, तथा अकुशलधर्मों से सम्बद्ध होकर पुनः अकुशल होता है तो 'ओमक' कुशल कहा जाता है।

कुछ दिन या कुछ महीनों के अनन्तर उस कुशल का स्मरण करते समय यदि मन में अत्यन्त प्रीति एवं सौमनस्य का उत्पाद होता है तो उस प्रीति एवं सौमनस्य द्वारा पुनः आसेवित होने से वह मूल 'उक्कट्ठ' कुशल अत्यन्त उत्कट होने से 'उक्कट्ठुक्कट्ठ' होता है। तथा मूल 'ओमक' कुशल 'ओमकुक्कट्ठ' होता है। इस प्रकार न होकर कुशलकर्म के अनन्तर कुछ दिन बाद 'मैंने गलत काम किया' – इस प्रकार का विप्रतिसार होता है तो उस विप्रतिसार द्वारा मूल कुशल पुनः दुर्बल किया जाने के कारण यदि वह (मूलकुशल) 'उक्कट्ठ' होता है तो 'उक्कट्ठोमक' रूप में पतित हो जाता है; यदि वह मूलकुशल 'ओमक' होता है तो और हीन हो जाने के कारण 'ओमकोमक' के रूप में पतित हो जाता है। अतः एक कुशल में –

१. उक्कट्ठ, २. उक्कट्ठुक्कट्ठ एवं ३. उक्कट्ठोमक।
१. ओमक, २. ओमकुक्कट्ठ एवं ३. ओमकोमक।

इस प्रकार भेद किये जा सकते हैं।[1]

उन 'उक्कट्ठ' आदि कुशलों में यदि छन्द, वीर्य, चित्त एवं 'वीमंसा' (मीमांसा) तीक्ष्ण होते हैं तो उस तीक्ष्णता के अनुपात में कुशलफल भी तीक्ष्ण, तीक्ष्णतर-आदि होते हैं और यदि वे (छन्द-आदि) हीन होते हैं तो कुशल फल भी हीन, हीनतर-आदि होते हैं। तथा पूर्वचेतनाकाल में अकुशल से एवं अपरचेतनाकाल में कुशल से सम्पुटित होने वाले कुशल तथा पूर्व-चेतनाकाल में कुशल से एवं अपरचेतना काल में अकुशल से सम्पुटित होनेवाले कुशल भी होते हैं। उन कुशल-धर्मों की नाना प्रकार की शक्तियों को समझना चाहिये[1]।

तिहेतुकमोमकं.....पटिसन्धि दत्वा – मोह, जात्यन्ध-आदि फल देनेवाला कारण है। ज्ञान उस मोह का विपक्षी धर्म है। इसलिये ज्ञानसम्प्रयुक्त त्रिहेतुक कुशल 'ओमक' होकर हीन होने पर भी जात्यन्ध-आदि अहेतुक प्रतिसन्धिफल नहीं देता, अपितु द्विहेतुक प्रतिसन्धिफल ही देता है। द्विहेतुक ज्ञानविप्रयुक्त कुशल भी स्वभावतः ही ज्ञान से सम्प्रयुक्त न होने के कारण त्रिहेतुक प्रतिसन्धिफल नहीं दे सकता, अतः त्रिहेतुक ओमक एवं द्विहेतुक-उक्कट्ठ – दोनों द्विहेतुक प्रतिसन्धि ही देते हैं।

'तिहेतुक-उक्कट्ठ' महाकुशल ज्ञानसम्प्रयुक्त कर्म से महाविपाक ८ एवं अहेतुक कुशलविपाक ८=१६ विपाक होते हैं।

---

१. विभा०, पृ० १३९; प० दी०, पृ० २०५।

६५. असङ्खारं ससङ्खारविपाकानि न पच्चति ।
ससङ्खारमसङ्खारविपाकानीति केचन* ॥
तेसं द्वादस पाकानि दसट्ठ† च यथाक्कमं ।
यथावुत्तानुसारेन यथासम्भवमुद्दिसे ॥

असंस्कारिक कुशल कर्म ससंस्कारिक विपाकों को उत्पन्न नहीं करता । ससंस्कारिक कुशल कर्म असंस्कारिक विपाकों को उत्पन्न नहीं करता — इस प्रकार कुछ आचार्य कहते हैं ।

उन आचार्यों के मत में बारह विपाकों, दस विपाकों, तथा आठ विपाकों को यथाक्रम उक्तनय के अनुसार यथासम्भव दिखाया गया है ।

'तिहेतुक-ओमक' तथा 'द्विहेतुक-उक्कट्ठ' महाकुशल ज्ञानविप्रयुक्त कर्म से महाविपाक ज्ञानविप्रयुक्त ४ एवं अहेतुक कुशलविपाक ८=१२ विपाक होते हैं ।

'द्विहेतुक-ओमक' कुशल से अहेतुक कुशल विपाक ८ ही होते हैं ।

६५. केचिवाद — यह गाथा 'मोरवापी' वासी 'महादत्तत्थेर' के मत को दिखलाने वाली गाथा है[1] । (विभावनीकार ने प्रमादवश इस थेर का नाम 'महाधम्मरक्खितत्थेर' कहा है ।) इस आचार्य का मत है कि विपाकचित्तों का ससंस्कारिक या असंस्कारिक होना कारणकर्मों से सम्बद्ध है । कर्म के अनुसार ही ये ससंस्कारिक या असंस्कारिक होते हैं । दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख बिम्ब की तरह ही होता है । मुखबिम्ब के चलित होने पर प्रतिबिम्बित मुख भी चलित हो जाता है; यदि बिम्ब निश्चल या शान्त होता है तो प्रतिबिम्ब भी निश्चल या शान्त होता है । उसी तरह कर्म यदि ससंस्कारिक होते हैं तो अनन्तरभव में होनेवाले विपाकचित्त भी ससंस्कारिक होते हैं; यदि कर्म असंस्कारिक होते हैं तो विपाकचित्त भी असंस्कारिक ही होते हैं, अतः ससंस्कारिक कुशलकर्म असंस्कारिक फल नहीं देते तथा असंस्कारिक कुशलकर्म ससंस्कारिक फल नहीं देते ।

उस आचार्य के मतानुसार 'तिहेतुक-उक्कट्ठ' असंस्कारिक कुशलकर्म (ज्ञानसम्प्रयुक्त असंस्कारिक २) से महाविपाक-असंस्कारिक चित्त ४ एवं अहेतुक कुशलविपाकचित्त ८=१२ विपाक होते हैं । तिहेतुक उक्कट्ठ ससंस्कारिक कुशल कर्म (ज्ञानसम्प्रयुक्त ससंस्कारिक २) से महाविपाक ससंस्कारिक ४ एवं अहेतुककुशलविपाक ८=१२ विपाक होते हैं ।

'तिहेतुक-ओमक' एवं 'द्विहेतुक-उक्कट्ठ' कुशल भी यदि असंस्कारिक होते हैं तो महाविपाक ज्ञानविप्रयुक्त असंस्कारिक २ एवं अहेतुक विपाक ८=१० विपाकों को उत्पन्न करते हैं यदि ससंस्कारिक होते हैं तो महाविपाक ज्ञानविप्रयुक्त ससंस्कारिक २ एवं अहेतुक कुशल विपाक ८=१० विपाकों को उत्पन्न करते हैं ।

---

*. केचिन — स्या०; केचना — रो० ।

†. दसाट्ठ — सी०, म० (ख) ।

१. अट्ठ०, पृ० २२९-२३१ ।

'द्विहेतुक-ओमक' कुशलकर्म असंस्कारिक एवं ससंस्कारिक – दोनों ही ८ अहेतुक कुशलविपाक ही उत्पन्न कर सकते हैं।

उपर्युक्त आचार्यवाद (केचिवाद) को आचार्य अनुरुद्ध एवं अन्य आचार्य पसन्द नहीं करते; क्योंकि विपाकचित्तों के कृत्य प्रतिसन्धि-आदि कृत्य ही हैं। इनमें से अपने एवं ज्ञाति, बन्धु-आदि के प्रयोग के बिना अवभासित कर्म, कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त में से किसी एक का आलम्बन करके यदि प्रतिसन्धिचित्त होता है तो असंस्कारिक प्रतिसन्धिचित्त होता है। उस प्रकार के प्रयोग अथवा सहारे से अवभासित किसी एक आलम्बन का आलम्बन करके यदि प्रतिसन्धिचित्त होता है तो वह ससंस्कारिक प्रतिसन्धिचित्त होता है तथा भवङ्ग एवं च्युतिचित्त भी प्रतिसन्धिचित्तसदृश ही होते हैं। तदालम्बनकृत्य अपने पूर्ववर्ती जवनों से सम्बद्ध होता है। पूर्वजवन असंस्कारिक होते हैं तो तदालम्बन भी प्रायः असंस्कारिक होते हैं। इस तरह पूर्वकर्मों से उत्पन्न होने पर भी विपाकचित्तों की तीक्ष्णता या मन्दता कर्म, कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त आलम्बन अवभासित होते समय होनेवाले प्रयोग के होने या न होने से, तथा तदालम्बन-कृत्य होते समय पूर्व जवनों के असंस्कारिक या ससंस्कारिक होने से सम्बद्ध होने के कारण 'कर्म के सदृश विपाकचित्त ससंस्कारिक आदि होने चाहियें' – इस प्रकार के 'महादत्तत्थेर' के वाद को हीन समझकर उन्होंने उसे 'केचि' द्वारा व्यक्त किया गया है[1]।

कुशल	समानवाद (विपाक)	केचिवाद (विपाक)
तिहेतुक उक्कट्ठ असंस्कारिक	१६	१२
तिहेतुक उक्कट्ठ ससंस्कारिक	१६	१२
तिहेतुक ओमक एवं द्विहेतुक उक्कट्ठ असंस्कारिक	१२	१०
तिहेतुक ओमक एवं द्विहेतुक उक्कट्ठ ससंस्कारिक	१२	१०
द्विहेतुक ओमक असंस्कारिक एवं ससंस्कारिक	८	८

कामावचर कुशलाकुशलकर्म विपाकभूमि समाप्त।

१. प० दी०, पृ० २०६-२०७; विभा० पृ० १३९-१४०।

महग्गतकम्मविपाकट्ठानं

रूपावचरकुसलकम्मविपाकट्ठानं

६६. रूपावचरकुसलं पन पठमज्झानं परित्तं भावेत्वा ब्रह्मपारिसज्जेसु उप्पज्जति* ।

६७. तदेवं† मज्झिमं भावेत्वा ब्रह्मपुरोहितेसु

६८. पणीतं भावेत्वा महाब्रह्मेसु ।

रूपावचर कुशलध्यान की परीत्त भावना करके ब्रह्मपारिषद्य भूमि में उत्पन्न होता है ।

उसी प्रथमध्यान की मध्यम भावना करके ब्रह्मपुरोहितभूमि में उत्पन्न होता है ।

तथा उसी प्रथमध्यान की पणीत भावना करके महाब्रह्मभूमि में उत्पन्न होता है ।

महग्गतकर्म विपाकभूमि

रूपावचर कुशलकर्म विपाकभूमि

६६-६८. **परीत्त-मध्यम-प्रणीत ध्यानभेद** – इस परीत्तध्यान-आदि नामकरण में दो नय होते हैं। ध्यानधर्मों में सम्प्रयुक्त छन्द, वीर्य, चित्त, 'वीमंसा' नामक चार अधिपति धर्मों में से कोई एक धर्म नित्य अधिपति होता है। जब ध्यान प्राप्त होता है, तब यदि वह अधिपति धर्म हीन होता है तो ध्यान 'परीत्त' होता है। जब अधिपति धर्म मध्यम होता है तब ध्यान 'मध्यम' होता है और जब तीक्ष्ण होता है तब ध्यान 'प्रणीत' होता है। (अधिपति धर्म यद्यपि स्वभाव से ही तीक्ष्ण होते हैं तथापि उनमें भी हीन-मध्यम-प्रणीत भेद होते ही हैं।)

अथवा – ध्यान की प्राप्ति के अनन्तर यदि उस ध्यान का पुनः पुनः समावर्जन नहीं किया जाता है तो ध्यान परीत्त होता है। कुछ समावर्जन किया जाता है तो ध्यान मध्यम होता है। तथा यदि बहुलतया समावर्जन किया जाता है तो ध्यान प्रणीत होता है। इस प्रकार ध्यान के परीत्त-आदि नामकरण में दो नय होते हैं।

अपनी सम्बद्ध भूमि की प्राप्ति के लिये परीत्त-आदि का विभाग करने में प्रथम नय के अनुसार ही विभाग करना चाहिये। ऊपर ऊपर के ध्यानों की प्राप्ति के लिये पादक रूप से विभाग करने में दूसरे नय के अनुसार विभाग करना चाहिये। प्रथमध्यान की प्राप्ति के अनन्तर जब योगी द्वितीयध्यान को आरब्ध करना चाहता है तब उसे प्रथमध्यान का ही (कम्मट्ठान परिच्छेद में आनेवाले नय के अनुसार) पाँच प्रकार के वशीभावों की

---

*. उप्पज्जन्ति – सी० । †. तमेव – स्या० ।

६९. तथा दुतियज्झानं, ततियज्झानञ्च परित्तं भावेत्वा परित्ताभेसु।
७०. मज्झिमं भावेत्वा अप्पमाणाभेसु।
७१. पणीतं भावेत्वा आभस्सरेसु।
७२. चतुत्थज्झानं परित्तं भावेत्वा परित्तसुभेसु।
७३. मज्झिमं भावेत्वा अप्पमाणसुभेसु।
७४. पणीतं भावेत्वा सुभकिण्हेसु।

उसी प्रकार द्वितीयध्यान एवं तृतीयध्यान की परीत्त भावना करके परित्ताभ ब्रह्मभूमि में उत्पन्न होता है।
मध्यम भावना करके अप्रमाणशुभ ब्रह्मभूमि में उत्पन्न होता है।
तथा प्रणीतभावना करके आभास्वर ब्रह्मभूमि में उत्पन्न होता है।
चतुर्थध्यान की परीत्तभावना करके परीत्तशुभ ब्रह्मभूमि में उत्पन्न होता है।
मध्यमभावना करके अप्रमाणशुभ ब्रह्मभूमि में उत्पन्न होता है।
तथा प्रणीतभावना करके शुभकृत्स्न ब्रह्मभूमि में उत्पन्न होता है।

प्राप्ति तक पुनः पुनः समावर्जन करके अभ्यास करना पड़ता है। इस प्रकार का अभ्यास न होने से यदि प्रथमध्यान परीत्त होता है तो द्वितीयध्यान की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि प्रथमध्यान मध्यम होता है तो भी द्वितीयध्यान की प्राप्ति नहीं हो सकती। सम्यक्तया अभ्यास होने पर ही (प्रथमध्यान के प्रणीत होने पर ही) द्वितीयध्यान की प्राप्ति हो सकती है[1]।

'विभावनी' में स्वसम्बद्धभूमि की प्राप्ति के लिये परीत्तध्यान-आदि भेद करते समय विभावनीकार दोनों नयों का ग्रहण करना चाहते हैं[2]। यदि विभावनीकार के अनुसार दोनों नयों का ग्रहण किया जायेगा तो अन्योन्यविरोध होगा। ध्यान की प्राप्ति के समय छन्द-आदि यदि हीन होते हैं तो प्रथमनय के अनुसार ध्यान परीत्त होता है; तदनन्तर यदि उसका बहुलतया अभ्यास किया जाता है तो द्वितीय नय के अनुसार वही ध्यान प्रणीत होता है। मरणासन्नकाल में तीक्ष्ण छन्द-आदि द्वारा यदि ध्यान प्राप्त होता है तो प्रथम नय के अनुसार वह ध्यान प्रणीत होता है; किन्तु पुनः समावर्जन करके अभ्यास करने का अवकाश न मिलने के कारण द्वितीय नय के अनुसार वही ध्यान परीत्त होता है। अतः अब यह प्रश्न होता है कि इस प्रकार का पुद्गल किस नय के अनुसार किस भूमि में पहुँचेगा? अतः स्वसम्बद्ध भूमि में पहुँचने के लिये दोनों नयों का ग्रहण न करके केवल प्रथम नय का ही ग्रहण करना चाहिये[3]।

---

१. प० दी०, पृ० २०८-२०९।
२. विभा०, पृ० १४०।
३. प० दी०, पृ० २०९।

७५. पञ्चमज्झानं भावेत्वा वेहप्फलेसु ।

७६. तदेव* सञ्ञाविरागं भावेत्वा असञ्ञसत्तेसु ।

७७. अनागामिनो† पन सुद्धावासेसु उप्पज्जन्ति ।

पञ्चमध्यान की भावना करके बृहत्फल ब्रह्मभूमि में उत्पन्न होता है। उसी प्रकार पञ्चमध्यान की संज्ञाविराग भावना करके असंज्ञिसत्त्वभूमि में उत्पन्न होता है।

पञ्चमध्यानलाभी अनागामी शुद्धावासभूमि में उत्पन्न होते हैं।

७५-७७. पञ्चमध्यान चाहे परीत्त हो, मध्यम हो या प्रणीत हो, बृहत्फलभूमि में ही ५०० कल्प तक फल देता है; किन्तु आनुभाव एवं गुणसम्पत्ति-आदि समान नहीं होंगे। परीत्तध्यानलाभी से मध्यमध्यानलाभी तथा मध्यमध्यानलाभी से प्रणीतध्यानलाभी प्रशस्ततर प्रशस्ततम होंगे।

तदेव...असञ्ञसत्तेसु – रूपपञ्चमध्यान को प्राप्त कामभूमि का पृथग्जन 'संज्ञा होने से ही सभी प्रकार की कामनाएँ एवं व्यापाद-आदि होते हैं, संज्ञा गण्डरफोट की तरह होती है' – इस प्रकार मनसिकार करके पञ्चमध्यान की समापत्ति से उठते समय 'सञ्ञा गण्डो, सञ्ञा रोगो' – इस प्रकार संज्ञा के प्रति कुत्सित भावना करता है तो वैसी भावना द्वारा संज्ञा के प्रति कुत्सित भाव उत्पन्न हो जाने के कारण प्राप्त मूल पञ्चमध्यान में संज्ञाविरागधातु का प्रवेश हो जाता है। अर्थात् उस पञ्चमध्यान में ही संज्ञा के प्रति कुत्सित धातु उत्पन्न हो जाती है। यहाँ उपलक्षणनय के अनुसार संज्ञा को ही प्रमुखरूप से कहने पर भी संज्ञा के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले सभी चित्तचैतसिकों (नाम-धर्मों) के प्रति भी कुत्सित भाव होता है[1]।

उस प्रकार का पञ्चमध्यान जब फल देता है तब वह भावना के अनुसार संज्ञारहित असंज्ञिभूमि में ही फल देता है।

अनागामिनो पन सुद्धावासेसु उप्पज्जन्ति – इस वाक्य के अनुसार सभी अनागामी पुद्गल सर्वदा शुद्धावासभूमि में ही प्रति-सन्धि लेते हैं – ऐसा ज्ञान होता है। अट्ठकथाओं में भी कुछ स्थलों पर इसी प्रकार के अभिप्राय का समर्थन प्राप्त होता है[2]; किन्तु आजकल के आचार्यों के मतानुसार 'यद्यपि 'शुद्धावासभूमियों में केवल अनागामी पुद्गल ही प्रतिसन्धि लेते हैं, अन्य पुद्गल नहीं' – यह ठीक है; तथापि 'अनागामिनो पन...उप्पज्जन्ति' इस वचन से 'अनागामी पुद्गल अन्य भूमियों में प्रतिसन्धि नहीं लेते' – इसका निषेध नहीं होता। अतः अनागामी पुद्गल अन्य भूमियों में भी प्रतिसन्धि ले सकते हैं[3]।

---

*. तमेव – स्या०। †. अनागामितो – रो०।

१. विभा०, पृ० १४०; प० दी०, पृ० २१०।

२. तु० – विभ० अ०, पृ० ५३१।

३. प० दी०, पृ० २११।

अनागामी पुद्गलों के शुद्धावासभूमि में ही उत्पन्न होने में वे पांच इन्द्रियों के तीक्ष्णताक्रम के अनुसार ही क्रम से पाँच भूमियों में उत्पन्न होते हैं; जैसे – श्रद्धेन्द्रियाधिक्य-पुद्गल अवृहाभूमि में, वीर्येन्द्रियाधिक्य अतपाभूमि में, स्मृतीन्द्रियाधिक्य पुद्गल सुदृश भूमि में; समाधीन्द्रियाधिक्य पुद्गल सुदर्शीभूमि में तथा प्रज्ञेन्द्रियाधिक्य पुद्गल अकनिष्ठ भूमि में उत्पन्न होते हैं[1]।

"सुद्धावासेस्वनागामिपुग्गलावोपपज्जरे ।
कामधातुम्हि जायन्ति अनागामिविवज्जिता ।।
हेट्ठुप्पत्तिब्रह्मानं अरियानं न कत्थचि ।
असञ्ञसत्तापायेसु नत्थेवारियपुग्गला ।।
वेहप्फले अकनिट्ठे भवग्गे च पतिट्ठिता ।
न पुनाञ्ञत्थ जायन्ति सब्बे अरियपुग्गला[2] ।।"

अनागामी का ब्रह्मभूमि में उत्पाद – ध्यान प्राप्त करना समाधि का विषय है। कामच्छन्द-आदि नीवरण समाधि के अन्तराय हैं। कामराग का प्रहाण करनेवाले अनागामी पुद्गलों में कामच्छन्द-आदि नीवरण अन्तराय न होने से उनकी समाधि प्रबल होती है, अतः शुष्कविपश्यक अनागामी, सोते समय दूसरों द्वारा (जान से) मारे जाते हुए भी मरने के पहले ध्यान प्राप्त करके ब्रह्मभूमि में पहुँच जाता है। ऊपर की देवभूमियों में रहनेवाले देवता जब अनागामी हो जाते हैं तो उन भूमियों में कामगुणों की बहुलता होने से (उन्हें) एकान्त न मिलने के कारण उन भूमियों से च्युत होकर वे ब्रह्म-भूमियों में चले जाते हैं। वहाँ जाने के लिये अपेक्षित ध्यान भी वे आसानी से प्राप्त कर लेते हैं[3]।

स्त्रियाँ महाब्रह्मा नहीं हो सकतीं – "इत्थियो पि पन अरिया वा अनरिया वा अपि अट्ठसमापत्तिलाभिनियो ब्रह्मपारिसज्जेसु येव निब्बत्तन्ति[4]" – इस प्रकार की अट्ठकथा का आधार करके स्त्रियाँ चाहे आर्या हों चाहे पृथग्जन हों, आठ समापत्तियों का लाभ करने पर भी 'ब्रह्मपारिषदद्या' नामक ब्रह्मभूमि में ही उत्पन्न होती हैं – इस प्रकार कहा जाता है। मणिमञ्जूसाकार ने कहा है कि "प्रथमध्यान की तीन भूमियों में सर्वप्रथम भूमि को 'ब्रह्मपारिषदद्यभूमि' कहते हैं[5]", किन्तु उनका यह कथन समीचीन नहीं है। क्योंकि द्वितीयध्यान-आदि ऊपर ऊपर की भूमियों में भी (शुद्धावास से पूर्वतक) ब्रह्मपारिषदद्य ब्रह्मा, ब्रह्मपुरोहित ब्रह्मा एवं महाब्रह्मा होते हैं, (इसके कारण 'भूमिचतुष्क' में कहे जा चुके हैं)। स्त्रियों के छन्द, वीर्य, चित्त एवं मीमांसा स्वभाव से ही

---

१. विभा०, पृ० १४०; प० दी०, पृ० २११; विसु०, पृ० ५०४।
२. परम० वि०, पृ० २४-२५। द्र० – विभा०, पृ० १४०।
३. प० दी०, पृ० २१२।
४. तु० – विभ० अ०, पृ० ४४१-४४२।
५. मणि०, द्वि० भा०, पृ० ६।

पुरुषों की तरह तीक्ष्ण न होने से स्त्रीभव से च्युत होकर ब्रह्मभूमि में उत्पन्न होने पर भी वे महाब्रह्मा नहीं हो सकतीं। प्राप्त ध्यान के अनुसार सम्बद्धभूमि में ब्रह्मपारिषदय ब्रह्मा होती हैं। यहाँ ब्रह्मपारिषदय में ब्रह्मपुरोहित का भी ग्रहण करना चाहिये। पालि में कुछ स्थलों पर ब्रह्मपुरोहित ब्रह्मा को ब्रह्मपारिषदय ब्रह्मा भी कहा गया है। स्त्रियाँ केवल महाब्रह्मा नहीं हो सकतीं; इसीलिये "यं इत्थी... ब्रह्मत्तं करेय्य, नेतं ठानं विज्जति" – इस 'विभङ्ग' पालि की "ब्रह्मत्तं ति महाब्रह्मत्तं अधिप्पेतं"[1] इस प्रकार अट्ठकथा में व्याख्या की गयी है। निष्कर्ष यह हुआ कि स्त्रियाँ महाब्रह्मा नहीं हो सकतीं[2]।

अभिज्ञा एवं प्रतिसन्धिफल– 'पञ्चमज्झानं भावेत्वा' – इस प्रसङ्ग में आचार्य लोग अभिज्ञाकृत्य करनेवाले पञ्चमध्यान की प्रतिसन्धिफल देने में असमर्थता का कारण इस प्रकार कहते हैं। यथा –

"समानासेवने लद्धे विज्जमाने महब्बले।
अलद्धा तादिसं हेतुं अभिञ्ञा न विपच्चति"[3] ।।"

अर्थात् समान आसेवन प्रत्यय प्राप्त होने के कारण महान् बल विद्यमान होने से महग्गतकुशल विपाकफल का उत्पाद कर सकते हैं। अभिज्ञाकुशल उस प्रकार के हेतुओं को प्राप्त न होने से विपाकफल का उत्पाद नहीं कर सकता।

इस गाथा में 'महग्गतकुशल धर्म आसेवन प्राप्त होने से प्रबल होने के कारण प्रतिसन्धिफल दे सकते हैं तथा अभिज्ञाकुशल उस प्रकार के आसेवन को प्राप्त नहीं होने से प्रतिसन्धिफल नहीं दे पाता' – ऐसा कहा गया है। यहाँ 'समान आसेवन की प्राप्ति' महग्गत जवनों के जवित होते समय समान महग्गत जवनों के लगातार उत्पन्न होने से पूर्व पूर्व जवनों द्वारा पश्चिम पश्चिम जवनों का उपकार किया जाना है[5]।

ध्यानवीथियों में आदिकर्मिक वीथि इस प्रकार है – मनोद्वारावर्जन, परिकर्म, उपचार, अनुलोम, गोत्रभू, ध्यान 'एक वार'। समापत्तिवीथि इस प्रकार है – मनोद्वारावर्जन, परिकर्म, उपचार, अनुलोम, गोत्रभू, ध्यान 'दो वार से लेकर कई वार तक'। अभिज्ञावीथि इस प्रकार है – 'मनोद्वारावर्जन, परिकर्म, उपचार, अनुलोम, गोत्रभू, पञ्चमध्यान 'एक वार'।

इन वीथियों में परिकर्म, उपचार, अनुलोम एवं गोत्रभू – ये कामावचर जवन हैं, इसलिये जिसमें एकवार ध्यान होता है – ऐसी आदिकर्मिकवीथि एवं अभिज्ञावीथि में ध्यानजवन भूमि के रूप में सदृश महग्गत पूर्व पूर्व जवनों से आसेवनशक्ति द्वारा उपकार प्राप्त नहीं करते। समापत्तिवीथि में ध्यानजवन अनेक वार होने से वे सदृश महग्गत पूर्व जवनों से उपकार प्राप्त करते हैं। इसलिये 'नामरूपपरिच्छेद' की उपर्युक्त गाथा में

१. विभ०, पृ० ३९९।
२. विभ०, अ०, पृ० ४४२।
३. प० दी०, पृ० २१२-२१३; द्र० – विभा०, पृ० १४१।
४. नाम० परि०, ४७३ का०, पृ० ३२।
५. प० दी०, पृ० २०९-२१०; द्र० – विभा०, पृ० १४०।

'आदिकर्मिकवीथि के महग्गत कुशलध्यान एवं अभिज्ञावीथि का पञ्चमध्यान प्रतिसन्धिफल नहीं दे सकते'—ऐसा कहा गया जान पड़ता है। उनमें से 'आदिकर्मिक ध्यान सदृश महग्गत जवनों से आसेवन प्राप्त न होने के कारण फल नहीं दे सकता—इस पर विचार करना चाहिये; क्योंकि शुष्कविपश्यक अनागामी की तरह यदि पुद्गल मरणासन्नकाल में ही ध्यान प्राप्त करता है और उसे पुनः समावर्जन करने का अवकाश नहीं मिलता है तो उस मरणासन्नकाल में एक बार होनेवाले ध्यान के प्रति 'यह ब्रह्मभूमि में प्रतिसन्धि नहीं दे सकता'—ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह अवश्य प्रतिसन्धिफल देगा।

अभिज्ञाजवन के प्रति भी, 'यदि अनेक वार अभिज्ञा वीथि का पात होता है' तो 'उसमें बल नहीं है'—ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्रबल होने के कारण ही वह युगपत् अनेकानेक शक्तियों (ऋद्धियों) का उत्पाद करने में समर्थ होता है; किन्तु उस प्रकार प्रबल होने पर भी स्वयं पञ्चमध्यान के विपाकरूप में अवस्थित होने के कारण, तथा नाना प्रकार की शक्तियों का उत्पाद भी अभिज्ञा का ही फल होने के कारण उसे पुनः फल देने का अवकाश नहीं होता। अर्थात् उस प्रकार की शक्तियों के उत्पाद की अपेक्षा करके ही अभिज्ञा के आरब्ध किये जाने से उन विपाकों (ऋद्धियों) के उत्पाद के साथ ही अपने उद्देश्य की पूर्ति हो जाने के कारण अभिज्ञा का बल भी क्षीण हो जाता है।

विशेष—'पठमज्झानं परित्तं भावेत्वा ब्रह्मपारिसज्जेसु उप्पज्जति'[1] आदि वाक्य स्वभाव से फल देने का स्थान दिखलानेवाले वाक्य हैं। यदि निकन्ति तृष्णा[2] एवं चेतःप्रणिधि विद्यमान होती है तो उपर्युक्त वाक्यों की ही तरह विपाक न होकर परिवर्त्तन भी हो सकता है। उसमें निकन्ति तृष्णा पूर्व पूर्व परिचित एवं उषित (वास की हुई) भूमियों के प्रति आसक्ति है। ध्यानप्राप्त पृथग्जन, च्युति के आसन्नकाल में यदि निकन्ति तृष्णा द्वारा कामभूमि के प्रति आसक्त होता है तो उसका ध्यान विलुप्त हो जाता है और वह कामभूमि में उत्पन्न होता है।

कतिपय आचार्य 'कुछ पुद्गलों में ध्यान का विलोप न होने पर भी वे निकन्ति तृष्णा के कारण कामभूमि में उत्पन्न होते हैं'—इस प्रकार कहते हैं; किन्तु यदि ध्यान का विलोप नहीं होता है तो गुरुध्यान का अभिभव करके कामकुशल कैसे कामभूमि में फल दे देता है—यह विचारणीय है।

कतिपय आचार्य 'अष्ट समापत्ति का लाभी पृथग्जन, स्रोतापन्न एवं सकृदागामी निकन्ति तृष्णा के कारण इष्ट ब्रह्मभूमियों में उत्पन्न हो सकते हैं'—इस प्रकार भी कहते हैं; किन्तु इष्ट ब्रह्मभूमियों में उत्पाद निकन्ति तृष्णा के कारण नहीं, अपितु "इज्झता-

---

१. द्र०—अभि० स० ५ : ६६, पृ० ५७८।

२. "निकन्ति तण्हा ति या कम्मं करोन्तस्स तस्स फले उप्पत्तिभवे निकामना पत्थना सा तण्हा नाम।"—विभ० अ०, पृ० १९५; विसु०, पृ० ४०१।

अरूपावचरकुसलकम्मविपाकट्ठानं

७८. अरूपावचरकुसलञ्च* यथाक्कमं भावेत्वा आरुप्पेसु† उप्पज्जन्तीति†।

अरूपावचर कुशलों की भी यथाक्रम भावना करके अरूपभूमियों में उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार की यह 'कर्मविपाकभूमि' है।

निगमनगाथा

७९. इत्थं महग्गतं पुञ्ञं यथाभूमि ववत्थितं‡।
जनेति सदिसं पाकं पटिसन्धिपवत्तियं§॥

इच्चेत्थ कम्मचतुक्कं।

इस प्रकार महग्गत कुशलकर्म भूमि के अनुसार व्यवस्थित होकर प्रतिसन्धि एवं प्रवृत्ति काल में सदृश विपाक उत्पन्न करते हैं।

इस वीथिमुक्तसङ्ग्रह में यह 'कर्मचतुष्क' है।

वुसो! सीलवतो चेतोपणिधि विसुद्धता"[1] – इस वचन के अनुसार चेत:प्रणिधि[2] के कारण ही होता है।

'विभावनी' में भी 'यदि ध्यानलाभी स्रोतापन्न एवं सकृदागामी में भी उसी तरह की चेत:-प्रणिधि या निकन्ति तृष्णा होती है तो वे कामभूमि में उत्पन्न हो सकते हैं – ऐसा कहा गया है'[3]।

ध्यानलाभी आर्यपुद्गल में कामभूमि के प्रति आसक्ति पैदा करनेवाली निकन्ति तृष्णा एवं चेत:प्रणिधि नहीं हो सकती। यदि प्रमाद से उसके ध्यान का विलोप हो जाता है तो उसे ध्यानलाभी ही नहीं कहा जा सकता; तथा इस प्रकार 'प्रमाद से ध्यान का लोप होना' आर्यों में असम्भव है। अनागामी में काम निकन्ति तृष्णा के सर्वथा न होने से उसके बारे में तो विचार करना भी आवश्यक नहीं है। इस प्रकार 'चेत:प्रणिधि' नामक छन्द के अनुसार ही इष्ट भूमि में उत्पाद होता है – ऐसा जानना चाहिये[4]।

अरूपावचर कुशलकर्म विपाकभूमि

७८. आकाशानन्त्यायतन ध्यान को प्राप्त होता है तो आकाशानन्त्यायतनभूमि में उत्पाद होता है। विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान को प्राप्त होता है तो विज्ञानानन्त्यायतन भूमि में उत्पाद होता है। इसी तरह आकिञ्चन्यायतन एवं नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को भी जानना चाहिये।

महग्गतविपाकभूमि समाप्त।

पाकस्थानचतुष्क समाप्त।

कर्मचतुष्क समाप्त।

---

*. ०कुसलानि च – स्या०। †-†. अरुप्पेसु उप्पज्जन्ति – सी०, रो०, म० (क)।

‡. ०पवत्तितं – रो०। §. ०प्पवत्तियं – सी०, स्या०, रो०, ना०।

१. दी० नि०, तृ० भा०, पृ० १९९। २. चित्त के छन्द को 'चेत:प्रणिधि' कहते हैं।

३. विभा०, पृ० १४१। ४. प० दी०, पृ० २११।

मरणुप्पत्तिचतुक्कं

८०. आयुक्खयेन, कम्मक्खयेन, उभयक्खयेन, उपच्छेदककम्मुना चेति चतुधा मरणुप्पत्ति नाम* ।

आयु:क्षय से, कर्मक्षय से उभय (आयु एवं कर्म) क्षय से एवं उपच्छेदक कर्म से – इस तरह चार प्रकार की मरणोत्पत्ति कही जाती है।

मरणोत्पत्तिचतुष्क

८०. 'मरणस्स उप्पत्ति मरणुप्पत्ति' अर्थात् मरण के उत्पादाकार (प्रवृत्त्याकार) को ही 'मरणोत्पत्ति' कहते हैं[1]।

आयु:क्षय, कर्मक्षय-आदि मरण के चार कारणों की अपेक्षा करके मरणोत्पत्ति का आकार भी चतुर्विध होता है[2]।

आयु:क्षय – यद्यपि जीवित रूप को मुख्यतया 'आयुष्' कहते हैं, तथापि यहाँ जीवित रूप के आधारभूत कालपरिच्छेद (आयु:प्रमाण) को स्थान्युपचार से 'आयुष्' कहा गया है। उन उन भूमियों के अनुसार नियत आयु:प्रमाण होता है। इस मनुष्यभूमि में आयुष् अधिक से अधिक असङ्ख्येय कल्प तक एवं कम से कम दस वर्ष तक होती है। अतः आयुष् के अनियत होने पर भी उसका काल के आधार पर नियम होता ही है।

---

* रो० में नहीं।

१. "तत्थ कतमं मरणं ? या तेसं तेसं सत्तानं तम्हा तम्हा सत्तनिकाया चुति चवनता भेदो अन्तरधानं मच्चु मरणं कालकिरिया खन्धानं भेदो कळेवरस्स निक्खेपो जीवितिन्द्रियस्सुपच्छेदो – इदं वुच्चति मरणं।" – विभ०, पृ० १२६।
"तत्थ 'मरणं' ति एकभवपरियापन्नस्स जीवितिन्द्रियस्स उपच्छेदो।" – विसु०, पृ० १५५। द्र० – विभ० अ०, पृ० १०२।

२. "यं पि चेतं अधिप्पेतं तं कालमरणं, अकालमरणं ति दुविधं होति। तत्थ 'कालमरणं' पुञ्ञक्खयेन वा आयुक्खयेन वा उभयक्खयेन वा होति। अकालमरणं कम्मुपच्छेदककम्मवसेन।" – विसु०, पृ० १५५।
द्र० – विभ० अ०, पृ० १०२-१०३; मिलि०, पृ० २६४-२६५।
तु० – "प्रथमा कोटिः – आयुर्विपाकस्य कर्मणः पर्यादानात्। द्वितीया – भोगविपाकस्य। तृतीया – उभयोः। चतुर्थी – विषमापरिहारेण।" – वि० प्र० वृ०, पृ० १०२; अभि० को० २ : ४५ पर भाष्य; स्फु०, पृ० १६९-१७०। 'बोधिचर्यावतार' के अनुसार ४०४ प्रकार की मृत्यु होती है, द्र० – बोधि० २ : ५५ का०, पृ० ३४।

इस तरह भूमि या काल के अनुसार नियत आयुष् के पूर्ण होने पर जो मरण होता है उसे 'आयुःक्षय' मरण कहते हैं[1]।

१. प्रज्वलित दीपक का बत्ती के क्षय से निरोध (निर्वाण) होता है।

२. तैल के क्षय से निरोध होता है।

३. बत्ती एवं तैल – दोनों के क्षय से निरोध होता है।

४. बत्ती एवं तैल – दोनों का क्षय न होने पर भी वायु या किसी अन्य आगन्तुक हेतु के कारण निरोध (निर्वाण) होता है।

मरण के उपर्युक्त चार कारणों में से 'आयुःक्षय' बत्ती के क्षय की तरह होता है। (दीप की लौ सत्त्वों के 'आयुष्' नामक जीवित की तरह होती है। दीपक का निर्वाण एकभव में उस जीवित के निरोध की तरह होता है।)

जिस प्रकार तैल रहने पर भी यदि बत्ती का क्षय हो जाता है तो दीपक की लौ का निरोध हो जाता है, उसी तरह जीवित रहने के लिये कर्म विद्यमान होने पर भी आयुष् पूर्ण हो जाने से च्युति होती है। कुछ पुण्यवान् सत्त्व निश्चित आयुःपरिच्छेद से अधिक भी जीवित रहते हैं।

कर्मक्षय – उन उन भवों में प्रतिसन्धिफल देनेवाले जनककर्मों एवं उन जनककर्मों की विपाकभूत स्कन्धसन्तति को चिरकाल तक स्थित रखने के लिये उपष्टम्भ करनेवाले उपष्टम्भक कर्मों को यहाँ 'कर्म' कहा गया है। उन कर्मों की शक्ति के क्षय को 'कर्मक्षय' कहते हैं। यह (कर्मक्षय) ऊपर के उदाहरणों में से तैल के क्षय की तरह होता है। जिस प्रकार बत्ती के विद्यमान होने पर भी तैल का क्षय हो जाने से दीपक का निर्वाण हो जाता है उसी प्रकार आयुःप्रमाण अवशिष्ट रहने पर भी कर्मशक्ति का क्षय हो जाने से च्युति हो जाती है। जैसे १०० वर्ष आयुःप्रमाण होने पर भी यदि कर्म ५० वर्षपर्यन्त ही स्कन्धसन्तति का उपष्टम्भ कर पाते हैं तो आयुःप्रमाण अवशिष्ट रहने पर भी ५० वर्ष में ही च्युति हो जाती है। इस कर्मक्षय को ही जब देव, ब्रह्माओं की अपने नियत आयुःप्रमाण से पहले च्युति हो जाती है तो 'पुण्यक्षय' भी कहते हैं[2]।

---

१. "यं गतिकालाहारादिसम्पत्तिया अभावेन अज्जकालपुरिसानं विय वस्ससतमत्तपरिमाणस्स आयुनो खयवसेन मरणं होति – इदं 'आयुक्खयेन मरणं' नाम।" – विसु०, पृ० १५५।

"कम्मानुभावे तंतंगतीसु यथापरिच्छिन्नस्स आयुनो परिक्खयेन मरणं 'आयुक्खयमरणं'।" – विभा०, पृ० १४१।

२. "तत्थ यं विज्जमानाय पि आयुसन्तानजनकपच्चयसम्पत्तिया केवलं पटिसन्धिजनकस्स कम्मस्स विपक्कविपाकत्ता मरणं होति – इदं 'पुञ्ञक्खयेन मरणं' नाम।" – विसु०, पृ० १५५।

"सति पि तत्थ तत्थ परिच्छिन्नायुसेसे गतिकालादिपच्चयसामग्गियञ्च तंतंभवसाधकस्स कम्मुनो परिनिट्ठितविपाकत्ता मरणं 'कम्मक्खयमरणं'।" – विभा०, पृ० १४२।

उभयक्खयं – आयुष् एवं कर्म – दोनों के क्षय को 'उभयक्षय' कहते हैं[1]। यह तैल एवं बत्ती – दोनों के क्षय से होनेवाले दीपक के निर्वाण की तरह होता है। जैसे १०० वर्ष का आयुःप्रमाण होने पर १०० वर्षपर्यन्त स्थित रहने के लिये उपष्टम्भक कर्म भी होते हैं तो १०० वर्ष पूर्ण होने पर च्युति का होना 'उभयक्षय' है।

उपच्छेदक कम्म – कृत्यचतुष्क में कहे गये उपघातककर्म को ही 'उपच्छेदककर्म' कहते हैं। आयुःप्रमाण एवं कर्मशक्ति – दोनों के विद्यमान होने पर भी पूर्वभव या इसी भव में कृत किसी एक कर्म द्वारा उपघात करने से जब च्युति होती है तो उस च्युति को ही 'उपच्छेदक कर्म से च्युति' कहते हैं। इसे तैल एवं बत्ती के विद्यमान होने पर भी वायु या किसी अन्य आगन्तुक कारण से होनेवाले दीपक के निर्वाण की तरह समझना चाहिये[2]।

इन चार कारणों में से पूर्ववर्ती तीन कारणों से च्युति होना 'कालमरण' तथा उपच्छेदककर्म से च्युति होना 'अकालमरण' कहलाता है। अकालमरण के प्रसङ्ग में जानने योग्य चीजें बहुत होती हैं, यथा –

"जिघच्छाय पिपासाय अहिदट्ठो विसेन च।
अग्गिउदकसत्तीहि अकाले तत्थ मीयति॥
वातपित्तेहि सेम्हेन सन्निपातेनुतूहि च।
विसमोपक्कमकम्मेहि अकाले तत्थ मीयति[3]॥"

अर्थात् भूख, प्यास, सर्पदंश, विष, अग्नि, जल एवं शस्त्र द्वारा अकाल मृत्यु होती है। वात, पित्त, श्लेष्मा, तीनों का सन्निपात, ऋतुविकार एवं विषमोपक्रम कर्म अर्थात् स्वयं विषम प्रयत्न करने तथा दूसरों द्वारा विषम प्रयत्न किये जाने से पुद्गल अकाल-मृत्यु को प्राप्त होता है।

इस प्रकार अकालमृत्यु के कई कारण होते हैं। इन कारणों द्वारा च्युति होने पर भी मूलभूत कारणों के बिना च्युति नहीं हो सकती। जैसे – 'इध महाराज! यो पुब्बे परे जिघच्छाय मारेति सो बहूनि वस्स सतसहस्सानि जिघच्छाय परिपीळितो छातो...

---

१. "आयुकम्मानं समकमेव परिक्खीणत्ता मरणं 'उभयक्खयमरणं'।" – विभा०, पृ० १४२।

२. "यं पन दूसिमारकलाबुराजादीनं विय तं खणं येव ठाना चावनसमत्थेन कम्मुना उपच्छिन्नसन्तानानं, पुरिमकम्मवसेन वा सत्थाहरणादीहि उपक्कमेहि उपच्छिज्जमानसन्तानानं मरणं होति, इदं 'अकालमरणं' नाम।" – विसु०, पृ० १५५।
"सति पि तस्मिं दुविधे पुरिमभवसिद्धस्स कस्सचि उपच्छेदककम्मुनो बलेन सत्थहरणादीहि उपक्कमेहि उपच्छिज्जमानसन्तानानं...ठाना चावनवसेन पवत्तमरणं उपच्छेदकमरणं नाम।" – विभा०, पृ० १४२।

३. मिलि०, पृ० २९६।

जिघच्छाय मेव मरति"[1]—इस वचन में 'जो पूर्व भव में किसी को भूख से मार डालता है तो वह अनेकभवपर्यन्त भूख से पीड़ित हो कर मरता है', इसके द्वारा भूख से मरने पर भी मूलभूत पूर्वकर्म के बिना अकालमृत्यु नहीं होती—ऐसा कहा गया है। अन्य कारणों द्वारा अकालमृत्यु होने पर भी मूलभूत पूर्व कारण विद्यमान होते ही हैं; उनके बिना मृत्यु नहीं हो सकती। उस पूर्वकर्म द्वारा स्कन्धसन्तति का उपच्छेद किया जाने के कारण आचार्यगण सभी अकालमरणों को 'उपच्छेदकमरण' ही कहते हैं।

विभावनीकार ने "इदं पन नेरयिकानं, उत्तरकुरुवासीनं, केसञ्चि देवानं च न होति"[2] अर्थात् यह उपच्छेदकमरण नारकीय सत्त्वों की सन्तान में उत्तरकुरुवासी पुद्गलों की सन्तान में एवं कुछ देव ब्रह्माओं की सन्तान में नहीं होता—ऐसा कहा है। विभावनीकार के इस वचन को अन्य आचार्य पसन्द नहीं करते; क्योंकि नरक में आनेवाले सत्त्वों से जब यमराज पूछताछ करते हैं तब पूर्वकृत कुशल का स्मरण हो जाने से उनकी नरक से तत्काल मुक्ति हो जाती है। यह मुक्ति कुशल उपच्छेदक कर्म द्वारा अकुशलविपाक स्कन्धसन्तति का 'उपच्छेद करना' है। 'उत्तरकुरुवासियों में उपच्छेदककर्म हैं कि नहीं?'—इसका कोई प्रमाण नहीं दिखलाया जा सकता। देवों में—कुछ भूमिनिश्रित देवों का उपच्छेदक मरण होता है; यथा—'भूतगामसिक्खापद' के अनुसार एक भिक्षु द्वारा एक वृक्ष काटे जाते समय उस वृक्ष में रहनेवाला भूमिनिश्रित देव भी कटकर मर जाता है[3]। शायद विभावनीकार ने उस भूमिनिश्रित देवता की अपेक्षा करके 'केसञ्चि' (सब देव नहीं) कहा है, परन्तु अन्य देवताओं में भी उपच्छेदक कर्म होते हैं। यथा—"सतं अभिरूळ्हा उपच्छेदककम्मवसेन एकप्पहारेनेव कालं कत्वा अवीचिम्हि निब्बत्ता"[4] अर्थात् सुब्रह्मा नामक देव की पाँच सौ अप्सरायें जब वृक्ष के ऊपर बैठकर फूल तोड़ रही थीं तभी वे उपच्छेदक कर्म से च्युत होकर अवीचि नरक में उत्पन्न हुईं। उसी प्रकार त्रायस्त्रिंश देवभूमियों में भी खिड्डापदोसिका[5] (अत्यधिक क्रीड़ा के कारण नष्ट होनेवाले देवता) मनोपदोसिका[6] (परस्पर क्रोध कर विनष्ट होने वाले देवता) होते हैं। तथा बोधिसत्त्व देवभूमि एवं ब्रह्मभूमि में पारमिताओं को पूर्ण करने के लिये अवकाश न मिलने के कारण उस भूमि में दीर्घकाल तक रहना पसन्द नहीं करते, वे 'इस क्षण के अनन्तर मेरा इस भूमि में

---

१. मिलि०, पृ० २९६।

२. विभा०, पृ० १४२।

३. पाचि०, पृ० ५४।

४. सं० नि० अ०, प्र० भा०, पृ० १०३।

५. "सन्ति भिक्खवे! खिड्डापदोसिका नाम देवा। तेसं अतिवेलं हस्सखिड्डारतिधम्मसमापन्नानं विहरतं सति सम्मुसति, सतिया सम्मोसा ते देवा तम्हा काया चवन्ति...।"—दी० नि०, प्र० भा०, पृ० १८।

६. "सन्ति भिक्खवे! मनोपदोसिका नाम देवा। ते अतिवेलं अञ्ञमञ्ञं उपनिज्झायन्ति...ते देवा तम्हा काया चवन्ति।"—दी० नि०, प्र० भा०, पृ० १९।

८१. तथा च मरन्तानं पन मरणकाले यथारहं अभिमुखीभूतं भवन्तरे पटिसन्धिजनकं कम्मं वा, तंकम्मकरणकाले रूपादिकमुपलद्धपुब्बमुपकरणभूतञ्च कम्मनिमित्तं वा, अनन्तरमुप्पज्जमानभवे उपलभितब्बं* उपभोगभूतञ्च गतिनिमित्तं† वा कम्मबलेन छन्नं द्वारानं अञ्ञतरस्मिं‡ पच्चुपट्ठाति ।

तथाविध कारणों से ही च्युत होनेवालों के मरणासन्नकाल में यथायोग्य अभिमुखीभूत अनन्तरभव में प्रतिसन्धि का उत्पाद करने में समर्थ कुशल या अकुशल कर्म, या उस कर्म का आलम्बन करते समय रूपालम्बन आदि पूर्वोपलब्ध उपकरणभूत कर्मनिमित्त, या अनन्तर होनेवाले भव में उपलब्धव्य उपभोगभूत गतिनिमित्त आलम्बन, कर्मवश से छह द्वारों में से किसी एक द्वार में प्रत्युपस्थित होता है ।

जीवन न रहे'—ऐसा अधिष्ठान करके वहाँ से च्युत हो जाते हैं। उस च्युति को 'अधिमुत्ति कालंकिरिया' कहते हैं। इस प्रकार देव एवं ब्रह्मभूमियों में भी उपच्छेदकमरण होता ही है। अपि च 'कुछ का उपच्छेदक होता है कुछ का नहीं'; यदि इसलिये 'केसञ्चि' कहा गया है तो मनुष्यभूमि में भी तो सबका उपच्छेदक मरण नहीं होता! यहाँ भी कुछ का होता है कुछ का नहीं; ऐसी स्थिति में विभावनीकार को 'केसञ्चि मनुस्सानं, केसञ्चि तिरच्छानानं'—ऐसा भी कहना चाहिये था। इन्हीं सब कारणों से विभावनीकार के उपर्युक्त वचन को आचार्य पसन्द नहीं करते।

'अधिमुत्ति कालङ्किरिया' केवल बोधिसत्वों में ही होने के कारण कुछ आचार्य 'वह उपर्युक्त चतुर्विध मरण से विमुक्त है'—ऐसा कहते हैं तथा कुछ आचार्य 'यह एक प्रकार का आयुःक्षय ही है' ऐसा कहते हैं[1]।

८१. तथा च मरन्तानं पन 'मरणकाले—यहाँ 'च' शब्द एवार्थक है अतः उक्त चार कारणों से अतिरिक्त च्युति का कोई अन्य कारण नहीं होता। 'मरणकाले' द्वारा च्युतिचित्तक्षण का ग्रहण न करके च्युति के आसन्नकाल का ही समीपोपचार से ग्रहण होता है।

यथारहं—टीकाओं में इस 'यथारहं' शब्द की विभिन्न व्याख्यायें की गयी हैं; किन्तु सामान्यतः मूल पालि को देखने से 'यथारहं कम्मं वा, कम्मनिमित्तं वा, गतिनिमित्तं वा पच्चुपट्ठाति'—यही अन्वय युक्तियुक्त प्रतीत होता है। अर्थात् कर्म, कर्म-

---

*. उपलब्भितब्बं—रो०, ना०; उपलभितब्ब—सी०।

†. गतनिमित्तं—रो०।

‡. ०द्वारे—स्या०।

1. प० दी०, पृ० २१३-२१७।

निमित्त या गतिनिमित्त – इनमें से यथायोग्य कोई एक प्रतिभासित होता है[1]। 'विभावनी' आदि पालिटीकाओं की व्याख्या मूल के अनुसार सीधी न होने पर भी उनमें ज्ञातव्य वस्तु अधिक होने के कारण, यहाँ उनके आधार पर ही व्याख्या प्रस्तुत की जाती है।

'विभावनी' में "'यथारहं' ति तंतंगतीसु उप्पज्जमानकसत्तानुरूपं[2]" कहा गया है। अर्थात् उन उन गतियों में उत्पन्न होनेवाले सत्त्वों के अनुसार कर्म, कर्मनिमित्त या गतिनिमित्त – इनमें से कोई एक आलम्बन प्रत्युपस्थित होता है। उन उन गतियों में उत्पन्न न होनेवाले अर्हतों की सन्तान में इन कर्म-आदि में से कोई भी प्रत्युपस्थित नहीं होता। अर्हतों के परिनिर्वाण के आसन्नकाल में फल देनेवाला कोई कर्म अवशिष्ट न होने से कर्म प्रत्युपस्थित नहीं होता तथा उस कर्म का कारणभूत कर्मनिमित्त भी प्रत्युपस्थित नहीं होता। अनन्तरभव में गति न होने से गतिनिमित्त भी प्रत्युपस्थित नहीं होता; अपितु स्वयं जिनमें दृढ़तापूर्वक मनसिकार किया जाता है वे नाम, रूप-आदि ही प्रतिभासित होते हैं।

शुष्कविपश्यक अर्हत् एवं ध्यान का समावर्जन न करके परिनिर्वाण करनेवाले कुछ ध्यानलाभी अर्हतों की सन्तान में जिनमें स्वयं मनसिकार किया जाता है, उन नामरूपों में से ही कोई एक मरणासन्न जवन का आलम्बन होता है। कोई ध्यानलाभी अर्हत् यदि ध्यानसमापत्ति के अन्त में परिनिर्वाण करता है तो उस ध्यान की आलम्बनभूत कसिणप्रज्ञप्ति – आदि ही उसे प्रतिभासित होती हैं। (यहाँ ध्यानजवन ही मरणासन्नजवन होता है।) ध्यान का समावर्जन करने के अनन्तर यदि ध्यानाङ्ग का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथि के अन्त में परिनिर्वाण करता है तो प्रत्यवेक्षण जवन ही मरणासन्नजवन होने से, ध्यानाङ्ग ही मरणासन्नजवन के आलम्बन के रूप में प्रतिभासित होते हैं। यदि अभिज्ञा के अन्त में परिनिर्वाण करता है तो अभिज्ञा का आलम्बनभूत करजकाय (स्कन्ध) ही आलम्बन के रूप में प्रतिभासित होता है। जीवितसमसीसी[3]

---

१. "सङ्खेपतो पटिसन्धिया तीणि आरम्मणानि होन्ति – कम्मं, कम्मनिमित्तं, गतिनिमित्तं ति। तत्थ 'कम्मं' नाम आयूहिता कुसलाकुसलचेतना। 'कम्मनिमित्तं' नाम यं वत्थुं आरम्मणं कत्वा कम्मं आयूहति। तत्थ अतीते कप्पकोटिसतसहस्समत्थकस्मिं पि कम्मे कते तस्मिं खणे कम्मं वा कम्मनिमित्तं वा आगन्त्वा उपट्ठाति।...'गतिनिमित्तं' नाम निब्बत्तनकओकासे एको वण्णो उपट्ठाति। तत्थ निरये उपट्ठहन्ते लोहकुम्भिसदिसो हुत्वा उपट्ठाति। मनुस्सलोके उपट्ठहन्ते मातुकुच्छिकम्बलयानसदिसा हुत्वा उपट्ठाति। देवलोके उपट्ठहन्ते कप्परुक्खविमानसयनादीनि उपट्ठहन्ति। एवं कम्मं, कम्मनिमित्तं, गतिनिमित्तं ति सङ्खेपतो पटिसन्धिया तीणि आरम्मणानि होन्ति।" – विभ० अ०, पृ० १५८-१५९; विसु०, पृ० ३१९; अट्ठ०, पृ० २३६-२३७।

२. विभा०, पृ० १४२।

३. अ० नि० अ०, तृ० भा०, पृ० १४९; पटि० म०, पृ० ११५।

अर्हतों की सन्तान में यदि अर्हत् मार्गवीथि होने के अनन्तर प्रत्यवेक्षणवीथि होते समय परिनिर्वाण होता है तो प्रत्यवेक्षण जवन के आलम्बनभूत मार्ग एवं फल-आदि अवभासित होते हैं। इस प्रकार परिनिर्वाणच्युति के पूर्व होनेवाले मरणासन्नजवनों में नाम एवं रूप प्रज्ञप्तियों में से कोई एक अवभासित होता है। उनमें कर्म, कर्मनिमित्त या गतिनिमित्त आलम्बन प्रतिभासित नहीं होता।

'पटिसन्धिभवङ्गञ्च तथा चवनमानसं।
एकमेव तथेवेकविसयञ्चेकजातियं[1] ॥'

इस नियम के अनुसार परिनिर्वाणच्युतिचित्त भव के प्रारम्भ की प्रतिसन्धि के आलम्बनभूत कर्म, कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त में से ही किसी एक का आलम्बन करता है[2]।

"कत्थचि पन अनुप्पज्जमानस्स खीणासवस्स यथोपट्ठितं नामरूपादिकमेव चुतिपरियोसानानं गोचरभावं गच्छति, न कम्म-कम्मनिमित्तादयो[3]।"

अर्थात् किसी भी भव में उत्पन्न न होनेवाले क्षीणास्रव अर्हत् की सन्तान में यथोपस्थित (स्वभावतः उपस्थित होनेवाले अर्थात् जिनमें दृढ़तापूर्वक मनसिकार किया जाता है वे) नाम, रूप – आदि ही परिनिर्वाणच्युति के अन्तिम भाग में होनेवाले मनोद्वारवीथिचित्तों के आलम्बनभाव को प्राप्त होते हैं। कर्म, कर्मनिमित्त या गतिनिमित्त आलम्बन गोचरभाव को प्राप्त नहीं होते।

यहाँ (इस 'विभावनी' में) 'चुतिपरियोसानानं' इस वाक्यांश के अनुसार मरणासन्न जवन के अनन्तर होनेवाला परिनिर्वाणच्युतिचित्त मरणासन्नजवन की ही तरह स्वभावतः प्रतिभासित होनेवाले (यथोपस्थित) नामरूप का आलम्बन करता है – इस प्रकार कहा गया है। उन आचार्य के अनुसार 'तद्गुणसंविज्ञान' बहुव्रीहि समास करके 'चुतिपरियोसान' – इस शब्द में च्युतिचित्त को भी सङ्गृहीत कर लिया गया है; किन्तु 'पटिसन्धि भवङ्गञ्च' – आदि गाथा के अनुसार एक भव में प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति चित्तों का आलम्बन एक (समान) ही होता है, प्रतिसन्धिचित्त प्रतिसन्धिकाल में स्वभावतः कर्म, कर्मनिमित्त या गतिनिमित्त – इन तीन आलम्बनों में से किसी एक का आलम्बन करता है। यदि परिनिर्वाणच्युतिचित्त उसी प्रतिसन्धि के आलम्बन का आलम्बन नहीं करता है तो इस गाथा से विरोध हो जायेगा। अतः 'चुतिपरियोसामानं' इस शब्द का 'अतद्गुणसंविज्ञान' बहुव्रीहि समास करके च्युतिचित्त को वर्जित करने से ही उक्त गाथा से अविरोध होता है।

बुद्ध की परिनिर्वाणच्युति का आलम्बन – 'अनेजो सन्तिमारब्भ यं कालमकरी मुनि[4]' – इस 'महापरिनिब्बानसुत्त' का प्रमाण करके 'भगवान् बुद्ध का परिनिर्वाणच्युतिचित्त निर्वाण का आलम्बन करता है' – ऐसा कहा जाता है। ऐसा

---

१. द्र० – अभि० स० ५ : ४०, पृ० ५०७।
२. प० दी०, पृ० २१७-२१८।   ३. विभा०, पृ० १४२।
४. दी० नि०, द्वि० भा० (महावग्ग), पृ० १२०।

कहनेवाले आचार्य 'परित्तारमणतिक' का खयाल नहीं करते। २३ कामविपाक, पञ्च-द्वारावर्जन एवं हसितोत्पाद – ये चित्त कामधर्म का नियत आलम्बन करते हैं[1]। अभिधर्मस्वभाव सबके लिये समान होता है, किसी के बड़े (महापुरुष) या छोटे होने से अभिधर्मस्वभाव में कोई भेद नहीं होता। भगवान् बुद्ध का परिनिर्वाण-च्युतिचित्त प्रतिसन्धिचित्त के सदृश महाविपाक प्रथमचित्त होता है। वह महाविपाकचित्त, निर्वाण का आलम्बन नहीं कर सकता। प्रतिसन्धि लेते समय मनुष्यभूमि के गतिनिमित्त का आलम्बन करके प्रतिसन्धि लेने के कारण उस गतिनिमित्त का ही आलम्बन करना पड़ेगा। उपर्युक्त गाथा के 'सन्तिमारब्भ' वचन का अभिप्राय यह है 'चूंकि परिनिर्वाण किया जानेवाला है अतः उस परिनिर्वाण का अनुसन्धान हो रहा है'। इसीलिये अट्ठकथाकार ने 'सन्तिमारब्भ' की 'सन्ति आरम्मणं कत्वा' – यह व्याख्या न कर "'सन्तिमारब्भा' ति अनुपादिसेसं निब्बानं आरब्भ पटिच्च सन्धाय"[2] – इस प्रकार व्याख्या की है। उपर्युक्त वचन का समीचीन अर्थ यह है – 'तृष्णारहित मुनि (बुद्ध) ने निर्वाण की अपेक्षा करके या अनुसन्धान करके परिनिर्वाण किया'।

'थेरगाथा-अट्ठकथा' की "'सन्तिमारब्भा' ति सन्ति अनुपादिसेसं निब्बानं आरम्मणं कत्वा" यह व्याख्या यद्यपि 'महापरिनिब्बान-सुत्तट्ठकथा'[3] से विपरीत प्रतीत होती है, तथापि 'परिनिर्वाण करने के कुछ समय पूर्व निर्वाण का आलम्बन किया जाता है' यदि इस अभिप्राय से उक्त व्याख्या की गयी है तो कोई विरोध नहीं होता।

समापत्ति का आवर्जन करने के अनन्तर ध्यानाङ्गों को आवर्जित करनेवाली वीथि के अन्त में भगवान् का च्युतिचित्त होता है। च्युति के पूर्व जब ध्यानाङ्गों का समावर्जन किया जाता है तब ध्यानाङ्ग प्रतिभासित होंगे। समापत्तिकाल में समापत्ति की आलम्बनभूता कसिणप्रज्ञप्ति-आदि प्रतिभासित होंगी। उस क्षण में भी निर्वाण के अवभासित होने का अवकाश नहीं है। अतः 'सन्तिमारब्भ' का 'समापत्ति के आवर्जन से पूर्व भाग में निर्वाण का आलम्बन किया जाता है' – इस प्रकार का अर्थ होने से थेरगाथा की अट्ठकथा भी समीचीन ही है। वे निर्वाण का चाहे सीधा आलम्बन करें या न करें, उनका च्युतिचित्त निर्वाण की ओर अभिमुख तो होता ही है; किन्तु च्युतिक्षण में किसी भी प्रकार निर्वाण का आलम्बन नहीं हो सकता[4]।

अभिमुखीभूतं...कम्मं वा – अनेक कर्मों में से प्रतिसन्धिफल देनेवाला कर्म च्युति के आसन्नकाल में अन्य कर्मों से अधिक विभूत होने से 'अभिमुखीभूत' कहा जाता है। च्युति के आसन्नकाल में प्रतिसन्धि देनेवाला कर्म स्वयं भी चित्त में अवभासित हो सकता है।

---

१. ध० स०, पृ० ४, ३००–३०१।

२. अट्ठ०, पृ० ३२४।

३. दी० नि० अ० (महावग्गट्ठकथा), पृ० १८७।

४. प० दी०, पृ० २१८।

तंकम्मकरणकाले....कम्मनिमित्तं वा – कर्म के कारणों को 'कर्मनिमित्त' कहते हैं। कर्म करते समय 'कर्म' नामक चेतना उन उन आलम्बनों का आलम्बन करके प्रवृत्त होती है। अतः कर्म करते समय आलम्बन किये गये उन उन आलम्बनों को ही 'कर्मनिमित्त' कहते हैं। रूपालम्बन, शब्दालम्बन-आदि ६ आलम्बन 'कर्मनिमित्त' होते हैं, अतः 'रूपादिकं' कहा गया है। वे रूप-आदि आलम्बन सङ्क्षेप से उपलब्ध एवं उपकरण – इस प्रकार द्विविध होते हैं[1]। उनमें से आलम्बनभूत प्रधान आलम्बनों को 'उपलब्ध कर्मनिमित्त' कहते हैं। कर्म को सिद्ध करने के लिये सम्भारभूत अप्रधान आलम्बनों को 'उपकरण कर्मनिमित्त' कहते हैं। जैसे – किसी विहार का दान करते समय विहार के परिभोगों के साथ भोजन, चीवर-आदि का भी सम्भाररूप में दान दिया जाता है। उनमें से यदि विहार अवभासित होता है तो वह 'उपलब्ध कर्मनिमित्त' होता है; यदि विहार के परिभोग भोजन, चीवर-आदि में से कोई अवभासित होता है तो वह 'उपकरण कर्मनिमित्त' होता है। मछली पकड़नेवाले मछुए को जब मछली अवभासित होती है तो वह 'उपलब्ध कर्मनिमित्त' होता है; यदि मछली पकड़ने के उपकरण जाल, रस्सी आदि अवभासित होते हैं तो वह 'उपकरण कर्मनिमित्त' होता है। 'लक्खणसंयुत्त'[2] में कहा गया है – एक कसाई गौ-आदि पशुओं को जीवनभर काटता रहता है, यदि उसे मरणासन्न काल में अस्थिपुञ्ज अवभासित होता है तो 'गौ' आदि 'उपलब्ध कर्मनिमित्त' तथा अस्थिपुञ्ज 'उपकरण कर्मनिमित्त' होते हैं। इसी प्रकार प्रधान आलम्बन को 'उपलब्ध' एवं सम्बद्ध अप्रधान आलम्बन को 'उपकरण' कहते हैं।

अनन्तरमुप्पज्जमानभवे.....गतिनिमित्तं वा – 'गतिया निमित्तं गतिनिमित्तं' प्राप्य या गन्तव्य भव के आलम्बन को ही 'गतिनिमित्त' कहते हैं। पुनः प्राप्त होनेवाले नये भव का आलम्बन यदि मरणासन्नकाल में अवभासित होता है तो उसे ही 'गतिनिमित्त' कहते हैं। वह गतिनिमित्त भी 'उपलब्धव्य' (उपलभितब्ब) एवं 'उपभोगभूत' – इस प्रकार द्विविध होता है[3]।

---

१. " 'उपलद्धपुब्बं' ति तस्स कम्मस्स आरम्मणभूतानि देय्यधम्मवत्थादीनि परपाणादीनि च सन्धाय वुत्तं; 'उपकरणभूतं' ति कम्मसिद्धिया उपकरणभूतानि परिवारभूतानि च पटिग्गाहकादीनि आवुधभण्डादीनि च सन्धाय वुत्तं।" – प० दी०, पृ० २१६। "'उपलद्धपुब्बं' ति चेतियदस्सनादिवसेन पुब्बे उपलद्धं; 'उपकरणभूतं' ति पुप्फादिवसेन उपकरणभूतं।" – विभा०, पृ० १४२।

२. द्र० – सं० नि०, द्वि० भा०, पृ० २११-२१२।

३. " 'उपलभितब्बं' ति दुग्गतिनिमित्तं सन्धाय वुत्तं। 'उपभोगभूतं' ति सुगतिनिमित्तं। उभयं पि वा यं कायपटिबद्धं हुत्वा लभितब्बं होति तं उपलभितब्बं नाम। 'अपटिबद्धं हुत्वा केवलं सुखदुक्खानुभवनत्थाय लभितब्बं उपभोगभूतं नाम।" – प० दी०, पृ० २१६; " 'उपलभितब्बं' ति अनुभवितब्बं। 'उपभोगभूतं' ति अच्छराविमानकप्परुक्ख-निरयग्गि-आदिकं उपभुञ्जितब्बं।" – विभा०, पृ० १४२।

८२. ततो परं तमेव तथोपट्ठितं आरमणं आरब्भ विपच्चमानककम्मानुरूपं* परिसुद्धमुपक्किलिट्ठं वा उपलभितब्बभवानुरूपं† तत्थोणतं‡ व चित्तसन्तानं अभिण्हं§ पवत्तति बाहुल्लेन ।

अवभासित होने के अनन्तर उस आकार से उपस्थित उस आलम्बन का ही आलम्बन करके फल देनेवाले कर्म के अनुसार परिशुद्ध या उपक्लिष्ट, गन्तव्य भव के अनुरूप उस गन्तव्य भव में अवनत (प्रवण) की तरह चित्तसन्तति निरन्तर बहुलतया प्रवृत्त होती है ।

इसमें प्राप्त होनेवाले मुख्य स्थान को ही 'उपलब्धव्य कर्मनिमित्त' तथा उस गन्तव्य स्थान में उपभोग किये जानेवाले सम्भारों (उपकरणों) को 'उपभोगभूत कर्मनिमित्त' कहते हैं। जैसे – मनुष्यभूमि में पहुँचनेवाले को मातृकुक्षि का अवभास होता है तो वह मातृकुक्षि 'उपलब्धव्य गतिनिमित्त' है। यदि मनुष्यभूमि की कोई अन्य उपभोग की जानेवाली वस्तु अवभासित होती है तो वह 'उपभोग कर्मनिमित्त' होता है। देवभूमि में पहुँचनेवाले सत्त्व के लिये देवविमान-आदि उपलब्धव्य गतिनिमित्त तथा देवताओं की उपभोग्य 'अप्सराएँ, कल्पतरु, उद्यान-आदि उपभोग कर्मनिमित्त हैं। नरक जानेवाले पुद्गलों में नरकभूमि उपलब्धव्य कर्मनिमित्त तथा नारकीय अग्नि, नरकपाल-आदि उपभोग कर्मनिमित्त होते हैं – इस प्रकार जानना चाहिये। कुछ लोगों में गतिनिमित्त जाग्रतकाल की तरह अवभासित होते हैं; कुछ लोगों में स्वप्नकाल की तरह तथा कुछ लोगों में रुक रुक कर थोड़ी थोड़ी देर में अवभासित होते हैं।

कम्मबलेन…पच्चुपट्ठाति – उपर्युक्त आलम्बन प्रतिसन्धि देनेवाले जनककर्म के बल से ही अवभासित होते हैं। ये आलम्बन छह द्वारों में से किसी एक द्वार में अवभासित होते हैं।

परमत्थदीपनीकार के अनुसार 'कम्मबलेन' – यह वचन 'येभुय्येन' अर्थात् प्रायिक वचन है; क्योंकि कुछ नित्य परिचित आलम्बन, मरणासन्नकाल में किये गये आलम्बन, अपने ज्ञाति, सम्बन्धियों द्वारा स्मरण दिलाने से मरणासन्नकाल में स्मृत हुए आलम्बन तथा स्वयं विचार करने से उत्पन्न आलम्बन – ये आलम्बन कर्मबल से न होकर नित्य परिचित होने आदि कारणों से भी अवभासित हो सकते हैं[1]।

८२. तमेव तथोपट्ठितं आरमणं आरब्भ – उपर्युक्त आकार से अवभासित (कर्म, कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त में से किसी एक) आलम्बन का ही आलम्बन करके च्युति

---

*. विपच्चमानकम्मा० – सी०, ना० ।

†. ० लम्भितब्ब० – रो०, ना०; ० उप्पज्जितब्ब० – स्या०; ० लभित्तब्ब० – म० (ख)

‡. तत्थोनतं – सी०; तत्रोणतं – रो० ।

§. अभिक्खणं – स्या० ।

१. "'कम्मबलेना' ति इदानि पटिसन्धि जनेतुं पच्चुपट्ठितस्स कम्मस्स आनुभावेन। इदञ्च येभुय्यवसेन वुत्तं ।" – प० दी०, पृ० २१६ । तु० – विभा०, पृ० १४२ ।

से पूर्वकाल में चित्तसन्तति प्रवृत्त होती है। यहाँ 'तमेव आरमणं आरब्भ' अर्थात् 'उस आलम्बन को बिना छोड़े आलम्बन किया जा रहा है'–यह 'येभुय्येन' अर्थात् प्रायिक वाक्य है; क्योंकि च्युति से पूर्वकाल में कुशल आलम्बन अवभासित होने के अनन्तर मरणासन्नकाल में अकुशल आलम्बन होने की तथा अकुशल आलम्बन अवभासित होने के अनन्तर ज्ञाति, सम्बन्धी-आदि परिजनों द्वारा स्मरण दिलाया जाने से कुशल आलम्बन के रूप में परिणत होने की अनेक कथाएँ प्राप्त होती हैं।

राजा धर्माशोक को मरणासन्नकाल में पहले तो अच्छे अच्छे आलम्बन अवभासित हुए; परन्तु वैद्य द्वारा उनके हाथ में आमलकी दी जाने पर 'पहले तो मेरा समग्र जम्बूद्वीप पर आधिपत्य था; किन्तु आज मैं केवल इस आमलकी का अधिपति हूँ'–इस प्रकार विचार उत्पन्न होने से, इस दौर्मनस्य के कारण उन्होंने सर्पयोनि में प्रतिसन्धि लेकर १०० वर्ष पर्यन्त उसी योनि में वास किया। तदनन्तर उनके पुत्र महेन्द्र महास्थविर द्वारा धर्मदेशना की जाने पर वे उस सर्पयोनि से मुक्त होकर अर्हत् हुए[1]।

'सोणगिरि' नामक पर्वत पर निवास करनेवाले 'सोण' नामक अर्हत् के पिता पहले बहेलिया का काम करते थे, उसी कर्म से जीविकोपार्जन करते थे जब वृद्ध हुए तब भिक्षु होकर अपने पुत्र सोण अर्हत् के साथ रहने लगे। मरणासन्नकाल में 'पर्वत के पादप्रदेश से खाने के लिये बड़े बड़े कुत्ते दौड़ते हुए आ रहे हैं'–इस प्रकार गतिनिमित अवभासित होने से 'पुत्र! बचाओ, बचाओ'–इस प्रकार चिल्लाने लगे। तब महास्थविर ने 'क्या मेरे जैसा पुत्र होने पर भी ये नरक में जायेंगे?'–ऐसा सोचकर कुछ श्रामणेरों को पुष्प लाने के लिये भेजा। पुष्प आ जाने पर वे उन्हें स्तूप के पास ले गये और स्तूप पर पुष्प चढ़ा कर उनसे कहा कि, हम आपके पुण्य के लिये स्तूपपूजन कर रहे हैं। सोण-अर्हत् के वचन सुनकर तथा स्तूपपूजन देखकर उन्हें सौमनस्य हुआ। इस सौमनस्य के कारण कुत्ते का गतिनिमित्त नष्ट होकर उन्हें देवकन्या गतिनिमित्त अवभासित हुआ। तब 'अरे! तुम्हारी सौतेली माताएँ आ रही हैं, हट जाओ, हट जाओ'–ऐसा चिल्लाने लगे और इसी क्षण में च्युति हो जाने से उनका देवलोक में उत्पाद हुआ। इस प्रकार प्रथम अवभासित कुशल अकुशल आलम्बनों का परिवर्त्तन तथा कर्म, कर्म-

---

१. "सकलं मेदिनिं भुत्वा, दत्वा कोटिसतं सुखी।
अड्ढामलकमत्तस्स, अन्ते इस्सरतं गतो।
तेनेव देहबन्धेन, पुञ्ञम्हि खयमागते।
मरणाभिमुखो सो पि, असोको सोकमागतो॥"–विसु०, पृ० १५७।

तु०–"त्यागशूरनरेन्द्रोऽसौ, अशोको मौर्यकुञ्जरः।
जम्बुद्वीपेश्वरो भूत्वा, जातोऽर्धामलकेश्वरः॥"
–दिव्या०, पृ० २८१।

निमित्त एवं गतिनिमित्तों में भी परस्पर परिवर्तन हो जाता है[1]। (अर्थात् कर्म आलम्बन अवभासित होने के अनन्तर उसका कर्म-निमित्त-आदि आलम्बनों में परिवर्तन हो सकता है।)

विपच्चमानककम्मानुरूपं परिसुद्धमुपक्किलिट्ठं वा – अवभासित होनेवाले कर्म, कर्म निमित्त, एवं गतिनिमित्त में से किसी एक का आलम्बन करके चित्तसन्तति के प्रवृत्त होने पर फल देनेवाले कर्म के अनुरूप विशुद्ध चित्तसन्तति या उपक्लिष्ट चित्तसन्तति का उत्पाद होता है। अर्थात् फल देनेवाला कर्म कुशल होता है तो विशुद्ध चित्तसन्तति तथा फल देनेवाला कर्म अकुशल होता है तो उपक्लिष्ट चित्तसन्तति का 'उत्पाद' होता है[2]।

प्रश्न – कुशल कर्म अवभासित होते समय तथा देवकन्या या विमान-आदि अवभासित होते समय अवश्य तृष्णा द्वारा आसक्ति होगी। सोण महास्थविर के पिता भी, देवकन्या अवभासित होने पर अनुराग होने के कारण 'तुम्हारी सौतेली माताएँ आ रही हैं' – इस प्रकार चिल्लाते हैं। इस प्रकार तृष्णायुक्त चित्त होने पर भी क्यों सुगतिभूमि में उत्पाद होता है? 'आदित्तपरियायसुत्त' में भी "निमित्तस्सादगथितं वा भिक्खवे! विञ्ञाणं तिट्ठमानं तिट्ठेय्य, अनुब्यञ्जनस्सादगथितं वा; तस्मिञ्चे भिक्खवे! कालं करेय्य, ठानमेतं विज्जति यं द्विन्नं गतीनं अञ्ञतरं गतिं गच्छेय्य – निरयं वा, तिरच्छानयोनिं वा" कहा गया है[3]। ऐसी स्थिति में देवकन्या एवं विमानों के प्रति आसक्ति नरक अथवा तिरच्छान योनि में उत्पाद करानेवाली है कि नहीं?

उत्तर – अवभासित कुशलकर्म तथा देवकन्या या विमान-आदि के प्रति आसक्ति-रूप तृष्णा नरक अथवा तिरच्छानयोनि में उत्पन्न होने का कारण नहीं है। वह तो कुशल कर्म को फल देने का सुअवसर मिलने के लिये पथप्रदर्शक की तरह उपकारक मात्र होती है। इसीलिये 'पटिसम्भिदामग्ग' में "गतिसम्पत्तिया ञाणसम्पयुत्ते अट्ठन्नं हेतूनं पच्चया उप्पत्ति होति[4]" – इस प्रकार कहा गया है। इस पालि का अभिप्राय यह है कि कुशल होने के क्षण में ज्ञानसम्प्रयुक्त कुशलचित्त में अलोभ-आदि ३ हेतु, कुशल करने के बाद उस कुशल के प्रति सौमनस्य होते समय तृष्णा द्वारा आसक्ति होने से लोभ एवं मोह नामक २ हेतु तथा उस कुशल के फलभूत प्रतिसन्धिकाल में महाविपाक ज्ञानसम्प्रयुक्त होने से अलोभ-आदि ३ हेतु = ८ हेतुओं की शक्ति से ही सुगतिभव में ज्ञानसम्प्रयुक्त प्रतिसन्धि होती है। यहाँ दो अकुशल हेतु भी कुशल कर्म द्वारा फल दिये जाने में उपकारक होते हैं। अतः कुशल कर्म के अवभासित होने पर उनके प्रति आसक्ति तृष्णा, तथा देवकन्या या विमान-आदि के प्रति आसक्ति तृष्णा, कुशल कर्मों को फल देने का सुअवसर मिलने के लिये उपकारकमात्र होती है।

---

१. प० दी०, पृ० २१९-२२०; विभ० अ०, पृ० ४४३।

२. प० दी०, पृ० २२०।

३. सं० नि०, तृ० भा०, पृ० १५२।

४. पटि० म०, पृ० ३१६।

'निमित्तस्सादगथितं वा' आदि पालि में स्त्री-पुरुष के सम्पूर्ण शरीर को 'निमित्त' कहा गया है। अपने या दूसरों के शरीर के प्रति (सम्पूर्ण शरीर के प्रति) होनेवाली आसक्ति तृष्णा को 'निमित्तस्सादगथितं' कहा गया है। हस्त, पाद, मुख-आदि शरीर के अङ्गों को 'अनुब्यञ्जन' कहते हैं। उन अङ्गों के प्रति होनेवाली आसक्ति तृष्णा को 'अनुब्यञ्जनस्सादगथितं' कहा गया है। इस प्रकार आसक्त होनेवाली विज्ञान-सन्तति यदि मरणासन्न जवन तक अवस्थित रहती है तो एकान्तरूप से नरक या तिरच्छान योनि में उत्पाद होगा। देवकन्या या विमान-आदि के प्रति आसक्ति उन निमित्त एवं अनुब्यञ्जनों के प्रति होनेवाली आसक्ति की तरह तीव्र नहीं होती। यदि तीव्र होगी तो भी मरणासन्नकाल तक वह आलम्बन अवस्थित नहीं रह सकेगा। अन्तिम वीथि अवश्य कुशलजवनवीथि ही होगी। इसीलिये 'विपच्चमानककम्मानुरूपं' के अनुसार कुशल कर्म के अनुरूप 'विशुद्धचित्तसन्तति होने में देवकन्या-आदि के प्रति आसक्ति होने के कारण चित्तसन्तति क्लिष्ट हो जाती है'—ऐसा नहीं कहा जा सकता, अपितु उनके द्वारा कुशल कर्म का उपकार ही होता है[1]।

उपपज्जितब्बभवानुरूपं तत्थोणतं व—च्युति के आसन्नकाल में होनेवाली चित्त-सन्तति के किसी अन्य आलम्बन का आलम्बन करके प्रवृत्त रहने पर भी वह गन्तव्य अनन्तर-भव की ओर उन्मुख (झुकी हुई) ही होती है। मनुष्यभूमि में पहुँचनेवाले की चित्त-सन्तति मनुष्यभूमि की ओर झुकी हुई रहती है। जैसे—लोक में भी किसी अभीष्ट स्थान पर जानेवाले पुरुष की चित्तसन्तति सामानों के बाँधने, छोड़ने आदि अन्य कार्यों में लगी रहने पर भी गन्तव्य स्थान एवं मार्ग की ओर ही झुकी रहती है। इसीलिये भगवान् बुद्ध का च्युतिचित्त परिनिर्वाण के आसन्नकाल में निर्वाण का आलम्बन न करने पर भी उस निर्वाण की ओर उन्मुख (झुका हुआ) रहता है।

'तत्थोणतं व' का 'तत्थ ओणतं इव'—इस प्रकार पदच्छेद करके 'उस गन्तव्य भव में झुकी हुई की तरह'—ऐसा अर्थ करना चाहिये।

'परमत्थदीपनी' में 'तत्थोणतं व' का 'तत्थ ओणतं एव'—ऐसा पदच्छेद करके 'उस अवभासित आलम्बन में झुकी हुई ही'—ऐसा अर्थ किया गया है[2]। च्युति के आसन्नकाल में कर्म, कर्मनिमित्त या गतिनिमित्त में से किसी एक के अवभासित होने पर चित्तसन्तति अवभासित आलम्बन के प्रति झुकी हुई ही होती है अर्थात् आलम्बन कर रही होती है—यह अभिप्राय तो 'तथोपट्ठितं आरमणं आरब्भ'—इस पद से ही सिद्ध हो जाता है, अतः परमत्थदीपनीकार की उक्त व्याख्या आचार्य को अभिप्रेत नहीं हो सकती[3]।

---

१. प० दी०, पृ० २२०।

२. प० दी०, पृ० २२१। द्र०—विभा०, पृ० १४३।

३. व० भा० टी०।

८३. तमेव वा पन जनकभूतं कम्ममभिनवकरणवसेन द्वारप्पत्तं होति ।

प्रतिसन्धि का उत्पादकभूत वह कर्म ही अपने को अभिनव करने के वश से मनोद्वार में अवभासित होता है ।

चित्तसन्तानं अभिण्हं पवत्तति बाहुल्लेन – उपर्युक्त कथन के अनुसार अवभासित आलम्बन का आलम्बन करके विशुद्ध चित्तसन्तति या उपक्लिष्ट चित्तसन्तति गन्तव्यभव की ओर झुकी हुई की तरह च्युति से पहले निरन्तर पुनः पुनः प्रवर्त्तमान होती रहती है; किन्तु उपर्युक्त क्रम से चित्तसन्तति की उत्पत्ति धीरे धीरे च्युत होनेवालों में ही हो सकती है । एकाएक मर जानेवालों में इस प्रकार नहीं हो सकती ।

एक शिलापट्ट पर बैठी हुई मक्खी को किसी दूसरे पाषाण-खण्ड द्वारा दबा कर मारते समय सर्वप्रथम कर्म, कर्मनिमित्त या गतिनिमित्त – इनमें से किसी एक का आलम्बन करनेवाली मनोद्वारवीथि होती है । उसके अनन्तर पाषाणखण्ड द्वारा दबाये जाने के कारण पीडा होने से कायद्वारवीथि होती है । तदनन्तर उस अतीत स्प्रष्टव्य-आलम्बन का आलम्बन करनेवाली तदनुवर्तक मनोद्वारवीथि होती है । तत्पश्चात् कर्म-आदि आलम्बनों में से किसी एक का आलम्बन करनेवाली मरणासन्नवीथि होकर च्युति होती है । इस प्रकार एकाएक च्युति होने के काल में चित्तसन्तति की विशुद्धि या उपक्लेश तथा गन्तव्य भव की ओर झुकाव स्पष्ट नहीं होता । इस प्रकार की एकाएक होनेवाली च्युति की अपेक्षा करके ही 'बाहुल्लेन' शब्द का प्रयोग किया गया है । इसका अभिप्राय यह है कि प्रायः उपर्युक्त क्रम से ही चित्तसन्तति होती है, एकाएक च्युति होने के समय वैसे नहीं भी होती । ('विभावनी' में दूसरे प्रकार से व्याख्या की गई है, उसे वहीं देखें[1] ।)

८३. तमेव वा पन...द्वारप्पत्तं होति – यह कर्म-आलम्बन के अवभासित होने का एक दूसरा प्रकार दिखलानेवाला वाक्य है ।

कर्म-आलम्बन के अवभासित होने में वह 'पुब्बेकतसञ्ञा' (पूर्वकृतसंज्ञा) एवं सम्पतिकतसञ्ञा (सम्प्रतिकृतसंज्ञा) से भी अवभासित होता है । उनमें से जब विहार-आदि का दान किया गया था उस समय यदि सौमनस्य कुशलचेतना हुई थी तो उस कुशलचेतना का पुनः स्मरण करना और उसका आलम्बन कर सकना – यह 'पूर्वकृतसंज्ञा' से होता है । मरणासन्नकाल में किसी वेदना से पीडित होकर संज्ञाहीनता (बेहोशी) होने के समय विहार-आदि के दान करने के समय की तरह मन में सौमनस्य होकर स्वप्न की तरह नव नव सौमनस्य कुशल-चेतनाओं का होना तथा पहले किसी पर साङ्घातिक प्रहार करने पर मरणासन्नकाल में पुनः प्रहार करने के समय की तरह द्वेषजवन उत्पन्न होना – ये सब 'सम्प्रतिकृतसंज्ञा' से होता है । इन्हीं सब को लक्ष्य करके 'तमेव वा पन जनकभूतं कम्मं अभिनवकरणवसेन द्वारप्पत्तं होति' कहा गया है[2] ।

---

१. विभा०, पृ० १४३ ।

२. प० दी०, पृ० २२१-२२२ ।

मरणासन्नवीथि

८४. पच्चासन्नमरणस्स तस्स वीथिचित्तावसाने भवङ्गक्खये वा चवनवसेन पच्चुप्पन्नभवपरियोसानभूतं चुतिचित्तमुप्पज्जित्वा निरुज्झति।

प्रत्यासन्न (अत्यन्त निकट) मरणवाले सत्त्व के वीथिचित्तों के अन्त में अथवा भवङ्ग का क्षय होने पर, च्युति के वश से प्रत्युत्पन्न भव का अवसानभूत (आखिरी) च्युतिचित्त उत्पन्न होकर निरुद्ध होता है।

मरणासन्नवीथि

८४. पच्चासन्नमरणस्स···उप्पज्जित्वा निरुज्झति – च्युति के आसन्नवर्ती पुद्गल को 'प्रत्यासन्नमरण' कहते हैं। अर्थात् एक मरणासन्नवीथि के अन्त में या उस वीथि के अनन्तर भवङ्गपात होने के अन्त में च्युत होनेवाले सत्त्व को 'प्रत्यासन्नमरण' कहते हैं। 'वीथिचित्तावसाने' – के द्वारा जवन के अन्त में च्युतिचित्त पात होनेवाला वार, एवं तदालम्बन के अन्त में च्युतिचित्त पात होनेवाला वार – इन दोनों वारों को दिखलाया गया है। 'भवङ्गक्खये वा' – के द्वारा जवन के अनन्तर भवङ्ग होकर च्युतिचित्तपात होनेवाला वार एवं तदालम्बन के अनन्तर भवङ्ग होकर च्युतिचित्तपात होनेवाला वार – इन दोनों वारों को दिखलाया गया है। टीकाओं में एक वार ही भवङ्गपात दिखलाया गया है; किन्तु यदि कर्मज रूपों का निरोध नहीं होता तो एक वार से अधिक भी भवङ्गपात हो सकता है। उपर्युक्त चार वीथियों को 'वीथिसमुच्चय' में दिखलाया गया है[1]।

इन चारों वीथियों में से – कामभूमि से च्युत होकर पुनः कामभूमि में होनेवाले पुद्गल में ये चारों वीथियाँ हो सकतीं हैं। कामभूमि से च्युत होकर ब्रह्मभूमि में जानेवाले पुद्गल में, ब्रह्मभूमि से ब्रह्मभूमि में जानेवाले पुद्गल में, एवं ब्रह्मभूमि से कामभूमि में आनेवाले पुद्गल में, तदालम्बन के अनन्तर च्युति एवं तदालम्बन-भवङ्ग के अनन्तर च्युति होनेवाली दो वीथियाँ नहीं हो सकतीं; क्योंकि 'कामे जवनसत्तालम्बनानं नियमे सति' के अनुसार कामजवन, कामसत्त्व तथा कामालम्बन होनेवाले विभूत एवं अतिमहन्त आलम्बन होने पर ही तदालम्बन·पात हो सकता है। ब्रह्मभूमि में होनेवाली मरणासन्नवीथि में कामसत्त्व न होने से वहाँ तदालम्बन का पात नहीं हो सकता। तथा कामभूमि से ब्रह्मभूमि में जानेवाले पुद्गल की मरणासन्नवीथि, कामसत्त्व की वीथि होने पर भी उसका आलम्बन कसिणप्रज्ञप्ति – आदि होने से उसमें तदालम्बनपात नहीं हो सकता। कामभूमि से कामभूमि में जाते समय कामजवन एवं कामसत्त्व के होने में तो कोई सन्देह ही नहीं है। आलम्बन भी काम-आलम्बन ही होता है; क्योंकि कामविपाक

---

१. द्र० – 'वीथिसमुच्चय' पृ० ४५३।

"'वीथिचित्तावसाने वा' ति कामभवतो चवित्वा कामभवे एव उप्पज्जमानानं जवनपरियोसानानं वा तदारम्मणपरियोसानानं वा वीथिचित्तानं अवसाने। इतरेसं पन जवनपरियोसानानं एव वीथिचित्तानं अवसाने ति अत्थो।" – प० दी०, पृ० २२२। तु० – विभ० अ०, पृ० १६०।

पटिसन्धिचित्तुप्पादो

८५. तस्मिं निरुद्धावसाने तस्सानन्तरमेव तथागहितं आरम्मणमारब्भ सवत्थुकं अवत्थुकमेव वा यथारहं अविज्जानुसयपरिक्खित्तेन तण्हानुसयमूलकेन सङ्खारेन* जनीयमानं† सम्पयुत्तेहि‡ परिग्गय्हमानं§ सहजातानमधिट्ठानभावेन पुब्बङ्गमभूतं भवन्तरपटिसन्धानवसेन पटिसन्धिसङ्खातं मानसं उप्पज्जमानमेव पतिट्ठाति भवन्तरे।

उस के निरोध का अवसान होनेपर उस च्युति चित्त के अनन्तर ही उस आकार से मरणासन्न जवन द्वारा गृहीत आलम्बन का आलम्बन करके निश्रयवस्तु के साथ या निश्रयवस्तु के बिना यथायोग्य अविद्यानुशय से परिक्षिप्त तृष्णानुशयमूलक कुशलाकुशल कर्म द्वारा उत्पन्न किये जाते हुए (उत्पद्यमान), सम्प्रयुक्त धर्मों द्वारा गृहीत किये जाते हुए, सहजातधर्मों के अधिष्ठान रूप से पूर्वंगामिभूत, भवान्तर में प्रतिसन्धान करने के वश से प्रतिसन्धिनामक चित्त उत्पन्न होते हुए ही भवान्तर में प्रतिष्ठित होता है।

प्रतिसन्धिचित्त द्वारा (आलम्बनसङ्ग्रह के अनुसार[1]) कामधर्म का ही नित्य आलम्बन किया जाने के कारण उस कामप्रतिसन्धिचित्त को आलम्बन लेकर देनेवाला मरणासन्न जवन भी कामधर्म का ही आलम्बन करता है। अतः वह काम-आलम्बन यदि विभूत आलम्बन या अतिमहद्-आलम्बन होता है तो तदालम्बन के अनन्तर च्युति एवं तदालम्बन-भवङ्ग के अनन्तर च्युतिपात होनेवाली दोनों वीथियाँ हो सकती हैं। (यदि कर्मजरूप तदालम्बनपात के पूर्व निरुद्ध हो जाते हैं तो विभूत-आलम्बन एवं अतिमहद्-आलम्बन होने पर भी जवन के अनन्तर च्युतिपात ही होगा।) वह काम-आलम्बन यदि अविभूत-आलम्बन या महद्-आलम्बन होता है तो जवन के अनन्तर च्युति, एवं जवनभवङ्ग के अनन्तर च्युतिपात होनेवाली दोनों वीथियाँ हो सकती हैं।

'विभावनी' में 'धम्मानुसारणी' का प्रमाण देकर 'कामभूमि से कामभूमि में जानेवाले सत्त्व में जवन के अनन्तर च्युति एवं जवनभवङ्ग के अनन्तर च्युतिपात होनेवाली दो वीथियाँ नहीं हो सकतीं – इस प्रकार कहा गया है[2]; किन्तु यदि अविभूत-आलम्बन एवं महद्-आलम्बन होता है तो वे (दो वीथियाँ) क्यों नहीं होंगी? अर्थात् अवश्य होंगी।

प्रतिसन्धिचित्तोत्पाद

८५. तस्मिं निरुद्धावसाने तस्सानन्तरमेव –

च्युतिचित्त जब एकदम निरुद्ध हो जाता है तब उस च्युतिचित्त के निरोध के अनन्तर ही प्रतिसन्धि चित्त होता है' – इस कथन में 'अनन्तरमेव' वाक्य द्वारा

---

*. सङ्खारेण – रो०। †. जनियमानं – स्या०, रो०, ना०, म० (ख)।
‡. सम्पयुत्तधम्मेहि – स्या०। §. परिग्गय्हमानं – सी०, स्या०, रो०, म० (ख)।
१. द्र० – अभि० स० ३ : ५५, पृ० २५८। २. विभा०, पृ० १४३।

अन्तराभववादियों के मत का निराकरण किया गया है। (च्युति एवं प्रतिसन्धि के मध्य में एक प्रकार का भव माननेवाले 'अन्तराभववादी' कहलाते हैं।) अन्तराभववादियों का कहना है कि च्युति एवं प्रतिसन्धि के बीच में एक प्रकार का भव होता है। कुछ सत्त्वों की जब च्युति होती है उस काल में गन्तव्य भव में प्रतिसन्धि लेने के लिये अपेक्षित अङ्गों की परिपूर्णता न होने से वे प्रतिसन्धि नहीं ले पाते। इस बीच वे उस अन्तराभव में माता के ऋतुकाल एवं पिता के समागम की एक सप्ताह से अधिक या कम प्रतीक्षा करते हैं। अन्तराभव में रहने के काल में वे 'दिव्यचक्षुष्' नामक अभिज्ञा को प्राप्त पुद्गल की भाँति सभी वस्तुओं को देख सकते हैं, जहाँ चाहें वहाँ एकक्षण में ही जा सकते हैं। इस प्रकार अन्तराभववादियों का विश्वास है[1]। इस प्रकार का कोई अन्तराभव नहीं होता, अपितु 'च्युति के अनन्तर ही प्रतिसन्धिचित्त का उत्पाद होता है'—यह दिखलाने के लिये ही आचार्य ने 'तस्सानन्तरमेव' में 'एव' शब्द का प्रयोग किया है[2]।

तथागहितं आरम्मणं आरब्भ—अनन्तरभव के प्रतिसन्धिचित्त द्वारा पूर्वभव की च्युति के आसन्नकाल में मरणासन्न जवन द्वारा गृहीत आलम्बन का पुनः आलम्बन किये जाने का नियम है। 'तथा च मरन्तानं पन' आदि वाक्य द्वारा कथित आकार के अनुसार मरणासन्न जवन यदि कर्म का आलम्बन करता है तो नव प्रतिसन्धिचित्त भी उसी कर्म का आलम्बन करता है। मरणासन्न जवन यदि कर्मनिमित्त का आलम्बन करता है तो नवप्रतिसन्धिचित्त उसी कर्मनिमित्त का आलम्बन करता है। इसी प्रकार गतिनिमित्त के विषय में भी जानना चाहिये।

कामभूमि या रूपभूमि में प्रतिसन्धि होने पर उन भूमियों में आश्रयभूत हृदयवस्तु के विद्यमान होने से प्रतिसन्धिचित्त सवस्तुक होता है; किन्तु यदि प्रतिसन्धि अरूपभूमि

---

१. तु०—"इदानि अन्तराभवकथा नाम होति। तत्थ येसं 'अन्तरा परिनिब्बायी' ति सुत्तपदं अयोनिसो गहेत्वा 'अन्तराभवो नाम अत्थि, यत्थ सत्तो दिब्बचक्खुको विय अदिब्बचक्खुको, इद्धिमा विय अनिद्धिमा मातापितिसमागमञ्चेव उतुसमयञ्च ओलोकयमानो सत्ताहं वा अतिरेकसत्ताहं वा तिट्ठतीति लद्धि; सेय्यथापि पुब्बसेलियानञ्चेव सम्मितीयानञ्च।"—कथा० अ०, पृ० २०५; मिलि०, पृ० १३१-१३२।

"अन्तराभवः कामधातौ रूपधातौ चोपपद्यमानस्यारूप्यधातोश्च्यवमानस्य। स च मनोमयो गन्धर्व इत्यपि। परं सप्ताहं तिष्ठत्यन्तरेण च्यवते। एकदा च व्यावर्तते। तत्रस्थश्च कर्मोपचिनोति सभागांश्च सत्त्वान् पश्यति। यत्र चोपपद्यते तदाकृतिरप्रतिहतगतिश्च। ऋद्धिमानिव चाशुगामी उपपत्त्यायतने तुलावनामोन्नामयोगेन च्यवते प्रतिसन्धिञ्च बध्नाति। अन्तराभवस्थश्चोपपत्त्यायतने रागमुत्पादयति। यदन्यश्च क्लेशः प्रत्ययो भवति। सहरागेणान्तराभवो निरुध्यते कललं च सविज्ञानकमुत्पद्यते।"—अभि० समु०, पृ० ४२-४३; अभि० को० ३ : १०-१५ का०, पृ० २८१-२९६; स्फु०, पृ० २६७।

२. प० दी०, पृ० २२३; विभा०, पृ० १४३।

में होती है तब उस भूमि में आश्रयवस्तु न होने के कारण प्रतिसन्धिचित्त अवस्तुक ही होता है। वह प्रतिसन्धिचित्त स्वयं उत्पन्न होनेवाला नहीं है। ईश्वर, परमेश्वर, महाब्रह्मा – आदि द्वारा भी उसका निर्माण नहीं होता; अपितु पूर्वकृत कुशल एवं अकुशलकर्म नामक संस्कारों द्वारा उत्पन्न किया जानेवाला विपाक है। इसीलिये 'सङ्खारेन जनीयमानं – ऐसा कहा गया है।

यथारहं...सङ्खारेन जनीयमानं – कुशल-अकुशल कर्म करते समय प्रायः किसी न किसी वस्तु की अभिलाषारूप तृष्णा मूलभूत (पादक) होने के कारण तृष्णानुशय को 'मूल' कहा जाता है। अभिलाषा न करने योग्य वस्तु की अभिलाषा करते समय उस वस्तु के दोष न देख पाने के लिये अविद्या द्वारा आवरणमात्र किया जाता है, अतः अविद्यानुशय को कुशल-अकुशल कर्मों का परिवारधर्म कहा गया है। 'सङ्खार' शब्द द्वारा कर्म करते समय होनेवाले कुशल-अकुशल कर्म तथा उन कर्मों से सम्प्रयुक्त स्पर्श (फस्स) आदि धर्मों का ग्रहण करनेवाला नय तथा मरणासन्न जवनचेतना एवं उस चेतना से सम्प्रयुक्त स्पर्श-आदि सम्प्रयुक्त-धर्मों का ग्रहण करनेवाला नय – इस प्रकार दो नयों का ग्रहण किया जाता है। उनमें से प्रथम नय के अनुसार प्रथम विवेचन किया जायेगा।

(१) यदि कुशल संस्कार होते हैं तो अविद्या एवं तृष्णा उनमें सीधे सम्प्रयुक्त नहीं हो सकतीं, फिर भी कुशल करनेवाले की सन्तान में अर्हत् मार्ग द्वारा अप्रहीण अविद्या एवं तृष्णा अनुशय धातु के रूप में अनुशयन करती ही हैं। यदि तृष्णा एवं अविद्या नहीं होंगी तो कुशल भी नहीं हो सकेंगे, केवल क्रियामात्र ही होंगे। अतः अविद्या एवं तृष्णा कुशल संस्कारों का प्रकृत्युपनिश्रय शक्ति से उपकार करके उन्हें परिवारित करके मूलरूप में रहती हैं।

यदि अकुशल संस्कार होते हैं तो अविद्यानुशय एवं तृष्णानुशय कुशल संस्कारों की तरह उनका प्रकृत्युपनिश्रयशक्ति (पकतूपनिस्सय) से उपकार करते हैं। यदि लोभमूल संस्कार होते हैं तो अविद्या एवं तृष्णा – दोनों सम्प्रयुक्त होकर आती हैं। यदि द्वेषमूल या मोहमूल संस्कार होते हैं तो केवल अविद्या ही सम्प्रयुक्त होकर आती है। इस प्रकार अविद्या एवं तृष्णा सहजात के रूप में भी अकुशल संस्कारों को परिवारित करके मूल के रूप में होती हैं। (सहजात के रूप में उपकार करते समय यद्यपि अनुशयन करनेवाला अनुशय अर्थात् उत्पाद, स्थिति, भङ्ग रहित अनुशय नहीं होता, अपितु उत्पाद, स्थिति, भङ्ग से प्रकट होनेवाला अनुशय होता है; तथापि अनुशयन करनेवाले अनुशय के सदृश होने के कारण सदृशोपचार से अविद्या एवं तृष्णा को भी अविद्यानुशय एवं तृष्णानुशय कहा जा सकता है। (अनुशय का स्वभाव 'समुच्चयसङ्ग्रह' ७:९ की व्याख्या में देखें।) इस प्रकार अविद्या एवं तृष्णा कुछ संस्कारों को प्रकृत्युपनिश्रयशक्ति से परिवारित करके उनके मूल के रूप में होती हैं तथा कुछ संस्कारों को सहजात के रूप में परिवारित करके उनके मूल के रूप में रहती हैं। अतः 'यथारहं' कहा गया है[१]। यह 'सङ्खार' शब्द द्वारा कर्म करते समय चेतना एवं स्पर्श का ग्रहण करनेवाला प्रथम नय है।

---

१. प० दी०, पृ० २२३-२२४; विभा०, पृ० १४३।

(२) "अविज्जातण्हासङ्खारा सहजेहि अपायिनं।
विसयादीनवच्छादं नामनं खिपनं पि च॥
अप्पहीनेहि सेसानं छादनं नामनं पि च।
खिपका पन सङ्खारा कुसला व भवन्ति हि[1]॥"

अर्थात् अपायभूमि में जानेवाले सत्त्वों के सहजात अविद्या, तृष्णा एवं संस्कार-धर्म, अवभासित आलम्बन के आदीनव (दोष) का आच्छादन (आवरण), प्रतिसन्धि विज्ञान का आलम्बन की ओर उन्मुखीकरण (नामन) एवं प्रतिसन्धि-विज्ञान का विक्षेपण करते हैं। शेष सुगितभूमि में जानेवाले सत्त्वों के अप्रहीण (अनुशय करनेवाले) अविद्या-नुशय एवं तृष्णानुशय, आलम्बन के दोषों का आवरण (छादन) एवं आलम्बन की ओर उन्मुखीकरण (नामन) करते हैं। इस सुगतिभूमि में पहुँचनेवाले सत्त्वों में विक्षेपण करनेवाले संस्कार कुशल ही होते हैं।

अविज्जातण्हा...खिपनं पि च – यह गाथा अपायभूमि में जानेवाले सत्त्वों में अविद्या-तृष्णानुशय एवं अकुशल मरणासन्नजवनों द्वारा प्रतिसन्धिविज्ञान के उपकार को दिखलानेवाली गाथा है। जैसे – तीन पुरुषों द्वारा किसी एक व्यक्ति को लूटते समय एक पुरुष उसकी आँखें बन्द करता है, दूसरा कहता है – 'हाथ उठाओ' एवं तीसरा लूटकर उसे ढकेल देता है; उसी प्रकार कर्म, कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त – इनमें से किसी एक के अवभासित होने पर अविद्यानुशय द्वारा उस आलम्बन के आदीनव (दोष) का आवरण किया जाता है। तृष्णानुशय द्वारा उस आलम्बन की ओर स्वयं उन्मुख होने से प्रतिसन्धिविज्ञान को भी उन्मुख करने के लिये प्रकृत्युपनिश्रयशक्ति से उपकार किया जाता है। अर्थात् वह प्रतिसन्धिविज्ञान को उन्मुख कराने की तरह होता है। 'मरणासन्नजवन' नामक संस्कार द्वारा उस आलम्बन की ओर प्रतिसन्धिविज्ञान का विक्षेपण (फेंकना) किया जाता है। उस आलम्बन का आलम्बन करने के लिये प्रति-सन्धिविज्ञान का प्रकृत्युपनिश्रयशक्ति से उपकार करना ही 'विक्षेपण' कहा जाता है। (यहाँ 'सहजात अविद्या, तृष्णा एवं संस्कार' – के द्वारा लोभमूल मरणासन्न संस्कार को लक्षित किया गया है। यदि द्वेषमूल या मोहमूल संस्कार होते हैं तो अविद्या द्वारा सहजातशक्ति से तथा तृष्णा द्वारा प्रकृत्युपनिश्रयशक्ति से यथायोग्य उपकार किया जाता है।)

अप्पहीनेहि... भवन्ति ह – यह गाथा सुगतिभूमि में पहुँचनेवाले सत्त्वों में प्रति-सन्धिविज्ञान के विक्षेपण को दिखलानेवाली गाथा है। यहाँ संस्कार कुशलमरणासन्न जवन होने के कारण 'सहजेहि' (सहजात) न कहकर मार्ग द्वारा अप्रहीण अनुशय स्वभाव से आच्छादन एवं नामन को लक्ष्य करके 'अप्पहीनेहि' – इस प्रकार कहा गया है। अनुशयस्वभाव से उपकार करना ही यहाँ विशेष है। आच्छादन एवं नामन तो पहले की ही तरह हैं। इस सुगतिभूमि में पहुँचनेवाले पुद्गलों के प्रतिसन्धिविज्ञान को

---

१. विभा०, पृ० १४४।

कर्म-आदि आलम्बनों तक पहुँचने के लिये विक्षेपण करनेवाले मरणासन्न जवन-संस्कार कुशलसंस्कार ही होते हैं। [कुछ ग्रन्थों में 'नमन' इस प्रकार शुद्ध भावरूप ही प्राप्त होता है; किन्तु यहाँ हेतुभावरूप (ण्यन्तप्रयोग) और अच्छा होने से उसका ही प्रयोग किया गया है]

उपर्युक्त वचनों का अभिप्राय यह है कि प्रतिसन्धिविज्ञान को उत्पन्न करनेवाले 'कुशल कर्म' एवं 'कुशलकर्म' नामक जनकसंस्कार तथा मरणासन्नकाल होने से कर्म-आदि आलम्बन की ओर पहुँचने के लिये प्रतिसन्धिविज्ञान का विक्षेपण करनेवाले क्षेपक-संस्कार – इस तरह दो प्रकार के संस्कार होते हैं। इन दोनों प्रकार के संस्कारों में चेतना का ग्रहण करने में 'अविज्जापच्चया सङ्खारा' के अनुसार ग्रहण होता है। चेतना से सम्प्रयुक्त स्पर्श-आदि धर्मों का ग्रहण करने में 'संस्कार एवं भव में विशेष' में कहे गये 'सब्बा वा चेतना भवो, सङ्खारा सम्पयुत्तका' – इस वचन के अनुसार ग्रहण होता है। स्पर्श-आदि सम्प्रयुक्त धर्म भी प्रकृत्युपनिश्रयशक्ति से प्रतिसन्धिविज्ञान का उत्पाद एवं विक्षेपण करते हैं। इसलिये 'सङ्खारेन जनीयमानं' में 'जनीयमान' शब्द द्वारा जनक-शक्ति एवं क्षेपणशक्ति – दोनों का ग्रहण होना चाहिये। यह मरणासन्न जवनचेतना तथा उस चेतना से सम्प्रयुक्त स्पर्श-आदि सम्प्रयुक्तधर्मों को ग्रहण करनेवाला नय है। अट्ठ-कथाओं में इस पीछेवाले नय को ही कहा गया है[1]।

सम्पयुत्तेहि परिग्गय्हमानं – उस प्रतिसन्धिविज्ञान को स्पर्श-आदि सम्प्रयुक्तधर्म सहजात-अञ्ञमञ्ञ-आदि प्रत्ययशक्तियों से परिवारित करते हैं। [अर्थात् प्रतिसन्धि-विज्ञान में सम्प्रयुक्त स्पर्श-आदि परिवारधर्म होते हैं।

सहजातानमधिट्ठानभावेन पुब्बङ्गमभूतं – प्रतिसन्धिविज्ञान, सहजात स्पर्श-आदि चैत-सिक एवं कर्मज रूपों को अधिष्ठानभूत सहजात निश्रयशक्ति होने के कारण उन सहजात-धर्मों के पूर्वगामी होते हैं।

उपर्युक्त दोनों शीर्षकों द्वारा 'प्रतिसन्धिविज्ञान' नामक विजाननधातु की श्रेष्ठता (आनुभाव) दिखायी गयी है। जिस प्रकार लोक में किसी महापुरुष का उत्पाद होता है तो साथ ही उसके सहायक (मित्र-आदि) एवं भोग्यवस्तुएँ भी उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार जब प्रतिसन्धिविज्ञान का उत्पाद होता है तो साथ ही उसके परिवारभूत स्पर्श-आदि एवं आश्रयभूत हृदयवस्तु-आदि कर्मज रूप भी उत्पन्न होते हैं।

भवन्तरपटिसन्धानवसेन पटिसन्धिसङ्खातं मानसं – 'भवन्तरपटिसन्धानवसेन' – इसके द्वारा 'प्रतिसन्धि' शब्द की व्युत्पत्ति दिखलायी गयी है। पुराने भव के अन्त में यदि नया प्रतिसन्धिविज्ञान उत्पन्न न होगा तो भव का उच्छेद हो जायेगा। विपाकविज्ञान उस प्रकार भव का उच्छेद न होने देने के लिये पुराने भव की च्युति के निरुद्ध होने पर पुनः प्रतिसन्धान करने के कारण 'भवन्तरं पटिसन्दहतीति पटिसन्धि' के अनुसार प्रतिसन्धि कहा जाता है।

---

१. प० दी०, पृ० २२४। द्र० – 'उपादानपच्चया भवो' अभि० स० ८:४ की व्याख्या; विसु०, पृ० ४०१; विभ० अ०, पृ० १९५।

उप्पज्जमानमेव पतिट्ठाति भवन्तरे – यहाँ केवल 'उपपज्जमानं' मात्र न कहकर 'एव' के साथ कहने का अभिप्राय 'प्रतिसन्धिचित्त उत्पादक्षण में पुराने भव में होकर स्थितिक्षण में नये भव में आता है' – इस प्रकार की मिथ्या धारणा का निवारण करना है। 'केंचुए की गति की भाँति विज्ञान का गमन होता है' – अर्थात् जिस प्रकार केंचुआ अपने अग्रभाग से नवीन स्थान को खोजकर जब तक वहाँ स्थिर नहीं हो जाता तबतक अपने द्वारा गृहीत पूर्व स्थान को नहीं छोड़ता; उसी प्रकार विज्ञान भी उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग – इन तीन क्षणों में से उत्पादक्षण में पुराने भव में उत्पन्न होकर स्थितिक्षण में नये भव में उत्पन्न होता है – इस प्रकार कोई ग्रहण न कर ले, इस भय से 'उप्पज्जमानमेव' कहा गया है। अर्थात् जब उत्पादक्षण होता है तभी (उस उत्पादक्षण में ही) नये भव में प्रतिष्ठित हो जाता है[1]।

यहाँ शाश्वतदृष्टि एवं उच्छेददृष्टि – दोनों दृष्टियों से ही मुक्त होना अत्यन्त आवश्यक है। इन दोनों दृष्टियों में नाम-रूपों के प्रति आत्मा का उपादान ही मूलभूत होता है। अतः नाम-रूपों को ही आधार करके उन दृष्टियों को दिखाना होगा। यदि 'पूर्वभव के नाम-रूप-धर्म ही नये भव में पुनः आते हैं' – इस प्रकार उपादान किया जाता है तो यह शाश्वतदृष्टि होती है। यदि 'पूर्वभव के नाम-रूपों से नये भव के नाम-रूपों का कोई सम्बन्ध नहीं है और वे एकदम नये उत्पन्न होते हैं' – इस प्रकार उपादान किया जाता है तो यह उच्छेददृष्टि होती है। इन दोनों दृष्टियों से विमुक्त होने के लिये 'नाम-रूपधर्म पूर्वभव के बिना कथमपि उत्पन्न नहीं हो सकते तथा वे (नाम-रूपधर्म) सीधे (अविकृत) ही पूर्वभव से नये भव में भी नहीं आते' – इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये। नाम-रूपधर्म जब प्रकृतिकाल में भी एक स्थान से दूसरे स्थान में अथवा एक क्षण से दूसरे क्षण में अनुस्यूत नहीं होते तो फिर च्युतिकाल में एक भव से दूसरे भव में किस तरह जायेंगे! इस प्रकार नये भव का प्रतिसन्धिविज्ञान पुराने भव के नाम-रूपों से सीधे आनेवाला नहीं है; अपितु 'अविज्जानुसयपरिक्खित्तेन' के अनुसार अविद्या, तृष्णा, संस्कारों द्वारा अभिसंस्कार करने से उत्पन्न प्रतिसन्धिविज्ञान है। यह पुराने भव के कारणों के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। जिस प्रकार पर्वत के समीप ध्वनि करने से प्रतिध्वनि आती है। वह प्रतिध्वनि मूलध्वनि के बिना भी नहीं हो सकती तथा वह मूलध्वनि भी नहीं होती; उसी प्रकार प्रतिसन्धिविज्ञान भी पुराने भव के बिना भी नहीं हो सकता एवं वह पुराने भव का नाम-रूप भी नहीं होता। जैसे - एक दीपक से दूसरे दीपक को जलाते समय वह दूसरा दीपक पहले दीपक के बिना भी नहीं होता और वह पहला दीपक भी नहीं होता। तथा मोहर लगाते समय मोहर की छाप मोहर

---

१. "'उप्पज्जमीनमेव पतिट्ठाति' न पुरिमभवे उप्पज्जित्वा अनिरुज्झित्वा ठिति-भावेन गन्त्वा भवन्तरे पतिट्ठातीति अधिप्पायो। नहि उप्पन्नुप्पन्ना धम्मा पकतिकाले पि देसन्तरं वा खणन्तरं व संकन्ता नाम अत्थि, कुतो मरणकाले भवन्तरं!" – प० दी०, पृ० २२४।

कामावचरपटिसन्धिया आरमणं

८६. मरणासन्नवीथियं पनेत्थ मन्दप्पवत्तानि पञ्चेव जवनानि पाटिकङ्खितब्बानि। तस्मा यदि* पच्चुप्पन्नारमणेसु आपातमागतेसु† धरन्तेस्वेव‡ मरणं होति, तदा पटिसन्धिभवङ्गानम्पि पच्चुप्पन्नारमणता लब्भतीति कत्वा कामावचरपटिसन्धिया छद्वारग्गहितं§ कम्मनिमित्तं गतिनिमित्तञ्च पच्चुप्पन्नमतीतमारमणं* उपलब्भति, कम्मं पन अतीतमेव, तञ्च मनोद्वारग्गहितं$ । तानि पन सब्बानि पि परित्तधम्मभूतानेव आरमणानि○ ।

इस च्युति-प्रतिसन्धि प्रकरण में मरणासन्नवीथि में मन्दगति से प्रवृत्त होनेवाले अथवा मन्दगति से प्रवृत्त होने के कारण पाँच वार जवन ही अभीष्ट है । इसलिये प्रत्युत्पन्न आलम्बन का अभिनिपात होने पर यदि विभूतावस्था (अनिरुद्धावस्था) में ही मरण (च्युति) होता है तब प्रतिसन्धि एवं भवङ्ग चित्तों की भी प्रत्युत्पन्न-आलम्बनता उपलब्ध होती है । इस कारण कामावचर प्रतिसन्धि के छह द्वारों से गृहीत कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त, प्रत्युत्पन्न एवं अतीत आलम्बन (के रूप में) उपलब्ध होते हैं। कर्म आलम्बन अतीत ही होता है । वह अतीत कर्म मनोद्वार से ही गृहीत होता है । ये सब आलम्बन कामालम्बन ही होते हैं ।

के बिना भी नहीं हो सकती और वह स्वयं मोहर भी नहीं है – इसी प्रकार समझना चाहिये[1] ।

कामावचर प्रतिसन्धि का आलम्बन

८६. मरणासन्नवीथि के आलम्बन कर्म, कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त – इस प्रकार त्रिविध होते हैं। इनमें से अनन्तरभव में प्रतिसन्धिफल देनेवाले कर्म को ही 'कर्म' कहते हैं। वह कर्म मरणासन्न जवन से पूर्व ही उत्पन्न होता है, अतः मरणासन्नवीथि में प्रत्युत्पन्नरूप में अवभासित न होकर अतीतरूप में ही अवभासित होता है तथा वह (कर्म) छह आलम्बनों में से धर्मालम्बन होने के कारण मनोद्वार में ही अवभासित होता है। इसलिये 'कम्मं पन अतीतमेव, तञ्च मनोद्वारग्गहितं' – इस प्रकार कहा गया है। इसी कारण मरणासन्नवीथि में प्रत्युत्पन्न आलम्बन का विचार करते समय कर्मालम्बन का विचार करना आवश्यक नहीं है[2]।

---

*. यदा – रो०, ना० । †. आपाथगतेसु–सी०, म० (ख); आपाथ०– स्या०,रो०, ना० ।
‡. मरन्तेस्वेव – रो० । §. ० गहितं – सी०, रो० ना० ।
*. ० मतीतञ्चालम्बनं – स्या० । $. ० गहितं – सी०, रो०, ना० ।
○. आलम्बनानीति वेदितब्बं – सी०; आलम्बनानीति वेदितब्बानि – स्या० ।

१. "न हि पुरिमभवपरियापन्नो कोचि धम्मो भवन्तरं सङ्कमति, नापि पुरिमभवपरियापन्नहेतूहि विना उप्पज्जति, पटिघोसपदीपमुद्दा विया ति।" – विभा०, पृ० १४४; प० दी०, पृ० २२४-२२५ ।

२. प० दी०, पृ० २२५; विभा०, पृ० १४४ ।

अतीतकाल में कर्म करते समय देखे गये सभी आलम्बन 'कर्मनिमित्त' कहलाते हैं। वह कर्मनिमित्त प्रत्युत्पन्न एवं अतीत – इस तरह दो प्रकार का ही होता है। विहार का दान करनेवाले को मरणासन्नकाल में जब 'विहार' अवभासित होता है या गोघातक को मरणासन्नकाल में 'गो' अवभासित होती है तो ये अतीत कर्मनिमित्त होते हैं। इस तरह अनेक भवों के कर्मनिमित्तों के अतीतभाव का विचार करना चाहिये। (मरणासन्न काल में मन्दप्रवृत्ति के उत्पाद के विषय में 'वीथिपरिच्छेद – जवननियम' में कहा जा चुका है[1]।)

प्रत्युत्पन्न कर्मनिमित्त – प्रत्युत्पन्न कर्मनिमित्त मुख्य रूप से नहीं होता। मरणासन्न जवन प्रतिसन्धिफल देने में समर्थ कर्म होने पर ही मुख्य रूप से प्रत्युत्पन्न कर्मनिमित्त हो सकता है; किन्तु मरणासन्न जवन चूंकि नवप्रतिसन्धि को आलम्बन अवभासित होने के लिये कृत्य करता है, अतः वह स्वयं प्रतिसन्धिफल नहीं दे सकता। वह (मरणासन्न जवन) 'नवप्रतिसन्धि को आलम्बन अवभासित होने के लिये कृत्य करना तथा स्वतः भी प्रतिसन्धिफल देना – इस प्रकार दो कृत्य सम्पन्न नहीं कर सकता। तथाच—कर्म द्वारा फल दिये जाने के स्थल में 'कटत्ता उपचितत्ता' – इस प्रकार कहा गया है। उसमें एक बार किये गये कर्म के लिये 'कटत्ता' तथा अनेक बार किये गये कर्म के लिये 'उपचितत्ता' कहा गया है। एक बार किया जाने से उसके द्वारा फल दिया जाना असम्भव होता है; अनेक बार किया जाने पर ही फल दिया जाना सम्भव होता है। मरणासन्नवीथि में अनेक बार करने का अवकाश ही नहीं है। "निकन्तिक्खणे द्वे हेतू अकुसला[2]" – इस 'पटिसम्भिदामग्गपालि' में एक कुशल कर्म करने के अनन्तर उस कुशल के प्रति आसक्ति होने पर वह (कर्म) प्रतिसन्धि फल देने में समर्थ होता है – ऐसा कहा गया है। किन्तु मरणासन्नकाल में कर्म करने के अनन्तर उसके प्रति आसक्ति होने के लिये अवकाश नहीं है तथा मरणासन्न जवन यदि चक्षुर्द्वारिक-आदि पञ्चद्वारिक जवन होता है तो पञ्चद्वारिक जवन, अतिदुर्बल होने के कारण किसी एक कर्मपथ को करने में असमर्थ होता है। अतः उपर्युक्त कारणों से मरणासन्न जवन कर्मपथ नहीं हो सकता। यदि कर्मपथ नहीं हो सकता है तो मरणासन्न जवन का प्रत्युत्पन्न आलम्बन भी मुख्य कर्मनिमित्त नहीं हो सकता है। किसी प्रकार सम्बन्ध रखनेवाला प्रतिरूपक कर्मनिमित्त ही हो सकता है[3]।

प्रतिरूपक कर्मनिमित्त – कोई व्यक्ति च्युति होने के लिये लेटा हुआ है। उसके ज्ञाति-सम्बन्धी उसे कुशल कर्म की प्राप्ति कराने के लिये फूल लेकर आते हैं। कुछ लोग कहते हैं 'इन पुष्पों द्वारा भगवान् का पूजन करो'। वह रोगी लेटे हुए ही उन पुष्पों से भगवान् की मानस पूजा करता है। उसमें कुशलजवन पुनः पुनः उत्पन्न हो रहे हैं। उसका कृतकर्म उपचित कर्म होता है। उन कुशल कर्मों के अवलम्ब से उन कुशल कर्मों के प्रति आसक्ति भी होती है। वे कुशल जवन आसन्नकर्म होकर मुख्यरूप से फल देनेवाले होते हैं। पुष्प मुख्यरूप से कर्मनिमित्त होते हैं। धीरे धीरे उसकी

१. द्र० – अभि० स० ४ : ३७, पृ० ३७५।
२. पटि० म०, पृ० ३१६।
३. विभा०, पृ० १४५।

मरणासन्नवीथि भी आ पहुँचती है। आँखों से उन फूलों को देखते देखते चक्षुर्द्वारिक मरणासन्नवीथि होकर च्युति हो जाती है। यहाँ चक्षुर्द्वारिक मरणासन्नवीथि का पुष्पालम्बन मुख्य प्रत्युत्पन्न होता है। चक्षुर्द्वारिक जवनों के कर्मपथ न होने के कारण पुष्प कर्मनिमित्त आलम्बन नहीं होते; किन्तु मरणासन्नवीथि से पहले के कर्मनिमित्त फूल एवं मरणासन्नवीथि के आलम्बनभूत फूल (परमार्थ-स्वभाव के अनुसार क्षण क्षण में नष्ट होने के कारण 'एक ही हैं' ऐसा न कहे जाने पर भी) सन्तति-प्रज्ञप्ति से एक ही होने के कारण कर्मनिमित्त एवं मरणासन्नवीथि के आलम्बनभूत फूलों में समानता की अपेक्षा करके सदृशोपचार से मरणासन्न जवनों के आलम्बनभूत फूलों को भी 'प्रत्युत्पन्न कर्मनिमित्त' कहा जाता है। यहाँ 'प्रत्युत्पन्न' यह मुख्य है एवं 'कर्मनिमित्त' – यह नाम सदृशोपचार से है[1]।

[फूल के गन्ध का आलम्बन होता है तो गन्धालम्बन, धर्मश्रवण करते हुए च्युति होती है तो शब्दालम्बन, चतुर्मधु का रसास्वाद करते हुए च्युति होती है तो रसालम्बन, किसी वस्तु का स्पर्श करते हुए या दान करते हुए च्युति होती है तो स्प्रष्टव्यालम्बन एवं अपने स्कन्ध की अनित्य-अनात्म-दुःख रूप से विपश्यना करते हुए च्युति होती है तो धर्मालम्बन का आलम्बन करता है। श्रोत्रद्वार-आदि वीथियाँ भी यथायोग्य होती हैं। इस प्रकार छह द्वारों में छह आलम्बन यथायोग्य प्रत्युत्पन्न कर्मनिमित्त होते हैं। 'अकुशल कर्मों के बारे में भी इसी तरह जानना चाहिये।]

"पञ्चद्वारे च आपातमागच्छन्तं पच्चुप्पन्नं कम्मनिमित्तं आसन्नकतकम्मारम्मणसन्ततियं उप्पन्नं तंसदिसञ्च दट्ठब्बं[2]।"

अर्थात् पञ्चद्वार म अभिनिपात को प्राप्त प्रत्युत्पन्न कर्मनिमित्त मरणासन्नवीथि से पूर्व कृतकर्म के आलम्बन की सन्तति (कर्मनिमित्तसन्तति) में ही उत्पन्न होता है, अतः उसे कर्मनिमित्त के सदृश ही जानना चाहिये। (यहाँ 'पञ्चद्वार कहने पर भी वह मनोद्वार में भी हो सकता है' – इसके बारे में पूर्वाचार्यों ने विचार किया है।) गतिनिमित्त के प्रत्युत्पन्न होने के विषय में आगे विचार किया जायेगा। इस प्रकार प्रत्युत्पन्न होनेवाले कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त – दोनों को लक्ष्य करके 'यदि पच्चुप्पन्नारमणेसु आपातमागतेसु धरन्तेस्वेव मरणं होति' कहा गया है[3]।

तदा पटिसन्धिभवङ्गानम्पि पच्चुप्पन्नारमणता लब्भति – इस प्रकार प्रत्युत्पन्न कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त का मरणासन्न जवन द्वारा आलम्बन करने में नये भव के प्रतिसन्धि एवं भवङ्ग द्वारा भी मरणासन्न जवन द्वारा ग्रहण करके दिये गये आलम्बन का ही ग्रहण किया जाने से, उस प्रत्युत्पन्न कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त – दोनों में से किसी एक के निरुद्ध होने से पहले यदि च्युति होती है तो नवप्रतिसन्धि एवं भवङ्गचित्त भी प्रत्युत्पन्न आलम्बन का ही पुनः ग्रहण करते हैं। अतः यदि जिसमें जवन ही अन्तिम होते हैं – ऐसी पञ्चद्वारवीथि होती है तो अतीतभवङ्ग से लेकर

१. विभा०, पृ० १४४; प० दी०, पृ० २२५।
२. विम० मू० टी०, पृ० १०५।
३. प० दी०, पृ० २२७।

च्युतिपर्यन्त आलम्बन की आयु १४ चित्तक्षण ही होती है, प्रत्युत्पन्न आलम्बन का निरोध नहीं होता, अतः नवप्रतिसन्धि एवं २ बार भवङ्ग उस आलम्बन का ही पुनः आलम्बन करते हैं। तृतीयभवङ्ग से लेकर पीछे पीछे के भवङ्ग अतीत का ही आलम्बन करते हैं। यदि जिसमें तदालम्बन अन्तिम होता है – ऐसी पञ्चद्वारवीथि होती है तो, अतीत भवङ्ग से लेकर च्युतिपर्यन्त आलम्बन की आयु १६ चित्तक्षण होती है, तब नवप्रतिसन्धि ही प्रत्युत्पन्न आलम्बन का आलम्बन कर सकती है। भवङ्ग अतीत का ही आलम्बन करते हैं। यदि जिसमें जवन अन्तिम होते हैं – ऐसी मनोद्वारवीथि होती है तो अतीतभवङ्ग, भवङ्ग-चलन, भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन, मरणासन्नजवन (५) एवं च्युति तक आलम्बन की आयु १० चित्तक्षण ही होती है, नवप्रतिसन्धि एवं छह बार भवङ्ग प्रत्युत्पन्न-आलम्बन का ही आलम्बन करते हैं। यदि जिसमें तदालम्बन अन्तिम होता है – ऐसी मनोद्वारवीथि होती है तो नवप्रतिसन्धि एवं चार बार भवङ्ग प्रत्युत्पन्न-आलम्बन का ही आलम्बन करते हैं। जवन-तदालम्बन तक पहुँचने पर भी यदि कर्मजरूप निरुद्ध नहीं होते हैं तो यथायोग्य भवङ्गपात होकर च्युतिचित्त का उत्पाद होगा।[1] च्युतिकृत्य में कर्मज रूपों का निरुद्ध होना प्रधान है – इसलिये जवनों के अनन्तर भवङ्गच्युति एवं तदालम्बन के अनन्तर भवङ्गच्युति होनेवाली वीथियों को देखकर प्रतिसन्धि-भवङ्गों के प्रत्युत्पन्न आलम्बन का विचार करना चाहिये। (यहाँ जवन-तदालम्बन एवं नवप्रतिसन्धियों का आलम्बन सदृश होने पर भी बीचवाली च्युति का आलम्बन उस भव की पुरानी प्रतिसन्धि के आलम्बन के सदृश होता है।)

इति कत्वा कामावचरपटिसन्धिया...उपलभति—इस वाक्य में विभावनीकार 'छद्वारग्गहितं' इस पालि का 'छद्वारग्गहितञ्च, छट्ठद्वारग्गहितञ्च छद्वारग्गहितं' – इस प्रकार विग्रह कर एकशेष करके "कर्मनिमित्त का छह द्वारों से तथा गतिनिमित्त का छठे मनोद्वार से ही ग्रहण किया जाता है – ऐसी व्याख्या करते हैं"। उन (विभावनीकार) का आशय यह है कि कर्मनिमित्त उपर्युक्त कथन के अनुसार रूपालम्बन कर्मनिमित्त-आदि के रूप में छह प्रकार का होने से छह द्वारों द्वारा यथायोग्य गृहीत होता है। गतिनिमित्त गन्तव्य भव में ही दिखायी देनेवाला आलम्बन है। वह आलम्बन 'अट्ठकथा' के अनुसार एक प्रकार का रूपालम्बन ही होता है। उस गन्तव्यभव में दिखायी देनेवाले गतिनिमित्त-आलम्बन को प्रकृतिचक्षुष् से नहीं देखा जा सकता, वह मनोद्वार में ही स्वप्न की तरह अवभासित होता है। इसलिये गतिमित्त का मनोद्वार से ही ग्रहण किया जा सकता है।

'विसुद्धिमग्गमहाटीका', 'सच्चसङ्खेप' एवं 'परमत्थदीपनी' के अनुसार गतिनिमित्त का भी छह द्वारों से ग्रहण किया जा सकता है। 'धम्मिक' उपासक एवं 'दुट्ठगामणि' राजा के मरणासन्नकाल में छह देवभूमियों से छह देवरथ आकर आकाश में मँडराने लगे। वे आपस में 'हम ले जायेंगे, हम ले जायेंगे' – इस प्रकार कहने लगे। उन्होंने उस रथ का रूप देखा एवं देवसारथियों के शब्द सुने। उसके बाद वे च्युत होकर

---

१. विभा०, पृ० १४४।

तुषित रथ से चले गये। उस समय देवपुष्पों का गन्ध भी होगा। अवीचिनरक की अग्निज्वालाओं द्वारा आकृष्ट देवदत्त, नन्द माणवक एवं च्युति से पूर्व जिसके सिर पर क्षुरिकाचक्र घूमता था वह मित्तविन्दक – इन तीनों को गन्तव्य भूमि के स्प्रष्टव्यालम्बन अवभासित होते हैं। रसालम्बन एवं धर्मालम्बन भी यथायोग्य अवभासित होंगे। इसलिये गतिनिमित्त आलम्बन भी कर्मनिमित्त की तरह छह प्रकार के होने चाहियें। इनमें से, मरणासन्नवीथि तथा प्रतिसन्धि एवं कुछ भवङ्ग, यदि निरोध हो चुका है तो अतीत गतिनिमित्त का, यदि निरोध नहीं हुआ है तो प्रत्युत्पन्न गतिनिमित्त का आलम्बन कर सकते हैं – इस प्रकार माना जाता है।

"पञ्चद्वारे सिया सन्धि विना कम्मं द्विगोचरे[1]।"

पञ्चद्वार में कर्म-आलम्बन के बिना कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त – इन दो आलम्बनों में प्रतिसन्धि होती है। अर्थात् पञ्चद्वार में कर्म-आलम्बन से अतिरिक्त कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त – ये दो आलम्बन होते हैं तथा मनोद्वार में कर्म, कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त – ये तीनों होते हैं।

इस प्रकार 'सच्चसङ्क्षेप' के आचार्य धम्मपाल 'विसुद्धिमग्गमहाटीका' के भी आचार्य हैं, अतः महाटीका का अभिप्राय भी 'सच्चसङ्क्षेप' की तरह ही होता है।

'अभिधम्मत्थसङ्गह' की वाक्यशैली देखने से तथा आचार्य अनुरुद्ध द्वारा कर्मनिमित्त के सदृश गतिनिमित्त को भी एक ही वाक्य में कह दिया जाने से 'गतिनिमित्त का भी छह द्वारों से ग्रहण किया जा सकता है' – ऐसा उनका मत प्रतीत होता है। छद्वारग्गहितं कम्मनिमित्तं गतिनिमित्तञ्च पच्चुप्पन्नमतीतारमणं उपलब्भति' – इस वाक्य की शैली को देखिये। इसमें 'छद्वारग्गहितं' – यह विशेषण 'कम्मनिमित्त' एवं गतिनिमित्त' – इन दोनों से सम्बद्ध ज्ञात होता है। इसलिये 'छद्वारग्गहितं कम्मनिमित्तं, छद्वारग्गहितं गतिनिमित्तं' – इस प्रकार जानना चाहिये। 'पच्चुप्पन्नमतीतं' भी 'कम्मनिमित्त' एवं 'गतिनिमित्त' – इन दोनों से सम्बद्ध है। अतः यदि दो वाक्य बनाकर कहा जाये तो वे 'छद्वारग्गहितं कम्मनिमित्तं पच्चुप्पन्नमतीतारमणं उपलब्भति' तथा 'छद्वारग्गहितं गतिनिमित्तं पच्चुप्पन्नमतीतारमणं उपलब्भति' – इस प्रकार होंगे। इसलिये आचार्य अनुरुद्ध एवं 'विसुद्धिमग्गमहाटीका' का मत समान प्रतीत होता है। किन्तु अट्ठकथाकार एवं मूलटीकाकारों ने गतिनिमित्त के प्रसङ्ग में उसे 'मनोद्वार द्वारा गृहीत होनेवाला एक प्रकार का रूपालम्बन' ही कहा है, अतः आजकल कुछ आचार्य 'विसुद्धिमग्गमहाटीका', 'सच्चसङ्क्षेप' एवं 'परमत्थदीपनी' के मत से सहमत नहीं होते। वे कहते हैं कि यह उनका मतमात्र है[2]।

कम्मं पन अतीतमेव . . . परित्तधम्मभूतानेवारमणानि – (कर्म आलम्बन का अतीतत्व एवं मनोद्वार से गृहीतत्व – आदि पहले कहे जा चुके हैं।) उपर्युक्त कर्म, कर्मनिमित्त, एवं गतिनिमित्त नामक आलम्बन कामप्रतिसन्धि के लिये मरणासन्न जवनों द्वारा ग्रहण करके दिये गये आलम्बन हैं। कामविपाकप्रतिसन्धि

---

१. सच्च० १७३ का०, पृ० १३।

२. विभा०, पृ० १४४-१४५; प० दी०, पृ० २२५-२२६।

रूपावचरपटिसन्धिया आरमणं

८७. रूपावचरपटिसन्धिया पन पञ्ञत्तिभूतं कम्मनिमित्तमेवारमणं होति।

८८. तथा आरुप्पपटिसन्धिया* च महग्गतभूतं पञ्ञत्तिभूतञ्च कम्मनिमित्तमेव यथारहं आरमणं होति।

रूपावचर प्रतिसन्धि का आलम्बन प्रज्ञप्तिभूत कर्मनिमित्त ही होता है।

उसी प्रकार अरूपावचर प्रतिसन्धि का आलम्बन भी यथायोग्य महग्गत एवं प्रज्ञप्तिभूत कर्मनिमित्त ही होता है।

भी कामधर्मों का ही आलम्बन करती है, अतः उपर्युक्त कर्म, कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त – ये तीनों कामधर्मों में परिगणित आलम्बन ही होते हैं। 'अनित्य, दुःख, अनात्म' – इस प्रकार विपश्यना करके होनेवाली मरणासन्नवीथि में भी वह विपश्यना किया गया धर्मसमूह हृदयवस्तु – आदि कामालम्बन ही होते हैं। रूपालम्बन-आदि का कामालम्बन होना अत्यन्त प्रसिद्ध है।

रूपारूपावचर प्रतिसन्धि का आलम्बन

८७. **रूपावचर...पञ्ञत्तिभूतं कम्मनिमित्तमेव** – रूपप्रतिसन्धि प्रज्ञप्तिभूत कर्मनिमित्त का ही आलम्बन करती है। अतः रूपभूमि में जानेवाले पुद्गल एवं एक रूपभूमि से दूसरी रूपभूमि में परिवर्तन करके प्रतिसन्धि करनेवाले पुद्गलों की मरणासन्नवीथि में प्रज्ञप्तिभूत कर्मनिमित्त आलम्बन ही सर्वदा अवभासित होता है। 'कम्मनिमित्तमेव' में 'एव' शब्द द्वारा 'कर्म एवं गतिनिमित्त आलम्बन अवभासित नहीं होते' – इस प्रकार अवधारण किया गया है। कर्मनिमित्त भी रूपालम्बन-आदि परमार्थ कर्मनिमित्त एवं पृथ्वीकसिण-आदि प्रज्ञप्ति कर्मनिमित्त – इस प्रकार द्विविध होते हैं। यहाँ 'प्रज्ञप्तिरूप कर्मनिमित्त ही आलम्बन होता है' – इस बात को स्पष्ट करने के लिये 'पञ्ञत्तिभूतं' यह विशेषण दिया गया है। अर्थात् प्रतिसन्धिफल देनेवाले रूपावचर कर्म की आधारभूत पृथ्वी-कसिण-आदि प्रज्ञप्तियों को 'प्रज्ञप्ति-कर्मनिमित्त' कहते हैं। प्रज्ञप्ति-धर्म होने से 'यह प्रत्युत्पन्न है या अतीत है' – इस प्रकार विचार करना आवश्यक नहीं है; क्योंकि प्रज्ञप्तिधर्म कालविमुक्त होते हैं।

८८. **तथा आरुप्पपटिसन्धिया...कम्मनिमित्तमेव यथारहं** – अरूपावचर प्रतिसन्धि का आलम्बन भी कर्मनिमित्त ही है। अरूपप्रतिसन्धि का कर्मनिमित्त-आलम्बन महग्गत एवं प्रज्ञप्ति – इस तरह द्विविध होता है। अतः 'यथारहं' कहा गया है। आकाशानन्त्यायतनप्रतिसन्धि का आलम्बन आकाशप्रज्ञप्ति-कर्मनिमित्त है। आकिञ्चन्यायतन-प्रतिसन्धि का आलम्बन 'नत्थिभाव' (नास्तिभाव)-प्रज्ञप्ति कम्मनिमित्त है। विज्ञानानन्त्यायतनप्रतिसन्धि का आलम्बन आकाशानन्त्यायतन-कुशल नामक अतीत महग्गत कर्मनिमित्त है। नैवसंज्ञाना-

---

*. अरूपपटिसन्धिया – म० (ख)।

८९. असञ्ञसत्तानं पन जीवितनवकमेव पटिसन्धिभावेन पतिट्ठाति, तस्मा ते रूपपटिसन्धिका नाम।

९०. आरुप्पा* अरूपपटिसन्धिका†। सेसा रूपारूपपटिसन्धिका।

९१. आरुप्पचुतिया होन्ति हेट्ठिमारुप्पवज्जिता।
परमारुप्पसन्धी च तथा कामतिहेतुका‡॥
रूपावचरचुतिया अहेतुरहिता सियुं।
सब्बा कामतिहेतुम्हा§ कामेस्वेव पनेतरा॥

अयमेत्थ चुतिपटिसन्धिक्कमो।

असंज्ञिसत्त्वों के जीवितनवककलाप ही प्रतिसन्धिरूप में प्रतिष्ठित होते हैं। अतः वे (असंज्ञिसत्त्व) 'रूपप्रतिसन्धिक' कहलाते हैं।

अरूपभूमि के सत्त्व 'अरूपप्रतिसन्धिक' (नामप्रतिसन्धिक) कहलाते हैं। शेष 'रूप-अरूपप्रतिसन्धिक' कहलाते हैं।

आरूप्यच्युति के अनन्तर नीचे की आरुप्यवर्जित आरूप्यप्रतिसन्धि-तथा कामत्रिहेतुक प्रतिसन्धि होती हैं। रूपावचर च्युति के अनन्तर अहेतुक प्रतिसन्धिरहित सभी प्रतिसन्धियाँ होती हैं। इतर अर्थात् काम-अहेतुक एवं द्विहेतुक च्युति के अनन्तर ग्यारह कामभूमियों में ही प्रतिसन्धियाँ होती हैं।

इस वीथिमुक्तसङ्ग्रह में यह च्युतिप्रतिसन्धिक्रम है।

संज्ञायतनप्रतिसन्धि का आलम्बन विज्ञानानन्त्यायतन-कुशल नामक अतीत महग्गत कर्म-निमित्त है। इसलिये महग्गत-कर्मनिमित्त एवं प्रज्ञप्ति-कर्मनिमित्त – इस प्रकार द्विविध कर्मनिमित्त कहे गये हैं[1]।

८९-९०. असंज्ञिसत्त्वभूमि में रूप के ही होने एवं नाम के न होने से प्रतिसन्धि-काल में 'जीवितनवककलाप' नामक रूपधर्म से ही प्रतिसन्धि ली जाती है।

इसलिये असंज्ञिसत्त्व रूप से प्रतिसन्धि लेते हैं, अरूपी ब्रह्मा नाम से प्रतिसन्धि लेते हैं। शेष काम एवं रूपभूमियों में नाम, रूप – दोनों से प्रतिसन्धि ली जाती है। अतः असंज्ञिभूमि को एकवोकारभूमि (जिसमें एक रूपस्कन्ध ही होता है), चार अरूप-भूमियों को चतुवोकारभूमि (जिनमें चार नामस्कन्ध होते हैं) तथा शेष काम एवं रूप-भूमियों को पञ्चवोकारभूमि (जिनमें पाँचों स्कन्ध होते हैं) कहा जाता है।

९१. आरुप्पचुतिया...कामतिहेतुका – 'हेट्ठिमारुप्पवज्जिता' के अनुसार नीचे नीचे की अरूपप्रतिसन्धियों का परिवर्जन करना चाहिये, इसलिये यदि अरूपभूमि से च्युति होती है

---

*. अरूपा – स्या०, रो० ना०, म० (ख)।

†. आरुप्प० – सी०।

‡. कामे तिहेतुका – स्या०, रो०।

§. कामे तिहेतुम्हा – रो०।

१. प० दी०, पृ० २२८।

तो पुनः उसी भूमि में प्रतिसन्धि ली जा सकती है तथा ऊपर ऊपर की अरूपभूमि में भी प्रतिसन्धि ली जा सकती है। यदि अरूपभूमि से कामभूमि में प्रतिसन्धि लेना आवश्यक होता है तो महाविपाक ज्ञानसम्प्रयुक्त द्वारा त्रिहेतुक प्रतिसन्धि ही होती है।

जैसे – ऊपर ऊपर की अरूपभूमियों में जब सत्त्व पहुँच जाते हैं तब पूर्वभव में प्राप्त नीचे नीचे के अरूपध्यान एवं रूपावचरध्यानों का उपशम हो जाता है अर्थात् उनकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती। रूपावचरध्यान को पादक (मूलाधार) करके आकाशानन्त्यायतन ध्यान प्राप्त किया जाता है, आकाशानन्त्यायतनध्यान को पादक करके विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार पादक बनाने के लिये नीचे के ध्यानों के न होने से नीचे की भूमियों में उत्पाद नहीं हो सकता। अपनी प्राप्तभूमि से सम्बद्ध ध्यान एवं उसी ध्यान को पादक करके ऊपर ऊपर के ध्यान प्राप्त किये जा सकते हैं। यदि नये ध्यान प्राप्त नहीं होते हैं तो पुराने अरूपावचर ध्यानों की प्राप्ति से पहले (आसन्न काल में) 'उपचारध्यान' नामक कामावचरभावना होती है। वह कामावचरभावना अत्यन्त तीक्ष्ण 'तिहेतुक-उक्कट्ठ' कुशलकर्म है। उन (अरूपभूमि के पुद्गलों) की सन्तान में कामावचर कर्मों में से उस उपचारभावना से प्रबल या उत्कृष्ट कर्म नहीं होते। अतः उस उपचारभावना के बल से कामसुगतिभूमि में त्रिहेतुक प्रतिसन्धि लेनी पड़ती है[1]।

"उपरूपरि आरुप्पा न आयूहन्ति हेट्ठिमं।
बलित्ता चुपचारस्स तिहेतुका व योनियो[2]॥"

रूपावचरचुतिया अहेतुरहिता – यहाँ 'रूपावचरच्युति' – इस प्रकार सामान्य कथन होने पर भी अहेतुक प्रतिसन्धि से अवशिष्ट शेष १७ प्रतिसन्धियाँ हो सकती हैं, अतः असंज्ञिच्युति का ग्रहण न करके केवल पाँच रूपावचरच्युतियों का ही ग्रहण करना चाहिये। यदि रूपावचरभूमि से च्युति होती है तो प्राप्त ध्यान के अनुसार रूप एवं अरूप भूमियों में उत्पाद हो सकता है। रूपभूमि में नाना प्रकार के कायकर्म एवं वाक्कर्म होने से यदि ध्यानों की प्राप्ति नहीं होती है तो उन कर्मों के अनुसार कामभूमि में द्विहेतुक एवं त्रिहेतुक प्रतिसन्धि होती है। नीवरण-धर्मों का प्रहाण हो चुका होने से अहेतुक प्रतिसन्धिफल देनेवाले कर्मों के लिये अवकाश नहीं होता, अर्थात् अहेतुक-प्रतिसन्धि नहीं होती।

इन वचनों के अनुसार असंज्ञिसत्त्व की च्युति के अनन्तर होनेवाली प्रतिसन्धि का स्पष्टीकरण नहीं होता। असंज्ञिभूमि में ध्यान की पुनः प्राप्ति न होने के कारण असंज्ञि च्युति के अनन्तर रूप एवं अरूप प्रतिसन्धियाँ नहीं हो सकतीं। असंज्ञिभूमि में पहुँचने से पूर्व कामभूमि में ध्यानों को आरब्ध करते समय नीवरणधर्मों का प्रहाण कर दिया जाने से अहेतुक प्रतिसन्धि देनेवाले कर्मों के लिये भी अवकाश नहीं होता अर्थात् अहेतुक प्रतिसन्धि नहीं हो सकती। अतः असंज्ञिच्युति के अनन्तर कामद्विहेतुक एवं त्रिहेतुक प्रतिसन्धि ही हो सकती हैं[3]।

---

१. विभा०, पृ० १४५; प० दी०, पृ० २२८।
२. ब० भा० टी०।
३. विभा०, पृ० १४६; प० दी०, पृ० २२८।

सब्बा कामतिहेतुम्हा कामेस्वेव पनेतरा – कामत्रिहेतुक च्युति के अनन्तर सभी प्रतिसन्धियाँ हो सकती हैं। अर्थात् यदि ध्यान प्राप्त होता है तो रूप-अरूपभूमियों में प्रतिसन्धि होती है। यदि ध्यान प्राप्त नहीं होता है तो कामभूमि में यथायोग प्रतिसन्धि होती है। शेष कामद्विहेतुक एवं अहेतुक च्युतियों के अनन्तर कामप्रतिसन्धि ही हो सकती है; क्योंकि वे द्विहेतुक एवं अहेतुक पुद्गल ध्यान को प्राप्त नहीं कर सकते।

सङ्क्षेप – ४ अरूपच्युति (विपाक) के अनन्तर ४ अरूपप्रतिसन्धिचित्त एवं ४ महाविपाक ज्ञानसम्प्रयुक्त (कामत्रिहेतुक) प्रतिसन्धिचित्त = ८ प्रतिसन्धिचित्त हो सकते हैं।

५ रूपावचरच्युति (रूपविपाक) के अनन्तर १९ प्रतिसन्धिचित्तों में से २ अहेतुक प्रतिसन्धिवर्जित १७ प्रतिसन्धिचित्त हो सकते हैं।

असंज्ञिच्युति के अनन्तर ८ महाविपाक (द्विहेतुक एवं त्रिहेतुक) प्रतिसन्धिचित्त हो सकते हैं।

४ महाविपाक ज्ञानसम्प्रयुक्त (कामत्रिहेतुक) च्युति के अनन्तर २० प्रतिसन्धिचित्त हो सकते हैं। [१९ प्रतिसन्धिचित्त एवं १ रूपप्रतिसन्धि (असंज्ञिप्रतिसन्धि) = २०]

४ कामद्विहेतुक (महाविपाक ज्ञानविप्रयुक्त) च्युति एवं अहेतुक (२ उपेक्षासन्तीरण) च्युति के अनन्तर १० कामप्रतिसन्धिचित्त ही हो सकते हैं। (२ अहेतुकप्रतिसन्धिचित्त एवं ८ महाविपाक = १०)

आर्यपुद्गलों की च्युति एवं प्रतिसन्धि – 'आरुप्पचुतिया होन्ति' इत्यादि गाथा द्वारा पृथग्जन एवं आर्यों को सम्मिश्रित करके दिखलाया गया है। आर्यपुद्गल यदि ब्रह्मभूमि में पहुँचते हैं तो स्रोतापन्न, सकृदागामी होने पर भी इस कामभूमि में फिर नहीं आते। इन पुद्गलों को ध्यान-अनागामी (ध्यान प्राप्त होने से कामभूमि में न आनेवाले) कहते हैं। ब्रह्मभूमि में भी ऊपर ऊपर की ब्रह्मभूमियों में पहुँचने के बाद नीचे की भूमियों में फिर नहीं आते। तथा 'सीस' (शीर्ष) नामक तीन भूमियाँ होती हैं। *यथा* – वेहप्फल (बृहत्फल), अकनिट्ठ (अकनिष्ठ) एवं नैवसंज्ञानासंज्ञायतन। इनमें से बृहत्फलभूमि शुद्धावासभूमि से अन्य रूप-भूमियों में शीर्षभूत होती है, अकनिष्ठ-भूमि शुद्धावासभूमियों की शीर्षभूत होती है, एवं नैवसंज्ञानासंज्ञायतनभूमि अरूपभूमियों की शीर्षभूत होती है। इन शीर्षभूमियों में स्थित आर्यपुद्गल अन्य भूमियों में परिवर्तन करके नहीं जाते। अर्थात् जब तक वे अर्हत् नहीं होते तब तक बृहत्फल एवं नैवसंज्ञाना-संज्ञायतन भूमि में ही पुनः पुनः उत्पन्न होते रहते हैं। अकनिष्ठ भूमि में पुनरुत्पाद नहीं होता। अकनिष्ठ भूमि में पहुँचने पर पुद्गल एकान्तरूप से अर्हत् ही होता है। न केवल अकनिष्ठ-भूमि में ही; अपितु अन्य चार शुद्धावासभूमियों में भी पुनरुत्पाद नहीं होता। उनमें जब पुद्गल अर्हत् नहीं होते तो वे उन्हें बदल कर ऊपर की शुद्धावासभूमियों में चले जाते हैं और अन्तिम अकनिष्ठभूमि में पहुँच कर अर्हत् हो ही जाते हैं।

"वेहप्फले अकनिट्ठे भवग्गे च पतिट्ठिता।
न पुनञ्ञत्थ जायन्ति सब्बे अरियपुग्गला ॥

भवङ्गचुतिपरिवत्तनं

६२. इच्चेवं गहितपटिसन्धिकानं पन पटिसन्धिनिरोधानन्तरतो* पभुति* तमेवारमणमारब्भ तदेव चित्तं याव चुतिचित्तुप्पादा असति वीथिचित्तुप्पादे भवस्स अङ्गभावेन भवङ्गसन्ततिसङ्खातं मानसं† अब्बोच्छिन्नं‡ नदीसोतोविय पवत्तति। परियोसाने च चवनवसेन चुतिचित्तं हुत्वा निरुज्झति।

उपर्युक्त नय के अनुसार गृहीतप्रतिसन्धि पुद्गलों के प्रतिसन्धिचित्त के निरोध के बाद से लेकर उसी प्रतिसन्धि के आलम्बन का आलम्बन करके वही प्रतिसन्धिचित्त च्युतिचित्त के उत्पादपर्यन्त वीथिचित्त का उत्पाद न होने पर भव का अङ्ग होने के कारण भवङ्गसन्तति नामक चित्त होकर नदी-स्रोत की तरह निरन्तर (उच्छेदरहित) प्रवृत्त होता रहता है। भव के अन्त में भी च्युति के वश से च्युतिचित्त होकर निरुद्ध होता है।

(न पुन तत्थ जायन्ति सब्बे पि सुद्धवासिका।)
ब्रह्मलोकगता हेट्ठा अरिया, नोपपज्जरे' ॥''

अर्थात् बृहत्फल, अकनिष्ठ एवं नैवसंज्ञानासंज्ञायतन भूमि में प्रतिष्ठित सभी आर्य-पुद्गल फिर अन्य भूमियों में उत्पन्न नहीं होते। सभी शुद्धावासभूमिस्थ पुद्गल भी पुनः उसी शुद्धावास भूमि में उत्पन्न नहीं होते। ब्रह्मलोक को प्राप्त आर्य भी नीचे की भूमियों में उत्पन्न नहीं होते।

भवङ्ग एवं च्युति में परिवर्त्तन

६२. यह वाक्य प्रतिसन्धि के बाद से लेकर भवङ्गचित्तों की उत्पत्ति को दिखलानेवाला वाक्य है। उपर्युक्त नय के अनुसार प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गलों की सन्तान में जब प्रतिसन्धिचित्त उत्पाद, स्थिति, भङ्ग के रूप में परिपूर्ण होकर निरुद्ध होता है तो उसके अनन्तर १५ या १६ चित्तक्षणपर्यन्त भवङ्गचित्त पुनः पुनः उत्पन्न होते हैं। वह भवङ्गचित्त प्रतिसन्धिचित्त द्वारा गृहीत आलम्बन का ही ग्रहण करता है। यदि प्रतिसन्धिचित्त कर्म का आलम्बन करता है तो उस भव के सभी भवङ्गचित्त कर्म का ही आलम्बन करते हैं—इस प्रकार जानना चाहिये।

प्रतिसन्धिचित्त एवं भवङ्गचित्त एक ही होने के कारण सदृशोपचार से 'तदेव चित्तं' अर्थात् 'वही प्रतिसन्धिचित्त'—ऐसा कहा गया है। वस्तुतः प्रतिसन्धिचित्त निरुद्ध

-. ० पभूति—रो०; ० प्पभुति—सी०।

†. स्या० में नहीं।

‡. अब्भोच्छिन्नं हुत्वा—स्या०; अब्बोछिनं—रो०।

१. नाम० परि० ४५१-४५२ का०, पृ० ३१। (वहाँ तीसरी लाइन नहीं है) परम० वि०, पृ० २५। (केवल ऊपरवाली कारिका है)।

१३. ततो परञ्च पटिसन्धादयो रथचक्कमिव यथाक्कमं एव परिवत्तन्ता* पवत्तन्ति ।

उस च्युतिचित्त के अनन्तर भी प्रतिसन्धि-आदि चित्त रथचक्र की तरह यथाक्रम ही परिवर्तित होते (घूमते) हुए प्रवृत्त होते हैं ।

हो चुका है, वह पुनः उत्पन्न कैसे होगा ? उस प्रतिसन्धिचित्त के सदृश अन्य चित्त ही भवङ्ग-कृत्य करते हुये उत्पन्न हो सकते हैं । जैसे – कोई नित्य ओषध ग्रहण करनेवाला गुरु-शिष्य से कहता है 'कल वाली दवा लेते आओ' । यहाँ कल की दवा तो खाई जा चुकी है; किन्तु कल की दवा के सदृश अन्य दवा से ही उनका तात्पर्य है । उसी तरह यहाँ प्रतिसन्धिचित्त तो निरुद्ध हो चुका है; किन्तु उस चित्त के सदृश होने से 'तदेव चित्तं' कहा गया है । इसलिये प्रतिसन्धिचित्त यदि महाविपाक प्रथमचित्त होता है तो उस भव में सभी भवङ्ग भी महाविपाक प्रथमचित्त ही होंगे – इस प्रकार जानना चाहिये ।

वीथिचित्त न होने पर यदि भवङ्ग नहीं होते हैं तो वह भव उच्छिन्न होकर च्युत हो जायेगा, इसलिये भवङ्ग को भव का कारणभूत चित्त कहते हैं । वह भवङ्गचित्त भी नदीस्रोत की तरह अनेक वार निरन्तर उत्पन्न होता रहता है ।

उस भव के अन्तिम काल में भी उस प्रतिसन्धिचित्त के सदृश चित्त ही च्युति करके निरुद्ध हो जाता है । इससे निष्कर्ष यह निकला कि एक भव में प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति – ये तीनों चित्त समान (एक प्रकार के) होकर एक ही आलम्बन का आलम्बन करते हैं[1] ।

१३. संसारचक्र – 'ततो परं...पवत्तन्ति' इस वाक्य द्वारा संसारचक्र का परिवर्तन दिखाया गया है । पुद्गल जबतक अर्हत् नहीं हो जाता तबतक च्युति के निरुद्ध होने के अनन्तर भी पुनः पुनः प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति नामक चित्त रथचक्र की तरह अविच्छिन्न रूप से परिवर्तित होते रहते हैं ।

यहाँ स्कन्ध, धातु एवं आयतनों की अविच्छिन्न प्रवृत्ति को ही संसार कहा गया है । यथा –

"खन्धानं च पटिपाटि धातु-आयतनान च ।
अब्भोच्छिन्नं वत्तमाना 'संसारो' ति पवुच्चतीति[2] ।।"

अपिच –

"अथ खो चुतितो पटिसन्धि पटिसन्धितो चुतिं ति एवं पुनप्पुनं चुतिपटिसन्धियो गण्हन्ता तीसु भवेसु चतूसु योनीसु पञ्चसु गतीसु सत्तसु विञ्ञाणट्ठितीसु नवसु सत्तावासेसु महासमुद्दे वातुक्खित्तनावा विय यन्तेसु युत्तगोणो विय च परिब्भमति येव[3] ।"

---

*. एवमेव – ना० ।

१. विभा०, पृ० १४६; प० दी०, पृ० २२१ ।

२. विसु०, पृ० ३८२; विभ० अ०, पृ० १५२ ।

३. दी० नि० अ० (महावग्ग), पृ० ८६ ।

९४. पटिसन्धिभवङ्गवीथियो चुति चेह तथा भवन्तरे ।
पुन सन्धिभवङ्गमिच्चयं परिवत्तति चित्तसन्तति ।।

९५. पटिसङ्खाय पनेतमद्धुवं अधिगन्त्वा पदमच्चुतं बुधा ।
सुसमुच्छिन्नसिनेहबन्धना सममेस्सन्ति चिराय सुब्बता* ।।

इति अभिधम्मत्थसङ्गहे वीथिमुत्तसङ्गहविभागो नाम
पञ्चमो परिच्छेदो† ।

इस प्रत्युत्पन्न भव में प्रतिसन्धि, भवङ्ग, वीथिचित्त एवं च्युतिचित्त (जिस प्रकार परिवर्त्तित होते (घूमते) रहते हैं) उसी प्रकार भवान्तर में पुनः प्रतिसन्धि, भवङ्ग-आदि (होते हुए) यह चित्तसन्तति परिवर्त्तित होती रहती है ।

त्रिहेतुक प्रतिसन्धि से सम्पन्न विद्वज्जन चिरकालपर्यन्त पवित्रशील, धुताङ्ग एवं समाधि से सम्पन्न तथा सुचरित होकर चित्त-चैतसिक के इस उत्पत्तिक्रम को उत्पाद-भङ्गात्मक होने से 'अनित्य हैं' – इस प्रकार विपश्यनाज्ञान द्वारा आवर्जन करके अच्युतपद निर्वाण को मार्गज्ञान एवं फलज्ञान द्वारा सम्यक् जान लेने से अच्छी तरह तृष्णा नामक स्नेह बन्धनों को काटकर सभी संस्कारधर्मों के उपशमरूप शान्ति-स्थान को एकान्तरूप से प्राप्त करें ।

इस प्रकार 'अभिधम्मत्थसङ्गह' में 'वीथिमुक्तसङ्ग्रहविभाग' नामक
पञ्चम परिच्छेद समाप्त ।

---

९४. यह गाथा भी संसारचक्र का परिवर्तन दिखलाकर बीथि एवं वीथि-मुक्त – इन दोनों परिच्छेदों का निगमन दिखलाती है । कुछ लोग कहते हैं कि यह (गाथा) केवल वीथिमुक्तपरिच्छेद का निगमन ही दिखलाती है, वीथिपरिच्छेद का निगमन नहीं; वे 'पटिसन्धिभवङ्गवीथियों' में 'वीथि' शब्द को 'क्रम' अर्थ में लेते हैं। वे आगेवाली गाथा के 'एतं' पद के अर्थ पर ध्यान नहीं देते । वह गाथा संसारचक्र की नश्वरता दिखलाती है । उस गाथा में 'एतं' – इस शब्द द्वारा संसार एवं उपर्युक्त चित-चैतसिक (प्रतिसन्धि, भवङ्ग, वीथि एवं च्युतिचित्त) धर्मों का ग्रहण किया जाता है । अतः यह गाथा वीथि एवं वीथिमुक्त – इन दोनों परिच्छेदों के लिये निगमनभूत हैं[1] ।

संसारचक्र का उच्छेद

९५. यह गाथा संसारचक्र की क्षणभङ्गुरता दिखला कर निर्वाणप्राप्ति के लिये प्रयत्न करने की प्रेरणा भी प्रदान करती है[1] ।

अभिधर्मप्रकाशिनीव्याख्या में वीथिमुक्तसङ्ग्रहविभाग नामक
पञ्चम परिच्छेद समाप्त ।

❀

---

*. ० ति – स्या० ।
†. ० निट्ठितो च अभिधम्मत्थसङ्गहे सब्बथापि चित्तचेतसिकसङ्गहविभागो – स्या० ।
१. विभा०, पृ० १४६; प० दी०, पृ० २३० ।

छट्ठो परिच्छेदो

रूपसङ्गहविभागो

१. एत्तावता विभत्ता हि सप्पभेदप्पवत्तिका।
चित्तचेतसिका धम्मा रूपं दानि पवुच्चति॥

प्रभेद एवं प्रवृत्ति के साथ चित्त-चैतसिक धर्म उपर्युक्त पाँच परिच्छेदों द्वारा विभक्त कर दिये गये हैं। अतः अब यहाँ रूपसङ्ग्रह कहा जाता है।

रूपसङ्ग्रहविभाग

१. अनुसन्धि – 'एत्तावता...' इस गाथा द्वारा अनुसन्धि एवं प्रतिज्ञा कही गयी है। 'चित्तं चेतसिकं रूपं निब्बानमिति सब्बथा' – इस पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार चित्त एवं चैतसिक धर्मों का सविस्तर वर्णन किया जा चुका है। अब रूपों के वर्णन का उपक्रम करने के लिये अनुरुद्धाचार्य इस गाथा द्वारा प्रकरणारम्भ करते हैं। गाथा के 'पभेद' शब्द से 'चित्त-चैतसिकों का विभाग' अभिप्रेत है, यथा – चित्त एक है तथापि उसके ८९ अथवा १२१ भेद और चैतसिकों के ५२ भेद; तथा 'पवत्ति' शब्द से 'वीथिपरिच्छेद' में कथित 'वीथिचित्तों की प्रवृत्ति' अर्थात् उत्पत्ति एवं 'वीथिमुत्तपरिच्छेद' में कथित प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति द्वारा सम्प्रयुक्त धर्मों (चित्त-चैतसिकों) की प्रवृत्ति अभिप्रेत है। अर्थात् सम्प्रयुक्त (चित्त-चैतसिक) धर्मों का सर्वप्रथम उद्देश, निर्देश एवं प्रतिनिर्देश के रूप में विभाग दिखलाया गया है; तदनन्तर वीथिपरिच्छेद द्वारा वीथिचित्त के रूप में प्रवृत्ति तथा वीथिमुत्तपरिच्छेद द्वारा प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति रूप में प्रवृत्ति दिखलायी गयी है। "चित्तं चेतसिकं रूपं निब्बानमिति सब्बथा' – इस शीर्ष वाक्य में 'चित्तं' शब्द द्वारा चित्तों का, तथा 'चेतसिकं' शब्द द्वारा चैतसिकों का 'उद्देश' दिखलाया गया है। उसके बाद 'तत्थ चित्तं ताव चतुब्बिधं होति' से लेकर चित्तपरिच्छेद की समाप्तिपर्यन्त चित्तों का 'निर्देश' है। सम्पूर्ण चैतसिकपरिच्छेद चैतसिकों का 'निर्देश' है। तृतीय 'प्रकीर्णक' परिच्छेद में चित्त-चैतसिकों का 'प्रतिनिर्देश' है। इन उद्देश, निर्देश एवं प्रतिनिर्देशों द्वारा चित्त-चैतसिकों का विभाग करने के विषय में यद्यपि विभिन्न आचार्यों के बहुत मतभेद हैं, किन्तु यहाँ उन मतभेदों की चर्चा छोड़ी जा रही है[1]।

---

१. "एवं ताव चित्तचेतसिकवसेन दुविधं अभिधम्मत्थं दस्सेत्वा इदानि रूपं तदनन्तरञ्च निब्बानं दस्सेतुमारभन्तो आह – 'एत्तावता' त्यादि। सप्पभेदप्पवत्तिका उद्देस-निद्देस-पटिनिद्देसवसेन तीहि परिच्छेदेहि वुत्तप्पभेदवन्तो, पवत्तिपटिसन्धिवसेन द्वीहि परिच्छेदेहि वुत्तप्पवत्तिवन्तो च चित्त-चेतसिका धम्मा एत्तावता पञ्चहि परिच्छेदेहि विभत्ता हि यस्मा, तस्मा इदानि यथानुप्पत्तं पवुच्चतीति योजना।" – विभा०, पृ० १४७। द्र० – प० दी०, पृ० २११; अभि० स० टी०, पृ० ३२४।

रूपसङ्गहो

२. समुद्देसा विभागा च समुट्ठाना कलापतो।
पवत्तिक्कमतो चेति* पञ्चधा तत्थ सङ्गहो ॥

समुद्देश, विभाग, समुत्थान, कलाप एवं प्रवृत्तिक्रम – इस प्रकार इस रूपपरिच्छेद में यह पाँच प्रकार का सङ्ग्रह (निर्दिष्ट) है।

रूपसमुद्देसो

३. चत्तारि महाभूतानि चतुन्नञ्च महाभूतानं उपादाय रूपं ति† दुविधम्पेतं‡ रूपं एकादसविधेन सङ्गहं गच्छति।

चार महाभूत तथा इन चार महाभूतों का आश्रय करके उत्पन्न रूप – इस प्रकार दोनों प्रकार के ये रूप ११ प्रकार से सङ्गृहीत होते हैं।

रूपसङ्ग्रह

२. इस रूपपरिच्छेद में रूप का वर्णन इन पाँच शीर्षकों द्वारा किया गया है।

रूपसमुद्देश

३. महाभूत एवं उपादायरूपों का भेद – पृथ्वी, अप्, तेजस् एवं वायु – ये चार 'महाभूत' हैं; क्योंकि ये स्वभाव, लक्षण एवं द्रव्य से अन्य रूपों (उपादाय) से बृहत् होते हैं तथा मूलभूत होते हैं[1]। इन्हीं का आश्रय करके वर्णादि उपादायरूपों की अभिव्यक्ति होती है। वर्ण, गन्ध-आदि रूपों का हमें तभी प्रत्यक्ष हो सकता है जब कि इनके मूल में सङ्घातरूप महाभूत हों। यदि महाभूतों का सङ्घात रहेगा तभी वर्ण, गन्ध, रस, शब्द-आदि का प्रत्यक्ष भी हो सकेगा। तथा जब हम स्पर्श करते हैं तब स्पर्शयोग्य महाभूतों का ही स्पर्श होता है, वर्ण, गन्ध-आदि का नहीं। अतएव जिन पर्वत, वृक्ष, नदी-आदि का हम प्रत्यक्ष करते हैं, वे सङ्घातरूप पृथ्वी-आदि महाभूत ही हैं। यदि सङ्घात महान् होगा तो उपादायरूप भी महान् होंगे, यदि सङ्घात लघु होगा तो उपादायरूप भी लघु होंगे। महाभूतों का आश्रय करके उत्पन्न होनेवाले रूपों को 'उपादायरूप' कहते हैं – यह कहा जा चुका है।

---

*. चेव – रो०। †. चेति – स्या०। ‡ ० चेतं – स्या०; एतं – रो०।

१. "उपादिन्नानुपादिन्नसन्तानेसु ससम्भारधातुवसेन महन्ता हुत्वा भूता पातुभूता ति महाभूता। अथ वा – अनेकविध-अब्भुतविसेसदस्सनेन अनेकाभूतदस्सनेन वा महन्तानि अब्भुतानि, अभूतानं वा एतेसू ति महाभूता मायाकारादयो...
महन्ता पातुभूता ति, महाभूतसमा ति वा।
वञ्चकत्ता अभूतेन, महाभूता ति सम्मता ति ॥
अथवा – महन्तपातुभावतो महन्तानि भवन्ति एतेसु उपादारूपानि भूतानि वा ति महाभूतानि।" – विभा०, पृ० १४७। तु० – प० दी०, पृ० २३१। द्र० – अट्ठ०, पृ० २४०-२४३; ध० स० मू० टी०, पृ० १४०-४१; विसु०, पृ० २५२-५४।

प्रश्न – महाभूतों में एक महाभूत इतर तीन महाभूतों पर, २ महाभूत अन्य दो महाभूतों पर, ३ महाभूत अन्य एक महाभूत पर आश्रित होते हैं; क्योंकि चारों महाभूत सर्वदा परस्पर आश्रित होकर ही रहते हैं। यदि ऐसी स्थिति है तो क्यों इन महाभूतों को उपादायरूप नहीं कहा जाता?

समाधान – यद्यपि सर्वदा परस्पराश्रित रहने के कारण महाभूत भी उपादायरूपों की कोटि में चले आते हैं तथापि ये उपादायरूप नहीं हैं; क्योंकि जिस समय ये एक-दूसरे का आश्रय करते हैं उस समय अन्य वर्ण-आदि रूपों को आश्रय भी देते हैं, किन्तु वर्ण-आदि उपादायरूप सर्वदा आश्रय ही ग्रहण करते हैं, स्वयं किसी के आश्रय नहीं होते अर्थात् ये शुद्ध आधेय ही होते हैं; अतः 'उपादायरूप' कहे जाते हैं। महाभूत यदि आधेय होते हैं तो आधार भी होते हैं। अतएव पालि में उपादायरूप की 'उपादाय एव पवत्तं रूपं उपादायरूपं' – ऐसी व्युत्पत्ति की गयी है। अर्थात् जो नितरां उपादान करके ही उत्पन्न होते हैं वे 'उपादायरूप' हैं। यहाँ 'एव' शब्द निर्धारणार्थक है। अर्थात् जो स्वयं कभी दूसरों के आश्रय (उपादान) नहीं होते वे वर्ण, गन्ध-आदि ही उपादायरूप हैं, महाभूत नहीं[1]।

अथवा – 'चतुन्नं महाभूतानं उपादाय रूपं' इस वचन के अनुसार जो चारों भूतों का आश्रय करके उत्पन्न हो वह रूप 'उपादायरूप[2]' है। वर्ण, गन्ध-आदि रूप चारों महाभूतों का आश्रय करके ही उत्पन्न होते हैं, अतः वे 'उपादायरूप' हैं। महाभूत कभी चारों महाभूतों का आश्रय नहीं कर सकते; क्योंकि वे 'एक महाभूत इतर तीन का, २ महाभूत इतर दो का' – इत्यादि प्रकार से आश्रय करते हैं। चारों महाभूतों का संयुक्त रूप से कभी कोई एक महाभूत आश्रय नहीं कर सकता, अतः 'चतुन्नं' – इस लक्षण से सम्पन्न न होने के कारण ये महाभूत 'उपादायरूप' शब्द से अभिहित नहीं हो सकते[3]। इस विषय में 'मूलटीका' में एक अन्य नय दिखलाया गया है, उसे वहीं देखें[4]।

---

१. "उपादायेव पवत्तरूपानं तंसमञ्ञासिद्धितो, यं हि महाभूते उपादीयति, सयञ्च अञ्ञेहि उपादीयति, न तं उपादारूपं। यं पन उपादीयतेव, न केनचि उपादीयति तदेव उपादारूपं ति नत्थि भूतानं तब्बोहारप्पसङ्गो।" – विभा०, पृ० १४७-४८। द्र० – प० दी०, पृ० २३२।

२. "चत्तारि महाभूतानि उपादाय, निस्साय, अमुञ्चित्वा पवत्तं रूपं ति अत्थो।" – अट्ठ०, पृ० २४३; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ८६।

३. "अपि च चतुण्णं महाभूतानं उपादारूपं ति उपादारूपलक्खणं ति नत्थि तयो उपादाय पवत्तानं उपादारूपता ति।" – विभा०, पृ० १४८।

४. ध० स० मू० टी०, पृ० १४१।

भूतरूपं

४. कथं ?

पथवीधातु*, आपोधातु, तेजोधातु, वायोधातु† भूतरूपं‡ नाम।

कैसे ? (एकादश भेद होते हैं ?) यथा– पृथ्वीधातु, अप्-धातु, तेजोधातु तथा वायुधातु – ये चार भूतरूप हैं।

भूतरूप

४. पहले कहा गया है कि चार महाभूत और उपादायरूप – ये दो रूप ११ प्रकार से सङ्गृहीत होते हैं। कैसे ? यथा – १. भूतरूप, २. प्रसादरूप, ३. गोचररूप, ४. भावरूप, ५. हृदयरूप, ६. जीवितरूप, ७. आहाररूप, ८. परिच्छेदरूप, ९. विज्ञप्तिरूप, १०. विकाररूप एवं ११. लक्षणरूप – इन ११ प्रकार के रूपों का आगे क्रम से वर्णन करेंगे।

पथवीधातु – 'पथति पतिट्ठानभावेन पक्खायतीति पथवी' अर्थात् जो प्रतिष्ठान (आधार) के रूप में प्रतिभासित होती है, वह 'पृथ्वी' है। 'अत्तनो सभावं धारेतीति धातु' – जो अपने स्वभाव (लक्षण) को धारण करती है वह 'धातु' है। यहाँ स्वभाव से विद्यमान होने को 'अपने स्वभाव को धारण करना' कहा गया है। अर्थात् यह पृथ्वी कक्खळ-(खर) स्वभाव होने से 'अपने स्वभाव को धारण करती है'। 'पथवी एव धातु पथवीधातु' पृथ्वी धातु भी है अतः उसे 'पृथ्वीधातु' कहते हैं[1]।

"कक्खळलक्खणा चेसा, पतिट्ठानरसा तथा।
सम्पटिच्छनुपट्ठाना, सेसभूतपदट्ठाना[2]।"

अर्थात् यह पृथ्वीधातु खरलक्षण है। 'प्रतिष्ठान' इसका रस है। अर्थात् यह सहभूत रूपधर्मों का आधारकृत्य करती है। यह सहभूत रूपधर्मों का 'सम्पटिच्छन' (ग्रहण) करनेवाली है – ऐसा योगी के ज्ञान में प्रतिभासित होता है। अपने से अतिरिक्त शेष तीन महाभूत इसके आसन्न कारण हैं।

कक्खळलक्खणा – उन उन रूप-कलापों में कक्खळस्वभाव पृथ्वीधातु का लक्षण है। प्राकृतिक पृथ्वी की कठोरता भी उस पृथ्वीधातु की शक्ति से अनेक रूपकलापों

---

*. पठवीधातु – सी०, स्या०, रो०। † च – स्या०। ‡ महाभूतरूपं – स्या०।

१. "पथयतीति पथवी। सहजातरूपानं पतिट्ठानभावेन पक्खायति उपट्ठातीति अत्थो।...सा एव निस्सत्तनिज्जीवट्ठेन धातू तिं पथवीधातु।" – प० दी०, पृ० २३२।

२. ब० भा० टी०। तु० – अट्ठ०, पृ० २६७; विसु०, २५२; विभ० अ०, पृ० ५७। नाम० परि० ४९६ का०; परम० वि०, पृ० ७८।

के सङ्घात में अभिव्यक्त होती है। 'कक्खळ' शब्द की थद्ध, खर एवं कठिन – इस प्रकार व्याख्या उपलब्ध होती है[1]।

रस, प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान – जिस प्रकार प्राकृत पृथ्वी वृक्ष-आदि की अधिष्ठान होकर उन (वृक्ष-आदि) को नीचे न गिरने के लिये आधार प्रदान करती है उसी प्रकार पृथ्वीधातु भी सहजात रूपधर्मों की अधिष्ठान होती है। यह सहजात रूपों को आधार प्रदान करनेवाला रूप है – ऐसा योगी के ज्ञान में प्रतिभासित होता है। अपने सहभू महाभूतों के बिना केवल पृथ्वीधातु उत्पन्न नहीं हो सकती, अतः शेष ३ महाभूत पृथ्वीधातु के उत्पाद में आसन्नकारण होते हैं[2]।

आपोधातु – 'आपेति सहजातरूपानि पत्थरतीति आपो' अर्थात् सहजात रूपों में जो व्याप्त हो जाती है वह अप्-धातु है। जैसे प्राकृत जल स्पृष्ट वस्तुओं (वस्त्र-आदि) में फैल जाता है उसी तरह सहजात रूपधर्मों में फैल जानेवाली यह अप्-धातु है[3]।

"पग्घरणलक्खणा चेसा परिब्रूहनरसा तथा।
सङ्गहपच्चुपट्ठाना सेसभूतपदट्ठाना[4] ॥"

यह अप्-धातु प्रक्षरण अथवा प्रस्रवण लक्षणवाली है। परिब्रूहन अर्थात् सहजात रूपों की वृद्धि करना इसका कृत्य है। यह सङ्ग्रहधर्मवाली है अर्थात् यह सहजात रूपधर्मों को पिण्डीभूत करने के स्वभाववाली है – ऐसा योगी के ज्ञान में प्रतिभासित होता है। तथा शेष तीन महाभूत इसके आसन्नकारण हैं।

लक्षण, रस, प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान – यहाँ 'पग्घरण' शब्द कहने पर भी प्राकृत जल की तरह यह स्रवित होनेवाला धर्म नहीं है, अपितु सहजात रूपधर्मों में फैल जाने के स्वभाववाली यह

---

१. द्र० – विसु० महा०, प्र० भा०, पृ० ४३३।

२. "पथनट्ठेन पथवी। तरुपब्बतादीनं पकतिपथवी विय सहजातरूपानं पतिट्ठानभावेन पक्खायति उपट्ठातीति वुत्तं होति। पथवी एव धातु सलक्खणधारणादितो निस्सत्तनिज्जीवट्ठेन सरीरसेलावयवसदिसत्ता चा ति पथवीधातु।" – विभा०, पृ० १४८; विसु० महा०, प्र० भा०, पृ० ४४६।

३. "आपेति सहजातरूपानि पत्थरति, आपायति वा ब्रूहेति वड्ढेतीति आपो।" – विभा०, पृ० १४८।

"आपेति सहजातरूपानि ब्यापेत्वा तिट्ठति, अप्पायति वा तानि सुट्ठु ब्रूहेति वड्ढेतीति आपो; तानि वा अविप्पकिण्णानि कत्वा भुसो पाति रक्खति, पिवति वा पिवन्तो विय तानि सङ्गण्हति सम्पिण्डेतीति आपो; सो येव धातू ति आपोधातु।" – प० दी०, पृ० २३२।

"द्रवभावो लक्खणं आपोधातुया पग्घरणसभावत्ता, आबन्धनं उपट्ठानकारो।" – विसु० महा०, प्र० भा०, पृ० ४३३।

४. तु० – अट्ठ०, पृ० २६८-६९; विसु०, पृ० २५२; विभ० अ०, पृ० ६६।

धातु है। सहजात रूपधर्मों को बढ़ाना इसका कृत्य है। अप्-धातु के इस कृत्य द्वारा रूपधर्मों के उपबृंहित होने से वृक्ष एवं सत्त्व-आदि का बढ़ना एवं पुष्ट होना अभिलक्षित होता है। जिस प्रकार प्राकृत जल चूर्णीभूत पदार्थों को विकीर्ण न होने देने के लिये उनका आबद्धन (पिण्डीभाव) करता है उसी प्रकार यह अपने सहजात रूपधर्मों को विकीर्ण न होने देने के लिये उनका आबद्धन करता है—ऐसा योगी के ज्ञान में प्रतिभासित होता है[1]। इस 'सङ्गहपच्चुपट्ठान' को कुछ स्थलों पर 'आबद्धनलक्खण' भी कहते हैं। अपने सहभू महाभूतों के बिना केवल अप्-धातु उत्पन्न नहीं हो सकती, अतः शेष तीन महाभूत इस अप्-धातु के उत्पाद में आसन्न कारण होते हैं।

तेजोधातु—'तेजेति परिपाचेतीति तेजो' जो परिपाक करता है वह तेजस् है। जिस प्रकार प्राकृत अग्नि उन उन वस्तुओं का परिपाक करती है, उसी प्रकार सहजात रूपधर्मों का परिपाक करनेवाली ऊष्मा ही 'तेजस्' है[2]।

यहाँ 'तेजोधातु द्वारा सहजात रूपधर्मों का परिपाक किया जाता है'—ऐसा कहने पर भी एक दम शुष्क हो जाने जैसा पाक नहीं होता, अपितु अप्-धातु द्वारा आर्द्रीभूत रूपधर्मों को शिथिल न होने देने के लिये कुछ शुष्क किया (कठिन) जाता है। प्राकृत अग्नि एवं सूर्य द्वारा एकदम शुष्क होने जितना पकाना, उनमें स्थित तेजस् धातु के आधिक्य से ही होता है। स्कन्ध में 'ऊष्मा' नामक एक धातु होती है, वह शीत ऋतु में अधिक उष्ण होकर ग्रीष्म ऋतु में शीतल होती है। उस ऊष्मा धातु को ही यहाँ 'तेजोधातु' कहा गया है।

"उण्हत्तलक्खणा चेसा परिपाचनरसका।
मुदुभावानुप्पदान-उपट्ठाना पकासिता[3]।।"

अर्थात् यह तेजोधातु औष्ण्यलक्षण है। सहजात रूपधर्मों का परिपाचन इसका कृत्य है। सहजात रूपधर्मों में मृदुभाव का आपादन करना इसका प्रत्युपस्थान है। अर्थात् यह रूपधर्मों में मृदुभाव का उत्पाद करती है—ऐसा योगी के ज्ञान में प्रतिभासित होता है।

---

१. "सङ्गहपच्चुपट्ठाना' ति बाहिर-उदकं विय न्हानीयचुण्णस्स सहजातधम्मानं सङ्गहणपच्चुपट्ठाना।"—विसु० महा०, प्र० भा०, पृ० ४४६।

२. "तेजेति परिपाचेति निसेति वा तिक्खभावेन सेसभूतत्तयं उसमापेतीति तेजो।" —विभा०, पृ० १४८।
"तेजति तिक्खभावेन समुज्जलन्तो विय सहजातधम्मानं मज्झे पकासति, तेजेति वा निसेति सहजातधम्मे तिक्खथामबले करोति, परिपाचेति वा उपसमापेतीति तेजो; सो एव धातू ति तेजोधातु।"—प० दी०, पृ० २३२; विसु० महा०, प्र० भा०, पृ० ४३३।

३. ब० भा० टी०। तु०—विसु०, पृ० २५२; अट्ठ०, पृ० २६७; विभ० अ०, पृ० ७१।

लक्षण, रस एवं प्रत्युपस्थान – यहाँ 'उण्ण' शब्द का अर्थ केवल गर्मी मात्र न होकर 'ऊष्मा' है। इसलिये 'विसुद्धिमग्गमहाटीका' में "उण्हभावो लक्खण तेजोधातुया उसमासभावत्ता"[1] – ऐसी व्याख्या की गयी है। प्राकृत अग्नि जैसे लाह एवं मोम आदि को मृदु बना देती है, उसी तरह यह तेजोधातु भी सहजातरूप-धर्मों को मृदु (क्लिन्न) करती है – ऐसा योगी के ज्ञान में प्रतिभासित होता है। मनुष्य शरीर का मृदु-आदि होना तेजोधातु का ही कृत्य है।

चतुर्विध तेजस् – यह तेजस् ऊष्मा के अतिरिक्त चार प्रकार का होता है, यथा – सन्तपन, दहन, जीरण एवं पाचक। जब ऊष्मा-तेजस् का विकार होता है तब गर्मी का तापमान बढ़ जाता है और वही रुग्ण करनेवाला सन्तपन तेजस् है। उस सन्तपन तेजस् से अधिक गर्मी का उत्पाद करके शरीर में दाह उत्पन्न करनेवाला दहन तेजस् है। बाल पकाने, झुर्रियाँ उत्पन्न करने, दाँत टूटने एवं आँख की शक्ति को मन्द करनेवाला जीरण तेजस् है। उपर्युक्त तीन तेजस् शरीर में सर्वदा नहीं होते। सन्तपन एवं दहन तेजस् रुग्णावस्था में ही ऊष्मा के विकृत होने से उत्पन्न होते हैं। जीरण तेजस् किसी रोग से पीड़ित होते समय या वृद्धावस्था में मूल ऊष्मा के विकार से उत्पन्न तेजस् है। खाये हुये आहार का पाचन करनेवाला पाचक तेजस् है। यह पाचक तेजस् स्कन्ध में सर्वदा विद्यमान रहता है। पूर्वकर्म से उत्पन्न होने के कारण कुछ लोगों का पाचक तेजस् खाये हुए आहार का सम्यक्तया परिपाचन करने में समर्थ होता है, कुछ लोगों में यह तेजस् हीन एवं कुछ में अधिक होता है[2]।

वायोधातु – 'वायति देसन्तरुप्पत्तिहेतुभावेन भूतसङ्घातं पापेतीति वायो।' देशान्तर में उत्पाद का हेतु होकर जो सहजात महाभूतसङ्घात को देशान्तर में पहुँचाती है वह वायुधातु है[3]।

मूल स्थान से ईषत् चलित (उदीर्ण) होकर रूपकलापों का उत्पन्न होना, पूर्व-उत्पन्न रूपकलापों में विद्यमान वायुधातु के कारण ही होता है। जैसे – हाथ ऊपर उठाने में उत्पन्न नये नये रूपकलाप अपनी सहभूत चित्तज वायुधातु के बल से पुनः मूल-स्थान में उत्पन्न न होकर चित्त की इच्छा के अनुसार ईषद् ऊर्ध्व देश में उत्पन्न होते हैं। वृक्ष-आदि का ऊर्ध्व या परितः गमन भी इस वायुधातु के कारण ही होता है।

---

१. विसु० महा०, प्र० भा०, पृ० ४३२।

२. द्र० – विसु०, पृ० २५०।

३. "वायति देसन्तरुप्पत्तिहेतुभावेन भूतसङ्घातं पापेतीति वायो।" – विभा० पृ० १४८।

"वायति मीरेति देसन्तरुप्पत्तिहेतुभावेन भूतसङ्घातं देसन्तरं गमेतीति वायो। वायति वा सहजातधम्मे अपतमाने कत्वा वहतीति वायो। सो एव धातू ति वायोधातु।" – प० दी०, पृ० २३२।

उपर्युक्त वायुधातु गमनशील रूपकलापों में होनेवाली वायुधातु है। अचल रूपकलापों में होनेवाली वायुधातु के लक्षण, स्वभाव-आदि इस प्रकार हैं—

"वित्थम्भनलक्खणा चेसा उदीरणरसा तथा।
अभिनीहारुपट्ठाना सेसभूतपदट्ठाना[1] ॥"

अर्थात् यह वायुधातु विष्टम्भनलक्षण है। सहजात रूपों को उदीर्ण करना इसका कृत्य है। अभिनीहरण अर्थात् रूपधर्मों को दूसरे प्रदेश में ले जाना, प्रत्युपस्थान है। अर्थात् यह वायुधातु सहजात रूपधर्मों को दूसरे स्थान में अभिनीहरण करनेवाला धर्म है—ऐसा योगी के ज्ञान में प्रतिभासित होता है। शेष तीन भूत इस वायुधातु के आसन्न-कारण हैं।

विष्टम्भनलक्षण—सहजात रूपधर्मों को शिथिल न होने देने के लिये दृढ करने-वाला स्वभाव वायुधातु का लक्षण है। जब वायुधातु का आधिक्य होता है तब शरीर में विद्यमान नाडी एवं तन्तु जाल फूला हुआ एवं कठोर प्रतीत होता है। रबर-आदि की नलिका में वायु भरने पर जैसे वह फूलकर कठोर हो जाती है, उसी प्रकार सहजात रूपधर्मों में विद्यमान वायुधातु द्वारा उनके दृढ होने (विष्टम्भन) को भी जानना चाहिये।

यहाँ शरीर में विद्यमान चारों महाभूतों के स्वभाव पर विचार किया जाता है। सर्वप्रथम उदाहरण के रूप में मृत्तिका से बनी हुई मूर्ति पर विचार करें—

केवल मृत्तिकामात्र से मूर्त्ति का निर्माण असम्भव है। यदि केवल मृत्तिकामात्र (धूलि) होती है तो वायु द्वारा वह स्थानान्तरित हो सकती है, अतः उसका जल से सिञ्चन आवश्यक होता है। उस जल एवं मृत्तिका के संयोगमात्र से भी मूर्त्ति का निर्माण नहीं हो सकता। जल से सिञ्चित (द्रवीभूत) मृत्तिका को कठोर करना होगा। इतना होने पर भी मूर्त्ति खड़ी नहीं हो सकती। उस मृत्पिण्ड को खड़ा रहने योग्य बनाने के लिये सुखाना होगा। इस प्रकार पृथ्वी, अप्, वायु" एवं तेजस् धातु से अनुकूल मृत्पिण्ड बनाकर ही मूर्त्तिकार उससे मूर्त्ति का निर्माण कर सकता है। उसी तरह स्कन्ध में पृथ्वीधातु को विकीर्ण न होने देने के लिये अप्-धातु द्वारा आर्द्रीभाव किया जाता है। अधिक द्रवीभूत न होने देने के लिये तेजोधातु उसमें ऊष्मा प्रदान करती है। तथा उन धातुओं को शिथिल न होने देकर सङ्घातरूप प्रदान करने के लिये वायुधातु विष्टम्भन कृत्य करती है। इस प्रकार एक एक कलाप में विद्यमान ४-४ धातुओं को प्राकृत चक्षुष् द्वारा नहीं देखा जा सकता। वे परमाणु नामक अत्यन्त सूक्ष्म कलाप होते हैं। इन चार धातुओं के अनेक कलापों का सङ्घात होने पर मांस, अस्थि-आदि संस्थानों का उत्पाद होता है और वे प्राकृत चक्षुष् द्वारा देखे जा सकते हैं। उन मांस, अस्थि-आदि चार महाभूतों के समूह का उत्पाद होने के लिये पूर्व कर्मों द्वारा निर्माण किया जाने से मनुष्य नामक रूपी द्रव्य उत्पन्न होता है। एक एक कलाप में विद्यमान चारों महाभूतों में परस्पर सम्मिश्रण न होने देने के लिये आकाशधातु बीच में परिच्छेदक के रूप में

---

१. ब० भा० टी०। तु०—विसु०, पृ० २५२; अट्ठ०, पृ० २६१; विभ० अ०, पृ० ७२।

उपादारूपानि

पसादरूपं

५. चक्खु*, सोतं, घानं, जिव्हा, कायो† पसादरूपं नाम।

चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एवं काय (ये) प्रसादरूप हैं।

विद्यमान रहती है। उन रूपकलापों में बैठने-उठने, आने-जाने, सोने आदि विभिन्न आकार होने के लिये वायुधातु उदीरण कृत्य करती है। उस वायु को विभिन्न प्रकार के कृत्य करने में समर्थ होने के लिये चित्त नामक विज्ञानधातु निर्देश करती है। वह विज्ञानधातु जानने योग्य समस्त पदार्थ जानती है, इसलिये एक स्कन्ध के प्रधान धर्मों का विचार करने पर पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, आकाश एवं विज्ञान नामक छह धातुयें ही उपलब्ध होती हैं। इसीलिये "छधातुरो अयं, भिक्खु! पुरिसो ति"[1]—ऐसा कहा गया है। अर्थात् पुरुष नामक यह पुद्गल (शरीर) छह धातुवाला है।

उपादायरूप

प्रसादरूप

५. 'पसीदती ति पसादो' स्वच्छ, अनाविल अथवा प्रसन्न रूप को 'प्रसादरूप' कहते हैं[2]। अर्थात् सम्बद्ध आलम्बनों के प्रतिभासित होने के लिये कुछ रूपकलापों में स्वच्छ धातु होती है, उसे ही 'प्रसादरूप' कहते हैं। ये प्रसादरूप भी रूपकलाप ही होते हैं।

चक्खु—"विञ्ञाणाधिट्ठितं हुत्वा समविसमं चक्खति, आचिक्खन्तं विय होतीति चक्खु"[3] अर्थात् चक्षुर्विज्ञान का अधिष्ठान होकर जो सम अथवा विषम आलम्बन को कहनेवाले की तरह होती है उसे चक्षुर्धातु कहते हैं। चक्षु:प्रसाद होने पर ही रूपालम्बन का समत्व (अच्छाई) या विषमत्व (बुराई) जाना जाने से उसके द्वारा आलम्बन का समत्व या विषमत्व नहीं कहा जाने पर भी वह कहनेवाले की तरह होता है, इसलिये 'चक्खति आचिक्खन्तं विय' कहा गया है। चक्षु:प्रसाद में चक्षुर्विज्ञान आश्रित होता है। वस्तुतः यह चक्षुर्विज्ञान ही रूप-आलम्बन का समत्व या विषमत्व जानता है।

---

*. चक्खुं—सी०।

†. ० च—स्या०।

१. म० नि०, तृ० भा०, पृ० ३२३।

२. "पसादरूपं नाम चतुण्णं महाभूतानं पसन्नभावहेतुकत्ता।"—विभा०, पृ० १४८।
"पसीदन्तीति पसादा; पसीदन्ति वा एत्थ चन्दमण्डलादीनि आरम्मणनिमित्तानि तत्थ संसीदमानानि विय सरूपतो सन्दिस्सन्तीति पसादा; सुपरिसुद्धआदासमण्डसदिसा कम्मजमण्डा। इमे पन पञ्च दट्ठुकामतादिनिदानकम्मसमुट्ठानभूतपसादलक्खणा रूपादि-अभिघातारहभूतपसादलक्खणा वा चक्खुपसादादयो दट्ठब्बा।"—प० दी०, पृ० २३३-३४।

३. विभा०, पृ० ६३।

चक्षुर्विज्ञान का आश्रय होने के कारण चक्षुःप्रसाद भी आलम्बन का समत्व या विषमत्व जानता है – ऐसा कहा गया है। अतः 'विञ्ञाणाधिट्ठितं हुत्वा' कहा है[1]।

चक्षुःप्रसाद का स्थान– चक्षुःपिण्ड में जिस स्थान पर प्रतिबिम्ब पड़ता है उसे ही चक्षुःप्रसाद का स्थान कहते हैं। उसका परिमाण जूँ (यूका) के सिर के बराबर कहा गया है। इसके सात स्तर होते हैं। जैसे रूई के सात स्तरों पर तैल या घी के पड़ने पर वह सातों स्तरों में फैल जाता है, इसी तरह चक्षुःप्रसाद भी अपने सातों स्तरों में व्याप्त होकर रहता है। रूप का एक कलाप प्रत्यक्ष गोचर नहीं होता, अपितु कलापसमूह ही प्रत्यक्ष होता है। अतः जूँ के सिर के बराबर स्थान में भी चक्षुः-प्रसाद अनेक चक्षुःप्रसाद-कलापों के समूह के रूप में ही रहता है। इसीलिये 'मूलटीका' में "सत्तक्खिपटलानं व्यापनवचनेन च अनेककलापगतभावं चक्खुस्स दस्सेति" कहा गया है अर्थात् सात अक्षिपटलों में व्याप्त होने के कारण चक्षुष् अनेक कलापों का समूह है – ऐसा दिखलाया गया है[2]। अन्य लोगों ने भी[3] –

"येन चक्खुप्पसादेन रूपानिमनुपस्सति।
परित्तं सुखुमं एतं ऊकासिरसमूपमं[4]॥"

– इस पालि के आधार पर चक्षुःप्रसाद को जूँ के सिर के बराबर कहा है; किन्तु इनका यह कथन दार्शनिक दृष्टि से बहुत दूर है। वस्तुतः चक्षुःप्रसाद अत्यन्त सूक्ष्म है। उसे जूँ के सिर के बराबर स्थान्युपचार से ही कहा गया है। अर्थात् चक्षुःप्रसाद जिस स्थान पर रहता है वह (स्थान) जूँ के सिर के बराबर है। अतः स्थान्युपचार से चक्षुःप्रसाद को भी उक्त गाथा में जूँ के सिर के बराबर कहा गया है। पुनश्च – चक्षुःप्रसाद के स्थान को जूँ के सिर के बराबर कहना समझाने मात्र के लिये है, वस्तुतः उसका कोई निश्चित परिमाण नहीं कहा जा सकता। मनुष्यों में वह जूँ के सिर के बराबर हो सकता है। इस अनुपात में हाथी, ऊँट आदि विशालकाय जन्तुओं में उसका आकार बड़ा तथा मच्छर, मक्खी आदि क्षुद्र जन्तुओं में छोटा तथा स्वयं जूँ में उसका स्थान कितना छोटा होगा, जब कि उसके सिर के बराबर इसका स्थान कहा गया है। इसी तरह अन्य चक्षुःप्रसाद रूपों के परिमाण को भी मनुष्य की दृष्टि से समझना चाहिये।

---

१. "चक्खतीति चक्खु, समविसमं आचिक्खति समविसमजाननस्स तम्मूलकत्ता। रूपं वा अस्सादेति आपातं आगतागतस्स रूपस्स अनिराकरणतो तं वा विभावेतीति अत्थो।" – प० दी०, पृ० २३३; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ८७; अट्ठ०, पृ० २५१; विसु०, पृ० ३०९; विभ० अ०, पृ० ४६।

२. ध० स० मू० टी०, पृ० १४५।

३. "तत्थ चक्खु ताव सेतमण्डलपरिक्खित्तस्स कण्हमण्डलस्स मज्झे ऊकासिर-पमाणे अभिमुखे ठितानं सरीरसण्ठानुप्पत्तिपदेसभूते दिट्ठमण्डले तेलमिव सत्त पिचुपटलानि सत्त अक्खिपटलानि व्यापेत्वा तिट्ठति।" – प० दी०, पृ० २३४। द्र० – विभा०, पृ० १४८; अट्ठ०, पृ० २४८; विसु०, पृ० ३१०।

४. अट्ठ०, पृ० २४८; विसु०, पृ० ३११।

जूँ के सिर के बराबर स्थान में भी चक्षुःप्रसादकलाप अनेक रहते हैं। एक एक चक्षुःप्रसाददशक कलाप में दस रूप रहते हैं; जैसे – पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, वर्ण, गन्ध, रस, ओजस्, जीवित तथा चक्षुःप्रसाद। इनके अतिरिक्त चित्तज रूप, ऋतुजरूप, आहारज रूप एवं कर्मजरूप भी परिवार के रूप में रहते हैं। अर्थात् जूँ के परिमाण के प्रदेश में चित्तज, आहारज, ऋतुज एवं कर्मज कलापरूप रहते हैं। इसी तरह श्रोत्रप्रसादआदि अन्य प्रसादरूपों के बारे में भी समझना चाहिये।

सोतं – 'सुणातीति सोतं' अर्थात् जो सुनता है वह श्रोत्र है[1]। यद्यपि श्रवण मुख्यतः श्रोत्रविज्ञान का कृत्य है फिर भी श्रोत्रविज्ञान का आश्रय होने के कारण स्थानोपचार से श्रोत्रप्रसाद की भी 'सुणाति' (सुनता है) – ऐसी व्युत्पत्ति की गयी है। कर्णकुहर के अन्तर्भाग में मुद्रिकासदृश एक अत्यन्त निगूढ स्थान है, जहाँ लोमसदृश तन्तु रहते हैं, उस स्थान पर श्रोत्रप्रसादकलापसमूह रहता है[2]।

घानं – 'घायतीति घानं' जो सूँघता है वह 'घ्राण' है[3]। यद्यपि घ्राणप्रसाद नहीं, अपितु घ्राणविज्ञान सूँघता है; तथापि घ्राणविज्ञान का आश्रय होने के कारण स्थानोपचार से घ्राणप्रसाद की उपर्युक्त व्युत्पत्ति की गयी है। नासिका के अन्तर्भाग में अजाक्षुरसदृश एक स्थानविशेष में अनेक घ्राणप्रसाद व्याप्त होकर रहते हैं[4]।

जिव्हा – 'जीवितं अव्हायतीति जिव्हा' जीवित का जो आह्वान करती है वह 'जिह्वा' है[5]। यहाँ जीवित का अर्थ रस है। षड्रस के आहरण से जीवन चलता है। जीवन रस-सेवन का फल है। अतः कारण में फलोपचार करके यहाँ रस को ही 'जीवित' कहा गया है। जिह्वाविज्ञान के इष्ट रस की ओर जिह्वाप्रसाद उन्मुख होता है, अतः जिह्वा आह्वान करने की तरह होती है। जिह्वा के मध्यभाग में कमलदलसदृश एक रचना होती है उसके अग्रभाग में जिह्वाप्रसादकलाप रहते हैं[6]।

कायो – 'कुच्छितानं आयो ति कायो' केश, लोम-आदि ३२ कुत्सित कोट्ठास एवं अकुशल पाप-धर्मों का स्थान 'काय' है। काय तो सम्पूर्ण शरीर है, किन्तु

---

१. "सुणन्ति सुय्यन्ति वा एतेना ति सोतं।" – प० दी०, पृ० २३३; विभा०, पृ० ६४; विभ० अ०, पृ० ४६।

२. "सोतं सोतबिलब्भन्तरे अङ्गुलिवेठनाकारं उपचिततनुतम्बलोमं पदेसं ब्यापेत्वा तिट्ठति।" – प० दी०, पृ० २३४। द्र० – विभा०, पृ० १४८; अट्ठ०, पृ० २५०; विसु०, पृ० ३०९-३११; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ८७।

३. प० दी०, पृ० २३३; विभा०, पृ० ६४; विभ० अ०, पृ० ४६।

४. "घाणं नासिकब्भन्तरे अजापदसण्ठानं पदेसं ब्यापेत्वा तिट्ठति।" – प० दी०, पृ० २३४। द्र० – विभा०, पृ० १४८; अट्ठ०, पृ० २५०-२५१; विसु०, पृ० ३०९-३११; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ८७।

५. प० दी०, पृ० २३३; विभा०, पृ० ६४; विभ० अ०, पृ० ४६।

६. "जिव्हा ससम्भारजिव्हामज्झे उप्पलदलकसण्ठानं पदेसं ब्यापेत्वा तिट्ठति।" – प० दी०, पृ० २३४। द्र० – विभा०, पृ० १४८; अट्ठ०, पृ० २५१; विसु०, पृ० ३०९-३११; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ८७।

यहाँ उसके एकदेश कायप्रसादमात्र को एकदेश्युपचार से 'काय' कहा गया है[1]। केश, लोम और नख के अग्रभाग तथा उदर में रहनेवाले पाचकतेज:कलाप को छोड़कर कायप्रसादकलाप सम्पूर्ण शरीर में अभिव्याप्त होकर रहते हैं। जिस कायदेश में संज्ञा-शून्यता नामक रोग होता है वहाँ कायप्रसाद नहीं रहते[2]।

काय से अतिरिक्त चक्षु:श्रोत्र-आदि अवशिष्ट चार कलापों को 'प्रदेशवृत्ति' अथवा 'एकदेशस्थायी' कलाप कहते हैं। तथा कायदशककलाप को 'सर्वत्रवृत्ति' (सब्बथकवुत्ति) अथवा 'सर्वत्रस्थायी' कलाप कहते हैं।

कायप्रसाद एवं अन्य प्रसादों का असम्मिश्रण – यदि कायप्रसाद सम्पूर्ण शरीर में अभिव्याप्त होकर रहता है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि चक्षु:पिण्ड श्रोत्रपिण्ड-आदि में भी विद्यमान रहने से चक्षुष्, श्रोत्र-आदि प्रसादों के स्थान से उसका सम्मिश्रण होगा कि नहीं?

उत्तर – नि:श्रय महाभूत एवं लक्षणों का भेद होने से कायप्रसाद एवं चक्षु:प्रसाद-आदि का सम्मिश्रण नहीं होता। अर्थात् चक्षु:प्रसाद-आदि, महाभूत का आश्रय करनेवाले उपादायरूप होते हैं। इस प्रकार आश्रय करने में अपने अपने पृथक् महाभूत होते हैं। चक्षुष्-आदि के आश्रय महाभूतों का कायप्रसाद आश्रय नहीं करता तथा कायप्रसाद के आश्रय महाभूतों का चक्षु:प्रसाद आश्रय नहीं करते। इसी प्रकार आश्रयभूत महाभूतों में भेद होता है। आगे कहे जानेवाले लक्षणों के अनुसार चक्षु:प्रसाद 'दट्ठुकम्यनिदान-कम्मजभूतप्पसादलक्खण' होता है। इसी तरह श्रोत्र-आदि भी अपने अपने पृथक् लक्षण-वाले होते हैं। इस प्रकार स्वभावलक्षणों में भी भेद होता है। अतः कायप्रसाद एवं चक्षु:प्रसाद-आदि में सम्मिश्रण नहीं होता। जबकि एक कलाप में एक प्रकार के महाभूतों का आश्रय करनेवाले वर्ण, गन्ध, रस, एवं ओजस्-आदि भी अपने अपने लक्षणों से परस्पर भिन्न होते हैं तो अपने कलाप में विद्यमान होकर अपने महाभूत में आश्रय करनेवाले प्रसादरूप कैसे सम्मिश्रित होंगे[3]?

---

१. "कुच्छितानं केसादीनं पापधम्मानञ्च आयो उप्पत्तिट्ठानं ति कायो, ससम्भार-कायो। इध पन तंसहचरितो पसादकायो एव अधिप्पेतो।" – प० दी०, पृ० २३३। द्र० – विभा०, पृ० ६४; विभ० अ०, पृ० ४६।

२. "कायो पन महन्तिया कप्पासपटलवट्टियं आसित्तवेलं विय ठपेत्वा कम्मजतेजस्स पतिट्ठानट्ठानं केसग्गलोमग्गनखग्गसुक्खचम्मानि च अवसेसं सकलसरीरं ब्यापेत्वा तिट्ठति।" – प० दी०, पृ० २३४। द्र० – विभा०, पृ० १४८; अट्ठ०, पृ० २५१; विसु०, पृ० ३१०-३११; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ८७।

३. "एवं सन्ते पि इतरेहि तस्स सङ्करो न होति, भिन्ननिस्सयलक्खणत्ता। एकनिस्सयानि पि हि रूपरसादीनि लक्खणभेदतो असङ्किण्णा ति किं पन भिन्ननिस्सया पसादा।" – विभा०, पृ० १४८-१४९। द्र० – प० दी०, पृ० २३४; अट्ठ०, पृ० २५१।

"पसादा दट्ठुकम्यादिनिदानकम्मजभूत-
पसादलक्खणा रूप-आदीस्वाविञ्छनरसा ।।
विञ्ञाणाधारुपट्ठाना तंतंभूतपदट्ठाना[1] ।।"

अर्थात् प्रसादरूप द्रष्टुकाम्यता-आदि तृष्णामूलक कर्म से उत्पन्न महाभूतों के स्वच्छकरणरूप लक्षणवाले होते हैं। रूपालम्बन-आदि का आकर्षण इनका कृत्य है। चक्षुर्विज्ञान-आदि के अधिष्ठान के रूप में योगी के ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं। वे वे महाभूत इनके आसन्नकारण हैं।

'दट्ठुं कामेतीति दट्ठुकामो' देखने की इच्छा करनेवाला पुद्गल 'द्रष्टुकाम' है। 'दट्ठुकामस्स भावो दट्ठुकम्यं'–द्रष्टुकाम पुद्गल का भाव (रूपतृष्णा) द्रष्टुकाम्या है। दट्ठुकाम्यादि में 'आदि' शब्द से श्रोतुकाम्या (सोतुकम्या) घ्रातुकाम्या (घायितुकम्या) स्वदितुकाम्या (सायितुकम्या) स्प्रष्टुकाम्या (फुसितुकम्या) का ग्रहण करना चाहिये। द्रष्टुकाम्या-आदि पाँच तृष्णामूलक कामावचर कर्मों को द्रष्टुकाम्यादिनिदानकर्म (दट्ठुकम्यादिनिदानकम्म) कहते हैं। इन (कामावचर) कर्मों को करनेवाला पुद्गल रूप, शब्द-आदि पाँच आलम्बनों की इच्छा करनेवाली इन पाँच तृष्णाओं के विना नहीं हो सकता, अतः कामावचर कर्मों की उत्पत्ति में ये पाँच तृष्णायें मूलभूत (कारणभूत) होती हैं। इन तृष्णाओं के मूलभूत (निदानभूत) होने के कारण चार महाभूत और पाँच प्रसादरूप उत्पन्न होते हैं। ये पाँच प्रसाद स्वसम्बद्ध महाभूतों के स्वच्छकरण लक्षणवाले होते हैं, अतः रूपतृष्णामूलक कर्म से उत्पन्न महाभूतों को चक्षुःप्रसाद द्वारा स्वच्छ किया जाता है, एवंशब्दतृष्णामूलक कर्म से उत्पन्न महाभूतों को श्रोत्रप्रसाद द्वारा स्वच्छ किया जाता है। इसी प्रकार अन्य प्रसादरूप भी जानने चाहियें[2]।

"रूप-आदीसु आविञ्छनरसा"–यहाँ 'आदि' शब्द से शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य का ग्रहण करना चाहिये। पाँचों प्रसाद तृष्णालमूक कर्मों से उत्पन्न होने के कारण अपने आधाररूप पुद्गल को रूप-आदि आलम्बनों की ओर खींचते हैं, इसलिये कामभूमि में रहने-वाले सत्त्व चक्षुःप्रसाद के आकर्षण से रूपालम्बन का दर्शन करते हैं। 'नहीं देखूंगा'–ऐसा संयम करने पर भी चक्षुःप्रसाद की आकर्षणशक्ति से कुछ क्षण के लिये देख ही लेता है। श्रोत्रप्रसाद को आकर्षणशक्ति से शब्दालम्बन को सुनना, घ्राण-प्रसाद के आकर्षण से गन्धालम्बन को सूँघना, जिह्वाप्रसाद के आकर्षण से रसालम्बन को चखना एवं कायप्रसाद के आकर्षण से स्प्रष्टव्यालम्बन का स्पर्श करना–इन पर भी विचार करना चाहिये। [प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान सुस्पष्ट हैं।]

---

१. ब० भा० टी०। तु०–अट्ठ०, पृ० २५१-२५२; विसु०, पृ० ३०९-३११।

२. "तं पन यथाक्कमं दट्ठुकामता-सोतुकामता-घायितुकामता-सायितुकामता-फुसितु-कामतानिदानकम्मसमुट्ठानभूतप्पसादलक्खणं।"–विभा०, पृ० १४८।

गोचररूपं

६. रूपं, सद्दो, गन्धो, रसो, आपोधातुवज्जितं* भूतत्तयसङ्खातं* फोट्ठब्बं† गोचररूपं नाम।

रूप, शब्द, गन्ध, रस, तथा अप्-धातुवर्जित भूतत्रय सङ्घात (नामक) स्प्रष्टव्य (ये पाँच) गोचररूप हैं।

गोचररूप

६. 'गावो चरन्ति एत्था ति गोचरं' अर्थात् इन रूप, शब्द-आदि विषयों में चक्षुष्-आदि इन्द्रियाँ (यहाँ 'गो' शब्द 'इन्द्रिय' अर्थ में है) विचरण करती हैं अतः रूप, शब्द-आदि को 'गोचररूप' कहते हैं। इस विग्रह के अनुसार चक्षुष्-आदि इन्द्रियों के आलम्बनभूत रूप, शब्द-आदि को 'गोचर' कहते हैं। यहाँ 'गोचर' एवं 'आलम्बन' शब्द पर्यायवाची हैं, इसलिये रूप-आदि आलम्बनों को ही 'गोचर' कहते हैं[1]।

रूपं – 'रूपयति हदयङ्गतभावं पकासेतीति रूपं' अर्थात् जो हृद्गत भाव (चित्तगत स्वभाव) प्रकाशित करता है उसे 'रूप' कहते हैं[2]। जब चित्त में सौमनस्य उत्पन्न होता है तब देह का वर्ण प्रसन्न एवं स्वच्छ होता है, जब दौर्मनस्य होता है तब शरीर का वर्ण रक्त, नील, विवर्ण एवं प्रभाहीन होता है। इस तरह चित्त में उत्पन्न भाव बाहरी वर्ण-आदि द्वारा प्रकाशित होते हैं। उपर्युक्त विग्रह केवल सत्त्वों की सन्तान में उत्पन्न वर्ण के लिये ही अनुरूप होता है, अतः सभी सजीव निर्जीव वर्णों के लिये 'रूपयति दब्बं पकासेतीति रूपं' अर्थात् जो द्रव्य को प्रकाशित करता है वह 'रूप' है – ऐसा विग्रह करना चाहिये; क्योंकि रूप के आधारद्रव्य रूप से हो प्रकाशित होते हैं। यहाँ रक्त, पीत-आदि वर्णों को ही 'रूप' कहा गया है[3]।

सद्दो – 'सद्दीयति उच्चारीयतीति सद्दो' जो उच्चरित होता है वह 'शब्द' है। यह विग्रह भी जीवजगत् के शब्दों का है। जीव तथा अजीव – दोनों के शब्दों के लिये 'सप्पति सोतविञ्ञेय्यभावं गमयतीति सद्दो' अर्थात् अपने प्रत्ययों (कारणों) द्वारा जो

-. ० धातुविवज्जितभूत० – स्या०। ०. वज्जित० – सी०।

†. ० च – स्या०।

1. "गोचरं नाम पञ्चविञ्ञाणविसयभावतो गावो इन्द्रियानि चरन्ति एत्था ति गोचरं ति हि आलम्बनस्सेतं नामं।" – विभा०, पृ० १४६।
   "गुन्नं अभिण्हं चरणट्ठानं गोचरो, गोचरसदिसत्ता इध गोचरो; 'गो' ति वा इध चक्खादीनि इन्द्रियानि वुच्चन्ति। तानि विञ्ञाणाधिट्ठितानि हुत्वा एतेसु चरन्ति, एतानि वा तेसु चरन्ति पवत्तन्ति घट्टेन्तीति गोचरा।" – प० दी०, पृ० २३६।
2. द्र० – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ८७; विभ० अ०, पृ० ४६।
3. प० दी०, पृ० २३५; विभा०, पृ० ९८; विसु०, पृ० ३११; अट्ठ०, पृ० २५६।

श्रोत्र के विज्ञेयत्व को प्राप्त होता है वह 'शब्द' है—ऐसा विग्रह करना चाहिये। अर्थात् श्रोत्रविज्ञान के आलम्बनभूत सभी सजीव, निर्जीव शब्दों को 'शब्द' कहते हैं[1]।

गन्धो—'गन्धयति अत्तनो वत्थुं सूचेतीति गन्धो' जो स्ववस्तु को अर्थात् अपने आधारभूत द्रव्य को सूचित करता है वह 'गन्ध' है। अर्थात् पुष्प-आदि वस्तुओं को छिपाकर रखने पर भी यदि गन्ध आ जाती है तो छिपा कर नहीं रखा जा सकता, अतः वह आधारभूत द्रव्य को प्रकाशित करनेवाला कहा गया है[2]।

रसो—'रसीयति अस्सादीयतीति रसो' जिसका आस्वाद किया जाता है वह 'रस' है। इष्ट हो चाहे अनिष्ट, जिह्वाविज्ञान द्वारा आलम्बन किये गये छह प्रकार के रसों को 'रस' कहते हैं[3]।

फोट्ठब्बं—'फुसितब्बं ति फोट्ठब्बं' स्पर्श करने योग्य धर्म को 'स्प्रष्टव्य' कहते हैं[4]। यह स्प्रष्टव्य स्वरूप से स्पर्श करने योग्य पृथ्वी, तेजस् एवं वायु नामक तीन महाभूतों में ही होता है। अप्-धातु अत्यन्त सूक्ष्म होने से स्पर्श नहीं की जा सकती, इसलिये मूल में 'आपोधातुवज्जितं भूतत्तयसङ्खातं फोट्ठब्बं' कहा गया है। जैसा कि 'विभावनी' में भी उक्त है—

"आपोधातुया सुखुमभावेन फुसितुं असक्कुणेय्यत्ता वुत्तं 'आपोधातुविवज्जितं भूतत्तयसङ्खातं' ति[5]।"

शीतलधातु अप् नहीं है—स्पर्श करने पर जल में जो शीतलधातु प्रतीत होती है वह (शीतलधातु) अप्-धातु है कि नहीं?

उत्तर—जल में जिस शीतलधातु का स्पर्श किया जाता है वह शीतलधातु अप् नहीं है; अपितु शीतलतेजस् है।

चार महाभूतों में से तेजस्-धातु शीतलतेजस् एवं उष्णतेजस्—इस प्रकार द्विविध होती है। सभी रूपकलापों में शीतल एवं उष्ण तेजोधातुओं में से कोई एक अवश्य होती है। शीतलधातु नामक कोई पृथक्रूप नहीं होता। खौलते हुए पानी में उष्णतेजस् धातु होती है। अग्नि से दूर होकर धीरे धीरे उष्णता कम होने पर शीतलधातु उत्पन्न होती है। स्पर्श करने वालों को 'यह शीतल है'—इस प्रकार की संज्ञा उत्पन्न होती है। उस पानी को फिर गर्म करने पर शीतलधातु कम होकर उष्णधातु उत्पन्न होती है,

---

१. प० दी०, पृ० २३५; विभा०, पृ० ९८; विभ० अ०, पृ० ४६; अट्ठ०, पृ० २५७; विसु०, पृ० ३११; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ८७।

२. प० दी०, पृ० २३५; विभा०, पृ० ९८-९९; विभ० अ०, पृ० ४६; विसु०, पृ० ३११; अट्ठ०, पृ० २५७; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ८७-८८।

३. प० दी०, पृ० २३५, विभा०, पृ० ९९; विभ० अ०, पृ० ४६; विसु०, पृ० ३११; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ८८; अट्ठ, पृ० २५८।

४. अट्ठ०, पृ० २६६-२६७; विभ० अ०, पृ० ४६।

५. विभा०, पृ० १४९।

स्पर्श करनेवालों को 'यह उष्ण है'—ऐसी संज्ञा उत्पन्न होती है। इसलिये जिस प्रकार नदी के एक किनारे पर बैठनेवाले अपनी ओर के किनारे को 'इस पार' एवं दूसरी ओर के किनारे को 'उस पार' कहते हैं, दूसरे किनारे पर बैठनेवाले भी इसी प्रकार कहते हैं; उसी प्रकार एक प्रकार के तेजस् को ही अवस्था के अनुसार शीतल एवं उष्ण कहा जाता है। अपि च—यह शीतलधातु यदि तेजस् न होकर अप्-धातु होती तो अन्य तीन भूतों से अभिन्न 'अविनिर्भोगरूप' होने से उसे (अप्-धातु को) उष्ण तेजस्-आधिक्यवाले खौलते हुए पानी में भी शीतलधातु के रूप में अनुभूत होना चाहिये था; किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिये शीतलधातु अप् न होकर शीतलतेजस् ही है। पानी का स्पर्श करने पर अप्-धातु का स्पर्श नहीं होता, जो शीतलस्पर्श होता है वह शीतलतेजस् का और जो उष्ण स्पर्श होता है वह उष्ण तेजस् का स्पर्श होता है—ऐसा जानना चाहिये[1]।

कुछ लोगों का भ्रम—'द्रु' धातु पग्घरण (प्रस्रवण) अर्थ में होती है, अतः कुछ लोग पग्घरित (प्रस्रवित) होनेवाले रूपकलाप को 'द्रव' कहते हैं। उस प्रस्रवणशील रूपकलाप के भाव को 'द्रवता' कहते हैं। वह द्रवता 'आपोधातु' ही है। वे लोग "द्रव' नामक अप्-धातु का स्पर्श किया जा सकता है—' ऐसा मानते हैं; किन्तु उन लोगों का यह भ्रममात्र है। वस्तुतः जब हम पानी का स्पर्श करते हैं तब पानी में रहनेवाली पृथ्वी-धातु, तेजस्-धातु या वायुधातु में से ही किसी एक का सर्वप्रथम कायद्वारिकवीथि द्वारा स्पर्श किया जाता है। उसके बाद उस धातु का तदनुवर्त्तक मनोद्वारवीथि से ज्ञान होता है। तदनन्तर द्रवस्वभाव अप्-धातु एक प्रकार की मनोद्वारवीथि से जानी जाती है। इस प्रकार चित्तसन्तति के विशेष (भेद) को नहीं जाननेवाले पुद्गलों में कायद्वारवीथि से स्पर्श करते समय ही अर्थात् स्पर्शकाल में ही हमें 'अप्-धातु का स्पर्श हो रहा है' एवं 'अप्-धातु का ज्ञान हो रहा है'—ऐसा भ्रम होता है।

"द्रवतासहवुत्तीनि तीणि भूतानि सम्फुसं।
द्रवतं सम्फुसामीति लोकोयमभिमञ्ञति[2]॥"

अर्थात् द्रवतास्वभाव अप्धातु के साथ उत्पन्न पृथ्वी, तेजस् एवं वायुनामक तीन महाभूतों का ही स्पर्श करनेवाला यह लोक 'द्रवताधातु के रूप में उत्पन्न अप्-धातु का स्पर्श करता हूँ'—इस प्रकार मिथ्या समझता है।

जैसे—जब हम किसी पुस्तक का स्पर्श करते हैं तब क्या होता है? हमें यह भ्रम होता है कि हम उस पुस्तक के संस्थान (लम्बाई चौड़ाई) का स्पर्श करते हैं; किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि हम कायद्वारिकवीथि से पुस्तकरूप में स्थित पृथ्वीधातु, तेजोधातु एवं वायुधातु का ही और उनमें भी विशेषकर पृथ्वीधातु का ही स्पर्श करते हैं। तदनन्तर चक्षुद्वारवीथि से उस पुस्तक के संस्थान को देखकर मनोद्वारवीथि से

---

१. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १०८-१०९; विभा०, पृ० १४९; प० दी०, पृ० २३५।

२. विभा०, पृ० १४९; प० दी०, पृ० २३५; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १०९। विभावनी में 'दवता' पाठ है।

भावरूपं

७. इत्थत्तं*, पुरिसत्तं† भावरूपं नाम।

स्त्रीत्व और पुरुषत्व ये (दोनों) भावरूप हैं।

उस संस्थान की संज्ञा करते हैं। जो लोग इस प्रकार चित्तसन्तति की विशेषताओं को नहीं जानते उन्हें जब वे स्पर्श करते हैं तभी यह भ्रम होता है कि हम पुस्तक के संस्थान का स्पर्श करते हैं। इसी तरह जब वे जल का स्पर्श करते हैं तब उन्हें भ्रम होता है कि हम द्रवत्व का स्पर्श करते हैं।

"भूते फुसित्वा सण्ठानं मनसा गण्हतो यथा।
पच्चक्खतो फुसामीति विञ्ञेय्या द्रवता तथा[1]॥"

अर्थात् भूतों का स्पर्श करके मनोद्वारवीथि द्वारा संस्थान का ग्रहण करते हुए पुरुष को जैसे यह भ्रम होता है कि 'मैं संस्थान का स्पर्श करता हूँ', उसी प्रकार द्रवता के विषय में जानना चाहिये।

[इस विषय का विस्तार से ज्ञान करने के लिये 'अट्ठसालिनी' के 'रूपकण्ड' को देखना चाहिये[2]।]

लक्षणादि –

"गोचरानं लक्खणादि पसाद-अभिघट्टना।
विञ्ञाणविसयभावो तेसं गोचरतापि च[3]॥"

चक्षुःप्रसाद-आदि प्रसाद रूपों से अभिघट्टन गोचररूपों का लक्षण है। चक्षुर्विज्ञान-आदि विज्ञानों का विषय होना इनका रस (कृत्य) है। विज्ञानों की गोचरता इनका प्रत्युपस्थान है। (तथा महाभूत पदस्थान है।) गोचररूप को विषयरूप भी कहते हैं।

रूपालम्बन का 'चक्षुःप्रसाद में सङ्घट्टन करना' लक्षण है। शब्दालम्बन का 'श्रोत्रप्रसाद में सङ्घट्टन करना' लक्षण है। इसी प्रकार सम्बद्ध प्रसादों में सङ्घट्टन करना गोचररूपों का लक्षण है। चक्षुर्विज्ञान के आलम्बन के रूप में होना रूपालम्बन का कृत्य है। इसी प्रकार सम्बद्ध विज्ञानों के आलम्बन के रूप में होना इन गोचररूपों का कृत्य है। [जहाँ पदस्थान न दिखाया गया हो वहाँ महाभूत पदस्थान हैं – ऐसा समझना चाहिये।]

भावरूप

७. यह भावरूप भी कायप्रसाद की तरह प्रतिसन्धिक्षण से ही स्कन्ध में उत्पन्न हो जाने के कारण कायप्रसाद की ही तरह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर विद्यमान रहनेवाला

---

*. इत्थित्तं – स्या०।

†. ० च – स्या०।

१. विभा०, पृ० १४६; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १०६।

२. द्र० – अट्ठ०, पृ० २६८-२६९।

३. ब० भा० टी०। विसु०, पृ० ३११; अट्ठ०, पृ० २५६-२५८।

रूप है[1]। जैसे – वृक्ष के अङ्कुर, पत्र, पुष्प एवं फल-आदि अपने बीज के अनुसार उत्पन्न होते हैं उसी तरह प्रतिसन्धि के साथ उत्पन्न भावरूप के अनुसार ही स्त्री एवं पुरुष शरीर में लिङ्ग, निमित्त, कुत्त एवं आकप्प (आकार) आदि उत्पन्न होते हैं।

स्त्री के लिये –

"लिङ्गं हत्थादिसण्ठानं निमित्तं निम्मस्सुदाठिकं।
कुत्तं सुप्पादिना कीळा आकप्पो गमनादिकं[2]॥"

हस्त, पाद-आदि संस्थान लिङ्ग हैं। श्मश्रुरहित दाढ़ी-आदि निमित्त हैं। सूप, चलनी, चक्की-आदि के साथ खेलना (क्रीड़ा करना) यह 'कुत्त' (क्रिया) है। गमन-आदि (विशेष प्रकार का गमन-आदि) आकल्प है।

पुरुष के लिये –

"लिङ्गं हत्थादिसण्ठानं/ निमित्तं मस्सुदाठिकं।
कुत्तं रथादिना कीळा आकप्पो गमनादिकं[3]॥"

हस्त, पाद-आदि संस्थान लिङ्ग है। श्मश्रुयुक्त दाढी-आदि निमित्त है। रथ-आदि के साथ क्रीडा करना 'कुत्त' (स्वभाव) है तथा विशेष प्रकार के गमन-आदि आकल्प हैं।

लिङ्ग – 'लिङ्गेति ञापेतीति लिङ्गं' जो स्त्रीत्व, पुंस्त्व-आदि का ज्ञापन करता है वह 'लिङ्ग' है। हस्त, पाद-आदि संस्थान देखने मात्र से स्त्रीत्व, पुरुषत्व का बोध कराते हैं अतः ये लिङ्ग हैं।

निमित्त – 'निम्मिनाति सञ्जानाति एतेना' ति निमित्तं' – स्त्रीत्व, पुरुषत्व-आदि संज्ञा जिसके द्वारा होती है वह 'निमित्त' है। लिङ्ग और निमित्त में भेद यह है कि जो चिह्न नियत होते हैं वे 'लिङ्ग' कहलाते हैं; अनियत चिह्न 'निमित्त' होते हैं[4]। मूल स्कन्ध के साथ ही उत्पन्न सङ्केत को 'लिङ्ग' कहते हैं; पीछे उत्पन्न सङ्केतों को 'निमित्त' कहते हैं। अतः श्मश्रु-आदि न होना स्त्री के निमित्त एवं श्मश्रु-आदि होना पुरुष के निमित्त हैं[5]। विभावनीकार "निमित्तं मिहितादिकं" के अनुसार स्मित-आदि को ही निमित्त कहते हैं[6]।

---

१. "'भावरूपं' नाम भवति एतेन इत्थादि अभिधानं बुद्धि चा ति कत्वा। तं पनेदं कायिन्द्रियं विय सकलसरीरं फरित्वा तिट्ठति।" – विभा०, पृ० १५०। द्र० – प० दी०, पृ० २३७; विसु०, पृ० ३११; अट्ठ०, पृ० २५८-२५९; विभ० अ०, पृ० १२७।

२. विभा०, पृ० १५०।

३. विभा०, पृ० १५०।

४. मणि०, द्वि० भा०, पृ० १०१।

५. अट्ठ०, पृ० २५८-२५९।

६. तु० – विभा०, पृ० १४९-१५०; प० दी०, पृ० २३६-२३७।

कुत्त – 'करणं कुत्तं' बाल्यकाल में सूप-आदि के साथ क्रीडा करना स्त्री का तथा रथ-आदि के साथ क्रीडा पुरुष का कुत्त है।

आकप्प – स्त्रियों का आना जाना, खाना पीना, एवं सोना आदि सब पुरुषों से विशिष्ट होता है एवं पुरुषों का स्त्रियों से विशिष्ट होता है। यही इनका आकप्प (आकार) है।

लक्खणादि –

"द्वे भावा भावलक्खणा पकासनरसा तथा।
लिङ्गनिमित्तकुत्तादिकरणभावुपट्ठाना[1] ॥"

ये दोनों भावरूप स्त्रीभाव एवं पुरुषभाव लक्षणवाले होते हैं। स्त्रीत्व एवं पुंस्त्व का प्रकाशन इनका कृत्य है। लिङ्ग, निमित्त, कुत्त एवं आकप्प (आकल्प) आदि इनके प्रत्युपस्थान हैं – ऐसा योगी के ज्ञान में प्रतिभासित होता है।

नपुंसक – न पुंसेति पुरिसो विय न मद्दतीति नपुंसको' जो पुरुष की तरह मर्दन करने में समर्थ नहीं है वह नपुंसक होता है। इसे ही 'पण्ड' भी कहते हैं। इसमें स्त्रीत्व एवं पुंस्त्व – ये दोनों भावरूप नहीं होते। केवल मलमूत्रादि-विसर्जनहेतु द्वारमात्र होते हैं।

उभयव्यञ्जनक – 'उभतो पवत्तं व्यञ्जनं यस्स अत्थीति उभतोव्यञ्जनको' दो प्रकार के कर्मों से प्रवृत्त व्यञ्जन (योनि) जिसमें होते हैं वह 'उभयव्यञ्जक' होता है। अर्थात् स्त्री होने में समर्थ कर्म तथा पुरुष होने में समर्थ कर्म – इन दोनों कर्मों से प्रवृत्त निमित्त जिनमें उत्पन्न होते हैं वे 'उभयव्यञ्जनक' होते हैं। किन्तु ये दोनों निमित्त समकाल नहीं होते। कारण के अनुसार एक समय में एक ही निमित्त होता है।

ये उभयव्यञ्जनक भी स्त्री-उभयव्यञ्जनक तथा पुरुष-उभयव्यञ्जनक – इस तरह दो प्रकार के होते हैं। इन दोनों में स्त्री-उभयव्यञ्जनक में हमेशा स्त्रीभाव की प्रधानता होती है। संस्थान, परिवेश एवं गमन-आदि सब साधारण स्त्रियों की तरह होता है। इसकी विशेषता यह है कि जब यह अन्य स्त्री को देखता है तब कभी-कभी इसमें पुरुष की तरह रागचित्त उत्पन्न होता है और उस समय पूर्व जन्म के अकुशल कर्मों के कारण स्त्रीभाव लुप्त होकर पुरुषभाव उत्पन्न हो जाता है। इसी तरह पुरुष-उभयव्यञ्जनक में सर्वदा पुरुषभाव प्रधान रहता है; किन्तु अन्य पुरुष को देखकर कभी-कभी इसमें उसके प्रति स्त्रियों की तरह रागचित्त उत्पन्न हो जाता है और उस समय बलवान् अकुशल कर्मों के कारण पुरुषभाव लुप्त होकर स्त्रीभाव का उत्पाद हो जाता है। इन दोनों में विशेष यह है कि स्त्री उभयव्यञ्जनक स्वयं भी गर्भ धारण कर सकता है और अन्य स्त्री में भी गर्भाधान करने में समर्थ होता है तथा पुरुष उभयव्यञ्जनक स्वयं गर्भ धारण नहीं कर सकता केवल अन्य स्त्री में गर्भाधान कर सकता है[1]।

---

१. ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३११; अट्ठ०, पृ० २५९।

१. द्र० – अट्ठ०, पृ० २५९-२६०।

हदयरूपं

८. हदयवत्थु हदयरूपं नाम ।

हृदयवस्तु को हृदयरूप कहते हैं ।

लिङ्गपरिवर्त्तन – स्त्रीभाव एवं पुरुषभाव इन दोनों भावरूपों में पुरुषभाव रूप उत्तम तथा स्त्रीभाव रूप हीन होता है। अतः इन दोनों के लिङ्ग-आदि भी उत्तम एवं हीन होते हैं। जब पुरुष भाव होने का कर्म प्रबल होता है और स्त्री होने का कर्म दुर्बल होता है तो प्रतिसन्धिक्षण में पुरुषभाव होता है; तदन्तर परदारसेवन-आदि पूर्व-अकुशल कर्मों तथा इस भव में उत्पन्न तीव्र राग-आदि अकुशल कर्मों के कारण पुरुष भाव को उत्पन्न करनेवाले पूर्वजन्म के कुशलकर्म क्षीणशक्ति हो जाते हैं और अकुशलकर्म प्रबल होने लगते हैं तब प्रवृत्तिकाल में पुरुषभाव के लिङ्ग, निमित्त-आदि भी शनैः शनैः परिवर्त्तित हो जाते हैं और स्त्रीभाव के लिङ्ग, निमित्त-आदि उत्पन्न हो जाते हैं।

किसी व्यक्ति में पुरुषभावोत्पादक कुशलकर्म तो है; किन्तु परदारसेवन-आदि अकुशलकर्मों के प्रबल होने से इनकी शक्ति मन्द होती है तब प्रतिसन्धिक्षण में स्त्रीभाव होता है। किन्तु उसकी सन्तान में ब्रह्मचर्यसेवन, मिथ्याचारविरति एवं पुरुषभाव को प्राप्त करने के लिये किये हुए कुशलकर्म-आदि भी रहते हैं, चाहे उस समय वे मन्दबल ही क्यों न हों। तदनन्तर प्रवृत्तिकाल में इन कर्मों के प्रबल होने पर तथा प्रतिसन्धिक्षण में स्त्रीभाव उत्पन्न करनेवाले अकुशलकर्मों के क्षीण होने पर इसमें स्त्रीभाव तिरोहित होकर पुरुष-भाव उत्पन्न होता है और उसके ज्ञापक लिङ्ग, निमित्त-आदि भी परिवर्त्तित हो जाते हैं[1]।

'अट्ठसालिनी' तथा 'पाराजिकट्ठकथा' आदि में इस विषय पर विस्तरशः लिखा हुआ है[2]। उपर्युक्त विवेचन केवल सुगतिभूमि के लिये है। दुर्गतिभूमि के लिये उपर्युक्त ग्रन्थों का ही अवलोकन करना चाहिये।

हृदयरूप

८. हदयवत्थु – 'हदन्ति तं तं अत्थं वा अनत्थं वा पूरेन्ति एतेना ति हदयं, हदयं च तं वत्थु चा ति हदयवत्थु' अर्थात् जिस रूप द्वारा उन उन अर्थों या अनर्थों को पूर्ण किया जाता है उसे 'हृदयवस्तु' कहते हैं[3]। इस 'हृदय' नामक रूप के होने से पुद्गल उन उन कुशल या अकुशल कर्मों को सम्पन्न कर सकता है इसलिये 'हृदय' नामक रूप को ही 'हृदयरूप' कहते हैं। यहाँ हृदय के बीच सर्षप के बीज के परिमाण का एकछिद्र

---

१. द्र० – अट्ठ०, पृ० २५१।

२. अट्ठ०, पृ० २५८-२६०।

३. प० दी०, पृ० २३७। तु० – विसु०, पृ० ३१२; विसु०. महा०, द्वि० भा०, पृ० ८८।

होता है, उस छिद्र में रुधिर विद्यमान रहता है। उस रुधिर में व्याप्त होकर विद्यमान एक प्रकार का वस्तुरूप होता है उसे ही एकदेशी-उपचार से 'हृदय' कहते हैं[1]।

इस रूप का 'हृदयवस्तु' ऐसा नामकरण करके कहनेवाली कोई पालि उपलब्ध नहीं है। 'धम्मसङ्गणि' के 'रूपकण्ड' परिच्छेद में समस्त रूपों का वर्णन है वहाँ भी 'हृदयवस्तु' नामक किसी रूप का वर्णन नहीं है; परन्तु उन उन पालियों के लेश या अंश मात्र को लेकर इस वस्तुरूप के अस्तित्व को अट्ठकथाचार्यों ने माना है[2]। जिन पालिवचनों के आधार पर हृदयवस्तु का अस्तित्व माना गया है, वे अंश इस प्रकार हैं—

"यं रूपं निस्साय मनोधातु च मनोविञ्ञाणधातु च वत्तन्ति तं रूपं मनोधातुया च मनोविञ्ञाणधातुया च तंसम्पयुत्तकानं च धम्मानं निस्सयपच्चयेन पच्चयो[3]।"

जिस रूप का आश्रय करके मनोधातु और मनोविज्ञानधातु प्रवृत्त होती हैं उस मनोधातु, मनोविज्ञानधातु एवं इनसे सम्प्रयुक्त चैतसिक धर्मों का वह रूप निःश्रयशक्ति से उपकार करता है। इस पालि के आधार पर यह मालूम पड़ता है कि जिस प्रकार चक्षुर्विज्ञान का आश्रय चक्षुर्वस्तु, श्रोत्रविज्ञान का आश्रय श्रोत्रवस्तु, घ्राणविज्ञान का आश्रय घ्राणवस्तु, जिह्वाविज्ञान का आश्रय जिह्वावस्तु एवं कायविज्ञान का आश्रय कायवस्तु है उसी प्रकार मनोधातु एवं मनोविज्ञानधातु का आश्रय एक वस्तुरूप अवश्य होना चाहिये। यह आश्रयवस्तु महाभूत नहीं हो सकते, क्योंकि महाभूत उपादाय रूपों के आश्रयरूप में प्रसिद्ध हैं। अतः महाभूत मनोधातु एवं मनोविज्ञानधातु के आश्रय नहीं हो सकते। अवशिष्ट २४ उपादायरूपों में से कौन उपादायरूप मनोधातु एवं मनोविज्ञानधातु का आश्रय हो सकता है, इस पर विचार किया जाता है— इन २४ उपादाय रूपों में १० अनिष्पन्न रूप आकारहीन हैं तथा पूर्णरूपेण परमार्थ भी नहीं हैं अतः ये आश्रयरूप में विचार के अनर्ह हैं। अब अवशिष्ट १४ निष्पन्न उपादायरूपों पर विचार करना है।

"निप्फन्नभूतिकाधारा द्वे धातू कामरूपिनं।
रूपानुबन्धवुत्तित्ता चक्खुविञ्ञाणादयो विय[4]॥"

काम तथा रूपभूमि के पुद्गलों की दो धातु (मनोधातु तथा मनोविज्ञानधातु) चक्षुर्विज्ञान-आदि धातुओं की तरह रूपानुबन्धवृत्ति होने से निष्पन्न उपादायरूपों का निःश्रय करनेवाली होती हैं। (यहाँ भूतरूपों का निःश्रय करनेवाले उपादायरूपों को 'भूतिक' कहा गया है।)

१४ निष्पन्न उपादायरूपों में चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा तथा काय नामक पाँच प्रसादरूप, स्व स्व चक्षुर्विज्ञान-आदि पाँच विज्ञानों के आश्रय होते हैं: अतः ये मनोधातु तथा मनोविज्ञानधातु के आश्रय नहीं हो सकते।

---

१. विभा०, पृ० १५०; प० दी०, पृ० २३७; विसु०, पृ० १७३।

२. प० दी०, पृ० २३७।

३. पट्ठान, प्र० भा०, पृ० ७।   ४. विभा०, पृ० १५०।

रूप, शब्द, गन्ध, रस एवं ओजस् नामक निष्पन्न उपादायरूप भी मनोधातु एवं मनोविज्ञानधातु के आश्रय नहीं हो सकते; क्योंकि ये पाँचों रूप स्कन्ध के बाहर भी स्थित होते हैं।

"चक्खादिनिस्सितानेता तस्सञ्ञाधारभावतो।
नापि रूपादिके तेसं बहिद्धापि पवत्तितो[1] ।।"

ये दो धातु चक्षुष्-आदि प्रसादों का आश्रय नहीं करतीं, क्योंकि उन चक्षुष्-आदि प्रसादों का अन्य चक्षुर्विज्ञान-आदि द्वारा आश्रय किया जाता है। रूप-आदि का भी आश्रय नहीं करतीं; क्योंकि वे रूपालम्बन-आदि स्कन्ध के बाहर भी अवस्थित होते हैं। ये दो धातु जीवितेन्द्रिय का भी आश्रय नहीं करतीं; क्योंकि जीवितेन्द्रिय सहभूत रूपों का अनुपालन कृत्य करनेवाली होती है। जिस प्रकार कोई एक कर्म करनेवाला पुद्गल अन्य कर्म करने में असमर्थ होता है उसी प्रकार जीवित रूप का अपना पृथक् कृत्य होने से वह दूसरों का आश्रय नहीं हो सकता।

दो भावरूप भी मनोधातु एवं मनोविज्ञानधातु के आश्रय नहीं हो सकते; क्योंकि भावरूपरहित नपुंसक एवं पण्डक की सन्तान में भी मनोधातु एवं मनोविज्ञानधातु होती हैं अतः दो धातुओं की आश्रयवस्तु उपर्युक्त निष्पन्न रूपों के अतिरिक्त एक प्रकार का उपादायरूप होना चाहिये, वह उपादायरूप हृदयवस्तु ही हो सकती है।

"न चा पि जीवितं तस्स किच्चन्तरनियुत्तितो।
न च भावद्वयं तस्मिं असन्ते पि पवत्तितो।।
तस्मा तदञ्ञं वत्थुत्तं भूतिकं ति विजानियं[2] ।।"

ये दो धातु जीवितरूप का भी निःश्रय नहीं कर सकतीं; क्योंकि जीवितरूप सहजातरूपों के अनुपालन कृत्य में नियुक्त होता है। भावरूप भी आश्रय नहीं हो सकते; क्योंकि जिनमें भावरूप का अभाव है—ऐसे नपुंसक एवं पण्ड में भी मनोधातु एवं मनोविज्ञानधातु होती हैं। अतः उपर्युक्त रूपों से अन्य एक प्रकार का वस्तुरूप है जो 'उपादायरूप है'—ऐसा जानना चाहिये।

'धम्मसङ्गणि' में अनुक्ति का कारण—उपर्युक्त कथनों के अनुसार यदि एक प्रकार का वस्तु रूप होता है तो 'धम्मसङ्गणि-रूपकण्ड' पालि में उसका उल्लेख क्यों नहीं किया गया ?

समाधान—'धम्मसङ्गणि-रूपकण्ड' पालि में आलम्बनद्विक-देशना के भङ्ग होने के भय से वस्तुद्विक का कथन नहीं किया गया है।

'धम्मसङ्गणि-रूपकण्ड' पालि में एकक, द्विक, त्रिक-आदि से लेकर एकादशक तक का वर्णन है। उसमें वस्तुद्विक-देशना में "अत्थि रूपं चक्खुविञ्ञाणस्स वत्थु, अत्थि रूपं चक्खुविञ्ञाणस्स न वत्थु"[3] अर्थात् चक्षुर्विज्ञान का आश्रय वस्तुरूप है तथा चक्षुर्विज्ञान का

१. विभा०, पृ० १५०।
२. विभा०, पृ० १५०।
३. ध० स०, पृ० १४८।

आश्रय न होनेवाला रूप भी है। यहाँ पहले वाक्य द्वारा चक्षुर्वस्तु का प्रतिपादन किया गया है तथा दूसरे वाक्य द्वारा चक्षुर्वस्तु से अतिरिक्त रूपों का प्रतिपादन है। उसी तरह श्रोत्रवस्तु, घ्राणवस्तु, जिह्वावस्तु, कायवस्तु का वर्णन करने के बाद 'अत्थि रूपं मनोविञ्ञाणस्स वत्थु, अत्थि रूपं मनोविञ्ञाणस्स न वत्थु' – इस प्रकार षष्ठ द्विक का वर्णन नहीं किया गया है। यदि इस द्विक को कहेंगे तो 'अत्थि रूपं मनोविञ्ञाणस्स वत्थु' के अनुसार हृदयवस्तु का ग्रहण करके 'अत्थि रूपं मनोविञ्ञाणस्स न वत्थु' के अनुसार हृदयवस्तु से अविशिष्ट रूपों का ग्रहण किया जायेगा। इस प्रकार ग्रहण करने के लिये रूपों के विद्यमान होने पर भी उस वस्तुद्विक के अनन्तर ही कहे जानेवाले आलम्बनद्विक में "अत्थिरूपं चक्खुविञ्ञाणस्स आरम्मणं" के अनुसार जिस प्रकार रूपालम्बन का ग्रहण करके "अत्थि रूपं चक्खुविञ्ञाणस्स नारम्मणं" के अनुसार रूपालम्बन से अवशिष्ट रूपों का ग्रहण किया जायेगा, उसी प्रकार शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य आलम्बन एवं शेष रूपों का ग्रहण करने के लिये पाँच प्रकार के द्विकों के कथन के अनन्तर 'अत्थि रूपं मनोविञ्ञाणस्स आरम्मणं' के अनुसार मनोविज्ञान के आलम्बनभूत सभी रूपों के होने से तथा 'अत्थि रूपं मनोविञ्ञाणस्स न आरम्मणं' के अनुसार मनोविज्ञान के आलम्बन न होनेवाले किन्हीं रूपों के न होने से इस षष्ठ द्विक में एक पक्ष का भङ्ग हो जायेगा। इस एक पक्ष के भङ्ग-भय को देखकर 'वस्तुदेशना एवं आलम्बनदेशना को सदृश रखकर देशना करने से ही विनेय जनों को सम्यग् ज्ञान होगा' – इस आशय से आलम्बनदेशना में षष्ठ द्विक प्राप्त न होने से वस्तुदेशना में भी षष्ठ द्विक (होने पर भी) नहीं कहा गया है[१]।

"वत्थालम्बदुकानं ,तु देसनाभेदतो इदं।
धम्मसङ्गणिपाठस्मि न अक्खातं महेसिना[२] ॥"

अर्थात् वस्तुद्विक एवं आलम्बनद्विकों में देशनाभेद होने से इस (हृदयवस्तु) को भगवान् ने 'धम्मसङ्गणिपालि' में नहीं कहा है।

उपर्युक्त पालियों एवं युक्तियों के अनुसार एक प्रकार की वस्तु का अस्तित्व सिद्ध होता है। उस वस्तु का हृदय में विद्यमान होना भी इस प्रकार जानना चाहिये – किसी एक विषय के प्रति ऊहापोह करते समय या चित्त में विप्रतिसार (पश्चात्ताप) होते समय चित्त का सन्ताप आश्रयवस्तु में सङ्क्रमित होने से तथा उस वस्तुरूप का सन्ताप वस्त्वाश्रित रुधिर के साथ हृदय में सङ्क्रमित होने से उरस् प्रदेश में भी सन्ताप होता है। तथा भयानक शब्द सुनने पर या किसी व्यक्ति द्वारा डराने पर चित्त-धातु में कम्पन होने से हृदयस्थित रुधिर के साथ उरस् प्रदेश में भी कम्पन होता है; इसी तरह अत्यन्त प्रसन्नता होने पर हृदय में भी एक प्रकार के आह्लाद का अनुभव होता है। इन सबके आधार पर चित्त के आश्रयभूत इस वस्तुरूप का हृदय में होना जानना चाहिये। हृदय में विद्यमान रहने से इस वस्तुरूप को 'हृदयवस्तु' कहते हैं।

१. ध० स०, पृ० १४६।
२. द्र० – ध० स० अनु०, पृ० १४७; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १६६-१६७।
३. विभा०, पृ० १५०।

जीवितरूपं

६. जीवितिन्द्रियं जीवितरूपं नाम।

जीवितेन्द्रिय को जीवितरूप कहते हैं।

लक्षणादि –

"निस्सयलक्खणं द्विन्नं धातूनं हदयं वत्थु।
आधारणरसं तासं उब्बाहनुपट्ठानकं"[1] ॥

हृदयवस्तु दोनों (मनोधातु एवं मनोविज्ञानधातु) का निःश्रयलक्षण है। उन दोनों धातुओं का आधार होना – इसका कृत्य है। यह दोनों धातुओं को धारण करनेवाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान में प्रतिभासित होता है। अर्थात् दोनों धातुओं का आधारभूत होने से विपश्यना-ज्ञान द्वारा विचार करने पर यह (यह) इन दोनों धातुओं को अपने ऊपर रखकर धारण करने की तरह ज्ञान में प्रतिभासित होता है।

जीवितरूप

६. जीवितेन्द्रिय – (इसके वचनार्थ, लक्षण-आदि चैतसिकपरिच्छेद के जीवितेन्द्रिय चैतसिक के प्रसङ्ग में कह दिये गये हैं।) यह जीवितेन्द्रिय सहजात कर्मजरूपों का अनुपालन करने से कर्मजरूपों की आयु (जीवित) है। अर्थात् चित्तज, ऋतुज एवं आहारज रूप चित्त, ऋतु एवं आहारों की विद्यमान अवस्था में उत्पन्न होते हैं, अतः (जिस प्रकार माता की विद्यमान-अवस्था में पुत्र का दूसरों द्वारा अनुपालन आवश्यक नहीं होता, उसी प्रकार) उनका अन्य धर्मों द्वारा अनुपालन किया जाना आवश्यक नहीं है। चित्त, ऋतु एवं आहार ही उन चित्तज-आदि रूपों के जीवित रहने के लिये अनुपालन कर सकते हैं; किन्तु कर्मजरूप अपने कारणभूत कर्मों के निरुद्ध हो जाने के बाद (कुछ कर्मज रूप अपने कारणभूत कर्मों से अनेक भव अन्तरित करके) उत्पन्न होते हैं अतः (जिस प्रकार जीवित रहने के लिये मातृविहीन पुत्र का धात्री-आदि द्वारा अनुपालन किया जाता है, उसी प्रकार) रूपधर्मों के आयुःपरिमाण के अनुसार जीवित रहने के लिये उनका जीवितेन्द्रिय द्वारा अनुपालन किया जाता है, अतः चक्षुर्दशककलाप में आनेवाले ९ रूपों का उसी कलाप में स्थित जीवित द्वारा अनुपालन किया जाता है तथा श्रोत्रदशक में आनेवाले ९ रूपों का उसी कलाप में स्थित जीवित द्वारा अनुपालन किया जाता है। इसी प्रकार ९ कर्मज कलापों में स्थित जीवित द्वारा सहजात कलापों का अनुपालन किया जाता है – इस प्रकार जानना चाहिये। यह जीवितरूप, जिसमें काय-प्रसाद एवं भावरूप नहीं होते, उस पाचक तेजस् में भी तथा काय एवं भाव रूपों से व्याप्त सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है[2]।

---

१. ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३१२।

२. "सहजातानुपालनलक्खणं जीवितिन्द्रियं। यथा हि – बीजनिब्बत्तानि उप्पलादीनि बीजे विनट्ठे पि उदकानुपालितानि चिरम्पि कालं जीवन्ति; एवमेवं निरुद्धकम्मनिब्बत्तानि कम्मजरूपानि कम्मे असन्ते पि

आहाररूपं

१०. कबळीकारो* आहारो आहाररूपं नाम ।

कवलीकार आहार ही आहाररूप है ।

आहाररूप

१०. कवलीकार आहार – 'कबळं करीयतीति कबळीकारो' जिस आहार का कवल (कौर) किया जाता है उसे 'कवळीकार आहार' कहते हैं।

'आहरीयतीति आहारो' मुख की ओर जिसका आहरण किया जाता है उसे 'आहार' कहते हैं। अतः समस्त खाद्यपदार्थ कवलीकार आहार हैं। किन्तु यहाँ स्थान्युपचार से ओजस् का ही ग्रहण किया गया है[1]।

लक्षणादि –

"ओजालक्खणो आहारो रूपाहरणरसो तथा ।
उपत्थम्भनुपट्ठानो आहरेय्यपदट्ठानो[2] ॥"

अर्थात् आहार ओजोलक्षण है। आहारज रूपों का धारण करना इसका कृत्य है। यह शरीर का उपष्टम्भन करनेवाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान में प्रतिभासित होता है। आहार्य पदार्थ ही इसके आसन्नकारण हैं।

लक्षण – उन उन आहारों में आनेवाला ओजस् ही आहाररूप का लक्षण है। उन उन आहारों में होनेवाले षड्विध रस आहाररूप नहीं होते, वे तो 'रसालम्बन' नामक एकविध आलम्बन ही होते हैं। आहाररूप उन उन आहारों में आनेवाला साररूप एक द्रव है। ग्रन्थों में इस आहाररूप को सार, ओजस्, स्नेह-आदि नामों से कहा गया है[3]।

जीवितानुपालितानि सन्ततिवसेन वस्ससतं पि वस्ससहस्सं पि कप्पं पि सोळसकप्पसहस्सानि पि जीवन्ति येव। तथा हि जीवितरहितानि इतररूपानि जीवन्ति नाम न होन्ति, तानि हि येन केन चित्तेन वा उतुना वा आहारेन वा जायन्ति, तस्मिं निरुद्धे निरुज्झन्ति।" – प० दी०, पृ० २३७।

"इदं पन सह पाचनग्गिना अनवसेस-उपादिन्नकायं ब्यापेत्वा पवत्तति।" – विभा०, पृ० १५०; प० दी०, पृ० २३६। द्र० – विसु०, पृ० ३१२; अट्ठ०, पृ० २६०।

*. कबळिङ्कारो – स्या०; कबलिङ्कारो – रो०।

१. प० दी०, पृ० २३६; विभा०, पृ० १५०।

२. ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३१३; अट्ठ०, पृ० २६५-२६६।

३. "अज्झोहरितब्बाहाररसिनेहभूता ओजा इध आहाररूपं नाम।" – विभा०, पृ० १५१।

"अत्थतो पन अङ्गमङ्गानुसारिनो रसस्स सारभूतो उपत्थम्भबलकारो भूतनिस्सितो परमसिनिद्धसिनेहो इध आहाररूपं नाम।" – प० दी०, पृ० २३६।

११. इति च अट्ठारसविधम्पेतं* रूपं सभावरूपं, सलक्खणरूपं, निप्फन्नरूपं, रूपरूपं, सम्मसनरूपं ति च सङ्खं† गच्छति।

इस प्रकार १८ प्रकार के ये रूप स्वभावरूप, सलक्षणरूप, निष्पन्नरूप, रूपरूप, एवं सम्मर्शनरूप नामव्यवहार प्राप्त करते हैं।

रस, प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान – यह आहार 'ओजासङ्खातो आहारो, आहारसमुट्ठानरूपं'[1] के अनुसार आहाररूप का धारण कृत्य करनेवाला होता है। (उत्पन्न करना भी धारण करना कहा जाता है।) भोजन करते समय स्कन्ध के बलवान् एवं दृढ़ प्रतीत होने से यह आहाररूप स्कन्ध का उपष्टम्भन करनेवाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान में प्रतिभासित होता है। भुक्त पदार्थ में विद्यमान ओजस् को ही आहाररूप कहते हैं, अतः उस आहार के आसन्नकारण भुक्त पदार्थ ही होते हैं।

११. उपर्युक्त १८ प्रकार के रूपों को ही यहाँ स्वभावरूप-आदि नामों से व्यवहृत किया गया है। यहाँ 'सङ्खं' इस पद के स्थान पर कहीं कहीं 'सङ्गहं' पाठ भी दिखाई देता है; किन्तु वह उचित प्रतीत नहीं होता। 'सङ्ग्रह' शब्द का प्रयोग वहीं ठीक होता है जहाँ अन्य अर्थों का सङ्ग्रह होता है। जहाँ केवल नाममात्र दिखाये जाते हैं वहाँ 'सङ्खं' शब्द का प्रयोग ही होना चाहिये, जैसे – 'सा पनायं एकादसविधापि कामावचरभूमिच्चेव सङ्खं गच्छति'[2], तथा 'छत्तिंसधम्मा सङ्गहं गच्छन्ति'[3] – आदि। अतएव हमने यहाँ 'सङ्खं' – इस पाठ का ही ग्रहण किया है।

सभावरूपं – 'भावीयति लक्खीयति एतेना' ति भावो' जिसके द्वारा लक्ष्य किया जाता है वह 'भाव' है। 'सस्स भावो सभावो' स्वकीय (भाव) लक्षण को 'सभाव' (स्वभाव) कहते हैं[4]। जैसे – 'कक्खळत्त' यह पृथ्वीधातु का लक्षण है। इसी प्रकार अपने पृथक् लक्षणों से युक्त रूपों को 'स्वभावरूप' कहते हैं। इसका 'सभावो यस्सा ति सभावं' – इस प्रकार विग्रह करना चाहिये।

---

*. ० चेतं – स्या०; ० एतं – रो०।

†. सङ्खयं – स्या०; सङ्गहं – म० (ख), सी०, रो०, ना०।

१. द्र० – अभि० स० ६ : ३७।

२. द्र० – अभि० स० ५ : ६ पृ० ४७६।

३. द्र० – अभि० स० २ : ३८ पृ० १६४।

४. "कक्खळत्तादिना अत्तनो अत्तनो सभावेन उपलब्भनतो सभावरूपं नाम।" – विभा०, पृ० १५१।

'अञ्ञापदेसरहितेन कक्खळत्तादिना अत्तनो भावेन सुद्धं रूपं सभावरूपं।" – प० दी०, पृ० २४०।

उपर्युक्त विग्रह टीका-ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुसार 'भाव' शब्द द्रव्यवाची है। अतः इसका विग्रह 'सन्तो भावो सभावो'–ऐसा करना चाहिये। अर्थात् विद्यमान द्रव्य (परमार्थरूपेण द्रव्य सद्) ही स्वभाव है। अतः जो रूप परमार्थरूपेण प्राप्त होते हैं वे स्वभावरूप हैं।

आकाश-आदि १० रूप उसी तरह (परमार्थरूप से) विद्यमान नहीं होते, अतः वे 'अस्वभावरूप' कहलाते हैं। आकाश-आदि १० रूपों में से आकाश (अन्तराल) विद्यमान वस्तु नहीं है, दो रूपकलापों का समागम होने पर अपने आप इसका उत्पाद होता है। उपर्युक्त ऐकान्तिक परमार्थरूपों में अविनाभावरूप से रहने के कारण इसे भी 'रूप' कहा जाता है। वस्तुतः वह परमार्थधर्म न होकर प्रज्ञप्तिमात्र है। यद्यपि उन १० रूपों में से विज्ञप्तिद्वय कुछ कुछ विद्यमान की तरह प्रतीत होती है, किन्तु वे विज्ञप्तियाँ भी परमार्थद्रव्य नहीं है। अतः एव कहा भी गया है–

"सा अट्ठरूपानि विय न चित्तसमुट्ठाना...चित्तसमुट्ठानानं रूपानं विञ्ञत्तिताय सापि चित्तसमुट्ठाना नाम होति"[1]–इस 'अट्ठसालिनी' की 'मूलटीका' में भी उसकी "न चित्तसमुट्ठाना ति एतेन परमत्थतो अभावं दस्सेति"[2]–इस प्रकार व्याख्या की गयी है।

सलक्खणरूपं–अनित्यता, दुःखता, अनात्मता–ये तीन; तथा उपचय, सन्तति, जरता एवं अनित्यता-नामक उत्पाद-स्थिति-भङ्ग–ये रूपधर्मों को अनित्य, दुःख एवं अनात्म जानने के लिये लक्षण होते हैं। इस प्रकार के लक्षणों से सम्पन्न उपर्युक्त १८ रूपों को ही 'सलक्षणरूप' कहते हैं[3]। आकाश-आदि, अनित्यता-आदि एवं उत्पाद-आदि लक्षणों से युक्त नहीं होते, अतः 'अलक्षणरूप' कहे जाते हैं। जब आकाशधातु उत्पाद-स्थिति-भङ्ग स्वभाव नहीं होती तब उसमें अनित्यता, दुःखता एवं अनात्मता लक्षण भी कैसे होंगे?

निप्फन्नरूपं–'निप्फादीयते ति निप्फन्नं' जिनका निष्पादन (उत्पादन) किया जाता है वे निष्पन्नरूप होते हैं[4]। कर्मज रूपों को 'कर्म' नामक कारण उत्पन्न करते हैं तथा चित्तज, ऋतुज एवं आहारज रूपों को चित्त, ऋतु एवं आहार नामक कारण उत्पन्न

---

१. अट्ठ०, पृ० ६८।

२. ध० स० मू० टी०, पृ० ७२।

३. "उप्पादादीहि अनिच्चतादीहि वा लक्खणेहि सहितं ति सलक्खणं।"–विभा०, पृ० १५१।

"उप्पादादिना अनिच्चतादिना च सङ्खतलक्खणेन सहितं रूपं सलक्खण-रूपं।"–प० दी०, पृ० २४०।

४. "परिच्छेदादिभावं विना अत्तनो सभावेनेव कम्मादीहि पच्चयेहि निप्फन्नत्ता निप्फन्नरूपं नाम।"–विभा०, पृ० १५१।

"उजुकतो व कम्मादीहि पच्चयेहि निप्फादितं रूपं निप्फन्नरूपं।"–प० दी०, पृ० २४०।

करते हैं। (विस्तार के लिये 'रूपसमुट्ठान' प्रकरण देखें।) आकाशधातु-आदि उन उन कारणों से उत्पन्न नहीं किये जा सकते, अतः उन्हें 'अनिष्पन्नरूप' कहते हैं। जैसे – यदि सम्बद्ध कारणों द्वारा अभिसंस्कार किया जाने पर दो रूपकलाप उत्पन्न होते हैं तो उनके बीच में 'आकाशधातु' नामक अन्तराल किसी कारण द्वारा अभिसंस्कार न किया जाने पर भी अपने आप उत्पन्न हो जाता है। 'विज्ञप्ति आदि रूपों का अनिष्पन्न होना' उनकी व्याख्या के प्रसङ्ग में स्पष्ट होगा।

रूपरूपं – विकारस्वभाव को 'रूप' कहते हैं। उस विकारस्वभाववाले रूप को भी 'रूपं अस्स अत्थीति रूपं' के अनुसार 'रूप' कहते हैं। जैसे – 'अरिसस' (अर्शस्) शब्द बवासीर नामक रोग के अर्थ में प्रयुक्त होता है; किन्तु उस रोगवाले व्यक्ति को भी 'अरिससो अस्स अत्थीति अरिससो' के अनुसार 'अरिसस' (अर्शस) कहा जाता है। अथवा – 'रूप' शब्द मुख्य रूप से 'विकार स्वभाव' अर्थ में होता है; किन्तु यहाँ 'गुणोपचार' से विकारस्वभाववाले रूपों को ही 'रूप' कहा गया है। जैसे – 'नील' शब्द का मुख्य अर्थ नीलवर्ण होता है; किन्तु गुणोपचार से उस वर्णवाले वस्त्र को भी 'नील' कहा जाता है[1]।

कुछ स्थलों पर 'रूप' शब्द के, जिनका विकार स्वभाव नहीं होता ऐसी आकाश-आदि धातुओं में भी, रूढि से प्रयुक्त होने से उन आकाश-आदि धातुओं से सम्मिश्रण न होने देने के लिये उपर्युक्त १८ निष्पन्न रूपों को 'रूपरूप' कहा गया है। जैसे – दुक्खदुक्ख, सङ्खारदुक्ख, एवं विपरिणामदुक्ख। यहाँ अनेक प्रकार के दुःखों में से 'दुःख' शब्द द्वारा सुखसहगत, उपेक्षासहगत एवं रूपधर्मों को संस्कारदुःख एवं विपरिणामदुःख कहा गया है। उन सुखसहगत, उपेक्षासहगत एवं रूपधर्मों से सम्मिश्रण न होने देने के लिये तथा केवल दुःखमात्र होनेवाले द्वेषमूलद्वय एवं दुःखसहगत कायविज्ञान का ग्रहण करने के लिये 'दुक्खदुक्ख' कहा गया है। अतएव 'रूपमेव रूपं, रूपरूपं' 'दुक्खमेव दुक्खं दुक्खदुक्खं' कहा जाता है। अर्थात् विकारस्वभाववाले रूप को ही 'रूपरूप' तथा केवल दुःख को 'दुक्खदुक्ख' कहते हैं[2]।

आकाश-आदि अनिष्पन्न रूपों को, विकारस्वभाव न होने के कारण 'अरूपरूप' कहा जाता है। आकाशधातु-आदि अनिष्पन्न रूपों को एकान्तेन विकार स्वभाव होने से 'रूप' नहीं कहा जाता, अपितु विकारस्वभाववाले निष्पन्नरूपों के साथ अविनाभाव से होने के कारण तद्धर्मोपचार से 'रूप' कहा जाता है।

सम्मसनरूपं – 'सम्मसीयते ति सम्मसनं' अनित्यता-आदि लक्षणों से युक्त होने के कारण विपश्यना-कम्मट्ठान करनेवाले योगी पुद्गल द्वारा इन निष्पन्नरूपों का आलम्बन

---

१. "रुप्पनलक्खणसम्पन्नं निप्परियायरूपं रूपरूपं। यथा दुक्खदुक्खं, अज्झत्त-अज्झत्तं ति।" – प० दी०, पृ० २४०।

"रुप्पनसभावो रूपं, तेन युत्तं पि रूपं। यथा – अरिससो, नीलुप्पलं ति। स्वायं रूपसद्दो रूळ्हिया अतंसभावे पि पवत्ततीति अपरेन रूपसद्देन विसेसेत्वा 'रूपरूपं' ति वुत्तं। यथा – 'दुक्खदुक्खं' ति।" – विभा०, पृ० १५१।

२. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १०१।

परिच्छेदरूपं

१२. आकासधातु परिच्छेदरूपं नाम।

आकाशधातु परिच्छेद रूप है।

करके उनका अनित्य, दुःख एवं अनात्म – इस प्रकार विपश्यनाज्ञान से सम्मर्शन किया जा सकता है, अतः इन निष्पन्नरूपों को 'सम्मर्शनरूप' भी कहते हैं[1]। 'आकाशधातु-आदि अनिष्पन्न रूपों के अनित्यता-आदि लक्षणों से युक्त न होने के कारण उनका विपश्यना-ज्ञान द्वारा सम्मर्शन नहीं किया जा सकता है, अतः उन्हें 'असम्मर्शनरूप' कहते हैं।

परिच्छेदरूप

१२. आकाश – 'न कस्सतीति अकासो, अकासो येव आकासो' ('कस विलेखने') जिस प्रदेश का विलेखन नहीं किया जा सकता उस प्रदेश को 'अकास' कहते हैं। इस 'अकास' को ही 'आकास' कहा जाता है[2]। यहाँ स्वार्थ में 'ण' प्रत्यय हुआ है।

आकाश चार प्रकार का होता है; यथा –

"अजटो परिच्छिन्नो च कसिणुग्घाटिमो तथा।
परिच्छेदाकासो चा ति आकासो हि चतुब्बिधो[3]॥"

अजटाकाश – जिसमें जटा अर्थात् सङ्कीर्णता नहीं है अर्थात् जो खुला आकाश है वह 'अजटाकाश' है। कामभूमि से लेकर रूप-ब्रह्मभूमि तथा उससे भी ऊपर अजटाकाश होता है। पृथ्वी, अप्, वायु के नीचे भी अजटाकाश है।

परिच्छिन्नाकाश – किसी वस्तु से घिरे हुए आकाश को 'परिच्छिन्नाकाश' कहते हैं; जैसे – घटाकाश।

---

१. "सङ्खतलक्खणयुत्तताय अनिच्चतादिकं लक्खणत्तयं आरोपेत्वा सम्मसनारहं रूपं सम्मसनरूपं" – प० दी०, पृ० २४०।
"परिच्छेदादिभावं अतिक्कमित्वा सभावेनेव उपलब्भनतो लक्खणत्तयारोपनेन सम्मसितुं अरहत्ता सम्मसनरूपं।" – विभा०, पृ० १५१।

२. विभा०, पृ० १५१। तु० – "ते ते दब्बसम्भारा वा रूपकलापा वा विसुं विसुं भुसो कासन्ति पकासन्ति एतेना ति आकासो। निस्सत्तनिज्जीवट्ठेन धातु, आकाससङ्खाता धातू ति आकासधातु।" – प० दी०, पृ० २४०।
"विग्गहाभावतो न कसति कसितुं छिन्दितुं न सक्का, न वा कासति दिब्बतीति अकासं, अकासमेव आकासं। तदेव निस्सत्तनिज्जीवट्ठेन आकासधातु।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ८८। द्र० – ध० स० मू० टी०, पृ० १५२; विसु०, पृ० ३१२; अट्ठ०, पृ० २६२।

३. ब० भा०, टी०।

विञ्ञत्तिरूपं

१३. कायविञ्ञत्ति, वचीविञ्ञत्ति – विञ्ञत्तिरूपं नाम ।

कायविज्ञप्ति एवं वाग्विज्ञप्ति को 'विज्ञप्तिरूप' कहते हैं ।

कसिणुग्घाटिमाकास – नवम परिच्छेद में आकाशानन्त्यायतनध्यान के प्रसङ्ग में आनेवाले ९ कसिणों में से किसी एक को हटाने से प्राप्त आकाशप्रज्ञप्ति को 'कसिणुग्घाटिमाकास' कहते हैं ।

परिच्छेदाकाश – 'परिच्छिन्दतीति परिच्छेदो' अर्थात् जो रूपकलापों का परिच्छेद करता है, अर्थात् दो रूपकलापों में असंसृष्टभाव का आपादन करता है वह परिच्छेदाकाश है[1]। इस रूपपरिच्छेद में 'आकाश' शब्द से परिच्छेदाकाश का ही ग्रहण किया गया है।

लक्षणादि –

"परिच्छेदलक्खणं खं परियन्तप्पकासनं ।
मरियाद-उपट्ठानं परिच्छिन्नपदट्ठानं[2] ।।"

अर्थात् आकाशधातु परिच्छेदलक्षण है। रूपकलापों के पर्यन्त (सीमा) का प्रकाशन करना इसका कृत्य है। यह रूपकलापों की मर्यादा है – ऐसा योगी के ज्ञान में प्रतिभासित होता है। परिच्छिन्न रूपकलाप ही इसके आसन्न कारण हैं।

विज्ञप्तिरूप

१३. विज्ञप्ति – 'अधिप्पायं विञ्ञापेतीति विञ्ञत्ति' जो अभिप्राय विज्ञापित (प्रकाशित) करती है उसे 'विज्ञप्ति' कहते हैं[3]। हस्त, पाद-आदि के सञ्चालन करनेवाले तथा बोलनेवाले व्यक्ति के अन्तः (भीतरी) अभिप्राय को विज्ञापित करनेवाले विशेष आकार को 'विज्ञप्ति' (विशेष आकृति) कहते हैं। वह विज्ञप्ति यद्यपि परमार्थरूप से कोई रूप नहीं है, फिर भी चतुर जन लोक में उस आकारविशेष को जान सकते हैं, अतः उसे 'विज्ञप्ति' कहते हैं। उस विज्ञप्ति का तृतीय मनोद्वारवीथि द्वारा ज्ञान होता है[4]। इस विषय का प्रतिपादन 'वीथिसमुच्चय' में किया जा चुका है।

कायविज्ञप्ति – 'कायेन विञ्ञत्ति कायविञ्ञत्ति' सत्त्व के भीतरी स्वभाव (छन्द) को हिलनेवाले काय से विज्ञापित करनेवाली आकृति 'कायविज्ञप्ति' है[5]।

जैसे – किसी एक शिष्य को 'आने के लिये' हाथ के सङ्केत से बुलाते समय 'वह यहाँ आये' – ऐसा चित्त सर्वप्रथम उत्पन्न होता है। जब चित्त उत्पन्न होता है तब

---

१. प० दी०, पृ० २४०; विभा०, पृ० १५१।

२. ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३१२; अट्ठ०, पृ० २६२।

३. अट्ठ०, पृ० २६१।

४. ध० स० मू० टी०, पृ० ७२-७३।

५. विसु०, पृ० ३१२; अट्ठ०, पृ० ६८, २६०; "चोपनकायभावतो कायो च सो अधिप्पायविञ्ञापनतो विञ्ञत्ति चा ति कायविञ्ञत्ति।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ८८।

अनेक चित्तज रूपकलाप स्कन्ध में उत्पन्न होते हैं। हिलने वाले हाथ में उत्पन्न चित्तज-कलापों में वायु अन्य महाभूतों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होती है। वह वायुधातु प्राकृत काल की तरह नहीं, अपितु एक विशेष प्रकार के आकारवाली होती है। उस वायुधातु की यह विशेष आकृति (गति) ही यहाँ 'विज्ञप्ति' है। एक पलक-काल में लाखों करोड़ों चित्त उत्पन्न हो सकने से उन चित्तों में विज्ञप्ति को उत्पन्न कर सकनेवाले चित्त भी अनेक उत्पन्न होते हैं। उन चित्तों के प्रत्येक उत्पादक्षण में एक विशेष आकृति के साथ वायुधातु के आधिक्यवाले चित्तजकलाप पुनः पुनः होते रहते हैं। अतः हाथ निश्चल न रहकर हिलता डुलता रहता है। इस प्रकार का हिलना डुलना वायु द्वारा वृक्षों के हिलने डुलने की तरह अनियमित नहीं है; अपितु चित्त के छन्द के अनुसार हिलने डुलने के लिये वायुधातु एवं विज्ञप्तियाँ उत्पन्न होती हैं, अतः जिस प्रकार नाव के पीछे बैठकर उसे चलानेवाला व्यक्ति नाव को गन्तव्य स्थल पर पहुँचने के लिये सन्तुलित करके चलाता है उसी तरह वायुधातु एवं विज्ञप्ति भी सहजात रूपधर्मों का चित्त के छन्दानुसार हिलना डुलना सन्तुलित करती हैं।

इस प्रकार हाथ हिलाकर दिखलाते समय शिष्य द्वारा 'गुरुदेव मेरा आगमन चाहते हैं'—ऐसा गुरु का भीतरी छन्द (भाव) जान लिया जाता है। इस तरह जानने में 'चित्त, चित्तजरूप, हिलना डुलना एवं विशेष आकृति'—संक्षेपतः ये चार चीजें प्रधान होती हैं। इनमें से केवल चित्त, चित्तजरूप या हिलने डुलनेमात्र से बुलानेवाले की भीतरी इच्छा नहीं जानी जा सकती। यदि जानी जा सकती तो केवल चित्तमात्र उत्पन्न होते समय या निश्चल चित्तज रूपों के उत्पन्न होते समय या सुषुप्तिकाल में हाथ पैर के हिलते डुलते समय भीतरी इच्छा का ज्ञान हो जाना चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं होता। वस्तुतः विशेष आकृतिमात्र से ही बुलानेवाले की इच्छा जानी जा सकती है; क्योंकि हिलनेवाले हाथ के अवयवभूत चित्तजकलापों में वायुधातु उत्पन्न होती है। उस वायुधातु की विशेष आकृति से ही भीतरी भाव जाना जा सकता है। उस विशेष प्रकार की आकृति (गति) को ही यहाँ 'विज्ञप्ति' कहा गया है[1]।

['अट्ठसालिनी' में इस प्रसङ्ग में शकट की उपमा दी गयी है, उसे वहीं देखना चाहिये[2]।]

वाग्विज्ञप्ति—'वचिया विञ्ञत्ति वचीविञ्ञत्ति' सत्त्व के भीतरी भाव को उच्चरित वाक् से विज्ञापित करनेवाली विशेष आकृति ही 'वाग्विज्ञप्ति' है[3]। इस विशेष आकृति को 'विकाररूप' कहते हैं।

जैसे—किसी एक शिष्य को आने के लिये पुकारते समय 'वह यहाँ आये'—ऐसा चित्त सर्वप्रथम उत्पन्न होता है, तदनन्तर उसको पुकारने के लिये शब्दों का विचार होता है।

---

१. द्र०—विभा०, पृ० १५१-१५२; प० दी०, पृ० २४०-२४१।

२. अट्ठ०, पृ० ६८।

३. विसु०, पृ० ३१२; "चोपनवाचाभावतो अधिप्पायविञ्ञापनतो च वची च सा विञ्ञत्ति चाति वचीविञ्ञत्ति।"—विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ८८; अट्ठ०, पृ० ७१, २६१।

इन चीजों को पूर्वाभिसंस्कार कहते हैं। इसका शब्द की उत्पत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर 'आ' इस शब्द को कहनेवाली मनोद्वारिकवीथि के उत्पन्न होने पर प्रथम जवन से उत्पन्न चित्तजकलाप में अन्य भूतों की अपेक्षा पृथ्वीधातु की शक्ति अधिक होती है। वह पृथ्वीधातु भी प्राकृत काल की पृथ्वीधातु की भाँति नहीं होती; अपितु उसमें एक विशेष प्रकार की आकृति होती है। पृथ्वीधातु की उस विशेष आकृति को ही 'वाग्विज्ञप्ति' कहते हैं। (शब्द के उत्पत्तिस्थान कण्ठ-आदि में कर्मज, ऋतुज एवं आहारज कलापों के सर्वदा उत्पन्न होते रहने को भी जानना चाहिये।) कण्ठ-आदि स्थानों में उस विशेष आकृतियुक्त चित्तज पृथ्वीधातु से कण्ठस्थित कर्मज, ऋतुज एवं आहारज पृथ्वीधातु का सङ्घट्टन होता है। उस सङ्घट्टन से शब्द की उत्पत्ति होती है। किन्तु वह शब्द दूसरों द्वारा सुनने जितना स्पष्ट नहीं होता। उसी तरह द्वितीय जवन, तृतीय जवन-आदि तथा द्वितीय मनोद्वारवीथि एवं तृतीय मनोद्वारवीथि-आदि से उत्पन्न चित्तज पृथ्वीधातु से पूर्वोक्त त्रिज (कर्म, ऋतु, एवं आहार से उत्पन्न) पृथ्वीधातुओं का सङ्घट्टन होने पर (व्याकरणशास्त्र के ह्रस्व, दीर्घ अक्षरों के नियम के अनुसार) एक चुटकी बजाने जितने काल में 'अ' इस प्रकार का अस्पष्ट शब्द उत्पन्न होता है। दो चुटकी बजाने जितने काल में 'आ' इस प्रकार का स्पष्ट शब्द उत्पन्न होता है। तीन चुटकी बजाने जितने काल में सम्बोधन समर्थ प्लुत 'आ३' शब्द उत्पन्न होता है। इस तरह पृथ्वीधातुओं का परस्पर सङ्घट्टन होते समय वह सङ्घट्टन अनियमित न होकर विज्ञप्ति की वजह से चित्त के भाव के अनुसार होता है।

उपर्युक्त क्रम से 'आ३' – यह शब्द उत्पन्न होने पर शिष्य द्वारा 'गुरुदेव मेरा आगमन चाहते हैं' – ऐसा गुरु का भीतरी भाव जाना जाता है। यद्यपि शब्द पृथ्वीधातुओं के सङ्घट्टन से उत्पन्न होता है, तथापि इच्छानुसार शब्द का होना विज्ञप्ति के कारण ही होता है। अतएव 'अधिप्पायं विञ्ञापेति' – ऐसा कहा गया है। अर्थात् विज्ञप्ति चित्त के अभिप्राय का प्रकाशन करती है[1]। तथा वह 'विञ्ञायतीति विञ्ञत्ति' के अनुसार मनोद्वारवीथि से जानी जाती है – इसे भी जानना चाहिये।

लक्षणादि –

"विञ्ञत्तियो अधिप्पायप्पकासनरसा चल-
घोसहेतु-उपट्ठाना　चित्तजभूपदट्ठाना[2]॥"

अभिप्राय का प्रकाशन ही विज्ञप्तियों का कृत्य है। ये विज्ञप्तियाँ चलन एवं शब्द की हेतु हैं – ऐसा योगी के ज्ञान में प्रतिभासित होता है। चित्तज महाभूत इनके आसन्न कारण हैं।

---

१. विभा०, पृ० १५२-१५३; प० दी०, पृ० २४१-२४५।

२. ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३१२; अट्ठ०, पृ० २६०-२६१।

विकाररूपं

१४. रूपस्स लहुता, मुदुता*, कम्मञ्ञता*, विञ्ञत्तिद्वयं† विकाररूपं नाम ।

रूप की लघुता, मृदुता, कर्मण्यता एवं विज्ञप्तिद्वय – ये विकाररूप हैं ।

विकाररूप

१४. ये विकाररूप पृथक् परमार्थ स्वभाव से प्राप्त रूप नहीं हैं, अपितु निष्पन्न रूपों की प्रकृति (स्वभाव) से उत्पन्न विशेष आकार हैं[1]।

लहुता – 'लहुनो भावो लहुता' लघु निष्पन्न रूपों के भाव अर्थात् विशेष आकृति को ही 'लघुता' कहते हैं। ऋतु, चित्त, एवं आहार नामक तीन कारणों से उत्पन्न त्रिज निष्पन्न रूपों का लघु होना उनकी प्रकृत्यवस्था से भिन्न एक विशेष आकार ही होता है। यह विशेष आकार ही 'लघुता' रूप है।

मुदुता – 'मुदुनो भावो मुदुता' मृदु त्रिज निष्पन्न रूपों के भाव अर्थात् विशेष आकार को ही 'मृदुता' कहते हैं। त्रिज निष्पन्न रूपों का मृदु होना उनकी प्रकृत्यवस्था से भिन्न एक विशेष आकार होता है। यह विशेष आकार ही 'मृदुता' है।

कम्मञ्ञता – 'कम्मञ्ञस्स भावो कम्मञ्ञता' कर्म में कुशल (उपयुक्त) त्रिज निष्पन्न रूपों के भाव अर्थात् विशेष आकार को 'कर्मण्यता' कहते हैं। त्रिज निष्पन्न रूपों का कर्मण्य होना उनकी प्रकृत्यवस्था से भिन्न एक विशेष आकार है। यह विशेष आकार ही 'कर्मण्यता' नामक रूप है[2]।

लघुता-आदि रूपत्रय सत्त्वसन्तान में ही उपलब्ध हो सकते हैं। 'लहुतादित्तयं उतुचितआहारेहि सम्भोति'[3] इस वचन के अनुसार जब चित्त ग्लान होता है या ऋतु आहार आदि विषम हो जाते हैं तब स्कन्ध-सन्तति के चार महाभूतों में भी विकार उत्पन्न हो जाते हैं तथा शरीर में श्लैष्मिक, वायवीय एवं पित्तज व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसी अवस्था में लघुता-आदि रूपत्रय भी उत्पन्न नहीं होते।

आबन्धनस्वभाव अप्-धातु के विषम अर्थात् न्यून या अधिक होने पर निष्पन्न रूपों में शैथिल्य आ जाता है, अतः ऐसी अवस्था में स्कन्धसन्तति में लघुता नहीं हो सकती। खरस्वभाव पृथ्वीधातु जब विषम होती है तब निष्पन्न रूपों में भी इस (खर) स्वभाव की अधिकता हो जाती है – ऐसी अवस्था में निष्पन्न रूपों में भी मृदुता का उत्पाद नहीं हो पाता। विष्टम्भनस्वभाव वायुधातु में जब विषमता हो जाती है तब निष्पन्न रूपों में भी विष्टम्भनाधिक्य उत्पन्न हो जाने से उनमें कर्मण्यता नहीं हो पाती। (तेजोधातु तो रूप को उत्पन्न करनेवाली ऋतु होने के कारण सम्पूर्ण विकारों में यथा-

---

-. रूपस्स मुदुता रूपस्स कम्मञ्ञता – स्या०। †. ० च – स्या०।

1. प० दी०, पृ० २४५; विभा०, पृ० १५३।
2. प० दी०, पृ० २४५; विभा०, पृ० १५३।
3. द्र० – अभि० स० ६ : ४१।

लक्खणरूपं

१५. रूपस्स उपचयो, सन्तति*, जरता, अनिच्चता* लक्खणरूपं नाम।

रूप का उपचय, सन्तति, जरता एवं अनित्यता लक्षणरूप है।

योग्य होती है।) जब चित्त प्रसन्न होता है तथा ऋतु एवं आहार-आदि सम होते हैं तब चित्त, ऋतु, एवं आहार से उत्पन्न महाभूत भी सम होते हैं। अतः श्लेष्मा, वायु एवं पित्त के भी सम होने से त्रिज निष्पन्न रूपों में लघुता, मृदुता एवं कर्मण्यता उत्पन्न होती हैं। ये जब उत्पन्न होती हैं तब तीनों एक साथ ही उत्पन्न होती हैं, पृथक् पृथक् नहीं; किन्तु इनका विशेष विशेष आकार देखकर ही इनकी पृथक् पृथक् गणना की गयी है[1]।

लक्षणादि –

"लहुता लहुलक्खणा गरुभावविनोदना।
लहुपरिवत्तुपट्ठाना लहुरूपपदट्ठाना[2]॥"

लघुता लघुलक्षणवाली है। अप्-धातु में विकार होने से उत्पन्न गुरुता का अपनोदन (हटाना) इसका कृत्य है। यह लघुपरिवर्त्ती के रूप में योगी के ज्ञान में प्रतिभासित होती है। लघु निष्पन्नरूप इसके आसन्न कारण हैं।

"मुदुता मुदुलक्खणा थद्धभावविनोदना।
अविरोधितुपट्ठाना मुदुरूपपदट्ठाना[3]॥"

मृदुता मृदुलक्षणवाली है। पृथ्वीधातु के विकार से उत्पन्न कठोरता का अपनोदन इसका कृत्य है। यह कायकृत्य में अविरोधी रूप में योगी के ज्ञान में प्रतिभासित होती है। [जिस प्रकार मृदुस्वभाववाले व्यक्ति का लोक में भी किसी से विरोध नहीं होता इसी तरह मृदुता रूप भी सभी कायकृत्यों का विरोधी नहीं होता।] मृदु निष्पन्नरूप इसके आसन्न कारण हैं।

"कम्मञ्ञता तंलक्खणा अकम्मञ्ञविनोदना।
अदुब्बलतुपट्ठाना कम्मञ्ञरूपपदट्ठाना[4]॥"

कर्मण्यता उन उन कृत्यों में कर्मण्यतालक्षणवाली है। वायुधातु के विकार के कारण उत्पन्न अकर्मण्यता का अपनोदन इसका कृत्य है। 'यह अदौर्बल्यस्वभाव है'—ऐसा योगी के ज्ञान में प्रतिभासित होता है। कायकर्म में कर्मण्य निष्पन्नरूप इसके आसन्न कारण हैं।

लक्षणरूप

१५. सम्बद्ध कारणों द्वारा अभिसंस्कार करने पर उत्पाद होता है, उत्पाद होने पर जरता होती है, जरता होने पर भङ्ग होता है—इस प्रकार उत्पाद, जरता एवं

-. रूपस्स सन्तति, रूपस्स जरता, रूपस्स अनिच्चता—स्या०।

१. प० दी०, पृ० २४५-२४६।

२. ब० भा० टी०। तु०—विसु०, पृ० ३१२-३१३; अट्ठ०, पृ० २६२।

३. ब० भा० टी०। तु०—विसु०, पृ० ३१२-३१३; अट्ठ०, पृ० २६२।

४. ब० भा० टी०। तु०—विसु०, पृ० ३१२-३१३; अट्ठ०, पृ० २६२।

अनित्यता (भङ्ग) देखकर "यह रूपधर्म अपने कारणों से अभिसंस्कृत 'संस्कृत' धर्म है" – ऐसा लक्षण किया जाता है, अतः इन उपचय-आदि को 'लक्षणरूप' कहते हैं[1]। नाम-धर्मों को लक्षित करनेवाले जाति, जरा एवं अनित्यता को 'लक्षणनाम' कहते हैं। ये लक्षणरूप एकान्त रूप से परमार्थ-धर्म नहीं हैं; अपितु निष्पन्न रूपों की उत्पाद, जरता एवं अनित्यता नामक अवस्थाओं को द्योतित करनेवाले प्रज्ञप्त धर्म हैं। यहाँ उपचय एवं सन्तति को 'उत्पाद', जरता को 'स्थिति' तथा अनित्यता को 'भङ्ग' कहते हैं।

उपचय – यहाँ 'उप' शब्द 'आदि' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैसे – 'दानं भिक्खवे! पण्डितुपञ्ञत्तं' इत्यादि वचनों में 'उप' शब्द 'आदि' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रति-सन्धिक्षण में गर्भशयक (गब्भसेय्यक) सत्त्वों के कायदशक, भावदशक एवं वस्तुदशक के सर्वप्रथम उत्पाद तथा संस्वेदज एवं औपपादुक सत्त्वों के चक्षुष्, श्रोत्र-आदि ७ दशकों के सर्वप्रथम उत्पाद को 'उपचय' कहते हैं। अपि च – 'उप' शब्द 'उपरि' अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। जैसे – 'समट्ठे उपसित्ते च ते निसीदिंसु मण्डपे' इत्यादि में 'उप' शब्द 'उपरि' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। किसी एक भव में प्राप्य रूप जबतक परिपूर्ण नहीं होते तबतक उनके ऊपर ऊपर बढ़ते हुए उत्पाद को 'उपचय' कहते हैं। गर्भशयक (गब्भसेय्यक) सत्त्वों में ग्यारहवें सप्ताह में ('विभावनी' के अनुसार सातवें सप्ताह में) चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण एवं जिह्वा दशक उत्पन्न होते हैं और उस समय एक भव के लिये रूपों का उत्पाद परिपूर्ण होता है। अतः चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण एवं जिह्वा दशकों के उत्पाद पर्यन्त उत्पन्न होनेवाले सभी रूपों के उत्पाद को 'उपचय' कहते हैं[2]।

सन्तति – 'सम्बन्धा तति सन्तति' सम्बद्ध वृद्धि को 'सन्तति' कहते हैं[3]। एक भव में प्राप्त होने योग्य रूपों के परिपूर्ण होने के बाद उनके पुनः उपबृंहित होने को 'सन्तति'

---

१. "'लक्खणरूपं' नाम धम्मानं तंतंअवत्थावसेन लक्खणहेतुत्ता।" – विभा०, पृ० १५३।

"लक्खीयन्ति सल्लक्खीयन्ति विनिच्छीयन्ति धम्मा 'इमे सङ्खता' ति एतेना ति लक्खणं। सङ्खतभावजननिमित्तं ति अत्थो।" – प० दी०, पृ० २४७।

२. "चयनं चयो, पिण्डवसेन अभिनिब्बत्तीति अत्थो। आदितो उपरितो च चयो उपचयो, पठमाभिनिब्बत्ति उपरूपरि वड्ढि चाति अत्थो। अयं हि 'उप' सद्दो 'उपञ्ञातं' ति आदीसु विय पठमत्थो, 'उपसित्तं' ति आदीसु विय च उपरिअत्थो ति।" – प० दी०, पृ० २४६; विसु०, पृ० ३१३; अट्ठ०, पृ० २६३; विभा०, पृ० १५३; "पठमं उपरि च चयो पवत्ति उपचयो।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ८८।

"आदितो चयो 'आचयो', पठमुप्पत्ति। उपरि चयो उपचयो...पालियं पन 'उप' सद्दो पठमत्थो, उपरि-अत्थो च होतीति 'आदिचयो उपचयो, उपरिचयो सन्ततीति अयं अत्थो विञ्ञायतीति।" – ध० स० मू० टी०, पृ० १५२।

३. "तननं वित्थारणं तति, सम्बन्धा तति पुनप्पुनं वा तति सन्तति।" – प० दी०, पृ० २४६; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ८८।

१६. जातिरूपमेव पनेत्थ उपचयसन्ततिनामेन पवुच्चतीति ।

जातिरूप ही यहाँ 'उपचय एवं सन्तति' नाम से कहा गया है ।

कहते हैं। अतः गब्भसेयक (गब्भसेय्यक) सत्त्वों की सन्तान में चक्षुर्दशक-आदि दशकों का सर्वप्रथम उत्पाद होने के अनन्तर मरणपर्यन्त रूपकलापों के पुनः पुनः उत्पाद को ही 'सन्तति' कहते हैं। संस्वेदज एवं औपपादुक सत्त्वों की सन्तान में प्रतिसन्धिक्षण में ही सम्पूर्ण रूपों का उत्पाद परिपूर्ण हो जाता है, अतः प्रतिसन्धि के उत्पादक्षण के अनन्तर पुनः सभी उत्पादों को 'सन्तति' कहते हैं। नदी के किनारे कुआँ खोदते समय सर्वप्रथम जल का निकलना – 'आदि' अर्थवाले 'उपचय' की तरह होता है। पूरा कुआँ भरने के लिये जल का ऊपर ऊपर बढ़ना 'उपरि' अर्थवाले 'उपचय' की तरह होता है। तथा जल का बढ़कर ऊपर से बहने लगना 'सन्तति' की तरह है – इस प्रकार अट्ठकथाओं में उपमा दी गयी है[१]।

यह उपचय एवं सन्तति स्कन्ध के बाहर वृक्ष, पर्वत-आदि बाह्य रूपों में भी प्राप्त होती हैं – ऐसा लोग मानते हैं। एक वृक्ष के सर्वप्रथम उत्पाद एवं यथायोग्य बढ़ते हुये पुष्ट होने को 'उपचय' तथा वृद्धि का वेग समाप्त होने पर यथायोग्य अपने स्वभाव में स्थित होने को 'सन्तति' कहते हैं – इस प्रकार जानना चाहिये[२]।

जरता एवं अनित्यता – 'जरानं भावो जरता' जीर्ण निष्पन्न रूपों के भाव को 'जरता' कहते हैं[३]। अर्थात् निष्पन्न रूपों के उत्पाद के अनन्तर निरुद्ध होने से पहले ४९ क्षुद्र क्षणमात्र स्थितिकाल को जीर्ण स्वभाव होने से 'जरता' कहते हैं। [यह अति-सूक्ष्म काल है। निष्पन्न रूपों के उत्पाद के अनन्तर जब तक उनका भङ्ग (निरोध) नहीं होता, इस बीच के काल अर्थात् स्थिति को 'जरता' कहते हैं। रूप का एक क्षण चित्तवीथि के १७ क्षण के बराबर होता है। इन १७ क्षणों में भी क्षुद्रक्षण ५१ होते हैं, क्योंकि प्रत्येक क्षण में उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग नामक तीन क्षुद्रक्षण होते हैं। इन ५१ क्षुद्रक्षणों के बराबर रूप का एक क्षण होता है। इन ५१ क्षुद्र क्षणों में से सर्वप्रथम उत्पादक्षण को एवं सबसे अन्तिम भङ्गक्षण को निकाल देने पर चित्त के ४९ क्षुद्रक्षण के बराबर रूप की जरता का काल होता है।]

'अनिच्चानं भावो अनिच्चता' अनित्य निष्पन्न रूपों का भाव 'अनित्यता' है[४]। अर्थात् ४९ क्षुद्रक्षण स्थितिकाल पूर्ण होने के अनन्तर 'निरोध' नामक भङ्गक्षण को 'अनित्यता' कहते हैं। 'सब्बे सङ्खारा अनिच्चा' के अनुसार सब नामरूपात्मक संस्कार-धर्म अनित्य हैं। इन अनित्य नाम-रूप संस्कार-धर्मों के अनित्य (निरोध) स्वभाव को 'अनित्यता' कहते हैं[५]।

१६. अन्य पालियों में सभी उत्पाद को सामान्य रूप से 'जाति' कहा गया है। 'धम्मसङ्गणि' पालि में एक भव में 'सर्वप्रथम उत्पन्न होना, सम्परिपूर्ण होने तक बढ़ते हुए

---

१. द्र० – विसु०, पृ० ३१३; अट्ठ०, पृ० २६३।

२. प० दी०, पृ० २४६।

३. अट्ठ०, पृ० २६३; विसु०, पृ० ३१३।

४. अट्ठ०, पृ० २६४।

५. विभा०, पृ० १५३। द्र० – प० दी०, पृ० २४७; विसु०, पृ० ३१३।

१७. एकादसविधम्पेतं* रूपं अट्ठवीसतिविधं होति सरूपवसेन ।

१८. कथं ?

भूतप्पसादविसया भावो हदयमिच्चपि ।
जीविताहाररूपेहि अट्ठारसविधं तथा ।।
परिच्छेदो च विञ्ञत्ति विकारो लक्खणं ति च ।
अनिप्फन्ना दसा† चेति अट्ठवीसविधं‡ भवे ।।

अयमेत्थ रूपसमुद्देसो ।

एकादश प्रकार का भी यह रूप स्वरूपवश २८ प्रकार का होता है ।
कैसे ? (ग्यारह प्रकार का रूप २८ प्रकार का होता है ?)

उत्पन्न होना, परिपूर्ण होने के अनन्तर पुनः पुनः उत्पन्न होना' – इस प्रकार उत्पन्न होने के भिन्न भिन्न आकारों की अपेक्षा करके 'उप' शब्द के 'आदि' एवं 'उपरि' – अर्थ में प्रयुक्त होने से पूर्ववर्ती दो प्रकार की उत्पत्ति का 'उपचय' एवं अन्तिम प्रकार की उत्पत्ति का 'सन्तति' – यह नामकरण किया गया है । इस प्रकार उत्पत्ति के आकारों का भेद होने से तथा पुद्गलाध्याशय से एक जातिरूप को ही उपचय एवं सन्तति – इन दो नामों से कहा गया है[1] ।

सूत्रान्त नय से जाति-जरामरण – सुत्तपिटक के अनुसार माता के गर्भ में स्थिति को 'जाति' (प्रतिसन्धि लेना) कहा गया है । उत्पन्न भव से च्युत होने को 'मरण' कहा गया है । तथा मातृगर्भ से बाहर होने से लेकर मरणपर्यन्त काल को 'जरा' कहा गया है । किन्तु जाति, जरा, मरण का यह व्यवहार परमार्थ नहीं है; अपितु प्रज्ञप्तिमात्र है । अतः इन्हें सांवृत्तिक (सम्मुति) जाति, जरा, मरण कहते हैं । इनमें से जबतक दाँतों का टूटना, बालों का पकना, चमड़ी का झूल जाना – आदि जरा के स्पष्ट लक्षण प्रकट नहीं होते, इससे पहल की अवस्था को 'पटिच्छन्नजरा' तथा जब ये लक्षण स्पष्ट प्रकट होते हैं तो इसको 'प्रकटजरा' कहते हैं । नाम धर्मों की जरा भी स्पष्ट लक्षणयुक्त नहीं होती, अतः यह भी 'पटिच्छन्नजरा' है । पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, पर्वत-आदि में भी जरा होती है, उस जरा को दुर्ज्ञेय होने के कारण जानने के लिये बीच में अवकाश न होने से 'अवीचि-जरा' कहते हैं । यह भी 'पटिच्छन्नजरा' की ही तरह है[2] ।

१७-१८. १. भूतरूप अर्थात् महाभूत (४), २. प्रसादरूप (५), ३. विषयरूप (४) (यद्यपि विषयरूप ७ कहे गये हैं, तथापि इनमें से यहाँ ४ का ही ग्रहण

---

*. ० चेतं – स्या० ; ०एतं – रो० । †. दस – सी०, स्या०, रो०, ना०, म० (ख) ।

‡. अट्ठवीसतिविधं – म० (ख) ।

१. "जातिरूपमेवा ति पटिसन्धितो पट्ठाय रूपानं खणे खणे उप्पत्तिभावतो जाति-सङ्खातं रूपुप्पत्तिभावेन चतुसन्ततिरूपप्पटिबद्धवुत्तिता रूपसम्मतं च जाति-रूपमेव उपचयसन्ततिभावेन पवुच्चति । पठमुपरिनिब्बत्तसङ्खातपवत्तिआकार-भेदतो विनेय्यवसेन उपचयो सन्ततीति विभजित्वा वुत्तत्ता ।" – विभा०, पृ० १५३ ।

२. अट्ठ०, पृ० २६४; विसु०, पृ० ३१३ ।

भूतरूप (४), प्रसादरूप (५), विषयरूप (४), भावरूप (२), हृदय-रूप (१), जीवितरूप (१) तथा आहाररूप (१) – इस तरह १८ प्रकार के निष्पन्न रूप होते हैं।

तथा परिच्छेदरूप (१), विज्ञप्तिरूप (२), विकाररूप (३), लक्षण रूप (४) – इस तरह १० प्रकार के अनिष्पन्न रूप होते हैं। कुल मिलाकर रूपों के २८ प्रकार होते हैं।

इस रूपपरिच्छेद में यह रूपसमुद्देश है।

होता है; क्योंकि ३ महाभूतों को 'स्प्रष्टव्य' कहते हैं। अतः इनकी पृथक् गणना नहीं होती।) ४. भावरूप (२), ५. हृदयरूप (१), ६. जीवितरूप (१) तथा ७. आहाररूप (१) – इस प्रकार इन १८ रूपों को 'निष्पन्नरूप' कहते हैं। ८. परिच्छेदरूप (१), ९. विज्ञप्तिरूप (२), १०. विकाररूप (३) (यद्यपि विकाररूप ५ होते हैं तथापि यहाँ उनमें से केवल ३ का ही ग्रहण होता है; क्योंकि २ विज्ञप्तिरूपों का ग्रहण पहले विज्ञप्तिरूप में किया जा चुका है।) ११. लक्षणरूप (४) – इस प्रकार इन १० रूपों को 'अनिष्पन्नरूप' कहते हैं। सप्तविध १८ निष्पन्नरूप तथा चतुर्विध १० अनिष्पन्नरूप – इस प्रकार कुल एकादशविध रूप स्वरूपवश २८ प्रकार के होते हैं।

रूपधर्म

एकादश प्रकार	स्वरूपवश २८ प्रकार	
१. भूतरूप	४	निष्पन्नरूप १८
२. प्रसादरूप	५	
३. विषयरूप	४	
४. भावरूप	२	
५. हृदयरूप	१	
६. जीवितरूप	१	
७. आहाररूप	१	
८. परिच्छेदरूप	१	अनिष्पन्नरूप १०
९. विज्ञप्तिरूप	२	
१०. विकाररूप	३	
११. लक्षणरूप	४	

रूपसमुद्देश समाप्त।

रूपविभागो

१९. सब्बं च पनेतं रूपं अहेतुकं, सप्पच्चयं, सासवं, सङ्खतं, लोकियं, कामावचरं, अनारमणं, अप्पहातब्बमेवा* ति एकविधम्पि अज्झत्तिकबाहिरादिवसेन† बहुधा भेदं गच्छति‡।

यह सम्पूर्ण रूप अहेतुक, सप्रत्यय, सास्रव, संस्कृत, लौकिक, कामावचर, अनालम्बन एवं अप्रहातव्य ही है। इस तरह एक प्रकार का होने पर भी यह (रूप) आध्यात्मिक बाह्य-आदि भेद से बहुत प्रकार से भिन्न होता है[1]। (यहाँ 'एव' शब्द की प्रत्येक के साथ योजना करनी चाहिये।)

रूपविभाग

१९. अहेतुकं – मूल (जड़) के सदृश होने से लोभ-आदि धर्म एवं अलोभ-आदि धर्म (हेतु) कहे गये हैं। इन रूप-धर्मों में कोई सम्प्रयुक्त हेतु नहीं होता, अतः ये (रूपधर्म) 'अहेतुक' कहलाते हैं। इसीलिये 'महाटीका' में कहा गया है –

"मूलट्ठेन लोभादिको अलोभादिको च...नास्स हेतु अत्थीति अहेतुकं[2]।"

'विभावनी' में भी "सम्पयुत्तस्स अलोभादि-हेतुना अभावा[3]" कहा गया है। अर्थात् अलोभ-आदि अव्याकृत हेतुओं से सम्प्रयुक्त न होने से ये रूप-धर्म 'अहेतुक' कहलाते हैं। विभावनीकार को लोभ-आदि अकुशल हेतुओं से सम्प्रयोग का कोई सन्देह नहीं है, अतः उन्होंने लोभ-आदि को विशेषण नहीं बनाया; किन्तु महाटीकाकार को अकुशल चित्तों से उत्पन्न रूपधर्म अकुशल हेतुओं से सम्प्रयुक्त होते हैं कि नहीं? – इस प्रकार का सन्देह हो जाने से उन्होंने लोभ-आदि अकुशल हेतुओं से भी रूपधर्म सम्प्रयुक्त नहीं होते – ऐसी व्याख्या की है।

सप्पच्चयं – 'सह पच्चयेन यं वत्ततीति सप्पच्चयं' अर्थात् 'रूपसमुट्ठान' प्रकरण में कहे जानेवाले कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार – इनमें से किसी एक प्रत्यय (कारण) के 'सह' (साथ) अवश्य उत्पन्न होने के कारण इन सभी रूपों को 'सप्रत्यय' कहते हैं[4]।

---

*. अपहातब्बमेवा – रो०। †. ०बाहिया० – म० (क) सर्वत्र।

‡. गच्छतीति – स्या०।

१. तु० – ध० स०, पृ० १४७; विसु०, पृ० ३१४; अट्ठ०, पृ० ४०-४२।

२. विसु महा०, द्वि० भा०, पृ० १०६।

३. विभा०, पृ० १५४।

४. "यथासकं पच्चयवन्तताय सप्पच्चयं।" – विभा०, पृ० १५४।

"अत्तनो जनकेन पच्चयेन सहेव वत्ततीति सप्पच्चयं।" – प० दी०, पृ० २४८।

द्र० – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १०६।

सासवं – 'सह आसवेन यं वत्ततीति सासवं' जो आस्रवधर्मों के साथ होते हैं वे 'सास्रव' कहलाते हैं। लोभ, दृष्टि एवं मोह – आस्रवधर्म कहलाते हैं। ये लोभ-आदि लौकिक नाम एवं रूप – सभी धर्मों का आलम्बन करते हैं। अपने आलम्बनक आस्रव धर्मों के साथ उत्पन्न होने से सभी रूपों को 'सास्रव' कहते हैं। यहाँ 'सह' शब्द सहोत्पन्न या सम्प्रयुक्त के अर्थ में नहीं है; अपितु आलम्बन-आलम्बनक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[१]।

सङ्खतं – 'पच्चयेहि सङ्खरीयतीति सङ्खतं' अर्थात् कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार नामक प्रत्ययों में से स्वसम्बद्ध कारण द्वारा अभिसंस्कृत किये गये होने से सभी रूप 'संस्कृत' कहलाते हैं[२]।

लोकियं – 'लोके नियुत्तं लोकियं' 'सङ्खार' (संस्कार) लोक में नियुक्त धर्मों को 'लोकिय' (लौकिक) कहते हैं। अर्थात् लोकोत्तर चित्त की व्याख्या[३] में कहे गये तीन लोकों में ये रूपधर्म संस्कारलोक में सङ्गृहीत होते हैं। अतः इन्हें 'लोकिय' कहते हैं[४]।

कामावचरं – "कामतण्हाय अवचरितत्ता कामावचरं[५]" यहाँ 'काम' शब्द से कामतृष्णा का ग्रहण करना चाहिये। वह कामतृष्णा रूपधर्मों का आलम्बन करके उन्हें गोचर बनाती है, अतः सभी रूप 'कामावचर' कहे जाते हैं[६]।

अनारम्मणं – 'नत्थि आरमणं यस्सा ति अनारमणं' अर्थात् रूपधर्म नाम-धर्मों की तरह किसी आलम्बन का ग्रहण नहीं करते, अतः रूपधर्मों के आलम्बन न होने से वे सभी रूप 'अनालम्बन' कहे जाते हैं[७]।

अप्पहातब्बं – 'न पहातब्बं अप्पहातब्बं' जो प्रहाण के योग्य नहीं है वे 'अप्रहातव्य' कहे जाते हैं। अकुशलधर्मों की तरह रूप प्रहेय नहीं होते, अतः रूप अप्रहातव्य हैं। अकुशल धर्म प्रहेय होते हैं; क्योंकि इनका अनिष्ट फल होता है। रूपधर्म ऐसे नहीं हैं, अतः तदङ्गप्रहाण शक्तिवाले कामकुशल, विष्कम्भन शक्तिवाले महग्गतकुशल, समुच्छेदशक्तिवाले मार्गकुशलों द्वारा ये रूपधर्म प्रहातव्य नहीं होते[८]।

---

१. "अत्तानं आरब्भ पवत्तेहि कामासवादीहि सहितत्ता सासवं।" – विभा०, पृ० १५४; प० दी०, पृ० २४९। द्र० – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १०६।

२. "पच्चयेहि अभिसङ्खतत्ता सङ्खतं।" – विभा०, पृ० १५४; प० दी०, पृ० २४८; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १०६।

३. द्र० – अभि० स०, पृ० २३-२४।

४. "उपादानक्खन्धसङ्खाते लोके नियुत्तताय लोकियं।" – विभा०, पृ० १५४; प० दी०, पृ० २४८; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १०६।

५. विभा०, पृ० १५४।

६. "अकनिट्ठब्रह्मसन्तानभूतं पि रूपं कामतण्हाविसयभावेन कामे एव परियापन्नत्ता कामावचरं।" – प० दी०, पृ० २४९।

७. "अरूपधम्मानं विय कस्सचि आरम्मणस्स अग्गहणतो नास्स आरम्मणं ति अनारम्मणं।" – विभा०, पृ० १५४। "नत्थि अत्तना गहितं किञ्चि आरम्मणं नाम अस्सा ति अनारम्मणं।" – प० दी०, पृ० २४९।

८. "तदङ्गादिवसेन पहातब्बाभावतो अप्पहातब्बं।" – विभा०, पृ० १५४। द्र० – प० दी०, पृ० २४९।

अज्झत्तिकरूपं

२०. कथं ?

पसादसङ्खातं पञ्चविधम्पि अज्झत्तिकरूपं नाम। इतरं बाहिररूपं*।

कैसे ?

प्रसाद नामक पाँच प्रकार के रूप आध्यात्मिक रूप हैं। उनसे इतर (भिन्न) बाह्यरूप हैं।

प्रश्न – जब 'रूपधर्म अप्रहातव्य हैं' – यह सिद्ध हो गया तो "रूपं भिक्खवे! न तुम्हाकं, तं पजहथ[1]" अर्थात् भिक्षुओ! रूप तुम्हारा नहीं है, उसका प्रहाण करो। यहाँ भगवान् ने जो रूपों के प्रहाण का उपदेश किया है उससे विरोध होता है कि नहीं ?

उत्तर – यहाँ रूप का प्रहाण मुख्यार्थ या नीतार्थ नहीं है; अपितु रूप के प्रति जो राग है उसके प्रहाण से तात्पर्य है। स्थान्युपचार से या नेयार्थ को दृष्टि में रखकर ऐसा कहा गया है। इसीलिये "रूपे खो राध! यो छन्दो यो रागो या नन्दी या तण्हा तं पजहथ, एवं तं रूपं पहीनं भविस्सतीति[2]" इस प्रकार की नीतार्थदेशना की गयी है। यहाँ (अभिधम्मत्थसङ्गहो में) जो रूप को अप्रहातव्य कहा गया है वह भी नीतार्थ का निरूपण है। अर्थात् रूपधर्म मुख्यरूप से एकान्तेन अप्रहातव्य है, अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्हें 'अप्रहातव्य' कहा गया है। तथा "रूपं भिक्खवे! न तुम्हाकं, तं पजहथ" में रूप को नहीं; अपितु रूप में आसक्त छन्दराग को प्रहाण करने के लिये कहा गया है। अतः दोनों में अविरोध है[3]।

इति एकविधम्पि – यहाँ 'इति' शब्द 'प्रकार' अर्थ में है[4]। 'एकविधं' शब्द से यह निश्चित होता है कि रूप केवल अहेतुक ही होता है, सहेतुक कथमपि नहीं। उसी तरह रूप केवल सप्रत्यय सास्रव, संस्कृत, लौकिक, कामावचर, अनालम्बन अप्रहातव्य ही होता है। अप्रत्यय अनास्रव, असंस्कृत, अलौकिक, रूपावचर एवं अरूपावचर, सालम्बन तथा प्रहातव्य कथमपि नहीं होते।

आध्यात्मिक रूप

२०. 'अत्तानं अधिकिच्च पवत्ता अज्झत्तं', आत्मा को उद्दिष्ट या अधिकृत करके प्रवृत्त धर्म 'अज्झत्त' कहलाते हैं। अर्थात् "यदि हम स्कन्ध के भीतर होते हैं तो

---

*. ० नाम – स्या०।

१. सं० नि०, तृ० भा०, (खन्धवग्गो) पृ० २६७।

२. सं० नि०, तृ० भा०, (खन्धवग्गो) पृ० ४०६।

३. द्र० – प० दी०, पृ० २४१।

४. विभा०, पृ० १५४; प० दी०, पृ० २४१।

हमें 'आत्मा' – इस प्रकार उपादान किया जायेगा" – इस तरह आत्मा के रूप में अधिकृत करके (आत्मा के रूप में मिथ्या उपादान करके) व्यवहृत होनेवाले ये धर्म हैं । यद्यपि स्कन्ध में होनेवाले सभी चित्त, चैतसिक एवं रूप-धर्मों को 'अज्झत्त' कहा जाता है, किन्तु यहाँ 'अज्झत्ते भवं अज्झत्तिकं' के अनुसार आध्यात्मिक धर्मसमूह में होनेवाले पाँच प्रसादरूपों को ही 'अज्झत्तिकरूप' कहा गया है[1]।

चित्त-चैतसिकों के साथ अन्य रूप-धर्मों के भी अज्झत्त धर्मों में सम्मिलित होने से सभी रूपों को 'अज्झत्तिक' कहना चाहिये; किन्तु 'अज्झत्ते भवा' के अनुसार अध्यात्म-भवनस्वभाव केवल पाँच प्रसादरूपों में ही होने से रूढिवश प्रसादरूपों को ही 'अज्झत्तिक' कहा जाता है[2]। अतएव 'मूलटीका' में –

"अज्झत्ते भवा अज्झत्तिका ति नियकज्झत्तेसु पि अब्भन्तरा चक्खादयो वुच्चन्ति[3]।"
– ऐसा कहा गया है। अर्थात् स्कन्ध की अपेक्षा करके उत्पन्न अज्झत्त धर्मों में भी आभ्यन्तरिक चक्षुष्-आदि को ही 'अज्झत्ते भवा अज्झत्तिका' में 'अज्झत्तिक' कहा गया है।

अध्यात्मभवनस्वभाव – आध्यात्मिक धर्म अनेक होने पर भी चक्षुष्-आदि ही क्यों अध्यात्मभवनस्वभाव होते हैं ?

उत्तर – अनेक आध्यात्मिक धर्मों के होने पर भी यदि चक्षुष्-आदि नहीं होते हैं तो काष्ठ की तरह स्कन्ध किसी भी विषय को जान नहीं सकता और उसका कोई उपयोग नहीं होगा। चक्षुष्-आदि के कारण ही सभी विषयों का ज्ञान हो पाता है तथा स्कन्ध उपयोगी होता है। लोक में उपयोगी पुद्गल ही प्रतिष्ठित होता है। उसी तरह स्कन्ध में उपयोगी चक्षुष्-आदि ही 'अध्यात्मभवनस्वभाव' होते हैं। उपर्युक्त निरूपण के अनुसार चक्षुष्-आदि पाँच रूपों को ही आध्यात्मिक रूप कहने से उन्हें 'स्कन्ध के भीतर रहनेवाले हैं' – इतनामात्र नहीं समझना चाहिये; अपितु जिस प्रकार लोक में उपयोगी एवं विश्वसनीय व्यक्ति अन्तरङ्ग कहे जाते हैं उसी तरह स्कन्ध के अत्यन्त उपकारी होने से इन चक्षुष्-आदि प्रसादरूपों को 'अज्झत्तिक' कहा जाता है[4]।

बाह्यरूप – 'बहि जातं बाहियं' बाहर होनेवालों को 'बाह्यरूप' कहते हैं। इनमें सभी बाह्यरूप स्कन्ध से बाहर नहीं होते, अपितु जो स्कन्ध के उपकारक नहीं हैं वे ही 'बाह्यरूप' कहे जाते हैं। स्कन्ध के बाहरवाले तो बाह्यरूप हैं ही। पाँच प्रसादरूपों को छोड़कर अवशिष्ट २३ रूप बाह्यरूप हैं[5]।

---

१. विभा०, पृ० १५४; प० दी०, पृ० २४९; विसु०, पृ० ३१४; अट्ठ०, पृ० २७१; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १०६-१०७।
२. विभा०, पृ० १५४।
३. ध० स० मू० टी०, पृ० ४७-४८।
४. द्र० – विभा०, पृ० १५४; प० दी०, पृ० २५०।
५. विसु०, पृ० ३१४; अट्ठ०, पृ० २७१।

वत्थुरूपं

२१. पसाद-हदयसङ्खातं छब्बिधम्पि वत्थुरूपं नाम । इतरं अवत्थुरूपं* ।

प्रसाद एवं हृदय नामक छह प्रकार के रूप वस्तुरूप हैं । अन्य अवस्तु-रूप हैं ।

द्वाररूपं

२२. पसाद-विञ्ञत्तिसङ्खातं सत्तविधम्पि द्वाररूपं नाम† । इतरं अद्वाररूपं ।

प्रसाद (५) एवं विज्ञप्ति (२) नामक सात प्रकार के रूप द्वाररूप हैं । अन्य अद्वाररूप हैं ।

वस्तुरूप एवं अवस्तुरूप

२१. जो चित्त-चैतसिकों के आश्रय होते हैं वे 'वस्तुरूप', तथा जो आश्रय नहीं होते वे 'अवस्तुरूप' कहलाते हैं[1] । उपादायरूपों के आश्रय होनेवाले महाभूत वस्तुरूप नहीं हैं; क्योंकि कहा जा चुका है कि चित्त-चैतसिकों के आश्रय होनेवाले रूप ही वस्तुरूप हैं, अतः प्रसादरूप एवं हृदयरूप ही वस्तुरूप हैं । शेष रूप अवस्तुरूप हैं ।

द्वाररूप एवं अद्वाररूप

२२. यहाँ 'द्वार' शब्द प्रत्यय (कारण) अर्थ में प्रयुक्त है । चक्षुःप्रसाद चक्षुर्द्वार-वीथि का प्रत्यय होता है । यदि चक्षुष् न होगा तो चक्षुर्द्वारवीथि नहीं हो सकती । चक्षुःप्रसाद में जब रूपालम्बन प्रादुर्भूत होता है तभी चक्षुर्द्वारवीथि उत्पन्न हो सकती है । इसी तरह श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एवं काय प्रसाद के विषय में भी जानना चाहिये । इसीलिये प्रसाद-रूपों को 'उपपत्तिद्वार' कहते हैं; क्योंकि वे वीथिचित्तों की उत्पत्ति के कारण हैं । विज्ञप्तिद्वय कर्म की उत्पत्ति में कारण होने से (कर्मद्वार) कहे जाते हैं । इनमें कायकर्म के उत्पाद का हेतु कायविज्ञप्ति तथा वाक्कर्म के उत्पाद का हेतु वाग्विज्ञप्ति होती हैं । इनसे शेष रूप अद्वाररूप हैं[2] ।

---

*. ० नाम – स्या० । †. स्या० में नहीं ।

१. "वसन्ति एत्थ चित्तचेतसिका पवत्तन्तीति वत्थु । चित्त-तंसम्पयुत्तानं आधार-भूतं रूपं; तम्पन छब्बिधं ।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १०९; विसु०, पृ० ३१५ ।

२. "यथाक्कमं वीथिचित्तानं पाणातिपातादिकम्मानञ्च पवत्तिमुखत्ता । तत्थ पन पञ्चविधं पसादरूपं उपपत्तिद्वारं नाम, विञ्ञत्तिद्वयं कम्मद्वारं नामा ति ।" – प० दी०, पृ० २५० । द्र० – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १०९-११०; विसु०, पृ० ३१५ ।

इन्द्रियरूपं

२३. पसाद-भाव-जीवितसङ्खातं अट्ठविधम्पि इन्द्रियरूपं नाम*। इतरं अनिन्द्रियरूपं।

प्रसाद (५) भाव (२) तथा जीवित (१) नामक ८ प्रकार के रूप इन्द्रियरूप हैं। शेष अनिन्द्रियरूप हैं।

इन्द्रियरूप एवं अनिन्द्रियरूप

२३. यहाँ 'इन्द्रिय' शब्द 'ऐश्वर्य' या 'अधिपत्ति' के अर्थ में आता है। इनका अपने अपने कृत्यों पर आधिपत्य होता है अतः प्रसादरूप, भावरूप एवं जीवितेन्द्रिय 'इन्द्रियरूप' हैं। चक्षुःप्रसाद का दर्शनकृत्य पर आधिपत्य होता है। यद्यपि चक्षुर्विज्ञान देखता है, तथापि देखने में वह पूर्ण समर्थ नहीं है, अपितु चक्षुःप्रसाद की शक्ति के अनुरूप ही देख पाता है। यदि चक्षुःप्रसाद की शक्ति पटु होगी तो वह ठीक से देखेगा, मन्द होने पर मन्द दर्शन होगा। चक्षुर्विज्ञान दर्शनकृत्य में चक्षुःप्रसाद पर पूर्णतया आश्रित है अतः दर्शनकृत्य पर चक्षुःप्रसाद का ही आधिपत्य सुतरां सिद्ध होता है। इसी तरह श्रवणकृत्य, घ्राणकृत्य, स्वदनकृत्य एवं स्पार्शनकृत्य पर श्रोत्र-प्रसाद आदि का आधिपत्य होता है।

भावरूप का लिङ्ग, निमित्त, कुत्त (क्रिया) एवं आकप्प (आकार) पर आधिपत्य होता है। स्त्रीभावरूप जिस स्कन्ध सन्तान में होता है, उसमें इस स्त्रीभावरूप के अनुसार स्त्रीलिङ्ग स्त्रीनिमित्त, स्त्रीकुत्त एवं स्त्री-आकल्प होते हैं। इसी तरह पुरुषभावरूपवाले स्कन्धसन्तान में पुरुष-लिङ्ग-आदि उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न – कुछ स्कन्धों में पुरुषलिङ्ग होने पर भी कुत्त एवं आकल्प-आदि पुरुषवत् न होकर स्त्रीवत् होते हैं। ऐसा क्यों होता है? क्या उनमें पुरुषभावरूप का आधिपत्य नहीं होता?

उत्तर – उनमें पुरुषभावरूप का आधिपत्य होता है, किन्तु यह अपवाद-स्थल है। कुछ स्थलों पर ऐसा होने पर भी उनके आधिपत्य में किसी प्रकार की क्षति नहीं आती। जैसे – राजाज्ञा के अनुसार सर्वत्र व्यवस्था होती है, फिर भी कहीं कहीं उसका अपवाद दृष्टिगोचर होता है, तो भी राजाज्ञा के आधिपत्य में किसी प्रकार की क्षति या कमी नहीं कही जाती; इसी तरह इन भावरूपों का सर्वत्र आधिपत्य होता है, कहीं कहीं कुछ अंशों में अपवाद दृष्टिगोचर होने पर भी इनके आधिपत्य में सन्देह करना अनुपयुक्त होगा।

जीवितरूप का अपने सहजात कर्मजरूपों के अनुपालनकृत्य में आधिपत्य होता है। जीवितरूप के अनुपालन-सामर्थ्य से कर्मज रूपों की आयु ५१ क्षुद्रक्षणपर्यन्त होती है, अतः जीवितरूप कर्मज रूपों पर आधिपत्य में समर्थ होता है। अतः वह 'इन्द्रिय' कहा जाता है[1]। शेष अनिन्द्रियरूप हैं।

---

*. स्या० में नहीं।

1. द्र० – विभा०, पृ० १५४-१५५।

ओळारिकादिरूपं

२४. पसाद-विसयसङ्खातं द्वादसविधम्पि ओळारिकरूपं* सन्तिकेरूपं, सप्पटिघरूपञ्च। इतरं सुखुमरूपं, दूरेरूपं, अप्पटिघरूपञ्च।

प्रसाद एवं विषय नामक १२ प्रकार के रूप औदारिकरूप, सन्तिकेरूप एवं सप्रतिघरूप कहे जाते हैं। शेष सूक्ष्मरूप, दूरेरूप एवं अप्रतिघरूप हैं।

औदारिक एवं सूक्ष्म रूप

२४. रूपों की उदारता एवं सूक्ष्मता – यह स्पर्श का विषय नहीं है, अपितु चक्षुष्-आदि से देखने पर जिनका स्पष्ट प्रतिभास होता है वे 'औदारिक' तथा जिनका स्पष्टतया प्रतिभास नहीं होता वे 'सूक्ष्म' कहे जाते हैं।

चक्षुःप्रसाद में रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होने पर जब उस पर विचार किया जाता है तो उन दोनों प्रकार के रूपों के स्वभाव पर विचार करनेवाले के ज्ञान में जो रूप विभूततर होता है उसे 'औदारिकरूप' कहते हैं। इसी प्रकार शब्दालम्बन एवं श्रोत्रप्रसाद-आदि की औदारिकता एवं सूक्ष्मता भी जाननी चाहिये। सूक्ष्मरूपों में से अप्-धातु पर विचार करने से जिस प्रकार चक्षुःप्रसाद-आदि रूप विभूततर प्रतीत होते हैं, उस तरह वह विभूततर प्रतीत नहीं होती; उसी तरह भावरूप भी विभूततर प्रतीत नहीं होते – इसलिये प्रसाद एवं रूपालम्बन-आदि विषयरूपों को औदारिकरूप कह कर उन से अवशिष्ट अप्-धातु-आदि को सूक्ष्मरूप कहा गया है[1]।

सन्तिकेरूप तथा दूरेरूप

ज्ञान द्वारा जिनका अनायास ग्रहण होता है वे 'सन्तिकेरूप' तथा जिनका अनायास ग्रहण नहीं होता वे 'दूरेरूप' कहे जाते हैं। औदारिकरूप ही 'सन्तिकेरूप' हैं, तथा सूक्ष्मरूप ही 'दूरेरूप' हैं[2]।

सप्रतिघ एवं अप्रतिघ रूप

चक्षुःप्रसाद के साथ रूपालम्बन धातुस्वभाव के अनुसार अन्योन्य सङ्घट्टन करते

---

*. ओलारिकरूपं – रो०।

१. "ओळारिकरूपं" पकतिया थूलसभावत्ता घट्टनसङ्खातस्स च अत्तनो किच्चस्स ओळारिकत्ता।" – प० दी०, पृ० २५०।
"विसयविसयिभावपवत्तिवसेन थूलत्ता ओळारिकरूपं।" – विभा०, पृ० १५५; विसु०, पृ० ३१४; अट्ठ०, पृ० २७०।

२. "ततो येव गहणस्स सुकरत्ता सन्तिकेरूपं, आसन्नरूपं नाम।" – विभा०, पृ० १५५।
"सन्तिकेरूपं दूरे पवत्तस्स पि सीघतरं गहणयोग्यत्ता।" – प० दी०, पृ० २५०।

उपादिण्णरूपं

२५. कम्मजं उपादिण्णरूपं* । इतरं अनुपादिण्णरूपं† ।

कर्मजरूप उपादिण्ण (उपादत्त) रूप हैं तथा शेष रूप अनुपादिन्न (अनुपादत्त) रूप होते हैं।

हैं। रूपालम्बन के चक्षुःप्रसाद में सङ्घट्टित होने से ही वे चक्षुःप्रसाद में चक्षुर्द्वारिकवीथिचित्तों के उत्पाद के लिये विशेष आकार की शक्तियों के उत्पाद द्वारा चक्षुर्द्वारिकवीथिचित्तों का उपकार करते हैं। शब्दालम्बन एवं श्रोत्रप्रसाद-आदि में भी उसी प्रकार जानना चाहिये। अतः औदारिक रूपों को 'सप्रतिघरूप' कहकर उस तरह सङ्घट्टित न होनेवाले शेष रूपों को 'अप्रतिघरूप' कहते हैं[1]।

उपादिण्णरूप एवं अनुपादिण्णरूप

२५. 'उपेतेन आदिन्नं ति उपादिन्नं' तृष्णा, दृष्टि-आदि द्वारा अधिष्ठित कर्म द्वारा विपाकरूप में गृहीत रूप उपादिन्न (उपादत्त) रूप कहलाते हैं। तृष्णा, दृष्टि-आदि लौकिक कुशल या अकुशल कर्मों का आलम्बन करती हैं। इस आलम्बन करने को 'उपेत' या 'युक्त' कहते हैं। वे तृष्णा एवं दृष्टि से उपेतकर्म कर्मजरूपों को 'ये हमारे विपाक हैं'– इस बुद्धि से ग्रहण करते हैं। इसलिये कर्मजरूप 'उपादिन्न' (उपादत्त) कहे जाते हैं। कर्मजरूपों से भिन्न चित्तज, ऋतुज एवं आहारज रूप 'अनुपादिन्न' रूप कहे जाते हैं[2]। [कर्मज रूपों के स्वरूप एवं सङ्ख्या को आगे कहेंगे।]

यहाँ केवल कर्मज रूपों को 'उपादिन्न' कहा गया है; किन्तु कभी कभी स्कन्धान्तर्गत सम्पूर्ण (कर्मज, चित्तज, ऋतुज एवं आहारज) रूपों को 'उपादिन्न' कहा जाता है। इसके अनुसार 'उपादिन्न' शब्द का 'तण्हामानदिट्ठिवसेन उपादीयतीति उपादिन्नं'– ऐसा विग्रह होगा। अर्थात् तृष्णा, मान एवं दृष्टिवश जिनका उपादान किया जाता है वे 'उपादिन्न' हैं। तृष्णा द्वारा स्कन्ध में होनेवाले सम्पूर्ण रूपों के प्रति 'यह मेरा है', मान द्वारा 'मैं हूँ', दृष्टि द्वारा 'मेरा आत्मा है'– इत्यादि रूप से उपादान किया जाता है। कहा भी है–

"सरीरट्ठकं हि उपादिन्नं वा होतु अनुपादिन्नं वा, आदिन्नगहितपरामट्ठवसेन उपादिन्नमेव नाम जातं[3]।"

---

*. उपादिन्नकरूपं – स्या०।

†. अनुपादिन्नकरूपं – स्या०।

१. द्र० – प० दी०, पृ० २५०; विभा०, पृ० १५५; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १०७-१०८।

२. द्र० – विभा०, पृ० १५५; प० दी०, पृ० २५१; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १०७; विसु०, पृ० ३१४; अट्ठ०, पृ० २७१।

३. अट्ठ०, पृ० २७१।

सनिदस्सनरूपं

२६. रूपायतनं सनिदस्सनरूपं । इतरं अनिदस्सनरूपं ।

रूपायतन सनिदर्शन रूप है तथा शेष अनिदर्शनरूप हैं ।

गोचरग्गाहकरूपं

२७. चक्खादिद्वयं असम्पत्तवसेन, घानादित्तयं* सम्पत्तवसेना ति पञ्चविधम्पि गोचरग्गाहकरूपं† । इतरं अगोचरग्गाहकरूपं ।

चक्षुष्-आदि दो असम्प्राप्त वश (=प्रसादविषयदेश में प्राप्त न होकर) तथा घ्राण-आदि तीन सम्प्राप्तवश (विषयदेश में प्राप्त होकर) विषय का ग्रहण करते हैं । इस तरह गोचर-ग्राहक रूप पाँच प्रकार के होते हैं । शेष अगोचरग्राहक रूप हैं ।

सनिदर्शन एवं अनिदर्शन रूप

२६. 'निदस्सीयतीति निदस्सनं, सह निदस्सनेन यं वत्ततीति सनिदस्सनं' जो निर्दिष्ट होता है वह रूपालम्बन का निदर्शन है और उस निदर्शन के साथ जो रूपालम्बन होता है उसे 'सनिदर्शन' कहते हैं । यहाँ निदर्शन और सनिदर्शन – दोनों शब्दों का अर्थ रूपालम्बन ही है; किन्तु यदि दोनों शब्दों के अर्थ में भेद करना अभीष्ट हो तो निदर्शन आलम्बन की एक विशेष शक्ति है जिसके कारण रूपालम्बन निर्दिष्ट होता है । उस शक्ति के साथ होनेवाले रूपालम्बन सनिदर्शन हैं[1] । अथवा –

'निदस्सीयते ति निदस्सनं' यहाँ भाव में प्रत्यय है अतः देखनामात्र निदर्शन है । यह चक्षुर्विज्ञान का दर्शनकृत्यमात्र है । यह दर्शनकृत्य रूपालम्बन पर अवलम्बित होता है । अतः दर्शनकृत्य के साथ होनेवाला रूपालम्बन 'सनिदर्शन' कहलाता है । शेष रूप 'अनिदर्शनरूप' हैं ।

गोचरग्राहक एवं अगोचरग्राहक रूप

२७. चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एवं काय नामक पाँच प्रसाद रूप आलम्बन का ग्रहण करते हैं, अतः ये 'गोचरग्राहकरूप' कहे जाते हैं । शेष 'अगोचरग्राहकरूप' होते हैं ।

प्रश्न – 'रूपसमुद्देश' में यह कहा गया है कि सभी रूप आलम्बन का ग्रहण न करने से अनालम्बन होते हैं । फिर यहाँ प्रसादरूपों को 'गोचरग्राहकरूप' कहने से क्या पूर्वापरविरोध नहीं होगा ?

उत्तर – सभी रूप मुख्यतया आलम्बन का ग्रहण नहीं करते; अतः 'रूपसमुद्देश' में उन्हें 'अनालम्बन' कहा गया है; किन्तु चक्षुःप्रसाद-आदि में आश्रित चक्षुर्विज्ञान-आदि द्वारा आलम्बन का ग्रहण किया जाने से 'स्थानी' (विज्ञान) का 'गोचरग्राहक' – यह नाम 'स्थान' (प्रसादरूपों) में उपचार करके स्थान्युपचार से पाँच प्रसादरूपों को भी 'गोचर-

---

*. घाणदित्तयं – रो० । †. गाहिक० – सी०, स्या०, रो०, ना०, म० (ख) सर्वत्र ।

1. द्र० – विभा०, पृ० १५५; प० दी०, पृ० २५१; अट्ठ०, २४४ – २४५; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १०७ ।

ग्राहक' कहा गया है। तथा 'अनालम्बन'—यह नाम मुख्य नीतार्थ है, और 'गोचर-ग्राहक'—यह नाम उपचार (नेयार्थ) होने से पूर्वापरविरोध नहीं होता। (यहाँ फलोपचार से भी प्रसादरूपों को 'गोचरग्राहक' कहा जा सकता है।)

असम्प्राप्तवश—उपर्युक्त नय से आलम्बन का ग्रहण करते समय चक्षुष् एवं श्रोत्र—दोनों स्वसमीप अप्राप्त (=अघट्टित) आलम्बन का ग्रहण करते हैं[1]। चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में ४ कारण (अङ्ग) अपेक्षित होते हैं। यथा—१. चक्षुःप्रसाद, २. रूपालम्बन, ३. आलोक एवं ४. मनसिकार। इनमें से यदि रूपालम्बन चक्षुःप्रसाद में प्राप्त अर्थात् घट्टित होकर रहेगा तो दोनों के मध्य में 'आलोक' नामक अङ्ग नहीं रह सकेगा। (अङ्गुष्ठ एवं तर्जनी—दोनों के अग्र भाग को परस्पर सटा कर देखें, उनके बीच में जिस प्रकार आलोक नहीं रहता, उसी प्रकार यहाँ भी आलोक नहीं रह सकेगा।) रूपालम्बन एवं चक्षुःप्रसाद के परस्पर घट्टित न होने पर ही आलोक प्राप्त हो सकता है, अतः चक्षुर्विज्ञान का आश्रय चक्षुःप्रसाद विषय से घट्टित न होकर अर्थात् अप्राप्त रूपालम्बन का ग्रहण करने में समर्थ होता है। श्रोत्रविज्ञान की उत्पत्ति में भी चार कारण (अङ्ग) अपेक्षित होते हैं। यथा—श्रोत्रप्रसाद, शब्दालम्बन, आकाश एवं मनसिकार। इनमें से यदि शब्दालम्बन श्रोत्रप्रसाद में घट्टित होकर रहेगा तो मध्य में आकाश के लिये अवकाश नहीं रह सकेगा। शब्दालम्बन के श्रोत्रप्रसाद में घट्टित न होने पर ही मध्य में आकाश रह सकता है, अतः श्रोत्रविज्ञान का आश्रयभूत श्रोत्रप्रसाद अघट्टित होकर अर्थात् अप्राप्त शब्दालम्बन का ग्रहण करने में समर्थ होता है[2]।

सम्प्राप्तवश—घ्राण, जिह्वा एवं काय नामक तीन प्रसाद सर्वदा सम्प्राप्त आलम्बन का ही ग्रहण कर सकते हैं[3]। घ्राणविज्ञान के उत्पाद में चार अङ्ग अपेक्षित होते हैं; यथा—घ्राणप्रसाद, गन्धालम्बन, वायुधातु एवं मनसिकार। गन्धालम्बन के समीपस्थ होने पर भी यदि नासाछिद्र बन्द कर दिया जाता है तो गन्ध प्राप्त नहीं हो सकती। नासाछिद्र को खुला रखकर बाह्य वायु को भीतर खींचने पर ही गन्धालम्बन-रूपकलाप में आनेवाले महाभूत के साथ घ्राणप्रसाद-रूपकलाप में आनेवाले महाभूत का परस्पर घट्टन होता है—इस प्रकार सम्प्राप्त (घट्टित) होने पर ही घ्राणप्रसाद गन्धालम्बन का ग्रहण कर सकता है।

---

१. "तत्थ पसादे अल्लीयित्वा लग्गित्वा उप्पन्नं आरम्मणं 'सम्पत्तं' नाम। केसग्गमत्तं पि मुञ्चित्वा उप्पन्नं 'असम्पत्तं' नाम।"—प० दी०, पृ० २५१।
"'असम्पत्तवसेना' ति अत्तानं असम्पत्तस्स गोचरस्स वसेन अत्तना विसयप्पदेसं वा असम्पत्तवसेन, चक्खुसोतानि हि रूपसद्देहि असम्पत्तानि, सयं वा तानि असम्पत्तानेव आरम्मणं गण्हन्ति।"—विभा०, पृ० १५५। "एवं कम्मे विसेसतो विसेसवन्तेसु च एतेसु चक्खुसोतानि असम्पत्तविसयगाहकानि अत्तनो निस्सयं अनल्लीननिस्सये एव विसये विञ्ञाणहेतुत्ता।"—अट्ठ०, पृ० २५२।

२. द्र०—प० दी०, पृ० २५१; अट्ठ०, पृ० २२७-२२८।

३. "घाण-जिह्वा-काया सम्पत्तविसयगाहका, निस्सयवसेन चेव सयञ्च अत्तनो निस्सयं अल्लीने येव विसये विञ्ञाणहेतुत्ता।"—अट्ठ०, पृ० २५३।

जिह्वाविज्ञान के उत्पाद में भी चार अङ्ग अपेक्षित होते हैं; यथा – जिह्वाप्रसाद, रसालम्बन, अप्-धातु एवं मनसिकार। उनमें से खाद्य पदार्थ के सम्मुख पहुँचने पर भी रसालम्बन प्राप्त नहीं होता। जिह्वाप्रसाद के आश्रयभूत महाभूतों के साथ रसालम्बन के आश्रयभूत महाभूतों के घट्टित होने पर अप्-धातु नामक द्रवविशेष द्वारा आर्द्र किये जाने पर ही रस का ग्रहण होता है।

इसी तरह कायविज्ञान के उत्पाद में भी चार अङ्ग (कारण) होते हैं; यथा – कायप्रसाद, स्प्रष्टव्यालम्बन, पृथ्वीधातु एवं मनसिकार। उनमें से स्पर्श होने योग्य स्प्रष्टव्यालम्बन यदि समीपस्थ होता है, तो भी उसका ग्रहण नहीं हो सकता। कायप्रसाद के आश्रयभूत महाभूतों के साथ सङ्घट्टन होने पर ही स्प्रष्टव्यालम्बन का ग्रहण हो सकता है। अतः इन तीन प्रसादों को 'सम्प्राप्त ग्राहकरूप' कहते हैं[1]।

प्रश्न – चक्षुष् एवं श्रोत्र अपने समीप अप्राप्त (अघट्टित) आलम्बन का ग्रहण कर सकते हैं इस प्रकार कहने पर कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि क्या रूपालम्बन एवं शब्दालम्बन चक्षुःप्रसाद एवं श्रोत्रप्रसाद के समीप नहीं आते?

उत्तर – उपर्युक्त प्रश्न यहाँ उठना ही नहीं चाहिये। चाहे आलम्बन प्रसाद के समीप आते हों या न आते हों वे उनके पास पहुँचने (घट्टित होने) से पूर्व ही ग्रहण कर लिये जाते हैं, अतः चक्षुष् एवं श्रोत्र 'असम्प्राप्त ग्राहकरूप' कहलाते हैं।

यद्यपि रूपालम्बन एवं शब्दालम्बन के आने या न आने का सम्प्राप्त एवं असम्प्राप्त से कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि सभी लोगों के ज्ञानार्थ 'आने या न आने' के विषय में विचार किया जायेगा। रूपालम्बन एवं शब्दालम्बन महाभूतों का आश्रय कर के उत्पन्न होते हैं। उन महाभूतों के निरन्तर उत्पन्न होकर देशान्तर में फैलने की प्रक्रिया में इन रूपालम्बन एवं शब्दालम्बनों के भी आ जाने से 'रूपालम्बन एवं शब्दालम्बन भी जाते हैं, आते हैं, प्राप्त होते हैं' – इत्यादि व्यवहार होता है।

रूपालम्बन सचल एवं अचल – इस तरह दो प्रकार के होते हैं। उसमें मनुष्य, गृह एवं पर्वत-आदि के रूप (वर्ण) अचल होते हैं। ये रूपालम्बन अपने आधारभूत स्थान से बाहर नहीं जा सकते, अतः इन्हें (रूपालम्बनों को) 'अचल रूपालम्बन' कहते हैं। सूर्य, चन्द्र, तारा एवं मणि-आदि की प्रभा सचल रूपालम्बन है। ये अपने आधारप्रदेश में विद्यमान ऋतु से द्वितीय ऋतुज रूप, उस ऋतुजरूप में आनेवाली ऋतु से तृतीय ऋतुजरूप – इस प्रकार ये ऋतुजरूप, निरन्तर भिन्न भिन्न प्रदेश में उत्पन्न ऋतुजरूप नामक महाभूत-परम्परा का आश्रय करके यथासम्भव चलित हो जाते हैं, अतः इन प्रभारूपों को 'सचल' रूप कहते हैं।

शब्दालम्बन भी सचल रूपालम्बनों की भाँति यथाशक्ति बाहर फैल सकते हैं। शब्दालम्बन की आश्रय महाभूतपरम्परा के व्यापक होते समय उसके द्वारा ढकेले जाने के कारण

---

1. द्र० – प० दी०, पृ० २५१-२५२।

आकाश में उत्पन्न मेघगर्जन एवं तोप-आदि के शब्द मकान-आदि का भी कम्पन कर सकते हैं। इस प्रकार व्याप्त हो सकने के कारण कुछ रूपालम्बन एवं शब्दालम्बन चक्षुःप्रसाद एवं श्रोत्रप्रसाद में घट्टन करने की अवस्था तक पहुँचेंगे ही। रात को बाहर निकलकर चन्द्रमा को देखते समय चन्द्रमा की किरणें चक्षुःप्रसाद तक पहुँच कर घट्टन करती हैं; किन्तु वह चक्षुःप्रसाद अपने पास पहुँचने से पहले ही अर्थात् घट्टन से पूर्व ही उस आलम्बन (किरणों) का ग्रहण कर लेता है। प्राप्त अर्थात् घट्टित आलम्बन का ग्रहण नहीं करता, अतः ये 'असम्प्राप्त गोचरग्राहकरूप' कहे जाते हैं। अर्थात् ये असम्प्राप्त (अघट्टित) आलम्बनों का ही ग्रहण करते हैं। 'आलम्बन प्रसाद में घट्टित नहीं होते' – ऐसा नहीं कहा जा रहा है[1]।

"चक्खुसोतं पनेतेसु होतासम्पत्तगाहकं।
विञ्ञाणुप्पत्तिहेतुत्ता सन्तराधिकगोचरे[2] ॥"

अर्थात् इन प्रसादरूपों में से चक्षुष् एवं श्रोत्र प्रसाद सान्तराल आलम्बन एवं अधिक (स्थूल) आलम्बनों में चक्षुर्विज्ञान एवं श्रोत्रविज्ञान की उत्पत्ति के कारण होने से असम्प्राप्त आलम्बन का ग्रहण करते हैं – इस प्रकार जानना चाहिये। (इस गाथा का अभिप्राय आगे की दो गाथाओं द्वारा स्पष्ट किया गया है।)

"तथा हि दूरदेसट्ठं फलिकादितिरोहितं।
महन्तं च नगादीनं वण्णं चक्खु उदेक्खति[3] ॥"

(यह गाथा चक्षुःप्रसाद के विषय में विस्तार दिखलानेवाली गाथा है।)

इसीलिये चक्षुःप्रसाद, दूरदेशस्थ वर्ण, स्फटिकादि पारदर्शक वस्तुओं से तिरोहित एवं पर्वत-आदि के महान् वर्ण को देखने में समर्थ होता है।

दूरदेसट्ठं – सूर्य एव चन्द्र विमान इस पृथ्वीमण्डल से ४२,००० योजन दूर होते हैं। पृथ्वी से देखने पर सूर्य एवं चन्द्र मण्डल के संस्थान दिखलायी पड़ते हैं। चन्द्र-मण्डल की कालिमा भी दिखलायी पड़ती है। वे संस्थान एवं कालिमा-आदि अपने आधार स्थान से किञ्चित् भी चलित नहीं होते। अन्धेरे कमरे में बैठकर बाहर के चन्द्र या सूर्य के प्रकाश को देखने पर वे (चन्द्र एवं सूर्य के) प्रकाश अपने कमरे तक नहीं आते। बाहर स्थित अग्नि का प्रकाश भी बहुश दूर से दिखायी पड़ता है। वह प्रकाश जहाँ से से देख रहे हैं, वहाँ तक नहीं आ सकता।

फलिकादितिरोहितं – शीशे की आलमारी आदि में रखे हुए रूपालम्बन उस शीशे आदि द्वारा तिरोहित होने से बाहर निकलकर नहीं आ सकते, किन्तु उन रूपालम्बनों को भी चक्षुःप्रसाद देख सकता है।

महन्तञ्च नगादीनं – एक पहाड़ को देखने पर देखनेयोग्य उन महाभूत रूपकलापों में से अनेक रूपालम्बन एक साथ (युगपद्) देखे जा सकते हैं। वे करोड़ों रूपा-

---

१. तु० – अट्ठ०, पृ० २५३-२५४।
२. विभा०, पृ० १५६।
३. विभा०, पृ० १५६।

लम्बन यदि चक्षुःप्रसाद में घट्टित होने पर ही देखे जा सकते हैं तो उन रूपालम्बनों को घट्टित होने के लिये चक्षुःप्रसाद में अवकाश ही कहाँ है ? अतः अप्राप्त (अघट्टित) रूपालम्बनों का ही चक्षुःप्रसाद द्वारा ग्रहण किया जाना सुस्पष्ट होता है।

"आकासादिगतो कुच्छिचम्मानन्तरिको पि च।
महन्तो च घण्टादीनं सद्दो सोतस्स गोचरो[1]॥"

(यह गाथा श्रोत्रप्रसाद के विषय में विस्तार दिखलानेवाली गाथा है।) आकाश-आदि दूरदेश में स्थित शब्द, कुक्षि चर्म से अन्तरित शब्द एवं घण्टा-आदि का महान् शब्द श्रोत्रप्रसाद का गोचर होता है।

आकासादिगतो – आकाश में स्थित मेघ का गर्जन अनेक योजन दूर होने पर भी श्रोत्र-प्रसाद द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। आकाशस्थ पक्षी एवं वायु के शब्द दूर होने पर भी ग्रहण किये जाते हैं। मेघगर्जन के शब्द का ग्रहण करने में पृथ्वीतल तक पहुँचनेवाले शब्द भी होते हैं और न पहुँचनेवाले शब्द भी होते हैं। उनमें सर्वप्रथम गर्जन का शब्द पृथ्वी तक प्राप्त नहीं होता; किन्तु उस शब्द को भी श्रोत्र-प्रसाद सुन सकता है।

कुच्छिचम्मानन्तरिको – पेट में गुड़-गुड़ होनेवाला वायु का शब्द कुक्षि-चर्म से अन्तरित होने पर भी श्रोत्रप्रसाद द्वारा गृहीत होता है।

महन्तो च घण्टादीनं – घण्टी एवं तोप-आदि के शब्दों में अनेक प्रकार के शब्दालम्बनसमूह उत्पन्न होते हैं। उन शब्दों को एकसाथ (युगपद्) सुना जा सकता है। यदि श्रोत्रप्रसाद में घट्टित होने पर ही सुना जा सकता है तो उन करोड़ों शब्दसमूहों को घट्टित होने के लिये श्रोत्रप्रसाद में अवकाश ही कहाँ है ? अतः 'श्रोत्रप्रसाद भी असम्प्राप्त (अघट्टित) शब्दालम्बन का ही ग्रहण करता है' – यह सिद्ध होता है।

"भूतप्पबन्धतो सो चे याति इन्द्रियसन्निधिं।
कम्मचित्तोजसम्भूतो वण्णो सद्दो च चित्तजो॥
न तेसं गोचरा होन्ति नहि सम्भोन्ति ते बहि।
वुत्ता च अविसेसेन पाठे तंविसया व ते[2]॥"

यदि वह रूपशब्दयुगल 'महाभूतपरम्परा से चक्षुरिन्द्रिय एवं श्रोत्रेन्द्रिय के प्रदेश में प्राप्त होता है' – ऐसा कहा जाता है तो कर्म, चित्त एवं आहार से उत्पन्न वर्ण एवं चित्त से उत्पन्न शब्द उन चक्षुष् एवं श्रोत्र के गोचर (आलम्बन) नहीं होंगे ? क्योंकि वे कर्म, चित्त एवं आहार से उत्पन्न वर्ण एवं चित्त से उत्पन्न शब्द स्कन्ध से बाहर नहीं होते। यद्यपि यह (कथन) ठीक है, तथापि चूंकि 'पट्ठान' पालि में अविशेष (सामान्य) रूप से उन वर्ण एवं शब्दों को भी 'चक्षुष् एवं श्रोत्र के आलम्बन ही हैं' – ऐसा कहा गया है, अतः वे भी चक्षुष् एवं श्रोत्र के विषय ही हैं।

भूतप्पबन्धतो...सन्निधिं – ये दो पाद चोदना (प्रश्न) को दिखाने वाले वाक्य हैं। प्रथम उत्पन्न रूप एवं शब्द कलाप में ऋतु होती है। उस ऋतु से ऋतुज महाभूत के

---

१. विभा०, पृ० १५६।
२. विभा०, पृ० १५६।

साथ अनेक रूप एवं शब्द कलाप उत्पन्न होते हैं। उस द्वितीय रूपकलाप में होनेवाली ऋतु से भी अनेक ऋतुज कलाप उत्पन्न होते हैं। उस महाभूत-परम्परा के उत्पन्न होते हुए व्यापक होते समय रूप एवं शब्द भी उसमें सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार महाभूत-परम्परा से व्यापक होते हुये उनका चक्षुरिन्द्रिय के आश्रय महाभूत एवं श्रोत्रेन्द्रिय के आश्रय महाभूतों से सङ्घट्टन (प्राप्त) होने पर ही, चक्षुरिन्द्रिय रूपालम्बन का एवं श्रोत्रेन्द्रिय शब्दालम्बन का ग्रहण करती है—यदि प्रश्नकर्ता इस प्रकार कहता है तो—

कम्मचित्तोज...गोचरा होन्ति—यदि आपके कथनानुसार ही होता है तो कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार—इन ४ कारणों से उत्पन्न होनेवाले रूपालम्बनों में से कर्मज, चित्तज, एवं आहारज रूपालम्बनों का चक्षुरिन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं हो सकेगा। तथा चित्त एवं ऋतु से उत्पन्न होनेवाले शब्दालम्बनों में से चित्तज शब्दालम्बन का श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं हो सकेगा।

न हि सम्भोन्ति ते बहि—क्योंकि महाभूत-परम्परा से व्यापक होनेवाले रूप एवं शब्द ऋतुज रूप ही होते हैं। कर्म, चित्त एवं आहार से उत्पन्न रूप, स्कन्ध से किञ्चित् भी बाहर नहीं जा सकते, इसलिये यदि महाभूत-परम्परा से व्यापक होकर चक्षुष् एवं श्रोत्र में पहुँचने पर ही ग्रहण किया जा सकता है तो कर्म, चित्त एवं आहार से उत्पन्न रूप एवं चित्तज शब्द का ग्रहण नहीं किया जा सकेगा; केवल ऋतुज रूप एवं शब्द का ही ग्रहण हो सकेगा।

यदि कर्म, चित्त एवं आहार से उत्पन्न रूप एवं चित्तज शब्द-आलम्बन का ग्रहण नहीं हो सकता है तो इसमें दोष क्या है?

वुत्ता च...तंविसाय व ते—'पट्ठान' पालि में कर्मज, चित्तज, ऋतुज एवं आहारज—इस प्रकार विभाजन न करके "रूपारम्मणं चक्खुविञ्ञाणधातुया,...सद्दारम्मणं सद्दविञ्ञाणधातुया"[1]—आदि द्वारा 'यदि रूपालम्बन होता है तो चाहे वह कर्मज हो, चित्तज हो, ऋतुज हो, या आहारज हो; चक्षुर्विज्ञान का उपकार कर सकता है। तथा यदि शब्दालम्बन होता है तो चाहे वह चित्तज हो या ऋतुज हो, वह श्रोत्र-विज्ञान का उपकार कर सकता है'—इस प्रकार कहा गया है। यदि ऋतुज रूपालम्बन एवं शब्दालम्बन का ही ग्रहण किया जा सकता है तो उपर्युक्त 'पट्ठान' पालि से विरोध हो जायेगा।

निष्कर्ष—सजीव सत्त्वों का रूप देखते समय स्कन्धस्थ कर्मज वर्ण तथा चित्तज, ऋतुज एवं आहारज वर्णों को भी देखा जाता है। उस मूल वर्णकलाप में आनेवाले ऋतु से उत्पन्न द्वितीय ऋतुज वर्ण, उस द्वितीय ऋतु से उत्पन्न तृतीय ऋतुज वर्ण—इस प्रकार ऋतुज वर्णपरम्परा को भी देखा जाता है। भगवान् बुद्ध का प्रभामण्डल भी ऋतुज वर्ण ही है। सजीव सत्त्वों के शब्द सुनते समय चित्त से उत्पन्न

१. पट्ठान, प्र० भा०, पृ० ३।

मूल चित्तज शब्द भी सुना जाता है तथा उस चित्तज शब्दकलाप में आनेवाली ऋतु से उत्पन्न ऋतुज शब्द भी सुना जाता है। इस ऋतुजकलाप में आनेवाली ऋतु-आदि से पुनः पुनः उत्पन्न ऋतुज शब्द भी सुने जाते हैं। निर्जीव वस्तुओं के वर्ण एवं शब्द ऋतुज ही हैं।

"यदि चेतं द्वयं अत्तसमीपं येव गण्हति।
अक्खिवण्णं तथा मूलं पस्सेय्य भमुकस्स च॥
दिसादेसववत्थानं सद्दस्स न भवेय्य च।
सिया च सरवेधिस्स सकण्णे सरपातनं[1]॥"

अर्थात् ये चक्षुष् एवं श्रोत्र – दोनों यदि स्वसमीपस्थ आलम्बनों का ही ग्रहण करते हैं तो उन्हें अक्षिवर्ण तथा भौंह के मूल को भी देखना चाहिये। तथा (ऐसी स्थिति में) शब्द की दिशा एवं देश का व्यवस्थान भी न हो सकेगा; एवं शरवेधी का अपने कान में ही शर-पात हो जायेगा।

यदि...गण्हति – 'चक्षुष् एवं श्रोत्र दूरस्थ आलम्बन का ग्रहण नहीं कर सकते, अपने पास पहुँचने पर ही उनका ग्रहण कर सकते हैं' – यदि प्रश्नकर्ता इस प्रकार कहता है और उसके कथनानुसार ही होता है तो –

अक्खिवण्णं...भमुकस्स च – चक्षुष् का वर्ण एवं भौंह का मूलप्रदेश चक्षुःप्रसाद के अतिसमीपस्थ होने से दिखायी पड़ने चाहिये अर्थात् उनका ग्रहण होगा; किन्तु दिखायी नहीं पड़ते, इसलिये 'दूर एवं समीप होना' प्रधान नहीं है; अपितु आलम्बन यदि चक्षुः-प्रसाद के सम्मुख प्रदेश में स्थित (आपातगत) होता है तो वह ४२,००० योजन दूरस्थ चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल एवं उनकी कालिमा-आदि की भाँति दूर से भी देखा जा सकता है।

सिया च...सरपातनं – यदि शरवेधी (बाण सन्धान करने वाला) पुद्गल श्रोत्र-प्रसाद के समीप पहुँचने पर शब्द का ग्रहण कर सकता है तो कर्णशष्कुली के भीतर पहुँचे हुए शब्द का ही ग्रहण हो सकेगा और ऐसी स्थिति में शरवेधी जहाँ शब्द सुनता है वहीं शर छोड़ेगा तो उसे अपना शर अपने कान में ही छोड़ना पड़ेगा। अतः श्रोत्रप्रसाद सुनने योग्य प्रदेश में विद्यमान होता है तो अत्यन्त दूर के मेघ-गर्जन-आदि शब्द भी सुन सकता है।

कपड़े धोने का शब्द – 'शब्दालम्बन प्रसाद के समीप न पहुँच कर भी दूर से ही प्रसाद में घट्टित हो सकता है' – यह आपने कहा है; परन्तु उस पार धोबी द्वारा कपड़ा धोते समय हाथ के चलनाकार (ऊपर-नीचे उठने के आकार) को देखने के अनन्तर कुछ क्षण बाद ही शब्द सुनायी पड़ता है, इसलिये शब्द ऋतुज-परम्परा से सङ्क्रान्त हो कर समीप पहुँच कर ही सुनायी पड़ता है – इस प्रकार कहा जा सकता है कि नहीं?

---

१. विभा०, पृ० १५६।

समाधान – उस पार के कपड़े धोने का शब्द सुनते समय मूल शब्द को सुनना, ऋतुज परम्परा से सङ्क्रान्त होते समय कुछ प्रदेश में पहुँचे हुए रास्ते के शब्द को सुनना एवं कान के समीप पहुँचने पर सुनना – इस तरह नाना प्रकार हो सकते हैं।

अर्थात् जब कपड़ा धोबी के हाथ द्वारा शिलाखण्ड पर पटका जाता है उस समय उत्पन्न होनेवाला शब्द सुनने योग्य प्रदेश में स्थित पुद्गलों के श्रोत्रप्रसादों में एक साथ (युगपद्) ही घट्टित होता है; किन्तु दूर रहनेवाले पुद्गलों में श्रोत्रद्वारवीथि होने के अनन्तर मनोद्वारवीथि द्वारा व्यवस्थान (परिच्छेद) करके जानते समय समीपस्थ पुद्गलों की तरह थोड़ी-सी वीथियों से कृत्य सम्पन्न नहीं होता, अपितु अनेक वीथियाँ होने पर ही व्यवस्थान हो सकता है। इसलिये दूरस्थ पुद्गलों में 'सुनना कुछ देर से होता है' – ऐसा प्रतीत होता है। वस्तुतः सुनने में नहीं, अपितु व्यवस्थान करने में विलम्ब होता है।

सर्वप्रथम उत्पन्न शब्द सुनकर ऋतुज परम्परा से सङ्क्रान्त होकर कुछ प्रदेश तक पहुँचने पर सुनने में, श्रवण में भी विलम्ब होता है और व्यवस्थान में भी विलम्ब होता है। यदि कान के समीप पहुँचने पर ही सुनायी पड़ेगा तो सुनने और व्यवस्थान – दोनों में और अधिक विलम्ब होगा। समीप पहुँचकर सुनने में भी प्रसाद में घट्टित होने से पहले ही ग्रहण कर लिया जाता है, अतः श्रोत्रप्रसाद 'असम्प्राप्तगोचररूप' ही होता है।

"गन्त्वा विसयदेसं तं फरित्वा गण्हतीति चे।
अधिट्ठानविधाने पि तस्स सो विसयो सिया[1]॥"

यदि वे चक्षुष् एवं श्रोत्र – दोनों विषयप्रदेश में जाकर आलम्बन में व्याप्त होकर उनका ग्रहण करते हैं तो दिव्यचक्षुष् एवं दिव्यश्रोत्र अभिज्ञा से पूर्व अधिष्ठान का विधान करते समय भी वे (रूप एवं शब्द) उन चक्षुष् एवं श्रोत्र के विषय हो जायेंगे।

यह गाथा कुछ लोगों के मत के प्रति दोष दिखलानेवाली गाथा है। लौकिक ग्रन्थों में कहा गया है कि जिस प्रकार टार्च से आलम्बन को देखते समय आलम्बन पर टार्च का प्रकाश पहुँच जाता है, उसी प्रकार चक्षुःप्रसाद भी आलम्बन पर पहुँच कर उसमें व्याप्त होकर आलम्बन का ग्रहण करता है। उसी तरह श्रोत्रप्रसाद भी शब्दालम्बन के प्रदेश में पहुँच कर उसका ग्रहण करता है। यदि उनके मतानुसार ही होता है तो दिव्यचक्षुष्-अभिज्ञा होने से पहले 'एतस्स रूपं पस्सामि' (इसके रूप को देखूँगा) – इस प्रकार का अधिष्ठान करते समय भी इष्ट रूपालम्बन का दर्शन हो जायेगा। उसी तरह दिव्यश्रोत्र-अभिज्ञा के पूर्वभाग में 'एतस्स सद्दं सुणामि' (इसके शब्द को सुनूँगा) – इस प्रकार का अधिष्ठान करते समय ही इष्ट शब्दालम्बन का श्रवण हो जायेगा। यदि अधिष्ठान-काल में ही देखा या सुना जा सकता है तो फिर अभिज्ञा का क्या लाभ होगा? अतः चक्षुष् एवं श्रोत्र प्रसाद आलम्बन के प्रदेश में नहीं जाते – इस प्रकार जानना चाहिये।

---

१. विभा०, पृ० १५६।

अविनिब्भोगरूपं

२८. वण्णो, गन्धो, रसो, ओजा, भूतचतुक्कञ्चेति अट्ठविधम्पि अविनिब्भोगरूपं। इतरं विनिब्भोगरूपं।

वर्ण, गन्ध, रस, ओजस् एवं भूतचतुष्क – ये आठों अविनिर्भोगरूप हैं; शेष विनिर्भोगरूप हैं।

२९. इच्चेवमट्ठवीसतिविधम्पि च विचक्खणा।
अज्झत्तिकादिभेदेन विभजन्ति यथारहं॥

अयमेत्थ रूपविभागो।

इस तरह पण्डित जन २८ प्रकार के रूपों को आध्यात्मिक बाह्य आदि भेद से यथासम्भव विभक्त करते हैं।

इस रूपपरिच्छेद में यह 'रूपविभाग' है।

अविनिर्भोग एवं विनिर्भोग रूप

२८. 'विसुं विसुं निभुञ्जनं पवत्तनं विनिब्भोगो, विनिब्भोगो यस्स अत्थीति विनिब्भोगं; न विनिब्भोगं अविनिब्भोगं' पृथक् पृथक् प्रवर्त्तन अर्थात् उत्पाद विनिर्भोग है, यह जिसमें है वह भी विनिर्भोग है; जो विनिर्भोग नहीं हैं वे रूपधर्म अविनिर्भोग हैं[1]। इस 'विनिर्भोग' शब्द में 'वि' उपसर्ग 'पृथक्' अर्थ में तथा 'भुज्' धातु 'प्रवर्तन' अर्थ में प्रयुक्त है।

भुज् धातु का अर्थ 'परिच्छेद' भी होता है। तब उसका विग्रह 'विसुं विसुं निभुञ्जीयति ववत्थापीयतीति विनिब्भोगं, न विनिब्भोगं अविनिब्भोगं' – ऐसा होता है अर्थात् जो धर्म पृथक् पृथक् व्यवस्थापित होते हैं याने परिच्छिन्न होते हैं वे विनिर्भोग हैं, जो विनिर्भोग नहीं हैं वे अविनिर्भोग हैं। उपर्युक्त वर्ण, गन्ध, रस, ओजस् एवं भूत-चतुष्क – ये आठ रूप सर्वथा सर्वदा अभिन्न रूप में अर्थात् पिण्डीभूत होकर अवस्थित रहते हैं, अतः अविनिर्भोगरूप हैं। किसी भी देश एवं काल में अथवा किसी भी कारण से इनका विनिर्भोग (पृथग्भाव) नहीं होता। वस्तु के अनुसार किसी एक का आधिक्य होने पर भी अन्य रूप अव्यक्त (अप्रकट) रूप से होते ही हैं। जैसे – सूर्य की किरणों में उष्णतेजस् धातु का आधिक्य होता है, वर्ण भी प्रकट होता है; फिर भी अन्य गन्ध, रस, ओजस्, पृथ्वी, अप् एवं वायु रूप भी वहाँ अप्रकट रूप से विद्यमान होते ही हैं। अग्नि के विषय में भी इसी प्रकार जानना चाहिये। पृथ्वी में पृथ्वीधातु का आधिक्य होता है, वर्ण भी प्रकट होता है; फिर भी अन्य रूप वहाँ अप्रकट रूप से विद्यमान होते ही हैं। जल में अप्-धातु का आधिक्य होता है, हवा में वायु धातु का आधिक्य होता है, सुगन्ध में गन्ध-धातु का आधिक्य होता है, आहार में ओजस्-धातु का आधिक्य होता है; फिर भी उन उन वस्तुओं में अन्य रूप भी अप्रकट रूप से वहाँ विद्यमान होते ही हैं, अतः इन आठ रूपों को 'अवि-

---

१. प० दी०, पृ० २५३। द्र० – विभा०, पृ० १५६।
अभि० स० : ८५

रूपसमुट्ठानं

३०. कम्मं, चित्तं, उतु, आहारो चेति चत्तारि रूपसमुट्ठानानि नाम।

कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार—ये चारों रूप के कारण (=उत्पादक) हैं।

निर्भोगरूप' कहते हैं। ['आधिक्य' – इस प्रकार कहने में 'धातु का आधिक्य होता है' – ऐसा न समझ कर, उसकी शक्ति अधिक होती है – ऐसा समझना चाहिये। 'मूलटीका' के अनुसार रूपभूमि में ८ अविनिर्भोगरूप नहीं होते, अपितु ६ ही होते हैं। इसके बारे में आगे विचार किया जायेगा।]

शेष रूप पृथक् प्राप्त हो सकने के कारण 'विनिर्भोगरूप' कहे जाते हैं। चक्षुः-प्रसाद एवं श्रोत्रप्रसाद किसी भी काल में एक साथ (अपृथक् रूप से) नहीं होते। प्रसादरूपों के समान ही भाव, हृदय, एवं जीवित रूप भी साथ साथ नहीं हो सकते। विकार एवं लक्षणरूप एकान्त परमार्थ न होने से वे 'पृथक् होते हैं या अपृथक् होते हैं' – इस प्रकार विचार करना आवश्यक नहीं है। आकाशधातु न केवल एकान्त परमार्थ ही नहीं है, अपितु रूपकलापों का अन्तरालमात्र होने से किसी भी धातु के साथ अपृथक् रूप से नहीं होती।

रूपविभाग समाप्त।

रूपसमुत्थान

३०. कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार – ये रूपधर्मों के उत्पादक हेतु हैं। आगे आनेवाले रूपप्रवृत्तिक्रम में सर्वप्रथम कर्मजरूप उत्पन्न होते हैं। अतः यहाँ सर्वप्रथम 'कर्म' कहा गया है। तदनन्तर क्रम के अनुसार ऋतु को कहना चाहिये और ऋतु के बाद चित्त; किन्तु चित्त 'नाम' है, अतः पहले चित्त को कहकर उसके बाद ऋतु को रखा गया है। सबसे पश्चात् आहारज रूप होते हैं, अतः आहारहेतु को अन्तिम स्थान दिया गया है।

कम्मं –

"कम्मतो लिङ्गतो चेव, लिङ्गसञ्ञा पवत्तरे।
सञ्ञातो भेदं गच्छन्ति इत्थायं पुरिसो ति च[1]।।"

इस 'अट्ठसालिनी' अट्ठकथा के अनुसार कर्म के बल से विभिन्न लिङ्गसंस्थान उत्पन्न होते हैं। लिङ्गसंस्थान-भेद से 'यह स्त्री है', 'यह पुरुष है' – इस प्रकार लिङ्ग-संज्ञा के भेद होते हैं। यह लिङ्गसंज्ञा-भेद देखकर 'इस प्रकार के संस्थान को स्त्री' एवं 'इस प्रकार के संस्थान को पुरुष' – ऐसा व्यवहार-भेद होता है। इस प्रकार का व्यवहार-भेद होने पर स्त्री या पुरुष होने का छन्द होने से नाना प्रकार के कुशल-अकुशल कर्म किये जाते हैं। ये किये गये नाना प्रकार के कर्म अपने छन्द के अनुसार स्त्री संस्थान या पुरुषसंस्थान को अभिसंस्कृत करते हैं। कर्म करते समय की चित्तधातु के अनुसार सुन्दर एवं असुन्दर का भी अभिसंस्कार होता है। अकुशल कर्म, नरक, तिरश्चीन, प्रेत एवं असुरकाय रूपों का निर्माण करते हैं। तथा मनुष्य एवं देवों के संस्थान

---

१. अट्ठ०, पृ० ५५।

कम्मसमुट्ठानरूपं

३१. तत्थ कामावचरं रूपावचरञ्चेति पञ्चवीसतिविधम्पि कुसलाकुसल-कम्ममभिसङ्खतं अज्झत्तिकसन्ताने कम्मसमुट्ठानरूपं पटिसन्धिमुपादाय खणे खणे समुट्ठापेति।

इनमें कामावचर (अकुशल १२, महाकुशल ८=२०) एवं रूपावचर (५ कुशल) इस तरह २५ प्रकार के अभिसंस्कृत कुशल एवं अकुशल कर्म (पुद्गल की) आध्यात्मिक सन्तान में कर्मसमुत्थान रूपों को प्रतिसन्धि के उत्पादक्षण से लेकर क्षण क्षण में उत्पन्न करते हैं।

में प्रवृत्तिकाल में कुरूप संस्थान का उत्पाद करते हैं। कुशल कर्म देव, मनुष्य एवं ब्रह्माओं के संस्थान का निर्माण करते हैं तथा प्रवृत्तिकाल में तिरश्चीन एवं प्रेत-आदि के संस्थान में यथासम्भव सुरूप संस्थानों का निर्माण करते हैं[1]।

चित्तं – चित्त भी रूपों का उत्पाद कर सकते हैं। यदि चित्त प्रसन्न होता है तो रूप स्वच्छ होता है तथा वह यथायोग्य स्वास्थ्य का उपकार करता है एवं शरीर को पुष्ट करता है। यदि चित्त प्रसन्न नहीं होता है तो रूप मलिन होता है एवं स्वास्थ्य घट जाता है। परस्पर आलाप-संलाप करते समय भी चित्त का अन्तःस्वभाव जाना जा सकता है। चित्त के अनुकूल आलाप होता है तो मुखमण्डल स्वच्छ (आभायुक्त); यदि अनुकूल नहीं होता है तो मुखमण्डल लालिमा या कालिमा युक्त हो जाता है। ये सब चित्त से उत्पन्न रूप-धर्मों के विकार हैं।

उतु – ऋतु भी रूप-धर्मों का उत्पाद कर सकती है। यदि ऋतु अनुकूल होती है तो रूप स्वच्छ होते हैं तथा शरीर स्वस्थ एवं पुष्ट होता है। स्वच्छ आसन एवं वस्त्रों का उपयोग करने पर उन आसन एवं वस्त्रों से स्पृष्ट ऋतु से शरीर के रूप भी स्वच्छ होते हैं एवं बढ़ जाते हैं। यदि ऋतु अनुकूल नहीं होती है तो रूप मलिन हो जाते हैं एवं स्वास्थ्य गिर जाता है। अस्वच्छ आसन एवं वस्त्रों का उपयोग करने पर उन आसन एवं वस्त्रों से स्पृष्ट ऋतु से शरीर के रूप भी मलिन हो जाते हैं तथा मलिन रूप बढ़ते हैं। वृक्ष, पर्वत-आदि में ऋतु के अनुसार होनेवाले परिवर्तनों को ध्यान में रखकर स्कन्ध में ऋतु से उत्पन्न रूपों के परिवर्तन पर भी गम्भीरतया विचार करना चाहिये।

आहारो – आहार में आनेवाला द्रव या स्नेह नामक ओजस् भी रूप का उपकार कर सकता है। अपने अनुकूल आहार एवं ओषधि का प्रयोग करने पर अच्छे-अच्छे रूप बढ़ते हैं एवं शरीर पुष्ट होता है। यदि प्रतिकूल आहार एवं ओषधि का सेवन किया जाता है तो रूप मलिन होते हैं। एवं रोग में भी वृद्धि हो जाती है अतः ये (कर्म चित्त, ऋतु एवं आहार) रूपधर्मों का उत्पाद करनेवाले धर्म हैं।

कर्मसमुत्थानरूप

३१. रूपों के उत्पादक जो ४ हेतु कहे गये हैं, उनमें कर्म कामावचर कुशल-अकुशल चेतना २० तथा रूपावचर कुशलचेतना ५=२५ चेतनाएँ ही

1. तु० – अट्ठ०, पृ० ५४।

हैं। अरूपावचर कुशलचेतना (कर्म) अरूपभूमि में ही फल देनेवाली होती है और अरूपावचरभूमि में रूप नहीं होते, अतः अरूपावचर कुशलकर्म (चेतना) रूप का उत्पाद नहीं कर सकते। इसी तरह लोकोत्तर कुशलचेतना भी अपने अनन्तर ही फलचित्त नामक विपाक को देनेवाली होने से रूप का उत्पाद नहीं कर सकती।

पूर्व पूर्व जीवन में कृत प्राणातिपात-आदि कर्म, दानकर्म, शीलकर्म, भावनाकर्म एवं ध्यान-प्राप्ति आदि कर्म द्वारा अभिसंस्कृत किया जाना 'अभिसङ्खत' (अभिसंस्कृत) कहलाता है[२]। ये पूर्व पूर्व भव के कर्मों द्वारा अभिसंस्कृत कर्म अपनी सन्तान में कर्म से उत्पन्न होनेवाले रूपधर्मों को अनन्तरभव में प्रतिसन्धि के उत्पादक्षण से लेकर क्षण क्षण में उत्पन्न करते हैं[३]। कर्मजरूपों को ही 'कम्मसमुट्ठानरूप' कहते हैं।

चित्त का स्थितिक्षण नहीं होता ?

'अट्ठकथा' के कुछ स्थलों में तथा 'मूलटीका' में 'चित्त का स्थितिक्षण नहीं है'– ऐसा कहा गया है[४]। क्योंकि 'चित्तयमक' में "उप्पन्नं उप्पज्जमानं ति ? भङ्गक्खणे उप्पन्नं, नो च उप्पज्जमानं; उप्पादक्खणे उप्पन्नं चेव उप्पज्जमानं च[५]" – इस प्रकार उत्पाद एवं भङ्ग क्षण ही कहकर स्थितिक्षण नहीं कहा गया है। यदि स्थितिक्षण होता है तो 'ठितिक्खणे भङ्गक्खणे च उप्पन्नं, नो च उप्पज्जमानं' – आदि कहना चाहिये था; किन्तु ऐसा नहीं कहा, अतः चित्त का स्थितिक्षण नहीं होता। चित्त उत्पन्न होते ही भङ्ग को प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार आकाश में फेंके हुए दण्ड या प्रस्तर-आदि, जब ऊपर जाने का वेग समाप्त हो जाता है तब, आकाश में एक क्षण भी स्थित न रह कर नीचे गिर जाते हैं और उनमें उत्पतन एवं पतन – ये दो क्रियाएँ ही होती हैं; ठीक उसी प्रकार चित्त के भी उत्पाद एवं भङ्ग – ये दो ही होते हैं। क्षण भी उत्पादक्षण एवं भङ्गक्षण – इस प्रकार दो ही होते हैं। उत्पाद होने के बाद स्थित रहनेवाला कोई स्थितिक्षण नहीं है। ('उप्पन्नं' – यह नाम सभी चित्तों से सम्बद्ध होता है। 'उप्पज्जमानं' – यह नाम उत्पन्न हो रहे चित्तों से ही सम्बद्ध होता है – अतः भङ्गक्षण में चित्त उत्पन्न ही होता है, उत्पद्यमान नहीं। उत्पादक्षण में चित्त उत्पन्न एवं उत्पद्यमान – दोनों होता है।)

---

१. तु० – "कम्मं ति एका चेतना एव, सा येव हि पट्ठाने नानक्खणिककम्मपच्चयभावेन वुत्ता।" – प० दी०, पृ० २५३।
"तत्थ कम्मं नाम कुसलाकुसलचेतना।" – विसु०, पृ० ४३४।

२. "'अभिसङ्खतं' ति अतीतकाले यथा कालन्तरे रूपं जनेति तथा विसेसेत्वा सुट्ठु कतं।" – प० दी०, पृ० २५३।

३. विभा०, पृ० १५६; प० दी०, पृ० २५४। "कम्मचेतना निरुद्धा व पच्चयो होति। अतीते कप्पकोटिसतसहस्समत्थके पि हि आयूहितं कम्मं एतरहि पच्चयो होति। एतरहि आयूहितं अनागते कप्पकोटिसतसहस्सस्स परियोसाने पि पच्चयो होतीति।" – विभ० अ०, पृ० २६।

४. विभ० मू० टी०, पृ० २२।

५. यमक, द्वि० भा०, पृ० ४१७।

सुत्तपिटक पालि में "उप्पादो पञ्ञायति, वयो पञ्ञायति, ठितस्स अञ्ञथत्तं पञ्ञायति" – इस प्रकार कहने से 'ठितस्स अञ्ञथत्तं' के अनुसार स्थितिक्षण भी होता है – ऐसा प्रतीत होता है; किन्तु उस पालि के अनुसार दो प्रकार की स्थिति का विभाग करके विचार करना चाहिये। वीथि के अनुसार प्रयुक्त 'क्षणस्थिति' एवं सम्बद्ध एकविध चित्तसन्तति परिवर्त्तित न होकर प्रवर्त्तमान रहनेवाली प्रबन्धस्थिति नामक 'सन्तति प्रज्ञप्तिस्थिति' – इस प्रकार स्थिति दो प्रकार की होती है। जैसे – एक रूपालम्बन का आलम्बन करके लोभचित्तसन्तति के उत्पन्न होने पर अनेक वीथियाँ हो जाने पर भी उस रूपालम्बन की अपेक्षा करके उत्पन्न होनेवाली चित्तसन्ततियाँ जबतक परिवर्त्तित नहीं होतीं, तब तक लोभचित्तसन्तति के विद्यमान रहने को 'प्रबन्धस्थिति' कहते हैं।

इन दोनों स्थितियों में 'उप्पादो पञ्ञायति, वयो पञ्ञायति, ठितस्स अञ्ञथत्तं पञ्ञायति' इस वाक्य में 'पञ्ञायति' शब्द का विचार किया जाये तो 'ठितस्स' शब्द द्वारा 'क्षणस्थिति' नहीं कही गयी है, अपितु 'प्रबन्धस्थिति' ही कही गयी है – ऐसा जानना चाहिये। क्योंकि एकचित्तक्षणकाल में होनेवाले स्थितिक्षण का परिवर्तन प्रकट नहीं हो सकता; अपितु एकचित्तसन्तति से अन्य चित्तसन्तति में परिवर्त्तन ही प्रकट हो सकता है। जैसे – लोभचित्तसन्तति प्रवृत्त होते समय यदि द्वेषचित्तसन्तति उत्पन्न हो जाती है तो देखनेवालों को यह परिवर्त्तन स्पष्ट प्रकट हो जाता है। अतः 'ठितस्स अञ्ञथत्तं पञ्ञायति' का अभिप्राय 'क्षणस्थिति' से न होकर 'प्रबन्धस्थिति' से है। यह 'संयुत्त-अट्ठकथा' में उल्लिखित 'अपरे'वाद एवं मूलटीकाचार्य का वाद है[२]।

अर्वाचीन आचार्यों द्वारा खण्डन – उपर्युक्त मत का अनुटीकाकार-आदि अर्वाचीन आचार्य इस प्रकार निराकरण करते हैं – एक चित्त में उत्पाद एवं भङ्ग – इस प्रकार भेद होता है। यदि उत्पाद ही सर्वदा होता रहेगा तो वह कभी भङ्ग में नहीं पहुँच सकेगा, अतः वह उत्पाद अवश्य रुकेगा ही। उस उत्पाद का रुककर भङ्ग की ओर अभिमुख होना ही 'स्थितिक्षण' है। जैसे – ऊपर आकाश में फैंके गये दण्ड या प्रस्तर-आदि यदि ऊपर ही जाते (उत्पतित) रहेंगे तो वे कभी नीचे नहीं गिरेंगे; अतः उनका रुकना होगा ही। जिस प्रकार उस दण्ड में उत्पतन (ऊपर जाना), रुकना, पतन – ये तीन अवस्थायें होती हैं; उसी तरह चित्त की भी उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग – ये तीन अवस्थायें होती हैं। 'चित्तयमक' पालि में उत्पाद एवं भङ्ग मात्र का कथन जिज्ञासु सत्त्वों के अध्याशय के अनुसार ही समझना चाहिये। बीचवाली स्थिति को 'मिगपदवळञ्जन' न्याय से जानना चाहिये। [जैसे – किसी शिलापट्ट के पूर्वभाग में मृग के चढ़ने के पदचिह्न देखकर फिर शिलापट्ट के अपरभाग में उसके उतरने के पदचिह्न देखकर देखनेवाला वनेचर शिलापट्ट पर मृग के पदचिह्नों को न देखकर भी शिलापट्ट पर से मृग का जाना अनुमान से जान लेता है। इस प्रकार बीच की स्थिति को अनुमान से जाननेवाले नय को 'मिगपदवळञ्जन' न्याय कहते हैं।]

---

१. अ० नि०, प्र० भा०, पृ० १३९-१४०; सं० नि०, द्वि० भा०, पृ० २७०-२७१।

२. द्र० – प० दी०, पृ० २५४; विभा०, पृ० १५७; विभ० मू० टी०, पृ० २२-२३।

'उप्पादो पञ्ञायति'-आदि पालि का "तीणिमानि भिक्खवे! सङ्खतस्स सङ्खतलक्खणानि" इस प्रकार प्रारम्भ किया जाने से यह संस्कृत परमार्थ का लक्षण दिखलानेवाली पालि है। इसलिये 'ठितस्स' के अनुसार सन्ततिप्रज्ञप्तिस्वभाववाली 'प्रबन्ध-स्थिति' का ग्रहण नहीं करना चाहिये। मुख्य परमार्थ होनेवाले किसी एकचित्त की 'स्थिति' का ही ग्रहण करना चाहिये। 'पञ्ञायति' में 'प' उपसर्ग भी 'ञा' धातु का अनुवर्तन करनेवाला धात्वर्थ का अनुवर्तक उपसर्ग है, अतः 'ञा' धातु के मूल अर्थ के अनुसार 'जाना जाता है'–ऐसा सामान्य अर्थ ही करना चाहिये। 'प्रकट होता है'–ऐसा विशेष अर्थ नहीं करना चाहिये। 'ठितस्स अञ्ञथत्तं पञ्ञायति' का अर्थ है 'स्थितिक्षण में विद्यमान धर्मों का अन्यथात्व (अन्य प्रकार का परिवर्तन) विपश्यना करनेवाले योगियों के ज्ञान द्वारा जाना जाता है'। अतः 'सूत्र एवं अभिधर्म के अनुसार स्थितिक्षण हो सकता है'–ऐसा मानना चाहिये'। यह स्थितिक्षण माननेवाले आचार्यों का निराकरण है। इस प्रकार यद्यपि नाना प्रकार के मतवाद हैं; तथापि अट्ठकथाचार्यों द्वारा स्थितिक्षण का ग्रहण किया जाने से तथा 'धातुकथा' पालि में 'जाति, जरा, मरण'–इस तरह तीन प्रकार (भेद) दिखलाकर नाम रूपों के उत्पाद को जाति, स्थिति को जरा एवं भङ्ग को मरण कहा जाने से स्थितिक्षण माननेवाला वाद ही आजकल अधिक प्रचलित है।

चित्त का भङ्गक्षण एवं रूप

'मूलटीका' के मत में चित्त के भङ्गक्षण में रूप की उत्पत्ति नहीं होती। अनुटीकाचार्य आदि के मत में हो सकती है। मूलटीकाचार्य "यस्स वा पन समुदयसच्चं निरुज्झति तस्स दुक्खसच्चं उप्पज्जतीति? नो"' इस 'सच्च-यमक' पालि के आधार पर अपना यह मत प्रस्थापित करते हैं कि 'चित्त के भङ्गक्षण में कोई रूप नहीं हो सकता'। 'यमक' पालि में 'यस्स समुदयसच्चं निरुज्झति तस्स दुक्खसच्चं उप्पज्जतीति' अर्थात् जिसका समुदयसत्य (तृष्णा=लोभ) निरुद्ध (भङ्ग को प्राप्त) होता है उसके तृष्णा (=लोभ) के भङ्गक्षण में दुःखसत्य नामक ८१ लौकिक चित्त, तृष्णा (=लोभ)–वर्जित ५१ चैतसिक एवं रूप उत्पन्न होते हैं कि नहीं?–इस प्रकार प्रश्न करके उत्तर दिया है–'नो' अर्थात् नहीं। इस उत्तर का प्रमाण करके जिस तरह लोभ के निरोधक्षण में सभी चित्त-चैतसिक निरुद्ध हो जाते हैं उसी तरह रूप भी उत्पन्न नहीं हो सकते–ऐसा 'मूलटीका का अभिप्राय है'। [मूलटीकाचार्य चूंकि पहले से ही धर्मों का 'स्थितिक्षण' स्वीकार नहीं करते, अतः 'सभी रूपों का उत्पाद चित्त के उत्पादक्षण में ही होता है'–यह प्रतिपादित करते हैं।]

अनुटीकाचार्य-आदि आधुनिक आचार्यों का कहना है कि उपर्युक्त प्रश्न का 'नो' यह उत्तर चित्त से सम्बद्ध चित्तज रूपों का ही लक्ष्य करके दिया गया उत्तर है। इस-लिये चित्त के भङ्गक्षण में केवल चित्तजरूप ही नहीं हो सकते। कर्मज, ऋतुज एवं

---

१. विभ० अनु०, पृ० २९-३०।

२. यमक, प्र० भा०, पृ० ३८२।

३. विभ० मू० टी०, पृ० २३-२४।

चित्तसमुट्ठानरूपं

३२. आरुप्पविपाक-द्विपञ्चविञ्ञाणवज्जितं* पञ्चसत्ततिविधम्पि चित्तं चित्तसमुट्ठानरूपं पठमभवङ्गमुपादाय जायन्तमेव समुट्ठापेति।

अरूपविपाक (४), द्विपञ्चविज्ञान (१०) वर्जित ७५ प्रकार के चित्त, चित्तसमुट्ठान (चित्तज) रूपों को प्रतिसन्धि के अनन्तर प्रथम भवङ्ग से लेकर सभी उत्पादक्षणों में उत्पन्न करते हैं।

आहारज रूप उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग – इन तीनों क्षणों में हो सकते हैं। जैसे – चित्तज रूप चित्त से सम्बद्ध होकर उत्पन्न होते हैं और चित्त उत्पादक्षण में ही बलवत्तर होता है, इसलिये चित्त के भङ्गक्षण में चित्तज रूपों का न होना युक्तियुक्त है। कर्मज, ऋतुज एवं आहारज रूप चित्त से सम्बद्ध रूप नहीं हैं। निरोधसमापत्तिकाल में एक सप्ताह काल तक चित्त न होने पर भी कर्मज-आदि त्रिज रूप होते रहते हैं। यदि चित्त के भङ्गक्षण में रूप उत्पन्न नहीं होते तो जब चित्त सर्वथा उत्पन्न नहीं होते तब (निरोधसमापत्तिकाल में) वे कैसे उत्पन्न होंगे ? इसलिये 'नो' यह उत्तर चित्त से सम्बद्ध चित्तज रूपों का लक्ष्य करके दिया गया उत्तर है। कर्मज-आदि अन्य रूप चित्त के उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग – इन तीनों क्षणों में तथा निरोधसमापत्तिकाल में भी यथा-योग्य होते ही हैं। [अरूपभूमि में सभी रूपों के उत्पन्न न होने से 'नो' यह उत्तर अरूपभूमि का लक्ष्य करके दिया गया उत्तर है – यदि इस प्रकार विकल्प किया जाता है तो यह भी युक्त नहीं है[1]।]

चित्तसमुत्थानरूप

३२. अरूपविपाक ४ तथा द्विपञ्चविज्ञान १० = १४ चित्तों को वर्जित करके अवशिष्ट ७५ चित्त प्रतिसन्धि के अनन्तर प्रथम भवङ्ग के उत्पाद से लेकर चित्तज रूपों का उत्पाद करते हैं। इस प्रकार उत्पाद करने में चित्त का स्वभाव उत्पादक्षण में ही प्रबल होने के कारण ये उत्पादक्षण में ही चित्तज रूपों को उत्पन्न करते हैं, स्थिति एवं भङ्गक्षण में चित्तज रूपों को उत्पन्न नहीं कर सकते[2]। जब चित्त एक बार उत्पन्न होता है तब अनेक चित्तजकलाप उत्पन्न होते हैं, इसलिये "चित्ताधिपति चित्तसम्पयुत्तकानं धम्मानं तंसमुट्ठानानं च रूपानं अधिपतिपच्चयेन पच्चयो[3]" में 'चित्तसमुट्ठानानं च रूपानं' – इस प्रकार बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

---

*. अरूप० – सी०, स्या०, ना०।

१. द्र० – विभ० अनु०, पृ० ३०; प० दी०, पृ० २५४; विभा०, पृ० १५७।

२. "चित्तं ठानक्खणे च भङ्गक्खणे च दुब्बलं, उप्पादक्खणे येव बलवं ति उप्पादक्खणे येव रूपं समुट्ठापेति।" – विभ० अ०, पृ० २६।

३. पट्ठान, प्र० भा०, पृ० ४।

अरूपविपाक रूप का उत्पाद नहीं कर सकते – ४ अरूपविपाक अरूपभूमि में ही ही प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युतिकृत्य कर प्रवृत्त होते हैं। यह अरूपभूमि रूप के प्रति विराग भावनावाले ब्रह्माओं का आवासस्थान है, अतः उस अरूपभूमि में रूपों का उत्पाद करना आवश्यक न होने से अरूपविपाक रूप का उत्पाद नहीं करते। केवल अरूपविपाक चित्त ही नहीं, अपितु अरूपभूमि में उत्पन्न होते समय अन्य ४२ चित्त भी रूपों का उत्पाद नहीं कर सकते[1]।

'विभावनी' टीका के अनुसार अरूपभूमि में रूपों का उत्पाद न होने में "रूपविरागभावनानिब्बत्तत्ता" – यह कारण दिखाया गया है अर्थात् रूपों के प्रति विराग करनेवाली अरूपध्यानभावना से उत्पन्न होने के कारण; किन्तु यह हेतु केवल अरूपविपाकचित्तों में ही लागू होता है, शेष ४२ चित्तों में नहीं, अतः 'विभावनी' का अभिमत विचारणीय है[2]।

द्विपञ्चविज्ञान रूप का उत्पाद नहीं कर सकते – १० द्विपञ्चविज्ञानचित्त, ध्यानाङ्ग मार्गाङ्ग एवं हेतुओं से सम्प्रयुक्त न होने के कारण दुर्बल होते हैं, अतः ये रूपों का उत्पाद करने में असमर्थ होते हैं[3]। यथा – "द्विपञ्चविञ्ञाणेसु पन झानङ्गं नत्थि, मग्गङ्गं नत्थि, हेतु नत्थीति, चित्तङ्गं दुब्बलं होतीति, चित्तङ्गदुब्बलताय तानि रूपं न समुट्ठापेन्ति[4]" इसकी व्याख्या करते हुए मूलटीकाकार ने भी इसी बात का समर्थन किया है, यथा – "झानङ्गानि हि चित्तेन सह रूपसमुट्ठापकानि, तेसं पन बलदायकानि मग्गङ्गादीनि, तेसु विज्जमानेसु विसेसरूपपवत्तिदस्सनतो[6]।" 'पट्ठान' पालि में भी ध्यानप्रत्यय, मार्गप्रत्यय एवं हेतुप्रत्ययों में "झानङ्गानि झानसम्पयुत्तकानं धम्मानं तंसमुट्ठानानं च रूपानं झानपच्चयेन पच्चयो[7]" इत्यादि द्वारा ध्यानाङ्ग, मार्गाङ्ग एवं हेतुधर्म रूपों के समुत्थापक हैं – ऐसा दिखाया गया है। इन (ध्यानाङ्ग, मार्गाङ्ग एवं हेतु) धर्मों में ध्यानशक्ति (ध्यानाङ्ग) आलम्बन को दृढ़तापूर्वक ग्रहण करती है। ध्यानशक्ति से चित्त प्रबल होता है। चित्त के प्रबल होने में ध्यानाङ्ग अत्यन्त अपेक्षित है तथा मार्गाङ्ग एवं हेतु भी उसके सहायक होते हैं। इन धर्मों से सम्प्रयुक्त न होनेवाले द्विपञ्चविज्ञान चित्तों में चित्ताङ्ग पूर्ण नहीं होते। अतः वे रूपों का उत्पाद करने में असमर्थ होते हैं।

---

१. "न केवलञ्च तानेव, यानि अञ्ञानि पि तस्मिं भवे अट्ठ कामावचरकुसलानि, दस अकुसलानि, नव किरियचित्तानि, चत्तारि आरुप्पकुसलानि, चतस्सो आरुप्पकिरिया, तीणि मग्गचित्तानि, चत्तारि फलचित्तानीति – द्वेचत्तालीस चित्तानि उप्पज्जन्ति; तानि पि तत्थ रूपस्स नत्थिताय एव रूपं न समुट्ठापेन्ति।" – विभ० अ०, पृ० २५। द्र० – प० दी०, पृ० २५५; अभि० स० ३ : ७१, पृ० २७९।

२. विभा०, पृ० १५८।

३. द्र० – प० दी०, पृ० २५५।

४. द्र० – प० दी०, पृ० २५५; विभा०, पृ० १५८।

५. विभ० अ०, पृ० २५।

६. विभ० मू० टी०, पृ० १८।

७. पट्ठान, प्र० भा०, पृ० ७।

इतना ही नहीं कि केवल अरूपविपाक एवं द्विपञ्चविज्ञानचित्त ही रूपों का उत्पाद नहीं कर सकते; अपितु प्रतिसन्धिचित्त एवं अर्हतों का च्युतिचित्त भी रूपों का उत्पाद नहीं कर सकते। किन्तु वे चित्त प्रतिसन्धिकृत्य एवं अर्हतों का च्युतिकृत्य करते समय ही रूपों का उत्पाद नहीं कर सकते; भवङ्ग तथा पृथग्जन एवं शैक्ष्यों का च्युतिकृत्य करते समय रूपों का उत्पाद कर सकते हैं, अतः चित्तगणना में उनका पृथक्करण नहीं किया गया है। सर्वदा रूप का उत्पाद न कर सकनेवाले अरूपविपाक ४ एवं द्विपञ्चविज्ञान १० को ही वर्जित कर के 'आरुप्पविपाकद्विपञ्चविञ्ञाणवज्जितं पञ्चसत्ततिविधम्पि'– ऐसा ऊपर कहा गया है[1]।

प्रतिसन्धिचित्त रूपों का उत्पाद नहीं कर सकते, क्योंकि–

१. वत्थुनो दुब्बलताय – आश्रयवस्तु (हृदय) दुर्बल होती है।
२. अप्पतिट्ठितताय – वे स्वयं अप्रतिष्ठित होते हैं।
३. पच्चयवेकल्लताय – पुरेजात-आदि प्रत्ययों से उपकार प्राप्त नहीं होते।
४. आगन्तुकताय – ये नवजीवन में आगन्तुकमात्र हैं।
५. चित्तसमुट्ठान रूपों के उत्पादक कारण का कर्मजरूपों द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है।[2]

१. रूप अपने उत्पत्तिक्षण में दुर्बल होते हैं। जब प्रतिसन्धिचित्त उत्पन्न होता है उस समय उसकी आश्रयभूत हृदयवस्तु का भी उत्पादक्षण ही होता है, अतः वह भी दुर्बल रहती है। इस दुर्बल आश्रय का ग्रहण करनेवाला प्रतिसन्धिचित्त रूपों का उत्पाद नहीं कर सकता। इसीलिये 'खन्धविभङ्गट्ठकथा' में लिखा है–"तत्थ हि सहजातं वत्थु उप्पादक्खणे दुब्बलं होतीति वत्थुनो दुब्बलताय न समुट्ठापेति[3]।"

यहाँ उपर्युक्त वचन द्वारा 'केवल हृदयवस्तु ही दुर्बल होती है और वह भी प्रतिसन्धि के उत्पादक्षण में ही–' इतना मात्र ही नहीं समझना चाहिये; अपितु चाहे प्रतिसन्धिकाल हो या प्रवृत्तिकाल, उत्पादक्षण में पश्चाज्जातप्रत्यय एवं आहार-आदि प्रत्ययों से उपकार उपलब्ध न होने के कारण सभी रूप दुर्बल होते हैं। इसीलिये 'मूल-टीका' में कहा गया है–

"वत्थु उप्पादक्खणे दुब्बलं होतीति सब्बरूपानं उप्पादक्खणे दुब्बलत्तं सन्धाय वुत्तं, तदा तं पच्छाजातपच्चयरहितं आहारादीहि च अनुपथद्धं' ति दुब्बलं ति वुत्तं[4]।"

---

१. प० दी०, पृ० २५५-२५६। द्र०–"सब्बसत्तानं हि पटिसन्धिचित्तं, खीणासवस्स चुतिचित्तं, द्विपञ्चविञ्ञाणानि, चत्तारि आरुप्पविपाकानीति सोळस चित्तानि रूपं न समुट्ठापेन्ति।"–विभ० अ०, पृ० २३; विसु०, पृ० ४३५।
२. विभा०, पृ० १५८; प० दी०, पृ० २५६; विभ० अ०, पृ० २३; विसु०, पृ० ३९४।
३. विभ० अ०, पृ० २३।
४. विभ० मू० टी०, पृ० १८।

२. प्रतिसन्धिचित्त की न केवल आश्रयवस्तु ही दुर्बल होती है, अपितु वे स्वयं नव-जीवन में कर्म के वेग से क्षिप्त (पहुँचाये गये) होने से अप्रतिष्ठित होते हैं। जिस प्रकार प्रपात में पतित हो रहा पुद्गल स्वयं अप्रतिष्ठित होने से दूसरों का आश्रय नहीं हो सकता, उसी तरह प्रतिसन्धिचित्त चित्तज रूपों के उत्पाद के लिये सहजात-निःश्रयशक्ति से उपकार नहीं कर सकता[1]।

३. प्रतिसन्धि के अनन्तर प्रथम भवङ्ग-आदि विपाक भी कर्म के वेग से क्षिप्त होने के कारण अप्रतिष्ठित ही होते हैं; किन्तु पूर्व पूर्व चित्तों द्वारा अनन्तर-आदि शक्तियों से उपकार किया जाने से तथा प्रतिसन्धि-आदि चित्तों के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु द्वारा पुरेजात-आदि शक्तियों से उपकार किया जाने से प्रथमभवङ्ग-आदि चित्त रूपों का उत्पाद कर सकते हैं। प्रतिसन्धिचित्त उसी तरह पुरेजातप्रत्यय एवं अनन्तरप्रत्यय-आदि से उपकार प्राप्त न होने के कारण दुर्बल होते हैं, अतः रूपों का उत्पाद नहीं कर सकते।[2]

४. जैसे कोई आगन्तुक सर्वप्रथम किसी नवीन स्थान में जाने पर कुछ भी करने में असमर्थ होता है, ठीक वही स्थिति प्रतिसन्धिचित्तों की भी होती है। वे नवीन भव में आगन्तुकमात्र होने से चित्तज रूपों का उत्पाद करने में असमर्थ होते हैं[3]।

५. प्रवृत्तिकाल में चित्त-चैतसिक चित्तजरूपों का आहार, इन्द्रिय-आदि सहजात-जातीय प्रत्ययों से उपकार करते हैं। प्रतिसन्धिचित्त ने उन सहजातजातीय प्रत्ययों से सहभूत कर्मज रूपों का उपकार किया है अर्थात् चित्तजरूपों का उपकार करनेवाली शक्ति का सहभूत कर्मज रूपों द्वारा ग्रहण कर लिया गया है, अतः प्रतिसन्धिचित्त चित्तज-रूपों का उत्पाद नहीं कर सकते[4]।

अर्हतों का च्युतिचित्त रूपों का उत्पाद नहीं कर सकता – अर्हतों का च्युतिचित्त रूपों का उत्पाद नहीं कर सकता; क्योंकि अविद्या तृष्णा नामक संसारमूल के उच्छिन्न हो जाने से नवीन भव में रूपों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता, अतः वह रूप का उत्पाद नहीं कर सकता[5]। विभावनीकार का कहना है कि संसारमूल उच्छिन्न होने से अर्हतों का च्युतिचित्त अत्यन्त उपशान्त होने से रूपों का उत्पाद नहीं कर सकता[6],

---

१. विभ० अ०, पृ० २३-२४; विभ० मू० टी०, पृ० १८।
२. विभ० अ०, पृ० २४; विभ० मू० टी०, पृ० १८।
३. विभ० अ०, पृ० २४; विभ० मू० टी०, पृ० १९।
४. विस्तार के लिये द्र० – विभ० अ०, पृ० २३-२४।
५. "खीणासवस्स पन चुतिचित्तं वट्टमूलस्स वूपसन्तत्ता न समुट्ठापेति। तस्स हि सब्बभवेसु वट्टमूलं वूपसन्तं अभब्बुप्पत्तिकं पुनब्भवे पवेणी नाम नत्थि।" – विभ० अ०, पृ० २४। विस्तार के लिये द्र०-प० दी०, पृ० २५६।
६. "चुतिचित्ते पन अट्ठकथायं भाववूपसन्तवट्टमूलस्मिं सन्ताने सातिसयं सन्त-वुत्तिताय खीणासवस्सेव चुतिचित्तं रूपं न समुट्ठापेतीति वुत्तं।" – विभा०, पृ० १५८।

३३. तत्थ अप्पनाजवनं* इरियापथम्पि सन्नामेति ।

वहाँ (७५ चित्तों में) अर्पणाजवन ईर्यापथ का भी सन्धारण करता है ।

३४. वोट्ठपनकामावचरजवनाभिञ्ञा† पन विञ्ञत्तिम्पि समुट्ठापेन्ति ।

वोट्ठपन, कामावचरजवन (२९) एवं अभिज्ञाद्वय विज्ञप्तियों (काय-विज्ञप्ति एवं वाग्विज्ञप्ति) का भी उत्पाद करते हैं ।

३५. सोमनस्सजवनानि पनेत्थ तेरस हसनम्पि जनेन्ति ।

इन वोट्ठपन, कामजवन एवं अभिज्ञाओं में से तेरह सौमनस्यजवन हसन का भी उत्पाद करते हैं ।

किन्तु यह मत अन्य टीका-आदि के अनुकूल नहीं हैं । मूलटीकाकार ने 'सङ्खार-यमक' का प्रमाण देकर कहा है कि सभी पुद्गलों के च्युतिचित्त रूपों का उत्पाद नहीं कर सकते[1] ।

३३-३५. इरियापथम्पि सन्नामेति – यहाँ 'इरिया' शब्द 'क्रिया' का पर्यायवाची है तथा 'पथ' का अर्थ 'कारण' है । शरीर की आकृति (बैठना, सोना आदि) 'ईर्या' है । उसका कारण 'ईर्यापथ' कहलाता है[2] । यहाँ 'कारण' से तात्पर्य 'उत्पत्तिकारण' से है । अतः 'ईर्यापथ' शब्द से जाना, खड़ा होना, बैठना एवं लेटना – इन चारों का ही ग्रहण होता है । परमत्थदीपनीकार ने यहाँ 'जाना' का वर्जन करके अवशिष्ट तीन का ही ग्रहण उल्लेख किया है[3] । ये शरीर की भिन्न भिन्न आकृतियाँ हैं । शरीर-सम्बन्धी जितने भी कृत्य हैं वे इन चार के बिना नहीं हो सकते, अतः ये शरीर-सम्बन्धी कृत्यों के उत्पत्तिकारण भी हैं । ध्यान, मार्ग एवं फल जवनों को 'अर्पणाजवन' कहते हैं । ये अर्पणाजवन स्वभावतः उत्पन्न होनेवाले ईर्यापथों को 'उन्मुख' करते हैं, यथास्थिति बनाये रखने के लिये अनुकूल करते हैं तथा उनका सन्धारण करते हैं[4] । ये ईर्यापथों का उत्पाद नहीं कर सकते । (आगे अभिज्ञाओं का वर्णन पृथक् रूप से होनेवाला है, यहाँ इतना समझ लेना चाहिये कि अर्पणाजवन में अभिज्ञाकृत्य करनेवाले पञ्चमध्यान का ग्रहण नहीं होता ।)

---

*. अप्पणा० – सी० (सर्वत्र) । †. वोत्थपन० – सी० ।

१. द्र० – विभ० मू० टी०, पृ० २३; ध० स० मू० टी०, पृ० १५१-१५२ ।

२. "इरियाय कायिकक्रियाय पवत्तिपथभावतो इरियापथो गमनादि ।" – विभा०, पृ० १५८ ।

३. "इरियापथं ति गमनवज्जितं तिविधं पि इरियापथं...न हि अङ्गपच्चङ्गानं चलनफन्दनमत्तं पि विञ्ञत्तिया विना सिज्झति, कुतो गमनं ! न च यथावुत्तं अप्पनाजवनं विञ्ञत्तिं समुट्ठापेतुं सक्कोतीति ।" – प० दी०, पृ० २५८ ।

४. "अत्थतो तदवत्थारूपप्पवत्ति; तं पि सन्धारेति यथापवत्तं उपत्थम्भेति ।" – विभा०, पृ० १५८ ।

कुछ लोग कहते हैं कि अर्पणाजवन स्वयं भी ईर्यापथ का उत्पाद कर सकते हैं, किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि ईर्यापथ बिना विज्ञप्ति के नहीं हो सकते और अर्पणाजवन विज्ञप्ति का उत्पाद नहीं कर सकते, अतः अर्पणाजवन ईर्यापथ का उत्पाद न करके सन्धारणमात्र करते हैं[1]। यहाँ 'अपि' शब्द उपर्युक्त रूपसामान्य का सम्पिण्डन करता है। (ईर्यापथ एवं विज्ञप्ति से रहित रूपों को 'रूपसामान्य' कहा गया है।) अर्पणाजवन न केवल रूपसामान्य का ही उत्पाद कर सकते हैं, अपितु ईर्यापथ का भी सन्धारण (उपष्टम्भन) कर सकते हैं[2]। इस अभिप्राय का लक्ष्य करके ही आचार्य अनुरुद्ध अपने 'नामरूपपरिच्छेद' नामक ग्रन्थ में कहते हैं—

"अप्पनाजवनं सब्बं महग्गतमनुत्तरं।
इरियापथरूपानि जनेन्तीति समीरितं[3]॥"

विञ्ञत्तिम्पि समुट्ठापेन्ति — यहाँ 'अपि' शब्द समुच्चयार्थक है। इसके द्वारा पूर्व दो वाक्यों में उक्त रूपसामान्य एवं ईर्यापथ का सम्पिण्डन होता है। अतः वोट्ठपन १, कामजवन २९, तथा अभिज्ञाजवन २=३२ चित्त रूपसामान्य का उत्पाद करते हैं, ईर्यापथ का सन्धारण करते हैं तथा कायविज्ञप्ति एवं वाग्विज्ञप्ति का उत्पाद भी करते हैं। यदि कायविज्ञप्ति होती है तो हाथ-पैर आदि हिलते-डुलते हैं, इसलिये ये ३२ चित ही जाने-आने, हिलने-डुलने आदि ईर्यापथों का प्रवर्तन एवं उत्पाद कर सकते हैं। यहाँ वोट्ठपन (व्यवस्थापन) एवं कामावचरजवन का सामान्यतया उल्लेख किया गया है। वस्तुतः यहाँ मनोद्वारवीथि में होनेवाले 'वोट्ठपन' (मनोद्वारावर्जन) एवं कामजवन का ही ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि पञ्चद्वारवीथि अत्यन्त दुर्बल होती है, अतः पञ्चद्वारवीथि में होनेवाले वोट्ठपन एवं कामजवन विज्ञप्ति का उत्पाद नहीं कर सकते; वे ईर्यापथ का सन्धारण भी नहीं कर सकते। आगे कहे जानेवाले हसन का उत्पाद करनेवाले चित्त भी मनोद्वारवीथिचित्त ही होते हैं[4]।

हसनम्पि जनेन्ति — उपर्युक्त वोट्ठपन, कामावचरजवन एवं अभिज्ञाजवनों में से १३ सौमनस्यजवन (=लोभमूल सौमनस्य ४, हसितोत्पाद १, महाकुशल सौमनस्य ४ तथा महाक्रिया सौमनस्य ४) हसन को भी उत्पन्न करते हैं। यहाँ 'अपि' शब्द द्वारा उपर्युक्त वाक्यों का समुच्चय होता है। अतः निष्कर्ष यह हुआ कि १३ सौमनस्यजवन रूपसामान्य का उत्पाद करते हैं, ईर्यापथ का सन्धारण करते हैं, विज्ञप्ति का उत्पाद करते हैं, एवं हसन का उत्पाद भी करते हैं।

पृथग्जन लोभमूल सौमनस्य ४ एवं महाकुशल सौमनस्य ४=८ में से किसी एक चित्त द्वारा हसन करते हैं।

शैक्ष्य (स्रोतापन्न, सकृदागामी एवं अनागामी) पुद्गल दृष्टिगतविप्रयुक्त सौमनस्य २, महाकुशल सौमनस्य ४=६ में से किसी एक चित्त द्वारा हसन करते हैं।

---

१. ध० स० मू० टी०, पृ० १५१।

२. तु० — विसु०, पृ० ४३५।

३. नाम० परि० ३२० का०, पृ० २३।

४. विभा०, पृ० १५८; प० दी०, पृ० २५८-२५९। द्र० — विसु०, पृ० ४३५।

अर्हत् और बुद्ध हसितोत्पाद १ तथा महाक्रिया सौमनस्य ४=५ में से किसी एक चित्त द्वारा हसन करते हैं[1]।

यहाँ कुछ आचार्य अर्हत् के हसितोत्पादजवन से तो सहमत हैं; किन्तु 'भगवान् बुद्ध हसितोत्पादजवन से हसन करते हैं' – इसे पसन्द नहीं करते। क्योंकि भगवान् बुद्ध के आवेणिक गुणों में 'बुद्धस्स भगवतो सब्बं कायकम्मं ञाणपुब्बङ्गमं, ञाणानुपरिवत्ति' – यह भी एक गुण है अर्थात् भगवान् बुद्ध के सम्पूर्ण कायकर्म ज्ञानपूर्वक एवं ज्ञान का अनुवर्तन करनेवाले होते हैं। भगवान् का हसन शब्दरहित केवल स्मितमात्र होता है, अतः वह कायकर्म ही है; इसलिये वह अवश्य ज्ञानानुपरिवर्त्ती होना चाहिये। ज्ञानरहित हसितोत्पादजवन कैसे ज्ञानानुपरिवर्त्ती हो सकेगा? अतः भगवान् बुद्ध हसितोत्पादजवन से कभी हसन नहीं कर सकते।

उपर्युक्त आचार्यों के मत का इस प्रकार प्रतिवाद किया जाता है – भगवान् बुद्ध किसी पुद्गल के विशिष्ट कुशल एवं अकुशल कर्म देखकर पूर्वेनिवासज्ञान द्वारा उसके पूर्व पूर्व जन्म की उत्पत्ति का आलम्बन करके अथवा कभी कभी अनागतांशज्ञान द्वारा उसके भविष्य में होनेवाले कारणों का आलम्बन करके इस हसितोत्पाद चित्त से हसन करते हैं। उपर्युक्त दोनों ज्ञान एवं सर्वज्ञताज्ञान के अनन्तर ही इस हसितोत्पाद के उत्पन्न होने से भगवान् बुद्ध का हसनरूपी कायकर्म एकान्तेन ज्ञानानुपरिवर्त्ती ही होता है[2]।

द्वेष से हसन नहीं – यहाँ प्रश्न होता है कि क्या कभी दुर्बल शत्रु को देखकर क्रोध एवं द्वेष से भी हसन होता है?

उत्तर – दुर्बलशक्ति शत्रु को देखकर उस शत्रु का आलम्बन करके जब द्वेष होता है, उस क्षण में हसन नहीं हो सकता। उसकी पराजय एवं अपनी विजय की सम्भावना का आलम्बन करते समय ही 'उसका मैं यथेष्ट प्रतिकार कर सकूँगा' – इस प्रकार सौमनस्यजवन होता है, इस सौमनस्यजवन से ही हसन होता है; किन्तु सौमनस्य के अनन्तर दौर्मनस्य तदनन्तर सौमनस्य – इस प्रकार मिश्रित रूप से उत्पाद होने के कारण चित्तसन्तति का सूक्ष्म भेद न जान सकने से 'द्वेष से हसन होता है' – इस प्रकार प्रतीत होता है।

सारांश – मनोधातु ३, तदालम्बन ११ तथा रूपविपाक ५=१९ चित्त रूपमात्र के उत्पादक होते हैं।

अर्पणाजवन २६ रूपसामान्य के उत्पाद के अतिरिक्त ईर्यापथ का भी सन्धारण करते हैं।

वोट्ठपन १, कामजवन २९ तथा अभिज्ञा २=३२ चित्त रूपमात्र के उत्पाद एवं ईर्यापथ के सन्धारण के अतिरिक्त विज्ञप्ति का भी उत्पाद करते हैं।

---

१. अट्ठ०, पृ० २३९।

२. अट्ठ०, पृ० २३८; विभा०, पृ० १५९; प० दी०, पृ० २५९।

उतुसमुट्ठानरूपं

३६. सीतुण्होतुसमञ्ञाता तेजोधातु ठितिप्पत्ता* व† उतुसमुट्ठानरूपं अज्झत्तञ्च बहिद्धा च यथारहं समुट्ठापेति ।

शीत एवं उष्ण ऋतु नामक तेजोधातु स्थिति को प्राप्त करके ही ऋतुजरूपों को आध्यात्मिक सन्तान में तथा बाहर यथायोग्य उत्पन्न करती है ।

इन ३२ चित्तों में से १३ सौमनस्यजवन रूपमात्र के उत्पाद, ईर्यापथ के सन्धारण एवं विज्ञप्ति के उत्पाद के अतिरिक्त हसन का भी उत्पाद करते हैं।

शेष अरूपविपाक ४, द्विपञ्चविज्ञान १०, सभी सत्त्वों के प्रतिसन्धिचित्त एवं अर्हत् का च्युतिचित्त=१६ चित्त किसी का उत्पाद नहीं करते[1]।

ऋतुसमुत्थानरूप

३६. शीतल वाष्प को शीत-ऋतु एवं उष्ण वाष्प को उष्ण-ऋतु कहते हैं। और ये दोनों तेजोधातु ही हैं[2]। रूप का भङ्गक्षण कुछ विलम्ब से होता है, अतः स्थितिक्षण में यह दीर्घायु होता है; इसीलिये स्थितिक्षण में यह स्वभाव से प्रबल होता है। सम्बद्ध रूपकलाप में आनेवाली पूर्वोक्त तेजोधातु उत्पाद के अनन्तर स्थितिक्षण में ही नये नये ऋतुजकलापों को उत्पन्न करती है[3]। इस तरह उत्पाद करने में एक ऋतु एक ऋतुज रूप को ही उत्पन्न कर सकती है।

'विभावनी' का मत है कि पश्चाज्जातप्रत्यय एवं आहारप्रत्यय आदि का उपकार स्थितिक्षण में ही उपलब्ध होता है, अतः ऋतु एवं ओजस् स्थितिक्षण में ही प्रबल होकर रूपों का उत्पाद कर सकते हैं[4]—यह ठीक नहीं; क्योंकि निरोधसमापत्तिकाल में पश्चाज्जातप्रत्ययों का उपकार नहीं मिलता तथा असंज्ञिभूमि में उत्पन्न होने के काल में पश्चाज्जात एवं आहार प्रत्यय—इन दोनों का उपकार उपलब्ध नहीं होता, तथा बहिर्धा ऋतु को भी पश्चाज्जातप्रत्ययों का उपकार प्राप्त नहीं होता; फिर भी ये ऋतुएँ रूपों

---

*. ठितिपत्ता—रो०। †. स्या० में नहीं।

१. द्र०—

"द्वत्तिंस चित्तानि छब्बीस ऊनवीसति सोळस।
रूपिरियापथ-विञ्ञत्ति-जनकाजनका मता॥"
—विसु०, पृ० ४३५।

२. प० दी०, पृ० २५३। "तत्थ उतु नाम चतुसमुट्ठाना तेजोधातु। उण्ह-उतु, सीत-उतू ति एवं पनेस दुविधो होति।"—विसु०, पृ० ४३६।

३. "तत्थ रूपं उप्पादक्खणे भङ्गक्खणे च दुब्बलं, ठानक्खणे व बलवं ति ठानक्खणे रूपं समुट्ठापेति।"—विभ० अ०, पृ० २६।

४. विभा०, पृ० १५९।

आहारसमुट्ठानरूपं

३७. ओजासङ्खातो आहारो आहारसमुट्ठानरूपं अज्झोहरणकाले ठानप्पत्तो* व समुट्ठापेति ।

'ओजस्' नामक आहार अभ्यवहरण (निगरण) काल में स्थितिक्षण को प्राप्त करके ही आहारज रूपों को उत्पन्न करता है ।

य। उत्पाद करती हैं, अतः ऋतु द्वारा रूपों के उत्पाद में पश्चाज्जात-आदि प्रत्ययों का उपकार आवश्यक नहीं है । रूपधर्मों की इस धर्मता के अनुसार स्थितिक्षण में ही प्रबल होने से वे सम्बद्ध रूपों का उत्पाद करने में समर्थ होते हैं । यह स्वीकार किया जा सकता है कि पश्चाज्जात-आदि प्रत्ययों द्वारा जब उपकार प्राप्त होता है तो उनकी धर्मता (स्वभाव) और अधिक बलवती हो जाती है, किन्तु रूपों के उत्पाद में उनके उपकार की कोई कारणता नहीं है[1] ।

आध्यात्मिक ऋतु आध्यात्मिक सन्तान में तथा बहिर्धा ऋतु बाह्य सन्तान में यथायोग्य ऋतुजरूपों का उत्पाद करती हैं । प्रायः ग्रन्थों में यह उपलब्ध होता है कि आध्यात्मिक ऋतु स्वयं एकाकी, बहिर्धा ऋतु से निरपेक्ष होकर रूपों का उत्पाद करने में असमर्थ होती है । बहिर्धा ऋतु स्कन्ध-सन्तान में सर्वदा स्पर्श करती रहती है और उसका साहाय्य आध्यात्मिक ऋतु को सर्वदा सुलभ रहता है । अतः आध्यात्मिक ऋतु का बहिर्धा ऋतु सर्वदा उपकार करती रहती है । इसलिये वह (आध्यात्मिक ऋतु) आध्यात्मिक सन्तान में रूपों का उत्पाद करने में समर्थ होती है ।

आहारसमुत्थानरूप

३७. यद्यपि सम्पूर्ण खाद्यपदार्थों को 'आहार' कहते हैं तथापि यहाँ रूप का उत्पाद करने में खाद्यवस्तु में आनेवाले 'ओजस्' का ही ग्रहण करना चाहिये, अतः 'ओजासङ्खातो आहारो' – इस प्रकार कहा गया है ।

अज्झोहरणकाले – इस शब्द का सामान्य अर्थ यह है कि 'अभ्यवहरणकाल में आहार आहारसमुत्थानरूपों का उत्पाद करता है' । वस्तुतः निगलने से पहले एवं चबाने

---

*. ठानपत्तो – सी०, ना० ।

१. "उतु पन पठमं रूपं समुट्ठापेति । को एस उतुनामा ति ? पटिसन्धिक्खणे उप्पन्नानं समतिंसकम्मजरूपानं अब्भन्तरे तेजोधातु । सा ठानं पत्वा अट्ठ रूपानि समुट्ठापेति ।" – विभ० अ०, पृ० २५ ।

"उतु नाम चेसे दन्धनिरोधो ति आदितुस्स ठानक्खणे उप्पादने कारणदस्सनत्थं...वुत्तं । दन्धनिरोधत्ता हि सो ठितिक्खणे बलवा ति तदा रूपं समुट्ठापेति ।" – विभ० मू० टी०, पृ० १९ ।

विस्तार के लिये द्र० – प० दी०, पृ० २५९-२६० ।

से पहले भी जब आहार जिह्वा पर पहुँचता है तभी से कुछ आहारों का रस जिह्वा से लेकर शरीर में यथायोग्य फैल जाता है। आहार जितना अनुकूल होता है उतने ही शीघ्र ओजस् शरीर में फैलता है तथा रस का वहन करनेवाली नाडियाँ जितनी स्वच्छ होती हैं उतने ही शीघ्र ओजस् फैलता है। हीन रसवाले आहार को दाँतों से काट-कर अच्छी तरह चबाकर निगलने के बाद ही उसका रस फैलता है। निगलने के बाद जब आहार आँतों में पहुँच जाता है तब पाचक तेजस् द्वारा पकने पर उसका कुछ अंश द्रव्य के रूप में अवशिष्ट रहता है और शेष अंश द्रव (रस) होकर रसवहा एवं रक्तवहा नाडियों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। उस फैलनेवाले द्रव के साथ आनेवाला ओजस् ही रूप का उत्पाद कर सकता है। इसलिये चबाना, न चबाना, निगलना, न निगलना आदि प्रधान नहीं हैं; अपितु रसनामक ओजस् का फैलना या न फैलना ही प्रधान है। आजकल खाना न खा सकनेवाले रुग्ण व्यक्तियों को उनकी नाक या अन्य द्वारों से नलिका द्वारा आहार पहुँचा देने पर भी वह आहार आहारज रूपों का उत्पाद कर सकता है। माता के गर्भाशय में रहनेवाले शिशु के शरीर में माता द्वारा खाये हुए आहार के फैलने से आहारज रूप उत्पन्न होते हैं। मनुष्य द्वारा खाये हुए आहार में स्थित ओजोधातु एक सप्ताहपर्यन्त स्कन्ध में फैलकर रहने से एक सप्ताह तक स्कन्ध में उपष्टम्भ करके आहारज रूपों का उत्पाद कर सकती है। कहा जाता है कि देवताओं का ओजस् १-२ मास पर्यन्त शरीर में फैला हुआ रहकर रूपों का उत्पाद कर सकता है।

"एकदिवसं परिभुत्ताहारो सत्ताहं पि उपत्थम्भेति; दिब्बा पन ओजा एकमासं द्वेमासं पि उपत्थम्भेति। मातरा परिभुत्ताहारो पि दारकस्स सरीरं फरित्वा रूपं समुट्ठापेति। सरीरे मक्खिताहारो पि रूपं समुट्ठापेति[1]।"

"कबळीकाराहारो ताव मुखे ठपितमत्तो येव अट्ठ रूपानि समुट्ठापेति। दन्तविचुण्णितं पन अज्झोहरियमानं एकेकं सित्थं अट्ठट्ठरूपानि समुट्ठापेति येव[2]।"

ठानप्पत्तो व – यहाँ 'ठानप्पत्तो व' यह वचन कोई विशिष्ट वचन नहीं है। रूपों को धर्मता के अनुसार स्थितिक्षण में पहुँचने पर ही प्रबल होने से 'ठानप्पत्तो व समुट्ठा-पेति' अर्थात् स्थितिक्षण में पहुँचने पर ही रूपों का उत्पाद करता है – ऐसा कहा गया है। जिस प्रकार गिलास में रखे हुए पानी को देखने पर 'यह वही पानी है' – ऐसा प्रतीत होता है; किन्तु वस्तुतः पुराना पुराना पानी (द्रवकलाप) नष्ट होकर नया नया पानी उत्पन्न होकर विद्यमान रहता है, उसी प्रकार उपर्युक्त रसधातु (ओजस्) भी सम्पूर्ण शरीर में फैलने पर पुरानी पुरानी रसधातुएँ (ओजस्) नष्ट होकर नयी नयी रसधातुएँ उत्पन्न होती रहती हैं। उस प्रकार उत्पन्न होनेवाले द्रव में आनेवाला ओजस् नया नया उत्पन्न होकर जब जब स्थितिक्षण में पहुँचता है तब तब आहार-समुट्ठान एक एक कलाप का उत्पाद करता है।

इस प्रकार उत्पाद करते समय आहार में आनेवाला वह ओजस् स्कन्ध के भीतर से किसी एक की सहायता के बिना रूप का उत्पाद नहीं कर सकता। स्कन्ध में

१. विसु०, पृ० ४३६। तु० – विभ० अ०, पृ० २५-२६।
२. म० नि० अ०, (मूलपण्णासट्ठकथा), प्र० भा०, पृ० २१३।

३८. तत्थ हदय-इन्द्रियरूपानि कम्मजानेव ।

उन रूपों में हृदयवस्तु एवं इन्द्रियरूप (८) कर्म से ही उत्पन्न होते हैं ।

विद्यमान कर्मज रूपों का (विशेषतया कर्मज ओजस् का) उपकार प्राप्त होने पर ही वह, आहारसमुत्थान रूपकलापों का उत्पाद कर सकता है। अर्थात् वह रसद्रव जब स्कन्ध में फैल जाता है तब उसका उन उन प्रदेशों में स्थित कर्मज रूपों के साथ समागम होता है। उन कर्मज रूपों में स्थित होकर कर्मज रूपों से उपकार को प्राप्त होने पर ही रसधातु में आनेवाला वह ओजस् रूप का उत्पाद कर सकता है ।

"आहारसमुट्ठानं नाम उपादिण्णकम्मजरूपं पच्चयं लभित्वा तत्थ पतिट्ठाय, ठानप्पत्ताय समुट्ठापितं[1] ।"

महाटीकावाद–'विसुद्धिमग्ग' के महाटीकाकार आचार्य धर्मपाल का कथन है कि आहार में आनेवाला बाह्य ओजस्, स्कन्ध में पहुँचने पर भी मुख्यतः रूप का उत्पाद नहीं कर सकता, अपितु आध्यात्मिक स्कन्ध में सर्वदा रहनेवाले कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार जन्य ओजस् ही आहारजरूपों का उत्पाद कर सकते हैं। बाह्य ओजस् तो आध्यात्मिक ओजस् द्वारा उपकार किये जाते समय केवल उसका उपष्टम्भ ही करता है। और इससे उपकार प्राप्त कर आध्यात्मिक ओजस् ही आध्यात्मिक सन्तान में रूपों का उत्पाद करता है[2] ।

आचार्यों ने इस विषय में पण्णास, संयुत्त एवं पट्ठान अट्ठकथाओं में भी विपरीत ढंग से व्याख्या की है; किन्तु आहार में आनेवाले बाह्य ओजस् द्वारा स्कन्ध में पहुँचने पर रूप का उत्पाद कर सकना अत्यन्त स्पष्ट है। रुग्ण व्यक्ति को प्रतिकूल आहार देने पर उसके जिह्वा पर रखते ही रोग बढ़ जाता है। आजकल एक चम्मच अनुकूल दवा से लाभ तथा प्रतिकूल दवा से हानि होते देखी जाती है। इस प्रकार होना बाह्य आहार में आनेवाले बाह्य ओजस् की शक्ति से ही हो सकता है। इस तरह आध्यात्मिक ओजस् द्वारा उपष्टम्भक शक्ति (सूत्रान्त प्रकृतोपनिश्रयशक्ति) से उपकार किया जाकर बाह्य ओजस् ही जनकशक्ति से आहारज रूपों का उत्पाद करता है। अतः 'बहिर्धा ओजस् रूप का उत्पाद नहीं करता, वह केवल उपष्टम्भनमात्र कर सकता है'–इस प्रकार के महाटीकावाद को अनेक आचार्य स्वीकार नहीं करना चाहते ।

३८. हृदयवस्तु १, प्रसादरूप ५, भावरूप २, जीवितरूप १=९ रूप पूर्व पूर्व कृत कर्मों से ही उत्पन्न होते हैं। 'एव' शब्द निर्धारणार्थक है अर्थात् इनका उत्पाद केवल कर्म से ही होता है; चित्त, ऋतु एवं आहार से नहीं। चित्त, ऋतु एवं आहार इन प्रसादरूपों का उत्पाद नहीं करते; वे केवल इनका उपष्टम्भमात्र करते हैं।

---

१. विसु०, पृ० ४३५ ।

२. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १०४ ।

३९. विञ्ञत्तिद्वयं चित्तजमेव।
दो विज्ञप्तियाँ चित्त से ही उत्पन्न होती हैं।

४०. सद्दो चित्तोतुजो।
शब्द चित्त एवं ऋतु से उत्पन्न होता है।

---

३९. दो विज्ञप्तियाँ (कायविज्ञप्ति एवं वाग्विज्ञप्ति) केवल चित्त से ही उत्पन्न होती हैं – विज्ञप्ति की व्याख्या के प्रसङ्ग में इसका वर्णन किया जा चुका है[1]। ये विज्ञप्तियाँ महाभूत के उत्पादक्षण में ही विद्यमान आकृतिविशेष होने से रूपधर्मता के अनुसार ५१ क्षुद्रक्षण तक स्थित नहीं रह सकतीं, अपितु चित्त के निरोध के साथ इनका भी निरोध हो जाता है। अतः इनकी गणना चित्तानुपरिवर्ती धर्मों में होती है[2]।

४०. शब्द के उत्पादक चित्त एवं ऋतु – दोनों होते हैं; किन्तु ये दोनों एक साथ उत्पाद नहीं करते। सजीव सत्त्वों के भाव प्रकट करनेवाले शब्द, जैसे – हँसना, रोना, बोलना आदि चित्त से उत्पन्न होते हैं। तथा उदरशब्द, मेघशब्द-आदि बाह्य शब्द ऋतु से उत्पन्न होते हैं।

यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यदि प्राणियों के शब्द चित्त से ही उत्पन्न होते हैं तो क्यों किसी का शब्द मधुर एवं दूसरे का कर्णकटु होता है? यदि इनका उत्पादक एक है तो इन्हें भी एकविध ही होना चाहिये?

समाधान – 'प्राणियों के शब्द चित्त से उत्पन्न होते हैं' – इस प्रकार के कथन द्वारा शब्दोत्पत्ति का आसन्नकारण कहा गया है। उनके मधुर एवं कटु होने में उनका केवल चित्त से ही नहीं; अपितु कर्म से भी सम्बन्ध होता है। शब्द के उत्पत्तिस्थान में यदि कर्म द्वारा उत्पन्न कर्मज पृथ्वीधातु उत्तम (अच्छी) होगी तो शब्द मधुर और यदि हीन होगी तो कटु होगा।

जब विवक्षाचित्त उत्पन्न नहीं होता तब शब्द भी उत्पन्न नहीं होता। विवक्षा-चित्त होने पर ही शब्द उत्पन्न होता है; अतः शब्द के उत्पाद में चित्त आसन्नकारण है। शब्द के उत्पत्तिस्थान में कर्मजरूप होते हैं। कर्म के अच्छे होने पर शब्दोत्पत्ति-स्थान में कर्मज पृथ्वी भी अच्छी होती है। विवक्षाचित्त उत्पन्न होने पर चित्तज पृथ्वी का कर्मज पृथ्वी के साथ सङ्घट्टन होता है। तब कर्मज पृथ्वी के अनुसार मधुर-आदि शब्द उत्पन्न होते हैं तथा हीनकर्म से हीनकर्मज पृथ्वीधातु उत्पन्न होती है एवं उस हीन कर्मज पृथ्वीधातु के सङ्घट्टन से कटु शब्द उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार शब्दों के माधुर्य एवं कटुता-आदि का सम्बन्ध कर्मज पृथ्वी से एवं उस कर्मज पृथ्वी का सम्बन्ध मूल कर्म से होता है[3]। जिस प्रकार तुरही के शब्द का मधुर या कटु होना तुरही के अच्छे या बुरे

---

१. द्र० – अभि० स० ६ : १३ पृ० ६४८–६५०।
२. द्र० – ध० स०, पृ० १७९ एवं ३२०। ३. तु० – प० दी०, पृ० २६१।

४१. लहुतादित्तयं उतुचित्ताहारेहि सम्भोति ।

लघुता-आदि तीन ऋतु, चित्त एवं आहार से उत्पन्न होते हैं ।

४२. अविनिब्भोगरूपानि* चेव आकासधातु च चतूहि† सम्भूतानि† ।

अविनिर्भोगरूप (आठ) एवं आकाशधातु कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार – इन चारों से उत्पन्न होते हैं ।

होने पर निर्भर है तथा तुरही का अच्छा या बुरा होना उस तुरही बनानेवाले पर निर्भर है, इसी प्रकार यहाँ जानना चाहिये । इसलिये 'निधिकण्डसुत्त' में भी लिखा है –

" सुवण्णता सुसरता सुसण्ठाना सुरूपता ।
आधिपच्चपरिवारो सब्बमेतेन लब्भति[1] ।।"

सुवर्णता, सुस्वरता, सुसंस्थान (आकृति), सुरूपता, आधिपत्य एवं परिवार – ये सब कर्म से ही प्राप्त होते हैं ।

[चित्तज पृथ्वीधातु के साथ कर्मज पृथ्वीधातु का सङ्घट्टन होते समय आसपास में होनेवाली ऋतुज एवं आहारज पृथ्वीधातु से भी सङ्घट्टन होगा ।]

४१. लघुता मृदुता एवं कर्मण्यता – ये तीनों ऋतु, चित्त एवं आहार से उत्पन्न होती हैं; कर्म से नहीं – इसका वर्णन पहले किया जा चुका है । यदि इनका कर्म से उत्पाद होगा तो कर्म से उत्पन्न होनेवाले प्रसादरूपों की तरह इनका भी यावज्जीवन सर्वदा स्थायित्व हो जायेगा; किन्तु इनकी स्थिति सर्वदा नहीं होती, अपितु रुग्ण होने पर, चित्त में विकार होने पर एवं भोजन में अरुचि होने पर ही इनका उत्पाद होता है, अतः सिद्ध होता है कि ये तीनों (लघुता, मृदुता एवं कर्मण्यता) कर्मज न होकर ऋतु, चित्त एवं आहार से ही उत्पन्न होती हैं ।

४२. आगे कहे जानेवाले 'रूपकलाप' के वर्णन-प्रसङ्ग में यह ज्ञात होगा कि ८ अविनिर्भोगरूप प्रत्येक कलाप में होते हैं, चाहे वह कलाप कर्मज, चित्तज, ऋतुज अथवा आहारज कोई भी क्यों न हो । बिना अविनिर्भोगरूपों के कोई कलाप नहीं होता, इसलिये अविनिर्भोगरूप कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार – चारों से उत्पन्न होते हैं । इन चारों उत्पादक कारणों से उत्पन्न कलापों का संयोग होनेपर परिच्छेदरूप नामक आकाशधातु की उत्पत्ति होती है । यद्यपि वह आकाशधातु किसी भी कारण से उत्पन्न नहीं होती, तथापि चार कारणों से उत्पन्न रूपकलापों में प्रकट होने से अविनाभावनियम के अनुसार चार कारणों से उत्पन्न कही जाती है ।

---

*. अविनिब्भोगो रूपानि – रो० ।

†-†. चतुसम्भूतानि – स्या० ।

१. खु० नि० (खु० पा०), प्र० भा०, पृ० ११ ।

४३. लक्खणरूपानि न कुतोचि* जायन्ति ।
लक्षणरूप किसी से भी उत्पन्न नहीं होते ।

---

४३. उपचय, सन्तति जरता एवं अनित्यता – ये चार लक्षणरूप किसी भी कारण से उत्पन्न नहीं होते। 'जायमानादिरूपानं सभावत्ता हि केवलं'[1] इस उक्ति के अनुसार यदि एक रूपकलाप उत्पन्न होता है तो 'उत्पाद' नामक उपचय एवं सन्तति स्वभाव से ही हो जाते हैं। स्थितिक्षण में जब रूपकलाप स्थित रहता है तब जरता भी स्वभावतः हो जाती है। जब रूपकलाप का भङ्ग होता है तब अनित्यता हो जाती है। उपचय एवं सन्तति नामक जाति, जरता एवं अनित्यता के उत्पाद के लिये यदि अभिसंस्कार करना पड़ेगा तो उस जाति के उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग भी मानने पड़ेंगे। इस तरह उस जाति का जातिरूप, जाति का जरतारूप एवं जाति का अनित्यतारूप भी मानना होगा। इसी तरह जरता के भी जातिरूप-आदि एवं अनित्यता के भी जातिरूप-आदि मानने पड़ेंगे। किन्तु यह समीचीन नहीं है। अतः जाति, जरता एवं अनित्यता मुख्य परमार्थ रूपधर्म नहीं हैं; अपितु ये उन उन रूपकलापों के उत्पादस्वभाव, जीर्णस्वभाव एवं भङ्गस्वभाव नामक प्रज्ञप्तिमात्र हैं, अतः जाति-आदि के उत्पाद के लिये अभिसंस्कार करनेवाला कोई कारण नहीं होता[2]।

उपचय एवं सन्तति की कर्मजादिरूपता – रूपों का उत्पाद करनेवाले कारणों के व्यापाररहित होने से पहले इन उपचय-सन्तति के विद्यमान होने से अभिधम्मपालि में 'उपचय-सन्तति कर्म-आदि कारणों से उत्पन्न होती हैं' – इस प्रकार पर्याय से कहा गया है। प्रस्तुत 'अभिधम्मत्थसङ्गहो' में मुख्यतया कर्म-आदि कारणों से उत्पन्न न होने के कारण 'न कुतोचि जायन्ति' अर्थात् इनका किसी से उत्पाद नहीं होता – ऐसा कहा गया है।

'रूपकण्ड' पालि एवं 'पट्ठान' पालि में उपचय-सन्तति को कर्म-आदि कारणों से उत्पन्न रूपों में सङ्गृहीत किया गया है[3]। इसमें भगवान् का अभिप्राय यह है कि रूपों का उत्पाद करनेवाले कर्म जबतक कर्मजरूपों का अभिसंस्कार (उत्पाद) नहीं कर लेते तबतक शक्तिव्यापार से रहित नहीं होते। जिस प्रकार कोई एक करणीय कर्म करनेवाला पुद्गल जबतक उस कर्म का सम्पादन नहीं होता तबतक व्यापाररहित नहीं होता, इसी प्रकार जानना चाहिये। उस कर्म का शक्तिव्यापार कर्मजरूपों के उत्पाद होने तक विद्यमान रहता है। कर्मजरूपों के उत्पाद के अनन्तर ही नष्ट होता है। इस प्रकार कारण कर्म के व्यापाररहित होने से पहले उपचय-सन्तति के प्रकट हो जाने से उन उपचय-

---

*. ०पि – स्या०।

१. द्र० – अभि० स० ६ : ४५, पृ० ६१४।

२. द्र० – अट्ठ०, पृ० २७२-२७३; विसु०, पृ० ३१५।

३. द्र० – ध० स०, पृ० ३२०।

४४. अट्ठारस पन्नरस तेरस द्वादसा ति च।
कम्मचित्तोतुकाहारजानि होन्ति यथाक्कमं ॥

अट्ठारह, पन्द्रह, तेरह एवं बारह – ये क्रमशः कर्मज, चित्तज, ऋतुज एवं आहारज होते हैं।

सन्ततियों को कर्म से उत्पन्न रूपों में सम्मिलित किया गया है। अर्थात् उन्हें पर्याय (उपचार) से कर्मजरूप कहा गया है। चित्तज, ऋतुज एवं आहारज – इस प्रकार कहने में भी – उपर्युक्त नय के अनुसार ही जानना चाहिये। जरता एवं अनित्यता, व्यापाररहित होने के बाद प्रकट होने से उस अभिधम्मपालि के अनुसार उन्हें कर्मज-आदि नहीं कहा जा सकता। अतएव 'अभिधम्मत्थसङ्गहो' के अनुसार कर्मजरूप १८ होने पर भी अभिधम्मपालि के अनुसार वे २० होते हैं[1]।

जरा एवं मरण की चतुर्जरूपता – सूत्रान्तपालि में "जरामरणं भिक्खवे ! अनिच्चं, सङ्खतं, पटिच्चसमुप्पन्नं[2]" इत्यादि कहा गया है। इस पालि के अनुसार जरामरण यद्यपि मुख्यतः संस्कृत एवं प्रतीत्यसमुत्पन्न नहीं है, तथापि संस्कृत एवं प्रतीत्यसमुत्पन्न रूपकलापों का जरा एवं मरण (भङ्ग) होने से चक्षुर्दशक-आदि रूपकलापों के संस्कृत एवं प्रतीत्यसमुत्पन्न इस नाम का जरा एवं मरण में उपचार करके स्थान्युपचार से उन्हें भी संस्कृत एवं प्रतीत्यसमुत्पन्न कहा गया है[3]। कहा भी है –

"पाठे कुतोचि जातत्तं जातिया परियायतो।
सङ्खतानं सभावत्ता तीसु सङ्खततोदिता[4] ॥"

अर्थात् 'रूपकण्ड' पालि में जाति (उपचय-सन्तति) का किसी कारण से उत्पाद पर्याय से कहा गया है। तथा सूत्रान्तपालि में, संस्कृत रूपकलापों का उत्पाद (जाति), स्थिति (जरा) एवं भङ्ग (मरण) स्वभाव होने से इन तीनों (जाति, जरा, मरण) में संस्कृतत्व कहा गया है।

[सूत्रान्तपालि में केवल जरा, मरण को ही संस्कृत नहीं कहा गया, अपितु जाति भी संस्कृत कही गयी है। इसलिये गाथा में 'तीसु' कहा गया है।]

४४. कर्मज-आदि रूपों की गणना करनेवाली यह सङ्ग्रह-गाथा है। कर्मजरूप १८ होते हैं। इनमें ९ एकान्त कर्मज हैं एवं ९ अनेकान्त। जो रूप केवल कर्मज हैं वे 'एकान्त कर्मज' कहलाते हैं; यथा – हृदयरूप १ एवं इन्द्रियरूप ८। जो केवल कर्मज ही नहीं, अपितु चित्तज, ऋतुज एवं आहारज भी होते हैं वे 'अनेकान्तकर्मज' हैं; यथा –

---

१. तु० – अट्ठ०, पृ० २७३; विसु०, पृ० ३१५।
२. सं० नि०, द्वि० भा०, पृ० २४।
३. प० दी०, पृ० २६३; अट्ठ०, पृ० २७३।
४. विभा०, पृ० १६०।

४५. जायमानादिरूपानं सभावत्ता हि केवलं ।
लक्खणानि न जायन्ति केहिचीति पकासितं ।।

अयमेत्थ रूपसमुट्ठाननयो ।

लक्षणरूप केवल उत्पद्यमान-आदि रूपकलापों के स्वभावमात्र होने के कारण किन्हीं कारणों से उत्पन्न नहीं होते – ऐसा प्रकाशित किया गया है ।

इस रूपसङ्ग्रह में यह रूपसमुत्थाननय है ।

अविनिर्भोगरूप ८ एवं आकाशधातु १ । चित्तजरूप १५ होते हैं, इनमें एकान्त चित्तज ६ एवं अनेकान्त ९ होते हैं । १५ चित्तजरूप ये हैं – विज्ञप्ति २, शब्द १, लघुतादि ३, अविनिर्भोगरूप ८ एवं आकाशधातु १ । इनमें अविनिर्भोगरूप ८ एवं आकाशधातु को छोड़कर शेष ६ एकान्तकर्मज हैं । मुख्यरूपेण एकान्त तो केवल विज्ञप्तिद्वय ही है । ऋतुज-रूप १३ होते हैं, जो १५ चित्तजरूप कहे जाते हैं उनमें से विज्ञप्तिद्वय हटाने पर शेष १३ ऋतुज रूप हैं । इनमें सब अनेकान्त हैं । आहारजरूप १२ होते हैं । १३ ऋतुज रूपों में से शब्द को निकाल देने पर शेष १२ आहारजरूप हैं ।

इन २८ रूपों का विभाग निम्न विधि से भी किया जा सकता है । एक कारण से होनेवाले रूप को एकज, दो से होनेवाले को द्विज-आदि कह सकते हैं ।

एकज	द्विज	त्रिज	चतुर्ज	अकारणज (न कुतोचि)
११	१	३	९	४=२८

एकज ११ ये हैं – हृदय १, इन्द्रियरूप ८ एवं विज्ञप्ति २ ।

द्विज – शब्द ।

त्रिज – लघुतादित्रय ।

चतुर्ज – आकाशधातु एवं अविनिर्भोगरूप ।

न कुतोचि – लक्षणरूप ४ ।

४५. उत्पाद, स्थिति, भङ्ग स्वभाववाले रूपकलापों के केवल स्वभावमात्र होने से लक्षणरूप (उपचय, सन्तति, जरता एवं अनित्यता) किसी भी (कर्म, चित्त, ऋतु अथवा आहार) कारण से उत्पन्न नहीं होते ।

रूपसमुत्थान समाप्त ।

रूपकलापविभागो

४६. एकुप्पादा, एकनिरोधा, एकनिस्सया*, सहवुत्तिनो एकवीसति रूपकलापा नाम।

एकोत्पाद, एकनिरोध एवं एकनिश्रय होते हुए सहवर्त्ती होनेवाले २१ प्रकार के रूपकलाप होते हैं।

रूपकलापविभाग

४६. 'कला अवयवा अप्पोन्ति पापुणन्ति एत्था ति कलापो' अर्थात् जहाँ अवयवधर्म प्राप्त होते हैं वह अवयवधर्मों का समूह 'रूपकलाप' है। रूपों की उत्पत्ति अन्योन्यसापेक्ष होती है। उनका पृथक् अर्थात् निरपेक्ष उत्पाद सम्भव नहीं, अतः जब रूप उत्पन्न होते हैं तब वे कलाप के रूप में ही उत्पन्न होते हैं और एक कलाप में कम से कम आठ अविनिर्भोग रूप अवश्य होते हैं। रूप-धर्मों का अन्तिम अवयव कलाप है।

चैतसिक परिच्छेद के प्रारम्भ में जो 'एकुप्पादनिरोधा च' यह गाथा है, उसी तरह यहाँ भी 'एकुप्पादा, एकनिरोधा' शब्द आते हैं। यहाँ रूप-धर्मों का वर्णन किया जा रहा है। रूप आलम्बन का ग्रहण नहीं कर सकते, चूंकि वे स्वयं आलम्बन हैं – अतः यहाँ 'एकालम्बन' शब्द नहीं आता। जैसे वहाँ एकोत्पाद, एकनिरोध, एकवस्तुक शब्दों से चैतसिक-धर्मों का सम्प्रयोगलक्षण दिखाया गया है, ठीक उसी प्रकार यहाँ भी एकोत्पाद, एकनिरोध एवं एकनिश्रय शब्द से रूपकलापों का लक्षण दिखाया गया है। जैसे वहाँ 'चेतोयुत्ता' शब्द से चैतसिक-धर्मों का स्वभाव कहा गया है, उसी तरह यहाँ 'सहवुत्तिनो' शब्द से 'कलाप' शब्द का स्वभाव कहा गया है। यह 'सहवुत्तिनो' शब्द कलाप का लक्षण नहीं है, अपितु कलाप का स्वभाव है[1]।

[कुछ लोग 'सहवुत्तिनो' शब्द को कलाप का एक अङ्ग मानते हैं। यह विचारणीय है।]

एक कलाप के अन्तर्गत होनेवाले रूप सह (एक साथ) उत्पन्न होते हैं एवं सह (एक साथ) निरुद्ध होते हैं तथा उसमें होनेवाले उपादायरूप महाभूतों का निश्रय करते हैं। महाभूत भी परस्पर निश्रय करते हैं। इसीलिये उन्हें एकोत्पाद, एकनिरोध तथा एकनिश्रय शब्दों द्वारा कहा गया है[2]।

'एकोत्पाद', 'एकनिरोध'-आदि शब्दों में प्रयुक्त 'एक' शब्द 'सङ्ख्या' अर्थ में भी लिया जाता है, तब उसका तात्पर्य यह होगा कि एक कलाप में यद्यपि कम से कम ८

---

*. ० च – स्या०।

१. प० दी०, पृ० २६४।

२. "एको समानो महाभूतसङ्खातो निस्सयो एतेसं ति एकनिस्सया। एत्थ पन समानत्थे एकसद्दो युत्तो।" – प० दी०, पृ० २६४; विभ० अ०, पृ० २६।

कम्मसमुट्ठानकलापा

४७. तत्थ जीवितं अविनिब्भोगरूपञ्च चक्खुना सह चक्खुदसकं ति पवुच्चति; तथा सोतादीहि सद्धिं सोतदसकं, घानदसकं, जिव्हादसकं, कायदसकं, इत्थिभावदसकं, पुम्भावदसकं*, वत्थुदसकञ्चेति यथाक्कमं योजेतब्बं। अविनिब्भोगरूपमेव जीवितेन सह जीवितनवकं† ति पवुच्चति‡। इमे नव कम्मसमुट्ठानकलापा।

रूपकलाप में जीवितेन्द्रिय १ और अविनिर्भोगरूप ८=९, चक्षुःप्रसाद के साथ 'चक्षुर्दशक' कलाप कहे जाते हैं। इसी तरह श्रोत्र-आदि के साथ श्रोत्रदशक घ्राणदशक, जिह्वादशक, कायदशक, स्त्रीभावदशक, पुम्भावदशक, वस्तुदशक कलाप की यथाक्रम योजना करनी चाहिये। अविनिर्भोगरूप ही जीवितरूप के साथ 'जीवितनवक' कलाप कहे जाते हैं। ये ९ कलाप 'कर्मसमुत्थानकलाप' कहे जाते हैं।

या इससे भी अधिक रूप होते हैं, तथापि एक कलाप का उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग एक एक ही होता है अर्थात् एक रूपकलाप में एक उत्पाद एक स्थिति एवं एक भङ्ग होता है। एक रूपकलाप में आनेवाले आठ रूपों के पृथक् पृथक् उत्पाद, स्थिति या भङ्ग नहीं होते[1]। यथा–

"एकेककलापपरियापन्नानं रूपानं सहेव उप्पादादिप्पवत्तितो एकस्स कलापस्स उप्पादादयो एकेका व होन्ति[2]।"

['सहवुत्तिनो' शब्द को रूपकलाप का एक अङ्ग माननेवाले आचार्य यद्यपि 'एकुप्पाद' एवं 'सहवुत्तिनो' में विशेष (भेद) कहते हैं, तथापि 'सहवुत्तिनो' यह शब्द कलाप का अङ्ग न होने से उस पर अधिक विचार आवश्यक नहीं है। एक कलाप में सह-उत्पन्न होने को 'एकुप्पाद' कहते हैं। आठ रूपों के एक कलाप में सह-उत्पन्न एवं सह-निरुद्ध होने को 'सहवुत्तिनो' कहते हैं। ये एकोत्पाद-आदि अङ्ग एकान्त रूप से उत्पाद-स्थिति-भङ्गस्वभाववाले परमार्थ निष्पन्नरूपों की अपेक्षा करके कहे गये होने से उत्पाद, स्थिति, भङ्ग स्वभाव न होने वाले अनिप्पन्नरूपों सें इन अङ्गों की सङ्गति होती है कि नहीं – यह विचार आवश्यक नहीं है।]

कर्मसमुत्थानकलाप

४७. **चक्षुर्दशक** – जीवितरूप एवं अविनिर्भोगरूप – ये चक्षुःप्रसाद के साथ 'चक्षुर्दशककलाप' कहे जाते हैं। दस रूपों का समूह 'दशक' कहा जाता है। चक्षुष् से उपलक्षित

---

*. पुरिसभावदसकं – स्या०। †. जीवितदसकं – रो०। ‡. पवुच्चतीति – स्या०।

१. "'एक' शब्दो चेत्थ सङ्खाने पवत्तो, तस्मा तेन यानि रूपानि एकाय एव जातिया जायन्ति, एकाय एव अनिच्चताय निरुज्झन्ति, तेसं पिण्डि इध 'रूपकलापो' नामा ति दस्सेति।" – प० दी०, पृ० २६४।

२. प० स० मू० टी०, पृ० १५७।

दशक 'चक्षुर्दशक' कहलाता है। अथवा – इसमें चक्षुष् की प्रधानता है अतः इसे 'चक्षुर्दशक' कहते हैं, क्योंकि शेष ९ रूप इसमें अप्रधान होते हैं। यथा – 'दसानं समूहो दसकं, चक्खुना उपलक्खितं दसकं चक्खुदसकं; चक्खुपधानं वा दसकं चक्खुदसकं[1]।" इसी तरह श्रोत्र के साथ जीवित एवं अविनिर्भोगरूप, 'श्रोत्रदशक' कलाप होता है। इसी प्रकार घ्राण, जिह्वा-आदि कलापों को भी जानना चाहिये। दशककलाप कुल ८ होते हैं[2]।

जीवितनवक – अविनिर्भोगरूप ८ एवं जीवितरूप १ – इन्हें 'जीवितनवक' कलाप कहते हैं; क्योंकि इनमें जीवितरूप की प्रधानता होती है। इस जीवितनवककलाप के विषय में प्रमुख तीन वाद प्रचलित हैं –

१. ये जीवितनवककलाप कामभूमियों में नहीं होते।

२. ये कामभूमि में तो होते हैं; किन्तु केवल पाचक-तेजस् में ही होते हैं, अन्यत्र नहीं।

३. कामभूमि में होते हैं तथा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर रहते हैं।

उपर्युक्त तीनों वादों में अन्तिम तृतीयवाद अधिकतर मान्य है।

"सन्ति सब्बानि रूपानि कामेसु चतुसम्भवा।
जीवितनवकं हित्वा कलापा होन्ति वीसति[3]॥"

चारों कारणों से उत्पन्न सब रूप कामभूमि में उत्पन्न होते हैं। जीवितनवक को छोड़कर २० कलाप कामभूमि में होते हैं।

"दसकेस्वेव गहितं विसुं कामे न लब्भति।
जीवितनवकं नाम रूपलोके विसुं सिया[4]॥"

यह जीवितनवककलाप दशककलापों में अन्तर्भुक्त है। अतः कामभूमि में इसका पृथक् ग्रहण नहीं होता। रूपलोक में यह पृथक्तया गृहीत होता है।

अनिरुद्धाचार्य अपने अन्य ग्रन्थों में जीवितनवककलाप को कामभूमि के दशककलापों के अन्तर्गत मानते हैं। अर्थात् कामभूमि में वे पृथक् अवस्थित नहीं होते; केवल रूपलोक में ही इनकी पृथक् अवस्थिति होती है। कुछ प्राचीन आचार्य यह कहते हैं कि कामभूमि में केवल पाचकतेजस् में ही जीवितनवककलाप उपलब्ध होते हैं, अन्यत्र नहीं। इनके अतिरिक्त अन्य पण्डितजन यह स्वीकार करते हैं कि ये जीवितनवककलाप भी कायदशककलाप, भावदशक-आदि कलापों की तरह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर कामभूमि में रहते हैं। उनके इस मत की पुष्टि अट्ठकथाचार्यों के मत से भी होती है।

---

१. प० दी०, पृ० २६४।

२. द्र० – "दस परिमाणा अस्सा ति दसकं, समुदायस्सेतं नामं। चक्खुना उपलक्खितं, तप्पट्ठानं दसकं चक्खुदसकं। एवं सेसेसु पि।" – विभा०, पृ० १६०।

३. परम० वि०, पृ० ९८।

४. परम० वि०, पृ० ९८।

'रूपसमुद्देश' में चतुर्विध तेजोधातु का वर्णन किया गया है[1]। उसमें पाचकतेजस् जीवित-नवककलाप है; यथा – "असितादिपरिपाचके ताव कम्मजे तेजोकोट्ठासम्हि ओजट्ठमकञ्चेव जीवितञ्चाति नव रूपानि[2]।" अर्थात् अशित-आदि का परिपाक करनेवाले कर्मज तेज:कोट्ठास में ओजोऽष्टक (शुद्धाष्टक) एवं जीवित = ९ रूप होते हैं, इन्हें ही कर्मतेजस् (= पाचकतेजस्) कहते हैं।

'विसुद्धिमग्ग' में वायुधातु को षड्विध कहा गया है। यथा – ऊर्ध्वङ्गम, अधोगम, कुक्षिशय, कोष्ठेशय, अङ्गप्रत्यङ्गानुसारी एवं आश्वास-प्रश्वास[3]। उनमें आश्वास-प्रश्वास वायु चित्तज शब्दनवककलाप है। यथा – "चित्तजे अस्सासपस्सासकोट्ठासे पि ओजट्ठमकञ्चेव सद्दो चा ति नव[4]" अर्थात् चित्तजकलापों में आश्वास-प्रश्वासकोट्ठास में ओजोऽष्टक (शुद्धाष्टक) कलाप एवं शब्द – ये ९ रूप होते हैं। इन्हें ही 'चित्तज शब्दनवक' कलाप कहते हैं। ये ही आश्वासप्रश्वास वायुधातु हैं। अवशिष्ट तीन तेजोधातु एवं पाँच वायु-धातु यथासम्भव कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार से उत्पन्न होती हैं। इनमें से कर्मज तेज:कलाप एवं कर्मज वायुकलाप जीवितनवककलाप हैं। अवशिष्ट कलाप ओजोऽष्टमक नामक शुद्धाष्टककलाप हैं। यथा – "सेसेसु चतुसमुट्ठानेसु अट्ठसु जीवितनवकञ्चेव तीणि च ओजट्ठमकानि[5]।"

अर्थात् कर्मज पाचकतेज:कोट्ठास एवं चित्तज शब्दकोट्ठास (= आश्वासप्रश्वास वायु को छोड़ कर शेष ३ तेजस् एवं ५ वायु = ८ 'चतुस्समुत्थान' (चार कारणों से उत्पन्न) कोट्ठासों में से प्रत्येक में जीवितनवककलाप एवं तीन ओजोऽष्टमक (ओजस् जिनमें अष्टम है = शुद्धाष्टक) – इस प्रकार कुल ३३ रूप होते हैं।

सन्तपन, दहन एवं जीरण तेजस् सम्पूर्ण स्कन्ध में सर्वदा व्याप्त रहनेवाली ऊष्मा के विकार हैं। उस ऊष्मा में जीवितनवककलाप सर्वदा उपलब्ध होते हैं। इसीलिये विभङ्गट्ठकथा में "इमस्मिं सरीरे पाकतिको एको उतु अत्थि[6]" – ऐसा कहा गया है। अर्थात् इस शरीर में एक प्राकृतिक ऋतु होती है। इसकी व्याख्या करते हुए मूलटीका-कार ने "'पाकतिको' ति खोभं अप्पत्तो सदा विज्जमानो[7]" – कहा है। अर्थात् क्षोभ को अप्राप्त (स्थिर) सदा विद्यमान को 'प्राकृतिक' कहते हैं। इस 'मूलटीका' की व्याख्या करते हुए अनुटीकाकार ने "पाकतिको ति साभाविको 'कायुस्मा' ति अधि-प्पेतो[8]" ऐसा कहा है। अर्थात् 'प्राकृतिक' का अर्थ स्वाभाविक कायिक ऊष्मा है।

इन अट्ठकथा, टीका एवं अनुटीकाओं के पर्यालोचन से यह स्थिर होता है कि जीवित-नवककलाप, कामभूमि में सब प्राणियों की सन्तान में ऊष्मा नामक तेजस् के रूप में

---

१. द्र० – अभि० स० ६:४, पृ० ६२५। २. विसु०, पृ० ४१६।
३. विसु०, पृ० २४०। ४. विसु०, पृ० ४१६।
५. विसु०, पृ० ४१६।
६. विभ० अ०, पृ० ७१।
७. विभ० मू० टी०, पृ० ४४।
८. विभ० अनु०, पृ० ५३।

चित्तसमुट्ठानकलापा

४८. अविनिब्भोगरूपं पन सुद्धट्ठकं। तदेव कायविञ्ञत्तिया सह कायविञ्ञत्तिनवकं, वचीविञ्ञत्तिसद्देहि सह* वचीविञ्ञत्तिदसकं, लहुतादीहि सद्धिं† लहुतादेकादसकं†, कायविञ्ञत्तिलहुतादिद्वादसकं‡, वचीविञ्ञत्तिसद्दलहुतादितेरसकञ्चेति§ छ$ चित्तसमुट्ठानकलापा।

अविनिर्भोगरूप शुद्धाष्टक हैं। वे शुद्धाष्टक ही कायविज्ञप्ति के साथ कायविज्ञप्तिनवककलाप; वाग्विज्ञप्ति एवं शब्द के साथ वाग्विज्ञप्तिदशककलाप; लघुतादि तीन के साथ लघुताद्येकादशककलाप; कायविज्ञप्ति एवं लघुतादि के साथ कायविज्ञप्तिलघुतादिद्वादशककलाप; वाग्विज्ञप्ति, शब्द एवं लघुतादि के साथ वाग्विज्ञप्तिशब्दलघुतादित्रयोदशककलाप कहलाते हैं। इस प्रकार ६ चित्तसमुत्थानकलाप हैं।

उसके विकार सन्तपन, दहन एवं जीरण तेजस् के रूप में तथा ऊर्ध्वङ्गमादि वायु के रूप में व्याप्त होकर रहते हैं।

चित्तसमुत्थानकलाप

४८. **वचीविञ्ञत्तिदसकं** – इस कलाप में अविनिर्भोगरूप ८, वाग्विज्ञप्ति एवं शब्द होने से इसे 'वचीविञ्ञत्तिसद्दसककलाप' कहना चाहिये था; किन्तु शब्द के बिना वाग्विज्ञप्ति न हो सकने से 'वाग्विज्ञप्तिदशक' – इस नाम से ही उसमें शब्द का भी सम्मिलित होना जाना जा सकता है. अतः 'वचीविञ्ञत्तिसद्दसक' न कहकर 'वचीविञ्ञत्तिदसक' कहा गया है[1]।

आठ चित्तजकलाप – यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ में चित्तजकलाप ६ ही दिखलाये गये हैं, तथापि अट्ठकथाओं के अनुसार इनकी सङ्ख्या ८ कही जाती है। जैसे – "चित्तजे

---

*. स्या० में नहीं; च सह – म० (क)।

†-†. एकादसकं – स्या०।

‡. ० लहुतादीहि द्वादसकं – स्या०।

§. ० लहुतादीहि० – स्या०।

$. इमे छ – स्या०।

१. "यस्मा पन चित्तजो सद्दो विञ्ञत्तिविकारेन विना न पवत्तति। विञ्ञत्तिविकारो च तेन सद्देन विना न पवत्तति, तस्मा चित्तजं सद्दनवकं वा वचीविञ्ञत्तिनवकं वा न सम्भवतीति अधिप्पायेन 'वचीविञ्ञत्तिसद्देहि च सह वचीविञ्ञत्तिदसकं' ति वुत्तं।" – प० दी०, पृ० २६४-२६५।

"वचीविञ्ञत्तिग्गहणेन सद्दो पि सङ्गहितो होति। तस्सा तदविनाभावतो ति, वुत्तं 'वचीविञ्ञत्तिदसकं' ति" – विभा०, पृ० १६०।

उतुसमुट्ठानकलापा

४९. सुद्धट्ठकं, सद्दनवकं, लहुतादेकादसकं, सद्दलहुतादिद्वादसकञ्चेति चत्तारो उतुसमुट्ठानकलापा।

शुद्धाष्टक, शब्दनवक, लघुताद्येकादशक एवं शब्दलघुतादिद्वादशक – ये ४ ऋतुसमुत्थानकलाप होते हैं।

आहारसमुट्ठानकलापा

५०. सुद्धट्ठकं, लहुतादेकादसकञ्चेति द्वे* आहारसमुट्ठानकलापा।

शुद्धाष्टक एवं लघुताद्येकादशक – ये २ आहारसमुत्थानकलाप हैं।

५१. तत्थ सुद्धट्ठकं सद्दनवकञ्चेति द्वे उतुसमुट्ठानकलापा बहिद्धा पि लब्भन्ति, अवसेसा पन सब्बे पि अज्झत्तिकमेवा† ति†।

इन २१ कलापों में से शुद्धाष्टक एवं शब्दनवक नामक २ ऋतुसमुत्थान-कलाप वाह्यजगत् में भी उपलब्ध होते हैं। शेष १९ कलाप आध्यात्मिक अर्थात् स्कन्धसन्तति में ही होते हैं।

अस्सासपस्सासकोट्ठासे पि ओजट्ठमकञ्चेव सद्दो चा ति नव"[1] – इस विसुद्धिमग्गट्ठकथा में आश्वासप्रश्वास वायु को (विज्ञप्तिरहित) चित्तज शब्दनवककलाप कहा गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि बिना विज्ञप्ति के चित्तज शब्दनवककलाप होता है। उदाहरणार्थ जैसे कोई व्यक्ति सो रहा है, उस समय भवङ्गसन्ततिमात्र हो रही है, कोई विज्ञप्ति नहीं होती, केवल भवङ्गचित्त से उत्पन्न आश्वासप्रश्वास हो रहा है, उस आश्वास-प्रश्वास को ही 'चित्तज शब्दनवककलाप' कहते हैं। यदि चित्तज शब्दनवकलाप होता है तो लघुतादिविकाररूपों के साथ 'शब्दलघुतादिद्वादशककलाप' भी हो सकता है, अतः चित्तजकलापों की सङ्ख्या ६ नहीं, ८ हो जाती है[2]।

ऋतुसमुत्थानकलाप एवं आहारसमुत्थानकलाप

४९-५०. इन कलापों के नाम, संङ्ख्या एवं उनमें होनेवाले रूपों का परिज्ञान पालि देखकर करना चाहिये।

इस प्रकार कर्मजकलाप ९, चित्तजकलाप ६, ऋतुज कलाप ४ एवं आहारजकलाप २=२१ कलाप होते हैं।

५१. सम्पूर्ण कलाप २१ होते हैं। इनमें ऋतुजकलाप ४ होते हैं, उनमें भी शुद्धाष्टक एवं शब्दनवक – ये २ कलाप बहिर्धासन्तान में भी होते हैं। 'बहिर्धा' का

---

*. इमे द्वे – स्या०। †-†. अज्झत्तिकमेव – सी०, रो०, ना०।

1. विसु०, पृ० ४१६।

2. विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – प० दी०, पृ० २६५।

५२. कम्मचित्तोतुकाहारसमुट्ठाना यथाक्कमं ।
नव छ चतुरो द्वे ति कलापा एकवीसति ।।

कर्मज, चित्तज, ऋतुज एवं आहारज कलाप यथाक्रम ६, ६, ४ एवं २ होते हैं – इस तरह कुल कलाप २१ होते हैं ।

५३. कलापानं परिच्छेदलक्खणत्ता विचक्खणा ।
न कलापङ्गमिच्चाहु आकासं* लक्खणानि च ।।

अयमेत्थ कलापयोजना ।

आकाशधातु एवं लक्षण रूपकलापों के केवल परिच्छेद एवं लक्षणमात्र होने से 'ये कलापों के अङ्ग हैं' – ऐसा पण्डितों ने नहीं कहा है ।

इस रूपसङ्ग्रह में यह कलाप-योजना है ।

तात्पर्य स्कन्ध से बाहर होनेवाले अविज्ञानक (जड) वृक्ष-आदि पदार्थों से है । इसीलिये शव, नदी, वृक्ष, पर्वत-आदि में होनेवाले सभी रूप ऋतु से उत्पन्न शुद्धाष्टककलाप ही होते हैं । इन्हीं वृक्ष-आदि में वायु के सङ्घर्षण से, अन्योन्य घर्षण से, दण्ड-आदि से खटखटाने पर जब शब्द की उत्पत्ति होती है तब ऋतुज शब्दनवककलाप उत्पन्न होते हैं । 'अपि' शब्द से ये २ कलाप केवल बहिर्धा ही नहीं, अपितु स्कन्धसन्तति (आध्यात्मिक सन्तान) में भी होते हैं ।

उपर्युक्त २ ऋतुजकलापों को छोड़कर शेष १९ कलाप केवल स्कन्धसन्तति में ही उत्पन्न होते हैं, बाहर कदापि नहीं । 'एव' शब्द यहाँ निर्धारणार्थक है । अर्थात् ये १९ कलाप बाहर नहीं ही होते ।

सङ्क्षेप में यह स्पष्ट हुआ कि २ ऋतुजकलाप बाहर होते हैं और २१ कलाप यथासम्भव आध्यात्मिक सन्तान में होते हैं ।

५३. यहाँ आकाशधातु कलापों का परिच्छेदमात्र होती है । जब दो रूपकलाप संयुक्त होते हैं तब उनके मध्य में आकाशधातु अपने आप आ जाती है, अतः आकाशधातु कलापों के सङ्घटन में उनका अवयव नहीं हो सकती, अपितु कलाप के बाहर ही होती है । लक्षणरूप, कलापों के उपचय, सन्तति, जरता एवं अनित्यता नामक स्वभावमात्र हैं; अतः ये किसी भी तरह कलापों के अङ्ग नहीं हो सकते । जिस प्रकार पुरुषविशेष का जन्म होना, बढ़ना एवं मरना-आदि पुरुष के अङ्ग न होकर उसके लक्षण (स्वभाव) मात्र होते हैं, उसी तरह उपचय, सन्तति, जरता, अनित्यता रूप नहीं है, अपितु रूपकलापों के लक्षणमात्र हैं; अतः २१ रूपकलापों में इन ५ रूपों की गणना नहीं होती[1] ।

विकाररूप कलापों के अङ्ग हैं – विकाररूप, रूपों के संयुक्त होने अथवा न होने पर भी रूपकलापों के विशेष आकार होते हैं । अतः ५ विकाररूप स्वभावधर्म न होने

---

*. आकारं – रो० ।

१. प० दी०, पृ० २६६ ।

रूपप्पवत्तिक्कमो

५४. सब्बानि पि पनेतानि रूपानि कामलोके यथारहं अनूनानि पवत्तियं उपलब्भन्ति ।

ये सम्पूर्ण रूप कामलोक में प्रवृत्तिकाल में यथायोग्य अन्यून भाव से उपलब्ध होते हैं ।

पर भी कलाप में सङ्गृहीत किये गये हैं । जैसे – यदि विज्ञप्ति होती है तो छन्द को ज्ञापित कर सकनेवाला विशेष आकार रूप में आ जाता है । यदि लघुता-आदि होते हैं तो रूपों में लघु-आदि विशेष आकार हो जाते हैं। इस प्रकार कलापों को स्वभाव से कुछ विशिष्ट (भिन्न) करने से इन पाँच विकाररूपों को कलापों के अङ्ग के रूप में स्वीकृत किया गया है । लक्षणरूप उसी तरह कुछ विशेष (भेद) नहीं करते, अतः उन्हें कलापों के अङ्ग के रूप में सङ्गृहीत नहीं किया गया है । कलापों का अन्तरालमात्र होनेवाली आकाशधातु के बारे में तो कहना ही क्या है !

रूपकलापविभाग समाप्त ।

•

रूपप्रवृत्तिक्रम

५४. उपर्युक्त सम्पूर्ण २८ रूप कामलोक में प्रवृत्तिकाल में अन्यूनरूप से यथा-योग्य उपलब्ध होते हैं। यद्यपि सम्पूर्ण २८ रूप कामलोक में होते हैं, फिर भी सब सन्तानों में ये सब उपलब्ध नहीं होते । यथा – पुरुषसन्तान में स्त्रीभावरूप एवं स्त्रीसन्तान में पुरुषभावरूप नहीं होता, इस तरह पुद्गल के अनुसार होना एवं न होना जानने के लिये 'यथारहं' शब्द का प्रयोग किया गया है[1]। कुछ लोग कहते हैं कि भावरूप एवं चक्षुरिन्द्रिय-आदि से सम्पन्न पुद्गल में एकान्तरूप से प्राप्त हो सकने के कारण 'यथारहं' शब्द कहा गया है[2]। जब 'यथारहं' शब्द कहते हैं तब एक पक्ष का ही नहीं, अपितु विपक्ष का भी ग्रहण होता है; इसीलिये आचार्य अनुरुद्ध अपने 'नामरूपपरिच्छेद' में कहते हैं –

"कामे सब्बे पि लब्भन्ति सभावानं यथारहं ।
सम्पुण्णायतनानं तु पवत्ति चतुसम्भवा[3] ।।"

इस गाथा में भावरूप एवं चक्षुष्-आदि से सम्पन्न पुद्गल की सन्तान के विषय में भी 'यथारहं' शब्द का प्रयोग हुआ है; अतः इस 'यथारहं' शब्द का अभिप्राय स्त्री-भाव एवं पुरुषभाव रूपों के होने या न होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।

---

१. "'यथारहं' ति सभावकाभावकानं परिपुण्णापरिपुण्णिन्द्रियानञ्च अरहानुरूपतो।" – प० दी०, पृ० २६६ ।

२. "'यथारहं' ति सभावकपरिपुण्णायतनानं अनुरूपतो।" – विभा०, पृ० १६० ।

३. नाम० परि०, पृ० ३९ ।

५५. पटिसन्धियं पन संसेदजानञ्चेव ओपपातिकानञ्च चक्खु-सोत-घान-जिव्हा-काय-भाव-वत्थुदसकसङ्खातानि सत्त दसकानि पातुभवन्ति उक्कट्ठवसेन; ओमकवसेन पन चक्खु-सोत-घान-भावदसकानि कदाचि पि* न लब्भन्ति*। तस्मा तेसं वसेन कलापहानि† वेदितब्बा।

प्रतिसन्धिकाल में संस्वेदज एवं औपपादुक सत्त्वों की सन्तान में उत्कृष्ट रूप से (अधिक से अधिक) चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, भाव एवं वस्तुदशक नामक ७ दशक प्रादुर्भूत होते हैं; हीन रूप से होने पर चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण और भावदशक कभी कभी उपलब्ध नहीं भी होते, इसलिये इन (चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण एवं भाव) के वश से कलापहानि जाननी चाहिये।

अनूनानि – इस प्रकार कुछ पुद्गलों में कुछ रूपों के प्राप्त न हो सकने पर भी कामभूमि में सभी २८ रूप हो सकते हैं, इसलिये इस शब्द का प्रयोग किया गया है[1]।

५५. प्रतिसन्धिक्षण जीवन का सर्वप्रथम क्षण है तथा च्युतिक्षण जीवन का सबसे अन्तिम क्षण, इन दोनों क्षणों के मध्य में जो स्थितिकाल है उसे ही 'प्रवृत्तिकाल' कहते हैं। संस्वेदज, औपपादुक एवं गर्भशयक (गब्भसेय्यक) – ये तीन प्रतिसन्धि लेनेवाले सत्त्व होते हैं। गर्भशयक के अण्डज एवं जरायुज – ये दो भेद होते हैं, अतः कुल चार प्रकार के सत्त्व कहे जाते हैं, इन्हें ही चार योनि भी कहते हैं। पुद्गलों के स्कन्ध नानाविध होते हैं, फिर भी उनमें चार श्रेणि-विभाग किये जा सकते हैं। यही श्रेणि-विभाग चार योनियाँ हैं[2]।

संस्वेदज – 'संसीदतीति संसेदो, संसेदे जाता संसेदजा' 'संस्वेद' एक स्नेहविशेष है, उससे उत्पन्न प्राणी 'संस्वेदज' कहे जाते हैं; यथा – रानी पद्मावती (जो पद्म में उत्पन्न हुई थी), पुष्करसाति ब्राह्मण (यह तडाग में उत्पन्न हुआ था), वेणुमती (यह बाँस में पैदा हुई थी) एवं इसी तरह क्षुद्र कीट मच्छर, मक्खी, यूका, लिक्षा-आदि संस्वेदज प्राणियों के उदाहरण हैं[3]।

औपपादुक – 'उपपतनं उपपातो, उपपातो येसं अत्थीति ओपपातिका' पूर्व भव से वर्तमान भव में जिनका उपपतन होता है, उन्हें 'औपपादुक सत्त्व' कहते हैं[4]। इस

-. न लब्भन्ति पि – स्या०। †. कलापानि – रो०।

१. "अनूनानीति परिपुण्णानि। न हि इदं नामरूपं कामलोके पवत्तियं न लब्भतीति अत्थीति।" – प० दी०, पृ० २६६।

२. "चतस्सो योनियो – अण्डजयोनि, जलाबुजयोनि, संसेदजयोनि, ओपपातिकयोनि।" – दी० नि०, तृ० भा०, पृ० १७९; म० नि०, प्र० भा०, पृ० १०३।

३. प० दी०, पृ० २६७। तु० – "कतमा च सारिपुत्त! संसेदजा योनि? ये खो ते सारिपुत्त! सत्ता पूतिमच्छे वा जायन्ति पूतिकुणपे वा, पूतिकुम्मासे वा चन्दनिकाय वा ओळिगल्ले वा, जायन्ति – अयं वुच्चति सारिपुत्त! संसेदजा योनि।" – म० नि०, प्र० भा०, पृ० १०३-१०४। "भूतानां पृथिव्यादीनां संस्वेदाद् द्रवत्वलक्षणाज्जाता...।" – स्फु०, पृ० २६५।

४. विभा०, पृ० १६१; प० दी०, पृ० २६७।

५६. गब्भसेय्यकसत्तानं पन काय-भाव-वत्थुदसकसङ्खातानि तीणि* दसकानि पातुभवन्ति। तत्थापि भावदसकं कदाचि न लब्भति। ततो परं† पवत्तिकाले कमेन चक्खुदसकादीनि च‡ पातुभवन्ति।

गर्भशयक सत्त्वों के (प्रतिसन्धिक्षण में) काय, भाव एवं वस्तु नामक तीन दशक प्रादुर्भूत होते हैं। उन तीनों में भी कभी कभी भावदशककलाप उपलब्ध नहीं होता। प्रतिसन्धि के अनन्तर प्रवृत्तिकाल में क्रमशः चक्षुर्दशक-आदि कलाप उत्पन्न होते हैं।

प्रकार के सत्त्वों की प्रतिसन्धि सम्पूर्ण स्कन्ध के साथ होती है। नारकीय सत्त्व, प्रेत, कतिपय तिरश्चीन योनि के प्राणी, देवगण, ब्रह्मा एवं सृष्टि के सर्वप्रथम मनुष्य – ये औपपादुक सत्त्व हैं[1]। इन संस्वेदज एवं औपपादुक सत्त्वों में प्रतिसन्धिक्षण के समय उत्कृष्टतावश भी अधिक से अधिक सात कलाप होते हैं। कभी कभी हीनतावश चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण एवं भाव दशक – इन ४ कलापों में से कुछ कलाप नहीं होते। इस तरह उन अप्राप्त दशकों की वजह से प्रतिसन्धिक्षण में रूपकलापों की हीनता जाननी चाहिये[2]।

[मूल में उल्लिखित 'कदाचि पि न लब्भन्ति' में 'अपि' शब्द अधिक प्रतीत होता है; क्योंकि टीकाओं में इसकी व्याख्या नहीं मिलती।]

५६. **गर्भशयक** – 'गब्भे सेन्तीति गब्भसेय्यका' जो गर्भ में शयन करते हैं वे सत्त्व 'गब्भसेय्यक' कहे जाते हैं। अर्थात् माता की कुक्षि में प्रतिसन्धि लेनेवाले सत्त्वों को 'गर्भशयक' कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं, यथा – (क) अण्डज, (ख) जरायुज।

(क) 'अण्डे जाता अण्डजा' अण्ड में उत्पन्न होनेवाले अण्डज हैं; यथा – शकुन (पक्षी), सर्प, कच्छप, मत्स्य-आदि[3]।

(ख) 'जरं एतीति जरायु' जो जीर्णता को प्राप्त होती है, उसे 'जरायु' कहते हैं; क्योंकि प्रसूति के समय वह जीर्ण होकर फट जाती है[4]। पालि में 'जरायु' शब्द का रूप 'जलाबु' होता है। अतः विग्रह होगा 'जलाबुम्हि जाता जलाबुजा' अर्थात् जरायु (जलाबु) में उत्पन्न सत्त्व 'जरायुज' (जलाबुज) हैं। मनुष्य, हस्ती, अश्व, सुनख-इत्यादि जरायुज सत्त्वों के उदाहरण हैं[5]।

---

*. तीनि – सी०, रो०। †. परं पन – स्या०। ‡ स्या० में नहीं।

१. "कतमा च सारिपुत्त! ओपपातिका योनि? देवा, नेरयिका, एकच्चे च मनुस्सा, एकच्चे च विनिपातिका – अयं वुच्चति सारिपुत्त! ओपपातिका योनि।" – म० नि०, प्र० भा०, पृ० १०४। तु० – स्फु०, पृ० २६५।

२. विभा०, पृ० १६१; प० दी०, पृ० २६८; विभ० अ०, पृ० २३; विसु०, पृ० ३६४।

३. प० दी०, पृ० २६७; "कतमा च सारिपुत्त! अण्डजा योनि? ये खो ते, सारिपुत्त! सत्ता अण्डकोसं अभिनिब्भिज्ज जायन्ति – अयं वुच्चति सारिपुत्त! अण्डजा योनि।" – म० नि०, प्र० भा०, पृ० १०३।

४. प० दी०, पृ० २६७।

५. "कतमा च सारिपुत्त! जलाबुजा योनि? ये खो ते सारिपुत्त! सत्ता वत्थिकोसं

इस प्रकार अण्डज एवं जरायुज – उभयविध गर्भशयक प्राणियों के प्रतिसन्धिक्षण में कायदशक, भावदशक एवं वस्तुदशक – ये तीन दशककलाप (३० रूप) प्रादुर्भूत होते हैं। इन ३० रूपों को ही 'कलल' कहते हैं[1]। कलल के परिमाण के विषय में 'विभङ्गट्ठ-कथा' में लिखा है कि मक्षिका एक बार में जितना जल पीती है उतना कलल का परिमाण होता है। अथवा – जम्बूद्वीप की महिला के या उत्तरकुरु की स्त्री के केश के अष्टमांश को अथवा अभिजात मृगशिशु के लोम को तैल में डुबोकर उठाने पर जितना तैल उठता है उतना कलल का परिमाण होता है। इतने कलल में ३० रूप होते हैं[2]।

प्रतिसन्धि लेने के तीन कारण – गर्भशयक की प्रतिसन्धि लेने में तीन कारण होते हैं। १. माता का ऋतुमती होना, २. माता एवं पिता का सहवास, ३. प्रतिसन्धि लेनेवाले सत्त्व का पुराने भव से नये भव की ओर उन्मुख होना। इन कारणों के परिपूर्ण होने पर प्राय: प्रतिसन्धि होती है[3]। इन तीन कारणों में से प्रतिसन्धि लेनेवाले सत्त्व का पुराने भव से नये भव में परिवर्त्तन कर के आना प्रधान है। तदनन्तर माता का गर्भाशय शुद्ध होना चाहिये; क्योंकि शुद्ध गर्भाशय में ही यदि कलल होने के लिये शुक्रांश अवशिष्ट रहता है तो प्रतिसन्धि हो सकती है। इसलिये माता पिता के सहवासमात्र से नहीं; अपितु माता में रागचित्त भी होना चाहिये; क्योंकि रागचित्त उत्पन्न होने पर ही गर्भाशय में शुक्रांश प्राप्त हो सकता है। किन्तु शुक्रांश प्राय: अल्प होता है, अत: अत्यल्प शुक्रांश से प्रतिसन्धि लेना प्राय: कम ही होता है। माता पिता का एक वार समागम होने पर उससे एक सप्ताह पर्यन्त प्रतिसन्धि ली जा सकती है। 'विमति' एवं 'वजिरबुद्धि' टीकाओं के अनुसार १५ दिन पर्यन्त भी प्रतिसन्धि ली जा सकती है। इसी अभिप्राय से 'आषाढ-पूर्णिमा के दिन मायादेवी के उपोसथव्रत के काल में बोधिसत्त्व प्रतिसन्धि लेते हैं' – ऐसा कहा गया है। (उपोसथ के दिन अष्टाङ्गशील का समादान किया जाता है, उसमें ब्रह्मचर्य शिक्षापद भी एक है। अत: उस दिन मायादेवी का पति के साथ सहवास कैसे हो सकता है? किन्तु 'एक वार समागम होनेपर एक या दो सप्ताह पर्यन्त प्रतिसन्धि हो सकती है' – इस ग्रन्थ के अनुसार आषाढी पूर्णिमा के दिन भी बोधिसत्त्व प्रतिसन्धि ले सकते हैं।)

अभिनिब्भिज्ज जायन्ति – अयं वुच्चति सारिपुत्त! जलाबुजा योनि। –" म० नि०, प्र० भा०, पृ० १०३।

तु० – "जरायुर्येन मातु: कुक्षौ गर्भो वेष्टितस्तिष्ठति, तस्माज्जाता जरायुजा:।" – स्फु०, पृ० २६५।

१. "तीणि दसकानि पातुभवन्ति, यानि कललं ति वुच्चन्ति।" – प० दी०, पृ० २६९; विभा०, पृ० १६२।

२. विभा०, पृ० १६२; प० दी०, पृ० २७२-२७३। विस्तार के लिये द्र० – विभ० अ०, पृ० २२-२३; विसु०, पृ० ३८८ एवं ३९३।

३. "यतो च खो भिक्खवे! मातापितरो च सन्निपतिता होन्ति, माता च उतुनी होति, गन्धब्बो च पच्चुपट्ठितो होति – एवं तिण्णं सन्निपाता गब्भस्सावक्कन्ति होति।" – म० नि०, प्र० भा०, पृ० ३२७।

उपर्युक्त कथन के अनुसार पूर्व कर्म के कारण माता के गर्भ में कलल-प्रतिसन्धि लेने में माता पिता का रजःशुक्रांश अत्यन्त उपकारक होता है। कलल बीज के सदृश होता है तथा माता पिता का रजस् एवं शुक्र पानी एवं मिट्टी के सदृश होते हैं। कलल का उत्पाद करनेवाले पूर्वभव के कर्म बीज बोनेवाले की तरह होते हैं। इसलिये कलल-प्रतिसन्धि होने के लिये शुद्ध गर्भाशय, नीरोग एवं दोषरहित शुक्र अत्यन्त आवश्यक हैं। यदि गर्भाशय अथवा शुक्र में दोष होगा तो प्रतिसन्धि लेनेवाला सत्त्व स्वस्थ एवं पुष्ट न हो सकेगा।

माता पिता के रजःशुक्र से ऋतुजरूप कलल में सङ्क्रमित होते हैं, अतएव सत्त्व की आकृति एवं वर्ण माता पिता की आकृति एवं वर्ण के समान होते हैं। इसीलिये 'खन्धविभङ्गमूलटीका' में "पुरिमरूपस्सापि हि पच्चयभावो अत्थि, पुत्तस्स पितिसदिसतादस्सनतो"[1] – ऐसा कहा गया है। अर्थात् आकृति एवं वर्ण के उत्पाद में पूर्वरूप की प्रत्ययता होती है; क्योंकि पुत्र की आकृति एवं वर्ण पितृसदृश देखे गये हैं।

देखा गया है कि सत्त्वों के स्वभाव, शक्ति, व्यक्ति एवं विचार भी माता पिता के जैसे होते हैं, ये कैसे सङ्क्रमित होते हैं? इसके बारे में ऐसा कहा जाता है कि प्रतिसन्धिकाल में माता पिता के चित्तप्रत्ययऋतुजरूपों के सङ्क्रमण से ही इनका सङ्क्रमण होता है तथा उत्पत्ति के अनन्तर प्रतिदिन माता पिता का स्वभाव-आदि देखने से भी वे (स्वभाव-आदि) वैसे बनते हैं।

ततो परं पवत्तिकाले कमेन – प्रतिसन्धिचित्तक्षण के अनन्तर प्रवृत्तिकाल में कलल की शनैः शनैः वृद्धि होती है। कलल में नये नये कर्मज रूपकलापों का उत्पाद होता है। इन नये कर्मज रूपकलापों में ऋतुनामक तेजोधातु भी होती है। इस ऋतु के कारण ऋतुज रूपकलापों की वृद्धि होती है उन ऋतुज रूपों का कर्म ही मूल होने से उन ऋतुज रूपों को 'कर्मप्रत्ययऋतुजरूप' भी कहते हैं।

चित्त से उत्पन्न होनेवाले चित्तजरूपों का भी नया नया उत्पाद होता है। इन चित्तज रूपकलापों में होनेवाली ऋतु से ऋतुजकलाप भी उत्पन्न होते हैं (ये ऋतुजकलाप चित्तमूलक होने के कारण 'चित्तप्रत्ययऋतुजरूप' कहे जाते हैं)। माता के गर्भाशय में होनेवाली 'ऊष्मा' नामक ऋतु भी कलल में ऋतुजरूपों का उत्पाद करती है। इसी तरह आहारज रूपकलापों में होनेवाली ऋतु के कारण आहारप्रत्यय-ऋतुजरूपों की वृद्धि होती है। इस तरह कलल की सतत वृद्धि होती रहती है[2]। 'यक्खसंयुत्त' में कलल के अनन्तर भिन्न भिन्न आकृतियों का वर्णन इस प्रकार उपलब्ध है –

"पठमं कललं होति कलला होति अब्बुदं।
अब्बुदा जायते पेसि पेसि निब्बत्तती घनो॥
घना पसाखा जायन्ति केसा लोमा नखापि च[3]॥"

---

१. विभ० मू० टी०, पृ० १९।
२. प० दी०, पृ० २६९-२७०।
३. सं० नि०, प्र० भा०, पृ० २०७।

पठमं कललं होति – प्रतिसन्धिक्षण से लेकर एक सप्ताह पर्यन्त कललरूप रहता है। वह कलल धीरे धीरे बढ़ता रहता है[1]।

कलला होति अब्बुदं – एक सप्ताह पर्यन्त कलल रहने के अनन्तर उसकी आकृति में परिवर्तन होकर अर्बुद हो जाता है। यह भी एक सप्ताह तक रहता है।

अब्बुदा जायते पेसि – अर्बुद से मांसपेशी के रूप में परिवर्तन होता है। यह भी एक सप्ताह तक होता है।

पेसि निब्बत्तती घनो – पेशी से घनरूप की उत्पत्ति होती है। घन का अर्थ दार्ढ्य है। पेशियों में दार्ढ्य उत्पन्न होता है। यह भी एक सप्ताहपर्यन्त होता है।

घना पसाखा जायन्ति – घन से पाँच शाखाओं की उत्पत्ति होती है। दो पाद, दो हाथ एवं शिर बनने के लिये घन में पाँच आकारविशेष (पिडिकाओं) की उत्पत्ति होती है, जो बहुत सूक्ष्म चिह्न होते हैं। ये एक सप्ताह पर्यन्त बढ़ते रहते हैं। इस तरह प्रतिसन्धि के बाद शाखाओं के उत्पादपर्यन्त गर्भस्थ शरीर के ३५ दिन व्यतीत हो जाते हैं और वह क्रमशः निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता रहता है।

कमेन चक्खुदसकादीनि च पातुभवन्ति – उपर्युक्त क्रम से बढ़ते हुए गर्भस्थ सत्त्व का जब ११वाँ सप्ताह पूर्ण होता है तब जिन कर्मज रूपों को प्रतिसन्धिक्षण में उत्पन्न होने का अवकाश नहीं मिला था वे चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण, एवं जिह्वा दशक नामक चार कर्मजकलाप उत्पन्न होते हैं – ऐसा मूलटीकाकार एवं अन्य आचार्यों का मत है। विभावनीकार ने इस विषय में "पवत्तिका लेति सत्तमे सत्ताहे, टीकाकारमतेन एकादसमे सत्ताहे वा"[2] – ऐसा कहा है। अर्थात् 'प्रवृत्तिकाल में' – इस शब्द का अर्थ है सप्तम सप्ताह में; किन्तु मूलटीकाकार के मत में 'प्रवृत्तिकाल' शब्द का अर्थ ग्यारहवाँ सप्ताह है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि विभावनीकार के मत में चक्षुर्दशक-आदि की उत्पत्ति सप्तम सप्ताह में होती है और मूलटीकाकार के मत में ग्यारहवें सप्ताह में होती है। चक्षुर्दशक-आदि के उत्पाद में टीकाकारों के परस्पर दो विभिन्न मत हैं। इस मतभेद का आधार 'कथावत्थु-अट्ठकथा' में उल्लिखित 'षडायतन-उत्पत्तिकथा' की निम्न पङ्क्तियाँ प्रतीत होती हैं; यथा – "गब्भसेय्यकानं अज्झत्तिकायतनेसु मनायतनकायायतनानेव पटिसन्धिक्खणे उप्पज्जन्ति, सेसानि चत्तारि सत्तसत्ततिरत्तिम्हि"[3] – अर्थात् गर्भशयक (गर्भस्थ) सत्त्वों के प्रतिसन्धिक्षण में आध्यात्मिक ६ आयतनों में से मन-आयतन एवं कायायतन ही उत्पन्न होते हैं, शेष चार चक्षुरायतन, श्रोत्रायतन, घ्राणायतन एवं जिह्वायतन ७७ वीं रात्रि अर्थात् ११वें सप्ताह में उत्पन्न होते हैं। शायद 'कथावत्थु' के 'सत्तसत्ततिरत्तिम्हि' इस पाठ के स्थान में विभावनीकार को 'ति' से रहित 'सत्तसत्तरत्तिम्हि' – यह पाठ ही उपलब्ध

---

१. द्र० – प० दी०, पृ० २७१-२७२।

२. विभा०, पृ० १६२।

३. कथा० अ०, पृ० २४०।

हुआ है, जिसके आधार पर उन्होंने 'सत्तमे सत्ताहे'—यह व्याख्या की है—ऐसा पर्यवेक्षकों का मन्तव्य है।

पुनश्च—विभावनीकार की उपर्युक्त व्याख्या तर्क के आधार पर भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होती। हम गर्भस्थ शिशु के वृद्धि-क्रम को देखते हैं कि प्रत्येक सप्ताह में उसमें किस तरह परिवर्तन हो रहा है। पञ्चम सप्ताह में उसके मांसपिण्ड से केवल चिह्न के रूप में पाँच शाखायें ही निकलती हैं। तत्पश्चात् दो सप्ताह के अन्दर ही उसमें इतनी वृद्धि कैसे सम्भव हो सकती है कि उसमें चक्षुष्-आदि उत्पन्न हो सकें! अतः ११वें सप्ताहवाला सिद्धान्त ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

'विभावनी' में "'कमेना' ति चक्खुदसकपातुभावतो सत्ताहातिक्कमेन सोतदसकं, ततो सत्ताहातिक्कमेन घाणदसकं, ततो सत्ताहातिक्कमेन जिव्हादसकं ति एवं अनुक्कमेन"[1]—ऐसा कहा गया है। अर्थात् सप्तम सप्ताह में चक्षुर्दशक की उत्पत्ति होती है। उसके एक सप्ताह के अनन्तर अर्थात् अष्टम सप्ताह में श्रोत्रदशक, नवम सप्ताह में घ्राणदशक, दशम सप्ताह में जिह्वादशक कलाप उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार 'कमेन' इस पद का अर्थ वे 'अनुक्कमेन' (अनुक्रम से) करते हैं।

विभावनीकार की यह अनुक्रममूलक व्याख्या भी युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होती; क्योंकि चक्षुष्, श्रोत्र-आदि प्रसादों के स्थान एक दूसरे से अधिक दूर नहीं हैं और जैसे जैसे स्थानों का निर्माण होता है वैसे वैसे उनमें प्रसादों का भी उत्पाद होता चलता है। इन स्थानों में चक्षुष् का स्थान सबसे ऊपर है, अतः गर्भस्थ शिशु के केन्द्र से चारों ओर विकास होने पर प्रथम अन्य स्थानों का निर्माण होगा, तदनन्तर चक्षुष् का स्थान निर्मित होगा। विभावनीकार कहते हैं कि चक्षुरायतन से एक सप्ताह के अनन्तर श्रोत्रायतन, उससे एक सप्ताह के अनन्तर घ्राणायतन-आदि उत्पन्न होते हैं—यह असम्भव सा मालूम होता है, अतः उनकी 'कमेन' इस पद की 'अनुक्कमेन' यह व्याख्या अर्थात् 'एक एक सप्ताह के अनन्तर एक एक आयतन का उत्पाद' बड़ी विचित्र मालूम होती है। अतः विद्वान् आचार्य उनकी व्याख्या का आदर नहीं करते[2]।

कतिपय आधुनिक आचार्य विभावनीकार की उपर्युक्त व्याख्या से असन्तुष्ट होकर मूल की 'कमेन चक्खुदसकादीनि च पातुभवन्ति'—इस पालि में 'कमेन' शब्द के स्थान पर 'कम्मेन' इस पद को उपयुक्त समझते हैं। अर्थात् कर्म से चक्षुर्दशककलाप-आदि उत्पन्न होते हैं। उनके यह समझने का आधार "पञ्चमे भिक्खवे! सत्ताहे पञ्च पीळका सण्ठहन्ति कम्मतो"—यह बुद्धवचन है। अर्थात् भिक्षुओ! पञ्चम सप्ताह में कर्म से पाँच पिडिकायें उत्पन्न होती हैं।

किसी ग्रन्थविशेष के किसी वाक्यविशेष का ठीक ठीक अर्थ निकालने के लिये उस वाक्य के पूर्वापर का विचार करना चाहिये तथा ग्रन्थकार के अन्य ग्रन्थों का भी अवलोकन करना चाहिये। तभी ग्रन्थकार का ठीक अभिप्राय समझने में सहायता मिलती

---

१. विभा०, पृ० १६२।

२. द्र०—प० दी०, पृ० २७०।

है और उसके साथ अन्याय नहीं होता। यदि ग्रन्थकार के अन्य ग्रन्थ न हों तो उस विषय से सम्बद्ध अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये।

अनिरुद्धाचार्य स्वयं प्रस्तुत ग्रन्थ के 'रूपसमुत्थाननय' में पहले 'तत्थ हृदय-इन्द्रिय-रूपानि कम्मजानेव' – यह कह चुके हैं। जब एक बार यह कह चुके कि चक्षुष्-आदि इन्द्रियाँ कर्म से उत्पन्न होती हैं तब पुनः उसी बात को कहना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता, अतः 'कमेन' के स्थान पर 'कम्मेन' न पढ़कर 'कमेन' ही पढ़ना चाहिये[1]।

पुनश्च – अनिरुद्धाचार्य अपने 'परमत्थविनिच्छय' नामक ग्रन्थ में स्वयं कहते हैं –

"ततो परं पवत्तिम्हि वड्ढमानस्स जन्तुनो।
चक्खुदसकादयो च चत्तारो होन्ति सम्भवा[2]।।"

अर्थात् प्रतिसन्धि के अनन्तर प्रवृत्तिकाल में वर्धमान सत्त्व के चक्षुर्दशकादि चार रूपकलाप यथासम्भव उत्पन्न होते हैं। अनिरुद्धाचार्य के 'परमत्थविनिच्छय' की यह गाथा और प्रस्तुत सन्दर्भ, जिसकी व्याख्या की जा रही है, दोनों में कितना साम्य है। गाथा के 'ततो परं पवत्तिम्हि' के स्थान पर प्रस्तुत ग्रन्थ में 'ततो परं पवत्तिकाले' लिखा हुआ है तथा 'चक्खुदसकादयो च चत्तारो होन्ति सम्भवा' के स्थान पर 'चक्खुदसकादीनि च पातुभवन्ति' यह वाक्य है, इनमें कोई भेद नहीं है। गाथा के 'वड्ढमानस्स' इस पद के स्थान पर प्रस्तुत ग्रन्थ में 'कमेन' यह पद मिलता है। वृद्धिक्रिया युगपद् या एककाल में नहीं होती, जब कोई वस्तु बढ़ती है तो उसमें क्रम होता ही है। इस अर्थ का अनुसन्धान करके आचार्य ने 'वड्ढमानस्स' के स्थान पर यहाँ 'कमेन' यह पद रखा है – ऐसा मालूम पड़ता है। विभावनीकार इस 'कमेन' पद द्वारा चक्षुष्-आदि के उत्पाद में क्रम दिखाते हैं; यथा – चक्षुष् के अनन्तर श्रोत्र, श्रोत्र के अनन्तर घ्राण...इत्यादि। किन्तु यह अर्थ ग्रन्थकार को भी अभिप्रेत है – ऐसा प्रतीत नहीं होता; अपितु उनका अभिप्राय यह मालूम होता है कि एकादशम सप्ताह में चक्षुष्, श्रोत्र-आदि की उत्पत्ति हो जाती है और उनकी वृद्धि क्रम से (कमेन) होती है। इस प्रकार 'क्रम' उत्पाद में नहीं, अपितु वृद्धि में है। चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण एवं जिह्वा नामक दशककलाप ११वें सप्ताह में एक साथ (युगपद्) होते हैं। यहाँ 'एक साथ' ऐसा कहने पर भी एकक्षण में ही (युगपत्) उत्पन्न होते हैं – ऐसा नहीं समझना चाहिये। ११वें सप्ताह में उत्पन्न होने से एक सप्ताह में ही सब उत्पन्न हो जाते हैं – ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् ग्रीवा से ऊपर धीरे धीरे बढ़ रहे शिशु में चक्षुष्, नासा, कर्ण एवं जिह्वा एक साथ नहीं हो सकते। चक्षुःपिण्ड होने पर ही चक्षुःप्रसाद हो सकता है। इसी तरह नासा, कर्ण एवं जिह्वा पिण्ड के होने पर ही श्रोत्र, घ्राण, एवं जिह्वाप्रसाद हो सकते हैं। जब नासा, कर्ण, जिह्वा-आदि उत्पन्न हो जाते हैं, तब श्रोत्रप्रसाद आदि भी एकान्त रूप से उत्पन्न होंगे ही। यदि नासा, जिह्वा-आदि के स्थान उत्पन्न हो जाते हैं और ऊर्ध्वभाग के अक्षि, कर्ण-आदि अभी उत्पन्न नहीं होते हैं तो वे घ्राण एवं जिह्वा प्रसाद-आदि, चक्षुष् एवं श्रोत्र प्रसाद के साथ उत्पन्न होने

१. प० दी०, पृ० २७०-२७१।
२. परम० वि०, पृ० ६५।

के लिये उनकी प्रतीक्षा नहीं करेंगे। अतः चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण एवं जिह्वा प्रसाद ११वें सप्ताह में यथायोग्य उत्पन्न होते हैं – ऐसा जानना चाहिये[1]।

केसा लोमा नखापि च – गर्भस्थ पिण्ड के पञ्चम सप्ताह में पाँच शाखायें उत्पन्न होती हैं। उस समय केश, लोम-आदि उत्पन्न नहीं होते, इनकी उत्पत्ति ४२वें सप्ताह में होती है। उपर्युक्त गाथा में पञ्चम सप्ताह में होनेवाली शाखाओं के अनन्तर ४२वें सप्ताह में होनेवाले केश, लोम, नख-आदि का वर्णन है। बीच के चक्षुर्दशक-आदि कलापों के उत्पाद का उल्लेख नहीं है तथा कौन अंग किस सप्ताह में उत्पन्न होता है – इस प्रकार किसी का उत्पत्ति-काल भी उल्लिखित नहीं है। 'संयुत्तनिकाय' की अट्ठकथा में इस गाथा की व्याख्या इस प्रकार की गयी है –

"इतो परं छट्ठसत्तमादीनि सत्ताहानि अतिक्कम देसनं सङ्खिपित्वा द्वाचत्तालीसमे सत्ताहे परिणतकालं गहेत्वा दस्सेन्तो 'केसा' ति आदिमाह[2]।" अर्थात् पञ्चम सप्ताह के अनन्तर षष्ठ, सप्तम-आदि सप्ताहों का अतिक्रमण करके देशना का सङ्क्षेप करके ४२वें सप्ताह में परिपक्व काल का ग्रहण कर उसे दिखलाते हुए 'केसा लोमा...' आदि कहा गया है।

यद्यपि अट्ठकथा में केश, लोम-आदि के उत्पाद का काल ४२ वाँ सप्ताह कहा गया है; तथापि देखा जाता है कि सप्तम मास में उत्पन्न होनेवाले शिशु के भी केश, लोम-आदि होते हैं, इस विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए टीकाकार कहते हैं कि अट्ठकथाकार ने जो ४२वाँ सप्ताह कहा है उसका तात्पर्य शिशु की परिपक्वावस्था से है। प्रायः शिशु की परिपक्वावस्था ४२वें सप्ताह में होती है; किन्तु कारणविशेष से यदि इससे पूर्व भी परिपक्वता हो जाये तो पहले भी केश, लोम-आदि का उत्पाद हो सकता है।

'पठमं कललं होति...' यह गाथा जो पहले कही गयी है वह केवल मानव प्राणी को दृष्टि में रखकर कही गयी है, अन्य तिरश्चीन-आदि प्राणियों की दृष्टि से नहीं।

[इस विषय की विशेष जानकारी के लिये 'सुत्तन्तमहावग्गट्ठकथा, एवं 'सारत्थ-दीपनीटीका' देखनी चाहिये[3]।]

प्रश्न – सभी गर्भशयक सत्त्वों के प्रतिसन्धिक्षण में तीन कलाप (३० रूप) बराबर होने पर भी क्यों चूहा-आदि में वे छोटे एवं हस्ती-आदि में बड़े होते हैं?

उत्तर – कर्मवश चूहे एवं हस्ती-आदि में वे छोटे एवं बड़े होते हैं। प्रतिसन्धिक्षण में ३० रूप बराबर होने पर भी प्रवृत्तिकाल में यथासमय नये नये कर्मज रूपों के पुनः

---

१. प० दी०, पृ० २७२।

२. सं० नि० अ०, प्र० भा०, पृ० २७५।

३. दी० नि० अ०, प्र० भा० (सुत्तन्त हावग्गट्ठकथा), पृ० २९।

रूपुप्पत्तिक्कमो

५७. इच्चेवं पटिसन्धिमुपादाय कम्मसमुट्ठाना, दुतियचित्तमुपादाय चित्त-समुट्ठाना, ठितिकालमुपादाय उतुसमुट्ठाना, ओजाफरणमुपादाय आहारसमुट्ठाना चेति चतुसमुट्ठानरूपकलापसन्तति* कामलोके दीपजाला विय नदीसोतो विय च यावतायुकमब्बोच्छिन्ना† पवत्तति‡ ।

इस प्रकार प्रतिसन्धि के उत्पादक्षण का उपादान करके कर्मजरूप, द्वितीय चित्त (अर्थात् प्रतिसन्धि के अनन्तर प्रथम भवङ्गचित्त का उत्पादक्षण) का उपादान करके चित्तजरूप, स्थितिकाल (प्रतिसन्धि का स्थितिकाल) का उपादान करके ऋतुजरूप तथा ओजःस्फरण का उपादान करके आहारजरूप उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार चतुःसमुत्थानरूपकलापसन्तति कामलोक में दीपक की लौ की तरह तथा नदी के स्रोतस् (प्रवाह) की तरह आयुःपर्यन्त अव्यवच्छिन्नरूप से प्रवृत्त होती रहती है।

पुनः उत्पन्न होते समय कितने रूपकलाप उत्पन्न होने चाहिये – ऐसी कोई सीमा नहीं है। सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होनेवाले काय एवं भाव दशककलाप पूर्वकर्मवश चूहे की सन्तान में थोड़े से तथा हस्ती-आदि की सन्तान में वे अधिक बढ़ते हैं। इन कर्मज कलापों में आनेवाली ऋतु से ऋतुजकलापों के बढ़ते समय भी उनमें न्यूनाधिक्य हो जाता है। इसलिये एक चूहे के बच्चे में कर्मज एवं ऋतुज रूप कम तथा हस्ती के शावक में वे अधिक होते हैं। तथा माता के शरीर की ऊष्मा से स्पर्श होते समय भी यदि माता का शरीर छोटा होगा तो स्पर्श भी कम होने से उस ऊष्म-ऋतु से उत्पन्न ऋतुज रूप भी बहुत कम बढ़ते हैं। यदि माता का शरीर बड़ा होता है तो उसकी ऊष्मा का स्पर्श अधिक होने से ऋतुजकलाप भी अधिक बढ़ते हैं। तदनन्तर आहार के शरीर में व्याप्त होते समय भी शरीर की छोटाई, बड़ाई के अनुसार ही वे व्याप्त होते हैं। इसलिये आहारज रूपों का भी न्यूनाधिक्य होता है। इस प्रकार कर्म के बल से होनेवाले प्रवृत्ति-कर्मज रूपों की उत्पत्ति के विशेष (भेद) की अपेक्षा करके पश्चिम पश्चिम रूप भी न्यूनाधिक होते हैं। अतः चूहे-आदि के शरीर के छोटे होने एवं हस्ती-आदि के शरीर के बड़े होने में कर्म ही कारण है, अतएव कहा गया है –

"कम्मस्सका माणव ! सत्ता...कम्मं सत्ते विभजति[1]।" अर्थात् सभी सत्त्वों के कर्म ही अपने होते हैं। कर्म ही सत्त्वों का विभाजन करता है।

रूप का उत्पत्तिक्रम

५७. पटिसन्धिमुपादाय...उतुसमुट्ठाना – 'रूपसमुत्थाननय' में यह कहा जा चुका है कि सत्त्वों की सन्तान में प्रतिसन्धि के उत्पादक्षण से लेकर कर्मज रूप उत्पन्न होते

*. चतुसमुट्ठाना रूप० – स्या० ।

†. ०मब्बोच्छिन्नं – रो०, नौ०; ०मब्भोच्छिन्ना – स्या० । ‡. पवत्ततीति – स्या० ।

1. म० नि०, तृ० भा०, पृ० २८० ।

हैं। वीथिक्रम के अनुसार प्रतिसन्धि के अनन्तर भवङ्गचित्त उत्पन्न होते हैं। उनमें प्रथम भवङ्गचित्त को 'द्वितीय चित्त' कहते हैं। इस द्वितीय चित्त के उत्पादक्षण का उपादान करके चित्तज रूपकलाप उत्पन्न होते हैं। प्रतिसन्धि के स्थितिकाल का उपादान करके ऋतुजरूप उत्पन्न होते हैं। ये ऋतुजरूप आध्यात्मिक (स्कन्धान्तर्गत) ऋतु से उत्पन्न होनेवाले रूप हैं। प्रतिसन्धि के उत्पादक्षण में कर्मज रूपकलाप उत्पन्न होते हैं, उन रूपकलापों में ऋतु नामक तेजोधातु भी होती है। वह प्रतिसन्धि के स्थितिक्षण में स्वयं भी स्थिति को प्राप्त होने के कारण बलवती होने से ऋतुज रूपकलापों का उत्पाद करती है। इस प्रकार आध्यात्मिक सन्तान में स्थित ऋतु से प्रतिसन्धिचित्त के स्थितिक्षण से लेकर ऋतुज रूपकलाप उत्पन्न होते हैं। यह आध्यात्मिक ऋतु बाह्य ऋतुओं से उपष्टम्भन प्राप्त होने पर भी रूप का उत्पाद कर सकती है। बाह्य ऋतु से उपष्टम्भन प्राप्त होना, माता की ऊष्मा से सर्वदा उपष्टम्भन प्राप्त होते रहना है। माता के गर्भाशय में रहते समय माता की ऊष्मा-आदि तथा जन्म के बाद जल, वायु-आदि के साथ आनेवाली ऋतुएँ 'बाह्य' ऋतु हैं। स्कन्ध में इन बाह्य ऋतुओं का स्पर्श होने से भी बाह्य ऋतुज-रूप उत्पन्न हो सकते हैं। वे बाह्य ऋतुज रूप शिशु की सन्तान में कबसे उत्पन्न होना प्रारम्भ करते हैं–ऐसा कोई नियम नहीं है। प्रतिसन्धि के अनन्तर यथायोग्य काल से लेकर वे उत्पन्न हो सकते हैं[1]।

ओजाफरणमुपादाय आहारसमुट्ठाना–यहाँ 'ओजस्' शब्द से आहार में आनेवाले बाह्य ओजस् का ही ग्रहण होना चाहिये। उस बाह्य ओजस् का शरीर में व्याप्त होना 'रूपसमुट्ठान' में कहा जा चुका है। यह ओजस् शरीर में कब से व्याप्त होना प्रारम्भ करता है?–ऐसा प्रश्न हो सकता है। संस्वेदज एवं औपपादुक सत्त्वों में प्रतिसन्धि लेने के पश्चात् अपने आसपास स्थित आहार के ग्रहणकाल अथवा मुखस्थ लार (लाला) के ग्रहणकाल से ही ओजस् व्याप्त होने लगता है। व्याप्यमान वह ओजस् स्कन्ध के ऊपर-नीचे जहाँ जहाँ पहुँचता है वहाँ वहाँ आहारसमुत्थानरूपों का उत्पाद करता है। गर्भशयक सत्त्वों में माता द्वारा खाये हुए आहार में स्थित ओजस् जब व्याप्त होता है तब माता के गर्भाशय से सम्बद्ध शिशु के शरीर में भी वह व्याप्त हो जाता है। उस समय शिशु के शरीर में व्याप्त यह ओजस् शिशु की सन्तान में आहारसमुत्थान रूपों का उत्पाद करता है–इसी अभिप्राय को लक्ष्य करके 'यक्खसंयुत्त' में कहा गया है कि–

> "यञ्चस्स भुञ्जती माता अन्नं पानं च भोजनं।
> तेन सो तत्थ यापेति मातुकुच्छिगतो नरो[2]।।"

अर्थात् शिशु की माता जिस अन्न, पान एवं भोजन का ग्रहण करती है उससे मातृ-कुक्षिगत नर गर्भाशय में अपना जीवनयापन करता है।

---

१. विभा०, पृ० १६२; प० दी०, पृ० २७३; विसु०, पृ० ३९४; विभ० अ०, पृ० १७३।

२. सं० नि०, प्र० भा०, पृ० २०७।

इस गाथा की अट्ठकथा में लिखा है कि शिशु की नाभि में एक नाड़ी होती है और उस नाड़ी का सम्बन्ध माता के गर्भाशय से होता है। इस नाड़ी में कमलनाल के सदृश छोटे छोटे छिद्र होते हैं। इसी नाड़ी के छिद्रों से रस रस करके माता द्वारा गृहीत अन्न-पान का रस शिशु के शरीर में व्याप्त होता है। अट्ठकथा का यह वचन रसद्रव के स्पष्टतया प्रवेश होने योग्य काल को लक्ष्य करके कहा गया है। नाभि की नाड़ी में छिद्र न होने पर भी यथायोग्य ओजस् फैल सकता है। यदि नाभि की नाड़ी से ही रस फैल सकता है तो बिना नाड़ीवाले अण्डज सत्त्वों की सन्तान में ओजस् कैसे फैलेगा ? जरायुज सत्त्वों में भी चार पाँच सप्ताह तक नाभि में नाड़ी का उत्पाद नहीं होता। 'खन्धविभङ्गट्ठकथा' में भी 'रस-धातु के साथ फैलनेवाला ओजस् कठोर होता है। 'कलल' नामक वस्तु अत्यन्त सूक्ष्म होती है इसलिये उस सूक्ष्म वस्तु में ओजस् कैसे प्रतिष्ठित हो सकेगा ?' – इस प्रकार प्रश्न करके 'सर्वप्रथम कलल के काल में ओजस् प्रतिष्ठित नहीं होता, एक या दो सप्ताह के अनन्तर ही प्रतिष्ठित हो सकता है' – इस प्रकार सामन्यतया समाधान देकर पुनः कहा गया है कि 'एक या दो सप्ताह से पहले प्रतिष्ठित हो या पीछे; जब माता द्वारा भुक्त आहार से ओजस् शिशु के शरीर में फैलने लगता है तभी से वह रूप का उत्पाद करता है'[१]। अतः 'गर्भशयक सत्त्वों में कब से आहारज रूप उत्पन्न होते हैं' – इस प्रकार मुख्यरूप से नहीं कहा जा सकता। जब से ओजस् व्याप्त होने लगता है, तभी से आहारज रूप उत्पन्न होते हैं[२]।

दीपजाला विय, नदीसोतो विय – तैल एवं वत्ती आदि उपादानों का ग्रहण करके उत्पन्न दीपज्वाला, आपाततः एकवत् प्रतीत होती है। ऐसा भासित होता है कि जो दीप हमने सायङ्काल जलाया था वही अभी तक जल रहा है; किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है, उसका प्रतिक्षण उत्पाद एवं विनाश सतत चल रहा है। साथ ही न केवल दीपक की लौ (ज्वाला) ही, अपितु तैल एवं बत्ती भी प्रतिक्षण भिन्न हैं। इसी तरह नदी का प्रवाह भी एकवत् प्रतीत होता है। हम देखते हैं कि एक ही नदी सहस्रों वर्ष से बह रही है; किन्तु सूक्ष्मतया विचार करने पर ज्ञात होगा कि प्रतिक्षण जल नवीन है। ठीक इसी प्रकार चतुःसमुत्थान-रूपकलापसन्तति (स्कन्धसन्तति) एकवत् प्रतीत होती है; किन्तु वह प्रतिक्षण पूर्व से एकदम भिन्न है। और उसकी उत्पाद-विनाशप्रक्रिया सतत चल रही है और साथ ही उस सन्तति के उत्पादक चार कारण भी सतत उत्पन्न एवं विनष्ट हो रहे हैं। प्रतिक्षण उत्पाद एवं विनाश ही परमार्थतः सत्य है और सन्तति में एकत्व का बोध भ्रमजनित है[३]।

[चतुःसमुत्थान-रूपकलापसन्तति का उत्पत्तिक्रम 'रूपवीथिसमुच्चय' में देखें।]

---

१. विभ० अ०, पृ० २५।

२. द्र० – प० दी०, पृ० २७३; विसु०, पृ० ३९४; विभ० अ०, पृ० १७३।

३. द्र० – विसु०, पृ० ३९५; विभ० अ०, पृ० १७४।

चतुःसमुत्थानिक रूपकलापों के सविस्तर ज्ञान के लिये द्र० – विसु०, पृ० ४३४-४३६।

रूपनिरोधक्कमो

५८. मरणकाले पन चुतिचित्तोपरि सत्तरसमचित्तस्स ठितिकालमुपादाय कम्मजरूपानि न उप्पज्जन्ति, पुरेतरमुप्पन्नानि* च कम्मजरूपानि चुतिचित्तसमकालमेव पवत्तित्वा निरुज्झन्ति। ततो परं चित्तजाहारजरूपञ्च† वोच्छिज्जति। ततो परं उतुसमुट्ठानरूपपरम्परा‡ याव§ मतकळेवरसङ्खाता¢ पवत्तन्ति।

मरणकाल में च्युतिचित्त से ऊपर (पूर्व) सत्रहवें चित्त के स्थितिकाल से कर्मजरूप उत्पन्न नहीं होते, स्थितिकाल से पूर्व (उत्पादक्षण में) उत्पन्न कर्मजरूप च्युतिचित्त के समकाल ही प्रवृत्त होकर निरुद्ध हो जाते हैं। कर्मज रूपों का निरोध हो जाने पर चित्तज एवं आहारज रूप उच्छिन्न होते हैं। त्रिज रूपों के निरोध के अनन्तर ऋतुसमुत्थान-रूपकलापपरम्परा जबतक 'मृत्र शरीर'–यह संज्ञा होती है तबतक प्रवृत्त रहती है।

रूपनिरोधक्रम

५८. यह पालि च्युति के अनन्तर ऋतुज रूपों के अवशिष्ट होने तथा कर्मज, ऋतुज एवं आहारज रूपों के एकभव के निरोध-काल को दिखलाती है। इनमें से कर्मजरूपों का निरोध होने पर ही च्युति हो सकती है। इस च्युति के साथ निरुद्ध होनेवाले कर्मज रूप च्युतिचित्त से पूर्व सत्रहवें चित्त के उत्पादक्षण में अन्तिम रूप से उत्पन्न होते हैं। उसके स्थितिकाल से लेकर कर्मज रूपों की नवीन उत्पत्ति नहीं होती। यदि पूर्ववर्ती सत्रहवें चित्त के स्थितिकाल में भी कर्मज रूपों का उत्पाद होगा तो च्युति के भङ्ग के साथ उन (कर्मज रूपों) का भङ्ग नहीं हो सकेगा। अतः पूर्ववर्ती सत्रहवें चित्त के स्थितिकाल से लेकर नये कर्मज रूपों का उत्पाद नहीं होता[1]। एक भव में जब वीथिचित्त नहीं होते तब विपाकविज्ञान भवङ्गकृत्य करते हुए भव का सन्धान करता है। वह विपाकविज्ञान, उस विपाकविज्ञान के साथ रूपजीवित एवं नामजीवित नामक आयु, एवं कर्मज तेजोधातु नामक ऊष्मा – ये तीनों यदि स्कन्ध में नहीं रहते हैं तो च्युति हो जाती है।

"आयु उस्मा च विञ्ञाणं यदा कायं जहन्तिमं।
अपविद्धो तदा सेति निरत्थं व कलिङ्गरं[2]।।"

रूपजीवित एवं नामजीवित नामक आयु, कर्मतेजस् नामक ऊष्मा एवं विपाकविज्ञान (भवङ्ग) जब इस शरीर का त्याग कर देते हैं तब वह निरर्थक जीर्ण काष्ठ की तरह अपविद्ध हो कर (श्मशान) में सोता है।

---

*. पुरेतरमुपन्नानि – रो०। †. चित्तजमाहार० – स्या०।
‡ ०च – स्या०। §. स्या० में नहीं।
¢. मतकलेवरं सन्धाय – सी०; मतकलेवरं सन्धाय – स्या०; मतकलेवर० – रो०।
१. द्र० – विभ० अ०, पृ० २८।
२. विभा०, पृ० १६२; प० दी०, पृ० २७५। तु० – सं० नि०, द्वि० भा०, पृ० ११०।

चित्तज रूपों का निरोधकाल—"द्वे पञ्चविञ्ञाणानि सब्बसत्तानं पटिसन्धिचित्तं खीणासवानं चुतिचित्तं चत्तारि आरुप्पविपाकानीति सोळस चित्तानि नेव रूपं जनयन्ति"[1] इस वचन के अनुसार 'केवल अर्हतों का च्युतिचित्त ही रूप का उत्पाद नहीं कर सकता, अन्य सत्त्वों के च्युतिचित्त रूप का उत्पाद कर सकते हैं'—ऐसा प्रतीत होता है। यदि इस कथन के अनुसार ही होता है तो अर्हत् न होनेवाले अन्य पुद्गलों में च्युतिचित्त के उत्पादक्षण में उत्पन्न अन्तिम चित्तजरूप च्युति के अनन्तर १६ चित्तक्षण (४८ क्षुद्रक्षण) पूर्ण होने पर ही निरुद्ध होंगे—ऐसा माना जायेगा।

मूलटीकाकार ने "यस्स चित्तस्स अनन्तरा पच्छिमचित्तं उप्पज्जिस्सति...नो च तेसं कायसङ्खारो निरुज्झिस्सति"[2] इस सङ्खारयमक का प्रमाण करके च्युतिचित्त से पूर्ववर्ती १८ वाँ चित्त अन्तिम रूप का उत्पाद करनेवाला चित्त है। इसके बाद के चित्त किसी रूप का उत्पाद नहीं कर सकते—ऐसा कहा है।

सङ्खारयमक के 'यस्स चित्तस्स अनन्तरा पच्छिमचित्तं उप्पज्जिस्सति'—इस वचन के अनुसार च्युतिचित्त से अव्यवहित पूर्ववर्ती चित्त को ही 'पश्चिम चित्त' कहा गया है। 'नो च तेसं कायसङ्खारो निरुज्झिस्सति'—इस पाठ द्वारा उस च्युतिचित्त से अव्यवहित-पूर्ववर्ती चित्त के काल में कायसंस्कार निरुद्ध होनेवाला नहीं है—ऐसा कहा गया है। (चित्त से उत्पन्न आश्वास-प्रश्वास को 'कायसंस्कार' कहते हैं।) यदि उस च्युतिचित्त से अव्यवहित पूर्ववर्ती चित्त के काल में कायसंस्कार निरुद्ध नहीं होता है तो वह अन्तिम निरुध्यमान रूप होगा। यदि अन्तिम निरुध्यमान होता है तो च्युतिचित्त से ऊर्ध्व (पूर्ववर्ती) १८वाँ चित्त कायसंस्कार का उत्पाद करनेवाला अन्तिम चित्त होगा। कायसंस्कार एवं उस कायसंस्कार के सदृश अन्य चित्तज रूप भी उस १८वें चित्त के उत्पाद-क्षण में अन्तिम रूप से उत्पन्न होंगे[3]।

इस 'मूलटीका' में कायसंस्कार एवं अन्य चित्तज रूपों को समान कोटि में रखकर निश्चय किया गया है, जो समीचीन प्रतीत नहीं होता; क्योंकि कायसंस्कार अत्यन्त कठोर चित्तजरूप है। वह कायसंस्कार न केवल च्युति के आसन्नकाल में ही, अपितु माता के गर्भाशय में शयन करते समय, निरोधसमापत्तिकाल, पञ्चमध्यान की समापत्ति के काल, मूर्च्छाकाल एवं ब्रह्माओं की सन्तान में भी नहीं होता। उन समयों में कायसंस्कार के अतिरिक्त अन्य चित्तजरूप तो होते ही हैं, अतः च्युतिचित्त से ऊर्ध्व १८वें चित्त के पश्चात् कायसंस्कार के उत्पन्न न होने मात्र से 'अन्य चित्तजरूप भी उत्पन्न नहीं होते'—ऐसा नहीं कहा जा सकता।

आहारज रूपों का निरोधकाल—बाहर से अभ्यवहृत आहार, उसका आध्यात्मिक आहार से समागम एवं विज्ञान से उपकारप्राप्ति—इन तीनों के सम्पन्न होने से आहारज रूप उत्पन्न हो सकते हैं, इसलिये च्युति के भङ्गपर्यन्त विज्ञान से उपकार उपलब्ध होते

---

१. विसु०, पृ० ४३५; विभ० अ०, पृ० २३।

२. यमक, द्वि० भा०, पृ० ४३।

३. द्र०—विभ० मू० टी०, पृ० २३-२४।

५९. इच्चेवं मतसत्तानं पुनदेव भवन्तरे।
पटिसन्धिमुपादाय तथा रूपं पवत्तति॥

पूर्वोक्त क्रम से मृत सत्त्वों की सन्तान में, पुनः भवान्तर में प्रतिसन्धि का ग्रहण करके उपर्युक्त नय के अनुसार रूपप्रवृत्ति होती है।

रूपलोके रूपप्पवत्तिक्कमो

६०. रूपलोके पन घान-जिव्हा-काय-भावदसकानि च* आहारजकलापानि च न लब्भन्ति। तस्मा तेसं पटिसन्धिकाले चक्खु-सोत-वत्थुवसेन तीणि† दसकानि

रूपलोक में घ्राण, जिह्वा, काय एवं भाव दशककलाप एवं आहारज कलाप उपलब्ध नहीं होते। इसलिये उनके प्रतिसन्धिकाल में चक्षुष्, श्रोत्र एवं वस्तु के वश से

रहने के कारण आहारजरूप उत्पन्न होते रहते हैं—इस प्रकार माना जाता है। इसके अनुसार च्युति के अनन्तर ५० क्षण के वाद आहारजरूप निरुद्ध होते हैं। (५१ क्षुद्रक्षणों में से च्युति के भङ्गक्षण १ को निकालने से ५० क्षुद्रक्षण अवशिष्ट रहते हैं।)

ऋतुज रूपों का निरोधकाल—'याव मतकळेवरसङ्खाता' के अनुसार ऋतुजरूप जबतक मृत शरीर (शव) रहता है तबतक रहते हैं—यह वचन केवल एक भव के संस्थान (शरीर)-विकार को लक्ष्य करके कहा गया वाक्य है[1]। वस्तुतः अग्निदग्ध हो जाने पर भी भस्म के रूप में, पृथ्वी में गाड़ देने पर मृत्तिका के रूप में या अन्य किसी प्रकार से मृत कलेवर के नष्ट हो जाने पर भी ऋतुजरूप-परम्परा विभिन्न रूपों में सृष्टिपर्यन्त स्थित रहती है। ऋतुजरूप-परम्परा की सृष्टिपर्यन्त स्थिति केवल संस्वेदज एवं गर्भशयक सत्त्वों के लिये कही गयी है। कामभूमि में उत्पन्न औपपादुक सत्त्व, नारकीय सत्त्व एवं देव-आदि के शरीर च्युति के अनन्तर स्थित नहीं रहते। उनके शरीर का विनाश वैसे ही होता है जैसे दीपक की लौ का। दीपक की लौ बुझ जाने पर जैसे किसी भी रूप में अवशिष्ट नहीं रहती, उसी तरह उपर्युक्त सत्त्वों के शरीर की च्युति के अनन्तर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता।

५९. यह गाथा रूपी संसारचक्र का प्रवर्त्तन दिखलाने वाली गाथा है। उपर्युक्त क्रम से च्युत होनेवाले सत्त्वों की सन्तान में अनन्तर भव में प्रतिसन्धि के उत्पादक्षण से लेकर पूर्वोक्त (रूपप्रवृत्ति) क्रम के अनुसार पुनः कर्मज, चित्तज, ऋतुज एवं आहारज रूप उत्पन्न होते हैं—यह दिखलाया गया है।

रूपभूमि में रूपप्रवृत्तिक्रम

६०. यहाँ असंज्ञिसत्त्ववर्जित रूपभूमि में उपलब्ध रूपकलापों का वर्णन किया जा रहा है। रूपभूमि में ९ कर्मजकलापों में से घ्राणदशक-आदि ४ रूपकलाप तथा

---

*. चेव—स्या०, ना०। †. तीनि—रो०।

१. द्र०—विभ० अ०, पृ० २९।

जीवितनवकञ्चेति चत्तारो कम्मसमुट्ठानकलापा*, पवत्तियं चित्तोतुसमुट्ठाना च* लब्भन्ति ।

केवल तीन दशककलाप एवं जीवितनवककलाप – इस प्रकार चार कर्मसमुत्थान-कलाप उपलब्ध होते हैं। प्रवृत्तिकाल में चित्तज एवं ऋतुज कलाप भी उपलब्ध होते हैं।

आहारजरूपकलाप उपलब्ध नहीं होते[1]। रूपभूमि कामगुणों से घृणा करनेवाले रूपी ब्रह्माओं की आवासभूमि है। ये घ्राण, जिह्वा, काय एवं भाव कामगुणों को चाहनेवाले एवं उनकी वृद्धि चाहनेवाले हैं, अतः ये रूपभूमि में नहीं होते। चक्षुष्, एवं श्रोत्र तो भगवद्दर्शन एवं धर्मश्रवण के निमित्त होते हैं। इस प्रकार इस भूमि में चक्षुष्, श्रोत्र, वस्तु एवं जीवितनवक – ये चार कलाप ही उपलब्ध होते हैं। सम्पूर्ण शरीर में व्यापक हो सकनेवाले कायदशक एवं भावदशक कलाप प्राप्त न होने से ब्रह्माओं के शरीर में काय एवं भाव दशकों के स्थान में जीवितनवककलाप ही व्यापक होकर रहते हैं।

आचार्य अनुरुद्ध 'जीवितनवककलाप ब्रह्मभूमि में ही पृथक् प्राप्त हो सकते हैं, कामभूमि के सत्त्वों में तो काय एवं भावदशकों के ही अन्तर्गत हो जाने से वे पृथक् प्राप्त नहीं हो सकते' – इस प्रकार मानने के कारण वे इस जीवितनवककलाप को कामभूमि के सत्त्वों के रूपप्रवृत्तिक्रम में न दिखलाकर रूपभूमि के रूपप्रवृत्तिक्रम में दिखलाते हैं।

[कामभूमि में जीवितनवककलाप के पृथक् रूप से प्राप्त न होने का कारण 'रूपकलाप-विभाग' में कहा जा चुका है[2]।]

अपनी इस बात का वे अपने 'परमत्थविनिच्छय' नामक ग्रन्थ में भी स्पष्टतया प्रतिपादन करते हैं; यथा –

"सन्ति सब्बानि रूपानि, कामेसु चतुसम्भवा।
जीवितनवकं हित्वा कलापा होन्ति वीसति[3]॥"

उनके ऐसा कहने का कारण यह है कि कामभूमि में तो कायदशक एवं भावदशक कलाप प्रतिसन्धिकाल में ही होते हैं और ये (कायदशक एवं भावदशक) सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर रहते हैं। जीवितरूप भी इन्हीं के अन्तर्गत परिगणित हैं। अतः इनकी पृथक् उपलब्धि कामभूमि में मानने की आवश्यकता नहीं; किन्तु रूपभूमि में कायदशक एवं भावदशक रूपकलाप नहीं होते, अतः रूपभूमि में जीवितनवककलाप की पृथक् उपलब्धि होती है, और ये कलाप वहाँ व्याप्त होकर रहते हैं।

प्रवृत्तिकाल में चित्तज एवं ऋतुज – सभी रूपकलाप प्राप्त हो सकते हैं। ब्रह्मा खादनीय भोजन का ग्रहण नहीं करते, उनके आध्यात्मिक सन्तान में ओजस् रूप होने

- रो० में नहीं।

1. द्र० – विभ० अ०, पृ० १७२; विसु, पृ० ३९४।
2. द्र० – अभि० स० ६ : ४७, पृ० ६६६-६६८।
3. परम० वि०, पृ० ९८।

पर भी उसका बाह्य ओजस् से समागम न होने के कारण उनमें आहारजरूप उत्पन्न नहीं होते, इसलिये ब्रह्माओं की सन्तान में कर्मज, चित्तज एवं ऋतुज रूप ही होते हैं। (जिस प्रकार मनुष्य किसी एक कारण से अत्यन्त प्रीत होने पर बिना कुछ खाये भी कुछ काल तक रह सकता है उसी तरह रूपी ब्रह्मा भी अपने ध्यान के प्रति प्रीति से सन्तुष्ट होकर बिना खाये ही रह जाते हैं। ब्रह्माओं की सन्तान में किसी भावरूप के न होंने पर भी उनकी आकृति पुरुष की भाँति होती है।)

जीवितषट्क एवं चक्षुःसप्तक – 'मूलटीका' में "रूपधातुया उप्पत्तिक्खणे कतमानि पञ्चायतनानि पातुभवन्ति? चक्खायतनं, रूपायतनं, सोतायतनं, मनायतनं, धम्मायतनं;...कतमे तयो आहारा पातुभवन्ति? फस्साहारो, मनोसञ्चेतनाहारो, विञ्ञाणाहारो" – इस 'धम्महदय-विभङ्ग' का प्रमाण करके रूपभूमि में जीवितनवक एवं चक्षुर्दशक-आदि नहीं होते; अपितु जीवितषट्क एवं चक्षुःसप्तक ही होते हैं – ऐसा प्रतिपादित किया गया है। यद्यपि 'रूपभूमि में प्रतिसन्धिक्षण में चक्षुष्, रूप, श्रोत्र, मनस् एवं धर्म नामक पाँच आयतन एवं कवलीकार आहारवर्जित तीन आहार ही प्रादुर्भूत होते हैं', इस प्रकार कहने से घ्राणादि-त्रय के सर्वदा प्राप्त न होने के कारण तथा शब्दायतन के प्रवृत्तिकाल में ही प्राप्त होने के कारण इनका यहाँ न कहा जाना तो ठीक है; फिर भी गन्ध, रस एवं ओजस् के अविनिर्भोगरूप होने से प्रतिसन्धिक्षण में उनका ग्रहण तो अवश्य होना चाहिये था, किन्तु यहाँ उनकी भी गणना नहीं की गयी है। अतः रूपभूमि में जीवितनवक भी नहीं हैं; अपितु गन्ध, रस एवं ओजस् वर्जित जीवितषट्क कलाप ही हो सकते हैं। उसी तरह चक्षुर्दशक-आदि भी नहीं हो सकते; अपितु चक्षुःसप्तक, श्रोत्रसप्तक-आदि ही हो सकते हैं। इस प्रकार मूलटीकाकार का अभिप्राय है[२]।

परन्तु मूलटीकाकार के इस वाद से आधुनिक आचार्य सहमत नहीं हैं; क्योंकि रूपभूमि में पृथ्वी, तेजस् एवं वायु – ये तीन महाभूत एकान्तरूप से प्राप्त होते हैं। इन तीन महाभूतों के होने पर भी 'धम्महदयविभङ्ग' पालि में स्प्रष्टायतन नहीं कहा गया है, अतः पालि में न कहनेमात्र से 'प्राप्त नहीं हो सकते' – ऐसा निश्चय नहीं करना चाहिये। पालि में न कहने का कारण खोजना पड़ेगा। रूपी ब्रह्माओं के काय में गन्ध एवं रस मुख्यरूप से होते हैं; परन्तु घ्राणप्रसाद एवं जिह्वाप्रसाद नहीं होते, अतः वे गन्धायतन एवं रसायतन कृत्य का सम्पादन नहीं कर सकते। उसी तरह ओजस् भी होता है; परन्तु बहिःस्थ आहार के न मिलने से आहारज रूपों के उत्पाद के लिये उपष्टम्भन नहीं हो पाता। इसलिये इन तीनों को गन्धायतन, रसायतन एवं कवलीकार आहार – इन नामों से न कहकर परमार्थ-धर्मसामान्यरूप से धर्मायतन में सम्मिलित करके कहा गया है – ऐसा समझना चाहिये[३]।

---

१. विभ०, पृ० ४९९-५०० ।

२. विभ० मू० टी०, पृ० १०८।

३. प०–प० दी०, पृ० २७४।

६१. असञ्ञसत्तानं* पन चक्खु-सोत-वत्थु-सद्दा† पि न लब्भन्ति, तथा सब्बानि पि चित्तजरूपानि। तस्मा तेसं पटिसन्धिकाले जीवितनवकमेव‡, पवत्तियञ्च सद्दवज्जितं§ उतुसमुट्ठानरूपं अतिरिच्चतिφ।

असंज्ञिसत्त्वों की सन्तान में चक्षुष्, श्रोत्र, वस्तु एवं शब्द कलाप भी उपलब्ध नहीं होते; उसी प्रकार सभी चित्तज रूप भी नहीं होते। इसलिये उनके प्रतिसन्धि काल में जीवितनवककलाप ही होते हैं। प्रवृत्तिकाल में शब्दवर्जित ऋतुसमुत्थान रूप अतिरिक्ततया होते हैं।

---

६१. असंज्ञिभूमि में चक्षुष्, श्रोत्र एवं वस्तुदशक कलाप तथा शब्दनवककलाप भी नहीं होते। 'अपि' शब्द से रूपी ब्रह्माओं में जो घ्राण, जिह्वा एवं काय प्राप्त नहीं होते वे यहाँ (असंज्ञि सत्त्वों में) भी प्राप्त नहीं होते अर्थात् रूपी ब्रह्माओं में प्राप्त न होनेवाले रूपों के अतिरिक्त चक्षुः-प्रसाद, श्रोत्र-प्रसाद, हृदयवस्तु एवं शब्दरूप भी प्राप्त नहीं होते। चित्त न होने से चित्तज रूप भी प्राप्त नहीं होते, इसलिये असंज्ञिब्रह्माओं के प्रतिसन्धिक्षण में जीवितनवककलाप ही प्रतिसन्धि के रूप में उत्पन्न होते हैं[1]। प्रवृत्तिकाल में जीवितनवककलाप के अतिरिक्त शब्दवर्जित ऋतुजरूप भी उत्पन्न होते हैं।

इन रूपी ब्रह्माओं के रूपप्रवृत्तिक्रम में केवल प्राप्य एवं अप्राप्य रूपों का ही वर्णन किया गया है, उनकी उत्पत्ति एवं निरोध क्रम में, कामभूमि से विशेष भेद नहीं होता, अतः उसका पृथक् वर्णन नहीं किया गया है। केवल ऋतुज रूपों में ही किञ्चित् भेद होता है; यथा – रूपी ब्रह्माओं की च्युति होते समय मनुष्यों की तरह ऋतुज रूप (मृतकाय) अवशिष्ट नहीं रहते। दीपक की लौ बुझने के सदृश उनका निरोध होता है। च्युति के अनन्तर चित्तज एवं आहारज रूप क्रम से ४८ एवं ५० क्षुद्रक्षणपर्यन्त अवशिष्ट रहते हैं। इन चित्तज एवं आहारज रूपों में आनेवाली ऋतु से एवं मूल ऋतुजरूपों से कुछ क्षण तक पुनः ऋतुज रूपों के उत्पाद की सम्भावना है; किन्तु एक पलक काल में भी लाखों करोड़ों क्षण प्रवृत्त हो सकने से च्युतिचित्त के निरोध के अनन्तर कुछ क्षण पुनः होने मात्र से एक पलकमात्र भी उनके अवशिष्ट न रहने के कारण 'जब च्युति होती है तब सभी रूपकलाप निरुद्ध हो जाते हैं' – ऐसा कहा जाता है। देवता एवं नारकीय-आदि औपपादुक पुद्गलों में भी इसी प्रकार जानना चाहिये[2]।

---

*. असञ्ञीसत्तानं – स्या०। †. ०सद्दादीनि – स्या०; ०सद्दानि – सी०, रो०, ना०।

‡. ०लब्भति – स्या०।

§. सद्दनवकवज्जितं – स्या०।

φ. अतिरिच्छति – सी०, रो०; अतिरिच्छतीति – स्या०, म० (ख)।

१. विभ० अ०, पृ० १७३; विसु०, पृ० ३६४।

२. प० दी०, पृ० २७६।

६२. इच्चेवं काम-रूपासञ्ञिसङ्खातेसु* तीसु ठानेसु पटिसन्धिपवत्ति-वसेन† दुविधा रूपप्पवत्ति वेदितब्बा ।

इस प्रकार काम, रूप एवं असंज्ञी नामक तीनों भूमियों में प्रतिसन्धि एवं प्रवृत्ति के भेद से द्विविध रूपप्रवृत्तिक्रम जानना चाहिये ।

६३. अट्ठवीसति कामेसु होन्ति तेवीस रूपिसु ।
सत्तरसेवसञ्ञीनं‡ अरूपे नत्थि किञ्चि पि ।।

कामभूमि में २८, असंज्ञिवर्जित रूपभूमि में २३ एवं असंज्ञिभूमि में १७ रूप होते हैं । तथा अरूपभूमि में कुछ भी रूप नहीं होते ।

६४. सद्दो विकारो जरता मरणं चोपपत्तियं ।
न लब्भन्ति पवत्ते तु न किञ्चि पि न लब्भति ।।

अयमेत्थ रूपप्पवत्तिक्कमो ।

शब्द, विकाररूप, जरता एवं अनित्यता – ये रूप प्रतिसन्धि के उत्पादक्षण में उपलब्ध नहीं होते । प्रवृत्तिकाल में ये (२८ रूप) किञ्चित् भी उपलब्ध नहीं होते – ऐसा नहीं; अपितु सभी (कुछ न कुछ) उपलब्ध होते हैं ।

इस रूपसङ्ग्रह में यह 'रूपप्रवृत्तिक्रम' है ।

---

६२. यह काम, रूप एवं असंज्ञी भूमियों में रूप की उत्पत्ति एवं निरोध का निगमन कहनेवाली पालि है ।

६३. यह सङ्ग्रहगाथा है । कामभूमि में २८ रूप होते हैं । असंज्ञिवर्जित रूपभूमि में घ्राण, जिह्वा, काय प्रसाद तथा भावरूपद्वय वर्जित २३ रूप होते हैं । असंज्ञिभूमि के प्रतिसन्धिकाल में केवल जीवितनवककलाप ही होते हैं । प्रवृत्तिकाल में ४ ऋतुजकलापों में से शब्दनवककलाप नहीं होता, इसलिये अविनिर्भोगरूप ८, जीवित १, लघुता-आदि ३ तथा लक्षणरूप ४ एवं आकाश १=१७ रूप होते हैं ।

ऊपर कहा गया है कि रूपभूमि में २३ रूप होते हैं । इसपर कुछ विद्वान् कहते हैं कि रूपभूमि में लघुता, मृदुता एवं कर्मण्यता – ये तीन रूप भी नहीं हो सकते; क्योंकि लघुता अप्-धातु का विकार दन्धता (भारीपन) का प्रतिपक्ष है, मृदुता पृथ्वीधातु का विकार थद्धता का प्रतिपक्ष है, कर्मण्यता वायुधातु का विकार खरता का प्रतिपक्ष है । ब्रह्मभूमियों में उस प्रकार विकार करनेवाले चित्त एवं ऋतुएँ नहीं होतीं, सब सप्पाय (अनुकूल) ही होते हैं; अतः दन्धता-आदि विकार न होने से उन विकारों का प्रहाण करनेवाले लघुता-आदि भी वहाँ नहीं हो सकते ।

उपर्युक्त वाद से अन्य आचार्य सहमत नहीं हैं; क्योंकि ब्रह्माओं के रूपों में, चित्त में सुख एवं ऋतु अनुकूल होने से सर्वदा लघुता, मृदुता एवं कर्मण्यता होती हैं ।

---

*. ०रूपासञ्ञी० – स्या०, म० (क, ख) ।　　†. ०प्पवत्ति० – स्या० ।

‡. सत्तरसेवासञ्ञीनं – स्या०, रो० ।

निब्बानं

६५. निब्बानं* पन लोकुत्तरसङ्खातं चतुमग्गञाणेन सच्छिकातब्बं मग्ग-फलानमारमणभूतं वानसङ्खाताय† तण्हाय निक्खन्तत्ता 'निब्बानं' ति पवुच्चति।

'लोकोत्तर' नामक, चार मार्गज्ञान द्वारा साक्षात् करने योग्य तथा मार्ग एवं फल का आलम्बनभूत निर्वाण 'वान' नामक तृष्णा से निर्गत होने के कारण 'निर्वाण' कहा जाता है।

यदि 'प्रहाण करने के लिये विकार न होने के कारण लघुता-आदि नहीं होतीं' – ऐसा कहा जाता है तो 'अर्हत् की सन्तान में प्रहाण करने के लिये स्त्यान, मिद्ध-आदि न होने से उन (स्त्यान, मिद्ध-आदि) का प्रहाण करनेवाले कायलघुता, चित्तलघुता-आदि चैतसिक भी उन (अर्हतों) के चित्त में सम्प्रयुक्त नहीं होते' – ऐसा कहना पड़ेगा। वस्तुतः अर्हत् के चित्त में वे सर्वदा सम्प्रयुक्त होते ही हैं। अतः 'प्रहाण करने के लिये विकार न होने के कारण लघुता-आदि रूप ब्रह्माओं की सन्तान में नहीं हो सकते' – इस मत को अन्य आचार्य पसन्द नहीं करते।

रूपप्रवृत्तिक्रम समाप्त।

निर्वाण

६५. प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'चित्तं चेतसिकं रूपं निब्बानमिति सब्बथा' – इस प्रकार की गयी प्रतिज्ञा के अनुसार चित्त, चैतसिक एवं रूप धर्मों का सविस्तर वर्णन करने के अनन्तर अब निर्वाण का निरूपण करने के लिये आचार्य अनुरुद्ध 'निब्बानं पन' – आदि से प्रकरण का आरम्भ करते हैं। किन्तु निर्वाण के विषय में सङ्क्षिप्त निरूपण ही अभीष्ट होने के कारण उसका पृथक् परिच्छेद न कर 'रूप-परिच्छेद' में ही सम्मिलित करके उसके परिशिष्ट के रूप में इसका वर्णन करते हैं।

निब्बानं पन... निब्बानं ति पवुच्चति – यहाँ 'निब्बानं' एवं 'निब्बानं ति' – इस प्रकार 'निर्वाण' शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है। इसमें प्रथम निर्वाण शब्द 'निर्वाण' नामक स्वभावभूत परमार्थ-धर्म को दिखलानेवाला द्रव्यवाची शब्द है तथा द्वितीय निर्वाण शब्द 'निर्वाण' – इस नाम-प्रज्ञप्ति को दिखलानेवाला 'संज्ञावाची' शब्द है। जैसे – विहार द्रव्य विहार करने योग्य होने से 'विहार' (नाम) कहा जाता है[1]।

चतुमग्गञाणेन सच्छिकातब्बं – इस पाठ से मार्गज्ञानप्राप्त आर्य-पुद्गल ही निर्वाण धर्म का साक्षात् कर सकते हैं – यह दिखलाया गया है[2]।

---

*. निब्बाणं – सी०, सर्वत्र। †. वाण० – सी०।

१. द्र० – प० दी०, पृ० २७७।

२. "'सच्छिकातब्बं' ति एतेन परमत्थतो विज्जमानभावं दस्सेति। यं हि किञ्चि परमत्थतो विज्जमानं न होति तं सरूपतो कस्स पच्चक्खं नाम भविस्सतीति!" – प० दी०, पृ० २७७।

"'चतुमग्गञाणेन सच्छिकातब्बं' ति इमिना निब्बानस्स तंतंअरियपुग्गलानं पच्चक्खसिद्धतं दस्सेति।" – विभा०, पृ० १६३।

मग्गफलानमारम्मणभूतं – इस पाठ द्वारा निर्वाण 'मार्ग एवं फल धर्मों का आलम्बन होता है' – इस प्रकार कहा जाने से मार्ग एवं फल को अप्राप्त पुद्गल निर्वाण का साक्षात्कार नहीं कर सकते। हाँ, निर्वाण का लक्ष्य करके कम्मट्ठानभावना करते समय ज्ञान द्वारा निर्वाण के उपशमस्वभाव की आकारप्रज्ञप्तिमात्र का अनुमान कर उसका आलम्बन कर सकते हैं – यह दिखलाया गया है[1]।

वानसङ्खाताय तण्हाय – यहाँ 'वान' शब्द का अर्थ तृष्णा है। 'वान' – यह जोड़ने वाला धर्म है। इसके द्वारा एक भव का दूसरे भव से योग होता है। जबतक इस 'वान' नामक तृष्णा का अन्त नहीं होता, निर्वाण असम्भव है। 'नि' शब्द का अर्थ निस्सरण है; इसीलिये 'वानतो निक्खन्तं ति निब्बानं' – ऐसा विग्रह किया गया है। अर्थात् वान से निर्गत धर्म ही निर्वाण है। [निर्वाण का स्वभाव प्रथम परिच्छेद में तथा नवम परिच्छेद के 'उपशमानुस्मृति' प्रसङ्ग में देखें।]

'विनति संसिब्बतीति वानं' अर्थात् जो सम्यक् रूपेण सीता है, वह धर्म 'वान' है। जैसे – सूचीकार (दर्जी) वस्त्रखण्डों को जोड़ता है, अथवा तन्तुवाय तन्तुओं को जोड़ता है, अर्थात् बुनता है; उसी प्रकार 'वान' (तृष्णा) नामक धर्म भी प्रत्युत्पन्न भव से अनागत भव का संयोजन करता है।

इस संसार में पृथग्जन एवं शैक्ष्य पुद्गलों का तृष्णा से सम्बन्ध होने के कारण उनकी भवशृङ्खला का विच्छेद नहीं होता। इन सत्त्वों में संसार का विस्तार करनेवाले 'प्रपञ्च' नामक दृष्टि, मान एवं तृष्णा – ये तीन धर्म होते हैं।

उनमें 'सत्कायदृष्टि' नामक दृष्टि पञ्चस्कन्धों के प्रति 'इनमें सारभूत आत्मा है' – इस प्रकार उपादान करती है।

'मान' दृष्टि द्वारा उपादत्त उस आत्मा को ही 'मैं हूँ' – इस प्रकार मानता है तथा 'मैं श्रेष्ठ हूँ' – इस प्रकार अभिमान करता है।

इन दृष्टि एवं मान के कारण नाम एवं रूपों के प्रति तृष्णा द्वारा आसक्ति होती है। फलतः पुद्गल 'अत्तसमं पेमं नत्थि' के अनुसार अपने से अधिक किसी से भी प्रेम नहीं करता तथा अपने प्रति प्रेम होने से अपना उपकार कर रहे या भविष्य में करनेवाले के प्रति भी प्रेम होता है। इस प्रकार जीवनपर्यन्त आत्मा एवं आत्मीय सभी वस्तुओं के प्रति अत्यन्त आसक्त रहने के अनन्तर जब मरणासन्न काल निकट पहुँच जाता है तब सभी आसक्त आलम्बनों के उच्छिन्न होने से पूर्व ही तृष्णानुशय द्वारा उनका नये भव से सम्बन्ध कर दिया जाता है। इस तरह तृष्णानुशय द्वारा सम्बद्ध किये गये नये भव में पहुँचते ही भवनिकन्तिक लोभजवन नामक तृष्णा, प्राप्त हुए आत्मभाव के प्रति आसक्त होकर पूर्वोक्त नय के अनुसार नये भव का निर्माण करती है। इस प्रकार तृष्णा द्वारा सभी विषयों से सम्बन्ध करना दृष्टि एवं मान द्वारा उपष्टम्भ (उपकार) करने से ही

---

१. "'मग्गफलानमारम्मणभूतं' ति इमिना कल्याणपुथुज्जनानं अनुमानसिद्धतं।" – विभा०, पृ० १६३। विस्तार के लिये द्र० – प० दी०, पृ० २७७-२७८; विभा०, पृ० १६३।

होता है, अतः ये तीनों धर्म संसार के विस्तार का गम्भीरतया सम्पादन करनेवाले पापधर्म कहे गये हैं[1]।

नाम एवं रूप धर्मों का निरोधस्थान अत्यन्त उपशमभूत सर्वदा प्रकाश की तरह एक प्रकार की उत्तम धातु होने से जिस प्रकार पूतिगन्ध में लोलुप मक्खी अत्यन्त प्रकाशमान तप्त लोहपिण्ड के समीप नहीं जा सकती, उसी प्रकार 'तृष्णा' नामक लामक (हीन) धर्म भी अत्यन्त उत्तम असंस्कृत धातु निर्वाण के पास नहीं जा सकता। अतः निर्वाण 'वानतो निक्खन्तं' के अनुसार तृष्णाचक्र से नितरां विमुक्त धर्म कहा गया है[2]।

निर्वाण का स्वरूप

भव से भव को जोड़ने अर्थात् संसाररूपी ताना-बाना बुनने के कारण तृष्णा को 'वान' कहते हैं। उस 'वान' (तृष्णा) से निष्क्रान्त (निर्गत) होने के कारण 'निर्वाण' – यह नाम सार्थक होता है। निर्वाण को ही अमृत, असंस्कृत, एवं परमसुख भी कहते हैं। यथा –

"यदिदं सब्बसङ्खारसमथो सब्बूपधिपटिनिस्सग्गो तण्हक्खयो विरागो निरोधो निब्बानं[3]।"

"यस्स चाधिगमा सब्बकिलेसानं खयो भवे।
निब्बानमिति निद्दिट्ठं निब्बानकुसलेन तं[4]॥"

यह निर्वाण शान्तिलक्षण है। अच्युति इसका रस है, अथवा आश्वास (उपशम) करना इसका रस है। अनिमित्तता या निष्प्रपञ्चता इसका प्रत्युपस्थान है। अर्थात् इसका कोई निमित्त (संस्थान) नहीं है अथवा यह सर्व प्रपञ्चों से शून्य है – ऐसा योगी के ज्ञान में प्रतिभासित होता है[5]।

क्या निर्वाण नहीं है? – तैर्थिकों की आत्मा की भांति, अथवा शशविषाण की भांति अनुपलम्भस्वभाव होने से क्या निर्वाण परमार्थतः एक स्वभावभूत धर्म नहीं है?

---

१. तु० – "यः पश्यत्यात्मानं तत्स्याहमिति शाश्वतः स्नेहः।
स्नेहात्सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते॥
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति साधनान्युपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत् स संसारे॥
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात्परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते॥"
– प्र० वा०, प्र० परि०, २१९-२२१ का०, पृ० ८६-८७।

२. विभा०, पृ० १६४; प० दी०, पृ० २७८; अट्ठ०, पृ० ३२२।

३. दी० नि०, द्वि० भा०, पृ० २९; म० नि०, प्र० भा०, पृ० २१७; म० नि०, द्वि० भा०, पृ० ३३३; सं० नि०, प्र० भा०, पृ० १३६।

४. अभि० व०, पृ० १०८।

५. विसु०, पृ० ३५५।

समाधान – आपका कथन ठीक नहीं है। प्रज्ञाचक्षुष् द्वारा देखनेवाले हितगवेषी जनों को 'तदनुरूप प्रतिपत्ति' (निर्वाणानुरूप ध्यानभावना) नामक उपाय से निर्वाण का उपलम्भ होता है। अतः बाल पृथग्जनों को अनुपलम्भ होने से 'निर्वाण नहीं है' – ऐसा कहना युक्त नहीं।

क्या क्षय 'निर्वाण' है? – धर्मसेनापति आयुष्मान् सारिपुत्त स्थविर ने "कतमं नु खो, आवुसो! निब्बानं ति"? निर्वाण क्या है? – ऐसा पूछने पर "यो खो, आवुसो! रागक्खयो दोसक्खयो मोहक्खयो – इदं वुच्चति निब्बानं[1]" – ऐसा उत्तर दिया। अर्थात् रागक्षय, द्वेषक्षय एवं मोहक्षय 'निर्वाण' है। इस प्रकार उन्होंने राग-आदि के क्षय को ही 'निर्वाण' कहा है। अतः क्या राग-आदि का क्षयमात्र ही निर्वाण है?

समाधान – नहीं। यदि निर्वाण 'क्षयमात्र' माना जायेगा तो अर्हत्त्व भी क्षयमात्र ही हो जायेगा। अर्थात् अर्हत्त्व में भी क्षयमात्रता-दोष का प्रसङ्ग हो जायेगा; क्योंकि आयुष्मान् सारिपुत्त ने, निर्वाण के अनन्तर ही "कतमं नु खो, आवुसो! अरहत्तं ति"? अर्हत्त्व क्या है? – ऐसा पूछने पर "यो खो, आवुसो! रागक्खयो दोसक्खयो मोहक्खयो – इदं वुच्चति अरहत्तं[2]" ऐसा उत्तर दिया। अर्थात् रागक्षय, द्वेषक्षय एवं मोहक्षय ही 'अर्हत्त्व' है। ऐसी स्थिति में आप (पूर्वपक्षी) के मत में अर्हत्फल राग-आदि का क्षयमात्र हो जायेगा और अर्हत्फलचित्त का राग-आदि का क्षयमात्र हो जाना, युक्तियुक्त नहीं है। इसलिये शब्दार्थ के पीछे न दौड़कर आपको दोनों सूत्रों के अर्थ की परीक्षा करनी चाहिये।

वस्तुतः जिस धर्म के अधिगम से राग-आदि क्लेशों का क्षय होता है वह धर्म (निर्वाण), राग-आदि के क्षय का उपनिःश्रय होने से, जिस प्रकार 'तिपुसो जरो, गुळो सेम्हो' इत्यादि स्थलों में फलोपचार से खीरा (ककड़ी) को ज्वर एवं गुड़ को श्लेष्मा कहा जाता है, उसी प्रकार, 'क्षयमात्र' न होने पर भी उपचार से 'रागादीनं खयो निब्बानं' के अनुसार 'निर्वाण' कहा जाता है। इसी तरह राग-आदि के क्षीण (शान्त) होने पर उत्पन्न होने से अर्हत्त्व भी उपचार से 'क्षय' कहा जाता है।

यदि आप (पूर्वपक्षी) के कथनानुसार राग-आदि का क्षयमात्र निर्वाण हो जाये तब तो सब बाल पृथग्जन समधिगतनिर्वाण (जिन्हें निर्वाण प्राप्त हो गया है) एवं साक्षात्कृतनिरोध (जिन्हें निरोध का साक्षात्कार हो गया है) हो जायेंगे; क्योंकि वस्तु (कामवस्तु) का सेवन करने के अन्त में उन (बाल पृथग्जनों) का भी राग शान्त हो जाता है। फलतः सभी अनायास निर्वाणप्राप्त हो जायेंगे।

पुनश्च – निर्वाण में बहुत्व दोष का प्रसङ्ग भी उपस्थित हो जायेगा। यदि राग-आदि का क्षय निर्वाण होगा तो जो राग का क्षय है, वह द्वेष एवं मोह का क्षय नहीं है; जो द्वेष का क्षय है, वह राग और मोह का क्षय नहीं है; जो मोह का क्षय है,

---

१. सं० नि०, तृ० भा०, पृ० २२३, २३३।

२. सं० नि०, तृ० भा०, पृ० २२३-२२४।

वह राग एवं द्वेष का क्षय नहीं है—इस प्रकार रागक्षय एक निर्वाण, द्वेषक्षय एक निर्वाण, मोहक्षय एक निर्वाण, तीन अकुशलमूलों के क्षय तीन निर्वाण, चार उपादानों के क्षय, पाँच नीवरणों के क्षय—इस तरह अनन्त निर्वाण हो जायेंगे।

और भी—यदि राग-आदि का क्षयमात्र ही निर्वाण होगा तो निर्वाण संस्कृत-लक्षण हो जायेगा, संस्कृतलक्षण होने से संस्कृतपर्यापन्न तथा संस्कृतपर्यापन्न होने से निर्वाण अनित्य एवं दुःख हो जायेगा।

पुनश्च—यदि राग-आदि का क्षय ही 'निर्वाण' है तो वह (पूर्वपक्षी) बताये कि गोत्रभू, व्यवदान, मार्ग एवं फल का आलम्बन क्या है ? यदि वह (पूर्वपक्षी) कहे कि 'राग-आदि का क्षय ही आलम्बन है' तो उससे पूछना चाहिये कि राग-आदि क्लेश, गोत्रभू-आदि के क्षण में 'क्षीण हो रहे हैं', 'क्षीण होंगे' या 'क्षीण हो गये हैं' ? यदि वह कहे कि 'मैं क्षीण को ही क्षय कहता हूँ' तब उससे कहना चाहिये—यदि आप 'क्षीण को ही क्षय' कहेंगे तो आपके मत में गोत्रभू-आदि चित्तों की निर्वाणालम्बनता सिद्ध न हो सकेगी। अर्थात् गोत्रभू-आदि चित्तों का आलम्बन निर्वाण न हो सकेगा; क्योंकि गोत्रभू एवं व्यवदान के क्षण में राग-आदि क्लेश 'क्षीण होनेवाले हैं' तथा मार्ग के क्षण में 'क्षीण हो रहे हैं', किसी भी स्थिति में 'क्षीण' नहीं हैं; केवल फल के क्षण में ही 'क्षीण' हैं। इस तरह आपके मत में केवल फलचित्त का आलम्बन ही 'क्षय' हो सकेगा; अन्य का नहीं। तब बताइये अन्य (गोत्रभू, व्यवदान एवं मार्ग) चित्तों का आलम्बन क्या है ?—ऐसा पूछने पर आलम्बन न दिखाई पड़ने से वह (पूर्वपक्षी) अवश्य निरुत्तर हो जायेगा।

अपि च—क्लेशक्षय सत्पुरुषों द्वारा किया जाता है, यथानुरूप प्रतिपत्ति (उपाय) द्वारा उत्पन्न किया जाता है। निर्वाण किसी के द्वारा न तो किया जाता है और न उत्पन्न ही किया जाता है, अतः निर्वाण अमृत है, असंस्कृत है।

निष्कर्ष—इस प्रकार निर्वाण परमार्थतः स्वभावभूत एक धर्म है। वह प्रकृति-वादियों की प्रकृति की भाँति अथवा तैर्थिकों की आत्मा की भाँति असिद्ध नहीं है और न शशविषाण की भाँति अविद्यमानस्वभाव ही है। वह (निर्वाण) प्रज्ञप्तिमात्र भी नहीं है। निर्वाण मार्ग द्वारा प्राप्तव्य होने से 'असाधारण' है। मार्ग द्वारा वह प्राप्तव्यमात्र है, उत्पादनीय नहीं; अतः पूर्वा कोटि न होने से 'अप्रभव' है। उत्पाद न होने से 'अज-रामरण' है। उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग न होने से 'नित्य' है। रूपस्वभाव का अभाव होने से 'अरूप' है तथा सर्व प्रपञ्चों से अतीत होने से 'निष्प्रपञ्च' है[1]।

१. विस्तृत ज्ञान के लिये द्र०—अभि० व०, पृ० १०८-१११; विभ० अ०, पृ० ५३-५६; विसु०, पृ० ३५४-३५६।

६६. तदेतं* सभावतो एकविधम्पि, सउपादिसेसनिब्बानधातु† अनुपादिसेस-निब्बानधातु† चेति दुविधं होति कारणपरियायेन।

वह यह (निर्वाण) स्वभाव से एक प्रकार का होने पर भी कारणपर्याय से सोपधिशेष निर्वाणधातु एवं अनुपधिशेष निर्वाणधातु – इस प्रकार द्विविध होता है।

---

६६. तदेतं सभावतो एकविधम्पि – 'निर्वाण शान्तस्वभाव लक्षणवाला है' – इस प्रकार कहा जा चुका है। उस शान्तस्वभाव से निर्वाण एक ही प्रकार का होता है। 'एक ही प्रकार का होता है' – इस वचन से सभी आर्य पुद्गलों का निर्वाण 'सार्वजनिक किसी एक वस्तु की तरह एक होता है' – इस प्रकार का भ्रम हो सकता है; किन्तु यहाँ उस तरह का अभिप्राय नहीं है। वस्तुतः जिस प्रकार सभी चित्त 'आलम्बन-विजानन' लक्षण से एक ही होते हैं, उसी तरह सभी निर्वाण 'शान्त-स्वभाव' इस लक्षण से एक प्रकार के होते हैं। जिस प्रकार प्रतिव्यक्ति अपना अपना पृथक् चित्त होता है, उसी प्रकार प्रत्येक आर्यपुद्गल में अपना अपना पृथक् निर्वाण होता है। शान्त-स्वभाव से निर्वाण एकविध होने पर भी 'वह दृष्टधर्मनिर्वाण एवं साम्परायिक निर्वाण – इस प्रकार द्विविध होता है। दृष्टधर्मनिर्वाण को 'सोपधिशेषनिर्वाण' एवं साम्परायिक निर्वाण को 'निरुपधिशेषनिर्वाण' कहते हैं[1]।

सउपादिसेसनिब्बानधातु – 'कम्मकिलेसेहि उपादीयतीति उपादि', अर्थात् कर्म एवं क्लेश द्वारा जिनका उपादान होता है उन्हें 'उपादि' कहते हैं। सत्त्वों की सन्तान में मूलरूप से सर्वदा रहनेवाले धर्म भवङ्गकृत्य करनेवाले विपाकविज्ञान एवं कर्मज रूप हैं, इनका सम्पादन करनेवाले कर्म इन्हें 'ये मेरे हैं तथा मेरे फल हैं' – इस प्रकार ग्रहण करते हैं तथा क्लेश 'ये मेरे आलम्बन हैं' – इस प्रकार उपादान करके आलम्बन करते हैं, अतः विपाकविज्ञान एवं कर्मजरूपों को 'उपादि' (उपधि) कहा है।

अथवा 'तण्हादिट्ठीहि उपादीयतीति उपादि' अर्थात् तृष्णा एवं दृष्टि द्वारा आलम्बन करने के वश से गृहीत उपादानस्कन्धों को 'उपादि' कहते हैं।

'सिस्सति अवसिस्सतीति सेसो, उपादि च सो सेसो चा ति उपादिसेसो' अर्थात् अवशिष्ट विपाकविज्ञान एवं कर्मजरूप ही 'उपादिसेस' हैं। वे 'उपादि' भी हैं और 'सेस' भी हैं, अतः उन्हें 'उपादिसेस' कहते हैं। अनादि संसार में विपाकविज्ञान एवं कर्मजरूप सर्वदा क्लेशों के साथ सम्मिश्रित हो कर रहते हैं। मार्ग द्वारा क्लेशों का सर्वथा प्रहाण हो जाने पर आर्य पुद्गलों की सन्तान में केवल विपाकविज्ञान एवं कर्मज रूप ही अवशिष्ट रह जाते हैं, अतः इन्हें 'उपादिसेस' कहते हैं। अथवा – अर्हतों के पञ्च स्कन्ध ही 'उपादिसेस' हैं। 'सह उपादिसेसेन वत्ततीति सउपादिसेसो' जो निर्वाणधातु

---

*. तदेव – स्या०। †-†. सउपादिसेसा० अनुपादिसेसा० – स्या०।

१. प० दी०, पृ० २७८-२७९; विभ० अ०, पृ० ५३-५६; विसु०, पृ० ३५५-३५६।

६७. तथा सुञ्ञतं, अनिमित्तं, अप्पणिहितञ्चेति तिविधं होति आकार-भेदेन ।

तथा शून्यता निर्वाण, अनिमित्त निर्वाण, एवं अप्रणिहित निर्वाण – इस प्रकार आकारभेद से निर्वाण त्रिविध होता है ।

'उपादिसेस' अर्थात् क्लेश से रहित विपाकविज्ञान एवं कर्मज रूपों के साथ प्रवृत्त होती है वह 'सउपादिसेसनिब्बानधातु' (सोपधिशेष निर्वाणधातु) है। यहाँ 'निर्वाणधातु विपाकस्कन्ध एवं कर्मज रूपों के साथ होती है' – इस प्रकार कहने पर भी चित्त एवं चैतसिकों के सहोत्पाद की तरह नहीं समझना चाहिये, अपितु अवशिष्ट विपाक एवं कर्मज रूपों द्वारा निर्वाण लक्षित किया जाने से निर्वाण लक्ष्य, तथा विपाक एवं कर्मज रूप लक्षण होने से लक्ष्य-लक्षण के रूप से सह (साथ) होते हैं – ऐसा जानना चाहिये[1]।

जब परिनिर्वाण होता है तब विपाकविज्ञान एवं कर्मज रूप भी अवशिष्ट नहीं रहते। उस अवस्था में 'नत्थि उपादिसेसो यस्सा ति अनुपादिसेसो' जिस निर्वाणधातु के साथ विपाकविज्ञान एवं कर्मजरूप भी नहीं हैं उसे 'अनुपादिसेसनिब्बानधातु' कहते हैं।

कारणपरियायेन – इस प्रकार अवशिष्ट विपाक एवं कर्मज रूपों के होने या न होने के वश से लक्षण द्विविध होने के कारण लक्षण के 'सउपादिसेस' एवं 'अनुपादिसेस' नामों का कार्य लक्ष्य में उपचार करके कारणोपचार से 'सउपादिसेसनिब्बानधातु' एवं 'अनुपादिसेस-निब्बानधातु' – ये दो नाम होते हैं[2]।

६७. **सुञ्ञतं** – निर्वाण राग, द्वेष एवं मोह के साथ रूपस्कन्ध एवं नामस्कन्ध से शून्य होता है। इस तरह राग, द्वेष एवं मोह के साथ सभी नामरूप-धर्मों के शून्यता-कार का लक्ष्य करके 'शून्यता निर्वाण' – इस प्रकार भी कहा जाता है[3]।

अनिमित्तं – 'निमित्त' शब्द लम्बाई, चौड़ाई आदि संस्थान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। रूपस्कन्ध रूपकलापों के पिण्ड के रूप में विभिन्न प्रकार के संस्थान (आकार) वाला होता है। नामस्कन्ध संस्थान के रूप में न होने पर भी संस्थान की तरह प्रतिभासित होता है। निर्वाण इस तरह के संस्थानवाला नहीं है। इस तरह संस्थान न होनेवाले आकार का लक्ष्य करके 'अनिमित्त निर्वाण' – इस प्रकार भी कहा जाता है[4]।

अप्पणिहितं – 'प्रणिहित' शब्द प्रार्थित अर्थ में होता है। यह 'प्रणिहित' शब्द 'प्रणिधि' का पर्यायवाची है। निर्वाण तृष्णास्वभाव से प्रार्थना करने योग्य नहीं है तथा निर्वाण में प्रार्थना करनेवाली तृष्णा भी नहीं है, इस प्रकार तृष्णा द्वारा अप्रणिहित तथा प्रार्थना करनेवाली तृष्णा के अभावाकार का लक्ष्य करके 'अप्रणिहित निर्वाण' भी कहा जाता है[5]।

---

१. विभा०, पृ० १६४; प० दी०, पृ० २८०; विसु०, पृ० ३५६।

२. द्र० – विसु०, पृ० ३५६।

३. विभा०, पृ० १६४; प० दी०, पृ० २८१।

४. प० दी०, पृ० २८१-२८२।

५. प० दी०, पृ० २८२।

६८. एवमच्चुतमच्चन्तं असङ्खतमनुत्तरं ।
निब्बानमिति भासन्ति वानमुत्ता महेसयो ।।

तृष्णामुक्त महर्षि अच्युत अर्थात् च्युतिरहित, अत्यन्त अर्थात् अन्तरहित कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार से असंस्कृत लोकोत्तर पद को 'निर्वाण' कहते हैं ।

६९. इति चित्तं चेतसिकं रूपं निब्बानमिच्चपि ।
परमत्थं पकासेन्ति चतुधा व तथागता* ।।

इति अभिधम्मत्थसङ्गहे रूपसङ्गहविभागो नाम
छट्ठो परिच्छेदो ।

इस प्रकार छह परिच्छेदों में चित्त, चैतसिक, रूप एवं निर्वाण का निरूपण किया गया है । इन्हें ही तथागत चार प्रकार के 'परमार्थधर्म' प्रकाशित करते हैं ।

इस प्रकार 'अभिधम्मत्थसङ्गह' में 'रूपविभाग' नामक
षष्ठ परिच्छेद समाप्त ।

इस प्रकार शून्याकार, अनिमित्ताकार एवं अप्रणिहिताकार के भेद से निर्वाण त्रिविध होता है[1] ।

६८. यहाँ निर्वाण के स्वभाव अर्थात् गुणों का सङ्क्षेप में प्रतिपादन किया गया है[2] ।

६९. इस गाथा द्वारा उपर्युक्त ४ परमार्थ-धर्मों का निगमन किया गया है । प्रथम परिच्छेद की 'चित्तं चेतसिकं रूपं निब्बानमिति सब्बथा' इस उद्देसमातिका के अनुसार परमार्थधर्मों के निरूपण की प्रतिज्ञा की गयी थी, उसकी सविस्तर व्याख्या हो चुकी है — इस प्रकार यहाँ निगमन किया गया है ।

अभिधर्मप्रकाशिनी व्याख्या में 'रूपसङ्ग्रहविभाग' नामक
षष्ठ परिच्छेद समाप्त।

❀

---

*. तथागता ति – सी० ।

१. तीनों शब्दों के विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – प० दी०, पृ० २८२-२८५ ।

२. विस्तार के लिये द्र० – विसु०, पृ० ३५८–३५९ ।

सत्तमो परिच्छेदो

समुच्चयसङ्गहविभागो

द्वासत्ततिविधा वुत्ता वत्थुधम्मा सलक्खणा।
तेसं दानि यथायोगं पवक्खामि समुच्चयं ॥

७२ प्रकार के वस्तुसत् धर्म, लक्षणों के साथ कह दिये गये हैं। अब उनका यथायोग्य समुच्चय (सङ्ग्रह) कहूँगा।

---

१. **अनुसन्धि** – यद्यपि 'चित्तं चेतसिकं रूपं निब्बानमिति सब्बथा'[1] अपनी इस प्रतिज्ञा के अनुसार चारों परमार्थ-धर्मों का सविस्तर वर्णन किया जा चुका है। यहाँ यदि ग्रन्थकार चाहते तो ग्रन्थ समाप्त कर सकते थे, किन्तु उन परमार्थ-धर्मों का स्वभाव के अनुसार समुच्चय दिखलाने के लिये उपर्युक्त गाथा द्वारा समुच्चयप्रकरण का आरम्भ किया जा रहा है[2]।

अथवा – उपर्युक्त ६ परिच्छेदों द्वारा चार परमार्थ-धर्मों का सविस्तर वर्णन करने के अनन्तर आचार्य अब उन धर्मों का समुच्चय (राशि) दिखलाने के लिये उपर्युक्त गाथा द्वारा प्रारम्भ करते हैं[3]।

वत्थुधम्मा – आकाशधातु-आदि अनिष्पन्न रूप यद्यपि रूपपरिच्छेद में कथित नय के अनुसार स्वसम्बद्ध लक्षणों से युक्त होने के कारण 'सलक्खण' (स्वलक्षण) कहे जा सकते हैं, तथापि वे वस्तुद्रव्यत्व को प्राप्त एकान्त परमार्थस्वभाव न होने से इन ७२ प्रकार के वस्तुसद् धर्मों में सङ्गृहीत नहीं किये जा सकते। अर्थात् वे अनिष्पन्नरूप यद्यपि धर्मायतन एवं धर्मधातु में सङ्गृहीत होने से इस परिच्छेद में उपयोगी हैं, तथापि योगियों द्वारा एकान्तरूप से अभिज्ञेय धर्मसमूह का ग्रहण ही आचार्य को अभीष्ट होने से कम्मट्ठानभावना में अनुपयोगी, सम्मर्शन के अयोग्य उन अनिष्पन्न रूपों का यहाँ (७२ धर्मों में) ग्रहण नहीं किया गया है[4]। इसीलिये कहा भी गया है –

"अभिञ्ञेय्यसभावेन द्वासत्तति समीरिता[5]।"

द्वासत्ततिविधा – यहाँ चित्त १, चैतसिक ५२, निष्पन्नरूप १८ एवं निर्वाण १=७२ धर्मों को ही 'वस्तुधर्म' कहा गया है।

सलक्खणा – चित्त आलम्बनविजाननलक्षण है। ५२ चैतसिकों में से स्पर्श 'फुसन' (स्पार्शन)-लक्षण है। वेदना अनुभवनलक्षण, संज्ञा सञ्जाननलक्षण – इसी प्रकार ५२

---

१. द्र० – अभि० स० १ : २, पृ० ८।
२. द्र० – विभा०, पृ० १६४।
३. प० दी०, पृ० २८६।
४. द्र० – प० दी०, पृ० २८६।
५. नाम० परि० ६१७ का०, पृ० ४०।

२. अकुसलसङ्गहो, मिस्सकसङ्गहो, बोधिपक्खियसङ्गहो, सब्बसङ्गहो चेति समुच्चयसङ्गहो चतुब्बिधो वेदितब्बो।

अकुशलसङ्ग्रह, मिश्रकसङ्ग्रह, बोधिपक्षीयसङ्ग्रह एवं सर्वसङ्ग्रह – इस तरह समुच्चयसङ्ग्रह को चतुर्विध जानना चाहिये।

अकुसलसङ्गहो

आसवा

३. कथं ?

अकुसलसङ्गहे* ताव चत्तारो आसवा – कामासवो, भवासवो, दिट्ठासवो, अविज्जासवो† ।

कैसे ? प्रथम अकुशलसङ्ग्रह में चार आस्रव हैं – कामास्रव, भवास्रव, दृष्टि-आस्रव एवं अविद्यास्रव।

चैतसिक पृथक् पृथक् अपने अपने लक्षण वाले हैं। १८ निष्पन्न रूपों में भी पृथ्वीधातु 'कक्खळ'-लक्षण, एवं अप्-धातु आबद्धनलक्षण होती है। इसी प्रकार १८ निष्पन्न रूप भी पृथक् पृथक् अपने अपने लक्षणवाले हैं तथा निर्वाण शान्तिलक्षण है। इसी तरह ये ७२ धर्म अपने अपने सम्बद्ध लक्षणवाले होने से 'सलक्खण' कहे गये हैं।

समुच्चय – 'सह उच्चीयन्ते एत्थ एतेन वा ति समुच्चयो' जिस परिच्छेद में अथवा जिस परिच्छेद द्वारा परमार्थ-धर्मों का साथ साथ सम्पिण्डन किया जाता है वह 'समुच्चय' है। अर्थात् – आस्रव नामक १ धर्मराशि, ओघ नामक १ धर्मराशि – इसी प्रकार स्वभाव से समान धर्मों को सम्पिण्डित करने वाला यह परिच्छेद है।

२. 'समुच्चयसङ्ग्रह' नामक इस परिच्छेद में अकुशल, मिश्रक, बोधिपक्षीय एवं सर्वसङ्ग्रह – इन चार प्रकार के समुच्चयों का वर्णन होगा।

अकुशलसङ्ग्रह

३. अकुशलधर्मों को सङ्गृहीत करनेवाला सङ्ग्रह 'अकुशलसङ्ग्रह' कहलाता है।

आस्रव

'चिरपारिवासियट्ठेन आसवा' चिर अर्थात् अधिक समयपर्यन्त परिवास करने योग्य' अर्थ होने से ये 'आसव' कहलाते हैं। वस्तुतः 'आसव' शब्द अनिष्पन्न प्रातिपदिक होने से उसका ठीक ठीक विग्रह (प्रकृतिप्रत्ययविभाग) नहीं किया जा सकता, फिर भी यदि विग्रह करना चाहें तो यह हो सकता है – 'आसवन्ति चिरं परिवसन्तीति

---

* ०. सङ्गहो – स्या०।

†. च – स्या० (सर्वत्र)।

आसवा, आसवा वियाति आसवा' अर्थात् चिरकाल रहनेवाले पर्युषित द्रव्य को आसव (मद्य) कहते हैं, और जो आसवसदृश हैं वे लोभादि भी 'आसव' हैं[1]।

जैसे लोक में चिरपर्युषित मद्य-आदि, सेवन करने वालों में अधिक मादकता उत्पन्न करते है और वे (मद्यपी) कर्त्तव्याकर्त्तव्यविमूढ होकर विभिन्न अकरणीय आचरण कर बैठते हैं, फलस्वरूप उन्हें नानाप्रकार के दुःखों का अनुभव करना पड़ता है तथा वे साधु एवं आदरणीय पुरुषों द्वारा बहिष्कृत किये जाते हैं और निन्दा के पात्र होते हैं, उसी प्रकार पृथग्जनों के स्कन्धरूपी मद्यपात्र में अनादिकाल से लोभ, दृष्टि एवं मोह रूपी मद्य रखा हुआ है। जैसे पुराना मद्य अधिक खमीर से युक्त होता है, उसी तरह ये लोभादि भी अधिक शक्तिशाली होते हैं। अधिक शक्तिशाली होने के कारण जब इनका वेग संयमित नहीं हो पाता तब पृथग्जन कर्त्तव्याकर्तव्यविमूढ हो जाते हैं और उनके लिये कुछ भी अकरणीय नहीं रहता, फलस्वरूप उन्हें बार बार अपायभूमि में जन्म ग्रहण करना पड़ता है। वे आर्यपुद्गलों द्वारा भी बहिष्कृत एवं निन्दित होते हैं। इसी लिये आसवसदृश होने के कारण लोभ, दृष्टि एवं मोह को 'आसव' कहते हैं[2]।

अथवा – 'आसव' में 'आ' शब्द 'अभिविधि' अर्थ वाला है, 'सु' धातु 'उत्पाद' अर्थ में है। किसी क्रिया का परिच्छेद करना 'अवधि' है। वह अपादान की तरह होती है। यह अवधि द्विविध है – मर्यादा एवं अभिविधि। मर्यादा-अवधि में क्रिया का प्रभाव उस वस्तु पर नहीं पड़ता जहाँ तक क्रिया पहुँचती है; अपितु उस वस्तु को छोड़कर मर्यादा-अवधि क्रिया की सीमा बनाती है, यथा – 'परिसमन्ततो आददाति अवखण्डतीति मरियादो', अर्थात् मर्यादा उस स्थान या वस्तु का चारों ओर से अवखण्डन करके उसे क्रिया के प्रभाव से सुरक्षित रखती है। अर्थात् उस स्थान या वस्तु के चारों ओर क्रिया की सीमा बनाती है। जैसे – 'आपाटलिपुत्ता वुट्ठो देवो' अर्थात् पाटलिपुत्र तक वृष्टि हुई। यहाँ वर्षण क्रिया का प्रभाव पाटलिपुत्र पर नहीं पड़ा, अपितु मर्यादा-अवधि पाटलिपुत्र को छोड़कर वर्षणक्रिया की सीमा बनाती है। यहाँ 'पाटलिपुत्र' शब्द कारणोपचार से मर्यादा-अवधि वाचक होता है। 'आ' शब्द उस मर्यादा का अभिव्यञ्जक (द्योतक) होने से 'नानन्तरिक' (नानन्तरीयक) न्याय से मर्यादा-अवधिवाचक होता है।

---

१. "चिरपारिवासियट्ठेन मदिरादयो आसवा विया ति पि आसवा।" – अट्ठ०, पृ० ४१।

"चिरपारिवासियट्ठेन मदनीयट्ठेन च आसवसदिसत्ता आसवा। यदि च तदुभयट्ठेन आसवा नाम सियुं, इमे लोभादयो एव आसवा नाम सियुं।" – प० दी०, पृ० २८७।

"पुब्बकोटिया अपञ्ञायनतो चिरपारिवासियट्ठेन वणतो वा विस्सन्दमानयूसा विय चक्खादितो विसयेसु विस्सन्दनतो आसवा।" – विभा०, पृ० १६५।

२. अट्ठ०, पृ० ४१। द्र० – प० दी०, पृ० २८७; ध० स० मू० टी०, पृ० ५२।

अपने ऊपर क्रिया को व्याप्त करके परिच्छेद करनेवाली अवधि 'अभिविधि-अवधि' है। यथा – 'अभिभवित्वा विधीयति एत्था ति' अभिविधि' अर्थात् वस्तु को अभिभूत (प्रभावित) करके क्रिया का विधान करनेवाली अवधि 'अभिविधि' है। जैसे – 'आभवग्गा भगवतो यसो पवत्तति' भगवान् का यश आभवाग्र प्रवृत्त है। यहाँ यश फैलने की क्रिया भवाग्र को अर्थात् नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को भी व्याप्त (प्रभावित) करती है। 'भवाग्र' शब्द एवं 'आ' शब्द का अभिविधि अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये।

"अवधि च मरियादाभिविधिवसेन दुविधो। तत्थ 'आपाटलिपुत्तं वुट्ठो देवो' त्यादीसु विय क्रियं बहि कत्वा पवत्तो मरियादो। 'आभवग्गं सद्दो अब्भुग्गतो' त्यादीसु विय क्रियं व्यापेत्वा पवत्तो अभिविधि। इध पन अभिविधिम्हि दट्ठब्बो'।"

'आसव' शब्द में 'आ' उपसर्ग अभिविधि-अवधि का द्योतक है, इसलिये 'आभवग्गा आगोत्रभुम्हा सवन्ति पवत्तन्तीति आसवा' अर्थात् भवाग्र एवं गोत्रभू को व्याप्त करके प्रवृत्त होने के कारण लोभ, दृष्टि एवं मोह 'आसव' कहलाते हैं। भूमि की दृष्टि से ये (आसव) भवाग्र (नैवसंज्ञानासंज्ञायतनभूमि) तक तथा धर्म की दृष्टि से स्रोतापत्तिमार्ग के पूर्ववर्ती गोत्रभू तक का आलम्बन कर सकते हैं[२]। यहाँ जो 'गोत्रभू तक होना' कहा गया है वह उपलक्षणमात्र है। ये (आसव) गोत्रभू की ही भाँति ऊपरवाले मार्गों के पूर्वगामी वोदान (व्यवदान) एवं फलधर्मों के पूर्वगामी 'परिकर्म' का भी आलम्बन कर सकते हैं। अर्थात् ये आसवधर्म लोकोत्तरधर्मों को छोड़कर सम्पूर्ण लौकिकधर्मों का आलम्बन कर सकते हैं।

अथवा – 'आसव' शब्द में 'आ' पूर्वक 'सु पस्सवे' धातु है। अतः 'आसवन्तीति आसवा' यह भी विग्रह होता है। अर्थात् जो प्रस्रुत या क्षरित होते हैं वे 'आसव' (आस्रव) हैं। जैसे – गण्डस्फोट (फोड़े, फुन्सी) – आदि से पूय प्रस्रवित होता है, उसी

---

१. विभा०, पृ० १६५। द्र० – प० दी०, पृ० २८७; ध० स० मू० टी०, पृ० ५२।

२. "धम्मतो याव गोत्रभुं, ओकासतो याव भवग्गं सवन्तीति वा आसवा। एते धम्मे एतञ्च ओकासं अन्तोकरित्वा पवत्तन्तीति अत्थो। अन्तोकरणत्थो हि अयं 'आ' कारो।" – अट्ठ०, पृ० ४१; विसु०, पृ० ४८५।

"अथवा – भवतो आभवग्गं धम्मतो आगोत्रभुं सवन्ति पवत्तन्तीति अत्थो। अवधि-अत्थो चेत्थ 'आ'कारो।" – विभा०, पृ० १६५।

"भवतो आभवग्गा धम्मतो आगोत्रभुम्हा सवन्ति आरम्मणकरणवसेन पवत्तन्तीति आसवा। 'आ' सद्दस्स अवधि-अत्थजोतकत्ता।" – प० दी०, पृ० २८७।

तु० – अभि० को० ५:४०, पृ० १४४। "आभवाग्रमुपादाय आवचवीचिं स्रवन्ति स्रावयन्ति च चित्तसन्ततिमित्यास्रवाः।" – वि० प्र० वृ०, पृ० २२०; अभि० समु०, पृ० ४९।

तरह चक्षुर्द्वार-आदि ६ द्वारों से लोभ, दृष्टि-आदि का प्रस्रवण होता है। अतः लोभादि आस्रव हैं[1]।

'आसव' शब्द की रूढ़िवाचकता – स्कन्धसन्तति में चिरकाल से वास करने वाले धर्म अथवा भवाग्र या गोत्रभू तक आलम्बन करनेवाले धर्म 'आसव' (आस्रव) कहे गये हैं।

प्रश्न – जबकि मान-आदि धर्म भी स्कन्धसन्तति में चिरकाल से रहते हैं तथा वे भवाग्र एवं गोत्रभू तक व्याप्त भी रहते हैं तब क्यों लोभ, दृष्टि एवं मोह ही आस्रव हैं, क्यों मान-आदि धर्म आस्रव नहीं ?

समाधान – (क) – आत्मा एवं आत्मीय उपादान का भवाग्र अथवा गोत्रभू तक व्याप्त होना एवं मद्य की तरह शीघ्र मादकता फैलाना – ये कार्य लोभ, दृष्टि एवं मोह के बल से ही होते हैं, अतः इन्हें ही 'आस्रव' कहते हैं।

(ख) – यद्यपि मान-आदि धर्म गोत्रभू अथवा भवाग्र तक आलम्बन कर सकते हैं तथापि वे लोभ-आदि की तरह व्यापक नहीं हैं। वे (मान-आदि) कुछ धर्मों में अव्यापक भी होते हैं। जैसे – मान (अभिमान) कभी भी द्वेष का आलम्बन नहीं कर सकता, अतः इसकी व्यापकता सीमित है। लोभ-आदि ऐसे नहीं हैं, इनकी व्यापकता सर्वत्र सर्वदा अप्रतिहत होती है। जिस प्रकार मोहरूपी अन्धकार सर्वत्र लौकिकधर्मों को व्याप्त करता है, उसी प्रकार दृष्टि द्वारा होने वाला आत्मग्रह तथा लोभ से उत्पन्न आत्मीयग्रह सम्पूर्ण लौकिकधर्मों में व्याप्त होते हैं। अपि च – जिस प्रकार मद्य के कारण मदयुक्त व्यक्ति कुशल एवं अकुशल कर्मों में भेद न कर सकने के कारण कुछ भी करने में प्रवृत्त हो जाता है, इस प्रकार की स्थिति लोभ-आदि द्वारा ही उत्पन्न हो सकती है। जब इनका प्राबल्य होता है तब व्यक्ति का विवेक कुछ भी काम नहीं कर पाता और वह कुछ भी कर सकता है। इस मद्यसदृश स्थिति को उत्पन्न करने की क्षमता मान-आदि में नहीं है, लोभ-आदि में ही है। अतः रूढ़िवश लोभ, दृष्टि एवं मोह ही 'आस्रव' कहे जाते हैं, मान-आदि नहीं[2]। इसी तरह ओघ, योग-आदि भी जानने चाहियें।

कामासवो – वस्त्वालम्बन कामगुणों में आसक्त तृष्णा को 'कामासव' कहते हैं। स्वरूप से यह लोभमूल ८ चित्तों में सम्प्रयुक्त लोभ चैतसिक ही है[3]।

भवासवो – रूपी एवं अरूपी ध्यान तथा उनका विपाक 'भव' है। उस भव के प्रति आसक्त तृष्णा को 'भवासव' कहते हैं। स्वरूप से यह दृष्टिगतविप्रयुक्त ४ चित्तों में सम्प्रयुक्त लोभ चैतसिक ही है। अथवा – प्रतिसन्धिक्षण के अनन्तर अपने भव के

---

१. "आसवन्तीति आसवा। चक्खुतो पि...मनतो पि सन्दन्ति पवत्तन्तीति वुत्तं होति।" – अट्ठ०, पृ० ४१; ध० स०, पृ० २४७; विभ०, पृ० ४४८।

२. ध० स० मू० टी०, पृ० ५२-५३।

३. "पञ्चकामगुणिको रागो कामासवो नाम।" – अट्ठ०, पृ० २९४।
तु० – अभि० को० ५ : ३५, पृ० १४२; अभि० दी०, ३६० का०, पृ० २९७; अभि० समु०, पृ० ४६।

ओघा

४. चत्तारो ओघा – कामोघो, भवोघो, दिट्ठोघो, अविज्जोघो

ओघ चार हैं – कामोघ, भवोघ, दृष्टयोघ तथा अविद्योघ।

प्रति आसक्ति करनेवाला 'भवनिकन्तिकलोभजवन' 'भवासव' है[1]। इस भवास्रव से अवशिष्ट धर्म 'कामासव' कहलाते हैं।

दिट्ठासवो – स्वरूप से यह दृष्टिगतसम्प्रयुक्त ४ चित्तों में होनेवाला दृष्टिचैतसिक ही है[2]।

अविज्जासवो – स्वरूप से यह १२ अकुशल चित्तों में सम्प्रयुक्त मोहचैतसिक है[3]।

आस्रव यद्यपि संख्या में ४ होते हैं, फिर भी स्वरूपतः लोभ, दृष्टि एवं मोह – ये तीन ही आश्रव होते हैं[4]।

ओघ

४. 'अवत्थरित्वा हनन्तीति ओघा, अवहनन्ति ओसीदापेन्तीति वा ओघा, ओघा वियाति ओघा' अर्थात् जो अभिभव करके हनन करते हैं वे धर्म 'ओघ' हैं। अथवा – जो मग्न करते (डुबाते) हैं वे 'ओघ' हैं और जो धर्म ओघ (बाढ़) सदृश होते हैं, वे भी 'ओघ' कहलाते हैं[5]।

---

१. द्र० – "रूपारूपभवेसु छन्दरागो झाननिकन्ति-सस्सतदिट्ठिसहजातो रागो भववसेन पत्थना भवासवो नाम।" – अट्ठ०, पृ० २६४। तु० – अभि० को०, पृ० १४२; अभि० दी०, पृ० २६७।

२. द्र० – अट्ठ०, पृ० २६४। अभि० को० में दृष्टि पृथक् आस्रव नहीं है, द्र० – अभि० को० ५:३७, पृ० १४३; "आसयन्तीत्यास्रवाणां निर्वचनं पश्चाद्वक्ष्यते। न च किल केवला दृष्टयः आस्यानुकूलाः, पटुत्वात्। अत आस्रवेषु न पृथग्व्यवस्थापिताः, मिश्रीकृत्य स्थापिताः।" – द्र० – अभि० को० ५:३७ पर भाष्य; "आस्रवेषु दृष्टयः किमर्थं न पृथग्व्यवस्थापिता इत्याह – ...असहायानां दृष्टीनामास्यानुकूलताऽवस्थानानुकूलता चलत्वात् पटुत्वाच्च न भवति। नासनानुकूलतेत्यर्थः।" – स्फु०, पृ० ४८६।

३. द्र० – अट्ठ०, पृ० २६४।
तु० – अभि० को० ५:३६, पृ० १४३; अभि० दी० ३६१ का०, पृ० २६७; अभि० समु०, पृ० ४६।

४. विशेष ज्ञान के लिये द्र० – प० दी०, पृ० २८७-२८८।

५. "यस्स संविज्जन्ति तं वट्टस्मिं ओहनन्ति ओसीदापेन्तीति ओघा।" – अट्ठ०, पृ० ४२; विसु०, पृ० ४८५।
"ओत्थरित्वा हरणतो ओहननतो वा हेट्ठा कत्वा हननतो ओसीदापनतो 'ओघो' ति वुच्चति जलपवाहो। एते च सत्ते ओत्थरित्वा हनन्ता वट्टस्मिं सत्ते ओसीदापेन्ता विय होन्तीति ओघसदिसताय ओघा।" – विभा०, पृ० १६५। द्र० – प० दी०, पृ० २८१। तु० – अभि० को० ५:४०, पृ० १४४; वि० प्र० वृ०, पृ० २२०; अभि० समु०, पृ० ४७।

योगा

५. चत्तारो योगा – कामयोगो, भवयोगो, दिट्ठियोगो, अविज्जायोगो ।

चार योग हैं – कामयोग, भवयोग, दृष्टियोग एवं अविद्यायोग ।

जिस तरह जलौघ (बाढ़) गृह, पशु, मनुष्य-आदि सभी को अभिभूत करके उन्हें डुबो देता है उसी तरह लोभ, दृष्टि, एवं मोह धर्म अपने अनुशयित (आश्रित) सत्त्वों को चार अपायभूमियों में पहुँचने के लिये अभिभूत एवं दुर्बल करने से जलौघ (बाढ़) के सदृश होते हैं। इनका स्वरूप 'आसव' की तरह जानना चाहिये ।

योग

५. 'वट्टस्मिं सत्ते योजेन्तीति योगा' जो धर्म संसारदुःख में सत्त्वों को युक्त करते हैं वे योग हैं[1]। जैसे – किन्हीं वृक्षों का निर्यास (गोंद) किसी वस्तु को, किसी स्थान पर सटा (चिपका) देता है, उसी तरह लोभ, दृष्टि एवं मोह भी सत्त्वों को दुःखमय संसार में सक्त करते हैं। जैसे – रथ में अश्वों को युक्त किया जाता है, वैसे ही भवरूपी यन्त्र-चक्र में सत्त्वों को युक्त करनेवाले होने से, कारण (कर्म) का कार्य (विपाक) के साथ सम्बन्ध करनेवाले होने से, सत्त्वों को एक भव से दूसरे भव के साथ सम्बद्ध करने वाले होने से एवं सत्त्वों को नाना प्रकार के दुःखों से युक्त करनेवाले होने से लोभ, दृष्टि एवं मोह 'योग' कहे जाते हैं। इनका स्वरूप भी 'आसवसदृश' है।

धर्मस्वरूप – दिट्ठासव एवं अविज्जासव के धर्मस्वरूप में कोई जटिलता नहीं है; क्योंकि सभी दृष्टियों को 'दिट्ठासव' एवं सभी प्रकार के मोह को 'अविज्जासव' कहते हैं, किन्तु 'कामासव' एवं 'भवासव' के बारे में 'अट्ठकथा' एवं 'मूलटीका' में मतभेद उपलब्ध होता है। अट्ठकथाकार पांच काम गुणों के प्रति आसक्त लोभ को ही 'यह कामासव है' – ऐसा कहते हैं[2]। मूलटीकाकार "भवासवं ठपेत्वा 'सब्बो लोभो कामासवो' ति युत्तं सिया[3]" – इस प्रकार युक्ति दिखलाकर 'भवासव' से अवशिष्ट सभी लोभों को 'कामासव' कहते हैं। अर्थात् 'रूपभव' एवं 'अरूपभव', 'रूपध्यान' एवं 'अरूपध्यान' तथा उन उन भूमि एवं भवों को 'भव' कहकर उन उन भवों में आसक्त लोभ को 'भवासव' कहते हैं। अट्ठकथा में 'भव' शब्द द्वारा शाश्वत दृष्टि का ग्रहण करके उस शाश्वत दृष्टि

---

१. द्र० – "यस्स संविज्जन्ति तं वट्टस्मिं योजेन्तीति योगा ।" – अट्ठ०, पृ० ४२; विसु०, पृ० ४८५ ।

"वट्टस्मिं भवयन्तके वा सत्ते कम्मविपाकेन, भवन्तरादीहि दुक्खेन वा सत्ते योजेन्तीति योगा ।" – विभा०, पृ० १६५; प० दी०, पृ० २८९ ।

तु० – अभि० को० ५:४०, पृ० १४४; वि० प्र० वृ०, पृ० २२०; अभि० समु०, पृ० ४७ ।

२. "पञ्चकामगुणिको रागो कामासवो नाम ।" – अट्ठ०, पृ० २१४ ।

३. ध० स० मू० टी०, पृ० १७० ।

गन्था

६. **चत्तारो गन्था – अभिज्झा कायगन्थो, ब्यापादो कायगन्थो, सीलब्बतपरामासो कायगन्थो, इदंसच्चाभिनिवेसो* कायगन्थो* ।**

चार ग्रन्थ हैं – अभिध्या कायग्रन्थ, व्यापाद कायग्रन्थ, शीलव्रतपरामर्श कायग्रन्थ एवं इदंसत्याभिनिवेश कायग्रन्थ ।

के साथ होनेवाले राग को भी 'भवासव' कहा गया है[1]। इस मत से मूलटीकाकार सहमत नहीं; वे कहते हैं कि – यदि 'भवासव' होता है तो उसे दृष्टिगतसम्प्रयुक्त न होकर दृष्टिगतविप्रयुक्त ही होना चाहिये[2]। अट्ठकथाचार्य कहते हैं कि – ब्रह्माओं द्वारा अपने विमान एवं कल्पवृक्ष आदि के प्रति अनुराग सामान्य लोभ है[3]। मूलटीकाकार का कहना है कि वह 'कामासव' है[4]। 'उपरिपण्णास' में उसे भवलोभ (भवासव) कहा गया है[5]।

[ओघ, योग-आदि शब्दों को भी इसी प्रकार जानना चाहिये ।]

ग्रन्थ

६. 'चत्तारो गन्था' इस समुदायवचन में 'काय' शब्द न होने पर भी अवयव वचनों में ग्रन्थन क्रिया का कर्म दिखलाने के लिये 'कायगन्थो' – इस प्रकार 'काय' शब्द प्रयुक्त किया गया है। 'काय' शब्द भी नामकाय का ही ग्रहण करनेवाला तथा रूपकाय एवं नामकाय दोनों का ग्रहण करने वाला – इस तरह दो प्रकार का होता है।

'कायं गन्थेन्तीति कायगन्था' नामकाय का ग्रन्थन करनेवाले लोभ-आदि धर्म 'कायग्रन्थ' कहलाते हैं। अर्थात् लोभ, द्वेष एवं दृष्टि – ये नामसमूह को संसार-दुःख से छूटने न देने के लिये च्युति के अनन्तर प्रतिसन्धि एवं प्रतिसन्धि के अनन्तर च्युति – इस प्रकार शृङ्खला (जंजीर) की भाँति आबद्ध किये रहते हैं[6]। अथवा – 'कायेन कायं गन्थेन्तीति कायगन्था' (यहां पर दो 'काय' शब्द हैं, किन्तु एक का लोप हो जाता है।) प्रत्युत्पन्न नामकाय एवं रूपकाय से अनागत नामकाय एवं रूपकाय को ग्रथित करनेवाले धर्म

---

*. *. यह पाठ रो० में कोष्ठगत है ।

१. अट्ठ०, पृ० २६५ ।

२. ध० स० मू० टी०, पृ० १७० ।

३. अट्ठ०, पृ० २६५ ।

४. ध० स० मू० टी०, पृ० १७०-१७१ ।

५. विशेष ज्ञान के लिये द्र० – ध० स० अनु०, पृ० १८४-१८५ ।

६. "नामकायं गन्थेति चुतिपटिसन्धिवसेन वट्टस्मिं घट्टेतीति कायगन्थो ।" – अट्ठ०, पृ० २६६; ध० स०, पृ० २५४ ।

तु० – "द्विपक्षग्रन्थनाद् ग्रन्थाश्चत्वारः समुदाहृताः ।
अभिध्याख्यस्तथा द्वेषः परामर्शद्वयं तथा ।।"

– अभि० दी० ३७० का०, पृ० ३०५; वि० प्र० वृ०, पृ० ३०५; अभि० समु०, पृ० ४८ ।

'कायगन्थ' कहे जाते हैं[1]। अर्थात् – लोभ, द्वेष एवं दृष्टि का जब तक प्रहाण नहीं होता तब तक संसार दुःख से मुक्त न हो सकने के कारण प्रत्युत्पन्न काय का निरोध होने पर अनागत काय के साथ सम्बद्ध करने के लिये ये ग्रथित करनेवाले धर्म हैं।

'मणिसारमञ्जूसा' टीका में 'ये सहजात एवं पश्चाज्जात शक्तियों द्वारा नामकाय एवं रूपकाय का ग्रन्थन करनेवाले धर्म हैं' – इस प्रकार व्याख्या की गयी है[2], किन्तु इस प्रकार का ग्रन्थन शृंखला (जंजीर) के द्वारा होनेवाले बन्धन की भाँति न होने से उनका ग्रन्थनस्वभाव हुआ कि नहीं ? – यह विचारणीय है[3]।

अभिज्झा – 'वीथिमुक्त परिच्छेद' के अकुशल कर्मपथ में आगत 'अभिध्या' शब्द का अर्थ 'परसम्पत्ति की अधर्मपूर्वक इच्छा करनेवाला लोभ' है। यहाँ सम्पूर्ण लोभ को चाहे वह स्वसम्पत्ति की इच्छा करे अथवा परसम्पत्ति की; चाहे धर्मपूर्वक करे चाहे अधर्मपूर्वक, 'अभिध्याकायग्रन्थ' शब्द से कहा गया है। इसलिये ब्रह्माओं के अपने विमान (भूमि, मन्दिर) एवं उद्यान-आदि के प्रति होनेवाले राग को भी अट्ठकथा में 'अभिध्या-कायग्रन्थ' कहा गया है[4]।

'अभिमुखं झायतीति अभिज्झा' इष्ट आलम्बन के प्रति उन्मुख होकर चिन्तन करने वाला धर्म 'अभिध्या' है।

ब्यापादो – 'व्यापाद' शब्द भी अकुशलकर्मपथ में आनेवाले व्यापाद की भाँति नहीं है। अकुशल कर्मपथ में दूसरों को नष्ट करने की इच्छा करनेवाला द्वेष ही व्यापाद कहा गया है। यहाँ सभी प्रकार के द्वेष को 'व्यापादकायग्रन्थ' कहते हैं[5]।

सीलब्बतपरामासो – 'परतो आमासो परामासो, सीलब्बतस्स परामासो सीलब्बत-परामासो' मिथ्याधारणा (विपरीतसंज्ञा) से ग्रहण करना 'परामास' है। शील (मिथ्या-शील) एवं व्रत (मिथ्याव्रत) का परामर्श करना 'सीलब्बतपरामास' (शीलव्रतपरामर्श) है। अर्थात् मिथ्या शील एवं व्रत को ही ठीक समझकर उसे ग्रहण करनेवाला दृष्टि चैतसिक 'शीलव्रतपरामर्श' है[6]।

---

१. प० दी०, पृ० २८६; सं० नि०, चतु० भा०, पृ ५८।

२. मणि०, द्वि० भा०, पृ० १८१-१८२।

३. "गन्थकरणं सङ्खलिकचक्कलकानं विय पटिबद्धताकरणं वा गन्थनं गन्थो।" – ध० स० मू० टी०, पृ० ५३।

४. अट्ठ०, पृ० २९५, २९९।

५. "अभिज्झा ति सब्बस्स रागस्सेतं नाम, तस्मा रूपारूपरागा पि एत्थ सङ्गहिता ति दट्ठब्बा। ब्यापादो ति पि सब्बो दोसो येव।" – प० दी०, पृ० २८९।

६. "वट्टदुक्खतो विमुत्तिया अमग्गभूतं येव गोसीलगोवतादिकं परतो आमसनं तथा तथा कप्पेत्वा गहणं सीलब्बतपरामासो।" – प० दी०, पृ० २८९।

"गोसीलादिना सीलेन वतेन तदुभयेन च सुद्धीति एवं परतो असभावतो

बुद्ध-आदि कल्याणमित्रों की शरण न लेकर संसार से मुक्ति पाने के अभिलाषी कुछ मुमुक्षु जन 'हमारी सन्तान में अनेक पूर्वकृत अकुशल हैं, यदि उन अकुशलों का अशेष फल इसी भव में भोग लिया जाता है और पुनः नये अकुशलकर्म नहीं किये जाते हैं तो क्लेशधर्मों से शुद्धि एवं संसार से मुक्ति हो सकती है'—ऐसा सोचते हैं। इस प्रकार का विचार होने से पूर्वभव के अकुशलकर्मों के फल का इसी भव में भोग करने के रूप में कुछ लोग 'गोशील' (गो की तरह आचरण) का पालन करते हैं। वे प्राकृत गो की तरह बिना वस्त्र के चारों हाथ पैरों से चलते हैं, उसी तरह खाते हैं, पीते हैं, मलमूत्र का त्याग करते हैं, तथा वैसे ही शयन करते हैं, यहाँ तक कि कुछ लोग कृत्रिम सींग एवं पूँछ भी धारण करते हैं। इसी तरह कुछ लोग कुक्कुरशील (कुत्ते की भाँति) का आचरण करते हैं। वे इस प्रकार के शील एवं व्रत को भी क्लेश से शुद्धि एवं संसार से मुक्ति देनेवाला आचरण समझते हैं। कुछ लोग इस प्रकार के शीलों से 'सुगतिभूमि प्राप्त होती है'—ऐसा विश्वास करते हैं।

'मज्झिमपण्णासक' के 'कुक्कुरवत्तिकसुत्त' में कहा गया है कि गोशील का समाचरण करनेवाला 'पूर्ण' परिव्राजक तथा कुक्कुरशील का आचरण करनेवाला 'सेनिय' परिव्राजक—दोनों भगवान् बुद्ध के पास आते हैं। पूर्ण परिव्राजक भगवान् बुद्ध से सेनिय परिव्राजक का व्रत सुना कर उसका फल पूछता है; इसी तरह सेनिय भी पूर्ण का व्रत कह कर भगवान् से उसका फल पूछता है। भगवान् कहते हैं—मत पूछो, परिव्राजको! इसका फल। तीन बार मना करने पर भी जब उनका अनुरोध शान्त न हुआ तो भगवान् ने कहा कि गोव्रत का आचरण करनेवाला अगले जन्म में गो होगा

आमसनं परमासो।"—विभा०, पृ० १६६; ध० स०, पृ० २५५; अट्ठ०, पृ० २८३, ३००।

"तत्थ कतमो सीलब्बतपरामासो? इतो बहिद्धा समणब्राह्मणानं सीलेन सुद्धि, वतेन सुद्धि, सीलब्बतेन सुद्धीति—या एवरूपा दिट्ठि दिट्ठिगतं...विपरियासग्गाहो—अयं वुच्चति सीलब्बतपरामासो।"—ध० स०, पृ० २७७।

तु०—अभि० को० ५:७-८, पृ० १३२; "अहेतौ हेतुदृष्टिरमार्गे मार्गदृष्टिः शीलव्रतपरामर्शः, तद्यथा—महेश्वरो न हेतुर्लोकानां तं च हेतुं पश्यति...। अग्निजलप्रवेशादयश्च न हेतुः स्वर्गस्य तं च हेतुं पश्यन्ति।"—अभि० को० ५:७ पर भाष्य; स्फु०, पृ० ४५०-४५३।

'अहेतावपथे चैव तद्धि शीलव्रताह्वयः।"—अभि० दी० २७१ का०, पृ० २३१।

"अकारणे कुमार्गे च कारणमार्गग्रहणं शीलव्रतपरामर्शः।"—वि० प्र० वृ०, पृ० २३१।

"अशुचिहेतुप्रत्ययेषु गवेषयति परिशुद्धमार्गमित्येवं दृष्टिरुच्यते शीलव्रतपरामर्शः।"—अभि० मृ०, पृ० ७८।

"नानाव्रतशीलैः कृच्छ्रं तपः शीलव्रतोपादानम्।"—अभि० समु०, पृ० ४८।

'शीलव्रतपरामर्शः पञ्चसूपादानस्कन्धेषु शुद्धितो मुक्तितो नैर्याणिकतश्च यद्दर्शनम्।"—त्रि० भा०, पृ० २६।

और कुक्कुरशीलं का आचरण करनेवाला कुक्कुर। तथा इस प्रकार के शीलों का आचरण करनेवाले पुद्गलों का यह सोचना कि हमें इससे देवभूमि, ब्रह्मभूमि या मुक्ति प्राप्त होगी—यह मिथ्यादृष्टि है और इसका फल अपायभूमि में उत्पाद है। इस प्रकार का उपदेश सुनकर दोनों रोने लगे, तदनन्तर भगवान् बुद्ध ने उन्हें धर्मदेशना की। इससे पूर्ण परिव्राजक ने त्रिशरणगमन किया और 'सेनिय' परिव्राजक ने भिक्षु होकर अन्त में अर्हत्त्व प्राप्त किया[1]।

इदंसच्चाभिनिवेसो—'इदमेव सच्चं ति अभिनिवेसो इदंसच्चाभिनिवेसो' हमारा मत (सिद्धान्त) ही सत्य है—इस प्रकार का अभिनिवेश (आग्रह) 'इदंसच्चाभिनिवेस' कहलाता है[2]। मिथ्यादृष्टि का ग्रहण करके 'मेरा मत ही सत्य है, अन्य लोगों का मत मिथ्या है'—इस प्रकार अभिनिवेश (ग्रहण) करना, अपने मत के प्रति प्रीति रखनेवाला 'दृष्टिचैतसिक' ही है। शीलव्रतपरामर्श दृष्टि भी यद्यपि मिथ्या का ही ग्रहण करती है, तथापि 'मेरा मत ही सत्य है, अन्य का नहीं'—इस प्रकार उपादान नहीं करती। 'दूसरों का मत भी अपने नय से सत्य हो सकता है'—वह इस प्रकार समदर्शिनी होती है। यह इदंसत्याभिनिवेश दृष्टि उस प्रकार की नहीं है। सभी अन्य मतों को मिथ्या समझकर अपने मत में दृढतया प्रतिपन्न होती है, अतः 'ग्रन्थ' द्वारा विभाजन करने में शीलव्रत-परामर्श दृष्टि से अतिरिक्त सभी मिथ्यादृष्टियाँ इस इदंसत्याभिनिवेश दृष्टि में सङ्गृहीत होती हैं। अतः 'निक्खेपकण्ड' पालि में "ठपेत्वा सीलब्बतपरामासं कायगन्थं सब्बापि मिच्छादिट्ठि इदंसच्चाभिनिवेसो कायगन्थो[3]"—इस प्रकार कहा गया है।

उपर्युक्त कथन के अनुसार 'इदंसत्याभिनिवेश' यह पृथक् मिथ्यादृष्टि नहीं है, अपितु अपने द्वारा गृहीत मिथ्यादृष्टि के प्रति उपादानमात्र ही होता है—इस प्रकार जानना चाहिये। शीलव्रतपरामर्श दृष्टि का ग्रहण करके 'यह मत ही सत्य है'—यदि इस प्रकार ग्रहण किया जाता है तो वह भी इदंसत्याभिनिवेश दृष्टि के स्वभाववाली हो जाती है। बौद्धमत की तरह सम्यक् दृष्टि का ग्रहण करने के अनन्तर 'यह दृष्टि ही सत्य है'—इस प्रकार उपादान करना 'दृष्टिस्वभाव' नहीं है, अपितु सम्यग्दृष्टि का दृढतापूर्वक ग्रहण करनामात्र है।

---

१. म० नि०, द्वि० भा०, पृ० ६१-६६; द्र०—म० नि० अ०, द्वि० भा०, पृ० ७१।

२. '"इदमेव सच्चं मोघमञ्ञं' ति अभिनिविसनं दळ्हगाहो 'इदंसच्चाभिनिवेसो'।"
—विभा०, पृ० १६६।

"'इदंसच्चाभिनिवेसो' ति इदमेव सच्चं मोघमञ्ञं ति पवत्तो मिच्छाभिनिवेसो।"—प० दी०, पृ० २८९; ध० स०, पृ० २५५-२५६; विभ०, पृ० ४५०।

तु०—'दृष्टिपरामर्शः' अभि० को०, पृ० १३२; अभि० दी०, पृ० २३०।

३. ध० स०, पृ० २५६।

उपादानानि

७. चत्तारि* उपादानानि* – कामुपादानं, दिट्ठुपादानं, सीलब्बतुपादानं†, अत्तवादुपादानं ।

चार उपादान हैं – कामोपादान, दृष्टयुपादान, शीलव्रतोपादान एवं आत्मवादोपादान ।

उपादान

७. 'उप' शब्द दृढतार्थक है तथा 'आदान' का अर्थ 'ग्रहण' है[1]। सम्बद्ध आलम्बन में दृढतापूर्वक ग्रहण करनेवाले धर्मों को 'उपादान' कहते हैं[2]। उपादान ४ हैं[3]। इनमें से कामोपादान, दृष्टयुपादान एवं शीलव्रतोपादान – इन्हें कामासव, दृष्टयासव एवं शीलव्रतपरामर्श कायग्रन्थ की तरह समझना चाहिये।

अत्तवादुपादानं – 'वदन्ति एतेना' ति वादो, अत्तनो वादो अत्तवादो, अत्तवादो येव उपादानं अत्तवादुपादानं' – अर्थात् जिसके द्वारा 'कहते हैं' वह 'वाद' है, आत्मा को कहने वाला मिथ्यावाद 'आत्मवाद' है, यह आत्मवाद ही 'उपादान' है अतः इसे 'आत्म-

---

-. चत्तारो उपादाना – सी०, स्या०, रो०, ना०, म० (ख) ।

†. सीलब्बतु० – स्या० । (सर्वत्र)

१. "'उपादानं' ति दळ्हगहणं, दळ्हत्थो हि एत्थ 'उप' सद्दो; उपायासउपकट्ठादीसु विय ।" – अट्ठ०, पृ० ३०५; विसु०, पृ० ४०१ ।

२. "भुसं आदियन्तीति उपादाना, दळ्हगाहं गण्हन्तीति अत्थो ।" – अट्ठ०, पृ० ४२; ध० स० मू० टी०, पृ० १७६ ।

"मण्डूकं पण्णगो विय भुसं दळ्हं आरम्मणं आदियन्तीति उपादानानि ।" – विभा०, पृ० १६६; सं० नि०, चतु० भा०, पृ० ५८ ।

३. "वत्थुसङ्खातं कामं उपादियतीति कामुपादानं; कामो च सो उपादानं चा ति पि कामुपादानं ।...दिट्ठि च सा उपादानं चा ति दिट्ठुपादानं; दिट्ठिं उपादियतीति दिट्ठुपादानं । 'सस्सतो अत्ता च लोको चा' ति आदीसु हि पुरिमदिट्ठिं उत्तरदिट्ठि उपादियतीति । तथा सीलब्बतं उपादीयतीति सीलब्बतुपादानं; सीलब्बतं च तं उपादानं चा ति पि सीलब्बतुपादानं । गोसीलगोवतादीनि हि 'एवं सुद्धी' ति अभिनिवेसतो सयमेव उपादानानि । तथा – वदन्ति एतेना ति 'वादो', उपादियतीति 'उपादानं' 'किं वदन्ति, उपादियन्ति वा ? अत्तानं, अत्तनो वादुपादानं अत्तवादुपादानं; 'अत्तवादमत्तमेव वा अत्ता' ति उपादियन्ति एतेना ति अत्तवादुपादानं ।" – अट्ठ०, पृ० ३०५-३०६; विसु०, पृ० ४०१-४०२; ध० स०, पृ० ४४९-४५०; विभ०, पृ० २६७-२६८ ।

तु० – "यथोक्ता एव साविद्या द्विधा दृष्टिविवेचनात् ।
उपादानानि....।" अभि० को ५ : ३८, पृ० १४३ ।

अभि० दी० ३६२ का०, पृ० २९९; वि० प्र० वृ०, पृ० २९९-३००; अभि० समु०, पृ० ४७-४८ ।

वादोपादान' कहते हैं[1]। इस आत्मवादोपादान के कारण ही नामरूप-धर्मों की अनात्मता का सम्यक् ज्ञान नहीं हो पाता। आत्मा भी दो प्रकार का है – जीवात्मा एवं परमात्मा। पञ्चस्कन्धातिरिक्त एक नित्य जीव की कल्पना 'जीवात्मा' है। सृष्टि एवं सत्त्वों के उत्पादक की कल्पना 'परमात्मा' है। पृथग्जन इस द्विविध आत्मा का अस्तित्व मानकर उसका ग्रहण करते हैं, अतः उनकी यह मिथ्या धारणा 'आत्मवादोपादान' कहलाती है।

परमात्मा – वीथिमुक्तपरिच्छेद में कथित नय के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में जब प्रथम ध्यान की ३ भूमियाँ सर्वप्रथम उत्पन्न होती हैं तब ऊपर की ब्रह्मभूमियों से अपने पुण्य का क्षय हो जाने पर (वहाँ से) च्युत होकर प्रथमध्यानभूमि में सर्वप्रथम उत्पन्न महाब्रह्मा अकेले रहने के कारण अभिरमण न कर पाने से अन्य ब्रह्माओं की उत्पत्ति के लिये अभिलाष करते हैं। तदनन्तर संयोगवश अन्य ब्रह्मा भी स्वकर्मक्षयवश ऊपर की भूमियों से च्युत होकर वहाँ उत्पन्न होते हैं। तब प्रथमोत्पन्न ब्रह्मा को ऐसा भ्रम होता है कि – 'मेरे अभिलाष से उत्पन्न होने के कारण इन पश्चाद् उत्पन्न ब्रह्माओं को मैंने ही उत्पन्न किया है'। पश्चात् उत्पन्न ब्रह्मा भी अपने से अधिक प्रभा एवं श्री को देखकर उस प्रथम उत्पन्न ब्रह्मा के प्रति 'यह हमारा उत्पादक है' – ऐसा मिथ्या विश्वास करके उस प्रथमोत्पन्न ब्रह्मा की सेवा करने लगते हैं। यथा – "अयं खो भवं ब्रह्मा,

---

१. "खन्धेहि व्यतिरित्ताव्यतिरित्तवसेन विसति परिकप्पितस्स अत्तनो वादो अत्तवादो, सो येव उपादानं ति अत्तवादुपादानो।" – विभा०, पृ० १९६।

"अत्तवादुपादानं एत्थ अत्ता वुच्चति परिकप्पबुद्धिया गहितो एकस्मिं सन्ताने पधानिस्सरो। यं लोकियमहाजना सत्तो ति वा पुग्गलो ति वा जीवो ति वा तथागतो ति वा लोको ति वा सञ्जानन्ति, यञ्च नानातित्थिया इस्सरनिमित्तं वा अधिच्चसमुप्पन्नं वा अच्चन्तसस्सतं वा एकच्चसस्सतं वा उच्छेदं वा पञ्ञपेन्तीति। तं अत्तानं अभिवदन्ति चेव उपादियन्ति च सत्ता एतेना ति अत्तवादुपादानं।" – प० दी०, पृ० २६०।

तु० – "भवयोग एव सहाविद्यया आत्मवादोपादानम्।" – वि० प्र० वृ०, पृ० २९९।

"तदाश्रिता (पौनर्भविकोपादानाश्रिता) च सत्कायदृष्टिः आत्मवादोपादानम्।" – अभि० समु०, पृ० ४८।

तु० – सत्कायदृष्टिरन्तग्राहदृष्टिश्च, यथा –

"अहं ममेति या दृष्टिरसौ सत्कायदृक् स्मृता।
तदुच्छेदध्रुवग्राही धी सान्तग्राहदृङ्मता॥"

– अभि० दी० २६९ का०, पृ० २२९; वि० प्र० वृ०, पृ० २२९-२३०; अभि० को० ५:७, पृ० १३२ एवं उस पर भाष्य; स्फु०, पृ० ४५०; अभि० समु०, पृ० ८; अभि० मृ०, पृ० ७७; त्रि० भा०, पृ० २९; अभि० आ०, पृ० ७८; ध० स०, पृ० २७८; विभ०, पृ० २७७; अट्ठ०, पृ० २७८।

महाब्रह्मा, अभिभू, अनभिभूतो, अञ्ञदत्थुदसो, वसवत्ती, इस्सरो, कत्ता, निम्माता, सेट्ठो, सजिता, वसी, पिता भूतभव्यानं, मयं भोता ब्रह्मुना निम्मिता"[1] अर्थात् यह ब्रह्मा महा ब्रह्मा है, यह सभी सत्त्वों का अभिभव कर सकनेवाला, दूसरों द्वारा अभिभूत न किया जा सकनेवाला, एकान्तरूप से सत्य का दर्शन कर सकनेवाला सर्वज्ञ है। सभी सत्त्वों को अपने वश में ले सकनेवाला, ईश्वर, कर्त्ता, निर्माता, श्रेष्ठ, प्रबन्धक, संयमी और भूतकाल में उत्पन्न एवं अनागत में उत्पन्न होनेवाले सभी सत्त्वों का पिता है। हम लोग इसी ब्रह्मा द्वारा निर्मित हैं।

इस प्रकार ब्रह्मभूमि में ही उस ब्रह्मा को महान् समझने के अनन्तर उनमें से कुछ ब्रह्माओं के मनुष्यभूमि में पहुँचने पर भी वह महाब्रह्मा अन्य ब्रह्माओं से एक या दो तिहाई अधिक आयुवाला होने से वहाँ अवस्थित रहता है। इसके बाद मनुष्यभूमि में पहुँचनेवाले कुछ पुद्गल ध्यान-अभिज्ञा प्राप्त होने पर अपनी ध्यानशक्ति से पुनः उस महाब्रह्मा को देखकर अपने पूर्व विश्वास में पहले से भी अधिक दृढ हो जाते हैं। इस तरह 'यह महाब्रह्मा ही जगत् के साथ सभी सत्त्वों का निर्माण करता है'—इस प्रकार का मत मनुष्यभूमि में सृष्टि के प्रारम्भ काल में ही उत्पन्न हो जाता है। इसी मतवाद के अनुसार वह महाब्रह्मा परमात्मा है।

उस महाब्रह्मा के प्रति 'यह परमात्मा है'—ऐसा उपादान (विश्वास) धीरे धीरे सारे जगत् में व्याप्त हो जाता है। पीछे उत्पन्न सत्त्व उस महाब्रह्मा को स्वयं देखने में असमर्थ होने पर भी अनुमान से 'यह जगत् के साथ अनन्त सत्त्वों का उत्पाद करनेवाला परमात्मा है'—ऐसा विश्वास करने लगते हैं। उसी ब्रह्मा को संसार भर के लोग अपनी अपनी भाषा के अनुसार विभिन्न नाम देते हैं। यह आत्मोपादान द्वारा परमात्मा का उपादान है[2]।

जीवात्मा—इस स्कन्ध में 'जीव' नामक आत्मा है, वह अनेकविध शक्तियों का अधिकरण है। वह सभी कृत्यों का 'कारक' है। जैसे—गमन करने में पैरों की शक्ति नहीं होती; अपितु अन्तःस्थित आत्मा की ही शक्ति होती है। आत्मा की इच्छा से ही पैरों का उठना, गिरना एवं आगे बढ़ना आदि क्रियाएँ होती है। आत्मा की शक्ति से ही कुशल, अकुशल कर्म किये जाते हैं। वही सभी कुशल, अकुशल कर्मों के फलों का अनुभव करनेवाला 'वेदक' (भोक्ता) है। आघात, प्रतिघात, बुभुक्षा एवं पिपासा-आदि सभी का वही 'वेदक' है। इस भव में किये गये कुशल, अकुशल कर्मों के इष्ट, अनिष्ट फलों का अनागत भव में भोग करनेवाला 'वेदक' भी वही है। वह स्कन्ध का 'स्वामी' है। पूर्व स्कन्ध के नष्ट हो जाने पर नये स्कन्ध का निर्माण करके उसमें प्रविष्ट होकर निवास करने के कारण वह 'निवासी' है। स्कन्ध ही नष्ट होते हैं, आत्मा कभी नष्ट नहीं होता, अतः वह 'नित्य' है। स्कन्ध से सम्बद्ध सभी वस्तुओं को अपने वश में ले सकने कारण वह 'स्वयंवशी' है। इन निवासी एवं स्वयंवशी शब्दों के अनुसार

---

१. दी० नि०, प्र० भा० (ब्रह्मजालसुत्त), पृ० १७-१८।
२. द्र०—कथा० अ० एवं कथा० मू० टी० में 'पुग्गलकथा'।

'आत्मा एक नित्यद्रव्य है, एवं अपने वश में ले सकने में समर्थ वशवर्त्तित्व स्वभाववाला है'— इस प्रकार उपादान किया जाता है।

उपर्युक्त प्रकार से उपादान करने में कुछ लोग पाँच स्कन्धों में से विज्ञानस्कन्ध को, कुछ लोग रूपस्कन्ध को, कुछ लोग चैतसिकस्कन्ध में से किसी एक को 'आत्मा है'—ऐसा उपादान करते हैं। इस तरह पाँच स्कन्धों में आत्मा के उपादान को 'सत्काय दृष्टि' कहते हैं। यह 'आत्मवादोपादान' ही है। सभी दृष्टियाँ इस सत्कायदृष्टि से सम्बद्ध होकर उत्पन्न होती हैं, अतः यह सत्कायदृष्टि सभी मिथ्यादृष्टियों का मूलबीज कही गयी है[1]। "सन्तो कायो सक्कायो, सक्काये पवत्ता दिट्ठि सक्कायदिट्ठि[2]"—अर्थात् संविद्यमान पञ्चस्कन्धसमूह ही 'सत्काय' है। इस सत्काय में प्रवृत्त दृष्टि 'सत्कायदृष्टि' है। आजकल के सामान्य बौद्ध भी प्रायः नामरूपस्कन्ध में (विशेषतः विज्ञानस्कन्ध में) आत्मा का उपादान करते देखे जाते हैं। उस आत्मा को वे जीव या विज्ञान-आदि कहते हैं। साधारण लोगों का यह विश्वास होता है कि जब कोई आदमी मरता है तो उसका जीव अन्य शरीर में चला जाता है। आत्मा के प्रति इस प्रकार के उपादान का बहुत बड़ा विस्तार है। केवल स्कन्ध में ही नहीं; अपितु बाह्य पर्वत, वृक्ष-आदि में भी जीवात्मा के अस्तित्व का ग्रहण किया जाता है[3]।

"सतिया यस्स जीवस्स लोको वत्तति मञ्ञितो।
कारको वेदको सामी निवासी सो सयंवसी[4]॥"

उस जीवात्मा को पालि में जीव, 'सरीर' (शरीर), 'पुग्गल' (पुद्गल) एवं 'सत्त' (सत्त्व) आदि नामों से कहा गया है[5]। 'यह आत्मा एकान्त रूप से विद्यमान है'—इस प्रकार माननेवाला मत ही 'आत्मवादोपादानदृष्टि' है। आत्मवादोपादानदृष्टि एवं शीलव्रतोपादानदृष्टि से अवशिष्ट सभी दृष्टियों को 'दृष्टयुपादान' कहते हैं। अतः 'धम्मसङ्गणि' पालि में कहा गया है कि "ठपेत्वा सीलब्बतुपादानञ्च अत्तवादुपादानञ्च सब्बापि मिच्छादिट्ठि दिट्ठुपादानं[6]"

---

१. तु० — "आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात्परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे क्लेशाः प्रजायन्ते॥"—प्र०वा०प्र०परि०,पृ०८७।

२. "'सक्कायदिट्ठी' ति विज्जमानट्ठेन सति खन्धपञ्चकसङ्खाते काये, सयं वा सती तस्मिं काये दिट्ठीति 'सक्कायदिट्ठि'।"—अट्ठ०, पृ० २७८।
तु० — "हेतुबलसामर्थ्यादसच्छास्त्रश्रवणाच्च पृथग्जनस्याहं ममेति पञ्चसूपादानस्कन्धेषु य आत्मग्राहः सा सत्कायदृष्टिरित्युच्यते। सति सीदति वा काये दृष्टिर्विपरीताकारा सत्कायदृष्टिरिति निर्वचनम्। सैषात्मात्मीयाकारभेदाद् द्विप्रकारा। पुनः पञ्चस्कन्धालम्बनाः पञ्चात्मदृष्टयो भवन्ति; पञ्चदशात्मीयदृष्टयः। ताः समस्ता विंशतिकोटिका सत्कायदृष्टिरिति व्याख्यायते।"
—वि० प्र० वृ०, पृ० २२९-२३०।

३. "जीवसञ्ञिनो हि मोघपुरिसा मनुस्सा रुक्खस्मिं।"—पाचि०, पृ० ५५।

४. ब० भा०, टी०। तु०—विसु०, पृ० ४३२।

५. तु०—कथा० अ०, पृ० ११२।　　　६. ध० स०, पृ० २६८।

नीवरणानि

८. छ नीवरणानि — कामच्छन्दनीवरणं*, व्यापादनीवरणं† थीनमिद्ध-नीवरणं, उद्धच्चकुक्कुच्चनीवरणं, विचिकिच्छानीवरणं, अविज्जानीवरणं।

नीवरण ६ हैं, यथा — कामच्छन्दनीवरण, व्यापादनीवरण, स्त्यान-मिद्धनीवरण, औद्धत्य कौकृत्यनीवरण, विचिकित्सानीवरण एवं अविद्यानीवरण।

नीवरण

८. 'झानादिकं निवारेन्तीति नीवरणानि' ध्यानादि कुशलधर्मों का निवारण करने-वाले धर्म 'नीवरण' कहे जाते हैं। अर्थात् ये ध्यान, मार्ग एवं फल के उत्पाद का अवकाश न देकर उनका निवारण करनेवाले धर्म हैं[1]। ये धर्म न केवल ध्यान-धर्मों के उत्पाद के लिये अवकाश ही नहीं देते; अपितु कामच्छन्द एवं व्यापादनीवरण उत्पन्न (प्राप्त) ध्यान-धर्मों का भी लोप कर सकते हैं। तथा ये धर्म केवल ध्यान, मार्ग एवं फल का ही निवारण नहीं करते; अपितु समस्त कामकुशल-धर्मों का भी निवारण करते हैं। जैसे — जब काम या द्वेष चित्त उत्पन्न होता है तब किसी कुशल चित्त के लिये उत्पाद का अवकाश नहीं हो सकता।

स्वरूपतः कामच्छन्दनीवरण लोभचैतसिक है। व्यापाद द्वेष चैतसिक है। स्त्यान एवं मिद्ध — ये दोनों चैतसिक मिलकर एक 'स्त्यानमिद्धनीवरण' हैं। इसी तरह औद्धत्य एवं कौकृत्य — ये दोनों चैतसिक मिलकर 'औद्धत्यकौकृत्यनीवरण' हैं। विचिकित्सा चैत-सिक 'विचिकित्सानीवरण' है। तथा मोह चैतसिक 'अविद्यानीवरण' है। इस प्रकार ६ नीवरण हैं[2]।

दो धर्मों का एक नीवरणकृत्य करना — कृत्य, उत्पत्तिकारण (आहार) तथा विपक्षधर्म समान होने से स्त्यान एवं मिद्ध तथा औद्धत्य एवं कौकृत्य — इन दो-दो चैतसिकों को एक एक नीवरण कहा गया है[3]। यथा —

---

*. कामछन्द० — रो०। †. व्यापाद० — रो०।

१. "झानादिवसेन उप्पज्जनककुसलचित्तं निसेधेन्ति तथा तस्स उप्पज्जितुं न देन्तीति नीवरणानि। पञ्ञाचक्खुनो वा आवरणट्ठेन नीवरणा।" — विभा०, पृ० १६६।

"सत्तानं चित्तसन्ताने कुसले धम्मे अनुप्पन्ने वा उप्पादेतुं उप्पन्ने वा वासेतुं अदत्वा निवारेन्तीति नीवरणानि।" — प० दी०, पृ० २९१-२९२।

"चित्तं नीवरन्ति परियोनन्धन्तीति नीवरणा।" — अट्ठ०, पृ० ४२।

२. नीवरण ५ भी कहे गये हैं, द्र० — विसु०, पृ० ४८५; विभ०, पृ० ४५४। अभि० को०, पृ० १५२; अभि० समु०, पृ० ४८; सं० नि०, चतु० भा०, पृ० ५१।

३. द्र० — प० दी०, पृ० २९२; अट्ठ०, पृ० ३००। तु० — अभि० को० ५ : ५९, पृ० १५२।

अनुसया

९. सत्तानुसया – कामरागानुसयो, भवरागानुसयो, पटिघानुसयो, मानानुसयो, दिट्ठानुसयो, विचिकिच्छानुसयो, अविज्जानुसयो।

सात अनुशय हैं, यथा – कामरागानुशय, भवरागानुशय, प्रतिघानुशय, मानानुशय, दृष्ट्यनुशय, विचिकित्सानुशय एवं अविद्यानुशय।

"किच्चाहारविपक्खानं एकत्ता एकमेत्थ हि।
कतमुद्धच्चकुक्कुच्चं, थीनमिद्धञ्च तादिना[1]"॥

स्त्यान एवं मिद्ध दोनों ही आलस्यस्वभाव होने से स्वसम्प्रयुक्त चित्तोत्पादों को अपने कृत्यों में प्रवृत्त होने के लिये निरुत्साहित करते हैं। अतः स्त्यान एवं मिद्ध दोनों ही सम्प्रयुक्त चित्तोत्पाद को निरुत्साह करने रूपी कृत्य में समान होते हैं। ये दोनों आलस्य से उत्पन्न होते हैं, अतः इनका उत्पत्तिकारण भी समान होता है। ये दोनों तीक्ष्ण वीर्य के विपक्षभूत धर्म होते हैं। जब स्त्यान-मिद्ध उत्पन्न होते हैं तब तीक्ष्णवीर्य का हीन हो जाना स्वाभाविक है। इस प्रकार ये दोनों विपक्ष में भी समान होते हैं।

औद्धत्य एवं कौकृत्य – इन दोनों में से औद्धत्य अशान्तस्वभाव एवं कौकृत्य पश्चात्तापस्वभाव होने से दोनों का अशान्तिकृत्य समान होता है। ज्ञातिव्यसन, भोगव्यसन, रोगव्यसन, शीलव्यसन एवं दृष्टिव्यसन – इन पाँच व्यसनों (नाशों) में से किसी एक के कारण ये (औद्धत्य-कौकृत्य) उत्पन्न होते हैं, अतः इनका उत्पत्तिकारण भी समान होता है। ये दोनों 'शमथ' नामक समाधि के विपक्षी होते हैं। जब औद्धत्य-कौकृत्य उत्पन्न होते हैं तब चित्तधातु एकाग्र नहीं हो सकती।

"लीनतासन्तताकिच्चं, तन्दीञातिवितक्कनं।
हेतुविरियसमथा इमे तेसं विरोधिनो[2]"॥

अर्थात् लीनता एवं अशान्ति स्त्यानमिद्ध एवं औद्धत्यकौकृत्य के कृत्य हैं। तन्द्रा एवं ज्ञातिव्यसन-आदि का वितर्क उनका कारण है। वीर्य एवं शमथ इनके विरोधी धर्म हैं।

अनुशय

९. अनुसया – 'अनु अनु सन्ताने सेन्तीति अनुसया' – अर्थात् सत्त्वों की स्कन्धसन्तति में निरन्तर अनुशयन करनेवाली क्लेशधातु 'अनुशय' है। जिस प्रकार फलदार आम्र-आदि वृक्षों में फल का उत्पाद करनेवाली धातु (शक्ति) बीज से अङ्कुर निकलने के काल में भी और तब से लेकर स्कन्ध, शाखा, काण्ड, पत्र-आदि सम्पूर्ण आम्रवृक्ष में प्रारम्भ से अन्त तक अनुशयन करती है; उसी तरह अनुशयनामक क्लेशधातु भी कलल-अवस्था से ही प्रतिसन्धिचित्त, चैतसिक एवं तीन कलापों में अनुशयन करती है। तदनन्तर सम्पूर्ण भव में निरन्तर उत्पन्न रूपसन्तति एवं नामसन्तति में विद्यमान रहती है। पुद्गल जबतक अर्हत् नहीं होता तब तक कुशलकर्म करते समय एवं कम्मट्ठान-

---

१. विभा०, पृ० १६६।

२. विभा०, पृ० १६६। द्र० – प० दी०, पृ० २६२।

भावना-आदि करते समय भी वह (क्लेशधातु) विद्यमान रहती है। वह एक भव के अन्तिम च्युतिक्षण में तथा दूसरे भव के नव प्रतिसन्धिक्षण में भी विद्यमान रहती है। अरूपभूमि में केवल नामधर्मों द्वारा ही प्रतिसन्धि लेने पर भी यह उस अरूपभूमि की नामसन्तति में तथा असंज्ञिभूमि में केवल रूपप्रतिसन्धि होने पर भी उस असंज्ञिभूमि की रूपसन्तति में अनुशयन करती है। इसलिये 'अनु अनु सन्ताने सेन्तीति अनुसया' कहा गया है[1]।

[किस भूमि में कब कौन सा 'अनुशय' अनुशयन करता है – इस बारे में 'अनुसय-यमक' देखना चाहिये।]

अथवा – 'अनुरूपं कारणं लभित्वा सेन्ति उप्पज्जन्तीति अनुसया' अनुरूप कारण को प्राप्त कर जो धर्म उत्पन्न होते हैं उन्हें 'अनुशय' कहते हैं – इस विग्रह के अनुसार अनुशयधातु को समझने के लिये तीन अवस्थाओं के अनुसार तीन प्रकार के क्लेशों को पहले समझना चाहिये, यथा – अनुसयकिलेस (अनुशयक्लेश), परियुट्ठानकिलेस (पर्युत्थानक्लेश) तथा वीतिक्कमकिलेस (व्यतिक्रमक्लेश)।

१. "अप्पहीनट्ठेन अनु अनु सन्ताने सेन्तीति अनुसया।" – विभा०, पृ० १६७।
"अनुसयं ति अप्पहीनानुसयितं किलेसं।" – तथा
"थामगतट्ठेन अप्पहीनट्ठेन च अनुसेन्तीति अनुसया।" – विभ० अ०, पृ० ४६३ एवं ५१६; विभ०, पृ० ४६०; सं० नि०, चतु० भा०, पृ० ५८।
"अनुसया ति थामगतट्ठेन, कामरागानुसयो, पटिघ-मान-दिट्ठि-विचिकिच्छा-भवराग-अविज्जानुसयो ति एवं वुत्ता कामरागादयो सत्त। ते हि थामगतत्ता पुनप्पुनं कामरागादीनं उप्पत्तिहेतुभावेन अनुसेन्ति येवा ति अनुसया।" – विसु०, पृ० ४८५; अट्ठ०, पृ० २९१।
तु० – अभि० को० ५ : ३९, पृ० १४४ एवं उसपर भाष्य; स्फु०, पृ० ४८७-४८८।

"धात्रीवस्त्रमलन्यायैः खचराम्बुचरक्रमैः।
एतेऽनुशेरते यस्मात्तस्मादनुशयाः स्मृताः॥
स्वैरिष्टादिभिराकारैः परमाणुक्षणेष्वपि।
यतोऽनुशेरते चैते ततश्चानुशया मताः॥"
– अभि० दी०, पृ० २८७-२८८।

"एते खलु षडनुशयाः संसारप्रवृत्तिहेतवः श्रेयोमार्गविबन्धिनश्च शास्त्र उक्ताः। तेषां निरुक्तिः सन्तानानुगता इत्यनुशयाः, धात्रीचैलमलवत्। अनुबध्नन्तीति वानुशयाः, खचरजलचरवत्। त एते वृत्तितश्च द्रष्टव्याः, हिङ्ग्वादिभक्षणवत्। फलतश्च पारावतभुजङ्गसूकरजन्मापातनवत्। पुद्गलतश्च नन्दाङ्गुलिमाल-सुनक्षत्रादिवत्।" – वि० प्र० वृ०, पृ० २२०।
विज्ञानवादी इनका 'क्लेश' शब्द से व्यवहार करते हैं। यथा –
"क्लेशा रागप्रतिघमूढयः। मानदृग्विचिकित्साश्च।" – त्रिं० ११-१२ का०; अभि० समु०, पृ० ४६-४७।

उत्पाद-स्थिति-भङ्गात्मकस्वभाव न होकर स्कन्धसन्तति में निरन्तर अनुशयन करनेवाली क्लेशधातु को ही 'अनुशयक्लेश' कहते हैं।

उत्पाद-स्थिति एवं भङ्ग स्वभाव से उत्थित क्लेश को 'परियुट्ठानकिलेस' कहते हैं[1]।

केवल उस परियुट्ठानकिलेस के उत्थानमात्र से वीतिक्कम (व्यतिक्रम) नहीं होता; अपितु लोभ या द्वेष के अनुसार कायविकार एवं वाग्विकार करनेवाले क्लेश को 'वीतिक्कमकिलेस' कहते हैं।

अर्थात् कोई एक व्यक्ति जब कुशलचित्त से कम्मट्ठान-धर्म की देशना कर रहा है, उस समय 'परियुट्ठान' एवं 'वीतिक्कम' क्लेश नहीं होते। अनुशयक्लेश तो सभी पृथग्-जनों में होता ही है। कम्मट्ठान-धर्म की देशना के अनन्तर यदि किसी व्यक्तिविशेष को देखकर चित्त का संयम नहीं हो पाता तो उस समय शान्तिपूर्वक रहनेवाली कामरागानुशय क्लेशधातु दण्डाहत कालसर्प की भाँति एकाएक उत्थित होकर 'परियुट्ठान' के रूप में उत्पन्न होती है। इस प्रकार परियुट्ठान के रूप में उत्थित होने के अनन्तर ही 'वीतिक्कम' हो सकता है। इस प्रकार यद्यपि अनुशयक्लेश उत्पाद-स्थिति-भङ्गस्वभाव से विद्यमान होने वाला नहीं है, तथापि अनुरूपकारणविशेष का समागम होने पर उत्पन्न होने के लिये एक प्रकार की मूलबीजधातु है। अतएव 'अनुरूपं कारणं लभित्वा सेन्ति उप्पज्जन्तीति अनुसया" – कहा गया है[2]।

उपर्युक्त तीन प्रकार के क्लेशों में से 'वीतिक्कमकिलेस' की अनुत्पत्ति के लिये शील द्वारा उसका निवारण किया जाता है। 'परियुट्ठानकिलेस' की अनुत्पत्ति के लिये समाधि द्वारा उसका निवारण किया जाता है तथा 'अनुशयक्लेश' का तो सम्बद्ध मार्ग द्वारा प्रहाण करने से ही अशेष उच्छेद हो सकता है।

उपर्युक्त कथन के अनुसार मार्ग द्वारा अप्रहीण होकर स्कन्धसन्तति में अनुशयित क्लेश-धातु को 'अनुशय' कहते हैं – इस प्रकार जानना चाहिये; किन्तु मार्ग द्वारा अप्रहीण सम्पूर्ण क्लेश स्कन्धसन्तति में अनुशयन नहीं करते, अपितु कुछ बलवान् क्लेश ही स्कन्ध-

---

१. "समुदाचारवसेन परियुट्ठहन्तीति परियुट्ठानानि। कामरागो व परियुट्ठानं कामरागपरियुट्ठानं; सेसेसु पि एसेव नयो।" – विभ० अ०, पृ० ५१६; अट्ठ०, पृ० २९१।

२. द्र० – प० दी०, पृ० २९२; विभा०, पृ० १६७। यमक मू० टी०, पृ० १४३।
तु० – "सुप्तो हि क्लेशोऽनुशय इत्युच्यते; प्रबुद्धः पर्यवस्थानम्। का च तस्य प्रसुप्तिः? असम्मुखीभूतस्य बीजभावानुबन्धः। कः प्रबोधः? सम्मुखीभावः। कोऽयं बीजभावो नाम? आत्मभावस्य क्लेशजा क्लेशोत्पादनशक्तिः, यथा चाङ्कुरादीनां शालिफलजा शालिफलोत्पादनशक्तिः।" – वि० प्र० वृ०, पृ० २२२-२२३।
"तदिदमुक्तं भवति – क्वचिदनुशयशब्देन बीजमुच्यते, क्वचित्पर्यवस्थानम्।" स्फु०, पृ० ४४४।

सन्तति में अनुशयन कर सकते हैं। इसलिये दुर्बल स्त्यान-आदि स्कन्धसन्तति में अनुशयन करनेवाले न होने से 'अनुशय' नहीं कहे जा सकते। दस क्लेशों में से लोभ, द्वेष, मोह, मान, दृष्टि एवं विचिकित्सा – ये छह क्लेश स्त्यान (थीन), औद्धत्य (उद्धच्च), आह्रीक्य (अहिरीक) एवं अनपत्राप्य (अनोत्तप्प) – इन चार क्लेशों से अधिक बलवान् होते हैं, अतः सम्बद्ध अकुशल धर्मों में ये छह ही प्रधान होकर अपने कृत्यों को सिद्ध करने के लिये उनका समादान कर सकते हैं। स्त्यान-आदि चार उस तरह बलवान् नहीं होते, अतः वे सम्बद्ध अकुशलों में प्रधान नहीं हो सकते। अतः लोभ-आदि की शक्ति ही स्कन्ध-सन्तति में अनुशयन करने से 'अनुशय' कहलाती है[1]। इसीलिये अट्ठकथा में "'अनुसयो' ति पन अप्पहीनट्ठेन थामगतकिलेसो वुच्चति[2]" – ऐसा कहा गया है। अर्थात् अप्रहीण अर्थ से शक्तिमान् दृढ क्लेश ही 'अनुशय' हैं। (अनागतकाल में अवसर होने पर उत्पन्न होने के लिये प्रबल क्लेशों को 'थामगतकिलेस' कहते हैं। इस तरह प्रबल होने से ही वे स्कन्धसन्तति में अनुशयन कर सकते हैं।)

अनुशय का काल – अनुशयक्लेश प्रत्युत्पन्न, अतीत एवं अनागत – तीनों कालों में पर्याय से हो सकते हैं। उत्पादस्थितिभङ्गस्वभाव से सम्पन्न धर्म को प्रत्युत्पन्न, निरुद्ध धर्म को अतीत, एवं उत्पादस्थितिभङ्ग स्वभाव से भविष्य में होनेवाले धर्म को 'अनागत' कहा जाता है। यहाँ अनुशयक्लेश उत्पादस्थितिभङ्गधर्मात्मक नहीं है, तथा ऐसा भी नहीं है कि उसका भङ्ग हो गया है। जब वह उत्पादस्थितिभङ्गधर्मात्मक होता है तब उसे 'अनुशयक्लेश' न कहकर 'परियुट्ठानकिलेस' कहते हैं। अतः 'अनुशयक्लेश' को यद्यपि मुख्यरूप से अतीत-अनागत-प्रत्युत्पन्नस्वभाव नहीं कहा जा सकता; तथापि उन उन चित्तों से सम्प्रयुक्त होकर उसके 'परियुट्ठान' रूप से उत्पाद को लेकर 'ऐसा क्लेशधर्म अतीत में हो चुका है, प्रत्युत्पन्न में भी हो रहा है तथा जब तक मार्ग से प्रहाण नहीं होगा तब

1. द्र० – प० दी०, पृ० २९२-२९४; विभा०, पृ० १६७।
'अनुशय' मूलतः ६ ही होते हैं, उनमें से लोभ की कामराग एवं भवराग भेद से द्विधा गणना करने पर इनकी संख्या ७ हो जाती है। दृष्टि का पाँच भेद करके गिनने पर ये १० भी हो जाते हैं तथा एक प्रकार से ये ९८ हो जाते हैं।

तु० – अभि० को० ५:१, ३ पृ० १३१; अभि० को० ५:१ पर भाष्य; स्फु०, पृ० ४४५।

"रागप्रतिघसम्मोहमानकाङ्क्षाकुदृष्टयः।
षडेतेऽनुशयाः प्रोक्ताः श्रेयोद्वारविबन्धिनः॥
रागद्वेधान्मताः सप्त दृष्टिभेदाद्दश स्मृताः।
भूयोऽष्टानवतिर्ज्ञेया धात्वाकारादिभेदतः॥"
– अभि० दी०, २९१, २९२ का०, पृ० २२०-२२५।

2. यमक अ०, पृ० ३११।

संयोजनानि

१०. दस संयोजनानि – कामरागसंयोजनं; रूपरागसंयोजनं, अरूपराग-संयोजनं, पटिघसंयोजनं, मानसंयोजनं, दिट्ठिसंयोजनं, सीलब्बतपरामाससंयोजनं, विचिकिच्छासंयोजनं, उद्धच्चसंयोजनं, अविज्जासंयोजनं – सुत्तन्ते।

दश संयोजन होते हैं; सूत्रपिटक के अनुसार वे ये हैं – कामरागसंयोजन, रूपरागसंयोजन, अरूपरागसंयोजन, प्रतिघसंयोजन, मानसंयोजन, दृष्टिसंयोजन, शीलव्रतपरामर्शसंयोजन, विचिकित्सासंयोजन, औद्धत्यसंयोजन एवं अविद्या-संयोजन[1]।

तक होनेवाला भी है' – ऐसा कह सकते हैं। अतः फल (परियुट्ठानकिलेस) के प्रत्युत्पन्न-आदि नामों का कारण (अनुशयक्लेश) में उपचार करके फलोपचार से उसे (अनुशय को) प्रत्युत्पन्न, अतीत एवं अनागत कह सकते हैं। इसलिये 'अनुसययमक-अट्ठकथा' में "सो चित्तसम्पयुत्तो....अतीतो पि अनागतो पि पच्चुप्पन्नो पि, तस्मा उप्पज्जतीति वत्तुं युज्जति"[2] – ऐसा कहा गया है। मूलटीकाकार ने इसकी "न च अतीतानागतपच्चुप्पन्नतो अञ्ञे उप्पत्तिरहा नाम अत्थि, तस्मा सब्बे अतीतानागतपच्चुप्पन्ना कामरागादयो 'अनुसया' ति वुच्चन्ति"[3] – ऐसी व्याख्या की है। इस प्रकार अट्ठकथा एवं टीकाकारों द्वारा प्रत्युत्पन्न, अतीत एवं अनागत क्लेशों की व्याख्या की जाने पर भी अनुटीकाकार एवं उनका अनुसरण करनेवाले विभावनीटीकाकार आदि ने "अनागतक्लेश ही मुख्य रूप से 'अनुशय' है; अतीत एवं प्रत्युत्पन्न क्लेश क्लेशस्वभाव से समान होने के कारण 'अनुशय' हैं" – इस प्रकार व्याख्या की है[4]। यह विचारणीय है[5]।

अनुशय क्लेशों को मुख्य रूप से प्रत्युत्पन्न, अतीत या अनागत नहीं कहा जा सकता – इसके बारे में आगे विचार किया जायेगा[6]।

स्वरूप – कामरागानुशय एवं भवरागानुशय लोभ चैतसिक हैं। प्रतिघानुशय द्वेष चैतसिक है। शेष अपने नामों से ही स्पष्ट हैं।

संयोजन

१०. ११. संयोजनानि – 'संयोजेन्ति बन्धन्तीति संयोजनानि' जो धर्म सत्त्वों को संसारचक्र में बाँधते हैं वे 'संयोजन' हैं। अर्थात् ये धर्म अपने आश्रित सत्त्वों को संसार से

---

१. अ० नि०, चतु० भा०, पृ० ९२-९३। 'सङ्गीतिसुत्त' में सात संयोजन कहे गये हैं, द्र० – दी० नि०, तृ० भा०, पृ० १९५। दूसरे प्रकार से दस संयोजनों के लिये द्र० – चु० नि०, पृ० २९९।

२. यमक अ० (अनुसययमकट्ठकथा), पृ० ३११।

३. यमक मू० टी०, पृ० १४२।

४. यमक अनु०, पृ० १९६; विभा०, पृ० १६७।
द्र० – मणि०, द्वि० भा०, पृ० १८५-१८८।

५. इस विषय की समीक्षा के लिये द्र० – प० दी०, पृ० २९४-२९५।

६. अभि० स० नवम परिच्छेद में 'पुग्गलभेद' की व्याख्या देखें।

११. अपरानि पि* दस संयोजनानि – कामरागसंयोजनं, भवरागसंयोजनं, पटिघसंयोजनं, मानसंयोजनं, दिट्ठिसंयोजनं, सीलब्बतपरामाससंयोजनं, विचिकिच्छासंयोजनं इस्सासंयोजनं, मच्छरियसंयोजनं, अविज्जासंयोजनं – अभिधम्मे।

अभिधम्मपिटक के अनुसार दूसरे दस संयोजन ये हैं – कामरागसंयोजन, भवरागसंयोजन, प्रतिघसंयोजन, मानसंयोजन, दृष्टिसंयोजन, शीलव्रतपरामर्शसंयोजन, विचिकित्सासंयोजन, ईर्ष्यासंयोजन, मात्सर्यसंयोजन एवं अविद्यासंयोजन।

छूटने न देने के लिये रस्सी से बाँधने की तरह बाँध कर रखते हैं। पृथग्जनों की सन्तान में रज्जुरूपी दस संयोजन होते हैं[1]। जिनमें से पाँच संयोजनों का सम्बन्ध कामभूमि से तथा अवशिष्ट पाँच का ऊपर की ब्रह्मभूमियों से होता है। कामराग, प्रतिघ, दृष्टि, शीलव्रतपरामर्श एवं विचिकित्सा – ये पाँच कामभूमि से सम्बद्ध रज्जु हैं। 'कामराग' कामगुण आलम्बनों में आसक्त तृष्णा है। जब तक इसका बन्धन टूटता नहीं तब तक सत्त्व के ब्रह्मभूमि में उत्पन्न होने पर भी पुण्य-बल क्षीण होने पर, इस (कामराग) के बल से पुनः कामभूमि में उत्पाद होता है। ब्रह्मभूमि में द्वेष न होने के कारण प्रतिघसंयोजन, सत्त्व के ब्रह्मभूमि में उत्पन्न होने पर भी उसे कामभूमि से बाँध कर रखता है। दृष्टि, शीलव्रतपरामर्श एवं विचिकित्सा का प्रहाण हो जाने पर ही पुद्गल, स्रोतापन्न आर्य होता है। जब तक इनका बन्धन टूट नहीं जाता तब तक ये धर्म पुद्गल को चार

---

*. ना० में नहीं।

१. प० दी०, पृ० २९६; विभा०, पृ० १६८।

"यस्स संविज्जन्ति तं पुग्गलं वट्टस्मिं संयोजेन्ति बन्धेन्तीति संयोजना।" – – अट्ठ०, पृ० ४१; विभ० अ०, पृ० ५१६।

"तत्थ संयोजनानीति खन्धेहि खन्धानं, फलेन कम्मस्स, दुक्खेन वा सत्तानं संयोजकत्ता रूपरागादयो दस धम्मा वुच्चन्ति। याव हि ते, ताव एतेसं अनुपरमो ति।" – विसु०, पृ० ४८४; ध० स०, पृ० २४९; विभ०, पृ० ४७०; सं० नि०, तृ० भा०, पृ० २५३।

तु० – अभि० को० ५:४१-४२, पृ० १४४-१४५; स्फु०, पृ० १६।

"संयोजनादिभिः शब्दैर्दर्शिताः पञ्चधा पुनः ॥
नव संयोजनान्यस्मिन्नीर्ष्यामात्सर्यमेव च।
द्रव्यामर्षणसामान्याद् दृशः संयोजनद्वयम् ॥
शेषाण्यनुशयाः पञ्च ॥"

– अभि० दी० ३६३-३६५ का०, पृ० ३००।

"संयोजनानि नव – अनुनयसंयोजनम्, प्रतिघसंयोजनम्, मानसंयोजनम्, अविद्यासंयोजनम्, दृष्टिसंयोजनम्; परामर्शसंयोजनम्, विचिकित्सासंयोजनम्, ईर्ष्यासंयोजनम्, मात्सर्यसंयोजनञ्च।" – अभि० समु०, पृ० ४४; अभि० मृ०, पृ० ५२।

अपायभूमियों में ही बाँध कर रखते हैं। अतः इन पाँच संयोजनों को कामभूमि से सम्बन्ध रखनेवाली रज्जु कहते हैं। इन पाँचों को 'ओरम्भागीय (अवरभागीय) संयोजन' भी कहते हैं[1]।

स्रोतापत्तिमार्ग द्वारा दृष्टि, शीलव्रतपरामर्श एवं विचिकित्सा नामक रज्जुओं का तथा अनागामिमार्ग द्वारा कामराग एवं प्रतिघ नामक संयोजनों का उच्छेद कर दिया जाने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि पुद्गल, संसार-चक्र से छूट गया; क्योंकि रूपराग संयोजन ने उसे रूपभूमि से एवं अरूपराग संयोजन ने उसे अरूपभूमि से मान, औद्धत्य एवं अविद्या ने उसे ब्रह्मभूमियों से बाँध कर रखा है। अर्हत्-मार्ग द्वारा इन पाँच संयोजनों का अशेष समुच्छेद हो जाने पर ही संसार-चक्र से मुक्ति सम्भव है। इन पाँच संयोजनों को 'उद्धम्भागीय' (ऊर्ध्वभागीय) संयोजन कहते हैं। 'ओरम्भागीय' (अवरभागीय) संयोजनों को आध्यात्मिक (अज्झत्तिक) संयोजन तथा 'उद्धम्भागीय' (ऊर्ध्वभागीय) संयोजनों को बहिर्धा (बहिद्धा) संयोजन भी कहते हैं[2]।

स्वरूप – कामरागसंयोजन का स्वरूप कामासव की तरह होता है। रूपध्यान के विपाक में आसक्तिरूप तृष्णा को 'रूपराग' तथा अरूपध्यान के विपाक में आसक्ति (तृष्णा) को 'अरूपराग' संयोजन कहते हैं। इन दोनों का स्वरूप भवासव की भाँति होता है। द्वेषमूल चित्त में सम्प्रयुक्त द्वेष 'प्रतिघसंयोजन' है। शीलव्रतपरामर्शदृष्टि-वर्जित सभी दृष्टियाँ 'दृष्टिसंयोजन' हैं। शेष संयोजनों का स्वरूप सुस्पष्ट है। संयोजन सङ्ख्या में दस होने पर भी स्वरूपतः वे सात ही होते हैं। जैसे – लोभ, द्वेष, मान, दृष्टि, विचिकित्सा, औद्धत्य एवं मोह।

दस संयोजनों को सुत्तपिटक में एक प्रकार से तथा अभिधम्मपिटक में दूसरे प्रकार से कहा गया है। इसलिये आचार्य ने यहाँ उन दोनों प्रकारों को दिखा दिया है। अभिधर्मनय के अनुसार ईर्ष्या एवं मात्सर्य का भी संयोजन में ग्रहण तथा औद्धत्य का परिवर्जन किया गया है, अतः अभिधर्म के अनुसार संयोजन स्वरूपतः ८ होते हैं। दोनों नयों के अनुसार संयोजन धर्म स्वरूपतः ९ हो जाते हैं।

---

1. द्र० – म० नि०, द्वि० भा०, पृ० ११४; अ० नि०, चतु० भा०, पृ० ९२; विसु०, पृ० ४८४।

   तु० – अभि० को० ५ : ४३, पृ० १४५; अभि० दी० ३६५ का०, पृ० ३०१।

2. प० दी०, पृ० २६६। "संयोजननिद्देसे अज्झत्तं ति कामभवो, बहिद्धा ति रूपारूपभवो।...इति अज्झत्तसङ्खाते कामभवे बन्धनं 'अज्झत्तसंयोजनं' नाम, बहिद्धासङ्खातेसु रूपारूपभवेसु बन्धनं 'बहिद्धासंयोजनं' नाम। तत्थ एकेकं पञ्चपञ्चविधं होति; तेन वुत्तं – पञ्चोरम्भागियानि पञ्चुद्धम्भागियानीति।" – विभ० अ०, पृ० ५००; विसु०, पृ० ४८४; अ० नि०, चतु० भा०, पृ० ९३।

   तु० – अभि० को० ५ : ४५, पृ० १४६; अभि० दी० ३६६ का०, पृ० ३०४।

किलेसा

१२. दस किलेसा – लोभो, दोसो, मोहो, मानो, दिट्ठि, विचिकिच्छा, थीनं, उद्धच्चं, अहिरीकं, अनोत्तप्पं ।

दस क्लेश होते हैं, यथा – लोभ, द्वेष, मोह, मान, दृष्टि, विचिकित्सा, स्त्यान, औद्धत्य, आह्रीक्य एवं अनपत्राप्य ।

योग-ग्रन्थ-संयोजन – इन तीनों धर्मों का स्वभाव लगभग समान होता है। ये सत्त्वों को संसार-चक्र से छूटने न देने के लिये बाँध कर रखते हैं, फिर भी तीनों बिलकुल एकात्मक नहीं हैं। बहुत ऊपर की भूमि में उत्पाद हो जाने पर भी जो धर्म रज्जु से बँधे पुरुष की तरह उस सत्त्व को अपनी भूमि में खींचता है वह 'संयोजन' है। जंजीर की तरह च्युति एवं प्रतिसन्धि तथा प्रतिसन्धि एवं च्युति के रूप में नामरूप-सन्तति को जोड़कर रखनेवाला धर्म 'ग्रन्थ' है। जिस प्रकार गोंद, दो वस्तुओं को परस्पर संश्लिष्ट (जोड़) करके रखता है इसी प्रकार जो धर्म सत्त्वों को सांसारिक दुःखों के साथ संश्लिष्ट करके रखता है वह 'योग' है। मूलटीका में भी इनका निर्वचन इसी तरह किया गया है, यथा – "दूरगतस्सापि आकड्ढनतो निस्सरितुं अप्पदानवसेन बन्धनं संयोजनं, गन्थकरणं सङ्खलिकचक्कलकानं विय पतिबन्धताकरणं वा गन्थनं गन्थो, संसिलिसकरणं योजनं योगो ति – अयमेतेसं विसेसो ति वेदितब्बो[1] ।"

क्लेश

१२. किलेसा – 'किलेसेन्ति उपतापेन्तीति किलेसा' जो क्लेश देते हैं अर्थात् उपतप्त करते हैं वे धर्म 'क्लेश' हैं[2]। अर्थात् अपने सम्प्रयुक्त चित्तों को अथवा अपने आश्रित

---

१. ध० स० मू० टी०, पृ० ५३ ।

२. "चित्तं किलिस्सति उपतप्पति बाधियति वा एतेहीति किलेसा ।" – विभा०, पृ० १६७ ।

"चित्तं किलिस्सन्ति विबाधेन्ति उपतापेन्ति चा ति किलेसा। किलिस्सन्ति वा मलिनभावं निहीनभावञ्च गच्छन्ति सत्ता एतेहीति किलेसा।" – प० दी०, पृ० २९६ ।

"किलेसा ति सयं सङ्किलिट्ठत्ता सम्पयुत्तधम्मानञ्च सङ्किलेसिकत्ता।" – विसु०, पृ० ४८४; अट्ठ०, पृ० ३०६-३०७; ध० स०, पृ० २७०; विभ०, पृ० ४६९ । तु० – अभि० को० ५ : ५५-५६ पृ०, १५०-१५१ ।

"स्वशक्तिजक्रियोद्भूतैर्विशेषैस्ते तु नामभिः।
आत्तसामान्यसंज्ञाकाश्चोद्यन्तेऽनुशयादिभिः ॥"

– अभि० दी०, २६० का०, पृ० २१९; वि० प्र० वृ०, पृ० २१९-२२० ।

"यो धर्म उत्पद्यमानोऽप्रशान्तलक्षण उत्पद्यमानेन येन कायचित्तप्रबन्धाप्रशमप्रवृत्तिः – इदं क्लेशलक्षणम् ।" – अभि० समु०, पृ० ४३ ।

"क्लेशा रागप्रतिघमूढयः। मानदृग्विचिकित्साश्च ।" – त्रिं०, ११-१२ का० ।

१३. आसवादीसु* पनेत्थ कामभवनामेन तब्बत्थुका तण्हा अधिप्पेता। सीलब्बतपरामासो, इदंसच्चाभिनिवेसो, अत्तवादुपादो† च† तथापवत्तं दिट्ठिगतमेव पवुच्चति‡।

इस अकुशलसङ्ग्रह में आसव-आदि में काम एवं भव नाम से, उस काम एवं भव नामक वस्तु (आलम्बन) में आश्रित तृष्णा अभिप्रेत है। उसी प्रकार ग्रहण करने के आकार से भिन्न (भेद को प्राप्त) दृष्टिचैतसिक ही शीलव्रतपरामर्श इदंसत्याभिनिवेश एवं आत्मवादोपादान कहा गया है।

सत्त्वों को जो धर्म अग्नि की तरह तप्त करते हैं, उन्हें 'क्लेश' कहते हैं। अथवा – 'किलिस्सति एतेहीति किलेसा' जिन धर्मों द्वारा पुद्गल क्लिष्ट (मलिन) होते हैं, वे 'क्लेश' हैं। लोभ-आदि से सम्प्रयुक्त होने पर चित्त स्वच्छ (प्रसन्न) नहीं रह सकता, ऐसे चित्त क्लिष्ट' कहे जाते हैं।

अर्हत् एवं भगवान् बुद्ध की चित्तधातु क्लेशों से रहित होती है, अतः वह स्वच्छ एवं प्रभास्वर होती है।

१५००. क्लेश – लोभ ५३ नामधर्म, १८ निष्पन्नरूप, ४ लक्षणरूप = ७५ धर्मों का आलम्बन करता है। आलम्बन ७५ होने के कारण लोभ भी ७५ होते हैं। ये आलम्बन आध्यात्मिक एवं बाह्य भेद से द्विविध होते हैं, अतः दोनों को मिलाने से १५० हो जाते हैं। अतः लोभ भी १५० हुए। इसी प्रकार दसों क्लेश १५०-१५० होते हैं। कुल मिलाकर उनकी संख्या १५०० होती है।

१३. आसवादीसु – यहाँ 'आदि' शब्द से काम, भव एवं शीलव्रतपरामर्श-आदि नामों के साथ प्रयुक्त ओघ, योग-आदि का ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् क्लेश को छोड़कर 'आदि' शब्द द्वारा सभी का ग्रहण होता है; क्योंकि क्लेश के साथ काम, भव-आदि नामों का प्रयोग नहीं होता। 'काम-भव-नामेन तब्बत्थुका तण्हा अधिप्पेता' – इस पालि द्वारा आचार्य अनुरुद्ध का अभिप्राय यह है कि 'काम' शब्द 'वस्त्वालम्बन काम' तथा 'भव' शब्द रूप एवं अरूप ध्यान नामक 'कर्मभव' एवं उन ध्यानों के विपाकभूत 'उपपत्तिभव' नामक आलम्बन अर्थ में प्रयुक्त है। आचार्य का इस प्रकार ग्रहण करना 'धम्मसङ्गणि' पालि के "यो कामेसु कामच्छन्दो...यो भवेसु भवच्छन्दो"[1] – इस वचन पर आधृत है। 'धम्मसङ्गणि' पालि में काम एवं भव के लिये 'कामेसु' 'भवेसु' – इस प्रकार आधारवचन कहकर 'काम, भव' शब्द द्वारा तृष्णा के आधारभूत आलम्बन का ग्रहण किया गया है; किन्तु यदि 'काम, भव' द्वारा आधार (आलम्बन) का ग्रहण किया जायेगा

---

*. आसवादिसु – सी०, ना०। †-†. अत्तवादुपादानं – सी०, रो०; अत्तवादो ति – ना०। ‡. पवुच्चतीति – स्या०।

१. ध० स०, पृ० २४७।

१४. आसवोघा च योगा च तयो गन्था च वत्थुतो।
उपादाना दुवे वुत्ता* अट्ठ नीवरणा सियुं॥

१५. छळेवानुसया होन्ति नव संयोजना मता।
किलेसा† दस† वुत्तोयं नवधा पापसङ्गहो॥

परमार्थतः (स्वरूपतः) आसव, ओघ, योग एवं ग्रन्थ तीन तीन होते हैं तथा उपादान दो एवं नीवरण आठ होते हैं।

अनुशय ६ होते हैं, संयोजन ९ होते हैं तथा क्लेश दश होते हैं। इस प्रकार अकुशल धर्मों का यह नव प्रकार का सङ्ग्रह कहा गया है।

तो वे 'आसव' आदि शब्दों से असदृश जायेंगे; क्योंकि यहाँ काम एवं भव 'आलम्बन' हैं तथा 'आसव' – आदि में वे 'आलम्बनक' होते हैं। अतः पालि से अविरोध के लिये तथा काम एवं आसव, भव एवं आसव शब्दों में अर्थसाम्य (आनुकूल्य) होने के लिये स्थान (आलम्बन) के 'काम, भव' इस नाम का स्थानी (आलम्बनक तृष्णा) में उपचार करके स्थान्युपचार से 'काम' शब्द से कामतृष्णा एवं 'भव' शब्द से भवतृष्णा का ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार ग्रहण करनेपर ही 'दिट्ठि येव आसवो दिट्ठासवो, अविज्जा येव आसवो अविज्जासवो' आदि की तरह 'कामो येव आसवो कामासवो, भवो येव आसवो भवासवो' इस प्रकार कर्मधारय समास किया जा सकता है।

तथापवत्तं – शीलव्रतपरामर्श, इदंसत्याभिनिवेश एवं आत्मवादोपादान – ये तीनों स्वरूपतः 'दृष्टि चैतसिक' ही हैं। किन्तु उस 'दृष्टि' चैतसिक को ग्रहण करने के आकार में भेद होने से भिन्न-भिन्न अवस्था में वह भिन्न भिन्न तीन नामों से कहा जाता है। जब 'गोव्रत, कुक्कुरव्रत-आदि द्वारा क्लेशों से शुद्धि एवं संसार से मुक्ति होती है' – ऐसा विश्वास किया जाता है तब वही दृष्टि 'शीलव्रतपरामर्श' कही जाती है। जब 'मेरा मन्तव्य ही सत्य है, अन्य के मत मिथ्या हैं' – इस प्रकार उपादान किया जाता है, तब वही दृष्टि 'इदंसत्याभिनिवेश' कही जाती है। तथा जब 'आत्मा नामक द्रव्य है' – ऐसा उपादान किया जाता है तब यही दृष्टि 'आत्मोपादान' कही जाती है। अतएव 'तथापवत्तं' – ऐसा कहा गया है[1]। अर्थात् तथा तथा (उस उस प्रकार से) प्रवृत्त दृष्टिचैतसिक ही शीलव्रतपरामर्श, इदंसत्याभिनिवेश एवं आत्मवादोपादान है।

अकुशलसङ्ग्रह समाप्त।

---

*. धम्मा – स्या०। †-†. क्लेसा दसेति – स्या०।

१. "'तथापवत्तं' ति सीलब्बतानि परतो आमसनाकारेन, इदमेव सच्चं मोघमञ्ञं ति अभिनिवसनाकारेन, खन्धेसु अत्ताभिनिवेसाकारेन च पवत्तं।" – प० दी०, पृ० २९६।

मिस्सकसङ्गहो

हेतू

१६. **मिस्सकसङ्गहे छ हेतू – लोभो, दोसो, मोहो; अलोभो, अदोसो, अमोहो ।**

मिश्रकसङ्ग्रह में ६ हेतु हैं – लोभ, द्वेष, मोह तथा अलोभ, अद्वेष एवं अमोह ।

झानङ्गानि

१७. **सत्त झानङ्गानि – वितक्को, विचारो, पीति, एकग्गता, सोमनस्सं, दोमनस्सं, उपेक्खा ।**

सात ध्यानाङ्ग हैं – वितर्क, विचार, प्रीति, एकाग्रता, सौमनस्य, दौर्मनस्य एवं उपेक्षा ।

मिश्रकसङ्ग्रह

हेतु

१६. 'मिस्सकानं सङ्गहो मिस्सकसङ्गहो' अर्थात् कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत मिश्रित धर्मों के सङ्ग्रह को 'मिश्रकसङ्ग्रह' कहते हैं । यह सङ्ग्रह, अकुशलसङ्ग्रह की तरह केवल अकुशल धर्मों का, 'बोधिपक्खिय' (बोधिपक्षीय) सङ्ग्रह की तरह केवल मार्गज्ञान से सम्बद्ध धर्मों का अथवा 'सर्वसङ्ग्रह' की तरह सभी धर्मों का सङ्ग्रह नहीं है; अपितु कुछ कुशल कुछ अकुशल एवं कुछ अव्याकृत धर्मों को मिश्रित करके दिखलानेवाला सङ्ग्रह है[1] । यथा – हेतुसङ्ग्रह में सर्वसङ्ग्रह की तरह सभी धर्मों का सङ्ग्रह नहीं होता; अपितु उसमें केवल ६ हेतु ही होते हैं । उसमें अकुशलसङ्ग्रह की तरह केवल अकुशल हेतु ही नहीं, या बोधिपक्षीय सङ्ग्रह की तरह केवल मार्गज्ञान से सम्बद्ध हेतु ही नहीं; अपितु कुशलहेतु, अकुशलहेतु एवं अव्याकृतहेतुओं का सङ्ग्रह दिखलाया गया है । इसी प्रकार ध्यानाङ्गसङ्ग्रह-आदि भी जानने चाहियें ।

हेतु – जिस प्रकार वृक्ष का मूल वृक्ष का उपष्टम्भन करता है उसी तरह अपने सहभूत नाम-रूप धर्मों का उपष्टम्भन करनेवाले धर्म 'हेतु' कहे जाते हैं[3] । उपर्युक्त ६ हेतुओं को मूलपालि के अनुसार जानना चाहिये । (हेतु, ध्यान एवं मार्ग शब्दों के शब्दार्थ, शक्ति एवं स्वभाव 'पच्चयसमुच्चय' में देखें ।)

ध्यानाङ्ग

१७. **झानङ्गानि** – अपने सम्बद्ध आलम्बनों में उपनिंध्यान करनेवाले वितर्क, विचार-आदि धर्मसमूह ध्यान कहलाते हैं । उन ध्यानों के अवयवों को 'ध्यानाङ्ग'

---

१. विभा०, पृ० १६५ ।

२. "कुसलाकुसलाब्याकतमिस्सकानं सङ्गहो मिस्सकसङ्गहो ।" – प० दी०, पृ० २८६ ।

३. द्र० – विसु०, पृ० ३७३-३७४ ।

कहते हैं[1]। (इनके विस्तार को रूपावचर चित्तों के वर्णनप्रसङ्ग में देखना चाहिये[2]।)

वितर्क चैतसिक ५५ चित्तों में सम्प्रयुक्त होता है। उन ५५ चित्तों में सम्प्रयुक्त वितर्कचैतसिक ही 'वितर्कध्यानाङ्ग' है। विचार ६६ चित्तों में सम्प्रयुक्त होता है। उन ६६ चित्तों में सम्प्रयुक्त विचारचैतसिक 'विचारध्यानाङ्ग' है। प्रीति ५१ चित्तों से सम्प्रयुक्त होती है। इन ५१ चित्तों में सम्प्रयुक्त प्रीति 'प्रीतिध्यानाङ्ग' है। एकाग्रता एवं वेदना सर्वचित्तसाधारण चैतसिक हैं। अर्थात् ये सम्पूर्ण चित्तों से सम्प्रयुक्त होते हैं; किन्तु 'पञ्चविञ्ञाणेसु झानङ्गानि[3] इस वक्ष्यमाण (आगे कहे जानेवाले) वचन के अनुसार द्विपञ्चविज्ञान (१०) चित्तों में सम्प्रयुक्त एकाग्रता एवं वेदना चैतसिक ध्यानाङ्ग नहीं होते, अतः द्विपञ्चविज्ञानवर्जित ७९ चित्तों में सम्प्रयुक्त एकाग्रता एवं वेदना चैतसिक 'एकाग्रताध्यानाङ्ग' एवं 'वेदनाध्यानाङ्ग' हैं। ६२ चित्तों में सम्प्रयुक्त सौमनस्य वेदना 'सौमनस्यध्यानाङ्ग' है। २ द्वेषमूल चित्तों में सम्प्रयुक्त दौर्मनस्यवेदना, 'दौर्मनस्यध्यानाङ्ग' है। उपेक्षा वेदना ५५ चित्तों में सम्प्रयुक्त होती है; किन्तु द्विपञ्चविज्ञानान्तर्गत ८ चित्तों में सम्प्रयुक्त उपेक्षा 'ध्यानाङ्ग' नहीं है, अतः अवशिष्ट ४७ चित्तों में सम्प्रयुक्त उपेक्षा 'उपेक्षाध्यानाङ्ग' है। यद्यपि यहाँ पर ध्यानाङ्ग ७ कहे गये हैं तथापि तीनों वेदना वेदनारूप से एक वेदना चेतसिक ही हैं, अतः स्वरूपतः ध्यानाङ्ग ५ ही होते हैं।

इन ७ ध्यानाङ्गों में से दौर्मनस्यध्यानाङ्ग अकुशलध्यानाङ्ग है, शेष ६ कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत ध्यानाङ्ग हैं[4]।

---

१. द्र० – "पाणातिपातादीनि पापकम्मानि करोन्तानं पि चित्तस्स आरम्मणे उजुकरणं नाम झानेन विना न सिज्झतीति वुत्तं – 'सत्त झानङ्गानी' ति। कल्याणे वा पापके वा आरम्मणे उजुकं चित्तपटिपादनसङ्खातस्स उपनिज्झायनकिच्चस्स अङ्गानीति अत्थो।" – प० दी०, पृ० २९६।
"आरम्मणं उपगन्त्वा चिन्तनसङ्खातेन उपनिज्झायनट्ठेन यथारहं पच्चनीकधम्मझापनट्ठेन च झानानि च तानि अङ्गानि च समुदितानं अवयवभावेन अङ्गियन्ति ञायन्तीति झानङ्गानि।" – विभा०, पृ० १६८; अट्ठ०, पृ० १२५।
तु० – अभि० को० ८:७-१०, पृ० २२३-२२४; अभि० दी० ५४२-५४६ का०, पृ० ४०७-४०८।

२. अभि० स० १:१८ की व्याख्या, पृ० ६४-६७।

३. द्र० – अभि० स० ७:२४, पृ० ७७०।

४. "दोमनस्सञ्चेत्थ अकुसलझानङ्गं, सेसानि कुसलाकुसलाब्याकतझानङ्गानि।" – विभा०, पृ० १६८; प० दी०, पृ० २९६।

मग्गङ्गानि

१८. द्वादस मग्गङ्गानि – सम्मादिट्ठि, सम्मासङ्कप्पो, सम्मावाचा, सम्माकम्मन्तो, सम्माआजीवो, सम्मावायामो, सम्मासति, सम्मासमाधि, मिच्छादिट्ठि, मिच्छासङ्कप्पो, मिच्छावायामो, मिच्छासमाधि।

मार्गाङ्ग १२ हैं – सम्यग्दृष्टि, सम्यक्सङ्कल्प, सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्त, सम्यग् आजीव, सम्यग्व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि, मिथ्यादृष्टि, मिथ्यासङ्कल्प, मिथ्याव्यायाम तथा मिथ्यासमाधि।

मार्गाङ्ग

१८. मग्गङ्गानि – मार्ग का अर्थ पथ है। सम्यग्दृष्टि-आदि, सुगति को तथा मिथ्यादृष्टि-आदि, दुर्गति को पहुँचाने वाले मार्ग हैं। अतः इन दोनों प्रकार के मार्गों के अवयवों को 'मार्गाङ्ग' कहते हैं[1]।

सम्मादिट्ठि – लौकिक सम्यग्दृष्टि तथा लोकोत्तर सम्यग्दृष्टि भेद से सम्यग्दृष्टि द्विविध है। लौकिक सम्यग्दृष्टि भी 'कम्मस्सकता' सम्यग्दृष्टि तथा 'विपस्सना' सम्यग्दृष्टि भेद से दो प्रकार की है। उनमें से कुशल एवं अकुशल कर्मों के विपाक पर विश्वास करके "सभी सत्त्व 'कर्म ही अपना है' इस प्रकार के हैं" – इस प्रकार जाननेवाला ज्ञान 'कर्मस्वकता' नामक सम्यग्दृष्टि है[2]। १० पुण्यक्रियावस्तुओं में होनेवाली 'दिट्ठिजुकम्म' नामक पुण्यक्रियावस्तु ही कर्मस्वकता सम्यग्दृष्टि है। दस प्रकार की सम्यग्दृष्टियों को 'दिट्ठिजुकम्म' के वर्णन-प्रसङ्ग में कहा जा चुका है। इस प्रकार की सम्यग्दृष्टि कर्मवाद पर विश्वास करनेवाले सभी धर्मों में होती है। नामधर्म एवं रूपधर्मों में अनित्यता, दुःखता एवं अनात्मता का विचार करनेवाला ज्ञान 'विपश्यना' नामक सम्यग्दृष्टि है। यह सम्यग्दृष्टि स्वभाव-धर्मों को जाननेवाले कुछ बौद्ध पुद्गलों में ही होती है, सबमें नहीं। बौद्धेतर धर्मों में तो बिलकुल नहीं होती। लोकोत्तर मार्ग एवं फल में सम्प्रयुक्त ज्ञान अर्थात् आर्य अष्टाङ्गिकमार्ग में होनेवाला ज्ञान 'लोकोत्तर सम्यग्दृष्टि' कहलाता है[3]।

---

१. "सुगतिदुग्गतीनं निब्बानस्स च अभिमुखं पापनतो मग्गा; तेसं पथभूतानि अङ्गानि, मग्गस्स वा अट्ठङ्गिकस्स अङ्गानि मग्गङ्गानि।" – विभा०, पृ० १६८।

"कल्याणकम्मपापकम्मसङ्खातासु सुगति-दुग्गति-विवट्टसङ्खातासु च नानादिसासु तं तं दिसाभिमुखपवत्तिसङ्खाता चित्तस्स गति नाम सम्मा वा मिच्छा वा पवत्तेहि दस्सनादीहि एव सिज्झतीति वुत्तं 'द्वादसमग्गङ्गानी'ति। चित्तस्स उजुगतिया वा वङ्कगतिया वा गमनस्स पथङ्गानि उपायङ्गानीति अत्थो।" – प० दी०, पृ० २६६।

"निब्बानत्थिकेहि मग्गीयति, निब्बानं वा मग्गति, किलेसे वा मारेन्तो गच्छतीति मग्गो।" – विभ० अ०, पृ० ११५; अट्ठ०, पृ० ३६।

२. विभ०, पृ० ३८९-३९०; विभ० अ०, पृ० ४१५; अट्ठ०, पृ० ३२१।

३. "सङ्खेपतो हि चतुसच्चपटिवेधाय पटिपन्नस्स योगिनो निब्बानारम्मणं अविज्जानुसयसमुग्घातकं पञ्ञाचक्खु सम्मादिट्ठि। सा सम्मादस्सनलक्खणा, धातु-

इस लोकोत्तर सम्यग्दृष्टि के 'दुःख को–जानना, समुदयसत्य का प्रहाण करना, निरोधसत्य का साक्षात्कार करना एवं मार्गसत्य की भावना करना – इस तरह चार भेद हैं' – इस प्रकार कुछ लोग व्याख्या करते हैं, किन्तु ये ४ प्रकार लोकोत्तर सम्यग्दृष्टि के प्रभेद नहीं हैं, अपितु केवल एक ही सम्यग्दृष्टि द्वारा युगपत् एकक्षण में सम्पन्न किये जानेवाले ४ कृत्य हैं[1]। अपिच-सम्यग्दृष्टि के प्रभेदों को दिखलानेवाले 'मूलपण्णाससम्मादिट्ठिसुत्त-अट्ठकथा' में भी उपर्युक्त प्रकार के भेद नहीं दिखलाये गये है।

सम्मासङ्कप्पो – सम्यग्वितर्क को 'सम्यक्सङ्कल्प' कहते हैं[2]। यह तीन प्रकार का होता है – १. नेक्खम्मसङ्कप्प, २. अब्यापादसङ्कप्प, ३. अविहिंसासङ्कप्प[3]।

"नेक्खम्मपठमज्झाने पब्बज्जायं विमुत्तियं।
विपस्सनायं निस्सेसकुसलम्हि च दिस्सति[4]।।"

प्रथम ध्यान से सम्प्रयुक्त वितर्क, प्रव्रज्याकालिक वितर्क, निर्वाण को आलम्बन करनेवाला वितर्क, विपश्यनाज्ञान से सम्प्रयुक्त वितर्क, सङ्क्षेप में सभी कुशलधर्मों से सम्प्रयुक्त वितर्क 'नेक्खम्मसङ्कप्प' हैं। अथवा – अब्यापाद एवं अविहिंसा से अवशिष्ट निर्दुष्ट सभी वितर्क 'नेक्खम्मसङ्कप्प' हैं।

मैत्री (मेत्ताचैतसिक) से सम्प्रयुक्त वितर्क 'अव्यापाद' वितर्क है। व्यापाद का अर्थ है द्वेष, अतः द्वेष से विपरीत सभी वितर्क 'अव्यापादवितर्क' हैं।

करुणा से सम्प्रयुक्त वितर्क 'अविहिंसावितर्क' है। हिंसा से विपरीत सभी वितर्क 'अविहिंसावितर्क' हैं[5]।

प्पकासनरसा, अविज्जन्धकारविद्धंसनपच्चुपट्ठाना।" – विसु०, पृ० ३५६; विभ०, पृ० १३६; विभ० अ०, पृ० ११७-११८; म० नि०, प्र० भा० पृ० ६२-७४; म० नि०, तृ० भा०, पृ० १३६; अट्ठ०, पृ० १२०-१२१।

१. विभ० अ०, पृ० ११८; विसु०, पृ० ३५७।
तु० – "मार्गसत्यं कतमत्? येन दुःखं परिजानीते, समुदयं प्रजहाति, निरोधं साक्षात्करोति, मार्गं भावयति – एतत्सङ्क्षेपेण मार्गसत्यलक्षणमित्युच्यते।" – अभि० समु०, पृ० ६५।

२. अट्ठ०, पृ० ११६-११७। "तथासम्पन्नदिट्ठिनो तंसम्पयुत्तं मिच्छासङ्कप्पनिघातकं चेतसो निब्बानपदाभिनिरोपनं सम्मासङ्कप्पो। सो सम्माचित्ताभिनिरोपनलक्खणो अप्पनारसो मिच्छासङ्कप्पप्पहानपच्चुपट्ठानो।" – विसु०, पृ० ३५६; विभ० अ०, पृ० ११५-११७।

३. "सो नेक्खम्मसङ्कप्प-अब्यापादसङ्कप्प-अविहिंसासङ्कप्पवसेन तिविधो।" – विभा०, पृ० १६८; विभ०, पृ० १३३; म० नि०, तृ० भा०, पृ० १३६-१३७।

४. ब० भा० टी०।

५. विभ० अ०, पृ० ११९-१२०।

इन्द्रियानि

१९. बावीसति इन्द्रियानि – चक्खुन्द्रियं, सोतिन्द्रियं, घानिन्द्रियं, जिव्हिन्द्रियं, कायिन्द्रियं, इत्थिन्द्रियं, पुरिसिन्द्रियं, जीवितिन्द्रियं, मनिन्द्रियं, सुखिन्द्रियं, दुक्खिन्द्रियं, सोमनस्सिन्द्रियं, दोमनस्सिन्द्रियं, उपेक्खिन्द्रियं, सद्धिन्द्रियं, वीरियिन्द्रियं, सतिन्द्रियं, समाधिन्द्रियं, पञ्ञिन्द्रियं, अनञ्ञातञ्ञस्सामीतिन्द्रियं, अञ्ञिन्द्रियं, अञ्ञाताविन्द्रियं।

२२ इन्द्रियाँ हैं – चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय, कायेन्द्रिय, स्त्रीन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, मनइन्द्रिय, सुखेन्द्रिय, दुःखेन्द्रिय, सौमनस्येन्द्रिय, दौर्मनस्येन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय, श्रद्धेन्द्रिय, वीर्येन्द्रिय, स्मृतीन्द्रिय, समाधीन्द्रिय, प्रज्ञेन्द्रिय, अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय, आज्ञेन्द्रिय, तथा आज्ञातावीन्द्रिय।

सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्त, सम्यग् आजीव, सम्यग्व्यायाम, सम्यक्स्मृति एवं सम्यक्समाधि का वर्णन 'चेतसिक परिच्छेद' में किया जा चुका है[1]।

मिच्छासङ्कप्प – मिथ्यावितर्क को 'मिथ्यासङ्कल्प' कहते हैं। यह भी तीन प्रकार का है। १. कामवितर्क – कामगुणों में तर्क करनेवाले लोभ से सम्प्रयुक्त वितर्क को 'कामवितर्क' कहते हैं। २. व्यापादवितर्क – दूसरों के विनाश के लिये तर्क करनेवाले द्वेष से सम्प्रयुक्त वितर्क को 'व्यापादवितर्क' कहते हैं। ३. विहिंसावितर्क – दूसरों के अपकार या उन्हें कष्ट पहुँचाने के लिये तर्क करनेवाले द्वेष से सम्प्रयुक्त वितर्क को 'विहिंसावितर्क' कहते हैं[2]। सुत्तन्तपिटक में मिथ्यावाक्, मिथ्याकर्मान्त, मिथ्या-आजीव एवं मिथ्यास्मृति मार्गाङ्गों का वर्णन किया गया है; किन्तु इनका अपना कोई पृथक् स्वरूप नहीं है[3]। ये सब दृष्टिचैतसिक के नामान्तर मात्र हैं।

मिथ्यादृष्टि, दृष्टिचैतसिक है। इसका अपना पृथक् स्वरूप है[4]; परन्तु 'मिथ्यास्मृति' नामक कोई पृथक् चैतसिक नहीं है। स्मृति होने पर वह सम्यक् ही होगी, क्योंकि वह कुशल चित्तों से ही सम्प्रयुक्त होती है। अतः मिथ्यास्मृति-आदि का पृथक् अस्तित्व न होने से 'अभिधम्म' में उनकी गणना नहीं की गयी है। मृषाकथन-आदि करते समय, बुरे कर्म करते समय, गलत ढंग से जीविका अर्जन करते समय तथा बुरे कर्मों का स्मरण करते समय उत्पन्न अकुशल चित्तोत्पाद को ही मिथ्यावाक्, मिथ्याकर्मान्त, मिथ्या-आजीव एवं मिथ्यास्मृति कहते हैं।

इन्द्रिय

१९. **इन्द्रियानि** – 'इन्दन्ति परमइस्सरियं करोन्तीति इन्द्रियानि' – जो धर्म परमैश्वर्य (आधिपत्य = अधिकप्रभुत्व) को सम्पन्न करते हैं वे 'इन्द्रिय' हैं[5]। अर्थात् अपने सम्बद्ध

---

१. द्र० – अभि० स० २ : २, ३, ६ की व्याख्या; विसु०, पृ० ३५६-३५७; विभ० अ०, पृ० १२०-१२१; अट्ठ०, पृ० १०२, ११८-१२०, १७७।

२. विभ०, पृ० ४३३; अट्ठ०, पृ० २०१।　३. विभ०, पृ० ४६५-४६६।

४. विभ०, पृ० ४४१; अट्ठ०, पृ० २०१।

५. "अधिपतियट्ठेन इन्द्रियं", "इन्दट्ठं कारेतीति इन्द्रियं।" – अट्ठ०, पृ० ६९ एवं २४५।

कृत्यों में आधिपत्य करनेवाले धर्मों को 'इन्द्रिय' कहते हैं। इनके लक्षण एवं कृत्य-आदि के ज्ञान से ही इनका आधिपत्य जाना जा सकता है। नाम-इन्द्रियों के लक्षण एवं कृत्यों का वर्णन चैतसिक परिच्छेद में किया जा चुका है। तथा रूप-इन्द्रियों के अधिपतित्व से सम्बद्ध व्याख्यान 'रूपपरिच्छेद' के इन्द्रिय-रूपों के वर्णन-प्रसंग में किया गया है।

पाँच वेदनेन्द्रियों (सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य एवं उपेक्षा) का आलम्बन के रस के वेदयित (अनुभव) में अधिपतित्व होता है। वेदना की शक्ति के अनुसार रस की उत्पत्ति होती है। इनमें से सुखेन्द्रिय कायविज्ञान से सम्प्रयुक्त होने के कारण स्प्रष्टव्यालम्बन (फोट्ठब्बारमण) के इष्ट रस का अनुभव करती है। दुःखेन्द्रिय भी स्प्रष्टव्यालम्बन के अनिष्ट रस का अनुभव करती है। सौमनस्येन्द्रिय स्प्रष्टव्यालम्बन के अतिरिक्त पांच आलम्बनों के इष्ट रस का अनुभव-कृत्य भी करती है। दौर्मनस्य इन्द्रिय भी स्प्रष्टव्यालम्बन के अतिरिक्त पाँच आलम्बनों के अनिष्ट रस का अनुभव करती है। उपेक्षेन्द्रिय पञ्च आलम्बनों के इष्टमध्यस्थ रस का अनुभव करती है। अनुभव करते समय इन्द्रियों का अपने सम्प्रयुक्त धर्मों पर भी अधिपतित्व होता है। जब किसी इष्ट आलम्बन की वेदना होती है तब वहाँ वेदनाचैतसिक होता है; किन्तु वह वेदना 'सुखा' है, अतः वहाँ सुख का स्वामित्व है, इसलिये उसे 'सुखेन्द्रिय' कहते हैं। उस समय वहाँ अन्य दुःख-आदि वेदनायें नहीं होतीं, अतः दुःखेन्द्रिय-आदि नहीं हो सकतीं[1]।

पञ्ञिन्द्रियं – कुछ आचार्य लोकोत्तर प्रज्ञा का पृथक् वर्णन उपलब्ध होने से लौकिक त्रिहेतुक ३९ चित्तों में सम्प्रयुक्त प्रज्ञा को ही 'प्रज्ञेन्द्रिय' कहते हैं। इन विद्वानों का यह कथन "सद्धाविरियसतिसमाधिपञ्ञिन्द्रियानि च चतुभूमिपरियापन्नानि[2]" तथा "धम्मसरूप-विभावनत्थञ्चेत्थ पञ्ञिन्द्रियग्गहनं[3]" आदि अट्ठकथा-टीकाओं से विरुद्ध पड़ता है। 'चतु-भूमिपरियापन्नानि' इस वचन से काम, रूप, अरूप एवं लोकोत्तर – इन चार भूमियों में प्रज्ञेन्द्रिय का अस्तित्व स्पष्ट होता है। 'धम्मसरूपविभावनत्थञ्चेत्थ पञ्ञिन्द्रियग्गहनं' –

द्र० – विसु०, पृ० ३४३; विभ० अ०, पृ० १२७-१२८; प० दी०, पृ० २९७।

तु० – "ऐश्वर्यार्थो विपश्चिद्भिरिन्द्रियार्थोऽभिधीयते।"

– अभि० दी० ७६ का०, पृ० ४५।

"विषयग्रहणाधिपतितोऽपि कुशलप्रबन्धाधिपतितोऽपि निकायसभागस्थानाधिपतितोऽपि शुभाशुभकर्मफलभोगाधिपतितोऽपि लौकिकवैराग्याधिपतितोऽपि इन्द्रियं द्रष्टव्यं।" – अभि० समु०, पृ० ३०; अभि० मृ०, पृ० ७५।

१. तु० – "निकायस्थितिसंक्लेशव्यवदानाधिपत्यतः।
जीवितं वेदनाः पञ्च श्रद्धाद्याश्चेन्द्रियं मताः।"

– अभि० को० २ : ३ पृ० ८७; अभि० दी०, पृ० ४८।

२. विसु०, पृ० ३४४; विभ० अ०, पृ० १३०।

३. विभा०, पृ० १६९।

इस वाक्य द्वारा जिस प्रकार 'चक्षुष्, श्रोत्र-आदि इन्द्रिय होते हैं उसी प्रकार प्रज्ञा भी इन्द्रिय धर्म है'—इस प्रकार इन्द्रिय होनेवाली प्रज्ञा का स्वरूप दिखलाया गया है। यह लौकिक प्रज्ञा एवं लोकोत्तर प्रज्ञा का विभाजन करने के लिये प्रयुक्त वाक्य नहीं है।

अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय-आदि तीन इन्द्रियों में से अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय योगी के पुद्गलाध्याशय के प्रकाशनार्थ कही गयी है। मार्ग एवं फल की प्राप्ति के अभिलाषी योगी की सन्तान में 'मैं अनादि-अनन्त संसार में अभीतक अज्ञात अमृत निर्वाण को या चार आर्यसत्यों को जानने के लिये प्रयत्न करूँगा'—इस प्रकार अध्याशय (छन्द) उत्पन्न होता है। उस छन्द (इच्छा) से प्रतिपन्न पुद्गल की सन्तान में सर्वप्रथम उत्पन्न स्रोतापत्तिमार्ग-प्रज्ञा को 'अनञ्ञातं ञस्सामीति पटिपन्नस्स इन्द्रियं' के अनुसार 'अनाज्ञातमाज्ञास्यामि' इन्द्रिय कहते हैं[1]।

अपिच—प्रज्ञा के कृत्यविशेष को दिखाने के लिये ही अनाज्ञातमाज्ञास्यामि-आदि तीन इन्द्रियाँ कही गयी हैं।

मार्गधर्मों के प्रहाणक्रम के अनुसार 'अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय' (सूत्रान्त नय के अनुसार दस संयोजनों में से) दृष्टि, शीलव्रतपरामर्श एवं विचिकित्सा का प्रहाण-कृत्य करती है। आज्ञेन्द्रिय जब सकृदागामिमार्ग से सम्प्रयुक्त होती है तब कामराग को दुर्बल करती है, जब अनागामिमार्ग से सम्प्रयुक्त होती है तब कामराग एवं व्यापाद का प्रहाण करती है, और जब वही (आज्ञेन्द्रिय) अर्हत् मार्ग से सम्प्रयुक्त होती है तब अवशिष्ट सभी संयोजनों का निरवशेष प्रहाण करती है। आज्ञातावीन्द्रिय अर्हत्फल-प्रज्ञा होने से सभी कृत्यों में औत्सुक्य का प्रहाण करके सम्प्रयुक्त धर्मों को निर्वाण का आलम्बन करने के लिये अभिनीहार (अभिमुख) करती है, अतः विभावनी में "पुग्गलज्झासयकिच्चविसेसदस्सनत्थं अनञ्ञातञ्ञस्सामीतिन्द्रियादीनं गहणं"—कहा गया है[2]।

---

१. द्र०—विभा०, पृ० १६८; प० दी०, पृ० २६८; विसु०, पृ० ३४३; विभ० अ०, पृ० १२८; विभ०, पृ० १५६।

"तत्थ अनञ्ञातञ्ञस्सामीतिन्द्रियं ति 'अनमतग्गे संसारवट्टे अनञ्ञातं अमतपदं चतुसच्चधम्ममेव जानिस्सामी'ति पटिपन्नस्स इमिना पुब्बभागेन उप्पन्नं इन्द्रियं।"—अट्ठ०, पृ० १७७।

तु०—"आज्ञास्याम्याख्यमाज्ञाख्यमाज्ञातावीन्द्रियं तथा।
उत्तरोत्तरसम्प्राप्तिनिर्वाणाद्याधिपत्यतः।"—अभि० को० ३ : ४ पृ० ८७।

"अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रियादीनां तु त्रयाणामुत्तरोत्तराङ्गभावे निर्वाणे चाधिपत्यम्।"
—वि० प्र० वृ०, पृ० ४९; अभि० समु०, पृ० ७६; अभि० मृ०, पृ० ७४-७५।

२. विभा०, पृ० १६९।

"अनञ्ञातञ्ञस्सामीतिन्द्रियस्स संयोजनत्तयप्पहानञ्चेव सम्पयुत्तानञ्च तप्पहानाभिमुखभावकरणं; अञ्ञिन्द्रियस्स कामरागब्यापादादितनुकरणप्पहानञ्चेव सहजातानञ्च अत्तनो वसानुवत्तापनं; अञ्ञातविन्द्रियस्स सब्बकिच्चेसु उस्सुकप्पहानञ्चेव अमताभिमुखभावपच्चयता च सम्पयुत्तानं ति।"—विसु०, पृ० ३४४; विभ० अ०, पृ० १२९-१३०।

'मणिसारमञ्जूसा' नामक टीका में 'जिन पुद्गलों को अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय कहने से ज्ञान होगा उन पुद्गलों के लिये भगवान् बुद्ध ने पुद्गलाध्याशयवश अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय का उपदेश किया। जिन को आज्ञेन्द्रिय कहने से ज्ञान होगा – ऐसे पुद्गलों के लिये आज्ञेन्द्रिय का तथा जिनको आज्ञातावीन्द्रिय कहने से ज्ञान हो सकता है – ऐसे पुद्गलों के लिये आज्ञातावीन्द्रिय का उपदेश किया है' – ऐसा कहा गया है[1]।

मणिमञ्जूसाकार द्वारा 'पुद्गलाध्याशय' शब्द की इस प्रकार की व्याख्या समीचीन प्रतीत नहीं होती, क्योंकि ऐसा होने पर तीनों इन्द्रियों में केवल नाममात्र का ही भेद होगा और सम्प्रयुक्त चित्त एक ही हो जायेगा, जो युक्तियुक्त नहीं है। हमने देखा है कि पुद्गलाध्याशय से केवल अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय का ही उत्पाद संभव है, अन्य का नहीं[2]।

भूमिभेद से वर्गीकरण – चक्षुरिन्द्रिय से लेकर पुरुषेन्द्रिय तक सात रूपी इन्द्रियाँ तथा सुख, दुःख एवं दौर्मनस्य – ये १० इन्द्रियाँ काम-धर्म होने से केवल कामभूमि में ही होती हैं। जीवित, मनस्, उपेक्षा, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा – ये ८ इन्द्रियाँ चारों भूमियों में होती हैं। सौमनस्येन्द्रिय अरूपवर्जित तीन भूमियों में होती है, तथा अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय, आज्ञेन्द्रिय एवं आज्ञातावीन्द्रिय लोकोत्तर भूमि में होती हैं[3]।

स्वरूप – चक्षुरिन्द्रिय से पुरुषेन्द्रिय तक सात रूपी इन्द्रियों का स्वरूप चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एवं काय प्रसाद तथा स्त्रीभाव एवं पुरुषभाव है। जीवितेन्द्रिय नामजीवित एवं रूपजीवित – भेद से द्विविध होती है, अतः इनका स्वरूप जीवितरूप एवं जीवितेन्द्रियचैतसिक है। मन इन्द्रिय से लेकर, आगे की सभी इन्द्रिय नाम-इन्द्रिय हैं। उनमें सम्पूर्ण चित्त मन-इन्द्रिय हैं। सुख-सहगत कायविज्ञान में सम्प्रयुक्त वेदनाचैतसिक सुखेन्द्रिय है। दुःखसहगत कायविज्ञान में सम्प्रयुक्त वेदनाचैतसिक दुःखेन्द्रिय है। सौमनस्यसहगत ६२ चित्तों में सम्प्रयुक्त वेदनाचैतसिक सौमस्येन्द्रिय है। दो द्वेषमूल चित्तों में सम्प्रयुक्त वेदनाचैतसिक दौर्मनस्येन्द्रिय है। उपेक्षासहगत ५५ चित्तों में सम्प्रयुक्त वेदनाचैतसिक उपेक्षेन्द्रिय है। शोभन चित्तों में सम्प्रयुक्त श्रद्धा एवं स्मृति-चैतसिक श्रद्धेन्द्रिय एवं स्मृतीन्द्रिय हैं। वीर्य से सम्प्रयुक्त ७३ चित्तों में सम्प्रयुक्त वीर्यचैतसिक वीर्येन्द्रिय है। वीर्यविप्रयुक्त १६ चित्त एवं विचिकित्सा सहगत १ चित्त = १७ चित्तों से वर्जित ७२ चित्तों में सम्प्रयुक्त एकाग्रताचैतसिक समाधीन्द्रिय है। त्रिहेतुकचित्त ४७ में सम्प्रयुक्त प्रज्ञाचैतसिक प्रज्ञेन्द्रिय है। स्रोतापत्तिमार्ग में सम्प्रयुक्त प्रज्ञा अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय है। ऊपरवाले तीन मार्गों एवं नीचेवाले तीन फलों में सम्प्रयुक्त प्रज्ञाचैतसिक आज्ञेन्द्रिय है तथा अर्हत्-फल में सम्प्रयुक्त प्रज्ञाचैतसिक आज्ञातावीन्द्रिय है।

इन्द्रियाँ यद्यपि गणनाक्रम में २२ कही गयी हैं, किन्तु उनके स्वरूप पर विचार किया जाये तो स्वरूपतः उनकी संख्या १६ ही होती है; क्योंकि ५ वेदनेन्द्रिय वस्तुतः

---

१. मणि०, द्वि० भा०, पृ० २०१।

२. ब० भा० टी०।

३. विसु०, पृ० ३४४; विभ० अ०, पृ० १३०।

बलानि

२०. **नव बलानि – सद्धाबलं, वीरियबलं, सतिबलं, समाधिबलं, पञ्ञाबलं, हिरीबलं, ओत्तप्पबलं, अहिरीकबलं, अनोत्तप्पबलं।**

बल नौ हैं – श्रद्धाबल, वीर्यबल, स्मृतिबल, समाधिबल, प्रज्ञाबल, ह्रीबल, अपत्राप्यबल, आह्रीक्यबल तथा अनपत्राप्यबल।

एक वेदना चैतसिक हैं; प्रज्ञा चार इन्द्रियों में होती है अतः वे ४ इन्द्रियाँ वस्तुतः एक प्रज्ञा चैतसिक ही हैं तथा जीवितेन्द्रिय यद्यपि एक ही कही गयी है, किन्तु वस्तुतः वह रूपजीवितेन्द्रिय तथा नामजीवितेन्द्रिय भेद से दो है। इस प्रकार इन्द्रियाँ स्वरूपतः १६ ही होती हैं।

देशनाक्रम – संसार में चक्षुष्, श्रोत्र-आदि आध्यात्मिक धर्मों के होने पर ही 'यह सत्त्व है' – ऐसा कहा जा सकता है। यदि चक्षुष्, श्रोत्र-आदि आध्यात्मिक धर्म न होंगे तो उन उन आलम्बनों का ज्ञान न हो सकने से सत्त्व का बाह्य रूपी वस्तुओं से से कोई भेद न हो सकेगा। इस प्रकार 'सत्त्व' इस प्रज्ञप्ति के होने में अत्यन्त आवश्यक कारण होने से इन आध्यात्मिक इन्द्रियों को सर्वप्रथम कहा गया है। मन इन्द्रिय भी यद्यपि आध्यात्मिक धर्म ही है तथापि नाम-इन्द्रियों का पृथक् वर्णन अभीष्ट होने से उसे नाम-इन्द्रिय के साथ सङ्गृहीत किया गया है। 'सत्त्व' नामक इस स्कन्ध-द्रव्य का स्त्रीभाव एवं पुरुषभाव रूपों द्वारा ही 'यह स्त्री है, यह पुरुष है' – इस प्रकार विभाजन किया जा सकता है, अतः इस विभाजन को दिखाने के लिये आध्यात्मिक इन्द्रियों के अनन्तर दो भावरूप कहे गये हैं। 'सत्त्व' नामक वह उपादिन्न (उपादत्त) स्कन्ध, जीवित के कारण ही स्थित रहता है; इसे दिखाने के लिये तदनन्तर जीवित इन्द्रिय कही गयी है। 'सत्त्व' नामक यह धर्मपुञ्ज प्रबन्धवश प्रवर्त्तमान होते हुए इन वेदनाओं के कारण क्लिष्ट होता है, इसे दिखाने के लिये तदनन्तर पाँच वेदनेन्द्रिय कही गयी हैं। उन क्लेशों से विशुद्धि के कारण-धर्मों को दिखाने के लिये वेदनाओं के अनन्तर श्रद्धा-आदि पाँच इन्द्रियाँ कही गयीं हैं। विशुद्धि हो जाने पर 'ये धर्म क्रमशः प्राप्त होते हैं' – यह दिखाने के लिये तदनन्तर अनाज्ञातमाज्ञास्यामि-आदि तीन इन्द्रियाँ कही गयी हैं। क्रम के ये कारण 'विभावनी' के आधार पर दिखलाये गये हैं[1]। अट्ठकथा-टीकाओं में भिन्न प्रकार के कारण भी उपलब्ध होते हैं[2]।

बल

२०. **बलानि**—'अकम्पनट्ठेन बलं' 'बल' शब्द अकम्पन अर्थ में अनिष्पन्न प्रातिपदिक होने के कारण उसका विग्रह करना आवश्यक नहीं है। लोक में बलवान् उन्हें कहते हैं जो

१. विभा०, पृ० १६६।

२. विसु०, पृ० ३४४; विभ० अ०, पृ० १२८-१२६; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १०६; प० दी०, पृ० २६८-२६६।

अपना कृत्य करने में दृढ़ होते हैं अर्थात् कम्पित नहीं होते। श्रद्धा, वीर्य-आदि धर्म अपने प्रसाद-आदि कृत्य में अकम्पित होने से 'बल' कहे जाते हैं[1]।

कम्पन भी द्विविध होता है। लोक में कुछ बलवान् कहे जानेवाले व्यक्ति शत्रु से सामना होने पर कम्पित न होकर अपने प्रतिद्वन्द्वी को नष्ट करने में सक्षम होते हैं तथा कुछ बलवान् कहे जानेवाले व्यक्ति स्वयं अकम्पित होने पर भी शत्रु से सामना होने पर अकम्पित नहीं रह पाते। उसी तरह 'बल' कहे जानेवाले इन धर्मों में से कुशल-धर्म, विरोधी अकुशल-धर्मों से न केवल अकम्पित ही होते हैं; अपितु अकुशल-धर्मों का प्रहाण करने में समर्थ प्रहायकशक्ति भी होते हैं। अकुशलों में होनेवाले वीर्य, आह्रीक्य एवं अनपत्राप्य अपने सहोत्पन्न धर्मों में ही अकम्पित होते हैं, ये विरोधी कुशल-धर्मों का प्रहाण करने में समर्थ नहीं होते, अतः 'अट्ठसालिनी' में कुशल बल के विषय में "एवमेतेसु अस्सद्धिये न कम्पतीतीति सद्धाबलं[2]" – इस प्रकार व्याख्या करके पुनः अकुशल बल के विषय में "सहजातधम्मेसु अकम्पनट्ठेनेव विरियबलं वेदितब्बं[3]" – इस प्रकार व्याख्या की गयी है। मूलटीकाकार ने भी "सहजातधम्मेसु अकम्पनं, न कोसज्जेसु अकम्पनं विय तप्पटिपक्खभावतो दट्ठब्बं, तंतंपापकिरियाय उस्सहनवसेन पन थिरता तत्थ अकम्पनं[4]" – इस प्रकार अट्ठकथाकार के मत का समर्थन करते हुए व्याख्या की है।

"अस्सद्धिये कोसज्जे च मुट्ठस्सच्चे च उद्धच्चे।
अविज्जाय अहिरिके ओत्तप्पे च न कम्परे॥
तस्मा सद्धादयो सत्त कुसलादी बलानि च।
युत्तेस्वेव अकम्पेन अपुञ्ञा पि तंनामिका"[5]॥

---

१. द्र० – "तस्मा अकम्पियट्ठेन च सम्पयुत्तधम्मेसु थिरभावेन च बलं ति एवमेत्थ अधिप्पायो वेदितब्बो।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ४६१; विसु०, पृ० ४८२; अट्ठ०, पृ० १०२।
द्र० – विभा०, १६६; प० दी०, पृ० २९९।
तु० – "सर्वभूमिषु केनास्य बलं अव्याहतं यतः।"
– अभि० को० ७ : ३०, पृ० २०७।
"द्व्यपेक्षो बलशब्दोऽयं बलं त्वप्रतिघाततः।" – अभि० दी०, पृ० ३८८।
"पराभिभवापेक्षश्च सर्वाप्रतिघातित्वेन च यत्खलु अप्रतिहतसामर्थ्यं तद्बल-मित्युच्यते।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ३८८।
"एषां विशेषः तैः विपक्षान्तरायनिर्लेखोऽनवमृद्यतेति बलानीत्युच्यन्ते।" – अभि० समु०, पृ० ७४।
२. अट्ठ०, पृ० १०२।
३. अट्ठ०, पृ० २०४।
४. ध० स० मू० टी०, पृ० १२०।
५. ब० भा० टी०।

अधिपती

२१. चत्तारो अधिपती – छन्दाधिपति, वीरियाधिपति, चित्ताधिपति, वीमंसाधिपति ।

अधिपति चार हैं – छन्दाधिपति, वीर्याधिपति, चित्ताधिपति एवं मीमांसाधिपति ।

अश्राद्धय, कौसीद्य, मुष्टस्मृतित्व, औद्धत्य, अविद्या, आह्रीक्य एवं अनपत्राप्य नामक विपरीत धर्मों में जो कम्पित नहीं होते, वे श्रद्धा-आदि सात कुशल एवं अव्याकृत धर्म 'बल' कहे जाते हैं। अपने सम्प्रयुक्त धर्मों में ही अकम्पित होने से अकुशल वीर्य, आह्रीक्य, अनपत्राप्य-आदि धर्म भी 'बल' नाम को प्राप्त होते हैं।

श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा बलों का स्वरूप श्रद्धेन्द्रिय-आदि के समान है। ह्री, अपत्राप्य शोभनचित्त में सम्प्रयुक्त ह्री एवं अपत्राप्य चैतसिक हैं। आह्रीक्य एवं अनपत्राप्य अकुशल चित्तों में सम्प्रयुक्त आह्रीक्य एवं अनपत्राप्य चैतसिक हैं।

अधिपति

२१. अधिपती – 'अधिनानं पति, अधिपति' जो अपने संबद्ध धर्मों के स्वामी होते हैं, वे धर्म 'अधिपति' कहलाते हैं। अर्थात् अपने से सम्बद्ध सहोत्पन्न धर्मों के स्वामी बनकर उन उन कृत्यों में अपनी इच्छानुसार उन्हें (सहभूतधर्मों को) स्ववश में कर सकनेवाले धर्म 'अधिपति' कहलाते हैं। अतः 'अधिको पति, अधिपति' – ऐसा भी कहा जा सकता है। अर्थात् इन्द्रियों से अधिक प्रभुत्ववाले धर्मों को 'अधिपति' कहते हैं[1]।

अधिपति एवं इन्द्रिय में विशेष – इन्द्रियों के आधिपत्य एवं अधिपति के आधिपत्य का भेद निम्न उपमा द्वारा समझना चाहिये – अधिपति राजा की तरह है तथा इन्द्रियाँ मन्त्री की तरह हैं। मन्त्रियों का आधिपत्य केवल अपने विभाग पर ही होता है; किन्तु राजा का आधिपत्य पूरे शासन पर होता है। इसी तरह इन्द्रियों का आधिपत्य केवल अपने कृत्य पर होता है और अधिपति का आधिपत्य सब के ऊपर होता है[2]।

---

१. ध० स०, पृ० ८९-९०; विसु०, पृ० ३७४; अट्ठ०, पृ० १७३-१७४; विभ० अ०, पृ० ३०५-३०६।
"जेट्ठकट्ठेनाति पमुखभावेन, अत्ताधीनानं हि पतिभूतो धम्मो अधिपति; सो तेसं पमुखभावेन पवत्तति।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० २७१।
"अधिपतीति एत्थ पतीति सामी, इस्सरो।" – प० दी०, पृ० ३००।
"अत्ताधीनपवत्तीनं पतिभूता धम्मा अधिपती।" – विभा०, पृ० १६९।

२. "अञ्ञेसं अधिपतिधम्मानं अधिपतिभावनिवारणवसेन इस्सरियं अधिपतिता। सन्तेसु पि इन्द्रियन्तरेसु केवलं दस्सनादीसु चक्खुविञ्ञाणादीहि अनुवत्तापनमत्तं इन्द्रियता ति अयं अधिपति-इन्द्रियानं विसेसो।" – विभा०, पृ० १६९।

आहारा

२२. चत्तारो आहारा – कबळीकारो आहारो, फस्सो दुतियो, मनोसञ्चेतना ततिया*, विञ्ञाणं चतुत्थं† ।

आहार चार होते हैं – कवलीकार आहार, स्पर्श द्वितीय आहार, मनःसञ्चेतना तृतीय आहार तथा विज्ञान चतुर्थ आहार है ।

जब किसी चित्त में चारों अधिपति सम्प्रयुक्त होते हैं तब चारों अधिपति, अधिपति-कृत्य नहीं करते, उनमें से कोई एक ही अधिपति-कृत्य करता है, शेष उसके अनुचर होते हैं, वे अधिपति-कृत्य नहीं करते । इन्द्रियाँ ऐसी नहीं हैं । जब किसी चित्त में एक से अधिक इन्द्रियाँ सम्प्रयुक्त होती हैं तो सभी अपना अपना कृत्य करती रहती हैं, जैसे – प्रथम महाकुशलचित्त में ३३ चैतसिक नियत सम्प्रयुक्त होते हैं, उनमें चित्त, प्रज्ञा, वीर्य एवं छन्द – चारों अधिपति होते हैं; किन्तु इनमें से केवल कोई एक ही अधिपति-कृत्य करता है । जब चित्ताधिपति होता है तब अवशिष्ट तीन का आधिपत्य नहीं होता । जब प्रज्ञा अधिपति होती है तब अन्य का नहीं । इसी तरह जब वीर्य अथवा छन्द का अधिपतित्व होता है, तब अन्य का अधिपतित्व नहीं होता । उपर्युक्त (प्रथम महाकुशल) चित्त में ही मनस्, जीवित, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा एवं सौमनस्य इन्द्रियधर्म भी सम्प्रयुक्त होते हैं और ये सभी अपने-अपने कृत्य में अधिपति होते हैं । जैसे – मन इन्द्रिय का आधिपत्य आलम्बन के जानने में है, इसका श्रद्धेन्द्रिय के कृत्य पर आधिपत्य नहीं हो सकता ।

स्वरूप – 'द्विहेतुकतिहेतुकजवनेस्वेव यथासम्भवं अधिपति एको व लब्भति" – इस वक्ष्यमाण (आगे कहे जानेवाले) वचन के अनुसार अधिपति केवल द्विहेतुक एवं त्रिहेतुक जवनों में ही होते हैं । अतः द्विहेतुक एवं त्रिहेतुक ५२ जवनों में सम्प्रयुक्त छन्द चैतसिक – 'छन्दाधिपति', इन्हीं में सम्प्रयुक्त वीर्य चैतसिक 'वीर्याधिपति' है । ये ५२ चित्त 'चित्ताधिपति' तथा त्रिहेतुक ३४ जवनों में सम्प्रयुक्त प्रज्ञा 'मीमांसाधिपति' है ।

आहार

२२. आहारा – 'आहरन्तीति आहारा' जो अपने कार्य या विपाक धर्मों का आहरण करते हैं, धारण करते हैं, अर्थात् उनका उपकार करते हैं उन्हें 'आहार' कहते हैं[२] ।

---

*. ततियो – स्या० । †. चतुत्थो – स्या० ।

"सो पन पदेस-इस्सरो सकलिस्सरोति, दुविधो । तत्थ इन्द्रियानि परेसं विसये सयं परवसे वत्तित्वा अत्तनो विसये एव परेहि अत्तनो वसे वत्तापेन्तीति पदेसिस्सरा नाम । पुब्बादिसङ्खारवसेन पुब्बागमनवसेन वा विसेसेत्वा पवत्तं अधिपतिट्ठानं पत्वा पन अञ्ञो दुतियो इस्सरो नाम नत्थि, तस्मा अधिको पतीति अधिपति । अत्ताधीनवुत्तीनं पतीति अधिपतीति च वदन्ति ।" – प० दी०, पृ० ३०० ।

१. द्र० – अभि० स० ७ : २५, पृ० ७७२ ।

२. विसु०, पृ० २३४, ३७७-३७८; अट्ठ०, पृ० १२५; विभ०, पृ० ४८१; दी० नि०, पृ० भा०, पृ० १७८; म० नि०, पृ० भा०, पृ० ३२०-३२१ ।

कवलीकार आहार ओजस् है। वह कवलीकार आहार 'ओजट्ठमक' अर्थात् ओजस् के साथ आठ रूपों का उपकार करता है[1]।

सम्पूर्ण चित्तों में सम्प्रयुक्त स्पर्श चैतसिक 'स्पर्श आहार' है। 'फस्सपच्चया वेदना' इस वचन के अनुसार वह (स्पर्श आहार) वेदना नामक विपाक का उत्पाद करता है[2]।

सम्पूर्ण चित्तों में सम्प्रयुक्त चेतना चैतसिक 'मनःसञ्चेतना आहार' है। 'सङ्खार-पच्चया विञ्ञाणं' – के अनुसार मनस्सञ्चेतना आहार, प्रतिसन्धि-विज्ञान नामक विपाक का उत्पाद करता है[3]। (चेतना एवं संस्कार पर्यायवाची हैं।)

सम्पूर्ण चित्तों को 'विज्ञान आहार' कहते हैं। 'विञ्ञाणपच्चया नामरूपं' इस वचन के अनुसार विज्ञान-आहार सहोत्पन्न चैतसिक नामधर्म एवं रूपधर्मों का उत्पाद करता है[4]।

"ओजट्ठमकरूपं च वेदनं सन्धिमानसं।
नामरूपं च कमतो आहरन्तीति देसिता[5]॥"

ओजोऽष्टमक रूप, वेदना, प्रतिसन्धिविज्ञान एवं नामरूप धर्मों का आहरण (धारण या उपकार) करने से ये 'आहार' कहे जाते हैं।

"आहरतीति आहारपच्चयसङ्खातेन उप्पत्तिया ठितिया वा पच्चयभावेन अत्तनो फलं आनेति निब्बत्तेति पवत्तेति चाति अत्थो।" – विसु० महा०, प्र० भा०, पृ० ४१३।

"आहरन्ति सहजातादिपच्चयसामञ्ञातो अतिरेकेन असाधारणपच्चयसत्ति-विसेसेन हरन्ति पवत्तेन्तीति आहारा। आहरन्ति वा अज्झत्तसम्भूता ते ते पच्चयधम्मा पच्चयुप्पन्नधम्मा च अत्तानञ्चेव अत्तनो अत्तनो पच्चयकिच्चं पच्चयुप्पन्नकिच्चञ्च सुट्ठु हरन्ति वहन्ति एतेहीति आहारा।" – प० दी०, पृ० ३००।

तु० – अभि० को० ३ : ३८-४०, पृ० ३४७-३५०।

1. विसु० महा०, प्र० भा०, पृ० ४१३; विभा०, पृ० १६९; प० दी०, पृ० ३०१; विसु०, पृ० २३४।
2. विभा०, पृ० १६९। द्र० – विसु० महा०, प्र० भा०, पृ० ४१३; विसु०, पृ० २३४।
3. "मनोसञ्चेतनाहारसङ्खातं कुसलाकुसलकम्मं तीसु भवेसु पटिसन्धि (आहरति)।" – विभा०, पृ० १७०; विसु० महा०, प्र० भा०, पृ० ४१३; विसु०, पृ० २३४।
4. "विञ्ञाणाहारसङ्खातं पटिसन्धिविञ्ञाणं सहजातनामरूपे आहरति।" – विभा०, पृ० १७०; विसु० महा०, प्र० भा०, पृ० ४१३; विसु०, पृ० २३४; अट्ठ०, पृ० १२५।
5. परम० वि०, पृ० ६५।

आहार चार ही – अपने विपाकधर्मों को धारण करने, आहरण करने या उपकार करने से ही यदि ये धर्म 'आहार' कहे जाते हैं तो लोभ, द्वेष-आदि हेतु-प्रत्ययधर्म भी अपने प्रत्ययोत्पन्न विपाक-धर्मों को धारण करते हैं तो क्यों ये आहार नहीं कहे जाते ?

उत्तर – जैसे भोजन-आदि आहार शरीर का अत्यन्त उपकार करते हैं, उसी तरह कवलीकार-आदि चारों आहार आध्यात्मिक सन्तान (स्कन्धसन्तति) में अत्यन्त उपकार करते हैं, अतः इन्हें ही 'आहार' कहते हैं। लोभ, द्वेष-आदि प्रत्ययधर्म यद्यपि प्रत्ययोत्पन्न विपाकधर्मों को धारण करते हैं तथापि उनके द्वारा आहारधर्मों की तरह स्कन्धसन्तति का उपकार नहीं होता, अतः ये 'आहार' शब्द से व्यवहृत नहीं होते[1]।

आहार का आश्रयण करके जीवित रहनेवाले कामभूमि के देव एवं मनुष्य-आदि सत्त्व यद्यपि अपने पूर्व कर्मों से ही उत्पन्न होते हैं तथापि केवल उस कर्ममात्र से ही वे जीवित नहीं रह सकते; अपितु कवलीकार आहार करने से ही कर्मों के विपाकपर्यन्त जीवित रहते हैं, अतः वर्तमान जीवन के लिये कवलीकार आहार अत्यन्त उपकारी है।

संसारचक्र में चलने के लिये स्पर्शाहार अत्यन्त प्रधान होता है; क्योंकि यदि स्पर्श न होगा तो वेदना नहीं होगी और वेदना न होगी तो तृष्णा नहीं होगी तथा तृष्णा के न होने पर संसार-चक्र निरुद्ध हो जायेगा। जैसे – जब चक्षुःप्रसाद रूप का आलम्बन करता है तब स्पर्शधातु का उत्पाद होता है। तब 'फस्सपच्चया वेदना' के अनुसार इष्ट अथवा अनिष्ट रस का अनुभव करनेवाली वेदनाधातु उत्पन्न होती है। और इसके अनन्तर उस वेदना की इच्छा करनेवाली तृष्णा-धातु अधिक बलवती हो जाती है। तृष्णा के बलवती होने पर उस वेदना को प्राप्त करने के लिये पुद्गल नाना प्रकार के कुशल एवं अकुशल कर्म करता है। कर्मों के विपाकस्वरूप प्राप्त सुख-दुःख-आदि वेदना को पुनः प्राप्त करने के लिये कर्म करते हुए पुद्गल के कर्म ब्याज (सूद) की तरह निरन्तर बढ़ते रहते हैं और उसका संसारचक्र अबाध गति से निरन्तर प्रवर्तमान होता रहता है। इस तरह स्पर्श-आहार संसारचक्र में निरन्तर प्रवृत्त होने के लिये उपकार (धारण) करता है।

'मनःसंचेतना' नामक कुशल, अकुशल संस्कार द्वारा 'सङ्खारपच्चया विञ्ञाणं' के अनुसार अपर अपर भव में प्रतिसन्धि से लेकर विपाकविज्ञान के उत्पाद के लिये सर्वदा अभिसंस्कार करते रहने से वह स्कन्ध-सन्तति की स्थिति में अत्यन्त उपकारक होता है। अतः मनःसंचेतना-आहार भी स्कन्धसन्तति के निरन्तर प्रवर्तमान होते रहने के लिये अत्यन्त उपकारी होता है।

'विपाकविज्ञान' नामक विज्ञानाहार भी 'विञ्ञाणपच्चया नामरूपं' के अनुसार नाम-रूप धर्मों की अभिवृद्धि करके स्कन्धसन्तति को धारण करता है। अतः यह भी उपकारी होता है।

---

१. विभा०, पृ० १७०; विसु० महा०, प्र० भा०, पृ० ४१३-४१४।

२३. इन्द्रियेसु पनेत्थ सोतापत्तिमग्गञाणं अनञ्ञातञ्ञस्सामीतिन्द्रियं, अरहत्तफलञाणं अञ्ञाताविन्द्रियं, मज्झे छ ञाणानि अञ्ञिन्द्रियानीति पवुच्चन्ति* । जीवितिन्द्रियञ्च रूपारूपवसेन दुविधं होति ।

इन्द्रियों में स्रोतापत्तिमार्ग को अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय; अर्हत्फलज्ञान को आज्ञातावीन्द्रिय तथा मध्यवर्ती ६ ज्ञानों को आज्ञेन्द्रिय कहते हैं। रूप एवं नाम भेद से जीवितेन्द्रिय दो प्रकार की होती है ।

इस प्रकार यदि ये चार आहारधर्म न होंगे तो स्कन्धसन्तति निरुद्ध हो जायेगी। इन चार धर्मों द्वारा स्कन्धसन्तति का धारण होता है, अतः इन्हें 'आहार' कहते हैं।

असंज्ञिभूमि एवं आहार – कवलीकार-आदि चार आहार असंज्ञिभूमि में नहीं होते, परन्तु सूत्र में जो यह कहा गया है कि 'सब्बे सत्ता आहारट्ठितिका" अर्थात् सम्पूर्ण सत्त्व, जिनमें असंज्ञिसत्त्व भी हैं, आहार के आश्रित होते हैं – इसका क्या अभिप्राय है ?

समाधान – आहार दो प्रकार के होते हैं – मुख्याहार एवं पर्यायाहार । कवलीकार-आदि चार आहार मुख्य आहार हैं। प्रत्ययोत्पन्न (विपाक) धर्म को धारण करनेवाले अन्य प्रत्यय (कारण) धर्म, पर्याय-आहार होते हैं। असंज्ञिसत्त्वों को असंज्ञिभूमि में ५०० कल्पपर्यन्त जीवित रहने के लिये ध्यान-चेतना नामक पर्याय-आहार धारण करता है, अतः 'सब्बे सत्ता आहारट्ठितिका' के अनुसार असंज्ञिसत्त्वों के लिये पर्याय-आहार का ग्रहण करना चाहिये[2]।

२३. इस मिश्रकसङ्ग्रह में अनुरुद्धाचार्य ने कुछ विशेष धर्मों का परमार्थरूप दिखलाने के लिये 'इन्द्रियेसु पनेत्थ....'आदि द्वारा टिप्पणी रूप में उपक्रम किया है ।

अनञ्ञातञ्ञस्सामीतिन्द्रियं – 'अनञ्ञातं ञस्सामि इति इन्द्रियं अनञ्ञातञ्ञस्सामीतिन्द्रियं' 'मैंने अनादिकाल से जिन चार आर्यसत्यों एवं निर्वाण को कदाचिदपि नहीं जाना है, उसे आज जानने के लिये प्रयत्न करूँगा' – इस प्रकार के अध्याशय द्वारा विपश्यना में प्रवृत्त योगी की सन्तान में सर्वप्रथम उत्पन्न स्रोतापत्तिज्ञान ही 'अनाज्ञातमाज्ञास्यामि इन्द्रिय' है। स्रोतापत्ति ज्ञान के उत्पाद के अनन्तर योगी को पुनः पूर्वोक्त प्रकार का अध्याशय कथमपि उत्पन्न नहीं होता, अपितु वह ज्ञात मार्गज्ञान के पुनः ज्ञान के लिये ही प्रयत्नशील होता है।

अञ्ञिन्द्रियं – 'अञ्ञा+इन्द्रियं' यहाँ 'आ' पूर्वक 'ज्ञा' धातु है। इसमें 'आ' उपसर्ग मर्यादा अर्थ में प्रयुक्त है। 'आजानातीति अञ्ञा' अर्थात् नीचे के स्रोतापत्तिमार्गज्ञान द्वारा ज्ञात चार आर्यसत्य एवं निर्वाणधर्म को पुनः जाननेवाली इन्द्रिय 'आज्ञेन्द्रिय' है। ऊपर के तीन लोकोत्तर मार्गज्ञान एवं नीचे के तीन लोकोत्तर फलज्ञान, कुल ६ ज्ञानों को 'आज्ञेन्द्रिय' कहते हैं।

---

*. वुच्चन्ति – स्या०, ना० ।

१. दी० नि०, तृ० भा०, पृ० १६१ । २. प० दी०, पृ० ३०१-३०२ ।

२४. पञ्चविञ्ञाणेसु झानङ्गानि, अवीरियेसु बलानि*, अहेतुकेसु मग्गङ्गानि न लब्भन्ति। तथा विचिकिच्छाचित्ते एकग्गता मग्गिन्द्रियबलभावं न गच्छति।

पञ्चविज्ञान चित्तों में ध्यानाङ्ग, वीर्यविप्रयुक्त चित्तों में बल, अहेतुक चित्तों में मार्गाङ्ग उपलब्ध नहीं होते। तथा विचिकित्साचित्त में सम्प्रयुक्त एकाग्रता मार्ग, इन्द्रिय एवं बल भाव को प्राप्त नहीं करती।

अञ्ञाताविन्द्रियं – इसके द्वारा भी उन्हीं धर्मों को जाना जाता है जिनको नीचे के मार्गज्ञानों द्वारा जान लिया गया है; किन्तु जानने का कृत्य पहले ही निष्पन्न हो गया है, अतः इसके लिये कोई कृत्य अवशिष्ट नहीं है। अतः इसका विग्रह है – 'अञ्ञायित्था ति अञ्ञातावी' जिसके द्वारा सब कुछ सर्वप्रकार से जान लिया गया है उस अर्हत्-फलज्ञान को 'आज्ञातावीन्द्रिय' कहते हैं। अट्ठकथाओं में इन तीनों इन्द्रियों की व्याख्या इस प्रकार की गयी है –

"पच्छिमेसु पन तीसुपठमं, पुब्बभागे अनञ्ञातं अमतं पदं चतुसच्चधम्मं वा जानिस्सामीति एवंपटिपन्नस्स उप्पज्जनतो, इन्द्रियट्ठसम्भवतो च अनञ्ञातञ्ञस्सामीतिन्द्रियं ति वुत्तं; दुतियं आजाननतो, इन्द्रियट्ठसम्भवतो च अञ्ञिन्द्रियं; ततियं अञ्ञाताविनो चतूसु सच्चेसु निट्ठितञाणकिच्चस्स खीणासवस्सेव उप्पज्जनतो, इन्द्रियट्ठसम्भवतो च अञ्ञाताविन्द्रियं[1]।"

२४. पञ्चविञ्ञाणेसु झानङ्गानि न लब्भन्ति – पाँच ध्यानाङ्गों में परिगणित वेदना एवं एकाग्रता चैतसिक सर्वचित्तसाधारण होने से द्विपञ्चविज्ञान चित्तों में सम्प्रयुक्त होने पर भी जब वे द्विपञ्चविज्ञान चित्तों में सम्प्रयुक्त होते हैं तब उनकी संज्ञा 'ध्यानाङ्ग' नहीं होती; क्योंकि 'झायति उपनिज्झायतीति झानं' के अनुसार जो धर्म आलम्बन का उपनिध्यान अर्थात् 'दृढतापूर्वक ग्रहण' करते हैं वे ध्यान हैं। चित्त को आलम्बन में आरोपित करनेवाले वितर्क से रहित होने पर कोई भी धर्म आलम्बन का

---

*. फलानि – रो०।

1. विभ० अ०, पृ० १२८। द्र० – विसु०, पृ० ३४३; अट्ठ०, पृ० ११७, १९४, २३६।

तु० – "अनमतग्गे संसारे अनञ्ञातं अमतं पदं चतुसच्चधम्ममेव वा ञस्सामीति एवमज्झासयेन पटिपन्नस्स इन्द्रियं अनञ्ञातञ्ञस्सामीतिन्द्रियं। आजानाति पठममग्गेन दिट्ठमरियादं अनतिक्कमित्वा जानाती इन्द्रियञ्चा ति अञ्ञिन्द्रियं। अञ्ञाताविनो चत्तारि सच्चानि पटिविज्झित्वा ठितस्स अरहतो इन्द्रियं अञ्ञाताविन्द्रियं।" – विभा०, पृ० १६८-१६९। विस्तार के लिये द्र० – प० दी०, पृ० २९८।

तु० – अभि० समु०, पृ० ७५-७६।

दृढतापूर्वक ग्रहण नहीं कर सकते। यदि वे दृढतापूर्वक ग्रहण नहीं कर पाते हैं तो ध्यानाङ्ग भी नहीं कहे जा सकते। द्विपञ्चविज्ञान वितर्क से रहित होते हैं, अतः उनसे सम्प्रयुक्त वेदना एवं एकाग्रता-आदि, ध्यानाङ्ग नहीं कहे जा सकते। अतएव 'अट्ठसालिनी' में "वितक्कपच्छिमकं हि झानं नाम" ऐसा कहा गया है।

अवीरियेसु बलानि न लब्भन्ति – लोक में भी उत्साहवान् ही बलवान् देखे जाते हैं, इसी तरह यहाँ भी जिन धर्मों में वीर्य (उत्साह) सम्प्रयुक्त नहीं हैं वे धर्म 'बल' पदवाच्य नहीं हैं। जैसे – पञ्चद्वारावर्जन, द्विपञ्चविज्ञान (दस), सम्पटिच्छनद्वय, सन्तीरणत्रय – इन १६ अवीर्य चित्तों में सम्प्रयुक्त एकाग्रता चैतसिक बल नहीं कहा जा सकता। अतएव 'विरियपच्छिमकं बलं" – ऐसा कहा गया है[१]।

अहेतुकेसु मग्गङ्गानि न लब्भन्ति – मूल (जड़) के सदृश हेतु सम्प्रयुक्त न होंगे तो कोई भी धर्म सम्बद्ध आलम्बन का ग्रहण करने में दृढ नहीं हो सकता। दृढ न होनेवाले धर्म सुगति या दुर्गति भूमि में पहुँचानेवाले मार्ग नहीं कहे जा सकते। इसीलिये अहेतुक चित्तों में मार्गाङ्ग-धर्मसदृश वितर्क, वीर्य एवं एकाग्रता यथायोग्य सम्प्रयुक्त होने पर भी उन्हें मार्गाङ्ग नहीं कहा जा सकता। अतएव 'अट्ठसालिनी' में "हेतुपच्छिमको मग्गो नाम" कहा गया है[२]।

ऊपर प्रमाणरूप में उद्धृत पालि में प्रयुक्त 'पच्छिमक' शब्द द्वारा 'अन्तिम या अप्रधान' अर्थ का भ्रम हो सकता है, किन्तु यहाँ 'पच्छिमक' शब्द आवश्यक एवं प्रधान अर्थ में प्रयुक्त है। अट्ठकथाओं में भी कुछ स्थलों पर अत्यन्त आवश्यक एवं प्रधान अर्थ में 'हेट्ठिम' शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है, जैसे – "चेतना ति हेट्ठिमकोटिया पधानसङ्खारवसेन वुत्तं[३]।" यहाँ 'हेट्ठिम' एवं 'पच्छिम' शब्द पर्यायवाची हैं।

"वितक्कहेट्ठिमं झानं मनोपरं मनिन्द्रियं॥
हेतुपरञ्च मग्गङ्गं बलं वीरियपच्छिमं[४]॥"

इस 'परमत्थविनिच्छय' में भी 'पच्छिमं' शब्द के स्थान पर 'हेट्ठिमं' एवं 'परं' शब्द का प्रयोग किया गया है।

तथा विचिकिच्छाचित्ते... न गच्छति – विचिकित्साचित्त में सम्प्रयुक्त एकाग्रता 'एकाग्रता' नाम से कही जाने पर भी उसके संशयबहुल होने के कारण आलम्बन में दृढ न होने से उस (विचिकित्सा) से सम्प्रयुक्त एकाग्रता भी आलम्बन में दृढ नहीं हो सकती। वह उत्पाद-स्थिति-भङ्गात्मक क्षणत्रयमात्रपर्यन्त स्थित रहती है। इसलिये

---

१. अट्ठ०, पृ० २१२। द्र० – प० दी०, पृ० ३०२; विभा०, पृ० १७०।
२. द्र० – प० दी०, पृ० ३०३; विभा०, पृ० १७०। तु० – अट्ठ०, पृ० २३८।
३. अट्ठ०, पृ० २१२। द्र० – प० दी०, पृ० ३०३; विभा० १७०।
४. विम० अ०, पृ० २१।
५. परम० वि०, पृ० ६७।

२५. द्विहेतुक-तिहेतुकजवनेस्वेव यथासम्भवं अधिपति एको व* लभति।

द्विहेतुक-त्रिहेतुक जवनों में यथासम्भव एक ही अधिपति उपलब्ध होता है।

वह मार्गाङ्ग, इन्द्रिय एवं बल के रूप में न होकर सामान्य एकाग्रतामात्र होती है। अर्थात् अत्यन्त शक्तिशालिनी होने पर ही वह मार्गाङ्ग, इन्द्रिय या बल हो सकती है[1]।

पालि एवं अभिधम्मत्थसङ्गह में भेद – 'धम्मसङ्गणि' पालि में १६ वीर्यविप्रयुक्त-चित्तों में "तीणिन्द्रियानि होन्ति[2]" – ऐसा कहा गया है। यथा – चक्षुर्विज्ञानचित्त एवं तत्सम्प्रयुक्त चैतसिकों में मन-इन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय एवं उपेक्षेन्द्रिय – ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं। उस चक्षुर्विज्ञानचित्त में एकाग्रता सम्प्रयुक्त होने पर भी उसे समाधीन्द्रिय नहीं कहा जाता। अतः न केवल विचिकित्साचित्त में सम्प्रयुक्त एकाग्रता ही इन्द्रिय नहीं है; अपितु वीर्यविप्रयुक्त १६ चित्तों में सम्प्रयुक्त एकाग्रता भी इन्द्रिय नहीं है। अतः 'धम्मसङ्गणि' पालि एवं 'अभिधम्मत्थसङ्गह' में समानता लाने के लिये बर्मा के एक सुप्रसिद्ध महास्थविर ने 'अभिधम्मत्थसङ्गह' के मूल को इस प्रकार परिवर्तित कर दिया है, यथा –

"पञ्चविञ्ञाणेसु झानङ्गानि, अहेतुकेसु मग्गङ्गानि न लब्भन्ति; तथा अविरियेसु एकग्गता इन्द्रियबलभावं न गच्छति, विचिकिच्छाचित्ते पन मग्गभावम्पि[3]"।

२५. **द्विहेतुकतिहेतुकजवनेस्वेव** – विपाकचित्त पूर्व कर्मों से उत्पन्न होने के कारण व्यापारवान् चित्त नहीं होते। यदि वे व्यापाररहित होते हैं तो 'अधिपति' नामक प्रमुख धर्म कैसे होंगे?

लोकोत्तर विपाकचित्त मार्ग के अनन्तर क्लेशवाष्प का पुनः प्रशमन करनेवाले पटिपस्सम्भनव्यापारवान् चित्त होते हैं, अतः जवनों में ही अधिपति प्राप्त हो सकते हैं। जवनों में से अहेतुकजवन (हसितोत्पाद) एवं एकहेतुक जवन (मोहमूलद्वय) 'यदि छन्द होता है तो विचिकित्सा (संशय) क्यों नहीं होगी; औद्धत्य क्यों नहीं होगा; हसितोत्पाद क्यों नहीं होगा' – इस प्रकार पूर्वाभिसंस्कार से तीक्ष्ण होने के लिये अभिसंस्कार करने योग्य जवन नहीं होते। इस प्रकार तीक्ष्ण होने के लिये अभिसंस्कार न किया जा सकने से वे कैसे अधिपति बन सकेंगे! अतः एकहेतुक एवं अहेतुक जवनों में अधिपति न होकर द्विहेतुक एवं त्रिहेतुक जवनों में ही अधिपति हो सकते हैं[4]।

---

*. एव – स्या०।

१. विभा०, पृ० १७०; प० दी०, पृ० ३०३।

२. ध० स०, पृ० १०८।

३. ब० भा० टी०।

४. ध० स० अनु०, पृ० १२९।

तु० – "यथा पन तेभूमककुसलानि अत्तनो विपाकं अधिपतिं लभापेतुं न सक्कोन्ति न एवं लोकुत्तरकुसलानि। कस्मा? तेभूमककुसलानं हि अञ्ञो आयूहनकालो, अञ्ञो विपच्चनकालो। तेनेतानि अत्तनो विपाकं अधिपतिं लभापेतुं न सक्कोन्ति। लोकुत्तरानि पन ताय सद्धाय, तस्मिं विरिये, ताय सतिया

२६. छ हेतू पञ्च झानङ्गा मग्गङ्गा नव वत्थुतो।
सोळसिन्द्रियधम्मा च बलधम्मा नवेरिता॥
चत्तारोधिपती वुत्ता तथाहारा ति सत्तधा।
कुसलादिसमाकिण्णो वुत्तो मिस्सकसङ्गहो॥

परमार्थस्वरूप से ६ हेतु, ५ ध्यानाङ्ग, ९ मार्गाङ्ग, १६ इन्द्रिय, ९ बल, ४ अधिपति तथा ४ आहार – इस प्रकार कुशल आदि धर्मों से समाकीर्ण यह मिश्रक-सङ्ग्रह सात प्रकार से कहा गया है।

यथासम्भवं एको व – द्विहेतुक जवनचित्तों में चित्त, छन्द एवं वीर्य नामक तीन अधिपति धर्म होते हैं। तथा त्रिहेतुक जवनचित्तों में प्रज्ञा के साथ चार अधिपति होते हैं; किन्तु जैसे किसी देश में एक ही राजा होता है उसी प्रकार चित्त-चैतसिकों में एक समय में एक ही अधिपति होता है। जिस समय तीन या चार अधिपति होने योग्य चित्त उपस्थित होते हैं उस समय जो सबसे अधिक तीक्ष्ण होता है वही अधिपति होता है। तीक्ष्ण भी वही होता है जिसे वासना के अनुसार पूर्वाभिसंस्कार द्वारा सहारा प्राप्त हुआ है।

कुछ पुद्गल पूर्व पूर्व वासना के अनुसार कुछ विशेष कृत्य करते समय 'चित्तवतो किं नाम न सिज्झति' इस प्रेरणा से युक्त होते हैं। यही पूर्वाभिसंस्कार है। इस पूर्वाभि-संस्कार से जब पश्चिम पश्चिम चित्त-चैतसिक उत्पन्न होते हैं तब उनमें चित्त अधिपति होता है।

कुछ पुद्गल 'छन्दवतो किं नाम न सिज्झति' इस प्रेरणा से युक्त होते हैं।

कुछ पुद्गल 'विरियवतो किं नाम न सिज्झति' इस प्रेरणा से युक्त होते हैं तथा कुछ 'पञ्ञावतो किं नाम न सिज्झति' इस प्रेरणा से युक्त होते हैं। ये सब पूर्वाभि-संस्कार ही हैं। इन पूर्वाभिसंस्कारों से जब पश्चिम पश्चिम चित्त उत्पन्न होते हैं तब अपने पूर्वाभिसंस्कार के अनुसार एक एक तीक्ष्ण होते हैं। वह एक तीक्ष्ण धर्म ही अधि-पति हो सकता है, अतः 'यथासम्भवं एको व' – ऐसा कहा गया है। अर्थात् जब छन्द तीक्ष्ण होता है तब छन्द, जब वीर्य तीक्ष्ण होता है तब वीर्य, जब चित्त तीक्ष्ण होता है तब

तस्मिं समाधिम्हि, ताय पञ्ञाय अवूपसन्ताय अपणकं अविरुद्धं मग्गानन्तर-मेव विपाकं पटिलभन्ति, तेन अत्तनो विपाकं अधिपतिं लभापेतुं सक्कोन्ति। यथा हि परित्तकस्स अग्गिनो कतट्ठाने अग्गिस्मि निब्बुतमत्ते येव उण्हाकारो निब्बायित्वा किञ्चि न होति, महन्तं पन आदित्तं अग्गिक्खन्धं निब्बापेत्वा गोमय-परिभण्डे कते पि उण्हाकारो अवूपसन्तो व होति, एवमेव तेभूमककुसले अञ्ञो कम्मक्खणो अञ्ञो विपाकक्खणो परित्त-अग्गिट्ठाने उण्हभाव-निब्बुत-कालो विय होति। तस्मा तं अत्तनो विपाकं अधिपतिं लभापेतुं न सक्कोति। लोकुत्तरे पन ताय सद्धाय...ताय पञ्ञाय अवूपसन्ताय मग्गा-नन्तरमेव फलं उप्पज्जति, तस्मा तं अत्तनो विपाकं लभापेतीति वेदितब्बं। तेनाहु पोराणा – 'विपाके अधिपति नत्थि ठपेत्वा लोकुत्तरं' ति।" – अट्ठ०, पृ० २३५।

बोधिपक्खियसङ्गहो

सतिपट्ठाना

२७. बोधिपक्खियसङ्गहे चत्तारो सतिपट्ठाना – कायानुपस्सनासतिपट्ठानं, वेदनानुपस्सनासतिपट्ठानं, चित्तानुपस्सनासतिपट्ठानं, धम्मानुपस्सनासतिपट्ठानं।

बोधिपक्षीय-सङ्ग्रह में चार स्मृतिप्रस्थान हैं; यथा – कायानुपश्यनास्मृतिप्रस्थान, वेदनानुपश्यनास्मृतिप्रस्थान, चित्तानुपश्यनास्मृतिप्रस्थान तथा धर्मानुपश्यनास्मृतिप्रस्थान।

चित्त एवं जब प्रज्ञा तीक्ष्ण होती है तब प्रज्ञा अधिपति होती है। इस प्रकार एक एक का अधिपति होना जानना चाहिये[1]।

बोधिपक्षीय-सङ्ग्रह

स्मृतिप्रस्थान

२७. 'बुज्झतीति बोधि' चार आर्यसत्यों को जाननेवाले मार्गज्ञान को 'बोधि' कहते हैं। 'बोधिया पक्खो बोधिपक्खो' चार आर्यसत्यों को जाननेवाले मार्गज्ञान के पक्ष को 'बोधिपक्ष' कहते हैं। अर्थात् मार्गज्ञान के पक्ष में सम्प्रयुक्त धर्म 'बोधिपक्ष धर्म' हैं। 'बोधिपक्खे भवा बोधिपक्खिया' मार्गज्ञान के पक्ष में उत्पन्न धर्मों को 'बोधिपक्षीय धर्म' कहते हैं, अर्थात् मार्गज्ञान के पक्ष में उत्पन्न होकर मार्गज्ञान के फल को धारण करनेवाले धर्म बोधिपक्षीय हैं। अतः मार्गज्ञान के उपकारक महाकुशल, महाक्रिया एवं अर्पणाजवन से सम्प्रयुक्त धर्मों को ही 'बोधिपक्षीय धर्म' कहते हैं। इन बोधिपक्षीय धर्मों के सङ्ग्रह को 'बोधिपक्षीय-सङ्ग्रह' कहते हैं[2]।

---

१. द्र० – विभा०, पृ० १७०-१७१; प० दी०, पृ० ३०३; अट्ठ०, पृ० २८६।

२. "बोधिपक्खियानं परिपुण्णभावो, चत्तारो सतिपट्ठाना...अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो ति हि इमे सत्ततिंस धम्मा बुज्झनट्ठेन बोधो ति लद्धनामस्स अरियमग्गस्स पक्खे भवत्ता 'बोधिपक्खिया' नाम। 'पक्खे भवत्ता' ति उपकारभावे ठितत्ता।" – विसु०, पृ० ४८१।

'बुज्झनट्ठेन वा बोधो, मग्गचित्तुप्पादो। तस्स बुज्झनकिरियाय अनुगुणभावतो पक्खे भवा ति बोधिपक्खिया।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ४६०।

"चत्तारि सच्चानि बुज्झतीति बोधि; बुज्झन्ति वा तंसमङ्गिनो एताया ति बोधि चतुमग्गञाणं। वुत्तं हेतं महानिद्देसे – 'बोधि वुच्चति चतूसु मग्गेसु ञाणं' ति। पक्खो ति कोट्ठासो सम्भारो। बोधिया पक्खे भवा ति बोधिपक्खिया। अधिसीलाधिचित्ताधिपञ्ञासङ्खातासु तीसु सिक्खासु परियापन्नानं सत्थुसासनधम्मानं एतं नामं।" – प०दी०, पृ० ३०३-३०४; विभ०, पृ० ३००।

"बोधिपक्खियानं धम्मानं ति चतुसच्चबोधिसङ्खातस्स मग्गञाणस्स पक्खे भवानं धम्मानं। एतावता सब्बे पि सत्ततिंस बोधिपक्खियधम्मे समूहतो गहेत्वा

सतिपट्ठानं – 'पट्ठातीति पट्ठानं' यहाँ पट्ठान शब्द में 'प' उपसर्ग पूर्वक 'ठा' धातु है। 'प' उपसर्ग भृश एवं अनुप्रवेश (पक्खन्दन) अर्थ में है। आलम्बन में अत्यन्त अनुप्रविष्ट धर्म को 'पट्ठान' कहते हैं। यहाँ सम्बद्ध आलम्बन में अत्यन्त दृढतापूर्वक अनुप्रविष्ट स्मृतिचैतसिक को 'स्मृतिप्रस्थान' कहते हैं[1]।

प्रश्न – परमार्थ रूप से स्मृतिचैतसिक १ होने पर भी स्मृतिप्रस्थान ४ कैसे होते हैं?

उत्तर – स्मृतिचैतसिक १ होने पर भी आलम्बन के ४ प्रकार होने से, ग्रहण करने के आकार चतुर्विध होने से एवं प्रहाणकृत्य के ४ प्रकार होने से स्मृतिप्रस्थान चतुर्विध होता है[2]।

लोक में चार 'विपल्लास' (विपर्यास) होते हैं। यथा – नित्यविपर्यास, सुखविपर्यास, आत्मविपर्यास एवं शुभविपर्यास। इनमें से अनित्य नामरूप-धर्मों में नित्य संज्ञा होना 'नित्यविपर्यास', दुःखस्वरूप नामरूप धर्मों में सुखसंज्ञा होना 'सुखविपर्यास', अनात्म-

---

लोकियाय पि भावनाय एकारम्मणे एकतो पवत्तनसमत्थे बोज्झङ्गे येव दस्सेन्तो 'सत्त बोज्झङ्गा' ति आदिमाह। ते लोकियलोकुत्तरमिस्सका कथिता ति वेदितब्बा।" – विभ० अ०, पृ० ३४६।

तु० – अभि० को० ६ : ६७-६६, पृ० १८७-१८८।

"क्षयज्ञानं मता बोधिस्तथानुत्पादधीरपि।
दश चैकश्च तत्पक्ष्याः सप्तत्रिंशत्तु नामतः॥"

– अभि० दी० ४४१ का०, पृ० ३५७; अभि० समु०, पृ० ७१-७४।

१. "तेसु तेसु आरम्मणेसु ओक्खन्दित्वा पक्खन्दित्वा उपट्ठानतो पट्ठानं। सति येव पट्ठानं सतिपट्ठानं।" – विसु०, पृ० ४८१; विभ०, पृ० २३८। द्र० – विभ० अ०, पृ० २१७; पटि० म०, पृ० ४६७; सं० नि०, चतु० भा०, पृ० १२२; विसु० महा०, द्वि० भा०, ४६०।

तु० – "सम्पयुत्तधम्मेसु पमुखा पधाना हुत्वा कायादीसु आरम्मणेसु तिट्ठन्ति नानारम्मणेसु चित्तगमनं निवत्तेत्वा तेस्वेव कायादीसु चित्तनिबन्धनवसेन पवत्तन्तीति 'पट्ठानानि'। सति एव पट्ठानानीति 'सतिपट्ठानानि'।" – प० दी०, पृ० ३०४।

"पट्ठातीति पट्ठानं। असुभगहणादिवसेन अनुपविसित्वा कायादिआरम्मणे पवत्ततीति अत्थो। सति एव पट्ठानं 'सतिपट्ठानं।" – विभा०, पृ० १७१।

तु० – वि० प्र० वृ०, पृ० ३१५; अभि० समु०, पृ० ७१।

२. "तं पन कायवेदनाचित्तधम्मेसु असुभदुक्खानिच्चानत्ताकारग्गहणवसेन सुभसुखनिच्चअत्तसञ्ञाविपल्लासपहानवसेन च चतुब्बिधं ति वुत्तं – 'चत्तारो सतिपट्ठाना' ति।" – विभा०, पृ० १७१।

"तत्थ हि एका व सति चतुकिच्चसाधनवसेन पवत्तति।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ४६०; विसु०, पृ० ४८१।

धर्मों में आत्मसंज्ञा होना 'आत्मविपर्यास' तथा अशुभ में शुभसंज्ञा होना 'शुभविपर्यास' कहलाता है। इन चारों विपर्यासों में चित्त का मिथ्याज्ञान, मिथ्यादृष्टि एवं मिथ्यासंज्ञा अन्तर्भूत हैं।

स्मृतिप्रस्थान की भावना करनेवाला योगी इन चार विपर्यास-धर्मों का यथायोग्य प्रहाण कर सकता है[1]।

कायानुपस्सनासतिपट्ठानं – 'काय' अर्थात् केश, लोम-आदि ३२ कोट्ठासों का पुनः पुनः दर्शन करनेवाला स्मृतिप्रस्थान 'कायानुपश्यनास्मृतिप्रस्थान' कहलाता है। इस प्रकार यह स्मृतिप्रस्थान केश, लोम-आदि कोट्ठासप्रज्ञप्ति का आलम्बन करता है। जब इस कोट्ठासप्रज्ञप्ति में अशुभसंज्ञा उत्पन्न करने के लिए पुनः पुनः दर्शन किया जाता है, तब अशुभ आकार प्रतिभासित होने लगता है। इसीलिए कायानुपश्यना शुभविपर्यास का प्रहाणकृत्य करनेवाली होती है[2]।

वेदनानुपस्सनासतिपट्ठानं – दुःख-आकार प्रतिभासित होने के लिए वेदनाओं का पुनः पुनः दर्शन करनेवाली स्मृति 'वेदनानुपश्यनास्मृतिप्रस्थान' है। इस स्मृतिप्रस्थान की भावना करनेवाला योगी जब सुखावेदना एवं उपेक्षावेदना का दर्शन करता है तब उनका विपरिणामस्वभाव दिखायी पड़ने से, तथा दुःखावेदना का दर्शन करते समय उसका उत्पीडनस्वभाव दिखायी पड़ने से उनमें दुःखाकार प्रतिभासित होने लगता है। अतः यह वेदनानुपश्यना सुखविपर्यास का प्रहाणकृत्य करनेवाली होती है[3]।

चित्तानुपस्सनासतिपट्ठानं – चित्त का आलम्बन करके 'यह चित्त सराग है, यह चित्त वीतराग है' – इस प्रकार विभाग करके अनित्याकार प्रतिभासित होने के लिए पुनः पुनः दर्शन करनेवाली स्मृति 'चित्तानुपश्यनास्मृतिप्रस्थान' है। इस स्मृतिप्रस्थान द्वारा योगी जब चित्तों का विभाग करके विचार करता है तब नानाविध चित्तों के परिवर्तन-

---

१. "कस्मा पन भगवता चत्तारो व सतिपट्ठाना वुत्ता अनूना अनधिका ति ? वेनेय्य-हितत्ता....सुभ-सुख-निच्च-अत्तभावविपल्लासप्पहानत्थं वा...अट्ठकथायं पन... एवं सरणवसेन चेव एकत्तसमोसरणवसेन च एकमेव सतिपट्ठानं आरम्मण-वसेन चत्तारो ति वुत्ता ति वेदितब्बा।" – विभ० अ०, पृ० २१८-२१९। तु० – वि० प्र० वृ०, पृ० ३१६।

२. "कुच्छितानं केसादीनं आयो ति कायो, सरीरं; अस्सासपस्सासानं वा समूहो कायो, तस्स अनुपस्सना परिकम्मवसेन विपस्सनावसेन च सरणं कायानु-पस्सना।" – विभा०, पृ० १७१-१७२। द्र० – प० दी०, पृ० ३०४; विभ०, पृ० २३८; पटि० म०, पृ० ४९७। विस्तार के लिए द्र० – विभ० अ०, पृ० २२०।

३. "दुक्खदुक्ख-विपरिणामदुक्ख-सङ्खारदुक्खभूतानं वेदनानं वसेन अनुपस्सना वेदनानु-पस्सना।" – विभा०, पृ० १७२।
तु० – "नवप्पभेदासु वेदनासु तंतंवेदनाभावेन उदयब्बयवसेन च अनुपस्सना वेदनानुपस्सना।" – प० दी०, पृ० ३०४; विभ०, पृ० २४०; पटि० म० पृ० ४१८। विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – विभ० अ०, पृ० २२३-२२४।

सम्मप्पधाना

२८. चत्तारो सम्मप्पधाना – उप्पन्नानं पापकानं* पहानाय† वायामो,
सम्यक्प्रधान चार हैं – (१) उत्पन्न पाप धर्मों के प्रहाण के लिये व्यायाम,

---

स्वभाव का सम्यग् ज्ञान होने से उन में अनित्याकार प्रतिभासित होने लगता है। अतः चित्तानुपश्यना नित्यविपर्यास का प्रहाणकृत्य करनेवाली होती है[1]।

धम्मानुपस्सनासतिपट्ठानं – यहाँ 'धर्म' इस प्रकार सामान्यतया कहने पर भी रूपस्कन्ध का कायानुपश्यना से, वेदनास्कन्ध का वेदनानुपश्यना से एवं विज्ञानस्कन्ध का चित्तानुपश्यना से ग्रहण कर लिया जाने से अब यहाँ 'धर्म' शब्द द्वारा संज्ञास्कन्ध एवं संस्कारस्कन्ध का ही ग्रहण करना चाहिए। उन धर्मों का अनित्याकार प्रतिभासित होने के लिए पुनः पुनः आलम्बन करके विपश्यना करने पर सभी कृत्यों में 'ये परमार्थ-धर्म ही धारण करनेवाले हैं तथा परमार्थ धर्म ही विद्यमान होते हैं' – ऐसा ज्ञान होने से उनका अनात्माकार प्रतिभासित होने लगता है, अतः धर्मानुपश्यना आत्मविपर्यास का प्रहाणकृत्य करनेवाली होती है[2]।

इस तरह आलम्बन ४ प्रकार के होने से, उन आलम्बनों को ग्रहण करने के आकार भी ४ प्रकार के होने से तथा प्रहाणकृत्य भी ४ प्रकार के होने से एक प्रकार की स्मृति ही चतुर्विध कही गयी है। आलम्बन को चतुर्विध कहना केवल लौकिक स्मृतिप्रस्थान को लक्ष्य करके कहा गया है। लोकोत्तर स्मृतिप्रस्थान केवल निर्वाण का ही आलम्बन करता है[3]।

सम्यक्प्रधान

२८. सम्मप्पधाना – 'प्रधान' शब्द आरब्धवीर्य अर्थ में प्रयुक्त है। 'वह वीर्य उत्पन्न पाप (अकुशल) के प्रहाण-आदि ४ कृत्यों का सम्भवतः सम्पादन कर सकेगा' –

---

†. पहाणाय – सी०।

१. "तथा सरागमहग्गतादिवसेन सम्पयोगभूमिभेदेन भिन्नस्सेव चित्तस्स अनुपस्सना चित्तानुपस्सना।" – विभा०, पृ० १७२।

"सोळसपभेदेसु सरागादीसु चित्तेसु तंतंचित्तभावेन उदयब्बयवसेन च अनुपस्सना चित्तानुपस्सना।" – प० दी०, पृ० ३०४; विभ०, पृ० २४२; पटि० म०, पृ० ४६६।

विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – विभ० अ०, पृ० २२४।

२. "सञ्ञासङ्खारानं धम्मानं भिन्नलक्खणानमेव अनुपस्सना धम्मानुपस्सना।" – विभा०, पृ० १७२।

"पञ्चपभेदेसु नीवरणादीसु धम्मेसु तंतंधम्मभावेन उदयब्बयवसेन च अनुपस्सना धम्मानुपस्सना।" – प० दी०, पृ० ३०४; विभ०, पृ० २४५; पटि० म०, पृ० ५००। विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – विभ० अ०, पृ० २२४।

३. विभ० अ०, पृ० २१८-२१९। "तस्मा एका व सति चतुविपल्लासपहानभूता मग्गे समिद्धा अनत्थन्तरेन तप्पहानकिच्चभेदेन चत्तारि नामानि

अनुप्पन्नानं पापकानं* अनुप्पादाय वायामो, अनुप्पन्नानं कुसलानं‡ उप्पादाय वायामो, उप्पन्नानं कुसलानं‡ भिय्योभावाय वायामो ।

(२) अनुत्पन्न पाप धर्मों के अनुत्पाद के लिये व्यायाम, (३) अनुत्पन्न कुशल धर्मों के उत्पाद के लिये व्यायाम तथा (४) उत्पन्न कुशल धर्मों के पुन: पुन: उत्पाद (भूयो भाव) के लिये व्यायाम ।

इस प्रकार की संज्ञा कर ली जाती है । इस प्रकार की मान्यता के अनुसार सम्पादन हो सकने के कारण 'सम्मप्पधान' कहा जाता है[1] ।

अर्हत् की सन्तान में उत्पन्न पाप का प्रहाण अपेक्षित नहीं है, अनुत्पन्न पाप के अनुत्पाद के लिये भी प्रयत्न अपेक्षित नहीं है । उत्पन्न कुशल एवं अनुत्पन्न कुशल धर्मों के लिये भी किसी प्रकार का प्रयत्न अपेक्षित नहीं है; क्योंकि कुशल एवं अकुशल से सम्बद्ध सभी प्रकार के करणीय कृत्यों के सम्पन्न हो चुके रहने से अर्हत् की सन्तान में सम्यक्प्रधान वीर्य नहीं हो सकता ।

-. पापकानं अकुसलानं धम्मानं – स्या०; पापकानं धम्मानं – ना० ।

‡-‡. कुसलानं धम्मानं – स्या०, ना० ।

लभतीति अयमेत्थ अधिप्पायो ।" – विभ० मू० टी०, पृ० १६१ ।

१. "सम्मा पदहन्ति एतेना ति सम्मप्पधानं, वायामो ।" – विभा०, पृ० १७२ । द्र० – प० दी०, पृ० ३०५ ।

"पदहन्ति एतेना ति पधानं, सोभणं पधानं सम्मप्पधानं; सम्मा वा पदहन्ति एतेनाति सम्मप्पधानं । सोभणं वा तंकिलेसविरूपत्तविजहनतो पधानं च हितसुखनिप्फादकत्तेन सेट्ठभावावहनतो पधानभावकारणतो चा ति सम्मप्पधानं; विरियस्सेतं अधिवचनं ।" – विसु०, पृ० ४८२ । द्र० – विभ० अ०, पृ० २९१; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ४०९; विभ०, पृ० २५५; सं० नि०, चतु० भा०, पृ० २११ ।

तु० – "दोषहाणमनुत्पादं गुणोत्पादं विवर्धनम् ।
सङ्करोति यतद्धि स प्रहाणचतुष्टयम् ।।"
– अभि० दी० ४४४का०, पृ० ३५८ ।

"उत्पन्नानां रागादीनां खलु दोषाणां प्रहाणायानुत्पन्नानां चानुत्पादाय यद्वीर्यम्, गुणानां च स्मृत्युपस्थानर्धिपादादीनामनुत्पन्नानामुत्पादाय, उत्पन्नानां च स्थितये यद्वीर्यम्, तत्प्रयोजननिष्पत्तिभेदाच्चत्वारि सम्यक्प्रहाणानि भवन्ति ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ३५८; अभि० समु०, पृ० ७२-७३ ।

लोकोत्तर विपाकधर्म भी इन चार कृत्यों को धारण नहीं कर सकते। इसीलिये 'सम्मप्पधानविभङ्ग पालि' में "चतुन्नं सम्मप्पधानानं कति कुसला, कति अकुसला, कति अब्याकता"? इस प्रकार प्रश्न उपस्थित करके उसका "कुसलायेव[1]" अर्थात् केवल कुशल ही हैं – यह समाधान किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि २१ कुशलचित्तों में सम्प्रयुक्त वीर्य-चैतसिक ही सम्यक्प्रधान है। यह सामान्य वीर्य नहीं; अपितु विशेष प्रकार का वीर्य (उत्साह) है[2]।

प्रश्न – सम्यक्प्रधान परमार्थरूप से एक वीर्य होने पर भी चार प्रकार का क्यों कहा गया है?

उत्तर – कृत्य भेद से चार प्रकार का कहा गया है। यथा – (१) उत्पन्न पाप धर्मों का प्रहाणकृत्य, (२) अनुत्पन्न पाप धर्मों का अनुत्पादकृत्य, (३) अनुत्पन्न कुशल धर्मों का उत्पादकृत्य तथा (४) उत्पन्न कुशल धर्मों का पुनः पुनः उत्पाद (भूयोभाव) कृत्य[3]।

उत्पन्न पाप – स्वसन्तान में एकान्तरूप से उत्पन्न अकुशल और उनके सदृश अन्य अकुशल धर्म 'उत्पन्न पाप धर्म' कहे जाते हैं। यथा – 'उप्पज्जित्था ति उप्पन्नं, उप्पन्नं विया ति उप्पन्नं' अर्थात् उत्पन्न अकुशल धर्म तथा उत्पन्न अकुशल के सदृश अनुत्पन्न अकुशल धर्म[4]।

उत्पन्न पाप धर्मों का प्रहाण – उत्पन्न पाप धर्मों का मार्गकुशल में सम्प्रयुक्त वीर्य द्वारा प्रहाण किया जाना स्पष्टतः ज्ञात है। लौकिक कुशलों द्वारा प्रहाण करना इस प्रकार है –

'मैंने प्राणातिपात कर्म किया है, वह कर्म साधु नहीं है, सुष्ठु नहीं है। इस प्राणातिपात कर्म के कर लेने से यदि पश्चाताप एवं कौकृत्य होता है तो अकुशल कर्म की वृद्धि होती है। विप्रतिसार होने से किये गये अकुशल अकृत नहीं हो सकते' – इस प्रकार विचार करके उस कृत प्राणातिपात कर्म का त्याग करता है। अनागत काल में भी उस प्राणातिपात कर्म के न होने के लिये उससे प्रतिनिवृत्त होता है। उपर्युक्त नय के अनुसार यदि प्रयत्न किया जाता है तो उत्पन्न प्राणातिपात कर्म का प्रहाण किया जा सकता है, तथा उत्पन्न प्राणातिपात के सदृश अन्य प्राणातिपात कर्मों का भी प्रहाण हो सकता है[5]।

"यो खो पन मया पाणो अतिपातितो यावतको वा तावतको वा तं न सुट्ठु, तं न साधु। अहञ्चेव खो पन तप्पच्चया विप्पटिसारी अस्सं। न मेतं पापकम्मं अकतं

---

१. विभ०, पृ० २६२।

२. "वायामो ति सीलपूरणसमथविपस्सनाभावनाकम्मेसु दळ्हं वायामो।" – प० दी०, पृ ३०५।

३. "सो पन तथापवत्तो एको पि समानो किच्चसिद्धिवसेन चतुधा होति।" – प० दी०, पृ० ३०५; विसु०, पृ० ४८२।

४. द्र० – प० दी०, पृ० ३०५।

५. द्र० – विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – विभ० अ०, पृ० २९३।

भविस्सतीति'; सो इति पटिसङ्खाय तञ्चेव पाणातिपातं पजहति, आयतिञ्च पाणातिपाता पटिविरतो होति। एवमेतस्स पापस्स कम्मस्स पहानं होति, एवमेतस्स पापस्स कम्मस्स समतिक्कमो होति'[1]।"

अनुत्पन्न पाप – अनादिकाल से प्रवृत्त किसी की भी सन्तान में कोई पापधर्म अनुत्पन्न नहीं है; अपितु वे कभी न कभी उत्पन्न हुए ही हैं। तब यहाँ 'अनुत्पन्न' शब्द से इस भव में अनुत्पन्न अकुशल अथवा नव आलम्बनविशेष के वश से इस भव में अनुत्पन्न अकुशल का ग्रहण करना चाहिये। यदि इस भव में कभी प्राणातिपात नहीं किया गया है तो उस पुरुष की सन्तान में यह प्राणातिपात अनुत्पन्न होता है तथा यदि मत्स्य का तो घात किया है, किन्तु मनुष्य का प्राणातिपात नहीं किया है तो मत्स्य का प्राणातिपात उत्पन्न एवं मनुष्य का प्राणातिपात अनुत्पन्न होता है[2]।

अनुत्पन्न पाप के अनुत्पाद के लिये प्रयत्न – इस प्रकार अनुत्पन्न अकुशल धर्मों के अनुत्पाद के लिये दान, शील, भावना, पूजा, परसेवा, प्राप्तानुमोदन, धर्मश्रवण, धर्मदेशना-आदि पुण्यक्रिया करनी चाहिये। इन कर्मों के करने में वीर्य अपेक्षित होता है, अतः आरब्ध वीर्य द्वारा ही अनुत्पन्न अकुशलों का अनुत्पाद होता है। तथा अकुशल धर्मों के उत्पाद के योग्य नवीन आलम्बन उपस्थित होने पर भी अकुशल न होने के देने लिये उससे विरत होना चाहिये।

"तत्थ अनुप्पन्नानं ति असमुदाचारवसेन वा अननुभूतारम्मणवसेन वा अनुप्पन्नानं; अञ्ञथा हि अनमतग्गे संसारे अनुप्पन्ना पापका अकुसला धम्मा नाम नत्थि।...तत्थ एकच्चस्स वत्तवसेन किलेसा न समुदाचरन्ति। एकच्चस्स गन्थ-धुतङ्ग-समाधि-विपस्सना-नवकम्मिकानं अञ्ञतरवसेन[3]।"

(इस अट्ठकथा में 'असमुदाचारवसेन' शब्द द्वारा इस भव में बाल्यकाल में उत्पन्न होने पर फिर कुछ दिन तक अनुत्पन्न या उपशान्त अकुशल धर्म को भी 'अनुत्पन्नपाप' कहा गया है। 'अननुभूत' शब्द द्वारा अननुभूत नव आलम्बन का ही ग्रहण होता है।)

अनुत्पन्न कुशल – इस भव में अनुत्पन्न शमथ-विपश्यना-आदि लौकिक कुशल तथा अनादिकाल से प्रवृत्त भवसन्तति में कदापि अनुत्पन्न मार्गकुशल को 'अनुत्पन्न कुशल कहते हैं।

उत्पन्न कुशल – मार्ग उत्पन्न हो जाने पर उसके भूयोभाव के लिये प्रयत्न आवश्यक नहीं है; क्योंकि किसी की भी सन्तान में मार्ग एक क्षण के लिये ही उत्पन्न होकर निरुद्ध होता है। फिर पुनः उसका उत्पाद नहीं होता, तथा आवश्यक भी नहीं है। अतः अनुत्पन्न मार्ग के लिये ही वीर्य करना चाहिये। उत्पन्न कुशलों के पुनः पुनः उत्पाद के लिये प्रयत्न करने में मार्गकुशल का ग्रहण न करके इस भव के या पूर्व भव के उत्पन्न लौकिक शमथ-विपश्यना-आदि कुशल धर्मों का ही ग्रहण करना चाहिये।

---

१. सं० नि०, तृ० भा०, पृ० २८३-२८४।

२. द्र० – प० दी०, पृ० ३०५-३०६।

३. विभ० अ०, पृ० २१८।

इद्धिपादा

२९. चत्तारो इद्धिपादा – छन्दिद्धिपादो, वीरियिद्धिपादो*, चित्तिद्धिपादो*, वीमंसिद्धिपादो ।

ऋद्धिपाद चार हैं; यथा – छन्द-ऋद्धिपाद, वीर्य-ऋद्धिपाद, चित्त-ऋद्धिपाद, तथा मीमांसा-ऋद्धिपाद ।

ऋद्धिपाद

२९. इद्धिपादा – 'इज्झतीति इद्धि, इद्धिया पादो इद्धिपादो'-अर्थात् ध्यान, मार्ग एवं फल की प्राप्ति का प्रयत्न किया जाने पर उन ध्यान, मार्ग एवं फल की सिद्धि (प्राप्ति) को 'ऋद्धि' कहते हैं। उन ध्यान, मार्ग एवं फल की प्राप्ति के पादक छन्द, वीर्य, चित्त एवं प्रज्ञा को 'ऋद्धिपाद' कहते हैं[1]। इन ऋद्धिपाद धर्मों का कृतकृत्य अर्हत् से कोई सम्बन्ध नहीं होता। विपाकमात्र फलचित्तों से भी उनका कोई सम्बन्ध नहीं, यहाँ तक कि अर्हत् होने के अनन्तर ध्यानप्राप्ति के लिये किये जानेवाले प्रयत्न को भी 'ऋद्धिपाद' नहीं कहते। 'इद्धिपादविभङ्गपालि' में भी "चतुन्नं इद्धिपादानं कति कुसला, कति अकुसला, कति अब्याकता?" ऐसा प्रश्न करके "कुसलायेव[2]" – ऐसा उत्तर दिया गया है, अर्थात् कुशल ही हैं। अतः ध्यान प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना एवं ध्यान का समावर्जन करना तथा मार्ग की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना एवं फल का समावर्जन करना-आदि में परिकर्म, उपचार, अनुलोम, गोत्रभू, व्यवदानकृत्य करनेवाले कामावचर कुशल, ऊपर ऊपर के ध्यान, मार्ग एवं फल के पादक (मूल) भूत महग्गतकुशल, ऊपर ऊपर के मार्ग एवं फल के पादकभूत मार्गकुशलों में सम्प्रयुक्त छन्द, वीर्य, प्रज्ञा एवं २१ कुशलचित ही 'ऋद्धिपाद' कहलाते हैं। पालि में "छन्दं चे भिक्खु! अधिपतिं करित्वा

-. चित्तिद्धिपादो विरियिद्धिपादो – रो० ।

१. "इज्झति अधिट्ठानादिकं एताया ति इद्धि, इद्धिविधञाणं। इद्धिया पादो, इद्धिपादो।" – विभा०, पृ० १७२। विस्तार के लिये द्र० – प० दी०, पृ० ३०६।

"पुब्बे वुत्तेन इज्झनट्ठेन इद्धि। तस्सा सम्पयुत्ताय पुब्बङ्गमट्ठेन, फलभूताय पुब्बभागकरणट्ठेन च इद्धिया पादो ति इद्धिपादो।" – विसु०, पृ० ४८२; विभ० अ०, पृ० ३०५; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ४९०; पटि० म०, पृ० ४६७; सं० नि०, चतु० भा०, पृ० २१७; विभ०, पृ० २६४।

तु० – "छन्दव्यायाममीमांसा चित्ताकृष्टाः समाधयः।
ऋद्धिपादास्तु चत्वारो गुणसम्पत्तियोनयः॥"
– अभि० दी०, पृ० ३५१; वि० प्र० वृ०, पृ० ३५८; अभि० समु०, पृ० ७३।

२. विभ०, पृ० २७३।

इन्द्रियानि

३०. पञ्चिन्द्रियानि – सद्धिन्द्रियं, वीरियिन्द्रियं, सतिन्द्रियं, समाधि-न्द्रियं, पञ्ञिन्द्रियं ।

इन्द्रियाँ पाँच हैं; यथा – श्रद्धेन्द्रिय, वीर्येन्द्रिय, स्मृतीन्द्रिय, समाधीन्द्रिय तथा प्रज्ञेन्द्रिय ।

बलानि

३१. पञ्च बलानि – सद्धाबलं, वीरियबलं, सतिबलं, समाधिबलं, पञ्ञाबलं ।

बल पाँच हैं; यथा – श्रद्धाबल, वीर्यबल, स्मृतिबल, समाधिबल, तथा प्रज्ञाबल ।

लभति समाधिं" आदि द्वारा अधिपति होने वाले छन्द-आदि को ही कहने के कारण यहाँ अधिपतिकृत्य करनेवाले छन्द, वीर्य, चित्त एवं मीमांसा को ही ऋद्धिपाद समझना चाहिये[1] ।

इन्द्रिय एवं बल

३०-३१. 'इन्द्रिय' एवं 'बल' शब्द का व्याख्यान मिश्रकसङ्ग्रह में कर दिया गया है। उनका परमार्थस्वरूप स्मृतिप्रस्थान के सदृश समझना चाहिये। अर्थात् महा-कुशल, महाक्रिया एवं अर्पणाजवन में सम्प्रयुक्त श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा चैतसिक ५ इन्द्रियाँ एवं ५ बल हैं[2] ।

---

१. विभ०, पृ० २६४ ।

२. विसु०, पृ० २६५, ४८२ । विशेष ज्ञान के लिये द्र० – प० दी०, पृ० ३०६-३०७; विभ० अ०, पृ० ३०५-३११ ।

३. विसु०, पृ० ४८२; सं० नि०, चतु० भा०, पृ० १६७ एवं २१४; पटि० म०, पृ० ४२५, ४८८ ।

तु० – "प्रोक्तं बोधित्रयेशित्वाच्छ्रद्धादीन्द्रियपञ्चकम् ।
कथितं बलशब्देन तदेवानभिभूतितः ।।"
– अभि० दी०, पृ० ३५९; अभि० समु०, पृ० ७४ ।

"श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञारूपाणि खलु पञ्चेन्द्रियाणि बोधिपक्ष्येषु व्यवस्था-प्यन्ते । बोधित्रयाधिगमे श्रद्धादीनां पञ्चानामैश्वर्याधिकयात्, सर्वभूमिषूप-लब्धेश्च...एतान्येवेन्द्रियाणि श्रद्धादीनि यस्माद् योगिनः क्लेशसङ्ग्रामावतीर्णाः क्लेशानीकविजये प्रधानाङ्गभूतानि राज्ञ इव हस्त्यादयस्तस्माद् बलानीत्यु-च्यन्ते ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ३५९-३६१ ।

बोज्झङ्गा

३२. सत्त बोज्झङ्गा – सतिसम्बोज्झङ्गो, धम्मविचयसम्बोज्झङ्गो, वीरियसम्बोज्झङ्गो, पीतिसम्बोज्झङ्गो, पस्सद्धिसम्बोज्झङ्गो, समाधिसम्बोज्झङ्गो, उपेक्खासम्बोज्झङ्गो ।

बोध्यङ्ग सात हैं; यथा – स्मृतिबोध्यङ्ग, धर्मविचयबोध्यङ्ग, वीर्यबोध्यङ्ग, प्रीतिबोध्यङ्ग, प्रश्रब्धिबोध्यङ्ग, समाधिबोध्यङ्ग तथा उपेक्षाबोध्यङ्ग ।

बोध्यङ्ग

३२. बोज्झङ्गा (बोध्यङ्ग) – 'बुज्झति एताया ति बोधि, बोधिया अङ्गो बोज्झङ्गो' जिस धर्मसमूह द्वारा आर्यसत्य जाने जाते हैं उन्हें 'बोधि' कहते हैं। बोधि के अङ्ग को 'बोध्यङ्ग' कहते हैं। योगी के चार आर्यसत्यों से सम्बद्ध ज्ञान के कारणभूत स्मृति, प्रज्ञा-आदि बोध्यङ्गधर्मसमूह को 'बोधि' कहते हैं, और उस समूह के प्रत्येक अवयव को 'बोध्यङ्ग' कहते हैं[1]।

परमार्थरूप से महाकुशल, महाक्रिया एवं अर्पणाजवन में सम्प्रयुक्त स्मृति-आदि धर्म ही 'बोध्यङ्ग' कहे जाते हैं। धर्मविचय प्रज्ञाचैतसिक है[2]। कायप्रश्रब्धि एवं

---

१. "सम्बोधि वुच्चति चतूसु मग्गेसु ञाणं; समन्ततो बुज्झति, पटिविज्झति, बुज्झन्ति वा एताया ति कत्वा। सा हि चतुसच्चधम्मं बुज्झमाना एकक्खणे सोळसहि अत्थेहि सद्धिं समन्ततो बुज्झति, न एकदेसतो ति। तस्सा सम्बोधिया समुट्ठापनट्ठेन सम्बोधिया अङ्गो सहकारी बलवपच्चयो ति सम्बोज्झङ्गो।" – प० दी०, पृ० ३०८।

"बुज्झतीति बोधि, आरद्धविपस्सकतो पट्ठाय योगावचरो; याय वा सो सति-आदिकाय धम्मसामग्गिया बुज्झति सच्चानि पटिविज्झति, किलेसनिद्दातो वा वुट्ठाति, किलेससङ्कोचाभावतो वा मग्गफलपत्तिया विकसति, सा धम्मसामग्गि बोधि। तस्स बोधिस्स तस्सा वा बोधिया अङ्गभूता कारणभूता ति बोज्झङ्गा।" – विभा०, पृ० १७२; विसु०, पृ० ४८२।

"चत्तारि वा अरियसच्चानि पटिविज्झति, निब्बानमेव वा सच्छिकरोतीति बोधीति वुच्चति अरियसावको; तस्स बोधिस्स बुज्झनकसत्तस्स अङ्गा ति बोज्झङ्गा।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ४६१। द्र० – ध० स० मू० टी०, पृ० ११३; अट्ठ०, पृ० ११७-११८, २३६; ध० स०, पृ० ७५-८२; विभ०, पृ० २७६; पटि० म०, पृ० ३६३; सं० नि०, चतु० भा०, पृ० ६१। विस्तार के लिये द्र० – विभ० अ०, पृ० ३१२।

तु० – "बोधनार्थेन निर्दिष्टं शास्त्रा बोध्यङ्गसप्तकम्।" – अभि० दी०, पृ० ३६१; वि० प्र० वृ०, पृ० ३६१; अभि० समु०, पृ० ७४।

२. "चतुसच्चधम्मे विचिनातीति धम्मविचयो।" – अट्ठ०, पृ० १२०।

मग्गङ्गानि

३३. अट्ठ मग्गङ्गानि – सम्मादिट्ठि, सम्मासङ्कप्पो, सम्मावाचा, सम्माकम्मन्तो, सम्माआजीवो, सम्मावायामो, सम्मासति, सम्मासमाधि।

मार्गाङ्ग आठ हैं; यथा – सम्यग्दृष्टि, सम्यक्सङ्कल्प, सम्यग्वाक्, सम्यक-कर्मान्त, सम्यग् आजीव, सम्यग्व्यायाम, सम्यक्स्मृति तथा सम्यक्समाधि।

३४. एत्थ पन चत्तारो सतिपट्ठाना ति सम्मासति* एका व पवुच्चति।
यहाँ एक सम्यक्स्मृति को ही चार स्मृतिप्रस्थान कहा जाता है।

३५. तथा चत्तारो सम्मप्पधाना ति च† सम्मावायामो।
तथा एक सम्यग्व्यायाम को ही चार सम्यक्प्रधान कहा जाता है।

३६. छन्दो चित्तमुपेक्खा च सद्धापस्सद्धिपीतियो।
सम्मादिट्ठि च सङ्कप्पो वायामो विरतित्तयं॥
सम्मासति समाधीति चुद्दसेते सभावतो‡।
सत्ततिंसपभेदेन§ सत्तधा तत्थ सङ्गहो॥

छन्द, चित्त, उपेक्षा, श्रद्धा, प्रश्रब्धि, प्रीति, सम्यग्दृष्टि, सम्यक्सङ्कल्प, सम्यग्व्यायाम, विरतित्रय, सम्यक्स्मृति, सम्यक्समाधि – ये १४ धर्म ही परमार्थतः 'बोधिपक्षीय' धर्म हैं। प्रभेदों के अनुसार ये ३७ होते हैं। इनका बोधिपक्षीय सङ्ग्रह में सात प्रकार से सङ्ग्रह किया गया है।

चित्तप्रश्रब्धि चैतसिक प्रश्रब्धि है। समाधि एकाग्रताचैतसिक है। उपेक्षा तत्रमध्यस्थता चैतसिक है। शेष अपने नाम से स्पष्ट हैं।

मार्गाङ्ग

३३. इन मार्गाङ्गधर्मों का परमार्थस्वरूप भी स्मृतिप्रस्थान की भाँति है, अर्थात् महाकुशल, महाक्रिया एवं अर्पणाजवन में सम्प्रयुक्त प्रज्ञा, वितर्क-आदि चैतसिक मार्गाङ्ग हैं[1]।

३६. बोधिपक्षीय धर्म कुल ३७ होते हैं। वे परमार्थस्वरूप से १४ हैं। उनका यहाँ स्मृतिप्रस्थान, सम्यक्प्रधान, ऋद्धिपाद, इन्द्रिय, बल, बोध्यङ्ग एवं मार्गाङ्ग नाम से सात प्रकार से विभाजन करके वर्णन किया गया है।

---

*. सद्धासति – सी०। †. सी०, ना० में नहीं। ‡. स्वभावतो – रो०।
§. ० प्पभेदेन – रो०, ना०।

१. द्र० – विभ०, पृ० २८५; ध० स०, पृ० ७४; पटि० म०, पृ० ३२७; सं० नि०, चतु० भा०, पृ० १; अट्ठ०, पृ० १७७; विभ० अ०, पृ० ३२१।
तु० – "सङ्कल्पादेश्चतुष्कस्य पथो ज्ञेयानुकूल्यतः।" – अभि० दी०, पृ० ३६२; वि० प्र० वृ०, पृ० ३६२; अभि० समु०, पृ० ७४-७५।

३७. सङ्कप्पपस्सद्धि च पीतुपेक्खा*
छन्दो च चित्तं विरतित्तयञ्च ।
नवेकठाना† विरियं नवट्ठ
सती समाधी चतु पञ्च पञ्ञा ।
सद्धा दुठानुत्तमसत्ततिस‡
धम्मानमेसो पवरो विभागो ॥

सम्यक्सङ्कल्प, प्रश्रब्धि, प्रीति, उपेक्षा, छन्द, चित्त, तीन विरतियाँ=९ धर्म १-१ स्थान में ही आते हैं। वीर्य (चार सम्यक्प्रधान, वीर्य-ऋद्धिपाद, वीर्येन्द्रिय, वीर्यबल, वीर्यसम्बोध्यङ्ग, सम्यग्व्यायाम=) ९ स्थानों में आता है। स्मृति (चार स्मृतिप्रस्थान, स्मृतीन्द्रिय, स्मृतिबल, स्मृतिसम्बोध्यङ्ग, एवं सम्यक्स्मृति=) ८ स्थानों में आती है। समाधि (समाधीन्द्रिय, समाधिबल, समाधिसम्बोध्यङ्ग, और सम्यक्समाधि=)४ स्थानों में आती है। प्रज्ञा (मीमांसा-ऋद्धिपाद, प्रज्ञेन्द्रिय, प्रज्ञाबल, धर्मविचयसम्बोध्यङ्ग और सम्यग्दृष्टि=) ५ स्थानों में आती है। श्रद्धा (श्रद्धेन्द्रिय एवं श्रद्धाबल=) दो स्थानों में आती है। इस प्रकार इन लोकोत्तर ३७ धर्मों का यह श्रेष्ठ विभाग है।

३८. सब्बे लोकुत्तरे होन्ति न वा सङ्कप्पपीतियो ।
लोकिये पि यथायोगं छब्बिसुद्धिपवत्तियं§ ॥

सब बोधिपक्षीय धर्म लोकोत्तर चित्तों में होते हैं। सङ्कल्प एवं प्रीति, कुछ लोकोत्तर चित्तों में नहीं भी होते। ६ विशुद्धियों की प्रवृत्ति जिनमें होती है ऐसे लौकिक कुशल तथा क्रिया चित्तों में भी ये बोधिपक्षीय धर्म यथायोग्य होते हैं।

---

३८. 'सङ्कल्प' वितर्क का नाम है। यह वितर्क द्वितीय-आदि मार्ग एवं फल ध्यानों में प्राप्त नहीं होता। इसी तरह प्रीति चतुर्थ एवं पञ्चम मार्ग एवं फल ध्यानों में प्राप्त नहीं होती। इसे द्वितीय परिच्छेद में 'चैतसिक सम्प्रयोगनय' के अनुसार ही समझना चाहिये। नवम परिच्छेद¹ में आनेवाली शीलविशुद्धि, चित्तविशुद्धि, दृष्टिविशुद्धि, कांक्षावितरणविशुद्धि, मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि, प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि – इन छह विशुद्धियों के होने के लिए लौकिक कुशल एवं क्रिया चित्तों द्वारा प्रयत्न होता है। यही प्रयत्न स्मृतिप्रस्थान, सम्यक्प्रधान-आदि धर्म है। इसलिये कुशल एवं क्रिया चित्तों में भी ये बोधिपक्षीय धर्म यथायोग्य होते हैं। इस कथन के अनुसार लौकिक कुशल एवं क्रिया में सम्प्रयुक्त स्मृति-आदि को भी स्मृतिप्रस्थान एवं सम्यक्प्रधान-आदि कहा गया है। विपाकधर्म प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति एवं तदालम्बन कृत्य ही करते हैं। इसलिये

---

*. पीत्युपेक्खा – स्या०। †. नवेह ठाना – रो०। ‡. सत्तत्तिस – ना०।
§. छब्बिसुद्धिप्पवत्तियं – स्या०, ना०।
१. द्र० – अभि० स० ९ : ५१–५६।

सब्बसङ्गहो

पञ्चक्खन्धा

३९. सब्बसङ्गहे पञ्चक्खन्धा* – रूपक्खन्धो, वेदनाक्खन्धो, सञ्ञाक्खन्धो, सङ्खारक्खन्धो, विञ्ञाणक्खन्धो।

सर्वसङ्ग्रह में पाँच स्कन्ध हैं – रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध एवं विज्ञानस्कन्ध।

शीलविशुद्धि-आदि विशुद्धियों की प्रवृत्ति उनमें नहीं हो सकती, अतः विपाक से सम्प्रयुक्त स्मृति, वीर्य-आदि स्मृतिप्रस्थान, सम्यक्प्रधान-आदि नहीं कहे जा सकते[1]।

बोधिपक्षीयसङ्ग्रह समाप्त।

सर्वसङ्ग्रह

३९. 'सब्बेसं सङ्गहो सब्बसङ्गहो' सभी धर्मों अर्थात् चित्त, चैतसिक, रूप एवं निर्वाण – इन चारों परमार्थ-धर्मों का संग्रह करनेवाला यह सङ्ग्रह है।

पञ्चस्कन्ध

स्कन्ध – 'रासट्ठेन खन्धो' राशि के अर्थ में 'स्कन्ध' शब्द का प्रयोग हुआ है, यह अनिष्पन्न प्रातिपदिक शब्द है[2]। इसलिये रूपराशि को रूपस्कन्ध एवं वेदनाराशि को वेदना स्कन्ध-आदि कहते हैं। यहाँ रूपराशि में प्रयुक्त 'राशि' शब्द तण्डुलराशि, तिलराशि-आदि की भाँति 'ढेर' अर्थ में व्यवहृत नहीं है तथा २८ रूपों के समूह को भी राशि नहीं कहते; अपितु अतीतरूप, अनागतरूप एवं प्रत्युत्पन्नरूप – इस प्रकार काल-भेद से भिन्न इन त्रिविध रूपों का ज्ञान द्वारा राशीकरण 'रूपस्कन्ध' कहा जाता है। जैसे – काल भेद से अतीत पृथ्वी, अनागत पृथ्वी एवं प्रत्युत्पन्न पृथ्वी – इस प्रकार त्रिधा

---

*. पञ्च खन्धा – रो०।

१. विशेष ज्ञान के लिये द्र० – प० दी०, पृ० ३०९-३१०; विभा०, पृ० १७२-१७३।

२. "तत्रायं खन्धसद्दो सम्बहुलेसु ठानेसु दिस्सति – रासिम्हि, गुणे, पण्णत्तियं, रुळ्हियं ति।...स्वायमिध रासितो अधिप्पेतो। अयं हि खन्धट्ठो नाम पिण्डट्ठो पूगट्ठो घटट्ठो रासट्ठो। तस्मा 'रासिलक्खणा खन्धा' ति वेदितब्बा।" – विभ० अ०, पृ० १-२; अट्ठ०, पृ० ११५-११६। द्र० – विभ० मू० टी०, पृ० ३-४।

"खन्धस्सा ति रासट्ठस्स खन्धस्स।" – विभ० अनु०, पृ० ६; विसु०, पृ० ३३०-३३१।

"अतीतानागतपच्चुप्पन्नादिभेदभिन्ना ते ते सभागधम्मा एकज्झं रासट्ठेन खन्धा।" – विभा०, पृ० १७३।

तु० – "राश्यायद्वारगोत्रार्थाः स्कन्धायतनधातवः।" – अभि० को० १ : २०, पृ० ३०; अभि० दी०, पृ० ५; अभि० समु०, पृ० १५।

विभक्त एक पृथ्वीधातु को ज्ञान द्वारा राशीकृत करके 'रूपस्कन्ध' कहा जाता है। इसी प्रकार वेदना एवं संज्ञा-आदि एक एक होने पर भी अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न काल-भेद से त्रिविध हैं और उन तीनों का ज्ञान द्वारा राशीकरण करके उन्हें वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध-आदि कहा जाता है[1]। (कुछ लोग एक संख्यात्मक वेदना एवं संज्ञा को वेदनास्कन्ध एवं संज्ञास्कन्ध कहने में एकदेशी – उपचार से रूढ शब्द मानते हैं; इस सम्बन्ध में आगे विचार किया जायेगा।) सन्तानभेद से अध्यात्म (अज्झत्त=स्व सन्तान में उत्पन्न) पृथ्वी एवं बाह्य (बहिद्धा=बाहर एवं पर सन्तान में उत्पन्न) पृथ्वी – इन दोनों को एकत्र करके पृथ्वी राशि या एक रूपस्कन्ध कहते हैं। इसी प्रकार अध्यात्मवेदना एवं बाह्य-वेदनाओं का राशीकरण करके वेदनाराशि या एक वेदनास्कन्ध होता है।

उपर्युक्त पृथ्वी में औदारिक (ओळारिक) एवं सूक्ष्म – इस प्रकार दो भेद नहीं हो सकते। 'रूपपरिच्छेद' में कथित नय के अनुसार वह पृथ्वी औदारिक रूप ही होती है।

पुद्गलभेद से हीन पृथ्वी एवं प्रणीत पृथ्वी – इन दोनों का राशिकरण करके एक रूपस्कन्ध हो जाता है।

स्थानभेद से दूरपृथ्वी एवं अन्तिक (सन्तिके) पृथ्वी – इनं दोनों का राशिकरण करके भी एक रूपस्कन्ध हो जाता है।

इसी प्रकार अप्-धातु-आदि रूपधर्म तथा वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान में भी स्कन्धप्रक्रिया (राशिकरण) जाननी चाहिये[2]।

१. "एकस्मिं रुप्पनलक्खणे रासिं कत्वा ञाणेन परिग्गहिता रूपधम्मा एव। तथा एकस्मिं वेदयितलक्खणे सञ्जाननलक्खणे रासिं कत्वा परिग्गहिता अतीतादिभेदभिन्ना वेदनासञ्ञायो वेदनाक्खन्धो सञ्ञाक्खन्धो च नाम।" – प० दी०, पृ० ३१०।

"यस्मा चेत्थ खन्धसद्दो रासट्ठो 'महाउदकक्खन्धो' ति आदीसु विय, तस्मा अतीतादिविभागभिन्नं सब्बं रूपं रासिवसेन बुद्धिया एकज्झं गहेत्वा 'रूपमेव खन्धो रूपक्खन्धो' ति समानाधिकरणसमासो दट्ठब्बो।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ८५।

द्र० – "एवमेत्थ रूपक्खन्धो ति रूपरासि रूपकोट्ठासो; वेदनाखन्धो ति वेदनारासि वेदनाकोट्ठासो ति इमिना नयेन सञ्ञाक्खन्धादीनं अत्थो वेदितब्बो।" – विभ० अ०, पृ० २।

२. "यं किञ्चि रूपं अतीतानागतपच्चुप्पन्नं अज्झत्तं वा बहिद्धा वा ओळारिकं वा सुखुमं वा हीनं वा पणीतं वा यं दूरे सन्तिके वा तदेकज्झं अभिसञ्ञूहित्वा अभिसङ्खिपित्वा – अयं वुच्चति रूपक्खन्धो।" – विभ०, पृ० १; विभ० अ०, पृ० २२; विभ० मू० टी०, पृ० ४; विभ० अनु०, पृ० ७-८। तु० – अभि० को०, पृ० १४; अभि० समु०, पृ० ३।

कुछ लोग अतीत, अनागत-आदि ११ प्रकार से विभाग करने योग्य होने पर ११ प्रकार से विभक्त उन रूपधर्मों को एक साथ सङ्गृहीत करके 'स्कन्ध' शब्द से कहना चाहते हैं। किन्तु यहाँ स्कन्ध का अर्थ इन ११ प्रकारों की राशि नहीं है; अपितु अतीत, अनागत एवं प्रत्युत्पन्न की एक राशि; अज्झत्त एवं बहिद्धा की एक राशि; औदारिक एवं सूक्ष्म की एक राशि; हीन एवं प्रणीत की एक राशि तथा दूर एवं समीप की एक राशि होती है—इस प्रकार समझना चाहिये। राशिकरण, स्वभाव से भेद होने पर ही किया जा सकता है। यदि स्वभाव से भेद न होगा तो राशिकरण नहीं किया जा सकता, जैसे—कालभेद एवं सन्तानभेद पर विचार करने से अतीत पृथ्वी में ही अज्झत्त (अध्यात्म) एवं बहिद्धा (बाह्य)—ये दोनों भेद हो सकते हैं, इसीलिये अतीत पृथ्वी एक एवं अज्झत्त पृथ्वी एक—इस प्रकार विभाजन नहीं किया जा सकता। अभिन्न धर्मों का कैसे राशिकरण किया जा सकता है? अतः सजातीय भिन्न धर्मों का ही राशिकरण करना चाहिये।

रूढि—कुछ स्थल पर अतीत, अनागत एवं प्रत्युत्पन्न भेद से अभिन्न एक वेदना भी स्कन्ध कही जा सकती है, जैसे—प्रत्युत्पन्न वेदना एक है, उसका अतीत, अनागत रूप से भेद नहीं किया जा सकता। इसी तरह एक सत्त्व की सन्तान में होनेवाली वेदना अज्झत्त ही है, उसका अज्झत्त एवं बहिद्धा भेद नहीं किया जा सकता, फिर भी उपर्युक्त प्रत्युत्पन्न एवं अज्झत्त वेदना 'रूढि' से 'वेदनास्कन्ध' कही जाती है[1]।

"वेदनादीस्वपेकस्मिं खन्धसद्दो तु रूळ्हिया।
समुद्दादेकदेसे तु समुद्दादिरवो यथा[2]"॥

अर्थात् एक वेदना में भी रूढि से 'स्कन्ध' शब्द का व्यवहार होता है, जैसे—समुद्र के एक देश में समुद्र का व्यवहार होता है।

संस्कारस्कन्ध—५० चैतसिकों को 'संस्कारस्कन्ध' कहते हैं। वस्तुतः एक चेतना-चैतसिक ही संस्कारस्कन्ध है; फिर भी चेतना को प्रधान करके उसके साथ आनेवाले अन्य चैतसिकों को भी 'संस्कारस्कन्ध' कहा जाता है।

"चित्तसंसट्ठधम्मानं चेतनामुखतो पन।
सङ्खारक्खन्धनामेन धम्मा चेतसिका मता[3]॥"

अर्थात् एक चित्त से संसृष्ट चैतसिक धर्मों के बीच 'संस्कार' नामक चेतना-चैतसिक ही प्रधान होने के कारण अन्य ५० चैतसिक धर्मों को भी 'संस्कारस्कन्ध' नाम से माना गया है।

---

१. विभ० अनु०, पृ० ७। द्र०—विभ० मू० टी०, पृ० ३।

२. सच्च० ५ का०, पृ० ३।

३. नाम० परि०, पृ० ४२।

तु०—"चतुर्भ्योऽन्ये तु संस्कारस्कन्ध एते पुनस्त्रयः।
धर्मायतनधात्वाख्याः सहाविज्ञप्त्यसंस्कृतैः॥"—अभि० को० १ : १५, पृ० २५; अभि० समु०, पृ० ५।

वेदना एवं संज्ञा का पृथक् स्कन्धत्व – चेतना को प्रधान करके जब सभी चैतसिक 'संस्कारस्कन्ध' कहे जाते हैं तो वेदना एवं संज्ञा चैतसिक भी क्यों संस्कार-स्कन्ध नहीं कहे जातें ?

समाधान – जो संसारिक धर्मों के आस्वादक धर्म है और जो उस आस्वाद को करानेवाले उपसेचन धर्म हैं – इन दोनों का पृथक् पृथक् निर्देश करने के लिये वेदनास्कन्ध एवं संज्ञास्कन्ध का संस्कारस्कन्ध में सङ्ग्रह न करके पृथक् वर्णन किया गया है।

भगवान् बुद्ध की स्कन्ध, आयतन, धातु, सत्य, एवं प्रतीत्यसमुत्पाद – आदि की देशना संसार की अनित्यता, अनात्मता, दुःखता एवं अशुभता समझा कर दुःखमय संसार से वैराग्य उत्पन्न कराने के लिये है। वेदनाचैतसिक इस दुःखभूमि में नाना प्रकार के आलम्बनों का विविधरूप से अनुभव करता है। अतः यह सांसारिक धर्मों में आसक्त रखने के लिये तृष्णा का कारणीभूत धर्म होता है। इसीलिये 'वेदनापच्चया तण्हा' कहा गया है। यदि लौकिक धर्मों का आस्वाद चाहनेवाली तृष्णा न होगी तो कोई भी व्यक्ति संसार में रमण नहीं करेगा, तथा अनुभव करनेवाली वेदना नहीं होगी तो उस तृष्णा में आस्वाद-शक्ति भी नहीं रहेगी। अतः वेदना आस्वाद करनेवाला धर्म है। जैसे लोक में भोजन का आस्वाद लेने के लिये विविध व्यञ्जन अपेक्षित होते हैं, उसी प्रकार वेदना द्वारा आलम्बनों का आस्वाद लेने के लिये व्यञ्जनस्थानीय संज्ञा अपेक्षित होती है। ये वेदना एवं संज्ञा संसारदुःख के मूल हैं। इनमें अनित्य, अनात्म, दुःख एवं अशुभ की भावना उत्पन्न कर इनसे वैराग्य कराने के लिये ही इनका पृथक् स्कन्ध-रूप में उपदेश किया गया है। यथा –

"कस्मा पन वेदना सञ्ञा विसुं कता ति ? वट्टधम्मेसु अस्सादतदुपकरणभावतो। तेभूमकधम्मेसु हि अस्सादवसप्पवत्ता वेदना। असुभे सुभादिसञ्ञा विपल्लासवसेन च तस्सा तदाकारपवत्तीति तदुपकरणभूता सञ्ञा, तस्मा संसारस्स पधानहेतुताय एता विनिब्भुजित्वा देसिता ति[1]।"

"वट्टधम्मेसु अस्सादं तदस्सादुपसेचनं।
विनिभुज्ज निदस्सेतुं खन्धद्वयमुदाहटं[2]।।"

पञ्चस्कन्धों का क्रम – पञ्चस्कन्धों में रूपस्कन्ध भोजन रखने के पात्र की तरह है, अतः भाजनस्थानीय होने के कारण इसे सर्वप्रथम कहा गया है। वेदनास्कन्ध भोजन की तरह तथा संज्ञास्कन्ध व्यञ्जन की तरह है। इसलिए रूपस्कन्ध के अनन्तर वेदना और संज्ञास्कन्ध रखा गया है। संस्कारस्कन्ध भोजन पकानेवाले भोजक (=पाचक) की तरह है। इसलिए भाजन, भोजन एवं व्यञ्जन स्थानीय रूप, वेदना एवं संज्ञा स्कन्धों के अनन्तर भोजकस्थानीय संस्कारस्कन्ध रखा गया है। विज्ञानस्कन्ध

---

१. विभा०, पृ० १७५-१७६।

२. नाम० परि०, पृ० ४२।

तु० "विवादमूलसंसारहेतुत्वात् क्रमकारणात्।
चैतेभ्यो वेदनासंज्ञे पृथक् स्कन्धौ निवेशितौ।।" – अभि० को०, पृ० ३५।

उपादानक्खन्धा

४०. पञ्चुपादानक्खन्धा – रूपुपादानक्खन्धो, वेदनुपादानक्खन्धो, सञ्ञुपादानक्खन्धो, सङ्खारुपादानक्खन्धो, विञ्ञाणुपादानक्खन्धो ।

उपादानस्कन्ध पाँच हैं; यथा – रूप-उपादानस्कन्ध, वेदना-उपादानस्कन्ध, संज्ञा-उपादानस्कन्ध, संस्कार-उपादानस्कन्ध एवं विज्ञान-उपादानस्कन्ध ।

भोक्ता के सदृश है । अतः विज्ञानस्कन्ध सब से अन्त में रखा गया है[1] । 'खन्ध-विभङ्ग-अट्ठकथा' में एक दूसरी उपमा भी दी गयी है उसे वहीं देखना चाहिये[2] । 'नामरूपपरिच्छेद' में भी कहा गया है –

"भाजनं भोजनं तस्स ब्यञ्जनं भोजको तथा ।
भुञ्जिता चा ति पञ्चेते उपमेन्ति यथाक्कमं[3] ।।"

स्कन्धों का स्वरूप – २८ रूप रूपस्कन्ध, वेदनाचैतसिक वेदनास्कन्ध, संज्ञाचैतसिक संज्ञास्कन्ध, वेदना एवं संज्ञा वर्जित ५० चैतसिक संस्कारस्कन्ध तथा सम्पूर्ण चित्त विज्ञान-स्कन्ध हैं । निर्वाण स्कन्धविनिर्मुक्त धर्म है ।

उपादानस्कन्ध

४०. उपादानक्खन्धा – 'उपादानानं आरम्मणभूता खन्धा, उपादानक्खन्धा' – उपादान-धर्मों के आलम्बनभूत स्कन्ध 'उपादानस्कन्ध' कहलाते हैं । लोभ एवं दृष्टि ही परमार्थ रूप से उपादानधर्म हैं । ये लोभ एवं दृष्टि अकुशल धर्म होने से लौकिक चित्त, चैतसिक एवं रूपस्कन्धों का ही आलम्बन करती हैं; ये लोकोत्तर स्कन्धों का आलम्बन नहीं कर सकतीं । अतः उपादान के आलम्बनभूत स्कन्ध से लौकिक चित्त, उन चित्तों से सम्प्रयुक्त चैतसिक तथा रूपधर्मों का ही ग्रहण करना चाहिये[4] ।

---

१. विभा०, पृ० १७३ ।
२. विभ० अ०, पृ० ३२-३३; विसु०, पृ० ३३४ । तु० – अभि० समु०, पृ० १४ ।
३. नाम० परि०, पृ० ४२ ।
तु० – "यथौदारिकसंक्लेशभाजनाद्यर्थधातुतः ।" – अभि० को०, पृ० ३५ ।
४. "उपादानानं गोचरा खन्धा उपादानक्खन्धा । ते पन उपादानविसयभावेन गहिता रूपादयो पञ्चेवा ति वुत्तं – 'रूपुपादानक्खन्धो' त्यादि ।" – विभा०, पृ० १७३ ।
"चतुन्नं उपादानानं विसयभूता खन्धा उपादानक्खन्धा ।" – प० दी०, पृ० ३१४ ।
"'उपादानक्खन्धा' ति एत्थ च उपादानगोचरा खन्धा उपादानक्खन्धा ति एवमत्थो दट्ठब्बो ।" – विभ० अ०, पृ० ३१-३२; विसु०, पृ० ३३४; सं० नि०, द्वि० भा०, पृ० २७१ ।
तु० – "ये सास्रवा उपादानस्कन्धास्ते सरणा अपि ।
दुःखं समुदयो लोको दृष्टिस्थानं भवश्च ते ।।" – अभि० को०, पृ० १३ ।
"कस्मात् स्कन्धा उपादानमित्युच्यन्ते ? – उपादानेन सहितत्वात् स्कन्धा उपादानमित्युच्यन्ते ।" – अभि० समु०, पृ० २ ।

आयतनानि

४१. द्वादसायतनानि – चक्खायतनं, सोतायतनं, घानायतनं, जिव्हायतनं, कायायतनं, मनायतनं, रूपायतनं, सद्दायतनं, गन्धायतनं, रसायतनं, फोट्ठब्बायतनं, धम्मायतनं ।

आयतन १२ हैं; यथा – चक्षुरायतन, श्रोत्रायतन, घ्राणायतन, जिह्वायतन, कायायतन, मन-आयतन, रूपायतन, शब्दायतन, गन्धायतन, रसायतन, स्प्रष्टव्यायतन, तथा धर्मायतन ।

स्कन्ध एवं उपादानस्कन्ध में भेद – सामान्यतया लौकिक एवं लोकोत्तर सम्पूर्ण स्कन्धों का 'स्कन्ध' शब्द से ग्रहण होता है तथा लौकिक स्कन्धों का 'उपादानस्कन्ध' शब्द से व्यवहार किया गया है[1] । चाहे लौकिक हों चाहे लोकोत्तर, जिनका राशिकरण किया जा सकता है उनका सङ्ग्रह दिखलाने के लिये भगवान् बुद्ध ने सर्वप्रथम स्कन्धदेशना की है । विपश्यनाकम्मट्ठान-भावना करते समय लोकोत्तर स्कन्धों को आलम्बन बनाकर भावना नहीं की जा सकती । लौकिक दुःख-धर्मों को आलम्बन बनाकर भावना करने पर ही अनित्य, अनात्म एवं दुःख स्वभाव का सम्यक् परिज्ञान हो सकता है । यद्यपि लोकोत्तर चित्त-चैतसिक धर्म भी अनित्यात्मक, अनात्मक, दुःखात्मक संस्कृत धर्म ही हैं तथापि मार्गधर्म, संसार से निःसरण के कारण तथा फलधर्म दृष्टधर्मनिर्वाण-सुखविहार के कारण होने से उनकी अनित्य-अनात्म-दुःखरूप से विपश्यना करने पर भी निर्वेद-ज्ञान द्वारा उनसे विरक्ति नहीं हो पाती । फलतः विपश्यना भावना करते समय लौकिक स्कन्धों की ही विपश्यना आवश्यक होती है । अतः विपश्यना-भावना करने के लिये ही स्कन्धदेशना के अनन्तर उपादानस्कन्ध की देशना की गयी है[2] ।

आयतन

४१. आयतनानि – 'आयतन' शब्द असाधारण कारण अर्थ में अनिष्पन्न प्रातिपदिक है । चक्षुःप्रसाद एवं रूपालम्बन न होंगे तो चक्षुर्द्वारिकवीथि का उत्पाद नहीं हो सकता । अतः चक्षुःप्रसाद एवं रूपालम्बन चक्षुर्द्वारिक वीथिचित्तों की उत्पत्ति के कारण होने से ये 'चक्खायतन' (चक्षुरायतन) एवं 'रूपायतन' कहे गये हैं । इसी प्रकार श्रोत्र-

---

१. स्कन्ध एवं उपादानस्कन्ध पर द्र० – विसु०, पृ० ३३४; विभ० अ०, पृ० ३१-३२ ।
तु० – "सास्रवानास्रवाः स्कन्धा ये तूपादानसंज्ञिताः ।
सास्रवा एव ते ज्ञेयास्तत्साचिव्यक्रियादिभिः ।" – अभि० दी०, पृ० ३७ ।

२. "सब्बसभागधम्मपरियादानवसेन सासवा अनासवा च धम्मा पञ्चक्खन्धा ति वुत्ता । विपस्सनाभूमिपरिग्गहवसेन सासवा एव पञ्चुपादानक्खन्धा ति वुत्ता ।" – प० दी०, पृ० ३१४ ।
"सब्बसभागधम्मसङ्गहत्थं हि सासवा अनासवा पि धम्मा अविसेसतो पञ्चक्खन्धा ति देसिता । विपस्सनाभूमिसन्दस्सनत्थं पन सासवा व उपादानक्खन्धा ति ।" – विभा०, पृ० १७३ ।

प्रसाद एवं शब्दालम्बन-आदि, श्रोत्रद्वारिक-आदि वीथिचित्तों के कारण होने से आयतन कहलाते हैं[1]।

आयतनक्रम – चक्षुरायतन से लेकर मन-आयतन तक ६ आयतन 'अज्झत्तिक' (स्वसन्तानगत) आयतन हैं; क्योंकि इनके द्वारा स्कन्ध का उपकार होता है, अतः बाह्य आयतनों के निरूपण से पूर्व उनका निरूपण किया गया है। इन ६ अज्झत्तिक आयतनों में भी चक्षुरायतन जो रूपालम्बन का ग्रहण करता है वह प्रत्यक्ष है, अतः अज्झत्तिक आयतनों के क्रम में उसका सर्वप्रथम स्थान है। चक्षुष् एवं श्रोत्र – दोनों असम्प्राप्त ग्राहक होते हैं, अतः चक्षुष् के पश्चात् श्रोत्रायतन को रखा गया है। इसके अनन्तर सम्प्राप्त-ग्राहक घ्राणादित्रय रखे गये हैं। उनमें भी घ्राण द्वारा आलम्बन का ग्रहण अतिशीघ्र होता है, अतः उसे प्रथम रखा गया है। घ्राण एवं जिह्वा – दोनों प्रदेशवृत्ति होते हैं, अतः घ्राण के अनन्तर जिह्वा को रखा गया है। कायायतन सर्वत्रवृत्ति है, अतः वह जिह्वा के अनन्तर रखा गया है। रूप-आदि पाँचों आलम्बनों का ग्रहण कर सकने के कारण मन-आयतन आध्यात्मिक आयतनों के अन्त में रखा गया है। आध्यात्मिक आयतनों के पश्चात् 'बहिद्धा' (बाह्य) आयतन रखे गये हैं। उनका क्रम आचार्य ने आध्यात्मिक आयतनों के अनुसार ही किया है। यथा – चक्खायतनं, रूपायतनं, सोतायतनं, सद्दायतनं आदि[2]।

---

१. "तत्थ निवासनट्ठेन आकारट्ठेन समोसरणट्ठेन सञ्जातिदेसट्ठेन कारणट्ठेन च आयतनं वेदितब्बं।...इध पन सञ्जातिदेसट्ठेन समोसरणट्ठानट्ठेन कारणट्ठेना ति तिविधा पि वट्टति।" – अट्ठ०, पृ० ११५।

"अविसेसतो पन आयतनतो, आयानं तननतो, आयतस्स च नयनतो आयतनं ति वेदितब्बं।" – विभ० अ०, पृ० ४६। द्र० – विभ० मू० टी०, पृ० ३४-३५; विसु०, पृ० ३३६; विभ०, पृ० ८३।

"आयतं ति अतनो फलुप्पत्तिया उस्सहन्ता विय होन्तीति आयतनानि।" – प० दी०, पृ० ३१४।

"आयतं ति एत्थ तंतंद्वारारम्मणा चित्तचेतसिका तेन तेन किच्चेन घट्टेन्ति वायमन्ति, आयभूते वा ते धम्मे एतानि तनोन्ति वित्थारेन्ति, आयतं वा संसारदुक्खं नयन्ति पवत्तेन्ति, चक्खुविञ्ञाणादीनं कारणभूतानीति वा आयतनानि।" – विभा०, पृ० १७३-१७४।

विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – विभ० अ०, पृ० ४६-४७; प० दी०, पृ० ३१४। तु० – अभि० को० १ : २०, पृ० ३०; अभि० दी०, पृ० ५।

"चित्तचैतसिकायमायमेतानि तन्वन्तीत्यायतनानि। यस्मात्सप्तचित्तधातवश्चत्वारश्चारूपिणः स्कन्धा एभ्यश्चतुष्प्रत्ययात्मकेभ्यः प्रतायन्ते तदुत्पत्तिं वा प्रत्यायन्ते तस्मादायतनानि।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ५।

द्र० – अभि० समु०, पृ० १५।

२. विभा०, पृ० १७४; विभ० अ०, पृ० ४८; विसु०, पृ० ३३७; अभि० समु०, पृ० १५।

धातुयो

४२. अट्ठारस धातुयो – चक्खुधातु, सोतधातु, घानधातु, जिव्हाधातु, कायधातु, रूपधातु, सद्दधातु, गन्धधातु, रसधातु, फोट्ठब्बधातु, चक्खुविञ्ञाणधातु, सोतविञ्ञाणधातु, घानविञ्ञाणधातु, जिव्हाविञ्ञाणधातु, कायविञ्ञाणधातु, मनोधातु, मनोविञ्ञाणधातु*, धम्मधातु* ।

धातु १८ हैं; यथा – चक्षुर्धातु, श्रोत्रधातु, घ्राणधातु, जिह्वाधातु, कायधातु, रूपधातु, शब्दधातु, गन्धधातु, रसधातु, स्प्रष्टव्यधातु, चक्षुर्विज्ञानधातु, श्रोत्रविज्ञान धातु, घ्राणविज्ञानधातु, जिह्वाविज्ञानधातु, कायविज्ञानधातु, मनोधातु, मनोविज्ञान-धातु एवं धर्मधातु ।

आयतनों का स्वरूप – चक्षुःप्रसाद चक्षुरायतन, श्रोत्रप्रसाद श्रोत्रायतन, घ्राण-प्रसाद घ्राणायतन, जिह्वाप्रसाद जिह्वायतन, कायप्रसाद कायायतन, सम्पूर्ण चित्त मन-आयतन, रूपालम्बन रूपायतन, शब्दालम्बन शब्दायतन, गन्धालम्बन गन्धायतन, रसालम्बन रसायतन, स्प्रष्टव्य-आलम्बन स्प्रष्टव्यायतन, तथा ५२ चैतसिक १६ सूक्ष्मरूप एवं निर्वाण धर्मायतन हैं ।

धातु

४२. धातुयो – 'अतनो सभावं दधाती ति धातु' अर्थात् अपने स्वभाव को धारण करनेवाले धर्म 'धातु' कहलाते हैं[1] । तैर्थिकसम्मत कल्पित आत्मा स्वभावभूत नहीं है। यद्यपि उसको कारक एवं वेदक कहा जाता है तथापि वह कारकत्व एवं वेदकत्व स्वभाव

-. धम्मधातु, मनोविञ्ञाणधातु – सी०, स्या०, ना०, म० (ख) ।

१. द्र० – "कस्सचि पन पुग्गलस्स वा सत्तस्स वा मनुस्सस्स वा देवस्स वा ब्रह्मुनो वा वसे अवत्तित्वा अतनो एव सभावं धारेन्ती ति धातुयो" । – प० दी०, पृ० ३१४ ।

"अविसेसेन पन विदहति, धीयते, विधानं, विधीयते एताय, एत्थ वा धीयती ति धातु ।" – विभ० अ०, पृ० ७८; विसु०, पृ० ३३८; विसु० महा०, द्वि० भा, पृ० १७७; अट्ठ०, पृ० ११६; विभ० मू० टी०, पृ० ४२ । विस्तार के लिए द्र० – प० दी०, पृ० ३१४-३१५; विसु०, पृ० ३३८-३३९; विभ० अ०, पृ० ७८-७९ ।

तु० – अभि० को० १ : २०, पृ० ३०; अभि० दी०, पृ० ५ ।

"धात्वर्थस्तु गोत्रार्थः । तदुक्तं भवति – एकस्मिञ्छरीरपर्वते अष्टादशधर्म-गोत्राणि – इति ।...स्वलक्षणधारणाद्वा तद्धातुत्वम् ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ५-६ ।

"धात्वर्थः कतमः ? सर्वधर्मबीजार्थः, स्वलक्षणधारणार्थः, कार्यकारणभाव-धारणार्थः, सर्वप्रकारधर्मसङ्ग्रहधारणार्थश्च ।" – अभि० समु०, पृ० १५ ।

धारण नहीं करता। चक्षुष्-आदि धर्म ही अपने स्वभाव को धारण करते हैं तथा वे सस्वभाव हैं अतः उन्हें 'धातु' कहा जाता है[1]।

धातुक्रम – इस 'अभिधमत्थसङ्गहो' में धातुओं के जिस क्रम का निर्देश किया गया है वह 'धातुविभङ्गपालि' से भिन्न है। वहाँ 'चक्खधातु, रूपधातु, चक्खुविञ्ञाण-धातु' – आदि द्वारा द्वारधातु, आलम्बनधातु, आलम्बनक (आलम्बन करनेवाली) – धातु – यह क्रम किया गया है[2]।

यहाँ नामधातु एवं रूपधातु का पृथक् पृथक् प्रतिपादन आवश्यक एवं अभीष्ट होने के कारण आचार्य ने धातुओं का नाम एवं रूप की दृष्टि से विभाग करके निरूपण किया है, उनमें भी नामधातुओं की अपेक्षा रूपधातुओं की संख्या अधिक होने तथा नाम धातुओं की कारणभूत होने के कारण दस रूपी धातुओं को पहले रखा गया है, उनके अनन्तर नामधातुओं का क्रम है, धर्मधातु नाम एवं रूप-दोनों का मिश्रण है, अतः उसे नाम एवं रूप के निरूपण के पश्चात् सबसे अन्त में रखा है, दस रूपी धातुओं का क्रम आयतन की तरह जानना चाहिये। सात नामधातुओं का क्रम रूपधातुओं के अनुसार अर्थात् द्वारक्रम एवं आलम्बनक्रम के अनुसार रखा गया है। मनोधातु पाँचों द्वारों में होती है अतः पाँच विज्ञानधातुओं के निरूपण के अनन्तर उसको रखा गया है। उन पाँच द्वारों के साथ मनोद्वार की उत्पत्ति भी हो सकती है अतः मनोधातु के अनन्तर मनोविज्ञानधातु रखी गयी है[3]।

स्वरूप – चक्षुर्धातु-आदि १० धातुओं का स्वरूप १० रूपायतनों की तरह ही है। चक्षुर्विज्ञानद्वय चक्षुर्विज्ञानधातु, श्रोत्रविज्ञानद्वय श्रोत्रविज्ञानधातु, घ्राणविज्ञानद्वय घ्राणविज्ञानधातु, जिह्वाविज्ञानद्वय जिह्वाविज्ञानधातु, कायविज्ञानद्वय कायविज्ञानधातु, पञ्च-द्वारावर्जन एवं सम्पटिच्छनद्वय मनोधातु, द्विपञ्चविज्ञान १०, तथा ३ मनोधातु वर्जित शेष ७६ चित्त मनोविज्ञानधातु तथा ५२ चैतसिक, १६ सूक्ष्मरूप एवं निर्वाण धर्मधातु हैं।

---

१. "यथा तित्थियानं अत्ता नाम सभावतो नत्थि, न एवमेता। एता पन अत्तनो सभावं धारेन्तीति धातुयो।...अपि च धातू ति निज्जीवमत्तस्सेवेतं अधि-वचनं।" – विसु०, पृ० ३३९; विभ० अ०, पृ० ७८।

२. विभ०, पृ० १०८; विभ० अ०, पृ० ७९; विसु०, पृ० ३३९।

३. तु० – "कथं धातूनां तथानुक्रमः ? लौकिकवस्तुविकल्पप्रवृत्तितामुपादाय। ...लोके प्रथमं पश्यति, दृष्ट्वा व्यतिसारयति, व्यतिसार्य स्नापितं गन्धं माल्यं च परि-चरति, ततो नानाविधं प्रणीतं भोजनं परिचरति, ततोऽनेकशय्यासनदासी-परिकरान् परिचरति। अपरतो मनोधातोरपि तेषु तेषु विकल्पः। एवञ्च अध्यात्मधातोरनुक्रमेण बहिर्धाधातोर्व्यवस्थानं तदनुक्रमेण विज्ञानधातोर्व्यवस्था-नम्।" – अभि० समु०, पृ० १५।

अरियसच्चानि

४३. चत्तारि अरियसच्चानि – दुक्खं अरियसच्चं, दुक्खसमुदयो* अरियसच्चं, दुक्खनिरोधो* अरियसच्चं, दुक्खनिरोधगामिनी† पटिपदा† अरियसच्चं ।

आर्यसत्य चार हैं – दुःख आर्यसत्य, दुःखसमुदय आर्यसत्य, दुःखनिरोध आर्यसत्य एवं दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा आर्यसत्य ।

आर्यसत्य

४३. अरियसच्चानि – 'अरियानं सच्चानि अरियसच्चानि' बुद्ध-आदि आर्यों के सत्य आर्यसत्य हैं। इन चार आर्यसत्यों का सम्यग् बोध आर्यों को ही हो सकता है, अतः इन्हें 'आर्यसत्य' कहते हैं। अथवा – 'अरियानि (तथानि) सच्चानि अरियसच्चानि' – आर्य अर्थात् वस्तुभूत सत्यों को 'आर्यसत्य' कहते हैं[1]।

प्रथम आर्यसत्य 'दुःख' है। संसार में विद्यमान समस्त पदार्थ दुःखमय हैं, दुःखस्वरूप हैं। वे केवल दुःखजनक होने के कारण ही दुःख नहीं हैं; अपितु स्वभाव से ही दुःखरूप हैं। जिस प्रकार दुःख 'सत्य' कहा जाता है उसी प्रकार वह स्वभाव से दुःख है, दुःख देनेवाला है। जिस तरह समुदय 'सत्य' कहा जाता है उसी तरह वस्तुतः वह दुःख का कारण है। जैसे दुःखनिरोध 'सत्य' है – ऐसा कहा जाता है ठीक उसी तरह वह निर्विवादरूप से 'सत्य' है। और जिस प्रकार दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा 'सत्य' कही जाती है, स्वभाव से वह निर्वाण को प्राप्त कराने का मार्ग है। जिस प्रकार इन्हें 'सत्य' कहा गया है, एकान्तेन वैसा ही होने के कारण इन्हें 'आर्यसत्य' कहते हैं[2]।

---

*. *. ० समुदयं० निरोधं – ना०। † - †. निरोधो गामिनी० – रो०; ०गामिनि० – म० (क, ख)।

१. "यस्मा पनेतानि बुद्धादयो अरिया पटिविज्झन्ति, तस्मा अरियसच्चानीति वुच्चन्ति। ...अपि च अरियस्स सच्चानीति पि अरियसच्चानि ।...अथवा एतेसं अभिसम्बुद्धत्ता अरियभावसिद्धितो पि अरियसच्चानि।...अपि च खो पन अरियानि सच्चानीति पि अरियसच्चानि। अरियानीति तथानि अवितथानि अविसंवादकानीति अत्थो।" – विसु०, पृ० ३४६; सं० नि०, चतु० भा०, पृ० ३६४-३६६, ३७१, ३७३; विभ० अ०, पृ० ८५-८६। द्र० – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १९०; विभ० मू० टी०, पृ० ५०।

"'अरियसच्चानी' ति एत्थ सन्तस्स धम्मस्स भावो, सच्चं। सन्तस्सा ति भूतस्स तथस्स अविपरीतस्स। अपि च केनट्ठेन सच्चं ति तथट्ठेन? अवितथट्ठेन अनञ्ञथट्ठेन।" – प० दी०, पृ० ३१५-३१६।

द्र० – "अरियकरत्ता अरियानि तच्छभावतो सच्चानीति अरियसच्चानि।... अरियानं वा सच्चानि, तेहि पटिविज्झितब्बत्ता। अरियस्स वा सम्मासम्बुद्धस्स सच्चानि, तेन देसितत्ता ति अरियसच्चानि।" – विभा०, पृ० १७५; तु० – अभि० को० ६:२, पृ० १५९; अभि० समु०, पृ० ३६।

२. द्र० – दी० नि०, द्वि० भा०, पृ० २२७-२३४।

लोक में पूर्व पुरुषों द्वारा जो संज्ञा की गयी है वह संवृतिसत्य है, जैसे – जिस द्रव्यसमूह में 'पुरुष' संज्ञा की गयी है उस द्रव्यसमूह को 'पुरुष' कहना तथा जिस द्रव्यसमूह में 'स्त्री' संज्ञा की गयी है उस द्रव्यसमूह को 'स्त्री' कहना – यह संवृतिसत्य है; क्योंकि लोक में वह सत्य ही है। सम्पूर्ण लोकव्यवहार उसी के आधार पर चलता है, अतः वह लोकसंवृतिसत्य है; किन्तु गम्भीरता से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि 'पुरुष' नामक कोई द्रव्यसत् पदार्थ नहीं है, अपितु वह केवल नामरूप के समूह में प्रज्ञप्तिमात्र ही है। अतः लोक में स्वीकृत संवृतिसत्य आर्यसत्य नहीं कहे जा सकते। दुःखसत्य-आदि वैसे नहीं हैं; क्योंकि उनपर जैसे-जैसे गम्भीर रूप से विचार किया जाता है उनकी सत्यता वैसे ही वैसे और भी परिस्फुट होती जाती है। इसीलिए उन्हें आर्यसत्य कहा जाता है। सत्यों में जो 'आर्य' विशेषण दिया गया है, वह संवृतिसत्य से भेद दिखाने के लिए है[1]।

"दुवे सच्चानि अक्खासि सम्बुद्धो वदतं वरो।
सम्मुतिं परमत्थं च ततियं नुपलब्भति॥
सङ्केतवचनं सच्चं लोकसम्मुतिकारणं।
परमत्थवचनं सच्चं धम्मानं तथलक्खणं ति[2]॥"

लौकिक-लोकोत्तर एवं कारण-कार्य सत्य – चार आर्यसत्यों में दुःख एवं समुदय – ये दो सत्य लौकिक धर्म हैं तथा लौकिक सत्य है। निरोध एवं मार्ग – ये दो सत्य लोकोत्तर धर्म हैं तथा लोकोत्तर सत्य हैं। संसार में उत्पन्न होनेवाले नाम एवं रूप केवल दुःख-धर्म हैं, इसलिये दुःखसत्य संसार में उत्पन्न प्रवृत्तिसत्य है तथा वह अकुशल कार्य-सत्य भी है। समुदयसत्य सभी सांसारिक दुःखों की उत्पत्ति का कारण होने से अकुशल प्रवृत्तिहेतुसत्य है तथा वह कारणसत्य भी है। निरोधसत्य सांसारिक दुःखों से निवृत्तिरूप सत्य है तथा वह कुशल कार्यसत्य भी है। मार्गसत्य दुःखनिवृत्ति प्राप्त करानेवाला निवृत्तिहेतुसत्य है। तथा वह कुशल कारणसत्य भी है। इन चार आर्य-सत्यों द्वारा अकुशल कार्य एवं कारण तथा कुशल कार्य एवं कारण – इस तरह सम्पूर्ण कार्य-कारणभूत धर्मों का कथन परिपूर्ण हो जाता है, अतः सभी बुद्धों द्वारा इनका प्रतिपादन किया गया है। इनमें न्यूनाधिक्य कभी नहीं होता[3]।

देशनाक्रम – इस दुःखमय जगत् में पञ्च कामगुणों के प्रति आसक्ति होने के कारण उनमें आकण्ठमग्न सत्त्वों में धर्मसंवेग उत्पन्न करने के लिये भगवान् बुद्ध ने

---

१. "बुद्धानं पन द्वे कथा – सम्मुतिकथा च परमत्थकथा च। तत्थ सत्तो, पुग्गलो, देवो, ब्रह्मा ति आदिका सम्मुतिकथा नाम। अनिच्चं दुक्खं, अनत्ता, खन्धा, धातुयो, आयतनानि, सतिपट्ठाना, सम्मप्पधाना ति आदिका परमत्थ-कथा नाम।" – कथा० अ०, पृ० १३६। विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – प० दी०, पृ० ३१६-३२१; कथा० अ०, पृ० १३६।

२. कथा० अ०, पृ० १३६-१४०।

३. विसु०, पृ० ३४७; विभ० अ०, पृ० ८७।

बुद्धत्वप्राप्ति के अनन्तर सर्वप्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन किया। उसमें उन्होंने "चत्तारिमानि भिक्खवे! अरियसच्चानि...दुक्खं अरियसच्चं[१]. ..." – आदि द्वारा 'यह संसार दुःखमय है, दुःखमात्र है, सर्वतः दुःखपरिप्लावित है' – इस प्रकार सर्वप्रथम दुःखसत्य कहा। 'ये दुःखधर्म अकारणप्रसूत अथवा अहेतुक नहीं हैं; अपितु सांसारिक धर्मों के प्रति आसक्ति उत्पन्न करनेवाली तृष्णा से उद्भूत हैं' – यह दिखलाने के लिये दुःखसत्य के अनन्तर 'दुक्खसमुदयं अरियसच्चं' – इस प्रकार समुदयसत्य कहा। जब दुःख को दुःखरूप में जान लिया जाता है तब उस दुःख से संविग्न सत्त्वों को दुःखनिवृत्तिरूप क्षेमस्थान निर्वाण दिखलाने के लिये 'दुक्खनिरोधं अरियसच्चं' – इस प्रकार निरोधसत्य कहा। तदनन्तर उस क्षेमस्थान निरोधसत्य को प्राप्त करने के लिये अन्त में मार्गसत्य की देशना की है[२]।

क्रमनिर्धारण की पाँच विधियाँ होती हैं, यथा –

"पहानं भूमि उप्पत्ति, पटिपत्ति च देसना।
पञ्चविधो कमो तत्थ पच्छिमो विध युज्जति[३] ॥"

(१) कहीं पर प्रहाण की दृष्टि से क्रम निर्धारित किया जाता है, जैसे "दस्सनेन पहातब्बा धम्मा, भावनाय पहातब्बा धम्मा[४]..." आदि।

(२) कहीं पर भूमि की दृष्टि से, यथा – "कामावचरा भूमि, रूपावचरा भूमि[५]..." आदि।

(३) कहीं पर उत्पत्ति की दृष्टि से, यथा – "पठमं कललं होति, कलला होति अब्बुदं[६]..."-आदि।

(४) कहीं पर प्रतिपत्ति की दृष्टि से, यथा – "सीलविसुद्धि...चित्तविसुद्धि[७]" आदि।

(५) कहीं पर देशना की दृष्टि से, यथा – "चत्तारो सतिपट्ठाना, चत्तारो सम्मप्पधाना[८]..." आदि।

इस प्रकार क्रमनिर्धारण में ये पाँच विधियाँ व्यवहृत की जाती हैं। उनमें से यहाँ स्कन्ध, आयतन, धातु एवं सत्य के निरूपण में पञ्चम देशनाविधि स्वीकृत की गयी है।

स्वरूप – ८१ लौकिकचित्त, लोभवर्जित ५१ चैतसिक, तथा २८ रूप ये 'दुःखसत्य' हैं। लोभ चैतसिक 'समुदयसत्य' है। निर्वाण 'निरोधसत्य' है, तथा चार मार्ग-

१. सं० नि०, चतु० भा०, पृ० ३६४।
२. विसु०, पृ० ३४८; विभ० अ०, पृ० ८८।
३. तु० – विसु०, पृ० ३३३; विभ० अ०, पृ० ३०।
४. ध० स०, पृ० २।
५. पटि० म०, पृ० ९३।
६. सं० नि०, प्र० भा०, पृ० २०७।
७. म० नि०, प्र० भा०, पृ० १९८।
८. दी० नि०, द्वि० भा०, पृ० ९४; पटि० म०, पृ० ९४।

४४. एत्थ पन चेतसिक-सुखुमरूप-निब्बानवसेन एकूनसत्तति धम्मा धम्मायतनधम्मधातू* ति† सङ्खं† गच्छन्ति ।

यहाँ चैतसिकधर्म ५२, सूक्ष्मरूप १६ तथा निर्वाण १=६९ धर्म धर्मायतन एवं धर्मधातु – इस संज्ञा को प्राप्त करते हैं[1] ।

४५. मनायतनमेव सत्तविञ्ञाणधातुवसेन भिज्जति ।

मन-आयतन ही सात विज्ञानधातुओं में विभक्त होता है[2] ।

४६. रूपं च वेदना सञ्ञा सेसचेतसिका‡ तथा ।
विञ्ञाणमिति पञ्चेते पञ्चक्खन्धा ति भासिता ।।

२८ रूप 'रूपस्कन्ध', वेदना चैतसिक 'वेदनास्कन्ध' एवं संज्ञा चैतसिक 'संज्ञास्कन्ध' है । शेष ५० चैतसिक 'संस्कारस्कन्ध' तथा सम्पूर्णचित्त 'विज्ञानस्कन्ध' हैं – इस प्रकार ये पाँच स्कन्ध कहे गये हैं ।

४७. पञ्चुपादानक्खन्धा ति तथा तेभूमका मता ।
भेदाभावेन निब्बानं खन्धसङ्गहनिस्सटं ।।

तीनों भूमियों में होनेवाले रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान – ये ५ उपादानस्कन्ध माने गये हैं । अतीत-अनागत-आदि भेदों का अभाव होने से निर्वाण स्कन्धसङ्ग्रह से निःसृत है ।

चित्तों में होनेवाले सम्यग्दृष्टि, सम्यक्सङ्कल्प-आदि मार्गाङ्ग 'मार्गसत्य' हैं । २१ मार्गचित्तोत्पाद एवं ३६ फलचित्तोत्पाद – ये 'सत्यविमुक्त' हैं ।

४७. काम, रूप एवं अरूप नामक तीन भूमियाँ होती हैं । इन तीनों भूमियों मे होनेवाले धर्मों को 'त्रैभूमिक' कहते हैं । २८ रूप, ५४ कामचित्त एवं उन चित्तों से सम्प्रयुक्त चैतसिकों को 'कामभूमिक' धर्म कहते हैं । रूपावचर चित्त एवं उनसे सम्प्रयुक्त चैतसिकों को 'रूपभूमिक' धर्म कहते हैं । तथा अरूपावचर चित्त-चैतसिकों को 'अरूपभूमिक' धर्म कहते हैं । लोकोत्तर धर्म उपादानधर्मों के आलम्बन न होने

---

*. धम्मायतनं० – स्या०, ना० । †-†. ० च सङ्ख्यं – स्या०; ० च सङ्खं – ना० ।
‡. सेसा चेतसिका – स्या०, ना० ।
१. तु० – "चतुर्भ्योऽन्ये तु संस्कारस्कन्ध एते पुनस्त्रयः ।
धर्मायतनधात्वाख्याः सहाविज्ञप्त्यसंस्कृतैः ।।"
– अभि० को० १ : १५, पृ० २५; अभि० दी०, पृ० ५ ।
२. तु० – "विज्ञानं प्रतिविज्ञप्तिर्मन आयतनं च यत् ।
धातवः सप्त च मताः षड् विज्ञानान्यथो मनः ।।"
– अभि० को० १ : १६, पृ० २७; अभि० दी०, पृ० ५ ।

४८. द्वारालम्बनभेदेन* भवन्तायतनानि च।
द्वारालम्ब-तदुप्पन्नपरियायेन† धातुयो॥

६ द्वार तथा ६ आलम्बन के भेद से आयतन १२ होते हैं। द्वार, आलम्बन तथा तदुत्पन्न विज्ञान के वश से १८ धातु कही गयी हैं।

के कारण यहाँ (त्रैभूमिक धर्मों में) संगृहीत नहीं किये जाते। उपर्युक्त आशय के अनुसार पाँच उपादानस्कन्धों का परमार्थ स्वरूप इस प्रकार है—

२८ रूप 'रूप-उपादानस्कन्ध' है (यह रूपस्कन्ध की तरह ही है)। लौकिक-चित्तों से सम्प्रयुक्त वेदना, संज्ञा एवं शेष चैतसिक क्रमशः वेदना-उपादानस्कन्ध, संज्ञा-उपादानस्कन्ध एवं संस्कार-उपादानस्कन्ध हैं। ८१ लौकिक चित्त 'विज्ञान-उपादान-स्कन्ध' है।

भेदाभावेन...निस्सटं—निर्वाण अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न-आदि भेद से शून्य होने के कारण स्कन्धों में सङ्गृहीत नहीं किया जाता[1]। कोई धर्म यदि अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न भेद से भिन्न हो सकता है तो उन तीनों को सङ्गृहीत करके (उनका) स्कन्ध (राशि) किया जा सकता है। यदि कोई धर्म अज्झत्त-बहिद्धा भेद से भिन्न हो सकता है तो उन दोनों का सङ्ग्रह करके, यदि ओळारिक-सुखुम भेद से भिन्न हो सकता है तो उन दोनों का सङ्ग्रह करके, यदि हीन-पणीत भेद से भिन्न हो सकता है तो उनका सङ्ग्रह करके, यदि दूरे एवं सन्तिके भेद से भिन्न हो सकता है तो उन दोनों का सङ्ग्रह करके स्कन्ध किया जा सकता है। निर्वाण तीनों काल से विमुक्त है। उसके अध्यात्म एवं बाह्य—ये दो भेद नहीं किये जा सकते, वह केवल बाह्य है। उसके ओळारिक एवं सुखुम भेद भी नहीं हो सकते, वह केवल सुखुम (सूक्ष्म) है। दूरे एवं सन्तिके—ये दो भेद नहीं हो सकते, वह केवल 'दूरे' होता है। इस प्रकार सम्बद्ध स्थानों में दो-दो न होकर, वह केवल एक ही होता है। अतः निर्वाण को भेद से रहित कहा गया है। (बहिद्धा, सूक्ष्म, प्रणीत एवं दूर—इन ४ का परस्पर भेद नहीं होता। बहिद्धा निर्वाण को ही सूक्ष्म, प्रणीत एवं दूर भी कहते हैं।)

४८. यह गाथा १२ आयतन एवं १८ धातुओं के भेद के कारणों को दिखलानेवाली गाथा है।

'अत्तनो सभावं धारेतीति धम्मो' इस विग्रह के अनुसार अपने स्वभाव को धारण करनेवाले सभी[2] परमार्थ-धर्मों का एक धर्मायतन में ही सङ्ग्रह करना न्याय-

---

*. द्वारारम्मण०—म० (ख); द्वारालम्बण०—रो०। †. द्वारालम्बन०—स्या०, म० (क)

१. तु०—"स्कन्धेष्वसंस्कृतं नोक्तमर्थायोगात् क्रमः पुनः।"

—अभि० को० १ : २२, पृ० ३५।

"नाध्वस्वपतनादिभ्यो नित्यानां स्कन्धसंग्रहः॥"—अभि० दी०, पृ० १०।

"तस्मादुपादानस्कन्धाः सत्यद्वयसंगृहीताः। निरोधसत्यं तु स्कन्धलक्षणानुपपत्तेः स्कन्धलक्षणव्यतिरिक्तमिति द्रष्टव्यम्।"—वि० प्र० वृ०, पृ० ३७; अभि० समु०, पृ० ६२-६३।

२. तु०—विभ० अ०, पृ० ४६।

सङ्गत है, किन्तु द्वार एवं आलम्बन के भेद से १२ आयतन कहे गये हैं; क्योंकि आयतन-देशना द्वार तथा आलम्बनों का विभाजन करनेवाली देशना है। चूँकि ६ द्वार एवं ६ आलम्बन होते हैं अतः परमार्थधर्मों का एक ही धर्मायतन में सङ्ग्रह न करके उन्हें १२ आयतनों में सङ्गृहीत किया गया है[1]।

मन-आयतन, मनोद्वार – ६ द्वारों में चक्षुरायतन-आदि को चक्षुर्द्वार-आदि कहना तो स्वभावानुकूल है किन्तु मन-आयतन को मनोद्वार कहना उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि मन-आयतन सम्पूर्ण चित्तों का नाम है और मनोद्वार 'मनोद्वारं पन भवङ्गं ति पवुच्चति'[2] के अनुसार केवल भवङ्ग चित्त का नाम है। ऐसी परिस्थिति में मन-आयतन को मनोद्वार कहने में विरोध उपस्थित होता है कि नहीं ?

समाधान – "अयं नाम मनो मनोद्वारं न होतीति न वत्तब्बो"[3] – के अनुसार पूर्व-पूर्व मन (चित्त) पश्चिम-पश्चिम मन का अनन्तर शक्ति से उपकार करते हैं, अतः सभी पूर्व-पूर्व मन पश्चिम-पश्चिम मन के उत्पत्तिद्वार कहे जा सकते हैं। यह द्वारसङ्ग्रह में कथित 'भवङ्ग ही मनोद्वार है' – इस प्रकार भवङ्ग को ही मनोद्वार कहनेवाला नय नहीं है। यथा –

"तथाहनन्तरातीतो जायमानस्स पच्छतो।
मनो सब्बो पि सब्बस्स मन आयतनं भवे[4]॥"

यहाँ मनोद्वार शब्द का 'भवङ्ग ही मनोद्वार है' यह अर्थ गृहीत नहीं किया सकता; अपितु चूँकि पूर्व-पूर्व मन, पश्चिम-पश्चिम मन के द्वार होते हैं, अतः सम्पूर्ण चित्त ही सम्पूर्ण चित्तों के मन-आयतन हैं – ऐसा ग्रहण करना चाहिये।

अट्ठकथावाद – 'आयतनविभङ्गट्ठकथा' में मन-आयतन के एकदेश भवङ्गचित्त का मन-आयतन के रूप में ग्रहण करके उसे 'मनोद्वार' कहा गया है, यथा – 'छट्ठस्स पन भवङ्ग-मनसङ्खातो मनायतनेकदेसो व उप्पत्तिद्वारं'[5]।

धर्मायतन – रूपायतन-आदि को रूपालम्बन-आदि कहना स्वभावानुकूल है। किन्तु धर्मायतन को धर्मालम्बन कहना आलम्बन-सङ्ग्रह में कथित धर्मालम्बन के सदृश नहीं है; क्योंकि आलम्बनसङ्ग्रह में 'धर्मालम्बन-शब्द द्वारा प्रज्ञप्ति, प्रसादरूप एवं चित्त का ग्रहण किया गया है। किन्तु यहाँ इस धर्मायतन नामक धर्मालम्बन में परमार्थ न होने वाले प्रज्ञप्ति धर्मों का ग्रहण नहीं किया जा सकता। प्रसादरूप एवं चित्त भी 'चक्खायतन'-आदि नामविशेष को प्राप्त हो चुके हैं, अतः उनका भी धर्मायतन में सङ्ग्रह नहीं हो सकता। अतः यहाँ 'धर्मायतन' शब्द से यथासम्भव पर्याय से ही ग्रहण किया जायेगा।

---

१. "इध पन अञ्ञं विञ्ञाणकायानं द्वारभावेन आरम्मणभावेन च ववत्थानतो अयमेव तेसं भेदो होतीति द्वादस वुत्तानि।" – विभ० अ०, पृ० ४८।
२. द्र० – अभि० स० ३ : ३५, पृ० २४०।
३. अट्ठ०, पृ० ७२।
४. नाम० परि०, पृ० ४३।
५. विभ० अ०, पृ० ४८।

द्वारालम्बतदुप्पन्न...धातुयो – ६ आलम्बनों का आलम्बन करके ६ द्वारों में उत्पन्न ६ विज्ञानधातुओं को 'द्वारालम्बतदुप्पन्न' कहा गया है। इस प्रकार ६ द्वार, ६ आलम्बन एवं ६ विज्ञान के भेद से धातु १८ होती हैं। द्वार, आलम्बन एवं विज्ञान धातुओं का सम्बन्ध इस प्रकार है –

द्वार	आलम्बन	विज्ञान
चक्षुर्द्वार	रूपालम्बन	चक्षुर्विज्ञान
श्रोत्रद्वार	शब्दालम्बन	श्रोत्रविज्ञान
घ्राणद्वार	गन्धालम्बन	घ्राणविज्ञान
जिह्वाद्वार	रसालम्बन	जिह्वाविज्ञान
कायद्वार	स्प्रष्टव्यालम्बन	कायविज्ञान
मनोद्वार	धर्मालम्बन	मनोविज्ञान

पञ्चद्वारावर्जन एवं सम्पटिच्छनद्वय को 'मनोधातु' कहते हैं। इनमें से जब पञ्चद्वारावर्जन में पहुँचकर भवङ्ग नामक मनोविज्ञानसन्तति नष्ट हो जाती है तब वह मनोविज्ञान पञ्चद्वारावर्जन में प्रविष्ट की तरह प्रतिभासित होता है, इसीलिये पञ्चद्वारावर्जन मनोविज्ञान का प्रवेशद्वार होता है। सम्पटिच्छन के अनन्तर पुनः सन्तीरणनामक मनोविज्ञान उत्पन्न होता है, इसीलिये सम्पटिच्छनद्वय मनोविज्ञान के निर्गमद्वार की तरह होते हैं। इस प्रकार पर्याय से तीन मनोधातुओं को मनोविज्ञान का द्वार कहा जाता है –

"अन्तादिका मनोधातु मनोविञ्ञाणधातुया।
पवेसापगमे द्वारपरियायेन तिट्ठति"[1]॥

यहाँ मनोधातु को मनोद्वार तथा धर्मधातु को धर्मालम्बन कहना मुख्य नहीं है; अपितु पर्यायरूप से ही है। ये दोनों धातु ६ द्वार तथा ६ आलम्बन की पूर्ति के लिये पर्याय से कही गयी हैं।

मनोविज्ञान भी केवल धर्मालम्बन का ही आलम्बन नहीं करता; अपितु सभी ६ आलम्बनों का आलम्बन करता है। फिर भी अपने आलम्बन से अपने विज्ञान का भेद करने के लिये उसका पर्याय से कथन किया गया है।

'विभावनी' में 'परियायेन' शब्द की 'कमेन' इस प्रकार व्याख्या करके ६ द्वार, ६ आलम्बन एवं ६ विज्ञानों को क्रमशः रखने को ही 'परियाय' कहा है[2]। किन्तु यहाँ ६ द्वार, ६ आलम्बन एवं ६ विज्ञानों को क्रमशः नहीं रखा गया है; अपितु 'मनोधातु' नामक मनोद्वार को विज्ञानों के बीच में रखा गया है। 'नामरूपपरिच्छेद' में 'द्वारपरियायेन' इस पद द्वारा मुख्यरूप से नहीं; अपितु पर्याय से ग्रहण करना – दिखलाया गया है, अतः विभावनीकार का मत समीचीन प्रतीत नहीं होता।

१. नाम० परि०, पृ० ४३।
२. विभा०, पृ० १७६।

४६. दुक्खं तेभूमकं वट्टं तण्हा समुदयो भवे।
निरोधो नाम निब्बानं मग्गो लोकुत्तरो* मतो ॥

त्रैभूमिक संसारचक्र दुःखसत्य है, तृष्णा समुदयसत्य है, निर्वाण निरोध-सत्य है तथा लोकोत्तर मार्गाङ्ग मार्गसत्य हैं।

---

४६. दुक्खं तेभूमकं वट्टं – 'वट्टति परिवत्ततीति वट्टं' निरन्तर पुनः पुनः उत्पन्न होनेवाले धर्मों को 'वट्ट' कहते हैं। (पुनः पुनः उत्पाद को ही परिवर्तन कहते हैं।) अर्थात् निरन्तर परिवर्तित होनेवाले नामरूपस्कन्ध ही वट्टधर्म कहलाते हैं। इनमें से कामचित्त, चैतसिक एवं रूपधर्मों को 'कामभूमिकवट्ट', रूपचित्त चैतसिकों को 'रूपभूमिकवट्ट' तथा अरूपचित्त एवं चैतसिकों को 'अरूपभूमिकवट्ट' कहते हैं। तृष्णावर्जित त्रैभूमिक-वट्टधर्म 'दुःखसत्य' हैं[1]।

दुःख तीन प्रकार का है, यथा – दुःखदुःख, संस्कारदुःख, एवं विपरिणामदुःख[2]। इनमें से कायिकदुःख एवं चैतसिकदुःख नामक दुःखसहगतकायविज्ञान और द्वेषमूलद्वय में सम्प्रयुक्त तीन दुःखावेदनायें उत्पत्तिकाल में ही एकान्तरूपेण दुःख होने से 'दुःखदुःख' है। संसार में जो सुख की सामग्री दिखलायी पड़ती हैं वे संस्कारदुःख के बिना प्राप्त नहीं हो सकतीं; क्योंकि उनकी प्राप्ति के लिये नाना प्रकार के कष्टसाध्य प्रयत्न करने होते हैं, अतः ये प्रयत्न, पर्येषणा एवं उत्साह-आदि 'संस्कारदुःख' हैं। मानवीय सुख, दैविक सुख एवं ब्राह्मभौमिक सुख की प्राप्ति के लिये अत्यधिक परिमाण में कष्टपूर्वक दान, शील, भावना-आदि प्रयत्न करने पड़ते हैं। अतः ये दान, शील, प्रयत्न-आदि भी 'संस्कार-दुःख' हैं।

संस्कारदुःख द्वारा सुख उपलब्ध होने पर यद्यपि भोगकर्ता को अत्यधिक आनन्द अनुभव होता है तथापि वह सुख आपातरमणीय ही है; क्योंकि भोक्ता उन सुखों की क्षण-भङ्गुरता से अपरिचित होता है। अनित्य होने के कारण जब उन वित्त-आदि ऐश्वर्यों का नाश होता है तब इन की प्राप्ति के समय जितना सुख हुआ था उससे कहीं अधिक दुःख अनुभव होता है। इसी प्रकार देव एवं ब्रह्मभूमियों का सुख भी जब विनष्ट होता है तो अत्यधिक दुःख होता है। इसे ही 'विपरिणाम दुःख' कहते हैं।

अतएव त्रैभूमिक नाम-रूप स्कन्ध को 'दुःखसत्य' कहा गया है।

तृष्णा, मार्ग एवं निरोध को दुःख नहीं कहा जा सकता – संस्कारदुःख एवं विपरिणामदुःख से अविनाभूत होने के कारण जब सभी सुख 'दुःख' कहे जाते हैं तो तृष्णा एवं मार्गधर्मों के भी इन दो प्रकार के दुःखों से अविनाभूत होने से तथा निर्वाण के भी स्वप्राप्ति के लिये किये गये प्रयत्न-आदि संस्कारदुःखों से अविनाभूत होने के कारण उन्हें (तृष्णा, मार्ग एवं निरोध को) भी दुःखसत्य कहा जा सकता है कि नहीं?

---

*. लोकुत्तनो – रो०।

१. तु० – "सङ्खित्तेन पञ्चुपादानक्खन्धा दुक्खा।" – सं० नि०, चतु० भा०, पृ० ३६१। "दुक्खसच्चम्हि ठपेत्वा तण्हञ्चेव अनासवधम्मे च सेसा सब्बधम्मा अन्तोगधा।" – विभ० अ०, पृ० ८६।

२. विसु०, पृ० ३४६; विभ० अ०, पृ० ९५।

समाधान – यद्यपि तृष्णा का संस्कारदु:ख एवं विपरिणामदु:ख से अविनाभाव होता है, तथापि पूर्व-पूर्व भव की तृष्णा पश्चिम-पश्चिम भव में उत्पन्न होनेवाले दु:खों का समुदय (कारण) होती है, अत: वह 'समुदयसत्य' के नाम से एक पृथक् सत्य के रूप में कही गयी है। उसका दु:खसत्य में अन्तर्भाव नहीं किया गया।

मार्गसत्य भी यद्यपि उपर्युक्त दो दु:खों से अविनाभूत है तथापि वह दु:ख से नि:सरणधर्म (निकलने का मार्ग) होने से पृथक् 'मार्गसत्य' के नाम से कहा गया है।

निरोधसत्य का भी यद्यपि प्रारम्भ में (प्राप्ति से पूर्व) संस्कारदु:ख से अविनाभाव होता है, तथापि निर्वाणनामक उपशमसुख में दु:ख का लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है, अत: उसे दु:ख कथमपि नहीं कहा जा सकता[१]।

तण्हा समुदयो भवे – तृष्णा 'समुदयसत्य' है। यह तृष्णा मूलरूप से त्रिविध है, यथा – काम-तृष्णा, भव तृष्णा एवं विभव-तृष्णा[२]। परन्तु इसके कुल १०८ प्रभेद होते हैं, यथा – काम-तृष्णा, भव-तृष्णा एव विभव-तृष्णा – इन तीनों तृष्णाओं में प्रत्येक के ६ आलम्बन होते हैं, अत: इन तीनों को आलम्बनों से गुणित करने पर ये १८ हो जाती हैं। ये १८ भी अतीत, अनागत एवं प्रत्युत्पन्न भेद से भिन्न की जाने पर ५४ हो जाती हैं। ये ५४ तृष्णायें भी आध्यात्मिक (स्वसन्तानगत) तथा बाह्य (परसन्तानगत) भेद से द्विगुणित की जाने पर कुल १०८ प्रकार की हो जाती हैं[३]।

'कामेतीति कामो, कामो च सो तण्हा च कामतण्हा' कामना (इच्छा) करनेवाले धर्म को 'काम' कहते हैं। वह काम तृष्णा ही है, अत: इसे 'कामतृष्णा' कहा जाता है।

'भवतीति भवो' शाश्वत दृष्टि को 'भव' कहते हैं; क्योंकि यह निरन्तर होने की दृष्टि है। रूपालम्बन-आदि आलम्बनों में 'आत्मा' है और वह आत्मा 'नित्य' है इस प्रकार की मिथ्या-दृष्टि को 'शाश्वत-दृष्टि' कहते हैं। इस शाश्वत-दृष्टि के साथ होने-वाली तृष्णा को 'भव-तृष्णा' कहते हैं।

उच्छेददृष्टि को 'विभव' कहते हैं। 'न भवतीति विभवो' अर्थात् न होने की दृष्टि को 'विभव' कहा जाता है। रूपालम्बन-आदि आलम्बनों में जो आत्मा (स्वभाव) है वह निरन्तर (निर्वाणपर्यन्त सन्ततिरूप में प्रवृत्त) न होकर उच्छिन्न हो जाता है, यह 'उच्छेद-दृष्टि' है, इसके साथ होनेवाली तृष्णा को 'विभव-तृष्णा' कहते हैं[४]।

सत्य के १६ अर्थ – चारों सत्यों में से प्रत्येक में अपना स्वभाव से विद्यमान अर्थ तथा अन्य ३ सत्यों की अपेक्षा से विद्यमान अर्थ – इस प्रकार चार अर्थ होते हैं, अत: चारों सत्यों के कुल १६ अर्थ हो जाते हैं। यहाँ पर सङ्क्षेप से उनका वर्णन किया जाता है।

"पीळनट्ठो सङ्खतट्ठो सन्तापट्ठो च भासितो।
विपरिणामट्ठो चा ति दुक्खस्सेवं चतुब्बिधा[५]॥"

---

१. विभा०, पृ० १७६।

२. विसु०, पृ० ३५४; विभ० अ०, पृ० ११२।

३. विसु०, पृ० ४००-४०१; विभ० अ०, पृ० १८२-१८३।

४. विसु०, पृ० ४००; विभ० अ०, पृ० १८२।

५. नाम० परि०, पृ० ४४। तु० – पटि० म०, पृ० ३५१; प० दी०, पृ० ३१८।

अपने अनुशयित सत्त्वों की सन्तान में तीन प्रकार के दुःख उत्पन्न होने से पीडन-स्वभाव, समुदय का नाश न होने के कारण कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार द्वारा अभिसंस्कार करने से संस्कृत-स्वभाव, मार्ग से तुलना करने पर अत्यन्त सन्तपनस्वभाव तथा निर्वाण से दूर होने के कारण जाति एवं जरामरणवश दीर्घकाल तक प्रवृत्त होते रहने से विपरिणाम-स्वभाव – इस प्रकार दुःखसत्य के चार स्वभाव दुःखसत्य के अर्थ कहे गये हैं।

"आयूहना निदाना च संयोगा पळिबोधतो।
दुक्खसमुदयस्सापि चतुधात्था पकासिता[1]॥"

नाना प्रकार के लौकिक आलम्बनों में आसक्त दुःखसमूह का सम्पिण्डन करनेवाला स्वभाव, अनेक प्रकार के दुःखों को उत्पन्न करनेवाला स्वभाव, दुःख से मुक्ति न पाने देने के लिये संयोजन (बन्धन) करनेवाला स्वभाव तथा दुःख से मुक्त होनेवाले मार्ग का विघ्न करनेवाला स्वभाव – इस प्रकार समुदय-सत्य के चार स्वभाव समुदयसत्य के अर्थ कहे गये हैं।

"निस्सारणा विवेका चासङ्खतामततो तथा।
अत्था दुक्खनिरोधस्स चतुधाथ समीरिता[2]॥"

दुःखमय संसार से निःसरणस्वभाव, तृष्णाओं से विविक्त (रहित) स्वभाव, कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार नामक कारणों से असंस्कृत स्वभाव तथा जाति, जरा, मरण से रहित अमृतस्वभाव – इस प्रकार निरोध-सत्य के ये चार स्वभाव निरोधसत्य के अर्थ कहे गये हैं।

"नीयानतो हेतुतो च दस्सनाधिपतेय्यतो।
मग्गस्सापि चतुद्धेवमिति सोळसधा ठिता[3]॥"

संसारदुःख से निःसरणस्वभाव, निर्वाणधातु की प्राप्ति का कारण-स्वभाव, चार आर्यसत्य एवं निर्वाण का दर्शन-स्वभाव तथा चार आर्यसत्यों का दर्शन और क्लेश नामक अग्निपुञ्ज का अशेष शमनरूप कृत्य में अधिपति-स्वभाव – इस प्रकार मार्गसत्य के ये चार स्वभाव मार्गसत्य के अर्थ कहे गये हैं[4]।

स्कन्धादिविवेचना – आचार्य अनुरुद्ध ने खन्धविभङ्ग, आयतन, धातु एवं सच्चविभङ्ग के आधार पर इस 'सब्बसङ्गह' नामक प्रकरण में स्कन्ध, आयतन, धातु एवं सत्य का नाना प्रकार से निरूपण किया है।

---

१. नाम० परि०, पृ० ४४। तु० – पटि० म०, पृ० ३५१; प० दी०, पृ० ३२०।

२. नाम० परि०, पृ० ४४। तु० – पटि० म०, पृ० ३५०-३५१; प० दी०, पृ० ३२०।

३. नाम० परि०, पृ० ४४। तु० – पटि० म०, पृ० ३५२; प० दी०, पृ० ३२०।

४. विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ११०-१११; विभ० मू० टी०, पृ० ५०-५१।

५०. मग्गयुत्ता फला चेव चतुसच्चविनिस्सटा।
इति पञ्चपभेदेन* पवुत्तो सब्बसङ्गहो† ॥

इति अभिधम्मत्थसङ्गहे समुच्चयसङ्गहविभागो नाम
सत्तमो परिच्छेदो।

मार्ग से सम्प्रयुक्त मार्गचित्तोत्पाद २९, फलचित्तोत्पाद ३७ ये धर्म चार सत्यों से विनिर्मुक्त हैं। इस प्रकार यह सर्वसङ्ग्रह पाँच प्रभेदों से प्रवृत्त हुआ है।

इस प्रकार 'अभिधम्मत्थसङ्गह' में 'समुच्चयसङ्ग्रहविभाग' नामक
सप्तम परिच्छेद समाप्त।

भगवान् बुद्ध द्वारा परमार्थ धर्मों का नाना प्रकार की देशनाओं द्वारा पुनः पुनः कहना किस प्रयोजन के लिये है?

समाधान – संसार में नामसम्मूढ (नामसमूळ्ह), रूपसम्मूढ (रूपसमूळ्ह) एवं नामरूपसम्मूढ (नामरूपसमूळ्ह) भेद से तीन प्रकार के पुद्गल होते हैं। इन तीनों प्रकार के पुद्गलों के अनुग्रहार्थ भगवान् ने स्कन्ध, आयतन एवं धातु की त्रिविध देशना की है।

सत्त्वों में से कुछ पुद्गल नामधर्मों में मूढ होने से नामसम्मूढ होते हैं। स्कन्ध-देशना नामधर्मों का चतुर्धा विभाग करके कथन करती है, अतः यह उन पुद्गलों के अनुकूल होती है। आयतनदेशना रूपधर्मों का दस प्रकार का तथा धर्मायतन के एक देश का विभाग करके कथन करती है, अतः यह रूपधर्मों में मूढ रूपसम्मूढ पुद्गलों के अनुकूल होती है। धातुदेशना नाम एवं रूप – दोनों का विस्तार से कथन करती है, अतः यह नाम एवं रूप दोनों में मूढ नामरूपसम्मूढ पुद्गलों के अनुकूल होती है। इस प्रकार तीन प्रकार के पुद्गलों पर अनुग्रह करने के लिये परमार्थ धर्मों को स्कन्ध आयतन-आदि देशनाओं द्वारा पुनः पुनः कहा गया है। इसलिये स्कन्ध, आयतन एवं धातुओं की उत्पत्तिनामक प्रवृत्तिसत्य, उत्पत्ति के कारणभूत प्रवृत्तिहेतुसत्य, उन उन स्कन्ध-आदि की अनुत्पत्ति नामक निवृत्तिसत्य तथा उस निवृत्ति के कारणभूत निवृत्तिहेतुसत्य – इन ४ धर्मों को सम्यग्रूप से जानने पर ही उपकार हो सकता है। अतः स्कन्ध, आयतन एवं धातुदेशना के अनन्तर सत्यदेशना करके देशना समाप्त की गयी है[1]।

५०. चार परमार्थ धर्मों में से लौकिक चित्त, चैतसिक, रूप एवं निर्वाण तथा मार्ग से सम्प्रयुक्त ८ मार्गाङ्ग – ये धर्म चार आर्यसत्यों में यथायोग सङ्गृहीत हैं। मार्गचित्तों में से

---

*. पञ्चप्पभेदेन – सी०, स्या०, ना०, म० (ख) †. सङ्गहो ति – सी०।

१. विभ० अनु०, पृ० ५। विभा०, पृ० १७७।

तु० – "मोहेन्द्रियरुचित्रैधात्त्रिस्रः स्कन्धादिदेशनाः।" – अभि० को० १:२०, पृ० ३०।

"योगरूप्यानुकूल्यदेर्द्वादशायतनीं मुनिः।

बुद्ध्याद्येकत्वधीहान्यै धातूंश्चाष्टादशोक्तवान्।" – अभि० दी०, पृ० ६।

प्रत्येक में ३६ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं। उनमें से मार्गाङ्ग ८ को छोड़कर शेष २८ चैतसिक तथा १ मार्गचित्त = २९ को मार्गचित्तोत्पाद कहते हैं। फल चित्तों में ३६ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं, उनमें एक फलचित्त को मिलाकर कुल ३७ फलचित्तोत्पाद कहे जाते हैं। ये २९ मार्गचित्तोत्पाद तथा ३७ फलचित्तोत्पाद सत्य-विनिर्मुक्त हैं।

सुत्तन्त-नय—सुत्तपिटक की अट्ठकथा में कहा गया है कि 'चतुसच्चविनिम्मुत्तो ञेय्यो नाम नत्थि ?' अर्थात् चार सत्यों से विनिर्मुक्त कोई ज्ञेय धर्म नहीं है। इसलिये परमार्थधर्मों को चार आर्यसत्यों में यथायोग्य सम्मिलित करना चाहिये। ऐसी परिस्थिति में फलचित्त में सम्प्रयुक्त प्रज्ञा वितर्क-आदि ८ फलाङ्गों को मार्गाङ्ग सदृश होने से मार्ग-सत्य में सम्मिलित किया जा सकता है तथा शेष २९ मार्गचित्तोत्पादों और २९ फल-चित्तोत्पादों को 'सब्बे सङ्खारा दुक्खा' इस उक्ति के अनुसार संस्कारदुःख होने से दुःखसत्य में सम्मिलित किया जा सकता है।

पञ्चपभेदेन—इस सर्वसंग्रह का स्कन्ध, उपादानस्कन्ध, आयतन, धातु एवं आर्य-सत्य—इन पाँच प्रभेदों से विभाग करके प्रतिपादन किया गया है।

सर्वसङ्ग्रह समाप्त।

अभिधर्मप्रकाशिनीव्याख्या में समुच्चयसङ्ग्रहविभाग नामक
सप्तमपरिच्छेद समाप्त।

*

अट्ठमो परिच्छेदो

पच्चयसङ्गहविभागो

१. येसंसङ्खतधम्मानं ये धम्मा पच्चया यथा ।
तं विभागमिहेदानि पवक्खामि यथारहं ॥

जिन संस्कृत प्रत्ययोत्पन्नधर्मों का जिन संस्कृत, असंस्कृत एवं प्रज्ञप्ति-नामक प्रत्ययधर्मों ने जिस प्रकार हेतुशक्ति, आलम्बनशक्ति-आदि आकारों द्वारा उपकार किया है, उनके विभाग को अब इस 'प्रत्ययसङ्ग्रह' में यथायोग्य कहूँगा ।

प्रत्ययसङ्ग्रह-विभाग

१. अनुसन्धि – चित्त, चैतसिक, रूप एवं निर्वाण के समुच्चयसङ्ग्रह का वर्णन करने के अनन्तर अब उन स्वभावधर्मों के प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्नसम्बन्ध एवं प्रत्ययोत्पन्नधर्मों के उत्पाद में प्रत्ययधर्मों की शक्ति दिखलाने के लिये आचार्य अनुरुद्ध 'येसं सङ्खत-धम्मानं...' आदि गाथा द्वारा प्रकरण का आरम्भ करते हैं। इस गाथा के प्रथम और द्वितीयपाद पट्ठानपालि के 'हेतू हेतुसम्पयुत्तकानं धम्मानं तंसमुट्ठानानं च रूपानं हेतुपच्च-येन पच्चयो'[1] – इस पालि के आधार पर कहे गये हैं। गाथा का 'ये धम्मा' पद पालि के 'हेतू' शब्द के स्थान पर, 'येसं सङ्खतधम्मानं' पद पालि के 'हेतुसम्पयुत्तकानं धम्मानं, तंसमुट्ठानानं च रूपानं' – इन शब्दों के स्थान पर, 'यथा' पद पालि के 'हेतुपच्चयेन' के स्थान पर तथा 'पच्चया' पद पालि के 'पच्चयो' शब्द के स्थान पर प्रयुक्त किया गया है। अतएव हमने मूल गाथा का उपर्युक्त अर्थ पट्ठानपालि को ध्यान में रखकर किया है[2]।

प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न धर्मों का निरूपण करनेवाले परिच्छेद को 'प्रत्ययपरिच्छेद' कहा गया है। कार्यधर्मों के कारण को 'प्रत्यय' तथा उन कारणधर्मों से उत्पन्न कार्य-धर्मों को 'प्रत्ययोत्पन्न' कहते हैं।

उपर्युक्त गाथा 'इस प्रत्ययसङ्ग्रह में अब मैं प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न धर्मों के उपकार करने के आकारभेद एवं शक्तिभेद का प्रतिपादन करूँगा' – इस प्रकार की प्रतिज्ञा दिखलानेवाली गाथा है।

'येसं सङ्खतधम्मानं' द्वारा प्रत्ययोत्पन्न धर्मों को दिखलाया गया है। तथा 'सङ्खत-धम्मानं' – इस प्रकार कहने से 'यदि प्रत्ययोत्पन्न होते हैं तो वे सभी संस्कृतधर्म ही होते

---

१. पट्ठान प्र० भा०, पृ० ३ ।

२. द्र० – विभा०, पृ० १७७; प० दी०, पृ० ३२३ ।

दुविधो नयो

२. पटिच्चसमुप्पादनयो पट्ठाननयो चेति पच्चयसङ्गहो दुविधो वेदितब्बो।

प्रतीत्यसमुत्पादनय और पट्ठाननय इस तरह दो प्रकार का प्रत्ययसङ्ग्रह जानना चाहिये।

हैं; असंस्कृत एवं प्रज्ञप्ति कभी प्रत्ययोत्पन्न नहीं होते' – यह दिखलाया गया है। (कर्म, चित्त, ऋतु, आहार एवं आलम्बन-आदि कारणधर्मों द्वारा अभिसंस्कृत किये जानेवाले चित्त, चैतसिक एवं रूपधर्मों को 'संस्कृत' कहते हैं।)

'ये धम्मा' पद द्वारा प्रत्यय-धर्मों को दिखलाया गया है। 'ये धम्मा' – इस प्रकार सामान्यतया कहने से प्रत्यय धर्मों में उपर्युक्त संस्कृत-धर्म, असंस्कृत निर्वाण एवं प्रज्ञप्ति-सभी धर्म सम्मिलित होते हैं। 'यथा' शब्द द्वारा २४ प्रत्ययों की हेतुशक्ति, आलम्बन-शक्ति-आदि उपकारसमर्थ शक्ति एवं आकार दिखलाये गये हैं। 'पच्चया' शब्द द्वारा अनुत्पन्न प्रत्ययोत्पन्न धर्मों के उत्पाद एवं उत्पन्न प्रत्ययोत्पन्न धर्मों की स्थिति के लिये उपकार दिखलाया गया है।

तंविभागं – 'तंविभागं' में आगत 'तत्' शब्द, 'येसं' 'ये धम्मा' एवं 'यथा' – इस तरह तीन जगह आये 'यत्' शब्द का निर्देश करता है। इसीलिये 'तं विभागमिहेदानि पवक्खामि' इसमें आगत 'तं' शब्द द्वारा प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्न धर्म, हेतुशक्ति आलम्बनशक्ति-आदि शक्ति-भेद तथा उनके द्वारा किये जानेवाले उपकार-आदि का ग्रहण होता है; क्योंकि 'तत्' शब्द इन सब का परामर्श करता है। अतएव इस प्रकरण में इनका व्याख्यान किया जायेगा[1]।

द्विविध नय

२. **पटिच्चसमुप्पादनयो** – 'पच्चयसामग्गिं पटिच्च समं सह च पच्चयुप्पन्नधम्मे उप्पादेतीति पटिच्चसमुप्पादो' अर्थात् जो प्रत्ययसमूह प्रत्ययसामग्री की अपेक्षा करके सम और साथ प्रत्ययोत्पन्न धर्मों का उत्पाद करता है, वह प्रत्ययसमूह 'प्रतीत्यसमुत्पाद' है। इस विग्रह के अनुसार अविद्या संस्कार-आदि पूर्व पूर्व कारण धर्म ही मुख्यरूप से प्रतीत्य-समुत्पाद हैं; किन्तु प्रत्ययधर्म भी प्रत्ययोत्पन्न के बिना नहीं हो सकते, अतः संस्कार, विज्ञान-आदि पश्चिम-पश्चिम प्रत्ययोत्पन्न धर्म भी अविनाभावनियम से प्रतीत्यसमुत्पाद कहे जा सकते हैं।

---

१. "'तंविभागं' तेसं पच्चयुप्पन्नानं, तेसं पच्चयानं, तस्स च पच्चयाकारस्स पभेदं।" – विभा०, पृ० १७७।

"'तंविभागं' तेसं सङ्खतधम्मानं पच्चयुप्पन्नभूतानं विभागञ्च, तेसं पच्चय-धम्मानं विभागञ्च, तेसं पच्चयाकारानं विभागञ्च।" – प० दी, पृ० ३३३।

'नीयति ञायतीति नयो' के अनुसार वे प्रतीत्यसमुत्पाद धर्म ही विद्वानों द्वारा ज्ञातव्य होने से 'नय' भी कहे जाते हैं[1]।

'अविज्जापच्चया सङ्खारा' इस पालि में अविद्या कारण 'प्रत्यय' है, संस्कार कार्य 'प्रत्ययोत्पन्न' है। 'सङ्खारपच्चया विञ्ञाणं' इसमें संस्कार कारण 'प्रत्यय' है और विज्ञान कार्य 'प्रत्ययोत्पन्न' है। इस प्रकार पूर्व पूर्व कारण प्रत्ययों द्वारा पश्चिम-पश्चिम कार्य प्रत्ययोत्पन्न धर्मों का उत्पाद होता है, अतः 'पच्चयुप्पन्नधम्मे उप्पादेतीति' कहा गया है। अर्थात् प्रत्ययसमूह प्रत्ययोत्पन्न धर्मों को उत्पन्न करते हैं। 'समुत्पाद' शब्द में 'सम्' शब्द 'सम' एवं 'सह' अर्थ में प्रयुक्त है[2]। 'सम' का अभिप्राय है—'अविद्या द्वारा संस्कार उत्पन्न करते समय अविद्या केवल संस्कार का ही उत्पाद नहीं करती; अपितु संस्कार के साथ साथ उत्पन्न (सहभू) चित्त एवं चैतसिकों का भी सम्पूर्ण और समरूप से उत्पाद करती है, न्यूनाधिक उत्पाद नहीं करती'। 'सह' शब्द का अर्थ यह है—अविद्या संस्कार के साथ सहभू चित्त एवं चैतसिकों का उत्पाद करते समय उनका पृथक् पृथक् उत्पाद नहीं करती; अपितु एक साथ (युगपत्) उत्पाद करती है। उपर्युक्त कथन के अनुसार अविद्या द्वारा संस्कार का उत्पाद किया जाने में केवल एक संस्कार का ही उत्पाद नहीं किया जाता; अपितु संस्कार के साथ सहभू चित्त एवं चैतसिक धर्मों का भी युगपत् उत्पाद किया जाता है; किन्तु अविद्या के कारण उत्पन्न उन धर्मों में 'संस्कार' नामक चेतना ही प्रधान होती है, अतः प्रधान नय के अनुसार 'अविज्जा-पच्चया सङ्खारा' कहा गया है[3]।

अविद्या द्वारा संस्कार के उत्पाद में केवल एकमात्र अविद्या ही संस्कार का उत्पाद नहीं कर सकती; अपितु उसके अनेक सहायक कारण भी होते हैं। जैसे—

---

१. "पच्चयसामग्गिं पटिच्च समं गन्त्वा फलानं उप्पादो एतस्मा ति पटिच्चसमुप्पादो, पच्चयाकारो।"—विभा०, पृ० १७७।

"पटिच्च फलं समुप्पज्जति एतस्मा ति पटिच्चसमुप्पादो। तत्थ पटिच्चा ति अविना, अमुञ्चित्वा ति अत्थो; अविज्जादिको पच्चयधम्मो ति वण्णेन्ति। अथवा—समुप्पज्जनं समुप्पादो, सहजातधम्मेहि सहेव कलापवसेन अभिनिब्बत्ति, पातुभावो ति अत्थो। यथासकं पच्चयं पटिच्च तेन अविनाभावी हुत्वा समुप्पादो पटिच्चसमुप्पादो।"—प० दी०, पृ० ३२३। विस्तार के लिये द्र०—विसु०, पृ० ३६२-३६५; विभ०, पृ० १७३; विभ० अ०, पृ० १३३-१३६; विभ० अनु०, पृ० ९१; सं० नि०, द्वि० भा०, पृ० ३-४, २३-२५; दी० नि०, द्वि० भा०, पृ० ४४-४५।

तु०—"हेतुरत्र समुत्पादः समुत्पन्नं फलं मतम्।"—अभि० को० ३ : २८, पृ० ३१५; प्रसन्न०, पृ० ५-१०।

२. विसु०, पृ० ३६४-३६५; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० २३०, २३५।

३. विभ० मू० टी०, पृ० ९२।

३. तत्थ तब्भावभाविभावाकारमत्तोपलक्खितो* पटिच्चसमुप्पादनयो। पट्ठाननयो पन आहच्चपच्चयट्ठितिमारब्भ† पवुच्चति। उभयं पन वोमिस्सित्वा‡ पपञ्चेन्ति§ आचरिया।

उन दोनों प्रकार के नयों में से उन अविद्या-आदि प्रत्ययधर्मों के उत्पाद से उत्पन्न होनेवाले संस्कार-आदि प्रत्ययोत्पन्न धर्मों के उत्पत्ति-आकार-मात्र से उपलक्षित नय 'प्रतीत्यसमुत्पाद नय' है। विशेषतः प्रत्यय की शक्ति की अपेक्षा करके कहा गया नय 'पट्ठाननय' है। इन दोनों नयों का सम्मिश्रण करके अट्ठकथाचार्य विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

लोभमूल प्रथम चित्त में सम्प्रयुक्त संस्कार के बल से मिथ्याचार करते समय अपने पाप कर्मों को न देख सकना-रूपी अज्ञान या अविद्या मूल कारण है। उस (मूल-कारण) अविद्या के अतिरिक्त उस संस्कार की आश्रयवस्तु एवं आलम्बन भी उस कारण में सम्मिलित हैं। तथा अयोनिशोमनसिकार, तृष्णा एवं उपादान भी उसमें अपेक्षित हैं। ये आश्रयवस्तु-आदि कारण अविद्या द्वारा संस्कार के उत्पाद में सहायक कारण होते हैं। इस प्रकार कारणधर्मों के समागम की अपेक्षा करके ही अविद्या द्वारा संस्कार का उत्पाद किया जा सकता है, अतः 'पच्चयसामग्गिं पटिच्च' – ऐसा कहा गया है। इस कथन के अनुसार संस्कार के उत्पाद में केवल एकमात्र अविद्या ही कारण नहीं है; अपितु उसके अन्य सहयोगी कारण भी हैं और उनके बिना अविद्या संस्कार का उत्पाद करने में असमर्थ है; फिर भी इस प्रत्यय-सामग्री में अविद्या ही प्रधान होती है, इसलिये प्रधान नय से 'अविज्जापच्चया सङ्खारा' – ऐसा कहा गया है। संस्कार-आदि द्वारा विज्ञान-आदि का उत्पाद करने में भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

[अट्ठकथा में असाधारण नय भी दिखलाया गया है। 'विसुद्धिमग्ग' में तीन नय प्रतिपादित किये गये हैं। यहाँ उनमें से तृतीय नय का आश्रय किया गया है। यह प्रतीत्यसमुत्पाद अत्यधिक प्रसिद्ध एवं गम्भीर है, इसका अट्ठकथा एवं टीका-आदि ग्रन्थों में विविध स्थानों पर विविध प्रकार से प्रतिपादन किया गया है। जिज्ञासुओं को तत् तत् स्थान देखकर विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।]

३. दोनों नयों में विशेष – 'तेसं भावो तब्भावो' उन अविद्या-आदि प्रत्यय-धर्मों का भाव (उत्पत्ति) 'तद्भाव' है। 'तब्भावे सति भावी, तब्भावभावी' उन अविद्या-आदि प्रत्यय धर्मों के उत्पन्न होने पर (होने से) उत्पन्न होनेवाले संस्कार आदि प्रत्ययोत्पन्न धर्म 'तद्भावभावी' हैं। 'भवनं भावो, भावो च सो आकारो च भावा-

---

*. तब्भावभावी० – रो०, म० (ख)। †. ०ठिति० – म० (क)।
‡. वोमिस्सेत्वा – सी०, स्या०।
§. पपञ्चन्ति – रो०।

कारो' उत्पाद को 'भाव' कहते हैं, वह भाव ही 'आकार' है, इसलिये उसे 'भावाकार' कहते हैं। 'तब्भावभाविनं भावाकारो तब्भावभाविभावाकारो' अर्थात् उन अविद्या-आदि प्रत्ययधर्मों के उत्पाद से उत्पन्न होने वाले संस्कार-आदि प्रत्ययोत्पन्न धर्मों का उत्पत्त्याकार 'तद्भावभाविभावाकार' है। यहाँ 'तद्भाव' शब्द से 'अविज्जापच्चया, विञ्ञाणपच्चया' – आदि प्रत्ययधर्मसमूह दिखलाया गया है। 'भावी' शब्द से 'सङ्खारा, विञ्ञाणं, नामरूपं'-आदि प्रत्ययोत्पन्नधर्मसमूह दिखलाया गया है। तथा 'भावाकार' शब्द से सम्भवनक्रिया दिखलायी गयी है। इसलिये 'अविज्जा पच्चया (तब्भाव), सङ्खारा (भावी) सम्भवन्ति (भावाकार)' – इस प्रकार क्रमशः 'जातिपच्चया जरामरणं सम्भवन्ति' पर्यन्त समझना चाहिये। 'तद्भावभाविभावाकारमात्रोपलक्षित' शब्द में 'मात्र' शब्द एवार्थक एवं सामान्यार्थक है। 'एव' इस शब्द द्वारा यहाँ पट्ठाननय की तरह 'प्रत्ययशक्तिविशेष नहीं दिखलाया गया है' – इस प्रकार अवधारण किया गया है। इस प्रतीत्यसमुत्पादनय में 'अविज्जापच्चया सङ्खारा' आदि द्वारा कारण (प्रत्यय) एवं कार्य (प्रत्ययोत्पन्न) – ये दो धर्म ही दिखलाये गये हैं। अविद्या द्वारा संस्कार के उत्पाद में 'किस प्रत्यय-शक्ति द्वारा उपकार किया जाता है' – इस प्रकार प्रत्ययशक्तिविशेष नहीं दिखलाया गया है। 'उपलक्षित' शब्द का अर्थ 'लक्षण-लक्ष्य' है। 'अविद्या के उत्पन्न होने पर संस्कार उत्पन्न होता है' इसमें अविद्या की उत्पत्ति संस्कार की उत्पत्ति का 'लक्षण' है, तथा संस्कार की उत्पत्ति 'लक्ष्य' है। उसी तरह 'संस्कार होने पर विज्ञान होता है'-आदि द्वारा लक्षण-लक्ष्य को समझना चाहिये। इस प्रकार कारणधर्मों की उत्पत्ति द्वारा कार्य धर्मों के उत्पाद को लक्ष्य करके दिखलानेवाला नय होने से 'उपलक्षित' कहा गया है[1]।

पट्ठाननय में "हेतू हेतुसम्पयुत्तकानं धम्मानं तंसमुट्ठानानं च रूपानं हेतुपच्चयेन पच्चयो[2]" – द्वारा प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न के अतिरिक्त प्रत्यय-शक्ति भी दिखलायी गयी है। इस पालि में 'हेतू' शब्द द्वारा प्रत्यय धर्म को, 'हेतुसम्पयुत्तकानं धम्मानं तंसमुट्ठानानं च रूपानं' इन शब्दों द्वारा प्रत्ययोत्पन्न धर्मों को तथा 'हेतुपच्चयेन' इस शब्द द्वारा प्रत्ययशक्तिविशेष को दिखलाया गया है। इसीलिये मूल में 'पट्ठाननयो पन आहच्चपच्चयट्ठितिमारब्भ पवुच्चति' कहा गया है। 'आहच्च' इस पद में 'आ' पूर्वक 'हन' धातु और 'त्वा' प्रत्यय है। आपूर्वक हन धातु 'विशेष' अर्थ में है, इसलिये 'आहच्च' का अर्थ 'विशेष करके उत्पन्न' होता है। तथा 'पच्चयट्ठिति' इस पद में 'ठिति' शब्द 'स्थित होने की शक्ति' अर्थ में है। 'तिट्ठन्ति एताया ति ठिति, पच्चयानं ठिति, पच्चयट्ठिति' प्रत्ययों के स्थित होने की शक्ति 'प्रत्ययस्थिति' कहलाती है। हेतु धर्मों में 'हेतुशक्ति' नामक शक्तिविशेष, आलम्बन धर्मों में 'आलम्बनशक्ति' नामक शक्तिविशेष – इस प्रकार प्रत्यय धर्मों में अपने अपने शक्तिविशेष होते हैं। उन उन शक्तिविशेषों के कारण सम्बद्ध प्रत्ययोत्पन्न धर्मों के

---

१. द्र० – विभा०, पृ० १७७-१७८।

२. पट्ठान, प्र० भा०, पृ० ५।

पटिच्चसमुप्पादनयो

४. तत्थ अविज्जापच्चया सङ्खारा, सङ्खारपच्चया विञ्ञाणं, विञ्ञाण-पच्चया नामरूपं, नामरूपपच्चया सळायतनं, सळायतनपच्चया फस्सो,

इन दोनों नयों में अविद्या प्रत्यय से संस्कार, संस्कार प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञान प्रत्यय से नामरूप, नामरूप प्रत्यय से षडायतन, षडायतन-

---

उत्पाद के लिये दृढ़तापूर्वक स्थिति हो सकती है। इसलिये उन शक्तिविशेषों को 'प्रत्ययस्थिति' (पच्चयट्ठिति) कहा गया है[1]।

सारांश – प्रतीत्यसमुत्पाद नय में हेतुशक्ति, आलम्बनशक्ति-आदि शक्तिविशेष नहीं हैं। केवल प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न की उत्पत्तिमात्र दिखलायी गयी है। पट्ठाननय में प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न के अतिरिक्त प्रत्ययशक्तिविशेष भी दिखलाया गया है। यही दोनों में विशेष है।

उभयं पन वोमिस्सित्वा पपञ्चेन्ति आचरिया – इस वाक्य द्वारा 'पटिच्चसमुप्पाद-विभंग-अट्ठकथा' की ओर इङ्गित किया गया है। वहाँ अट्ठकथाचार्य ने प्रतीत्य-समुत्पादनय में पट्ठाननय को मिलाकर प्रतिपादन किया है।[2] जैसे – अविद्या द्वारा संस्कार का उत्पाद करने में, अविद्या द्वारा पुण्याभिसंस्कार का आलम्बनशक्ति तथा प्रकृतोपनिश्रय (पकतूपनिस्सय) शक्ति से उपकार किया जाता है, अपुण्याभिसंस्कार का पुरेजात, पच्छा-जात, कर्म, विपाक, आहार, इन्द्रिय, ध्यान, मार्ग एवं विप्रयुक्त – इन नौ प्रत्ययों को छोड़कर शेष पन्द्रह प्रत्ययशक्तियों से यथासम्भव उपकार किया जाता है तथा आनेञ्ज्याभिसंस्कार का प्रकृतोपनिश्रय (पकतूपनिस्सय) शक्ति से उपकार किया जाता है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पादनय में पट्ठाननय को सम्मिलित करके वर्णन किया है। यहाँ अनुरुद्धाचार्य ने पाठकों की सुविधा के लिये प्रतीत्यसमत्पादनय एवं पट्ठाननय का पृथक्-पृथक् वर्णन किया है[3]।

प्रतीत्यसमुत्पादनय

४. **अविज्जा** – 'न विदतीति अविज्जा' जो नहीं जानती उसे 'अविद्या' कहते हैं। परमार्थ स्वरूप से वह 'मोह' है[4]। यह अविद्या जानने योग्य सब स्थानों को

---

१. "आहच्चपच्चयट्ठिति आरब्भा'ति एत्थ तथातथाउपकारकतासङ्खातो पच्चयसत्तिविसेसो आहच्चपच्चयट्ठिति नाम; सो हि अविज्जापच्चया सङ्खारा ति आदीसु विय पच्चयधम्मुद्धारमत्ते अट्ठत्वा पच्चयसत्तिविसेसुद्धारवसेन आहच्च मत्थकं पापेत्वा देसितत्ता आहच्चपच्चयट्ठितीति वुच्चति। पच्चयधम्मा तिट्ठन्ति अत्तनो पच्चयुप्पन्नाभिसङ्खरणकिच्चं पत्वा अनोसक्कमाना हुत्वा पवत्तन्ति एताया ति कत्वा।" – प० दी०, पृ० ३२४-३२५। द्र० – विभा०, पृ० १७८।

२. विभ० अ०, पृ० १४६; विसु०, पृ० ३७९-३८०।

३. प० दी०, पृ० ३२५; विभा०, पृ० १७८।

४. "यथा सुरियो उदयन्तो अन्धकारे विधमेत्वा दब्बसम्भारे महाजनस्स पाकटे करोति, एवमेवं उप्पन्नं चतुसच्चञाणं अविज्जन्धकारं विधमित्वा चतु-

फस्सपच्चया वेदना, वेदनापच्चया तण्हा, तण्हापच्चया उपादानं, उपादान-पच्चया भवो, भवपच्चया जाति, जातिपच्चया जरामरणं* सोकपरिदेवदुक्ख-दोमनस्सुपायासा* सम्भवन्ति । एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होतीति।

अयमेत्थ पटिच्चसमुप्पादनयो ।

प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श प्रत्यय से वेदना, वेदना प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा प्रत्यय से उपादान, उपादान प्रत्यय से भव, भवप्रत्यय से जाति, जाति प्रत्यय से जरामरण-शोक-परिदेव-दुःख-दौर्मनस्य एवं उपायास उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार इस सम्पूर्ण दुःखस्कन्ध का समुदय होता है।

यह यहां प्रतीत्यसमुत्पादनय है।

स्वयं नहीं जानती तथा अपने से सम्प्रयुक्त अकुशल चित्त, चैतसिक तथा अपने अनुशयित सत्त्वों को भी जानने नहीं देती। जैसे मोतियाबिन्द द्वारा आँख के ढक जाने पर मनुष्य देखने योग्य स्थान को नहीं देख पाता, उसी तरह अविद्या द्वारा आवरण हो जाने पर जानने योग्य स्थानों का ज्ञान नहीं हो पाता। अभिधर्मनय के अनुसार अविद्या के आठ आवरण स्थान होते हैं। जैसे – चार सत्य, पूर्वान्त, अपरान्त, पूर्वान्तापरान्त एवं प्रतीत्यसमुत्पाद। उनमें से तीनों भूमियों में होनेवाले सम्पूर्ण नामरूप 'दुःखसत्य' हैं। इन दुःख धर्मों को 'दुःख है' – ऐसा 'न जानना' दुःखसत्य का आवरण करने वाली अविद्या है। उसी तरह तृष्णा (लोभ) को दुःखों के कारण के रूप में न जानना, निर्वाण को दुःखनिरोध के रूप में न जानना, अष्टाङ्गिक

– जरामरणसोक० – सी०, ना०।

सच्चधम्मं विदति पाकटं करोतीति विज्जा, तप्पटिपक्खत्ता मोहो अविज्जा नाम।" – प० दी०, पृ० ३२५।

"न विजानातीति अविज्जा। अविन्दियं वा कायदुच्चरितादिं विन्दति पटिलभति, विन्दियं वा कायसुचरितादिं न विन्दति, वेदितब्बं वा चतु-सच्चादिकं न विदितं करोति, अविज्जमाने वा जवापेति, विज्जमाने वा न जवापेतीति अविज्जा। चतूसु अरियसच्चेसु पुब्बन्तादीसु चतूसु अञ्ञा-णस्सेतं नाम।" – विभा०, पृ० १७८; विसु०, पृ० ३६८-३६९; विभ० अ०, पृ० १३६; ध० स०, पृ० २४२।

तु० – "पूर्वक्लेशदशाऽविद्या।" – अभि० को० ३ : २१ पृ० १०५ तथा ३ : २८, ३ : २९ पृ० ३१५, ३२६; स्फु०, पृ० २८४-२८५, ३०१।

मार्ग को निर्वाणगामी मार्ग के रूप में न जानना-यह समुदय, निरोध, एवं मार्गसत्य का आवरण करनेवाली अविद्या ही है[1]।

'पूर्वान्त' आदि में 'अन्त' शब्द 'भाग' अर्थ में व्यवहृत है। कुछ पृथग्जन अतीत भव के उत्पाद में विश्वास नहीं करते। वे इसी भव में 'ईश्वर-आदि द्वारा निर्माण करने से सृष्टि का उत्पाद होता है'—ऐसा विश्वास करते हैं; किन्तु यह विश्वास रखते हैं कि अनागत भव में पुनः पुनः उत्पाद होगा। इस प्रकार के सत्वों की अविद्या, 'पुब्बन्ते अञ्ञाणं' के अनुसार अतीत भव में उत्पन्न स्कन्ध, आयतन एवं धातु 'भाग' में आवरणरूपा अविद्या है। कुछ पुद्गल अतीत भव में उत्पन्न होने में तो विश्वास करते हैं; किन्तु 'अनन्तर (आगामी) भवों में अर्हत्प्राप्तिपर्यन्त उत्पन्न होना है'—इस पर विश्वास नहीं करते। वे मरण के अनन्तर जीवन का उच्छेद हो जाता है—ऐसा मानते हैं। उनकी अविद्या 'अपरन्ते अञ्ञाणं' के अनुसार अनागत भव में उत्पन्न होनेवाले स्कन्ध, आयतन, धातु 'भाग' में आवरणरूपा अविद्या है। कुछ पुद्गल अतीत भव एवं अनागत भव दोनों में विश्वास नहीं करते। उनकी अविद्या 'पुब्बन्तापरन्ते अञ्ञाणं' के अनुसार पूर्व भव एवं अपर भव में उत्पन्न स्कन्ध, आयतन एवं धातु 'भाग' में आवरणरूपा अविद्या है। तथा अविद्या प्रतीत्यसमुत्पाद-ज्ञान का भी आवरण करती है, यथा—'अविद्या-आदि प्रत्यय हैं, संस्कार-आदि प्रत्ययोत्पन्न हैं, अविद्या-आदि प्रत्ययों से ही संस्कार-आदि प्रत्ययोत्पन्न (कार्य) उत्पन्न होते हैं'—इस प्रकार न जानने देने के लिये आवरण करती है[2]।

अविद्या भी घनीभूत एवं तनूभूत दो प्रकार की होती है। कुशल एवं अकुशल कर्म तक के परिज्ञान का आवरण करनेवाली अविद्या घनीभूत अविद्या है। जिन्हें कुशल एवं अकुशल कर्म का विवेक है तथा जो कुशल कर्म को कुशल समझ करके उसका समादान करते हैं और अकुशल कर्म को अकुशल समझ कर उससे विरत होते हैं; फिर भी उन सत्त्वों की सन्तान में अविद्या नहीं है—ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अविद्या का सर्वथा अभाव केवल अर्हत् की सन्तान में ही होता है, अतः ऐसे सत्वों की सन्तान में विद्यमान अविद्या तनूभूत है—ऐसा समझना चाहिये। स्रोतापन्न, सकृदागामी एवं अनागामी आर्य पुद्गल होकर चार आर्यसत्यों का सम्यग्ज्ञान कर लेने पर भी उनकी सन्तान से अविद्या का सर्वथा विरह नहीं हो पाता; हाँ इतना

---

१. "एत्थ च दुविधो पटिच्चसमुप्पादनयो—सुत्तन्तिकनयो, अभिधम्मनयो ति। तत्थ सुत्तन्तिकनयेन ताव अविज्जा चतुब्बिधा दुक्खपटिच्छादिका, समुदय-पटिच्छादिका, निरोधपटिच्छादिका, मग्गपटिच्छादिका चा ति। अभिधम्मनयेन पन पुब्बन्तपटिच्छादिका, अपरन्तपटिच्छादिका, पुब्बन्तापरन्तपटिच्छादिका, पटिच्चसमुप्पादपटिच्छादिका ति चतूहि सद्धिं अट्ठविधा ति वेदितब्बा।"—प० दी०, पृ० ३२६।

२. विस्तृत ज्ञान के लिये द्र०—विसु०, पृ० ३७१; विभ० अ०, पृ० १४०-१४३।

अवश्य है कि उनकी अविद्या साधारण पृथग्जन की अपेक्षा अधिक तनूभूत होती है। अर्हत् होने पर ही सम्पूर्ण अविद्या से विरहित हुआ जा सकता है। यहाँ 'चार आर्यसत्यों को जानता है'-इस प्रकार कहने में केवल किताब पढ़कर जानने की तरह ज्ञान होने को नहीं कहा जा सकता, वह तो सञ्जाननमात्र है। ज्ञान द्वारा दुःखस्वभाव, समुदय स्वभाव-आदि को साक्षात् जानने से ही 'चार आर्यसत्यों को जानता है'- ऐसा कहा जाता है।

अविद्या से रहित होने पर भी सब को नहीं जानता-अविद्या से सर्वथा विमुक्त अर्हत् को भी लौकिक, लोकोत्तर सम्पूर्ण धर्मों का सदा सर्वथा ज्ञान होता ही रहता है—ऐसा नहीं; अपितु जानने योग्य चार आर्यसत्यों का वह सम्यग् ज्ञाता होता है। चार आर्यसत्यों का सम्यग् ज्ञान ही अविद्या के प्रणाश का मुख्य फल है। अर्हत् होने पर भी जो प्रतिसम्भिदा प्राप्त नहीं है उसे त्रिपिटक का ज्ञान विधिपूर्वक अध्ययन करने से ही हो सकता है। त्रिपिटक का ज्ञान होने पर भी अन्य सत्वों के अध्याशय का ज्ञान नहीं होता। आशय-अनुशयज्ञान, इन्द्रियपरोपरियत्तिज्ञान एवं सर्वज्ञता-ज्ञान के स्वामी भगवान् बुद्ध ही अशेष ज्ञेय धर्मों के जाननेवाले हैं। इसी तरह लौकिक, लोकोत्तर सभी धर्मों को न जानना अविद्या के आवरण के कारण नहीं है; अपितु अपनी ज्ञानशक्ति के दौर्बल्य के कारण होता है। जैसे-दिन में दूरस्थ वस्तु का अपरिज्ञान अन्धकार के आवरण के कारण नहीं; अपितु चक्षुःशक्ति की दुर्बलता के कारण होता है[1]।

संस्कार-'सङ्खतं सङ्खरोन्ति अभिसङ्खरोन्तीति सङ्खारा' संस्कृत प्रत्युत्पन्न धर्मों को जो अभिसंस्कृत करते हैं उन्हें 'संस्कार' कहते हैं। अर्थात् प्रत्युत्पन्न विपाकभूत नाम-रूप संस्कृत धर्मों का अभिसंस्कार करनेवाली लौकिक कुशल, अकुशल चेतना ही 'संस्कार' कही जाती है। यद्यपि मार्गचेतना फलनामक विपाक संस्कृतधर्मों का संस्कार करती है, तथापि मार्गचेतना का इस 'वट्टकथा' (संसारचक्र कथा) से कोई सम्बन्ध न होने से उसकी संस्कार धर्मों में गणना नहीं की जाती। वह लौकिक चेतना पुण्याभि-संस्कार, अपुण्याभिसंस्कार एवं आनेञ्ज्याभिसंस्कार भेद से त्रिविध है। इनमें से कामकुशल एवं रूपकुशल १३ में सम्प्रयुक्त १३ चेतना पुण्याभिसंस्कार है। १२ अकुशलचित्तों में सम्प्रयुक्त १२ चेतना अपुण्याभिसंस्कार है तथा ४ अरूपकुशलचित्त में सम्प्रयुक्त ४ चेतना आनेञ्ज्याभिसंस्कार है[2]।

---

१. तु०-"हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः॥"-प्र० वा० १:३४, पृ० २०।

२. विसु०, पृ० ३७२; विभ० अ०, पृ० १४४, १४६; प० दी०, पृ० ३२६; विभा०, पृ० १७८-१७९।
तु०-अभि० को० ३:२१, पृ० ३०५।

विग्रह – 'अत्तनो सन्तानं पुनाति सोधेतीति पुञ्ञं' अपनी सन्तान को पवित्र करनेवाला कर्म 'पुण्य' है। अकुशल के विपाकभूत नामरूपस्कन्ध अत्यन्त मलिन होते हैं तथा अकुशल क्लेश भी अत्यन्त क्लिष्ट (मलिन) होते हैं। जब कुशलपुण्य का उत्पाद होता है तब क्लेशमलों से सन्तान शुद्ध होती है, तथा फल देते समय भी विशुद्ध एवं अमलिन नामरूपस्कन्ध का उत्पाद होता है। इसलिये कुशलपुण्य अपनी स्कन्धसन्तति को क्लेशमलों से तथा अनिष्ट फलों से विशुद्ध करनेवाला धर्म है। 'न पुञ्ञं अपुञ्ञं' पुण्य का विपरीत अपुण्य है। पुण्य स्वसन्तान को जिस प्रकार शुद्ध करता है, ठीक उसके विपरीत अपुण्य अपनी सन्तान को मलिन करता है। 'न इञ्जतीति अनिञ्जं, अनिञ्जं येव आनेञ्जं' अप्रकम्प्य, स्थिर धर्म आनेञ्ज्य है। अरूपसमापत्ति विरुद्ध धर्मों से अत्यन्त रहित होकर अप्रकम्पित एवं निश्चल होती है, अतः उसे 'आनेञ्ज्य' कहते हैं। यद्यपि अरूपकुशल चेतना कुशलपुण्य होने से पुण्याभिसंस्कार में परिगणित की जा सकती है तथापि 'आनेञ्ज्य' यह विशेष नाम प्राप्त हो जाने के कारण उसे 'आनेञ्ज्याभिसंस्कार' कहते हैं। 'पुञ्ञं च तं अभिसङ्खारो चा ति पुञ्ञाभिसङ्खारो' जो पुण्य भी है और अभिसंस्कार भी है उसे 'पुण्याभिसंस्कार' कहते हैं। इसी प्रकार अपुण्याभिसंस्कार तथा आनेञ्ज्याभिसंस्कार का भी विग्रह समझना चाहिये[1]।

अविद्या से अपुण्याभिसंस्कार की उत्पत्ति – प्राणातिपात कर्म करने से प्राणी इस भव में निन्दा का पात्र होता है, राजदण्ड का भागी होता है, अनन्तर भव में अपायभूमि को प्राप्त होता है तथा मनुष्य होने पर भी अङ्गवैकल्य-आदि अनेक प्रकार के अनिष्ट फल प्राप्त करता है। इसी प्रकार अदिन्नादान (अदत्तादान) काम-मिथ्याचार-आदि दुश्चरित करने पर इहलोक तथा परलोक में विविध अनिष्ट फलों की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार मृत्यु के लिये संकल्प किया हुआ पुरुष विषपान से भयभीत नहीं होता उसी प्रकार अविद्या से आवृत पुद्गल पापकर्मों को नहीं देखता और उनके आदीनव (दुष्परिणामों) से भयभीत नहीं होता। अत एव प्राणातिपात-आदि अवद्य कर्मों को करता है। कुछ लोग जिनमें अविद्या घनीभूत होती है, उनमें कुशल एवं अकुशल का विवेक ही नहीं होता; किन्तु कुछ लोग जिनमें अविद्या घनीभूत नहीं होती, उनमें कुशल, अकुशल का विवेक होता है; फिर भी लोभ एवं द्वेष के उत्पन्न हो जाने पर उनके साथ सम्प्रयुक्त अविद्या का उन पर आवरण हो जाने के कारण वे दुश्चरित कर्मों के सम्पादन में प्रवृत्त हो जाते हैं[2]।

पुण्याभिसंस्कार एवं आनेञ्ज्याभिसंस्कार की उत्पत्ति – जब तक नामरूप-स्कन्ध हैं तब तक जाति, जरामरण आदि प्राकृतिक दुःखों से मुक्ति असम्भव है। नाना

---

१. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० २५८; विभ० अ०, पृ० १४४; विभ० मू० टी०, पृ० ९३।

२. द्र० – विसु०, पृ० ३६८, ३७२; विभ० अ०, पृ० १३५, १४८।

प्रकार के अन्तरायों का भोग भी करना होता है। यश एवं सम्पत्ति के विनाश, प्रिय-विप्रयोग, अप्रियसम्प्रयोग, इष्ट-अनधिगम-आदि से उत्पन्न परिताप-आदि दुःखसमूह इस सुखसंज्ञक मनुष्य योनि में ही प्राप्त होते हैं। देवभूमि एवं ब्रह्मभूमि में यद्यपि दुःख अत्यल्प होता है, तथापि वहाँ से च्युत होते समय जब प्राप्त यश, ऐश्वर्य-आदि सुखों से वियोग होता है, तब जितना सुख उन्हें उनके प्राप्त होने के समय होता है उससे कहीं अधिक दुःख का अनुभव होता है। देवभूमि, ब्रह्मभूमि-आदि भूमियों से च्युति से पूर्व ही उस च्युत होनेवाले देव का अपना दिव्य प्रकाश समाप्त हो जाता है, उसका देवविमान नष्ट हो जाता है तथा सुख के सारे उपकरणों (अप्सरा-आदि) से उसका विप्रयोग हो जाता है। वह शोक, परिदेव एवं विलाप करने लगता है। विलाप करते हुए ही उसकी वहाँ से च्युति हो जाती है। बहुत कल्पों तक जीवित रहने वाले अरूपी ब्रह्मा को भी अन्त में विनाशनामक विपरिणाम दुःख का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार यद्यपि मनुष्य, देव एवं ब्रह्माओं को प्राप्त सुख-समूह विपरिणाम में एकान्तरूप से दुःख देनेवाला ही होता है; फिर भी मनुष्य, देव एवं ब्रह्माओं के ऐश्वर्य-सुख की अभिलाषा करनेवाले सत्त्व उस दुःख का स्मरण नहीं करते। स्मरण होने पर भी अविद्या के आवरण के कारण उसे दुःखरूप में नहीं देखते और तृष्णा द्वारा उनमें आसक्त होकर बड़े उत्साह से पुण्य एवं आनेञ्ज्य-नामक अभिसंस्कारों का सम्पादन करते हैं[1]।

विवर्तनिश्रित (विवट्टनिस्सित) संस्कार भी अविद्या से रहित नहीं – मनुष्य, देव और ब्रह्मा-आदि की सुखसम्पत्ति की कामना करके किया गया वट्टनिस्सित (वर्तनिश्रित) पुण्य अविद्याजन्य होता है – यह तो सर्वजनसम्मत है। संसार के दुःखों को देखकर उन दुःखों से रहित निर्वाण की कामना करके किये गये विवट्टनिस्सित (विवर्तनिश्रित) पुण्य में भी अविद्या हेतु होती है; किन्तु इसमें कुछ लोगों को सन्देह है। यहाँ 'पकतूपनिस्सय' (प्रकृत्युपनिश्रय) प्रत्यय का ध्यान रखना चाहिये। कोई विशेष व्यापार न करके केवल अपने स्वभाव से उपकार करनेवाले शक्तिविशेष को 'पकतूपनिस्सय' शक्ति कहते हैं। विवट्टनिस्सित पुण्यकर्म करते समय यद्यपि अविद्या, कर्म करने के पूर्वभाग में 'उत्पाद-स्थिति-भङ्ग' रूप से तो आविर्भूत नहीं होती; तथापि जबतक अर्हत्त्व की प्राप्ति नहीं होती तबतक अनुशय धातु के रूप में अनु-शयित वह अविद्या (सांसारिक आपत्तियों का आवरण करनेमें असमर्थ होने पर भी) 'पकतूपनिस्सय' शक्ति से उपकार करती रहती है। अर्थात् जब पुद्गल अविद्या से रहित होकर अर्हत्त्व की प्राप्ति कर लेता है तभी उसके सब पुण्यकर्म पुण्याभिसंस्कार न होकर क्रिया-मात्र होते हैं। अर्हत् होने से पहले किये गये सम्पूर्ण पुण्य-कर्म चाहे वट्टनिस्सित हों चाहे विवट्टनिस्सित, क्रिया नहीं होते। वे अविद्या के क्षेत्र से मुक्त न होने के कारण 'पुण्याभिसंस्कार' नाम से ही कहे जाते हैं।

---

1. विसु०, पृ० ३६८, ३७२; विभ० अ०, पृ० १३५, १४८।

"अविज्जासमतिक्कमनत्थाय (विवट्टाभिपत्थनाय) पन दानादीनि चेव कामावचर-पुञ्ञकिरियवत्थूनि पूरेन्तस्स, रूपावचरज्झानानि च उप्पादेन्तस्स द्विन्नं पि तेसं उपनिस्सयपच्चयेन पच्चयो होति[1]।"

सङ्खारपच्चया – 'अविज्जापच्चया संङ्खारा' में कार्यसंस्कार तथा 'सङ्खार-पच्चया विञ्ञाणं' में कारणसंस्कार – इस प्रकार संस्कार द्विविध होते हैं। कार्य-संस्कार में कुशलाभिज्ञा चेतना एवं औद्धत्य (उद्धच्च) चेतना भी सम्मिलित रहती हैं। ये चेतनायें अविद्या से अविरहित पुद्गलों की सन्तान में उत्पन्न होती हैं। अतः ये अविद्या से उत्पन्न संस्कार हैं। प्रतिसन्धि विज्ञान को उत्पन्न न कर सकने के कारण, विज्ञान का उपकार करनेवाले कारणसंस्कार में ये कुशलाभिज्ञा एवं औद्धत्य चेतना सम्मिलित नहीं होतीं। 'सङ्खारपच्चया विञ्ञाणं' में 'विज्ञान' शब्द का अभिप्राय प्रतिसन्धिविज्ञान है[2]। औद्धत्य चेतना प्रतिसन्धि फल नहीं दे सकती। यह अकुशल विपाक चक्षुर्विज्ञान-आदि प्रवृत्तिविज्ञान उत्पन्न कर सकती है[3]।

विञ्ञाणं नामरूपं सळायतनं फस्सो वेदना – विज्ञान-आदि इन पाँच धर्मों के स्वरूप का वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ की अनेक टीकाओं में विविध प्रकार से किया गया है। पटिच्चसमुप्पादविभंग एवं विसुद्धिमग्ग अट्ठकथा में विज्ञान, नाम, एवं मन-आयतन द्वारा सभी चित्त-चैतसिकों का तथा रूप द्वारा सभी २८ रूपों का ग्रहण किया गया है। धातुकथा में भी विज्ञान-आदि द्वारा सभी चित्त-चैतसिकों का ग्रहण किया गया है। इसलिये वस्तुतः इनका स्वरूप क्या है? – यह जानना अत्यन्त कठिन हो गया है। पटिच्चसमुप्पादविभंग' पालि में इस सम्बन्ध में दो प्रकार के नय वर्णित हैं, १. सुत्तन्तभाजनीय, तथा २. अभिधम्मभाजनीय। उनमें सुत्तन्तभाजनीय नय के अनुसार भव-काल भेद से, हेतु-फल भेद से तथा 'तीन वट्ट' भेद से विभाग किया गया है। इसके अनुसार विज्ञान-आदि पाँच "मज्झे अट्ठ पच्चुपन्नो अद्धा[4]" इस पालि के अनुसार प्रत्युत्पन्न भव में सम्मिलित होते हैं। "इदानि फलपञ्चकं[5]" के अनुसार इन्हें पाँच फल कहते हैं, इसलिये ये विज्ञान-आदि विपाकवट्ट में भी सम्मिलित हैं, अतः सुत्तन्तभाजनीय के अनुसार फलधर्मों का ही ग्रहण करके विज्ञान द्वारा लौकिक विपाक-चित्त ३२, नाम द्वारा उन विपाक चित्तों से सम्प्रयुक्त चैतसिक नामस्कन्ध ३, रूप द्वारा कर्मजरूप, षडायतन के अन्तर्गत मन-आयतन द्वारा लौकिक विपाकचित्त ३२ तथा स्पर्श एवं वेदना द्वारा उन लौकिक विपाकचित्तों से सम्प्रयुक्त स्पर्श एवं वेदना चैतसिकों का ही ग्रहण करना चाहिये। इस 'अभिधम्मत्थसङ्गहो' का विभाजन 'सुत्तन्तभाजनीय नय' के आधार पर किया गया है[6]।

---

१. विभ० अ०, पृ० १४६; विसु०, पृ० ३८० ।

२. तु० – "सन्धिस्कन्धास्तु विज्ञानम्।" – अभि० को० ३ : २१, पृ० ३०५।

३. विभ० मू० टी०, पृ० ६५। ४. द्र० – अभि० स० ८:६।

५. द्र० – अभि० स० ८ : ८।

६. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० २६४-२६५; विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – विभ०, पृ० १७३–१७७; प० दी०, पृ० ३२६-३२७।

अभिधम्मभाजनीय नय के अनुसार विज्ञान-आदि द्वारा सभी चित्त, चैतसिक एवं रूपों का ग्रहण किया गया है। स्पर्श एवं वेदना द्वारा भी सभी चित्तों से सम्प्रयुक्त स्पर्श एवं वेदना चैतसिकों का ग्रहण किया गया है। 'धातुकथा' में भी इसी अभिधम्मभाजनीय नय के अनुसार सभी चित्त, चैतसिक एवं रूपों का ग्रहण किया गया है। सुत्तन्तभाजनीय नय की व्याख्या करनेवाली अट्ठकथाओं में अशेष उपकार को दिखलाने के लिये अभिधम्मभाजनीय नय का भी सम्मिश्रण करके विज्ञान आदि द्वारा सभी चित्त, चैतसिक एवं रूपों का ग्रहण किया गया है – ऐसा जानना चाहिये। (अभिधम्मभाजनीय नय के अनुसार संस्कार द्वारा लोकोत्तर कुशल में सम्प्रयुक्त चेतना का भी ग्रहण किया गया है।) विभंग-मूल टीका में कहा गया है– "यथावुत्तसङ्खारपच्चया उप्पज्जमानं तं कम्मनिब्बत्तमेव विञ्ञाणं भवितुमरहतीति बात्तिंस लोकियविपाकविञ्ञाणानि सङ्गहितानि होन्तीति आह। धातुकथायं पन... सब्बविञ्ञाणफस्सवेदनापरिग्गहो कतो...तस्मा तत्थ अभिधम्मभाजनीयवसेन सङ्खारपच्चया विञ्ञाणादयो गहीता ति वेदितब्बा। अविज्जापच्चया सङ्खारा च अभिधम्मभाजनीये चतुभूमककुसलसङ्खारो अकुसलसङ्खारो च वुत्तो, सो व धातुकथायं गहीतो ति दट्ठब्बो"[1]।

संस्कार से विज्ञान की उत्पत्ति – पूर्व पूर्व भव में कृत पुण्याभिसंस्कार से प्रत्युत्पन्न भव की कामसुगति भूमि एवं रूपभूमि में प्रतिसन्धिविज्ञान की उत्पत्ति होती है। अपुण्याभिसंस्कार से अपायभूमि में प्रतिसन्धिविज्ञान की उत्पत्ति होती है तथा आनेञ्ज्याभिसंस्कार से अरूपभव में प्रतिसन्धिविज्ञान की उत्पत्ति होती है। इन पूर्व पूर्व भव के संस्कारों से इस प्रत्युत्पन्न भव के प्रवृत्ति काल में भी चक्षुर्विज्ञान-आदि विपाकविज्ञानों की उत्पत्ति होती है[2]। (उन पूर्व संस्कारों द्वारा विपाकविज्ञानों का उपकार करने के बारे में 'नानाक्खणिकम्मपच्चय'[3] देखना चाहिये।)

विज्ञान से नामरूप की उत्पत्ति – जब प्रतिसन्धिविज्ञान उत्पन्न होते हैं तब उन विज्ञानों से सम्प्रयुक्त तीन नामस्कन्ध एवं कर्मज रूपकलापों की उत्पत्ति भी युगपत् होती है। उन युगपत् उत्पन्न विज्ञान, नाम एवं रूपों में से विज्ञान प्रमुख होता है। इसलिये 'विज्ञान से नामरूपों की उत्पत्ति होती है' – ऐसा कहा गया है। प्रवृत्तिकाल में भी चक्षुर्विज्ञान-आदि के कारण सम्प्रयुक्त चैतसिक नामधर्म उत्पन्न होते हैं। प्रवृत्ति-कर्मजरूप विज्ञान से उत्पन्न होते हैं – ऐसा नहीं कहा जा सकता, परन्तु अभिधम्मभाजनीयनय के अनुसार 'पच्छाजात' शक्ति द्वारा विज्ञान से कर्मज रूपों का उपकार होता है[4]। (यहाँ 'नाम' शब्द द्वारा चित्त एवं चैतसिक दोनों का ग्रहण करना

१. विभ० मू० टी०, पृ० १०१-१०२।

२. विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – विसु०, पृ० ३८३-३८४; विभ० अ०, पृ० १५३-१५५।

३. द्र० – पच्चयसमुच्चय (अष्टम परिच्छेद का) परिशिष्ट।

४. विस्तार के लिये द्र० – विसु०, पृ० ३७७, ३९३-३९६; विभ० अ०, पृ० १७१-१७३, २०६।

चाहिये, किन्तु 'विज्ञान' शब्द द्वारा चित्तों का कारणपक्ष में ग्रहण हो चुका है अतः कारण एवं कार्य में सम्मिश्रण न होने देने के लिये 'नाम' शब्द द्वारा चित्त का ग्रहण नहीं किया जाता।)

नाम-रूप में एकशेष पर विचार – पञ्चवोकारभूमि में चित्तजरूपों का उत्पाद न कर सकनेवाले चक्षुर्विज्ञान-आदि विज्ञानों द्वारा विज्ञान, नाम का ही उत्पाद कर सकता है। अन्य विज्ञानों द्वारा नाम एवं रूप दोनों का उत्पाद कर सकता है। अरूप-भूमि में रूप नहीं होने से नाम का ही उत्पाद करता है। असंज्ञिभूमि में विपाक-विज्ञान न होने से सुत्तन्तभाजनीय नय के अनुसार असंज्ञिकर्मज रूपों का उत्पाद नहीं कर सकता; किन्तु अभिधम्मभाजनीयनय के अनुसार असंज्ञिभूमि में पहुँचने से पूर्ववाले भव में, असंज्ञिभूमि में पहुँचने के लिये आरब्ध पंचम ध्यान कुशलकर्म नामक कर्म-विज्ञान द्वारा असंज्ञिकर्मज रूपों का उत्पाद कर सकता है, अतः "'नामञ्च' – अरूप भूमि में, कभी पञ्चवोकार भूमि में नाम; 'रूपञ्च' – असंज्ञिभूमि में रूप; 'नाम-रूपञ्च' पञ्चवोकार भूमि में कभी नाम एवं रूप" – के अनुसार 'नामरूपनामरूपं' – इस प्रकार पाठ होना चाहिये, किन्तु पूर्व नाम एवं रूप का लोप करके 'नामरूप' इस तरह एकशेष किया गया है[1]।

नाम-रूप से सळायतन की उत्पत्ति – यहाँ षडायतन द्वारा चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय एवं मन आयतन का ग्रहण होता है। जब नामरूपों में आनेवाले कर्मजरूपों की उत्पत्ति होती है, तब चक्षुरायतन आदि ५ रूपी आयतन उत्पन्न होते हैं। अर्थात् कर्मज रूपों के उत्पाद से ही चक्षुरायतन-आदि पाँच रूपायतनों की उत्पत्ति हो सकती है। यदि कर्मजरूप न होंगे तो चक्षुरायतन-आदि नहीं हो सकते। नाम में आनेवाले चैतसिक नामधर्मों द्वारा मन-आयतन नामक विपाक विज्ञान का 'सहजात' आदि शक्तियों से उपकार होता है। अर्थात् विज्ञान से चैतसिक नामों की उत्पत्ति होती है और चैतसिक नामधर्मों से मन-आयतन नामक विपाकविज्ञान उत्पन्न होता है, अतः चित्त-चैतसिकों का अन्योन्य शक्ति द्वारा उपकार होता है। इस प्रकार के उत्पाद में पञ्चवोकार भूमि में नाम एवं रूप दोनों के द्वारा षडायतन का उपकार किया जा सकने पर भी अरूपि भूमि में नाम द्वारा केवल मन-आयतन का ही उपकार होने से "'सळायतनञ्च' – पञ्चवोकार भूमि में ६ आयतन; 'छट्ठायतनञ्च' – अरूप-भूमि में छठवाँ मनायतन" – इस प्रकार विग्रह करके 'सळायतनछट्ठायतनं' – इस प्रकार पाठ होना चाहिये, किन्तु 'छट्ठायतनं' शब्द का लोप करके 'सळायतन' इस प्रकार एकशेष करके 'नामरूपपच्चया सळायतनं' – ऐसा कहा गया है, अतः "'सळायतनं' का ६ आयतन एवं छठवाँ मनायतन" – इस प्रकार अर्थ करना चाहिये[2]।

---

१. "नामञ्च रूपञ्च नामरूपञ्च नामरूपं ति एत्थ नामरूपसद्दो अत्तनो एकदेसेन नामसद्देन नामसद्दस्स सरूपो, रूपसद्देन च रूपसद्दस्स; तस्मा 'सरूपानं एकसेसो' ति नामरूपसद्दस्स ठानं इतरेसञ्च नामरूपसद्दानं अदस्सनं दट्ठब्बं।" – विभ० मू० टी०, पृ० ११६।

२. "छट्ठायतनञ्च सळायतनञ्च सळायतनं ति एत्थ यदिपि छट्ठायतन – सळा-यतनसद्दानं सद्दतो सरूपता नत्थि; अत्थतो पन सळायतनेकदेसो व

यहाँ 'मनआयतन' शब्द द्वारा सम्पूर्ण लौकिक विपाकों का ग्रहण अट्ठकथा, टीकाओं के अनुसार किया गया है; किन्तु "चक्खुञ्च पटिच्च रूपे च उप्पज्जति चक्खुविञ्ञाणं, तिण्णं सङ्गति फस्सो...मनञ्च पटिच्च धम्मे च उप्पज्जति मनोविञ्ञाणं, तिण्णं सङ्गति फस्सो; फस्सपच्चया वेदना"[1] – आदि पालि का आधार करके स्पर्श एवं वेदना का उपकार करने के लिये द्वारकृत्य करने वाले 'भवङ्ग' नामक मन का ही ग्रहण होना चाहिये[2]। अट्ठकथा में जो विपाक नहीं होनेवाले (अविपाक) मनों को भी उद्धृत किया गया है, वह अशेष उपकार दिखलाने के लिये है।

"पच्चयनये पन अविपाकस्सापि पच्चयो वुत्तो सो निरवसेसं वत्तुकामताय उद्धटो ति वेदितब्बो[3]"।

सळायतन से फस्स और फस्स से वेदना की उत्पत्ति – स्पर्श के ६ प्रकार हैं। यथा – चक्षुःसंस्पर्श, श्रोत्रसंस्पर्श, घ्राणसंस्पर्श, जिह्वासंस्पर्श, कायसंस्पर्श एवं मनःसंस्पर्श। उनमें से चक्षुःप्रसाद में आश्रित स्पर्श चक्षुःसंस्पर्श होता है। अर्थात् चक्षुर्विज्ञान से सम्प्रयुक्त स्पर्श चैतसिक। यह चक्षुःसंस्पर्श चक्षुरायतन के अभाव में उत्पन्न नहीं हो सकता, चक्षुरायतन से ही उत्पन्न होता है। इसी तरह श्रोत्र, घ्राण-आदि से श्रोत्र, घ्राण-आदि संस्पर्शों की उत्पत्ति को जानना चाहिये। द्विपञ्चविज्ञानवर्जित २२ लौकिक विपाक चित्तों में सम्प्रयुक्त स्पर्शचैतसिक मनःसंस्पर्श है। वह भी मन-आयतन से ही उत्पन्न होता है। जब ६ स्पर्श उत्पन्न होते हैं तब ६ वेदनायें भी उनके साथ युगपत् उत्पन्न होती हैं। स्पर्श के अभाव में 'वेदना' नामक अनुभव का उत्पाद असम्भव है। इसीलिये 'सळायतनपच्चया फस्सो, फस्सपच्चया वेदना' कहा गया है। ६ वेदनायें ये हैं – चक्षुःसंस्पर्शजा वेदना, श्रोत्रसंस्पर्शजा वेदना, घ्राणसंस्पर्शजावेदना, जिह्वासंस्पर्शजा वेदना, कायसंस्पर्शजा वेदना तथा मनःसंस्पर्शजा वेदना। चक्षुःसंस्पर्श से उत्पन्न वेदना चक्षुःसंस्पर्शजा वेदना कही जाती है। इसी तरह श्रोत्रसंस्पर्शजा-आदि वेदनाओं को भी जानना चाहिये[4]।

वेदना से तृष्णा की उत्पत्ति – संक्षेपतः तृष्णा ६ प्रकार की होती है, यथा – रूपतृष्णा, शब्दतृष्णा, गन्धतृष्णा, रसतृष्णा, स्प्रष्टव्यतृष्णा एवं धर्मतृष्णा। उन षड्विध तृष्णाओं का कामतृष्णा, भवतृष्णा एवं विभवतृष्णा – इन तीन तृष्णाओं से गुणा करने पर वे १८ हो जाती हैं। उन १८ तृष्णाओं का आध्यात्मिक एवं बाह्य – इन दो सन्तानों से गुणा करने पर इनकी संख्या ३६ होती है। उन

छट्ठायतनं ति एकदेससरूपतः अत्थीति एकदेससरूपेकसेसो कतो ति वेदितब्बो।" – विभ० मू० टी०, पृ०, ११७। द्र० – विसु०, पृ० ३९६; विभ० अ०, पृ० १७१-१७८।

१. म० नि०, प्र० भा०, पृ० १४९; सं० नि०, तृ० भा०, पृ० २९-३०।

२. ब० भा० टी०।

३. विभ० मू० टी०, पृ० ११८।

४. विस्तार के लिये द्र० – विसु०, पृ० ३९८-४००; विभ० अ०, पृ० १७९-१८२।

३६ तृष्णाओं का भी तीन कालों से गुणा करने पर इनकी संख्या कुल १०८ हो जाती है[1]।

आसक्तिरूप तृष्णा अनुभवरूप तृष्णा का आश्रय करके उत्पन्न होती है। यह प्रत्यक्ष है कि हमें प्रायः अपने अनुभूत आलम्बन में ही आसक्ति होती है, अननुभूत आलम्बन में तृष्णा का उत्पाद दुष्कर है। 'रूपालम्बन के प्रति आसक्ति है'—ऐसा कहते समय वस्तुतः वह आसक्ति उस रूपालम्बन को देखते समय उसमें जो सुखवेदना होती है, उस सुख-वेदना ही के प्रति होनेवाली तृष्णाजन्य आसक्ति होती है। जब उस सुख वेदना के प्रति आसक्ति होती है तो स्वभावतः उस सुखवेदना का उत्पाद करने में समर्थ आलम्बन के प्रति भी आसक्ति होती ही है। अतएव 'वेदना से तृष्णा की उत्पत्ति होती है'—ऐसा कहा गया है। दुःखवेदना का अनुभव करते समय 'इस दुःखवेदना से मुक्ति होकर कब सुख होगा'—इस प्रकार तृष्णा द्वारा सुख के प्रति अथवा सुखोत्पादक आलम्बन के प्रति कामना की जाती है। जब सुख होता है तब भी तृष्णा द्वारा न केवल उस सुख के प्रति आसक्ति होती है; अपितु उससे भी अधिक सुख की कामना की जाती है। उपेक्षावेदना उपशमस्वभाववाली है, अतः वह सुखवेदना की तरह ही है, इसलिये दुःख, सुख एवं उपेक्षा वेदनाओं से नाना प्रकार की तृष्णाओं की उत्पत्ति होती है। उनमें चक्षुःसंस्पर्शजा वेदना से रूपतृष्णा की उत्पत्ति होती है। उसी तरह शब्दसंस्पर्शजा-आदि वेदनाओं से शब्दतृष्णा-आदि तृष्णायें उत्पन्न होती हैं तथा मनःसंस्पर्शजा वेदना से धर्मालम्बन की अभिलाषा करनेवाली धर्मतृष्णा का उत्पाद होता है[2]।

तृष्णा से उपादान की उत्पत्ति—उपादान चार प्रकार का होता है, यथा—कामोपादान, दृष्ट्युपादान, शीलव्रतोपादान, आत्मवादोपादान[3]। पहले कहा जा चुका है कि उपादान में 'उप' शब्द अतिरेकार्थक है तथा 'आदान' शब्द ग्रहणवाची है। अपने से सम्बद्ध आलम्बन का अतिशयरूप से ग्रहण करनेवाले धर्म 'उपादान' कहे जाते हैं। अतः साधारणतया आसक्ति का नाम तृष्णा है तथा अतिरेकरूप से होनेवाली आसक्ति 'कामोपादान' कहलाती है। मनोज्ञ रूपालम्बन को देखते समय सर्वप्रथम तृष्णा का उत्पाद होता है। यह तृष्णा शनैःशनै वृद्धि को प्राप्त करके कामोपादान के रूप में परिवर्तित हो जाती है। शब्दालम्बन-आदि में भी प्रथम तृष्णा का उत्पाद, तदनन्तर उसकी कामोपादान के रूप में परिणति, पहले की तरह ही समझाना चाहिये[4]।

---

१. द्र० — अभि० स० 'तण्हा समुदयो भवे' — ७:४६, पृ० ८०२।

२. विस्तार के लिये द्र० — विसु०, पृ० ४००; विभ० अ०, पृ० १८२-१८३; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ३२६; विभ० मू० टी०, पृ० १२०।

३. द्र० — अभि० स० ७ : ७ पृ० ७४०।

४. "तण्हाय हि रूपादीनि अस्सादेत्वा अस्सादेत्वा कामेसु पातब्यतं आपज्जन्तीति तण्हा कामुपादानस्स पच्चयो।" — विभा०, पृ० १८०; विसु०, पृ० ४०१-४०२; विभ० अ०, पृ० १८३-१८४।

तृष्णा एवं कामोपादान में भेद – अन्योन्य की अपेक्षा करके पूर्व पूर्व दुर्बल आसक्ति 'तृष्णा' है तथा तदनन्तर उत्पन्न बलवती आसक्ति 'कामोपादान' है। कुछ लोगों का मत है कि किसी आलम्बन की प्राप्ति से पूर्व होनेवाली उसकी अभिलाषा 'तृष्णा' है तथा प्राप्ति के अनन्तर उसके प्रति होनेवाली आसक्ति का अतिरेक 'कामोपादान' है। अथवा – तृष्णा, अल्पेच्छता के विपरीत स्वभाववाला धर्म है तथा कामोपादान सन्तुष्टि का विपरीत धर्म है। आलम्बन के प्रति सर्वप्रथम अभिलाषा 'तृष्णा' तथा उसके प्राप्त हो जाने पर पुनः पुनः उसकी अभिलाषा 'कामोपादान' है। अथवा – आलम्बन की अभिलाषा, उसका अन्वेषण-आदि दुःखसमूह का मूल कारण 'तृष्णा' है तथा प्राप्त आलम्बन का अनुचिन्तन, रक्षण-आदि दुःखसमूहों का मूल कारण 'कामोपादान' है[1]।

"एत्थ च दुब्बला तण्हा नाम; बलवती उपादानं। असम्पत्तविसयपत्थना वा तण्हा, तमसि चोरानं हत्थसारणं विय; सम्पत्तविसयगहणं उपादानं, चोरानं हत्थप्पत्तस्स गहणं विय। अप्पिच्छतापटिपक्खा तण्हा; सन्तोसप्पटिपक्खं उपादानं। परियेसनदुक्खमूलं तण्हा; आरक्खदुक्खमूलं उपादानं ति – अयमेतेसं विसेसो[2]।"

तृष्णा से दृष्ट्युपादान की उत्पत्ति – सभी प्रकार की दृष्टियाँ चाहे वे छोटी हों या बड़ी, दृढ़तापूर्वक ग्रहण करने से 'उपादान' कहलाती हैं। नाना प्रकार की दृष्टियों में आत्मवादोपादान 'पञ्चस्कन्धों में उनके अतिरिक्त आत्मनामक पदार्थ हैं,' – इस प्रकार ग्रहण करने वाली एक दृष्टि है। इसे 'सत्कायदृष्टि' भी कहते हैं। इसके द्वारा अपने स्कन्ध का आत्मा के रूप में उपादान, स्वभाव से ही अपने प्रति तृष्णा द्वारा आसक्ति होने के कारण होता है। अर्थात् तृष्णा द्वारा आसक्ति के कारण सत्कायदृष्टि द्वारा आत्मग्रह एवं आत्मीयग्रह का उपादान होता है। आत्मसंज्ञा होने पर परसंज्ञा भी होती है और उनसे राग-द्वेष नानाविध दोष प्रादुर्भूत होते हैं। शीलव्रतोपादान, गोचरित, कुक्कुरचरित-आदि नाना प्रकार के आचरणों को करनेवाली भी 'दृष्टि' ही है। अपने प्रति तृष्णा द्वारा आसक्ति होने पर अनागतभव में सुख-प्राप्ति के लिये गोचरित, कुक्कुरचरित-आदि आचरण किये जाते हैं। दृष्ट्युपादान नामक दृष्टियाँ तृष्णा ही के कारण होती हैं, अतः उपर्युक्त तीनों दृष्ट्युपादान तृष्णा से ही उत्पन्न होते हैं। यह तृष्णा ही सम्पूर्ण दोषों का बीज है[3]।

---

१. विसु०, पृ० ४०२; विभ० अ०, पृ० १८४; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ३२७; विभ० मूं० टी०, पृ० १२२।

२. विभा०, पृ० १७९।

३. "तथा रूपादिभेदे गधितो 'नत्थि दिन्नं' त्यादिना मिच्छादस्सनं, संसारतो मुञ्चितुकामो असुद्धिमग्गे सुद्धिमग्गपरामासं, खन्धेसु अत्तत्तनियगाहभूतं अत्तवाददस्सनद्वयञ्च गण्हाति, तस्मा दिट्ठुपादादीनं पि पच्चयो ति।" –विभा०, पृ० १८०।

उपादान से भव की उत्पत्ति – कामभव एवं उत्पत्ति-भव भेद से भव दो प्रकार का होता है। लौकिक कुशल एवं अकुशल-कर्म नामक २९ चेतना 'कर्मभव' हैं। 'भवति एतस्मा ति भवो, कम्ममेव भवो कम्मभवो' अर्थात् जिससे (कर्म से) फल का उत्पाद होता है उसे 'भव' कहते हैं। कर्म ही 'भव' है; क्योंकि कर्म से ही फलोत्पाद होता है। अट्ठकथा में 'भवतीति भवो' इस विग्रह के आधार पर फल (कार्य) विपाक की मुख्यतः 'भव' संज्ञा है; किन्तु फलविपाक के 'भव' इस नाम का कारण 'कर्म' में उपचार करके फलोपचार से कारण कर्म को 'भव' कहते हैं – ऐसा कहा गया है[1]।

कारणकर्म से उत्पन्न ३२ लौकिक विपाक एवं कर्मजरूपों को 'उपपत्ति भव' कहते ह। 'उपपज्जतीति उपपत्ति, भवतीति भवो, उपपत्ति च सो भवो चा ति उपपत्तिभवो' जो अनागत में उपपन्न होता है, वह 'उपपत्ति' है, जो होता है वह 'भव' है; जो उपपत्ति है, वही भव है; अतः उसे 'उपपत्तिभव' कहते हैं। अर्थात् इस प्रत्युत्पन्नभव में कृत कुशल, अकुशल कर्म से अनागतभव में उत्पन्न होने वाले फलविपाक 'उपपत्तिभव' कहलाते हैं[2]।

संस्कार एवं कर्म में विशेष – संस्कार एवं कर्म भव दोनों लौकिक कुशल एवं अकुशल में सम्प्रयुक्त चेतना ही होते हैं, अतः उनमें क्या भेद है?

समाधान – इस प्रत्युत्पन्न भव में फल प्राप्त करने के लिये अतीतभव में उत्पन्न चेतना को 'संस्कार' कहते हैं (अविज्जा सङ्खारा अतीतो अद्धा)। अनागतभव में फल प्राप्त करने के लिये इस भव में उत्पन्न चेतना 'कर्मभव' है (पच्चुप्पन्नो अद्धा)। अतः चेतना में साम्य होने पर भी भवकाल भेद से भेद होता है।

उपपत्तिभव ९ प्रकार का होता है, यथा – कामभव, रूपभव, अरूपभव, संज्ञीभव, असंज्ञीभव, नैवसंज्ञानासंज्ञीभव, एकवोकारभव, चतुवोकारभव तथा पञ्च-

---

तु० – "यः पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते॥
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत् स संसारे॥
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते॥" – प्र० वा०, पृ० ८६-८७; प्रसन्न०, पृ० २९६।

१. "फलवोहारेन कम्मभवो भवो ति वुत्तो ति उपपत्तिभवनिब्बचनमेव द्वयस्स पि साधारणं कत्वा वदन्तो आह – 'भवतीति भवो' ति। भवं गच्छतीति निप्फादनफलवसेन अत्तनो पवत्तिकाले भवाभिमुखं हुत्वा पवत्ततीति अत्थो। निब्बत्तनमेव वा एत्थ गमनं अधिप्पेतं।" – विभ० मू० टी०, पृ० १२२। द्र० – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ३३०; विसु०, पृ० ४०३; विभ० अ०, पृ० १८६।

२. विसु०, पृ० ४०३-४०४; विभ० अ०, पृ० १८६-१८७।

वोकारभव। इन ९ भवों का संक्षेप करने पर कामभव, रूपभव एवं अरूपभव–इन तीन भवों में ही सबका अन्तर्भाव हो जाता है[1]।

कामोपादान से द्विविध भव की उत्पत्ति–"उम्मत्तको विय हि पुथुज्जनो[2]" के अनुसार पृथग्जनों का चित्त उन्मत्त पुद्गल के सदृश होता है। उनमें कार्यकारण का ज्ञान अत्यल्प होता है। वे कामोपादान के वश से मनुष्यसुख एवं देवसुख की प्राप्ति के लिये उन उन कर्मों का सम्पादन करते हैं। उनमें से कुछ पुद्गल दुर्दृष्टि गुरुओं के उपदेश पर विश्वास कर प्राणिहिंसा करके यज्ञ-आदि दुश्चरित अकुशल कर्मों को करते हैं। इस भव में भी कामसुख भोग के लिये एक दूसरे की हिंसा करना, लूटना आदि नाना प्रकार के दुश्चरित करते हैं। उन अकुशल कर्मभव (कर्म) के कारण अपायभूमि में उपपत्तिभव प्राप्त करते हैं। कुछ पुद्गल अविपरीतदृष्टि कल्याणमित्रों के उपदेश पर विश्वास करके कामावचर कुशल कर्म करने से कर्मभवकालिक आशा के अनुसार मनुष्य एवं देव भूमि में शोभन उपपत्तिभव का लाभ करते हैं। कुछ पुद्गल 'रूप-अरूपभूमि में कामभूमि से अधिक सुख होता है'–इस प्रकार सुनकर विचार करके उन उन सुखों का भोग करने की इच्छावाले कामोपादान से रूप-अरूप ध्यान नामक कर्मभव को आरब्ध करते हैं। जिसके परिणामस्वरूप रूप-अरूप भूमि में उपपत्तिभव नामक विपाक कर्मजरूप उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार कामोपादान से कर्मभव एवं उपपत्तिभव दोनों हो सकते हैं[3]।

दृष्ट्युपादान-आदि से द्विविध भव की उत्पत्ति–कुछ उच्छेददृष्टि पुद्गलों का यह विचार होता है कि 'मेरी आत्मा का यदि कामसुगति भूमि, रूपभूमि या अरूप-भूमि में उच्छेद होगा तो अच्छा उच्छेद होगा'। वे इस प्रकार के 'उच्छेददृष्टि' नामक दृष्ट्युपादान का आधार करके उन भूमियों में उत्पन्न होने के लिये कुशल कर्म-भव का समादान करते हैं। कुछ शाश्वतदृष्टि पुद्गल यह सोचते हैं कि 'मेरा यह आत्मा यदि कामसुगति-भूमि, रूपभूमि या अरूपभूमि में उत्पन्न होगा तो एकान्तरूप से सुख की प्राप्ति होगी'। वे इस प्रकार के आत्मवादोपादान को आधार करके उन भूमियों में उत्पन्न होने के लिये कुशलकर्म करते हैं। कुछ शीलव्रतोपादानदृष्टि पुद्गल यह सोचते हैं कि 'मैं जिस गोचरित-आदि व्रतों का आचरण कर रहा हूँ, उसका

---

१. विभ०, पृ० १७५; विसु०, पृ० ४०३-४०५; विभ० अ०, पृ० १८६-१८८; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ३३१; विभ० मू० टी०, पृ० १२२-१२३।

२. विसु०, पृ० ४०५; विभ० अ०, पृ० १८८।

३. विस्तृत ज्ञान के लिये द्र०–विसु०, पृ० ४०५; विभ० अ०, पृ० १८८-१८९।

यदि देवभूमि, ब्रह्मभूमि-आदि में आचरण करेंगा तो अनायास सिद्धि प्राप्त होगी[1]। वे इस प्रकार शीलव्रतोपादान का आधार करके उन उन भूमियों में उत्पाद के लिये कर्म करते हैं। उपर्युक्त दृष्टियों से आचरण करते समय यदि उनका आचरण सम्यक् होगा तो वे अपनी इच्छानुसार सुगतिभूमि में उपपत्तिभव प्राप्त करेंगे। यदि उनका आचरण मिथ्या होगा तो वे अपाय नामक दुर्गतिभूमि में उपपत्ति का लाभ करेंगे। इस प्रकार नानाविध दृष्टियों से कर्मभव, उपपत्तिभव नामक द्विविध भव की उत्पत्ति होती है[1]।

भव से जाति की उत्पत्ति – उन उन भवों में विपाकविज्ञान तथा कर्मजरूपों के उत्पाद को 'जाति' कहते हैं[2]। जैसे – मनुष्यभूमि में महाविपाक प्रथम चित्त नामक विज्ञान, उससे सम्प्रयुक्त चैतसिक नाम तथा तत्सहभू तीन कर्मजकलाप सर्वप्रथम उत्पन्न होते हैं। इन विज्ञान, नाम एवं रूपों के सर्वप्रथम उत्पाद को 'जाति' या 'प्रतिसन्धि' कहते हैं। इसी तरह अन्य भूमियों में भी यथायोग्य नाम-रूपों की प्रथम उत्पत्ति को 'जाति' जानना चाहिये। ये विपाक, नाम एवं कर्मजरूप प्रत्युत्पन्न कर्मभव के कारण अनागतभव में उपपत्तिभव के रूप में उत्पन्न होनेवाले धर्म हैं। उस उपपत्तिभव के उत्पाद को 'जाति' कहते हैं। इसीलिये कर्मभव न होने पर उपपत्तिभव नहीं हो सकता तथा उपपत्तिभव के अभाव में 'जाति' का होना भी असम्भव है। अतः 'जाति' इन दोनों भवों से प्रादुर्भूत होती है। [अट्ठकथा में कर्मभव से ही जाति का उत्पाद माना गया है, तथा मूलटीका में कर्मभव एवं उपपत्तिभव दोनों से 'जाति' का प्रादुर्भाव माना गया है[3]। प्रवृत्तिकाल में चक्षुर्विज्ञान-आदि विपाक नाम-रूपों की उत्पत्ति को भी 'जाति' कहा जाता है, तथा 'अभिधर्मभाजनीयनय' में कुशल, अकुशल, क्रिया; ऋतु, आहार एवं चित्तजरूपों के उत्पाद को भी 'जाति' कहा गया है। 'सुत्तन्तभाजनीयनय' में नहीं[4]।]

जाति से जरामरण की उत्पत्ति – जरा-मरण द्विविध हैं, यथा – अप्रकट जरामरण और प्रकट जरामरण। विपाक, नाम एवं कर्मजरूपों का स्थितिकाल 'जरा' तथा उनका भङ्गकाल 'मरणक्षण' कहा जाता है; किन्तु यह जरामरण स्पष्ट रूप से अनुभूत नहीं होता, अतः इसे 'अप्रकट जरामरण' कहते हैं। दाँतों के गिरने, बालों के पकने एवं चमड़ी में झुर्री आजाने-आदि को 'प्रकट जरा' कहते हैं, तथा जीवन के अन्तिम काल में विपाक, नाम एवं रूपों के च्युतिकाल को 'प्रकटमरण' कहते हैं। प्रत्येक भव में सर्वप्रथम 'जाति' नामक प्रतिसन्धि होनेपर ही प्रकट अथवा अप्रकट जरामरण सम्भव

---

१. विसु०, पृ० ४०५-४०६; विभ० अ०, पृ० १८९-१९०।

२. द्र० – दी० नि०, द्वि० भा०, पृ० २२८।

३. विभ०, पृ० १९१; विसु०, पृ० ४०६; विभ० मू० टी०, पृ० १२४।

४. तु० – विसु०, पृ० ३४८।

हैं। यदि जाति न होगी तो किसी भी प्रकार का जरामरण सम्भव न हो सकेगा अतः जाति से जरामरण की उत्पत्ति कही गयी है।[1]

शोक-परिदेव-दुःख-दौर्मनस्य-उपायास – अपनी ज्ञाति, सम्पत्ति, गुण, श्री-आदि के नाश से जो अनुताप होता है, उसे 'शोक' कहते हैं। उपर्युक्त ज्ञाति-आदि के विनाश से जो विलाप होता है, उस विलाप की ध्वनि को 'परिदेव' कहते हैं। स्कन्धपञ्चक में जो दुःखवेदना होती है, उसे ही 'दुःख' कहते हैं। अप्रिय-सम्प्रयोग, प्रिय-विप्रयोग, इष्ट की असम्प्राप्ति एवं ज्ञाति, सम्पत्ति, गुण, श्री-आदि के विनाश से चित्त में उत्पन्न होनेवाली दुःखवेदना को 'दौर्मनस्य' कहते हैं। 'उपायास' शब्द में 'उप' उपसर्ग अधिकार्थक है, अतः शोक, परिदेव से होनेवाले दुःख की अपेक्षा तीव्र दुःख के उत्पाद को 'उपायास' कहते हैं[2]। ये शोक-परिदेव-आदि जरादुःख एवं मरणदुःख के सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले भी होते हैं, तथा जरादुःख एवं मरणदुःख से सम्बन्धित न होकर ज्ञाति, सम्पत्ति, गुण एवं श्री-आदि के विनाश से उत्पन्न होनेवाले भी होते हैं। ये (शोक-परिदेव-आदि) जरामरण से सम्बद्ध हों चाहे असम्बद्ध, किन्तु मूलभूत जाति के होने पर ही इनका उत्पाद सम्भव है, इसीलिये इन्हें जाति से उत्पन्न धर्म कहा जाता है। जाति होने पर किसी भी भव में जरामरण एकान्त रूप से होता है, अतः जरामरण जाति के मुख्य फल है। शोक-परिदेव आदि, देवभूमि एवं ब्रह्मभूमि में नहीं होते, तथा इस मनुष्यभूमि में भी जाति के कुछ ही क्षणों के अन्दर च्युति करनेवालों में नहीं होते। अतः शोक-आदि जाति के मुख्यफल नहीं हैं, अपितु 'निष्यन्दफल' हैं। शोक-परिदेव आदि की अवस्था को एक उपमा के द्वारा इस प्रकार समझाया गया है। जैसे – किसी कड़ाही में तैल के तप्त (पाक) होने को शोक' उसमें बुलबुले उठने, उफान आने तथा खदकने के शब्द को 'परिदेव' तथा उस तैल के जल जलकर समाप्त होने की प्रक्रिया को 'उपायास' समझना चाहिये[3]।

एवमेतस्स ··· समुदयो होति – यह उपर्युक्त प्रतीत्यसमुत्पाद धर्मसमूह का निगमन वाक्य है। इसमें 'एवं' शब्द पूर्वोक्त कारणसमूहों का निर्देशक है। अतः इसके द्वारा

---

१. "सति च जातिया एव जरामरणसम्भवो, नहि अजातानं जरामरणसम्भवो होतीति जाति जरामरणानं पच्चयो ति एवमेतेसं तब्भावभावी भावो दट्ठब्बो।" – विभा०, पृ० १८०।
तु० – विभ० अ०, पृ० ९९-१००, १०२-१०३, १९१; विसु०, पृ० ३५०-३५१, ४०७; अट्ठ०, पृ० २६३-२६४; दी० नि०, द्वि० भा०, पृ० २२८।

२. द्र० – विसु०, पृ० ३५१-३५२; विभ० अ०, पृ० १०४-१०७; दी० नि०, द्वि० भा०, पृ० २२८।

३. "एत्थ च मन्दग्गिना अन्तोभाजने येव तेलादीनं पाको विय सोको, तिक्खग्गिना पच्चमानस्स भाजनतो बहिनिक्खमनं विय परिदेवो, बहिनिक्खन्तावसेसस्स निक्खमितुं पि अप्पहोन्तस्स अन्तोभाजने येव याव परिक्खया पाको विय, उपायासो दट्ठब्बो।" – विभ० अ०, पृ० १०८; विसु०, पृ० ३५२।

'अविद्या-आदि कारणसमूह से ही इस दुःखस्कन्ध (कार्यसमूह) की उत्पत्ति होती है, ईश्वर-आदि अन्य कारणों से नहीं'—यह दिखलाया गया है। 'केवल' शब्द असम्मिश्रण तथा अशेष अर्थ में प्रयुक्त है। 'समुदय' शब्द का अर्थ 'उत्पन्न होना' है तथा 'होति' (हू-सत्तायं) शब्द का अर्थ भी 'उत्पन्न होना' है। इन दोनों में विशेष यह है कि 'समुदय' शब्द धर्मों के उत्पाद-स्थिति-भङ्ग के रूप में उत्पन्न होने का द्योतक है तथा 'होति' शब्द साधारणरूप से उत्पन्न होने का द्योतक है। अतः सब का सारांश यह हुआ कि अविद्या-आदि कारणों से, सुख से असम्मिश्रित अशेष दुःखात्मक नामरूपस्कन्ध की ही उत्पाद-स्थिति-भङ्ग रूप से उत्पत्ति होती है। पुद्गल, सत्त्व, अहम्, त्वम्, स्त्री, पुरुष-आदि की उत्पत्ति नहीं होती और शुभ, सुख-आदि भी उत्पन्न नहीं होते। प्रतीत्यसमुत्पादधर्मों में जाति, जरा, मरण, शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य एवं उपायासनामक दुःखसमूह जीवन में स्पष्टरूप से प्रतिभासित होते हैं। अविद्या, संस्कार-आदि नामरूपात्मक धर्मसमूह ही सत्त्व (जीव) रूप में प्रातिभासित होते हैं। उन (नामरूप धर्मों) में भी जाति, जरा-मरण—आदि देखकर 'ये नामरूप धर्म दुःखात्मक हैं'—ऐसा स्थूलतः भी ज्ञान होता है। अनागत नामरूपस्कन्ध प्राप्त करने के लिए पूर्वभाग में (पहले) जो कर्म किये जाते हैं, वे भी दुःखसाध्य ही होते हैं। दान, शील, भावना आदि कर्म भी दुःख के बिना सम्पन्न नहीं होते—यह अविद्या एवं संस्कार के क्षेत्र में दुःख की उत्पत्ति है। इन संस्कार दुःखों से निर्मित होने के पश्चात् विज्ञान, नामरूप—आदि फलविपाक, जब अपायभूमि में उत्पत्ति लाभ करते हैं, तब वे वहाँ दुःख ही दुःख का अनुभव करते हैं। यदि मनुष्यभूमि में उत्पन्न होते हैं, तब भी जाति, जरा-मरण-शोक-परिदेव—आदि दुःखों से अनिवार्यतया युक्त होते हैं। सुखभूमि कहलाने वाली देवभूमि, ब्रह्मभूमि—आदि में उत्पन्न होने पर भी वहाँ विपरिणाम दुःख तो अपरिहार्य ही है; क्योंकि च्युति के समय उस (विपरिणाम दुःख) का सामना करना पड़ता है। अतः इस नामरूपात्मक सत्त्व के ऊपर संस्कार-दुःख, दुःख-दुःख और विपरिणाम-दुःखों का आधिपत्य होने के कारण नामरूपों को 'केवल दुःखस्कन्धात्मक' कहा जाता है।

परमार्थस्वरूप—मोह चैतसिक 'अविद्या' है। लौकिक कुशल अकुशल चित्तों में सम्प्रयुक्त २९ चेतना चैतसिक 'संस्कार' कहलाते हैं। उनमें से ८ महाकुशल चित्त एवं ५ रूपकुशल में सम्प्रयुक्त १३ चेतना 'पुण्याभिसंस्कार', १२ अकुशल चित्त में सम्प्रयुक्त १२ चेतना 'अपुण्याभिसंस्कार' तथा ४ अरूपकुशल चित्त में सम्प्रयुक्त ४ चेतना 'आनेञ्ज्याभिसंस्कार' कहलाती हैं। ३२ लौकिक विपाक को 'कार्यविज्ञान' कहते हैं। उन में भी पुण्याभिसंस्कार से ८ अहेतुक कुशलविपाक, ८ महाविपाक एवं ५ रूपविपाक =२१ विज्ञान होते हैं। अपुण्याभिसंस्कार से ७ अकुशल विपाक विज्ञान होते हैं, तथा आनेञ्ज्याभिसंस्कार से ४ अरूपविपाक विज्ञान होते हैं। कारणविज्ञान में पूर्व भव में कृत कर्मविज्ञान तथा इस भव में उत्पन्न विपाकविज्ञान का ग्रहण किया जाता है। (चेतना नामक कर्म से सम्प्रयुक्त चित्त को 'कर्म विज्ञान' कहते हैं। 'सङ्खारपच्चया विञ्ञाणं' में होने वाले कार्यविज्ञान एवं 'विञ्ञाणपच्चया नामरूपं' में होने वाले कारणविज्ञान को ध्यान में रखना चाहिये।) विपाक-विज्ञान से सम्प्रयुक्त चैतसिकों

को 'नाम' तथा कर्मज रूपों को 'रूप' कहते हैं। चक्षु आदि ५ प्रसाद रूप एवं ३२ लौकिक विपाकचित्त 'षडायतन' कहलाते हैं। ३२ लौकिक विपाक चित्तों में संप्रयुक्त स्पर्श चतसिक को 'स्पर्श' तथा उन्हीं में सम्प्रयुक्त वेदना चैतसिक को 'वेदना' कहते हैं। ८ लोभमूल चित्त में सम्प्रयुक्त लोभचैतसिक ही तृष्णा है। लोभ एवं दृष्टि चैतसिक 'उपादान' हैं। लौकिक कुशल एवं अकुशल २९ चित्तों में सम्प्रयुक्त चेतना 'कर्मभव' तथा लौकिक विपाक चित्त, चैतसिक एवं कर्मज रूप 'उपपत्ति भव' है। लौकिक विपाक चित्त, चैतसिक एवं कर्मज रूपों के उत्पाद को 'जाति' स्थितिक्षण को 'जरा' तथा 'भङ्गक्षण को 'मरण' कहते हैं। २ द्वेष मूलचित्त में सम्प्रयुक्त दौर्मनस्य वेदना 'शोक' है। चित्तज विपर्यास (विपल्लास) से उत्पन्न शब्दरूप को 'परिदेव' कहते हैं। दुःखसहगत कायविज्ञान में सम्प्रयुक्त वेदनाचैतसिक को 'दुःख' कहते हैं। २ द्वेषमूल चित्त में सम्प्रयुक्त वेदना चैतसिक 'दौर्मनस्य' है। तथा २ द्वेषमूल में सम्प्रयुक्त द्वेष चैतसिक ही 'उपायास' है।

अविद्या का कारण – प्रतीत्यसमुत्पाद पालि में अविद्या को सबसे पहले और शोक आदि को सबके अन्त में कहा गया है। अतः ऐसा भ्रम हो सकता है कि 'अविद्या बिना कारण उत्पन्न होती है'; किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। 'आसवानं समुप्पादा अविज्जा च पवत्तति'[1] तथा – "आसवसमुदया अविज्जा समुदयो"[2] – आदि के अनुसार अविद्या के कारण ४ आसवधर्म हैं। शोक, दौर्मनस्य एवं उपायास द्वेषमूलचित्त में सम्प्रयुक्तधर्म हैं, अतः जब ये (शोक, दौर्मनस्य – आदि) धर्म उत्पन्न होते हैं, तब 'अविद्या' नामक मोह भी सर्वदा इनके साथ सम्प्रयुक्त होता है। परिदेव भी अविद्या से अविमुक्त पुद्गलों में ही होता है। जब दुःख होता है, तब भी अविनाभाव से दौर्मनस्य तथा अविद्या का उत्पाद होता है। इस प्रकार जब ये शोक, दुःख, दौर्मनस्य, परिदेव, उपायास, उत्पन्न होते हैं, तब अविद्या भी इनके पूर्वभाग में, साथ में या पश्चिम भाग में अवश्य उत्पन्न होती है। जाति को जो शोक-आदि का कारण कहा गया है वह अविनाभाव से मूल कारण होने की दृष्टि से ही कहा गया है। इस तरह इन सबके आसन्न कारण आसवधर्म हैं[3]।

कामासव से शोक आदि की उत्पत्ति – "कामतो जायती सोको"[4] के अनुसार कामासव से ही शोक-आदि की उत्पत्ति होती है। प्रियजन के विनाश से शोक परिदेव-

---

१. द्र० – अभि० स० ८ : १२।

२. म० नि०, प्र० भा०, पृ० ७५।

३. विसु०, पृ० ४०७; विभ० अ०, पृ० १९१-१९२। द्र० – विभ० मू० टी०, पृ० ८७; विसु महा०, द्वि० भा०, पृ० २४९।

४. खु० नि०, प्र० भा० (धम्म०), पृ० ३७।
तु० – "तस्स चे कामयमानस्स छन्दजातस्स जन्तुनो।
ते कामा परिहायन्ति सल्लविद्धो व रुप्पति॥" – खु० नि०, प्र० भा० (सु० नि०), पृ० ३८८।

आदि का होना जानना चाहिये। अतः कामासव से शोक-आदि की उत्पत्ति सिद्ध है[1]।

दृष्ट्यासव से शोक आदि की उत्पत्ति—"तस्स 'अहं रूपं, ममरूपं' ति परियुट्ठट्ठायिनो तं रूपं विपरिणमति अञ्ञथा होति; तस्स रूपविपरिणामञ्ञथाभावा उप्पज्जन्ति सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा[2]"—अर्थात् 'मैं रूप हूँ, मेरा रूप है'—इस प्रकार के अभिनिवेशी पुद्गलों में रूपविपरिणामजन्य अन्यथाभाव से शोक परिदेव आदि उत्पन्न होते हैं। अतः दृष्ट्यासव से शोकादि की उत्पत्ति सिद्ध है।

भवासव से शोक आदि की उत्पत्ति—"ये पि ते भिक्खवे! देवा दीघायुका वण्णवन्तो सुखबहुला उच्चेसु विमानेसु चिरट्ठितिका, ते पि तथागतस्स धम्मदेसनं सुत्वा येभुय्येन भयं, सन्तासं, संवेगं आपज्जन्ति[3]"—अर्थात् जो देव दीर्घायुष्य, वर्णवान् एवं सुखबहुल होते हैं और जो ऊँचे विमानों में चिरकालपर्यन्त स्थित रहते हैं, वे भी तथागत की अनित्य, अनात्म, एवं दुःखस्वभाव का प्रतिपादन करनेवाली धर्मदेशना सुनकर भय, सन्त्रास एवं संवेग को प्राप्त होते हैं। इसलिये इन देव-आदि में भी शोक-आदि उत्पन्न होते हैं। यह भवासव से शोकादि की उत्पत्ति है।

अविद्यासव से शोक-आदि की उत्पत्ति—"स खो सो भिक्खवे! बालो तिविधं दिट्ठेव धम्मे दुक्खं, दोमनस्सं पटिसंवेदेति[4]"—के अनुसार अविद्यासव से अविनिर्मुक्त पृथग्जन इसी भव में त्रिविध दुःख-दौर्मनस्य का अनुभव करता है।

अतः चार आसवों से शोक-आदि की उत्पत्ति सुतरां सिद्ध है। जब शोक-आदि होते हैं, तब अविद्या भी अविनाभाव से वहाँ होती है। इससे यही सिद्ध होता है कि ये चार आसव अविद्या के उत्पाद में कारण हैं[5]। इसीलिये कहा गया है—

"इति यस्मा आसवसमुदया एते (सोकादयो) होन्ति, तस्मा एते सिज्झमाना अविज्जाय हेतुभूते आसवे साधेन्ति, आसवेसु च सिद्धेसु पच्चयभावे भावतो अविज्जापि सिद्धा व होतीति[6]"।

अपि च—

"जरामरणमुच्छाय पीळितानं अभिण्हसो।
आसवानं समुप्पादा अविज्जा च पवत्तति[7]॥"

---

1. विसु०, पृ० ४०७; विभ० अ०, पृ० १६२।
2. सं० नि०, द्वि० भा०, पृ० २४३।
3. स० नि०, द्वि० भा०, पृ० ३११; अ० नि०, द्वि० भा०, पृ० ३६; विसु०, पृ० ४०७; विभ० अ०, पृ० १६२।
4. म० नि०, तृ० भा०, पृ० २३३; विसु०, पृ० ४०७; विभ० अ०, पृ० १६२।
5. विभ० अनु०, पृ० ६६-६८; विभ० मू० टी०, पृ० ६१-६२।
6. विभ० अ०, पृ० १६२; विसु०, पृ० ४०७।
7. द्र०—अभि० स० ८:१२।

आसवों का कारण—आसवों के कारण अविद्या उत्पन्न होती है तो आसव किस कारण से उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर—आसवधर्म तृष्णा, उपादान एवं अकुशल-कर्मभव-आदि में यथायोग्य अन्तर्भूत हैं। अतः तृष्णा, उपादान एवं कर्मभवों के उत्पत्तिकारण ही आसव धर्मों के भी उत्पत्तिकारण हैं[1]।

अविद्या का प्रथम स्थान—जब आसवों से अविद्या की उत्पत्ति होती है तो अविद्या को सर्वप्रथम क्यों कहा जाता है ? तथा क्या यह अविद्या सांख्यवादियों की प्रकृति की तरह अकारण या संसार का मूल कारण होती है ?

उत्तर—अविद्या सांसारिक धर्मों में शीर्ष की तरह एक परमावश्यक धर्म है, अतः उसे सर्वप्रथम कहा है। प्रतीत्यसमुत्पाद धर्मों में अविद्या और तृष्णा—ये दो शीर्ष धर्म कहे गये हैं। उन उन संस्कार धर्मों को करते समय अविद्या द्वारा आवरण कर दिया जाने से पुद्गल उन्हें तृष्णा से आसक्त होकर करता है। शीर्षस्थानीय इन दो धर्मों में भी अविद्या प्रधान होती है; क्योंकि अविद्या द्वारा आवरण करने पर ही तृष्णा से आसक्त पुद्गल उन उन संस्कार धर्मों को करता है। इस प्रकार सांसारिक धर्मों में अविद्या प्रमुख है, अतः उसे सर्वप्रथम कहा गया है।

इस प्रकार अविद्या का प्रथम स्थान क्रम की दृष्टि से नहीं; अपितु प्रमुखता की दृष्टि से है; क्योंकि अविद्या की उत्पत्ति में भी आसवधर्म प्रत्यय होते हैं[2]।

चार नय—इस प्रतीत्यसमुत्पादचक्र का चार नयों से विचार करने पर पुद्गल, सत्त्व, अहम्, त्वम् (पर), स्त्री, पुरुष-आदि के मिथ्यात्व (अपरमार्थत्व) का ज्ञान हो जाता है, फलतः शाश्वत एवं उच्छेद-आदि दृष्टियों का समूल घात हो जाता है। अतः एकत्त (एकत्व) नय, नानत्त (नानात्व) नय, अब्यापारनय तथा एवंधम्मता (एवंधर्मता) नय—इन चार नयों द्वारा पुनः पुनः विचार करना चाहिये[3]।

(क) एकत्तनय—'सन्तानसन्तति निरन्तर अविच्छिन्न रूप से प्रवहमान होती रहती है'—इस प्रकार जाननेवाले नय को 'एकत्वनय' कहते हैं। इसके अनुसार जैसे बीज से अङ्कुर, अङ्कुर से स्कन्ध, शाखा-आदि तक पहुँचने के लिये वृक्ष की सन्तति निरन्तर अविच्छिन्न रूप से प्रवृत्त होती है, ठीक उसी प्रकार अविद्या से संस्कार तथा पूर्व-पूर्व संस्कारों से प्रत्युत्पन्न भव में विज्ञान, नामरूप-आदि निरन्तर होते रहते हैं। इस प्रकार की अविच्छिन्नता का विचार करने पर 'यह भव, यह सत्त्व, यह स्कन्ध—ये तो इस भव, सत्त्व एवं स्कन्ध के नष्ट होने पर सर्वथा नष्ट हो जाते हैं तथा अनागतभव, अनागतसत्त्व और अनागतस्कन्ध, वर्त्तमान से सर्वथा भिन्न होते हैं'—इस प्रकार की उच्छेददृष्टि अपने आप नष्ट हो जाती है।

---

१. द्र०—प० दी०, पृ० ३३३-३३५।

२. द्र०—विसु०, पृ० ३६८; विभ० अ०, पृ० १३५।

३. द्र०—विसु०, पृ० ४१३; विभ० अ०, पृ० २००-२०१।

(ख) नानत्तनय – 'सन्तानसन्तति के अविच्छिन्न प्रवृत्त होने पर भी अविद्या, संस्कार आदि धर्म स्वभाव एवं लक्षण से भिन्न-भिन्न होते हैं' – इस प्रकार जाननेवाले नय को 'नानात्वनय' कहते हैं। इस नय के अनुसार अविद्या एवं संस्कारों का भेद तथा संस्कार एवं विज्ञान का भेद, इसी प्रकार अन्य प्रतीत्यसमुत्पाद धर्मों का भेद जानकर नये नये कारणों से नवीन नवीन कार्य उत्पन्न होते हैं – यह ज्ञान होता है फलतः 'धर्म नित्य हैं' इस प्रकार की शाश्वत दृष्टि अपने आप नष्ट हो जाती है।

(ग) अब्यापारनय – अविद्या से संस्कार के उत्पाद में 'मैं संस्कार उत्पन्न करूँगी' – इस प्रकार का अविद्या में कोई व्यापार नहीं होता। इसी तरह संस्कार से विज्ञान की उत्पत्ति में भी संस्कार में कोई व्यापार नहीं होता। इस प्रकार काय धर्मों के उत्पाद में कारण धर्मसमूह में कोई व्यापार नहीं होता है। इसे ही 'अव्यापारनय' कहते हैं। इस नय के अनुसार विचार करने से कारण एवं कार्य धर्मों के अपूर्वापर उत्पाद का सम्यग्ज्ञान हो जाने से 'इस संसार और सत्त्वों का निर्माण नित्य ईश्वर-आदि द्वारा किया जाता है' – इस प्रकार का ईश्वरनिर्माणवाद तथा 'अपने स्कन्ध के अन्तर्गत उन उन कर्मों को करनेवाला या अनुभव करनेवाला नित्य आत्मा है' – इस प्रकार उपादान करनेवाला आत्मवाद भी अपने आप निवृत्त हो जाता है।

(घ) एवंधम्मतानय – 'इस प्रकार अविद्या-आदि कारणों से संस्कार-आदि कार्यों की उत्पत्ति 'धर्मता' है'। इस प्रकार जाननेवाले नय को 'एवंधम्मतानय' कहते हैं। इस नय के अनुसार विचार करने से जैसे दुग्ध से दधि, तिल से तैल या इक्षु से इक्षुरस का उत्पाद 'धर्मता' है तथा सिकता से तैल का उत्पाद न होना, इक्षु से दुग्ध का उत्पाद न होना-आदि भी 'धर्मता' है, उसी प्रकार अविद्या से संस्कार की ही उत्पत्ति, संस्कार की भी अविद्या से ही उत्पत्ति, कारण के बिना कार्य की अनुत्पत्ति, असम्बद्ध कारणों से असम्बद्ध कार्य की अनुत्पत्ति-आदि भी 'धर्मता' है। इस प्रकार विचार करने पर 'कोई भी धर्म बिना सम्बद्ध कारण के उत्पन्न नहीं होता' – इस प्रकार के सहेतुक-वाद के ज्ञान से 'बिना कारण उत्पाद होता है' – इस प्रकार की 'अहेतुकदृष्टि' तथा 'कुशल अकुशल कर्म करने पर भी वे अकृत निरर्थक होते हैं' – इस प्रकार की 'अक्रिय दृष्टि' भी अपने आप नष्ट हो जाती है।

यद्यपि कुछ बौद्धमतावलम्बी बौद्धशास्त्रों के आधार पर सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय एवं अनित्यता-आदि से सम्बद्ध अनेक सिद्धान्तों पर विश्वास तो करते हैं, तथापि 'सृष्टि का प्रारम्भ कब से हुआ' – इत्यादि प्रश्नों पर विचार करने लगते हैं तथा अविद्या से संस्कार की उत्पत्ति आदि में विश्वास करने पर भी 'संस्कार-आदि की उत्पत्ति कब से प्रारम्भ हुई' इत्यादि पर विचार करने लगते हैं, और किसी निर्णय पर न पहुँच पाने के कारण 'यह जगत् एवं सत्त्व-आदि बिना कारण के उत्पन्न हुए हैं' – इस प्रकार के अहेतुक-वाद में प्रविष्ट हो जाते हैं। कुछ लोग कार्य से कारण का अनुमान करते हुए 'इस जगत् एवं सत्वों का भी कोई ईश्वर-आदि उत्पादक कारण अवश्य होना चाहिये' इस प्रकार के ईश्वरवाद में प्रविष्ट हो जाते हैं। बौद्धशास्त्रों के अनुसार जो वस्तु अपने ज्ञान की सीमा से परे है, अथवा जो अपने ज्ञान का विषय नहीं हो सकती, उस पर

विचार करना अनुचित माना गया है। यदि पुद्गल हठात् ऐसा करेगा तो उसे वस्तु-तत्त्व का सम्यग् ज्ञान न होकर मतिभ्रम ही होगा। अतः पुरुषार्थ का साधक मनुष्य-जीवन का जो दुर्लभ क्षण प्राप्त हुआ है, उसका लाभ उठाने की दृष्टि से अपने निर्वाण की सिद्धि के लिये ही प्रयत्न करना चाहिये। उस (क्षण) का निरर्थक तर्क वितर्क में अपव्यय श्रेयस्कर नहीं है[1], इसीलिये भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों में यद्यपि ईश्वर, आत्मा-आदि का खण्डन तो किया है; फिर भी उनके बारे में अधिक प्रश्न पूछे जाने पर मौनालम्बन ही अधिक उपयुक्त समझा। ऐसे कुछ प्रश्नों को उन्होंने अव्याकरणीय कह-कर इस प्रकार के निर्वाण विरोधी तर्क वितर्कों का प्रतिषेध किया। प्रतीत्यसमुत्पादचक्र का उपर्युक्त चार नयों से विचार करने पर इस संसार अथवा स्कन्धसन्तति का कोई 'आदि' नहीं है – यह ज्ञान हो जाता है, अतः इस प्रतीत्यसमुत्पाद का पुनः पुनः अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि इसके ज्ञान के बिना निर्वाण की प्राप्ति स्वप्न में भी सम्भव नहीं है।

"अनादिदं भवचक्कं वीतकारकवेदकं।
निच्चसुखसुभत्तेहि सुञ्ञं पस्से पुनप्पुनं[2] ॥"

---

१. तु० – "क्षणसम्पदियं सुदुर्लभा प्रतिलब्धा पुरुषार्थसाधनी।
यदि नात्र विचिन्त्यते हितं पुनरप्येष समागमः कुतः ॥" –
बोधि०, पृ० ४।

२. ब० भा० टी०।

द्र० – "भवचक्कमविदितादिमिदं कारकवेदकरहितं।
द्वादसविधसुञ्ञतासुञ्ञं सततं समितं पवत्ततीति ॥" – विसु०, पृ० ४०७।

"सोकादीहि अविज्जा सिद्धा भवचक्कमविदितादिमिदं।
कारकवेदकरहितं द्वादसविधसुञ्ञतासुञ्ञं ॥" – विभ० अ०, पृ० १९२।

"दुक्खमेव हि न कोचि दुक्खितो, कारको न किरिया व विज्जति।
अत्थि निब्बुति न निब्बुतो पुमा मग्गमत्थि गमको न विज्जतीति ॥"
– विसु०, पृ० ३५८; विभ० अ०, पृ० ९०।

तु० – "नात्मास्ति स्कन्धमात्रं तु क्लेशकर्माभिसंस्कृतम्।
अन्तराभवमन्तत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत् ॥" –
अभि० को० ३ : १८, पृ० ३०१।

५. तत्थ तयो अद्धा, द्वादसङ्गानि, वीसताकारा*, तिसन्धि, चतुसङ्खेपा, तीणि वट्टानि, द्वे मूलानि च वेदितब्बानि।

वहाँ (प्रतीत्यसमुत्पाद में) तीन अध्व, बारह अङ्ग, बीस आकार, तीन सन्धियाँ, चार सङ्क्षेप, तीन आवर्त और दो मूल जानना चाहिये[1]।

तयो अद्धा

६. कथं ?

अविज्जासङ्खारा अतीतो अद्धा, जातिजरामरणं अनागतो अद्धा, मज्झे अट्ठ पच्चुप्पन्नो अद्धा ति तयो अद्धा।

कैसे ?

अविद्या और संस्कार अतीत अध्व, जाति और जरामरण अनागत अध्व तथा मध्य के ८ धर्म प्रत्युत्पन्न अध्व हैं – इस प्रकार कुल तीन अध्व हैं।

---

५. इस पालि द्वारा प्रतीत्यसमुत्पाद नय के जानने योग्य विषयों को पुनः दिखलाने के लिये उनका संक्षेप में उपदेश किया गया है। अर्थात् इन अध्व-आदि द्वारा प्रतीत्य-समुत्पाद का विभाजन करके उसे जानने का प्रयत्न करना चाहिये।

तीन-अध्व

६. यहाँ कालवाचक अध्व कोई परमार्थसत् धर्म नहीं; अपितु अध्व एक प्रज्ञप्ति है। इस काल में उत्पन्न धर्मों को ही स्थान्युपचार से अतीत-अध्व, अनागत-अध्व-आदि कहते हैं।

अतीत-अध्व – कुछ सत्त्व अतीतभव में अविद्या से आवृत्त होने के कारण सांसारिक आपत्तियों को न देखकर कुशल, अकुशल संस्कारों को कर लेते हैं। इसीलिये अविद्या एवं संस्कार अतीत अध्व (अतीतकाल) में उत्पन्न धर्म हैं।

प्रत्युत्पन्न-अध्व – अतीतभव में कुशल अकुशल संस्कारों को करने के कारण इस प्रत्युत्पन्न भव में प्रतिसन्धि काल से लेकर विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान एवं कर्मभव-ये ८ धर्म होते हैं। इन ८ धर्मों को 'प्रत्युत्पन्न-अध्व' कहते हैं।

---

*. वीसति आकारा – स्या०। (सर्वत्र)

१. तु० – "स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशाङ्गस्त्रिकाण्डकः।
पूर्वापरान्तयोर्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरिणः॥" – अभि० को० ३ : २०, पृ० ३०४।

द्वादसङ्गानि

७. **अविज्जा, सङ्खारा, विञ्ञाणं, नामरूपं, सळायतनं, फस्सो, वेदना, तण्हा, उपादानं, भवो, जाति, जरामरणं ति द्वादसङ्गानि। सोकादिवचनं पनेत्थ निस्सन्दफलनिदस्सनं*।**

अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा उपादान, भव, जाति एवं जरामरण – ये बारह अङ्ग हैं। इस प्रतीत्यसमुत्पाद में शोकादि का कथन जाति का निस्यन्दफलमात्र दिखलाने के लिये है। अर्थात् वे पृथक् अङ्ग नहीं हैं।

अनागत-अध्व – इस प्रत्युत्पन्न भव में 'कर्मभव' नामक कुशल एवं अकुशल कर्म किये जाते हैं, अतः अनागत भव में जाति, जरामरण उत्पन्न होते हैं। इसीलिये जाति एवं जरामरण 'अनागत-अध्व' हैं[1]।

बारह-अङ्ग

७. प्रतीत्यसमुत्पादचक्र में जो धर्म अनिवार्य एवं प्रधान अवयव हैं, उन्हें ही यहाँ 'अङ्ग' कहा गया है। बारह अङ्ग उपर्युक्त पालि में सुस्पष्ट हैं।

'सोकादि . पनेत्थ' इत्यादि पालि में 'आदि' शब्द से परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य एवं उपायास का ग्रहण करना चाहिये। ये शोक-आदि धर्म सभी सत्त्वों में नहीं होते, जैसे ब्रह्मा, कुछ देव एवं कुछ मनुष्यों में। सभी सत्त्वों में अनिवार्य रूप से न होने के कारण प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र में अङ्ग के रूप में उनका ग्रहण नहीं हो सकता। जाति होने पर उसके निष्यन्दफल के रूप में इनका उत्पाद होता है। अतः ये जाति के मुख्य फल नहीं; अपितु निष्यन्दफल कहे जाते हैं। इसीलिये ये (शोक-आदि) प्रतीत्यसमुत्पाद के अङ्ग के रूप में नहीं होते[2]।

---

*. निस्सन्दनिदस्सनं – स्या०।

१. "अद्धानवन्ते धम्मे भुसो धारेतीति अद्धा, कालो। सो हि तेकालिके धम्मे सन्तानानुपबन्धवसेन कप्परम्परा वस्सउतुमासपक्खरत्तिदिवपरम्परा च हुत्वा अपतमाने धारेन्तो विय उपट्ठातीति। अथवा – भुसो दहन्ति तिट्ठन्ति पवत्तन्ति तेकालिका धम्मा एत्था ति अद्धा, कालो येव। सो पन सयं अभिन्नो पि भेदवन्ते धम्मे उपादाय भिन्नो विय उपचरितुं युत्तो ति वुत्तं 'तयो अद्धा' ति।" – प० दी०, पृ० ३२६। द्र० – विभा०, पृ० १८०-१८१; विभ० अ०, पृ० १६४; विसु०, पृ० ४०८-४०९।

२. "सोकादिवचनं जातिया निस्सन्दस्स अमुख्यफलमत्तस्स निदस्सनं, न पन विसुं अङ्गदस्सनं त्यत्थो॥" – विभा०, पृ० १८१।

"सोकादयो चेत्थ भवचक्कस्स अविच्छेददस्सनत्थं वुत्ता। जरामरणब्भाहतस्स हि बालस्स ते सम्भवन्ति।...तस्मा तेसं (सोकादीनं) पि जरामरणेनेव एकसंखेपं कत्वा द्वादसेव पटिच्चसमुप्पादङ्गानीति वेदितब्बानि।" – विभ० अ०, पृ० १३९-१४०; विसु०, पृ० ३७१।

वीसताकारा, तिसन्धि, चतुसङ्खेपा

८. **अविज्जासङ्खारग्गहणेन पनेत्थ तण्हुपादानभवा पि गहिता भवन्ति। तथा तण्हुपादानभवग्गहणेन च अविज्जासङ्खारा, जातिजरामरणग्गहणेन च विञ्ञाणादिफलपञ्चकमेव गहितं ति कत्वा –**

अतीते हेतवो पञ्च इदानि फलपञ्चकं।
इदानि हेतवो पञ्च आयतिं फलपञ्चकं ति ॥

वीसताकारा, तिसन्धि, चतुसङ्खेपा च भवन्ति।

यहाँ अविद्या एवं संस्कार के ग्रहण से तृष्णा, उपादान और भव का भी ग्रहण हो जाता है तथा तृष्णा, उपादान एवं भव के ग्रहण से अविद्या और संस्कार का ग्रहण हो जाता है। जाति एवं जरा-मरण के ग्रहण से विज्ञान आदि फलपञ्चक गृहीत हो जाते हैं। ऐसा करके –

अतीत भव में पाँच हेतु एवं प्रत्युत्पन्न भव में पाँच फल तथा प्रत्युत्पन्न-भव में पाँच हेतु एवं अनागत भव में पाँच फल – इस तरह बीस आकार, तीन सन्धियाँ और चार सङ्क्षेप होते हैं।

---

२० आकार, ३ सन्धि एवं ४ सङ्क्षेप

८. **अविज्जासङ्खारग्गहणेन...गहिता भवन्ति** – 'अविज्जासङ्खारा अतीतो अद्धा' – इस पूर्वोक्त वाक्य द्वारा अतीत-अध्व (भव) में अविद्या एवं संस्कार का मुख्य-रूप से ग्रहण किया है। उन दोनों में से अविद्या १० क्लेशों में परिगणित 'क्लेशवट्ट' ही है तथा तृष्णा एवं उपादान भी 'क्लेशवट्ट' ही हैं। इस प्रकार समान क्लेशवट्ट होने के कारण अविद्या के ग्रहण से तृष्णा एवं उपादान का भी अविनाभाव से ग्रहण हो जाता है। संस्कार 'कर्मवट्ट' है तथा कर्मभव भी 'कर्मवट्ट' है, अतः समान कर्मवट्ट होने के कारण अतीत भव में संस्कार के ग्रहण से कर्मभव का भी अविनाभाव से ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार अतीतभव में अविद्या, संस्कार, तृष्णा, उपादान एवं कर्मभव नामक पाँच कारण होते हैं।

संस्कार एवं कर्मभव में विशेष – पहले कर्मभव के प्रसङ्ग में कहा गया है कि संस्कार एवं कर्मभव परमार्थ रूप से चेतना होने पर भी अतीतभव एवं प्रत्यु-त्पन्नभव – इस प्रकार भवकाल का भेद होने से वे परस्पर भिन्न-भिन्न होते हैं। यहाँ प्रश्न होता है कि जब ५ अतीत कारणों में संस्कार एवं कर्मभव – दोनों का ग्रहण किया गया है तो वे दोनों भवकाल समान होने से कैसे भिन्न होते हैं?

समाधान – कुशल अकुशल कर्म करते समय कर्मपथ होने के पूर्वभाग में होने-वाली पूर्वचेतना 'संस्कार' है तथा कर्मपथ होनेवाली मुञ्चचेतना (कर्म के सम्पादन काल में होनेवाली चेतना) 'भव' है।

अथवा – सात जवनों में पूर्व के ६ जवनों से सम्प्रयुक्त चेतना 'संस्कार' है और सप्तमजवन से सम्प्रयुक्त चेतना 'भव' है। अथवा – चेतना से सम्प्रयुक्त चित्त, चैतसिक 'संस्कार' हैं और सभी चेतनायें ही 'भव' हैं। इस प्रकार पालि में इनका नाना प्रकार से भेद वर्णित हैं[1]।

"सङ्खारा पुरचेतना, भवो तु मुञ्च-सत्तमा।
सब्बा वा चेतना भवो सङ्खारा सम्पयुत्तका[2]॥"

इसके आधार पर पूर्वचेतना नामक संस्कार का ग्रहण करने से मुञ्चचेतना नामक कर्मभव का भी ग्रहण होता है। पूर्व ६ जवनों से सम्प्रयुक्त चेतना नामक 'संस्कार' का ग्रहण करने से सप्तमजवन से सम्प्रयुक्त चेतना नामक 'कर्मभव' का भी ग्रहण होता है तथा चेतना से सम्प्रयुक्त चित्त – चैतसिक नामक संस्कार का ग्रहण करने से चेतना नामक कर्मभव का भी ग्रहण होता है।

विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श एवं वेदना अतीत कर्म से उत्पन्न होनेवाले प्रत्युत्पन्नभव के पांच फल हैं।

तथा तण्हुपादानभवग्गहणेन – प्रत्युत्पन्न-अध्व (भव) में तृष्णा, उपादान एवं कर्मभव – ये तीन मुख्य कारण हैं। इनका ग्रहण करने से इनके साथ अविनाभाव से होनेवाले अविद्या एवं संस्कार नामक धर्मों का भी ग्रहण हो जाता है। (तृष्णा एवं उपादान से अविद्या का तथा कर्मभव से संस्कार का ग्रहण होता है।) इस प्रकार प्रत्युत्पन्नभव में तृष्णा, उपादान, कर्मभव, अविद्या एवं संस्कार नामक पांच कारण होते हैं।

जातिजरामरणग्गहणेन – जाति नामक कोई पृथक् परमार्थ धर्म नहीं है। विज्ञान नाम-रूप, षडायतन, स्पर्श एवं वेदनाओं का उत्पाद ही 'जाति' कहा जाता है। तथा इन धर्मों का स्थिति एवं भङ्ग क्षण ही 'जरा-मरण' कहलाता है, अतः 'जातिजरामरणं अनागतो अद्धा' इस पालि के अनुसार अनागत-अध्व में जाति एवं जरामरण के ग्रहण करने से विज्ञान-आदि फलपञ्चक का भी ग्रहण होता है। इस प्रकार अनागत-भव में विज्ञान, नाम रूप, षडायतन, स्पर्श एवं वेदना नामक पांच फल हैं।

इस तरह अतीत-भव में पांच हेतु, प्रत्युत्पन्न-भव में पांच फल, प्रत्युत्पन्न-भव में पांच हेतु और अनागत-भव में पांच फल होते हैं।

बीस आकार – कुल मिलाकर इन्हें ही बीस आकार कहा जाता है[3]।

तीन सन्धि – प्रतीत्यसमुत्पाद के अङ्गों में कारणधर्मों के अन्त एवं कार्यधर्मों के आदि तथा कार्यधर्मों के अन्त एवं कारणधर्मों के आदि को 'सन्धि' कहते हैं।

---

१. विसु०, पृ० ४०९; विभ० अ०, पृ० १९५; विभ० मू० टी०, पृ० १२७।

२. ब० भा० टी०।

३. विसु०, पृ० ४०९-४१०; विभ० अ०, पृ० १९४-१९६। द्र० – विभा०, पृ० १८१-१८२; प० दी०, पृ० ३३१; विभ० मू० टी०, पृ० १२६।

तीणि वट्टानि

६. अविज्जातण्हुपादाना च किलेसवट्टं, कम्मभवसङ्खातो भवेकदेसो सङ्खारा च कम्मवट्टं, उपपत्तिभवसङ्खातो भवेकदेसो अवसेसा च विपाकवट्टं ति तीणि वट्टानि।

अविद्या, तृष्णा एवं उपादान 'क्लेशवट्ट' हैं, कर्मभव नामक भव का एकदेश और संस्कार 'कर्मवट्ट' हैं तथा उपपत्तिभव नामक भव का एकदेश और अवशिष्ट विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, जाति एवं जरामरण 'विपाक वट्ट' हैं। इस प्रकार कुल तीन वट्ट (वर्त) होते हैं।

जैसे – अविद्या संस्कार – विज्ञान, नाम-रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना – तृष्णा, उपादान, कर्मभव – जाति. जरामरण। उपर्युक्त निर्देशन में संस्कार एवं विज्ञान के बीच में अतीत कारण एवं प्रत्युत्पन्न कार्य की सन्धि है, वेदना एवं तृष्णा के बीच में प्रत्युत्पन्न कार्य एवं प्रत्युत्पन्न कारण की सन्धि है तथा भव एवं जाति के बीच में प्रत्युत्पन्न-कारण एवं अनागत कार्य की सन्धि है। इस प्रकार सन्धियाँ तीन होती हैं[1]।

चार सङ्क्षेप – यहाँ सङ्क्षेप शब्द 'भाग' अर्थ में प्रयुक्त है। उपर्युक्त तीन सन्धियों से कार्य-कारण धर्म चार भागों में विभक्त हैं। यथा – अतीतहेतु नामक अविद्या और संस्कार 'प्रथमभाग'। प्रत्युत्पन्न कार्य नामक विज्ञान, नाम-रूप, षडायतन, स्पर्श एवं वेदना 'द्वितीयभाग'। प्रत्युत्पन्न कारण नामक तृष्णा, उपादान एवं कर्मभव 'तृतीयभाग' तथा अनागत कार्य नामक जाति और जरामरण 'चतुर्थ भाग'[2] (शोक-आदि का भी इस चतुर्थ भाग में ही ग्रहण किया जा सकता है।)

तीन वट्ट

६. 'वट्ट' (वर्त) शब्द चक्र की तरह निरन्तर घूमने के अर्थ में प्रयुक्त है। इसे 'आवट्ट (आवर्त्त) भी कहा जा सकता है। अतः 'कारणों के होने पर कार्य तथा कार्य के होने पर कारण' – इस प्रकार कार्यकारण के रूप में अविच्छिन्न रूप से निरन्तर प्रवर्तित होते रहनेवाले प्रतीत्यसमुत्पादधर्मों को 'वट्ट' कहते हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अङ्गों का तीन वट्टों से विभाजन किया जाता है।

अविद्या, तृष्णा एवं उपादान – ये तीन 'क्लेशवट्ट' हैं। कर्मभव नामक भव का एकदेश एवं संस्कार 'कर्मवट्ट' हैं। (कर्मभव एवं उपपत्तिभव भेद से भव द्विविध होता है। उसमें यहाँ कर्मवट्ट में भव का एकदेश कर्मभव का ही ग्रहण किया जाता

---

१. प० दी०, पृ० ३३१; विभा०, पृ० १८१; विसु०, पृ० ४०६; विभ० अ०, पृ० १६४; विभ० मू० टी०, पृ० १२६।

२. प० दी०, पृ० ३३१; विसु०, पृ० ४०६; विभ० अ०, पृ० १६४।

द्वे मूलानि

१०. अविज्जा-तण्हावसेन द्वे मूलानि च वेदितब्बानि ।

अविद्या और तृष्णा के वश से दो प्रकार के मूलों को जानना चाहिये ।

११. तेसमेव च मूलानं* निरोधेन निरुज्झति ॥

उन दो प्रकार के मूलों का अर्हत्-मार्ग द्वारा अशेष निरोध हो जाने से (वट्टधर्म) निरुद्ध हो जाते हैं ।

है ।) तथा उपपत्तिभव नामक भव का एकदेश और विज्ञान, नाम-रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, जाति एवं जरा-मरण ये 'विपाकवट्ट' हैं[1] । (ये सब कार्यधर्म हैं ।)

दो मूल

१०. यह प्रतीत्यसमुत्पादचक्र दो भागों में विभक्त है । यथा – अतीत भव के कारणों से वर्तमान भव के कार्यों तक 'पूर्वभागचक्र' तथा वर्तमान भव के कारणों से अनागत भव के कार्यों तक 'पश्चिमभागचक्र' । उनमें से अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम-रूप, षडायतन, स्पर्श एवं वेदना यह पूर्वभागचक्र है । इस चक्र में अविद्या ही उत्स (मूल) है । तृष्णा, उपादान, भव एवं जातिजरामरण – यह पश्चिमभाग चक्र है । इस चक्र में तृष्णा ही मूल है । इस प्रकार अविद्या और तृष्णा सम्पूर्ण प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र के 'मूल' हैं[2] ।

११. संसारचक्र का निरोध – जिस प्रकार किसी वृक्ष का पोषण करनेवाला मूल किसी कारण नष्ट हो जाता है तो उस सम्पूर्ण वृक्ष का भी नाश हो जाता है ।

---

*. मूलां – रो० ।

१. विसु०, पृ० ४१०; विभ० अ०, पृ० १६७ ।

"किलेस-कम्म-विपाका विपाक-किलेस-कम्मेहि सम्बन्धा हुत्वा पुनप्पुनं परिवत्तन्तीति तेसु वट्टनामं आरोपेत्वा 'तिवट्टं' ति वुत्तं ।" – विभ० मू० टी०, पृ० १२६ ।

तु० – "क्लेशास्त्रीणि द्वयं कर्म सप्त वस्तु फलं तथा ।
फलहेत्वभिसंक्षेपो द्वयोर्मध्यानुमानतः ॥" – अभि० को० ३ : २६, पृ० ३१० ।

२. 'तस्स खो पनेतस्स भवचक्कस्स अविज्जा तण्हा चा ति द्वे धम्मा मूलं ति वेदितब्बा । तदेतं पुब्बन्ताहरणतो अविज्जामूलं वेदनावसानं, अपरन्तसन्तानतो तण्हामूलं जरामरणावसानं ति दुविधं होति ।" – विसु०, पृ० ४०८; विभ० अ०, पृ० १६४ ।

"पुब्बन्तस्स अविज्जामूलं, अपरन्तस्स तण्हामूलं ति आह – 'अविज्जातण्हावसेन द्वे मूलानी'ति ।" – विभा०, पृ० १८२ । द्र० – प० दी०, पृ० ३३२ ।

१२. जरामरणमुच्छाय* पीळितानं अभिण्हसो ।
आसवानं समुप्पादा अविज्जा च पवत्तति† ।।

जरा-मरण एवं मूर्च्छा शोक आदि धर्मसमूह द्वारा निरन्तर (पुनः पुनः) उत्पीडित होनेवाले सत्त्वों की सन्तान में आसवधर्मों के उत्पाद से अविद्या भी प्रवृत्त होती है ।

१३. वट्टमाबन्धमिच्चेवं‡ तेभूमकमनादिकं§ ।
पटिच्चसमुप्पादो ति पट्ठपेसि महामुनि ।।

इस प्रकार निरन्तर आबद्ध त्रैभूमिक अनादि वट्ट धर्म को महामुनि (भगवान् बुद्ध ने) प्रतीत्यसमुत्पाद कहा है[1] ।

इसी प्रकार संसार में पुष्ट होनेवाले 'सत्त्व' नामक नाम-रूपात्मक स्कन्ध-वृक्ष के अविद्या, तृष्णा नामक दो मूलों का अर्हत्-मार्गरूपी शस्त्र से उच्छेद कर दिया जाता है तो स्कन्ध-वृक्ष समूल विनष्ट हो जाता है[2] । अतएव प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र के निरोध की विधि इस प्रकार कही गयी है –

"अविज्जाय त्वेव असेसविरागनिरोधा सङ्खारनिरोधो, सङ्खारनिरोधा विञ्ञाण-निरोधो, विञ्ञाणनिरोधा नाम-रूपनिरोधो, नामरूपनिरोधा सळायतननिरोधो, सळायतन-निरोधा फस्सनिरोधो, फस्सनिरोधा वेदनानिरोधो, वेदनानिरोधा तण्हानिरोधो, तण्हा-निरोधा उपादाननिरोधो, उपादाननिरोधा भवनिरोधो, भवनिरोधा जातिनिरोधो, जाति-निरोधा जरामरणं सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा निरुज्झन्ति, एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स निरोधो होति[3] ।"

प्रतीत्यसमुत्पादनय समाप्त ।

---

*. ० मुच्छाय – रो० । †. पवड्ढति – स्या० । ‡. माबद्ध० – स्या० ।
§ तेभूमिक० – स्या० ।

१. तु० – "क्लेशात्क्लेशः क्रिया चैव ततो वस्तु ततः पुनः ।
वस्तुक्लेशाश्च जायन्ते भवाङ्गानामयं नयः ।।" – अभि० को०, ३ : २७ पृ० ३११ ।

२. प० दी०, पृ० ३३३; विभा०, पृ० १८२ ।

३. सं० नि०, द्वि० भा०, पृ० ३-४ ।

पट्ठाननयो

१४. हेतुपच्चयो, आरमणपच्चयो, अधिपतिपच्चयो, अनन्तरपच्चयो, समनन्तरपच्चयो, सहजातपच्चयो, अञ्ञमञ्ञपच्चयो, निस्सयपच्चयो, उपनिस्सयपच्चयो, पुरेजातपच्चयो, पच्छाजातपच्चयो, आसेवनपच्चयो, कम्मपच्चयो, विपाकपच्चयो, आहारपच्चयो, इन्द्रियपच्चयो, झानपच्चयो, मग्गपच्चयो, सम्पयुत्तपच्चयो, विप्पयुत्तपच्चयो, अत्थिपच्चयो, नत्थिपच्चयो, विगतपच्चयो, अविगतपच्चयो ति – अयमेत्थ पट्ठाननयो।

हेतुप्रत्यय, आलम्बनप्रत्यय, अधिपतिप्रत्यय, अनन्तरप्रत्यय, समनन्तरप्रत्यय, सहजातप्रत्यय, अन्योन्यप्रत्यय, निश्रयप्रत्यय, उपनिश्रयप्रत्यय, पुरोजातप्रत्यय, पश्चाज्जातप्रत्यय, आसेवनप्रत्यय, कर्मप्रत्यय, विपाकप्रत्यय, आहारप्रत्यय, इन्द्रियप्रत्यय, ध्यानप्रत्यय, मार्गप्रत्यय, सम्प्रयुक्तप्रत्यय, विप्रयुक्तप्रत्यय, अस्तिप्रत्यय, नास्तिप्रत्यय, विगतप्रत्यय एवं अविगतप्रत्यय – इस प्रत्ययसङ्ग्रह में यह पट्ठाननय है।

छब्बिधा पच्चया

१५. छधा नामं तु नामस्स पञ्चधा नामरूपिनं।
एकधा पुन रूपस्स रूपं नामस्स चेकधा।।

नामधर्म नामधर्मों का ६ प्रकार की प्रत्ययशक्तियों से उपकार करते हैं। नामधर्म नाम एवं रूपधर्मों का ५ प्रकार की प्रत्ययशक्तियों से उपकार करते हैं। पुनः नामधर्म रूपधर्मों का एक प्रकार की प्रत्ययशक्ति से उपकार करते हैं और रूपधर्म भी नामधर्मों का एक प्रकार की प्रत्ययशक्ति से उपकार करते हैं।

पट्ठाननय

१४. पट्ठानपालि में 'हेतुपच्चयो.....अविगतपच्चयो' इस प्रकार २४ प्रत्ययों का सर्वप्रथम उद्देशमात्र दिखलाकर तदनन्तर उसकी व्याख्या अतिविस्तृतरूप से की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इस पट्ठाननय के एक अंश (उद्देश) मात्र का ही 'पट्ठाननयो' – इस शीर्षक से आचार्य अनुरुद्ध द्वारा दिग्दर्शन कराया गया है। हम यहाँ प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रतिपादित पालियों की संक्षेप से व्याख्या कर रहे हैं। पट्ठानशास्त्र में प्रवेश की सहायता के लिये 'पट्ठानसमुच्चय' नामक परिशिष्ट का पृथक् निरूपण इस ग्रन्थ के अन्त में करेंगे।

षड्विधप्रत्यय

१५-१६. इन दोनों गाथाओं द्वारा २४ प्रत्ययों में नामधर्म नामधर्म का कितने

१६. पञ्ञत्तिनामरूपानि नामस्स दुविधा द्वयं।
द्वयस्स नवधा चेति छब्बिधा पच्चया कथं ? ॥

प्रज्ञप्ति, नाम एवं रूपधर्म नाम धर्मों का दो प्रकार की प्रत्यय शक्तियों से उपकार करते हैं तथा नाम एवं रूप दोनों नाम एवं रूप दोनों धर्मों का ९ प्रकार की प्रत्ययशक्तियों से उपकार करते हैं। इस प्रकार प्रत्ययों के ६ प्रकार होते हैं। कैसे ?

नामं नामस्स

१७. अनन्तरनिरुद्धा चित्तचेतसिका धम्मा पच्चुप्पन्नानं* चित्तचेतसिकानं धम्मानं अनन्तर-समनन्तर-नत्थि-विगतवसेन†, पुरिमानि जवनानि पच्छिमानं जवनानं आसेवनवसेन, सहजाता चित्तचेतसिका धम्मा अञ्ञमञ्ञं सम्पयुत्तवसेनेति च छधा नामं नामस्स‡ पच्चयो होति।

अनन्तर निरुद्ध चित्त-चैतसिक धर्म कारणों की अपेक्षा से उत्पन्न वर्तमान चित्त-चैतसिक धर्मों के अनन्तर, समनन्तर, नास्ति एवं विगत प्रत्ययशक्ति से उपकार करते हैं। पूर्व पूर्व जवन पश्चिम पश्चिम जवनों का आसेवन प्रत्ययशक्ति से उपकार करते हैं। सहजात चित्त चैतसिक धर्म परस्पर सम्प्रयुक्त प्रत्ययशक्ति से उपकार करते हैं। इस प्रकार नामधर्म नामधर्मों का ६ प्रत्ययशक्तियों से उपकार करते हैं।

प्रकार की प्रत्ययशक्तियों से उपकार करते हैं—इत्यादि विभाजन करके दिखलाया गया है। जैसे—

१.	नामधर्म	नामधर्मों के	६ प्रत्यय
२.	नामधर्म	नामरूपधर्मों के	५ प्रत्यय
३.	नामधर्म	रूपधर्मों का	१ प्रत्यय
४.	रूपधर्म	नामधर्मों का	१ प्रत्यय
५.	प्रज्ञप्ति, नाम, रूपधर्म	नामधर्मों के	२ प्रत्यय
६.	नाम-रूपधर्म	नामरूपधर्मों के	९ प्रत्यय
			२४ प्रत्यय

नाम नामधर्मों का

१७. पहले जो 'नामधर्म नामधर्मों का ६ प्रत्ययशक्तियों से उपकार करते हैं'—यह कहा गया है, वहाँ केवल संख्या का निर्देश किया गया था। यहाँ संख्येय का प्रतिपादन किया गया है। अनन्तर-समनन्तर-आसेवन-सम्प्रयुक्त-नास्ति एवं विगत ये ६ प्रत्यय हैं, इनके द्वारा नामधर्म नामधर्मों का उपकार करते हैं।

---

*. पटुप्पन्नानं—म० (क. ख.)। †. ०च—रो०। ‡. नामस्सेव—स्या०।

नामं नामरूपानं

१८. हेतुज्झानङ्गमग्गङ्गानि* सहजातानं नामरूपानं हेतादिवसेन†, सहजाता चेतना सहजातानं नामरूपानं, नानाक्खणिका चेतना कम्माभिनिब्बत्तानं नामरूपानं कम्मवसेन, विपाकक्खन्धा अञ्ञमञ्ञं सहजातानं‡ रूपानं‡ विपाकवसेनेति च पञ्चधा नामं नामरूपानं पच्चयो होति।

हेतु, ध्यानाङ्ग एवं मार्गाङ्ग धर्म सहजात नाम एवं रूपों का हेतु-(ध्यान-मार्ग)-आदि प्रत्यय शक्तियों से उपकार करते हैं। सहजात चेतना सहजात नाम एवं रूप धर्मों का, नानाक्षणिक (नानाक्षण में होनेवाली)-चेतना कर्माभिनिर्वृत्त (कर्म से उत्पन्न होनेवाले) नाम एवं रूप धर्मों का कर्मनामक प्रत्ययशक्ति से उपकार करती है। विपाक नामस्कन्ध अन्योन्य एवं सहजात रूपों का विपाक नामक प्रत्ययशक्ति से उपकार करते हैं। इस प्रकार नामधर्म नाम एवं रूप धर्मों का पाँच प्रकार की प्रत्ययशक्तियों से उपकार करते हैं।

नामं रूपस्स

१९. पच्छाजाता चित्तचेतसिका धम्मा पुरेजातस्स इमस्स कायस्स पच्छाजातवसेनेति एकधा व नामं रूपस्स पच्चयो होति।

पीछे पीछे उत्पन्न चित्त-चैतसिक धर्म पूर्व पूर्व उत्पन्न इस रूपकाय का पश्चाज्जात नामक प्रत्ययशक्ति से उपकार करते हैं। इस प्रकार नामधर्म रूपधर्मों का एक प्रकार की प्रत्ययशक्ति से ही उपकार करते हैं।

रूपं नामस्स

२०. छ वत्थूनि पवत्तियं सत्तन्नं विञ्ञाणधातूनं, पञ्चारमणानि च पञ्चविञ्ञाणवीथिया पुरेजातवसेनेति एकधा व रूपं नामस्स पच्चयो होति।

६ प्रकार के वस्तुरूप प्रवृत्ति काल में ७ विज्ञानधातुओं का, पाँच प्रकार के आलम्बनधर्म पाँच विज्ञानवीथियों का पुरेजात प्रत्ययशक्ति से उपकार करते हैं। इस प्रकार रूपधर्म नामधर्मों का एक प्रकार की प्रत्यय-शक्ति से ही उपकार करते हैं।

नाम नामरूपों का

१८. नामधर्म नाम एवं रूप धर्मों का हेतु, ध्यान, माग, कर्म एवं विपाक – इन पाँच प्रत्ययशक्तियों से उपकार करते हैं।

---

*. हेतुझान० – म० (ख) †. हेत्वादि० – स्या०। ‡-‡. सहजातरूपानं च – स्या०।

पञ्ञत्ति-नाम-रूपानि नामस्स

२१. आरमणवसेन उपनिस्सयवसेनेति च* दुविधा* पञ्ञत्ति-नाम-रूपानि नामस्सेव पच्चया† होन्ति।

प्रज्ञप्ति, नाम एवं रूपधर्म नामधर्मों का आलम्बन प्रत्ययशक्ति एवं उपनिश्रय प्रत्ययशक्ति – इस प्रकार दो प्रकार की प्रत्ययशक्तियों से ही उपकार करते हैं।

आरमण-उपनिस्सयपभेदा

२२. तत्थ रूपादिवसेन छब्बिधं‡ होति आरमणं‡।

उन दो प्रत्ययों में आलम्बनप्रत्यय रूपालम्बन-आदि भेद से ६ प्रकार का होता है।

२३. उपनिस्सयो पन तिविधो होति—आरमणूपनिस्सयो, अनन्तरूपनिस्सयो, पकतूपनिस्सयो चेति।

उपनिश्रयप्रत्यय भी तीन प्रकार का होता है। यथा – १. आलम्बनोपनिश्रय अनन्तरोपनिश्रय तथा ३. प्रकृत्युपनिश्रय।

उपनिस्सयस्स सरूपानि

२४. तत्थ आरमणमेव गरुकतं आरमणूपनिस्सयो।

उन त्रिविध उपनिश्रय प्रत्ययों में से गुरुकृत आलम्बन ही आलम्बनोपनिश्रय है।

२५. अनन्तरनिरुद्धा चित्तचेतसिका धम्मा अनन्तरूपनिस्सयो।

अनन्तरनिरुद्ध चित्त-चैतसिक धर्म अनन्तरोपनिश्रय हैं।

२६. रागादयो पन धम्मा, सद्धादयो च, सुखं§ दुक्खं§, पुग्गलो, भोजनं, उतु, सेनासनञ्च यथारहं अज्झत्तञ्च बहिद्धा च कुसलादिधम्मानं, कम्मं∅ विपाकानं∅ ति च○ बहुधा होति पकतूपनिस्सयो।

राग-आदि अकुशल धर्म, श्रद्धा-आदि कुशल धर्म, कायिक सुख, कायिक दुःख, पुद्गल, भोजन, ऋतु एवं शयनासन, यथायोग्य आध्यात्मिक एवं बाह्य सन्तान में कुशल-आदि धर्मों का तथा बलवान् कर्म विपाक धर्मों का प्रकृत्युपनिश्रयशक्ति से उपकार करते हैं। इस प्रकार प्रकृत्युपनिश्रयप्रत्यय बहुत होते हैं।

---

२६. रागादयो पन – राग, द्वेष, मोह, मान, दृष्टि, लोभ, १० अकुशल कर्मपथ एवं पाँच आनन्तर्यकर्म – इन्हें राग-आदि धर्म कहा गया है।

-. द्विधा – ना०। †. पच्चयो – म० (क)। ‡-‡. छब्बिधमालम्बनं – स्या०। §-§. सुखदुक्खं – स्या०। ∅-∅. कम्मविपाकानं – स्या०। ○. ना० में नहीं।

नामरूपानि नामरूपानं

२७. अधिपति-सहजात-अञ्ञमञ्ञ-निस्सय-आहार-इन्द्रिय-विप्पयुत्त-अत्थि-अविगतवसेनेति यथारहं नवधा नामरूपानि नामरूपानं पच्चया भवन्ति* ।

नाम एवं रूपधर्म अधिपति, सहजात, अन्योन्य, निश्रय, आहार, इन्द्रिय, विप्रयुक्त, अस्ति एवं अविगत – इस तरह ९ प्रकार की प्रत्यय-शक्तियों से नाम एवं रूप धर्मों का यथायोग्य उपकार करते हैं।

अधिपतिपच्चयो दुविधो

२८. तत्थ गरुकतमारमणं आरमणाधिपतिवसेन नामानं, सहजाताधिपति चतुब्बिधो पि सहजातवसेन† सहजातानं नामरूपानं ति च दुविधो होति अधिपतिपच्चयो ।

पूर्वोक्त ९ प्रत्ययों में से गुरुकृत आलम्बन, नामधर्मों का आलम्बनाधिपति प्रत्ययशक्ति से उपकार करता है। चतुर्विध भी सहजाताधिपति-प्रत्यय सहजात नाम एवं रूपधर्मों का सहजाताधिपति प्रत्ययशक्ति से उपकार करता है। इस प्रकार अधिपतिप्रत्यय द्विविध होता है।

सहजातपच्चयो तिविधो

२९. चित्तचेतसिका धम्मा अञ्ञमञ्ञं सहजातरूपानञ्च, महाभूता अञ्ञमञ्ञं उपादारूपानञ्च, पटिसन्धिक्खणे वत्थु-विपाका अञ्ञमञ्ञं ति च तिविधो होति सहजातपच्चयो ।

चित्त-चैतसिक धर्म अन्योन्य (परस्पर) एवं सहजात रूप धर्मों का उपकार करते हैं। महाभूत अन्योन्य (परस्पर) एवं उपादाय रूपधर्मों का उपकार करते हैं। प्रतिसन्धिक्षण में हृदयवस्तु एवं विपाक नामस्कन्ध अन्योन्य (परस्पर) उपकार करते हैं। इस प्रकार सहजात प्रत्यय त्रिविध होता है।

सद्धादयो च – श्रद्धा, शील, श्रुत, त्याग, प्रज्ञा, दान-आदि १० पुण्यक्रिया श्रद्धा-आदि धर्म कहे जाते हैं।

पुग्गलो – कल्याणमित्र – आदि पुद्गल हैं।

भोजनं – सात्म्य या अनुकूल (सप्पाय) भोजन ही यहाँ भोजन शब्द से अभिप्रेत है।

उतु (ऋतु) एवं सेनासन (शयनासन) – ये भी सप्पाय अर्थात् सात्म्य (उपशय) या अनुकूल ही लेना चाहिये।

---

*. होन्ति – स्या० । †. सहजाताधिपतिवसेन – स्या० ।

अञ्ञमञ्ञपच्चयो तिविधो

३०. चित्तचेतसिका धम्मा अञ्ञमञ्ञं, महाभूता अञ्ञमञ्ञं, पटिसन्धिक्खणे वत्थु-विपाका अञ्ञमञ्ञं ति च तिविधो होति अञ्ञमञ्ञ-पच्चयो ।

चित्त-चैतसिक धर्म अन्योन्य उपकार करते हैं। महाभूत अन्योन्य उपकार करते हैं तथा प्रतिसन्धिक्षण में हृदयवस्तु एवं विपाक नामस्कन्ध अन्योन्य उपकार करते हैं। इस प्रकार अन्योन्य प्रत्यय त्रिविध होता है।

निस्सयपच्चयो तिविधो

३१. चित्तचेतसिका धम्मा अञ्ञमञ्ञं सहजातरूपानञ्च, महाभूता अञ्ञमञ्ञं उपादारूपानञ्च, छ वत्थूनि सत्तन्नं विञ्ञाणधातूनं ति च तिविधो होति निस्सयपच्चयो ।

चित्त-चैतसिक धर्म अन्योन्य एवं सहजात रूपधर्मों का उपकार करते हैं। महाभूत अन्योन्य एवं उपादाय रूपधर्मों का उपकार करते हैं। ६ वस्तुरूप, ७ विज्ञान धातुओं का उपकार करते हैं। इस प्रकार निश्रयप्रत्यय त्रिविध होता है।

आहारपच्चयो दुविधो

३२. कबळीकारो आहारो इमस्स कायस्स, अरूपिनो आहारा सह-जातानं नामरूपानं ति च दुविधो होति आहारपच्चयो ।

कवलीकार आहार इस रूपकाय का उपकार करता है। अरूपी आहार (स्पर्श मनःसञ्चेतना एवं विज्ञान) सहजात नाम एवं रूप धर्मों का उपकार करते हैं। इस प्रकार आहारप्रत्यय द्विविध है।

इन्द्रियपच्चयो तिविधो

३३. पञ्च पसादा* पञ्चन्नं विञ्ञाणानं, रूपजीवितिन्द्रियं† उपादिण्णरूपानं‡, अरूपिनो इन्द्रिया सहजातानं नामरूपानं ति च तिविधो होति इन्द्रियपच्चयो ।

पाँच प्रसादरूप पाँच विज्ञान धर्मों का उपकार करते हैं। रूप जीवितेन्द्रिय उपादिन्न (कर्मज) रूपों का उपकार करती है। अरूपी इन्द्रिय (नाम इन्द्रिय) सहजात नाम एवं रूपधर्मों का उपकार करती है। इस प्रकार इन्द्रिय प्रत्यय त्रिविध है।

*. पञ्चप्पसादा – सी० । †. जीवितिन्द्रियं – स्या० ।
‡. उपादिण्णकरूपानं – स्या०; उपादिन्न० – म० (क, ख) ।

विप्पयुत्तपच्चयो तिविधो

३४. ओक्कन्तिक्खणे वत्थु विपाकानं,* चित्तचेतसिका धम्मा सहजातरूपानं सहजातवसेन, पच्छाजाता चित्तचेतसिका धम्मा पुरेजातस्स इमस्स कायस्स पच्छाजातवसेन, छ वत्थूनि पवत्तियं सत्तन्नं विञ्ञाणधातूनं पुरेजातवसेनेति च तिविधो होति विप्पयुत्तपच्चयो ।

प्रतिसन्धिक्षण में हृदयवस्तु विपाक नामस्कन्ध धर्मों का, चित्त-चैतसिक धर्म सहजात रूप धर्मों का सहजातविप्रयुक्त शक्ति से उपकार करते हैं। पश्चात् उत्पन्न चित्त-चैतसिक धर्म पूर्वोत्पन्न इस रूपकाय का पश्चाज्जातविप्रयुक्त शक्ति से उपकार करते हैं। ६ वस्तुरूप प्रवृत्तिकाल में ७ विज्ञानधातुओं का पुरेजातविप्रयुक्त शक्ति से उपकार करते हैं। इस प्रकार विप्रयुक्तप्रत्यय त्रिविध होता है।

अत्थिपच्चयो अविगतपच्चयो पञ्चविधो

३५. सहजातं पुरेजातं पच्छाजातञ्च सब्बथा ।
कबळीकारो आहारो रूपजीवितमिच्चयं ति ।।
पञ्चविधो होति अत्थिपच्चयो अविगतपच्चयो† च‡ ।

सभी प्रकार से सहजात, पुरेजात, पश्चाज्जात, कवलीकार आहार एवं रूपजीवितेन्द्रिय – इस तरह अस्तिप्रत्यय एवं अविगत प्रत्यय ये पाँच प्रकार के होते हैं।

पञ्चसङ्गहो

३६. आरम्मणूपनिस्सयकम्मत्थिपच्चयेसु च सब्बे§ पि§ पच्चया समोधानं गच्छन्ति ।

आलम्बन, उपनिश्रय, कर्म एवं अस्ति – इन प्रत्ययों में सभी २४ प्रत्ययों का अन्तर्भाव हो जाता है।

३७. सहजातरूपं ति पनेत्थ सब्बत्थापि¶ पवत्ते चित्तसमुट्ठानानं, पटिसन्धियं कटत्तारूपानञ्च वसेन दुविधं होतीति वेदितब्बं ।

इस पट्ठाननय में सभी सहजात प्रत्ययों में सहजातरूप प्रवृत्तिकाल में चित्तसमुट्ठानरूप तथा प्रतिसन्धिकाल में कटत्ता (कर्मज) रूप के वश से दो प्रकार का होता है – ऐसा जानना चाहिये।

---

*. ० सहजातवसेन – स्या० ।

†. ० तथा – स्या० । ‡. स्या० में नहीं। §-§. सब्बेसु – रो० ।

¶. सब्बथापि – स्या०, रो० ।

३८. इति तेकालिका धम्मा कालमुत्ता च सम्भवा।
अज्झत्तञ्च बहिद्धा च सङ्खतासङ्खता तथा॥
पञ्ञत्तिनामरूपानं वसेन तिविधा ठिता।
पच्चया नाम पट्ठाने चतुवीसति सब्बथा॥

इस प्रकार यथासम्भव त्रैकालिक एवं काल विमुक्त, अध्यात्मसन्तान एवं बाह्यसन्तान, संस्कृत एवं असंस्कृत तथा प्रज्ञप्ति, नाम एवं रूपभेद से स्थित त्रिविध धर्म पट्ठान के विषय में सर्वथा २४ प्रत्यय होते हैं।

नामरूपपञ्ञत्तियो

३९. तत्थ रूपधम्मा रूपक्खन्धो व*। चित्तचेतसिकसङ्खाता चत्तारो अरूपिनो† खन्धा† निब्बानञ्चेति पञ्चविधम्पि‡ अरूपं ति च नामं ति च पवुच्चति।

उनमें प्रज्ञप्त नाम-रूपों में रूपधर्म रूपस्कन्ध ही हैं। चित्त-चैतसिक कहे जानेवाले चार अरूपी (नाम) स्कन्ध एवं निर्वाण-इस तरह ये पाँच प्रकार के धर्म 'अरूप' या 'नाम' कहे जाते हैं।

---

३८. इन दो गाथाओं द्वारा २४ प्रत्ययों में परिगणित धर्मों के त्रैकालिक, काल-विमुक्त-आदि नाना भेद दिखलाये गये हैं तथा २४ प्रत्ययों का निगमन भी दिखलाया गया है।

त्रैकालिक एवं कालविमुक्त भेद से दो प्रकार, अध्यात्म एवं बाह्य भेद से दो प्रकार, संस्कृत एवं असंस्कृत भेद से दो प्रकार तथा प्रज्ञप्ति, नाम एवं रूपभेद से तीन प्रकार के धर्म पट्ठान नय में २४ प्रत्ययों के नाम से व्यवहृत होते हैं।

त्रैकालिक धर्म – चित्त, चैतसिक एवं रूप।
कालविमुक्त धर्म – निर्वाण एवं प्रज्ञप्ति।
अध्यात्मधर्म – स्वसन्तान में होनेवाले चित्त, चैतसिक एवं रूप।
बाह्यधर्म – परसन्तान में होनेवाले चित्त, चैतसिक, रूप एवं निर्वाण।
संस्कृत – चित्त, चैतसिक एवं रूप।
असंस्कृत – निर्वाण एवं प्रज्ञप्ति।

पट्ठानन‌य समाप्त।

नामरूपप्रज्ञप्तियाँ

३९-४०. नाम-रूप प्रज्ञप्ति – उपर्युक्त क्रम से प्रतीत्यसमुत्पादनय एवं पट्ठान-नय का निरूपण हो जाने के कारण यहाँ इस परिच्छेद को समाप्त किया जा सकता

---

*. स्या० में नहीं। †-†. अरूपिनोक्खन्धा – रो०। ‡. पञ्चविधं – स्या०।

४०. ततो अवसेसा पञ्ञत्ति* पन पञ्ञापियत्ता पञ्ञत्ति, पञ्ञापनतो पञ्ञत्तीति च दुविधा होति।

इन नाम एवं रूपधर्मों से अवशिष्ट प्रज्ञप्ति, प्रज्ञप्त होने के कारण 'अर्थप्रज्ञप्ति' तथा प्रज्ञापन करने के कारण 'शब्दप्रज्ञप्ति' – इस प्रकार द्विविध होती है।

था; किन्तु पूर्व गाथा में उक्त 'पञ्ञत्तिनामरूपानं वसेन तिविधा ठिता' इस वचन को आधार बनाकर प्रज्ञप्ति, नाम एवं रूपधर्मों का विभाग करके दिखलाने के लिये आचार्य ने 'तत्थ रूपधम्मा.....' आदि से इस अतिरिक्त प्रकरण का आरम्भ किया है।

'समुच्चय परिच्छेद' में कथित रूपस्कन्ध 'रूप' तथा वेदना, संज्ञा, संस्कार, एवं विज्ञान – इन चार स्कन्धों के साथ निर्वाण 'नाम' या 'अरूप' कहे जाते हैं।

शब्दप्रज्ञप्ति एवं अर्थप्रज्ञप्ति – प्रज्ञप्ति दो प्रकर की होती है, यथा – शब्दप्रज्ञप्ति एवं अर्थप्रज्ञप्ति।

'पञ्ञापियत्ता पञ्ञत्ति' द्वारा अर्थप्रज्ञप्ति दिखलायी गयी है। अर्थात् जो धर्म दूसरों की समझ में आने के लिये प्रज्ञप्त किये जाते हैं, वे 'अर्थ प्रज्ञप्ति' हैं। वस्तुद्रव्य-आदि चित्त में प्रतिभासित होनेवाले सभी अर्थ 'अर्थप्रज्ञप्ति' कहे जाते हैं। वे अर्थ नाना प्रकार के नामों द्वारा ज्ञापित किये जाते हैं, अतः 'पकारेन ञापीयतीति-पञ्ञत्ति' के अनुसार वे 'अर्थप्रज्ञप्ति' हैं[1]।

'पञ्ञापनतो पञ्ञत्ति' द्वारा शब्दप्रज्ञप्ति दिखलायी गयी है। अर्थात् सभी भाषाओं के शब्द अपने संकेत के अनुसार सम्बद्ध अर्थ (किसी एक वस्तुद्रव्य) को नाना प्रकार से ज्ञापन करते हैं, अतः 'पकारेन ञापेतीति पञ्ञत्ति' के अनुसार वे 'शब्द प्रज्ञप्ति' हैं[2]।

---

*. ० सा – स्या०।

१. "'पञ्ञापीयत्ता' ति तेन तेन पकारेन ञापेतब्बत्ता, इमिना रूपादिधम्मानं समूहसन्तानादिअवत्थाविसेसादिभेदा सम्मुतिसच्चभूता उपादापञ्ञत्ति-सङ्खाता 'अत्थपञ्ञत्ति' वुत्ता। सा नामपञ्ञत्तिया पञ्ञापीयति।" – विभा०, पृ० ११२। द्र० – प० दी०, पृ० ३५५; अट्ठ०, पृ० ३०१।

२. "'पञ्ञापनतो' ति पकारेहि अत्थपञ्ञत्तिया ञापनतो, इमिना हि पञ्ञापेतीति पञ्ञत्तीति लद्धनामानं अत्थानं अभिधानसङ्खाता 'नाम-पञ्ञत्ति' वुत्ता।" – विभा०, पृ० ११२। द्र० – प० दी०, पृ० ३५५-३५६; अट्ठ०, पृ० ४४।

अत्थपञ्ञत्ति

४१. कथं ?

तं तं भूतविपरिणामाकारमुपादाय* तथा तथा पञ्ञत्ता भूमि-पब्बतादिका, सम्भारसन्निवेसाकारमुपादाय† गेहरथसकटादिका‡, खन्धपञ्चक-मुपादाय पुरिसपुग्गलादिका, चन्दावट्टनादिकमुपादाय§ दिसाकालादिका, असम्फुट्ठाकारमुपादाय कूपगुहादिका, तं तं भूतनिमित्तं भावनाविसेसञ्च उपादाय कसिणनिमित्तादिका चेति एवमादिप्पभेदा∅ पन परमत्थतो अविज्जमाना पि

कैसे ? –

(क) उन उन पृथ्वी-आदि महाभूतों के विपरिणमित आकार का उपादान (अपेक्षा) करके उन उन भूमि, पर्वत-आदि प्रभेदों से प्रज्ञप्त भूमि, पर्वत-आदि सन्तानप्रज्ञप्ति; (ख) सम्भार (अवयवसमूह) के सन्निवेशाकार का उपादान करके उन उन गेह, रथ, शकट-आदि प्रभेदों से प्रज्ञप्त गेह, रथ, शकट-आदि समूहप्रज्ञप्ति; (ग) स्कन्धपञ्चक का उपादान करके उन उन पुरुष, पुद्गल-आदि प्रभेदों से प्रज्ञप्त पुरुष, पुद्गल-आदि सत्त्वप्रज्ञप्ति; (घ) सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र-आदि के आवर्त्तन-आदि का उपादान करके उन उन दिशा, काल-आदि प्रभेदों से प्रज्ञप्त पूर्वदिशा-आदि 'दिशाप्रज्ञप्ति' एवं पूर्वाण्ह-आदि कालप्रज्ञप्ति; (ङ) महाभूतों के परस्पर असंस्पृष्ट आकार का उपादान करके उन उन कूप, गुहा-आदि प्रभेदों से प्रज्ञप्त कूप, गुहा-आदि 'आकाश-प्रज्ञप्ति'; (च) 'पठवी-कसिण'-आदि उन उन महाभूत आलम्बन का एवं परिकर्म भावना-आदि भावनाविशेष का उपादान करके उन उन कसिण-

---

अर्थप्रज्ञप्ति

४१. पहले अर्थप्रज्ञप्ति एवं शब्दप्रज्ञप्ति – इस तरह दो प्रकार की प्रज्ञप्तियाँ कही जा चुकी हैं। उनमें से यहाँ अर्थप्रज्ञप्ति को विस्तार पूर्वक समझाने के लिये उसके ६ प्रकार दिखलाये गये हैं। यथा – सन्तानप्रज्ञप्ति, समूहप्रज्ञप्ति, सत्त्वप्रज्ञप्ति, काल-प्रज्ञप्ति, आकाशप्रज्ञप्ति तथा निमित्तप्रज्ञप्ति। [सत्त्वों की सन्तान के अतिरिक्त बाह्य-वस्तुओं में पृथ्वी, अप्, तेजस् एवं वायु नामक ४ महाभूत तथा वर्ण, गन्ध, रस, एवं ओजस् = ८ रूप (अष्टकलाप) ही परमार्थ रूप से विद्यमान होते हैं। इन आठों

---

*. भूतपरिनामा० – सी०; भूतपरिणामा० – स्या०। †. ससम्भार० – ना०। ‡. रथसकटादिका – स्या०।

§. चन्दनवट्टना० – स्या०; चन्दावत्तना० – रो०; चन्दवत्तना० – ना०।

∅. एवमादिभेदा – स्या०।

अत्थच्छायाकारेन चित्तुप्पादानं आरमणभूता तं तं उपादाय उपनिधाय कारणं कत्वा तथा तथा परिकप्पियमाना सङ्खायति समञ्ञायति वोहरीयति* पञ्ञापीयतीति* पञ्ञत्तीति पवुच्चति – अयं पञ्ञत्ति† पञ्ञापियत्ता पञ्ञत्ति नाम।

निमित्त आदि प्रभेदों से प्रज्ञप्त 'कसिण प्रज्ञप्ति' एवं परिकर्मनिमित्त-आदि 'निमित्तप्रज्ञप्ति' – इस प्रकार के नाना अर्थ परमार्थ रूप से अविद्यमान होने पर भी महाभूत आदि परमार्थ धर्मों के छायाकार रूप से चित्त एवं चैतसिक-धर्मों के आलम्बनभूत तथा उन उन वस्तुओं का उपादान करके, अपेक्षा करके, प्रज्ञप्ति के कारण करके, उस उस प्रकार से परिकल्प्यमान होते हुए संख्यात (सम्यक् कथित) होते हैं, संज्ञात होते हैं, व्यवहृत होते हैं एवं प्रज्ञप्त होते हैं, अतः उन्हें 'प्रज्ञप्ति' कहा जाता है। यह अर्थप्रज्ञप्ति प्रज्ञप्त होने से 'प्रज्ञप्ति' है।

में भी ४ महाभूत ही वस्तुद्रव्य के रूप में विद्यमान होते हैं, अतः यहाँ इन महाभूतों को ही प्रधान करके व्याख्या की जायगी।]

(क) सन्तानप्रज्ञप्ति – महाभूतों के विपरिणाम को लेकर 'यह पृथ्वी है, यह पर्वत है' – इत्यादि प्रकार से नामों द्वारा ज्ञापन किया जाता है। इस तरह प्रज्ञप्त होनेवाले वस्तुद्रव्य, महाभूतों की सन्तान की अपेक्षा से प्रज्ञप्त होने के कारण 'सन्तानप्रज्ञप्ति' कहे जाते हैं। इसे 'समूहप्रज्ञप्ति' भी कहा जाता है। 'आदि' शब्द से वृक्ष, नदी, समुद्र-आदि का भी ग्रहण करना चाहिये[1]।

(ख) समूहप्रज्ञप्ति – काष्ठ-आदि सम्भार (उपकरण) समूह के सन्निवेश (आकार) को लेकर 'यह गृह है, यह रथ है' – इत्यादि प्रकार से नामों द्वारा ज्ञापन किया जाता है। इस तरह प्रज्ञप्त होनेवाले वस्तुद्रव्य, सम्भारसमूह की अपेक्षा से होने के कारण 'समूहप्रज्ञप्ति' कहे जाते हैं। संस्थान की अपेक्षा से होने के कारण

-. वोहरियति पञ्ञापियतीति – स्या०, ना०।

†. स्या० में नहीं।

१. "'भूतपरिणामाकारमुपादाया' ति पथवादीनं महाभूतानं पबन्धवसेन पवत्तमानानं पत्थटसङ्खतादिआकारेन परिणामाकारं परिणतभावसङ्खातं आकारं उपादाय निस्सयं कत्वा। 'तथा तथा' ति भूमादिवसेन 'भूमिपब्बतादिका' ति भूमिपब्बतरुक्खादिका सन्तानपञ्ञत्ति।" – विभा०, पृ० १९२-१९३। द्र० – प० दी०, पृ० ३५६।

इसे 'संस्थानप्रज्ञप्ति' भी कहते हैं। 'आदि' शब्द से ग्राम, सेना, घट, पट-आदि का भी ग्रहण करना चाहिये[1]।

(ग) सत्त्वप्रज्ञप्ति – स्कन्धपञ्चक को लेकर 'यह पुरुष है, यह पुद्गल है' – इत्यादि प्रकार से नामों द्वारा ज्ञापन किया जाता है। इस तरह प्रज्ञप्त होनेवाले वस्तुद्रव्य, सत्त्व की अपेक्षा से होने के कारण 'सत्त्वप्रज्ञप्ति' कहे जाते हैं। स्कन्धपञ्चक की अपेक्षा से होने के कारण इसे 'उपादायप्रज्ञप्ति' भी कहते हैं। 'आदि' शब्द से, स्त्री, आत्मा, जीव-आदि का भी ग्रहण करना चाहिये[2]।

(घ) कालप्रज्ञप्ति – चन्द्र, सूर्य-आदि ग्रहों के आवर्तन को लेकर 'यह पूर्व दिशा है, यह पश्चिम दिशा है' – इत्यादि प्रकार से तथा 'यह पूर्वाह्न है, यह मध्याह्न है, यह अपराह्न है'-इत्यादि प्रकार से नामों द्वारा ज्ञापन किया जाता है। इस तरह प्रज्ञप्त होने से इन्हें 'दिशाप्रज्ञप्ति' एवं 'कालप्रज्ञप्ति' कहते हैं। 'आदि' शब्द से ऋतुप्रज्ञप्ति, मासप्रज्ञप्ति, संवत्सरप्रज्ञप्ति-आदि का भी ग्रहण करना चाहिये[3]।

(ङ) आकाशप्रज्ञप्ति – महाभूतों के असंस्पृष्ट आकार को लेकर 'यह कूप है, यह गुहा है' – इत्यादि प्रकार से नामों द्वारा ज्ञापन किया जाता है। इस तरह प्रज्ञप्त होनेवाले वस्तुद्रव्य, आकाश की अपेक्षा से होने के कारण 'आकाशप्रज्ञप्ति' कहे जाते हैं। 'आदि' शब्द द्वारा लेण, छिद्र, विवर, सुषिरता-आदि का ग्रहण करना चाहिये[4]।

(च) निमित्तप्रज्ञप्ति – ४० कम्मट्ठानों में 'कसिण' प्रज्ञप्ति, अशुभ प्रज्ञप्ति-आदि २८ प्रज्ञप्तियां होती हैं। उनमें से 'कसिण' प्रज्ञप्ति उन उन महाभूत आलम्बनों की अपेक्षा करके होती है।

पृथ्वी धातु के आधिक्यवाले रूपकलाप को 'यह पृथ्वीकसिण है' एवं अप् धातु के आधिक्यवाले रूपकलाप को 'यह अप्कसिण है' – इत्यादि प्रकार से नामों द्वारा ज्ञापन किया जाता है। इस तरह प्रज्ञप्त वस्तुद्रव्य 'कसिणप्रज्ञप्ति' हैं। भावनाक्रम-विशेष को लेकर परिकर्म, उग्गह (उद्ग्रह) पटिभाग (प्रतिभाग) निमित्त-आदि निमित्त-प्रज्ञप्तियाँ होती हैं[5]। (इन प्रज्ञप्तियों का सविस्तर वर्णन नवम परिच्छेद में किया जायगा।)

---

१. "'सम्भारसन्निवेसाकारं' ति दारुमत्तिकातन्तादीनं सम्भारानं उपकरणानं सन्निवेसाकारं रचनाविविसिट्ठतंतंसण्ठानादिआकारं; 'रथसकटादिका' ति रथसकटगामघटपटादिका समूहपञ्ञत्ति।" – विभा०, पृ० १९३। द्र० – प० दी०, पृ० ३५६।

२. "पुरिसपुग्गलादिका सत्तपञ्ञत्ति उपादापञ्ञत्तीति पि वुच्चति।" – प० दी०, पृ० ३५६।

३. द्र० – विभा०, पृ० १९३; प० दी०, पृ० ३५६।

४. द्र० – विभा०, पृ० १९३; प० दी०, पृ० ३५६।

५. द्र० – विभा०, पृ० १९३; प० दी०, पृ० ३५६।

एवमादिप्पभेदा—उपर्युक्त प्रज्ञप्तियों के अतिरिक्त तृतीय आरूप्यविज्ञान की आलम्बनभूत 'नत्थिभाव (नास्ति भाव) प्रज्ञप्ति', 'आनापान (प्राणापान)—प्रज्ञप्ति,' नीलकसिण, पीतकसिण-आदि 'वण्णकसिण (वर्णकात्स्न्यं)-प्रज्ञप्ति', 'पुग्गलपञ्ञत्ति-अट्ठकथा' में परमार्थधर्मसमूह की अपेक्षा से कथित 'उपादायप्रज्ञप्ति' प्रथम-आदि की अपेक्षा से 'द्वितीय, तृतीय'-आदि प्रज्ञप्ति तथा ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ एवं दीर्घ की अपेक्षा ह्रस्व-आदि 'उपनिधाय प्रज्ञप्ति' आदि अनेकविध प्रज्ञप्तियाँ होती हैं[1]।

परमत्थतो, अविज्जमानापि—उपर्युक्त प्रज्ञप्तियों द्वारा प्रज्ञप्त नाना प्रकार के द्रव्यसमूह परमार्थ दृष्टि से देखने पर अविद्यमानस्वभाव ही हैं। जैसे—'यह भूमि है'—इस प्रकार प्रज्ञप्त द्रव्य वस्तुतः जैसा हम देखते हैं वैसा न होकर अत्यन्त सूक्ष्म अष्ट-कलापरूप ही है[2]।

अत्थच्छायाकारेन चित्तुप्पादानं आरमणभूता—यद्यपि अर्थप्रज्ञप्तिसमूह परमार्थरूप से अविद्यमान होता है; तथापि परमार्थधर्मों की छाया के आकाररूप में चित्तोत्पादों में प्रतिभासित होता है। अर्थात् चित्त-चैतसिकों का आलम्बन होता है[3]।

तं तं उपादाय उपनिधाय—वे अर्थप्रज्ञप्ति वस्तुद्रव्यसमूह उन उन आकारों की तथा उन उन वस्तुओं की अपेक्षा करके प्रज्ञप्त 'द्रव्यसमूह' हैं[4]।

कारणं कत्वा तथा तथा परिकप्पियमाना—उन आकारों तथा उनकी अपेक्षा से उपलब्ध वस्तुद्रव्य प्रज्ञापन के कारण हैं। जैसे—पृथ्वी-आदि महाभूतों का विस्तृत आकार 'पृथ्वी' इस प्रज्ञापन का 'प्रवृत्तिनिमित्त' (कारण) है। इसलिये 'पथवी' इस शब्द का जब विग्रह किया जाता है, तो उपर्युक्त 'प्रवृत्तिनिमित्त' कारण के अनुसार 'पथ-तीति पथवी'—इस तरह किया जाता है। इस तरह उन उन आकारों की अपेक्षा करके प्रवृत्तिनिमित्त को प्रज्ञापन का कारण बनाकर नाना प्रकार से परिकल्पित वस्तु-द्रव्य 'अर्थप्रज्ञप्ति' कहे जाते हैं[5]।

सङ्खायति, समञ्ञायति, वोहरीयति, पञ्ञापीयति—ये सभी क्रियायें 'पञ्ञा-पीयति' इस क्रिया के पर्याय ही हैं[6]।

अर्थप्रज्ञप्ति समाप्त।

---

१. द्र०—प० दी०, पृ० ३५६-३५७। द्र०—पु० प० अ०, पृ० २६-२७।

२. प० दी०, पृ० ३५७।

३. विभा०, पृ० १९३; प० दी०, पृ० ३५७।

४. "'तं तं उपादाया' ति परमत्थधम्मानं तं तं पवत्तिविसेसं उपादाय; उपनि-धाया ति ओलुम्बिय।"—प० दी०, पृ० ३५७।

५. "परिकप्पियतीति परिकप्पबुद्धिया परिकप्पेत्वा गय्हमाना। एत्थ पन एव-मादिप्पभेदा आलम्बनभूता परिकप्पियमाना सब्बा पञ्ञत्ति पञ्ञापीयतीति अत्थेन पञ्ञत्तीति योजना।"—प० दी०, पृ० ३५७।

६. द्र०—अट्ठ०, पृ० ३०१।

सद्दपञ्ञत्ति

४२. पञ्ञापनतो पञ्ञत्ति पन नाम-नामकम्मादिनामेन* परिदीपिता। सा विज्जमानपञ्ञत्ति, अविज्जमानपञ्ञत्ति, विज्जमानेन अविज्जमानपञ्ञत्ति, अविज्जमानेन विज्जमानपञ्ञत्ति, विज्जमानेन विज्जमानपञ्ञत्ति, अविज्जमानेन अविज्जमानपञ्ञत्ति चेति छब्बिधा होति।

प्रज्ञापन करने के कारण शब्दप्रज्ञप्ति 'नाम', नामकर्म'-आदि नामों से दिखलायी गयी है। वह शब्दप्रज्ञप्ति विद्यमानप्रज्ञप्ति, अविद्यमानप्रज्ञप्ति, विद्यमानेन अविद्यमानप्रज्ञप्ति, अविद्यमानेन विद्यमानप्रज्ञप्ति, विद्यमानेन विद्यमान-प्रज्ञप्ति एवं अविद्यमानेन अविद्यमानप्रज्ञप्ति – इस तरह ६ प्रकार की होती है।

शब्दप्रज्ञप्ति

४२. यहाँ शब्दप्रज्ञप्ति को विस्तारपूर्वक समझाने के लिये आचार्य ने 'पञ्ञापनतो'..आदि से उसका प्रारम्भ किया है। नाम, नामकर्म-आदि को ही 'शब्दप्रज्ञप्ति' कहते हैं। जैसे – 'भूमि' यह शब्द 'नाम' या 'नामकर्म' भी कहा जाता है। 'नामकम्मादि' में प्रयुक्त 'आदि' शब्द द्वारा नामधेय, निरुक्ति, व्यञ्जन एवं अभिलाप का भी ग्रहण करना चाहिये[1], जैसे – 'भूमि' यह शब्द नामधेय, निरुक्ति, व्यञ्जन एवं अभिलाप भी कहा जा सकता है।

नाम – 'अत्थं नमतीति नामं, अत्तनि अत्थं नामेतीति नामं' – जो अर्थ के प्रति झुकता है, अथवा–अर्थ को अपने प्रति झुकाता (प्रवत्त कराता) है, वह नाम है[2]।

नामकर्म – 'कत्तब्बं' ति कम्मं, नाममेव कम्मं नाम कम्मं' – करणीय को 'कर्म' कहते हैं। जब नाम ही करणीय होता है, तब वह 'नामकर्म' कहा जाता है। जैसे – पृथ्वीद्रव्य का पूर्व पुरुषों द्वारा 'यह भूमि है' – इस प्रकार नामकरण किया गया है। इस प्रकार का यह नामकरण ही 'नामकर्म' है[3]।

---

*. ०कम्मादिना नामेन – रो०।

१. द्र० – विभा०, पृ० १९३; प० दी०, पृ० ३५७; अट्ठ०, पृ० ३१०।

२. "तत्थ अत्थेसु नमतीति नामं, तं अन्वत्थरूळ्हिवसेन दुविधं; सामञ्ञगुणकिरिया-यदिच्छावसेन चतुब्बिधं।" – विभा०, पृ० १९३। द्र० – प० दी०, पृ० ३५७; अट्ठ०, पृ० ३१०-३११।

"अत्थेसु नमन्तीति नामानि, अथवा – अत्थे नामेन्तीति नामानि। यदा हि दुस्सादिकं अत्थं पठमं जानित्वा पच्छा दुस्सं ति वोहरन्ति तदा अत्थेसु नमन्ति नाम; यदा पठमं दुस्सं ति सद्दं सुत्वा पच्छा तेन सद्देन अत्थं जानन्ति तदा अत्थे नामेन्ति नाम।" – क० सू० ३१८ पर क० व०।

३. विभा०, पृ० १९३; प० दी०, पृ० ३५७।

४३. तत्थ यदा पन* परमत्थतो विज्जमानं रूपवेदनादिं एताय पञ्ञापेन्ति, तदायं विज्जमानपञ्ञत्ति[1]। यदा पन परमत्थतो अविज्जमानं भूमिपब्बतादिं एताय पञ्ञापेन्ति, तदायं अविज्जमानपञ्ञत्तीति पवुच्चति†।

उन ६ प्रज्ञप्तियों में से जब परमार्थरूप से विद्यमान रूप, वेदना-आदि का इस शब्दप्रज्ञप्ति द्वारा प्रज्ञापन होता है, तब यह (शब्दप्रज्ञप्ति) 'विद्यमानप्रज्ञप्ति' कही जाती है। जब परमार्थरूप से अविद्यमान भूमि, पर्वत-आदि का इस शब्दप्रज्ञप्ति द्वारा प्रज्ञापन होता है, तब यह (शब्दप्रज्ञप्ति) 'अविद्यमानप्रज्ञप्ति' कही

नामधेय – 'धीयति ठपीयतीति धेय्यं, नाममेव धेय्यं नामधेय्यं' – जो स्थापित करने योग्य या धारण करने योग्य है, वह 'धेय' है, और जब नाम ही धेय होता है, तो वह 'नामधेय' कहा जाता है. जैसे – पूर्वपुरुषों ने पृथ्वीद्रव्य का 'यह भूमि है' – ऐसा नाम स्थापित किया है। इस प्रकार नाम का स्थापित करना 'नामधेय' है[1]।

निरुक्ति – 'उच्चते ति उत्ति, नीहरित्वा उत्ति निरुत्ति' – जो कहा जाय वह 'उक्ति' है। निर्धारण करके जो कहा जाता है, वह 'निरुक्ति' है। जैसे – भूमि-आदि शब्दों का अवभास निरुक्ति के पूर्व निगूहित रहता है और निरुक्ति के अनन्तर वह स्फुट हो जाता है। उस शब्द में से वह अर्थ मानों निकल कर चला आता है। अतः इस प्रकार के कथन को 'निरुक्ति' कहते हैं[2]।

व्यञ्जन – 'अत्थं व्यञ्जयति पकासेतीति व्यञ्जनं' – जो अर्थप्रज्ञप्ति को प्रकाशित करता है, वह 'व्यञ्जन' है[3]।

अभिलाप – अभिलपतीति अभिलापो' – जो अभिमुख करके अर्थ को कहता है, वह 'अभिलाप' है[4]।

इस तरह जैसे किसी एक पुरुष के ६ नाम होते हैं, उसी तरह एक शब्दप्रज्ञप्ति के ये ६ नाम हैं।

४३. 'नाम, नामकर्म' – आदि द्वारा प्रज्ञप्त शब्दप्रज्ञप्ति 'विज्जमानपञ्ञत्ति' आदि भेद से ६ प्रकार की होती है[5]।

---

*. ना० में नहीं। †. पञ्ञत्तीति पवुच्चति – स्या०; पञ्ञत्तीति – रो०।

१. विभा०, पृ० १६३; प० दी०, पृ० ३५७।

२. विभा०, पृ० १६३; प० दी०, पृ० ३५७।

३. विभा०, पृ० १६३; प० दी०, पृ० ३५७।

४. विभा०, पृ० १६३; प० दी०, पृ० ३५७।

५. इन षड्विध प्रज्ञप्तियों के विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – पु० प० अ० पृ० २६।

उभिन्नं* पन वोमिस्सकवसेन सेसा यथाक्कमं छळभिञ्ञो†, इत्थिसद्दो, चक्खुविञ्ञाणं राजपुत्तो ति च वेदितब्बा‡ ।

जाती है। इन विद्यमान एवं अविद्यमान–दोनों प्रकार के अर्थों के मिश्रण के वश से शेष प्रज्ञप्तियों को यथाक्रम षडभिज्ञ, स्त्रीशब्द, चक्षुर्विज्ञान एवं राजपुत्र-आदि (उदाहरणों) के रूप में जानना चाहिये।

(क) **विज्जमानपञ्ञत्ति** – 'विज्जमानस्स पञ्ञत्ति विज्जमानपञ्ञत्ति' परमार्थरूप से विद्यमान वस्तुद्रव्य की प्रज्ञप्ति 'विद्यमानप्रज्ञप्ति' है। यह नाम परमार्थ धर्मों की अपेक्षा करके है। जिस 'शब्द प्रज्ञप्ति' द्वारा प्रज्ञप्त अर्थप्रज्ञप्ति परमार्थ रूप से विद्यमान होती है, उस शब्द को 'विद्यमानप्रज्ञप्ति' कहते हैं, जैसे—रूप, वेदना-आदि। 'रूप' यह शब्द 'शब्दप्रज्ञप्ति' है। इसके द्वारा प्रज्ञप्त पृथ्वी, अप्-आदि २८ रूप 'अर्थप्रज्ञप्ति' हैं। ये २८ रूप परमार्थरूप से विद्यमान हैं, अतः इन अर्थों का द्योतक 'रूप' यह शब्द 'विद्यमानप्रज्ञप्ति' कहा जाता है। इसी तरह वेदना, संज्ञा-आदि भी जानना चाहिये[1]।

(ख) **अविज्जमानपञ्ञत्ति** – 'अविज्जमानस्स पञ्ञत्ति अविज्जमानपञ्ञत्ति' परमार्थरूप से अविद्यमान वस्तुद्रव्य को प्रज्ञप्त करनेवाली शब्दप्रज्ञप्ति 'अविद्यमानप्रज्ञप्ति' कहलाती है, जैसे – भूमि, पर्वत आदि। 'भूमि' यह अर्थप्रज्ञप्ति परमार्थ रूप से अविद्यमान है। इस प्रकार प्रज्ञप्त होनेवाली अर्थ प्रज्ञप्तियों के परमार्थ रूप से अविद्यमान होने के कारण 'भूमि' आदि शब्द 'अविद्यमान प्रज्ञप्ति' कहे जाते हैं[2]।

(ग) **विज्जमानेन अविज्जमानपञ्ञत्ति** – परमार्थ रूप से विद्यमान एवं परमार्थ रूप से अविद्यमान – दोनों को मिलाकर प्रज्ञप्त करनेवाली शब्दप्रज्ञप्ति 'विद्यमानेन अविद्यमानप्रज्ञप्ति' कहलाती है, जैसे – षडभिज्ञ। षडभिज्ञ शब्द का अर्थ है – ६ अभिज्ञाओं से युक्त पुद्गल। इसमें ६ अभिज्ञायें परमार्थ रूप से विद्यमान हैं तथा पुद्गल परमार्थतः अविद्यमान है। इस प्रकार परमार्थ रूप से विद्यमान (६ अभिज्ञायें) एवं अविद्यमान (पुद्गल) दोनों अर्थप्रज्ञप्तियों को मिलाकर प्रज्ञप्त करनेवाली 'षडभिज्ञ' सदृश शब्दप्रज्ञप्ति 'विद्यमानेन अविद्यमानप्रज्ञप्ति' कही जाती है। इसी प्रकार त्रैविद्य (तेविज्ज) प्रतिसम्भिदाप्राप्त (पटिसम्भिदापत्त)-आदि भी जानना चाहिये।

---

*. उभिण्णं – रो०।

†. छळभिञ्ञा – रो०।

‡. वेदितब्बो – म० (ख)।

१. "परमत्थतो विज्जमानेसु अत्थेसु पञ्ञत्ति विज्जमानपञ्ञत्ति नाम।" – प० दी०, पृ० ३५७।

२. "अविज्जमानेसु भूमिपब्बतादीसु पवत्ता पञ्ञत्ति अविज्जमानपञ्ञत्ति नाम।" – प० दी०, पृ० ३५७।

४४. वचीघोसानुसारेन सोतविञ्ञाणवीथिया* ।
पवत्तानन्तरुप्पन्न - मनोद्वारस्स गोचरा ।।
४५. अत्था यस्सानुसारेन विञ्ञायन्ति ततो परं ।
सायं पञ्ञत्ति विञ्ञेय्या लोकसङ्केतनिम्मिता ।।

इति अभिधम्मत्थसङ्गहे पच्चयसङ्गहविभागो नाम
अट्ठमो परिच्छेदो ।

वाक्-घोष (सार्थकशब्द) का अनुसरण करके श्रोत्रविज्ञानवीथि एवं तदनुवर्तक मनोद्वारवीथि की प्रवृत्ति के अनन्तर उत्पन्न मनोद्वारवीथि की गोचर (आलम्बनभूत) ।

जिस नामप्रज्ञप्ति का अनुसरण करने से उस तृतीय मनोद्वारवीथि के अनन्तर अर्थप्रज्ञप्तियाँ ज्ञात होती हैं, वह नामप्रज्ञप्ति लोकसङ्केत के लिये निर्मित है — ऐसा जानना चाहिये ।

इस प्रकार 'अभिधम्मत्थसङ्गह' में 'प्रत्ययसङ्ग्रह विभाग' नामक
अष्टम परिच्छेद समाप्त ।

(घ) **अविज्जमानेन विज्जमानपञ्ञत्ति** — परमार्थ रूप से अविद्यमान एवं परमार्थ रूप से विद्यमान — दोनों को मिला कर प्रज्ञप्त करनेवाली शब्दप्रज्ञप्ति 'अविद्यमानेन विद्यमानप्रज्ञप्ति' है, जैसे — स्त्रीशब्द । इसमें 'स्त्री' परमार्थ रूप से अविद्यमान है तथा शब्द परमार्थरूप से विद्यमान है । अतः यह 'अविद्यमानेन विद्यमानप्रज्ञप्ति' कही जाती है । इसी तरह पुरुषशब्द, गोशब्द, भेरीशब्द — आदि जानना चाहिये ।

(ङ) **विज्जमानेन विज्जमानपञ्ञत्ति** — परमार्थरूप से विद्यमान दोनों अर्थ-प्रज्ञप्तियों को मिलाकर प्रज्ञप्त करनेवाली 'शब्दप्रज्ञप्ति' 'विद्यमानेन विद्यमानप्रज्ञप्ति' है, जैसे — चक्षुर्विज्ञान-आदि । इसमें चक्षु एवं विज्ञान — दोनों परमार्थरूप से विद्यमान हैं । इसी तरह चक्षुःसंस्पर्श, श्रोत्रविज्ञान-आदि जानना चाहिये ।

(च) **अविज्जमानेन अविज्जमानपञ्ञत्ति** — परमार्थरूप से अविद्यमान दोनों अर्थ प्रज्ञप्तियों को मिलाकर प्रज्ञप्त करनेवाली शब्दप्रज्ञप्ति 'अविद्यमानेन अविद्यमानप्रज्ञप्ति' है, जैसे — राजपुत्र आदि । इसमें राजा और पुत्र दोनों परमार्थरूप से अविद्यमान हैं । इसी तरह क्षत्रिय-पुत्र, ब्राह्मण-पुत्र, श्रेष्ठि-पुत्र-आदि जानना चाहिये ।

४४-४५. इन दो गाथाओं द्वारा नामप्रज्ञप्ति एवं अर्थप्रज्ञप्ति को जाननेवाली वीथि तथा नामप्रज्ञप्ति की उत्पत्ति दिखलायी गयी है ।

वचीघोसानुसारेन सोतविञ्ञाणवीथिया — जैसे जब गो शब्द सुनाई पड़ता है, तब उस शब्द का आलम्बन करके श्रोत्रविज्ञानवीथि प्रवृत्त होती है । श्रोत्रविज्ञान-

---

*. वीथियो — रो० ।

वीथि के अनन्तर, निरुद्ध गोशब्द का आलम्बन करनेवाली तदनुवर्तक मनोद्वारवीथि उत्पन्न होती है। अतः 'सोतविञ्ञाणवीथिया' द्वारा तदनुवर्तक मनोद्वारवीथि का भी अविनाभाव से ग्रहण करना चाहिये।

इन दोनों वीथियों द्वारा शब्द-सामान्य का ज्ञान होता है। 'गो' इस नामप्रज्ञप्ति का नहीं[1]।

पच्छानन्तरुप्पन्न-मनोद्वारस्स गोचरा – उपर्युक्त दोनों वीथियों के अनन्तर तृतीय मनोद्वारवीथि का उत्पाद होता है। वह मनोद्वारवीथि ही 'गो' इस नामप्रज्ञप्ति का आलम्बन करती है। इसलिये यह नामप्रज्ञप्ति मनोद्वार की गोचर (आलम्बन) कही गयी है।

अत्था यस्सानुसारेन विञ्ञायन्ति ततो परं – उस नामप्रज्ञप्ति के ज्ञान के अनन्तर चतुर्थ मनोद्वारवीथि द्वारा ही अर्थप्रज्ञप्ति का ज्ञान किया जा सकता है। अतएव कहा भी गया है –

"सद्दं पठमचित्तेन तीतं दुतियचेतसा।
नामं ततियचित्तेन, अत्थं चतुत्थचेतसा[2]।।"

अर्थात् प्रत्युत्पन्न शब्द का प्रथम श्रोत्रविज्ञानवीथि से ज्ञान होता है। अतीत शब्दालम्बन का ज्ञान द्वितीय तदनुवर्तक मनोद्वारवीथि से होता है। नामप्रज्ञप्ति तृतीय मनोद्वारवीथि द्वारा जानी जाती है तथा अर्थप्रज्ञप्ति (गो-आदि) का ज्ञान चतुर्थ मनोद्वारवीथि द्वारा होता है।

सायं पञ्ञत्ति विञ्ञेय्या लोकसङ्केतनिम्मिता – उस शब्दप्रज्ञप्ति या नामप्रज्ञप्ति का निर्माण पूर्वपुरुषों द्वारा लोक (सत्त्वों) के संकेत के लिये, अर्थात् 'इस पद से इस अर्थ को जानना चाहिये' – इस लोकसंव्यवहार को चलाने के लिये किया गया है।

सृष्टि के प्रारम्भ में अर्थप्रज्ञप्तियाँ तो विद्यमान रहती हैं; किन्तु नामप्रज्ञप्ति के अभाव में उनसे व्यवहार चलाना दुष्कर होता है, अतः कालान्तर में पूर्वपुरुषों द्वारा 'यह गृह है, यह भूमि है' इत्यादि रूप से लोकसंव्यवहार चलाने के लिये नामप्रज्ञप्तियों (संकेतों) का निर्माण किया जाता है। जैसे आज-कल भी नये नये आविष्कृत पदार्थों का नामकरण किया जाता है। ये सब नामप्रज्ञप्तियाँ ही हैं[3]।

अभिधर्मप्रकाशिनी व्याख्या में 'प्रत्ययसङ्ग्रह विभाग' नामक
अष्टम परिच्छेद समाप्त।

---

1. विभा०, पृ० १९४; प० दी०, पृ० ३५८।
2. ब० भा० टी०।
3. द्र० – प० दी०, पृ० ३५८; विभा०, पृ० १९४।

नवमो परिच्छेदो

कम्मट्ठानसङ्गहविभागो

१. समथविपस्सनानं भावनानं इतो परं।
कम्मट्ठानं पवक्खामि दुविधम्पि यथाक्कमं ॥

प्रत्ययसङ्ग्रह के अनन्तर शमथ एवं विपश्यना नामक भावनाओं के द्विविध कम्मट्ठानों (कर्मस्थानों) को यथाक्रम कहूँगा।

कम्मट्ठानसङ्ग्रहविभाग

१. **अनुसन्धि** – पूर्वोक्त ८ परिच्छेदों द्वारा चित्त, चैतसिक, रूप एवं निर्वाण नामक परमार्थ धर्मों का तथा चित्त, चैतसिक एवं रूपधर्मों के कार्यकारण सम्बन्ध का निरूपण करने के अनन्तर उन नामरूपधर्मों के यथार्थ ज्ञाता पुद्‌गलों को कम्मट्ठानविधि दिखलाने के लिये आचार्य अनुरुद्ध 'समथविपस्सनानं' इस गाथा द्वारा प्रकरणारम्भ करते हैं[1]।

शमथ – 'किलेसे समेतीति समथो' अर्थात् कामच्छन्द आदि नीवरण क्लेशों का शमन करनेवाला धर्म 'शमथ' है[2]। महाकुशल एवं रूपकुशल प्रथमध्यान में सम्प्रयुक्त 'समाधि चैतसिक' ही शमथ है। जब पृथग्जन कम्मट्ठान भावना करते हैं, तब उनमें महाकुशल चित्त उत्पन्न होते हैं और जब कम्मट्ठान सिद्ध हो जाता है, तब ध्यान का लाभ होता है, अर्थात् उनमें रूपकुशल प्रथमध्यान चित्त उत्पन्न होता है। ये (महाकुशल एवं प्रथमध्यान) चित्त नीवरण नामक अशान्तिकारक एवं सन्तापदायक क्लेश धर्मों का उपशमन करते हैं।

इन (उपर्युक्त) चित्त-चैतसिकों में समाधि नामक एकाग्रता ही प्रधान होती है। अर्हत्त्व प्राप्ति के अनन्तर पुनः लौकिक ध्यानों की प्राप्ति के लिये जब प्रयत्न किया जाता है, उस समय सन्तापदायक क्लेश धर्मों का उपशमन करना आवश्यक नहीं होता; क्योंकि अर्हत् की सन्तान में क्लेश धर्मों का अशेष प्रहाण पहले ही हो चुका रहता है। अतः 'चित्तं समेतीति समथो' – ऐसा विग्रह करना चाहिये। अर्थात् बहुविध आलम्बनों का ग्रहण करने में अशान्त हुये चित्तों का उपशमन करनेवाला धर्म 'शमथ' है। अतएव ध्यानप्राप्ति से पूर्व एक ही आलम्बन में चित्त की एकाग्रता साधी जाती है। अर्हत् होने पर भी आलम्बनबहुत्व के कारण चित्त अशान्त हो सकता है, अतः अर्हत्

---

१. द्र० – विभा०, पृ० १९४; प० दी०, पृ० ३६०।

२. "पच्चनीकधम्मे समेतीति समथो।" – अट्ठ०, पृ० ४५; अभि० समु०, पृ० ७५।

को भी एक ही आलम्बन चित्त को शान्तिपूर्वक लगाये रखने के लिये समाधि प्राप्त करना आवश्यक है।

द्वितीय ध्यान-आदि में होनेवाली समाधि के लिये क्लेशधर्मों का अथवा चित्तों का शमन भी आवश्यक नहीं होता; क्योंकि ये कार्य प्रथम ध्यान की प्राप्ति के समय ही सम्पन्न हो चुके रहते हैं, केवल वितर्क-आदि औदारिक ध्यानाङ्गों का उपशमन करना ही आवश्यक होता है। अतः 'वितक्कादि-ओळारिकधम्मे समेतीति समथो' यह विग्रह करना चाहिये[1]।

[त्रिविध शमथ के परिज्ञान के लिये 'पटिसम्भिदामग्गट्ठकथा' देखना चाहिये[2]।]

विपश्यना – 'विसेसेन पस्सतीति विपस्सना' धर्मों का विशेष रूप में दर्शन करनेवाली प्रज्ञा 'विपश्यना' (विदर्शना) है। महाकुशल एवं महाक्रिया चित्तों में सम्प्रयुक्त प्रज्ञाविशेष ही विपश्यना है। नाम एवं रूपधर्मों के सङ्घात से उत्पन्न सविज्ञानक (सविञ्ञाणक) द्रव्यों में सामान्यतः 'यह मनुष्य है', 'यह देव है', 'यह ब्रह्मा है', 'यह तिरश्चीन है' इत्यादि संज्ञायें; केवल रूपकलापों के सङ्घात से उत्पन्न निर्विज्ञानक द्रव्यों में 'यह गृह है', 'यह वृक्ष है' इत्यादि संज्ञायें तथा सविज्ञानक एवं निर्विज्ञानक – दोनों प्रकार के द्रव्यों में 'यह नित्य है', 'यह सुख है' 'यह सात्मक है', 'यह शुभ है' – इत्यादि संज्ञायें उत्पन्न होती हैं। विपश्यना नामक ज्ञान इन उपर्युक्त संज्ञाओं से वियुक्त होकर 'यह रूप है', 'यह नाम है', 'यह अनित्य है', 'यह दुःख है', 'यह अनात्म है', 'यह अशुभ है' – इत्यादि प्रकार से विशेषतः जाननेवाला धर्म है। अतएव 'विसेसेन पस्सतीति विपस्सना' कहा गया है।

अथवा – 'विविधेन अनिच्चादिआकारेन पस्सतीति विपस्सना' धर्मों को विविध अर्थात् अनित्य, अनात्म, दुःख, अशुभ-आदि आकारों से देखनेवाली प्रज्ञा 'विपश्यना' है[3]।

भावना – 'भावेतब्बा ति भावना' स्वसन्तान में उत्पन्न करने योग्य अथवा अभिवृद्धि करने योग्य धर्म 'भावना' कहा जाता है[4]। उपर्युक्त शमथ एवं विपश्यना नामक धर्मों में से किसी एक का अपनी सन्तान में उत्पाद करने के लिये प्रयत्न करना तथा एक बार उत्पन्न हो जाने पर उसकी अभिवृद्धि के लिये पुनः पुनः प्रयत्न करना 'भावना' कहलाता है।

---

१. "किलेसे अञ्ञे पि वा वितक्कादयो ओळारिकधम्मे समेतीति समथो। तथापवत्तो एकग्गतासङ्खातो समाधि।" – प० दी०, पृ० ३६०।

२. द्र० – पटि० म० अ०, द्वि० भा०, पृ० ११६।

३. "विसेसेन पस्सन्ति एताया ति विपस्सना; अनिच्चानुपस्सनादिका भावना पञ्ञा।" – प० दी०, पृ० ३६०।
"अनिच्चादिवसेन विविधेन आकारेन पस्सतीति विपस्सना।" – अट्ठ०, पृ० ४५; अभि० समु०, पृ० ७५।

४. द्र० – प० दी०, पृ० ३६०।

समथकम्मट्ठाननयो

२. तत्थ समथसङ्गहे ताव दस कसिणानि, दस असुभा, दस अनुस्सतियो, चतस्सो अप्पमञ्ञायो, एका सञ्ञा, एकं ववत्थानं, चत्तारो आरुप्पा चेति सत्तविधेन समथकम्मट्ठानसङ्गहो।

शमथ एवं विपश्यना कम्मट्ठानों में से प्रथम शमथ कम्मट्ठानसङ्ग्रह में १० कसिण (कात्स्न्यं), १० अशुभ, १० अनुस्मृतियाँ, ४ अप्रमाण्यायें, १ संज्ञा, १ व्यवस्थान एवं ४ आरूप्य होते हैं। इस तरह सात प्रकार से शमथ कम्मट्ठान सङ्ग्रह जानना चाहिये।

भावना द्विविध होती है, यथा – शमथ एवं विपश्यना। उनमें से नीवरण-आदि क्लेश धर्मों एवं वितर्क-आदि नीचे नीचे के ध्यानाङ्ग धर्मों का उपशमन करनेवाला समाधिनामक धर्म 'शमथ भावना' तथा त्रैभूमिक नाम-रूप धर्मों को अनित्य, अनात्म, दुःख एवं अशुभ-आदि रूपों में देखनेवाला प्रज्ञानामक धर्म 'विपश्यना भावना' कहलाता है।

कम्मट्ठान – यह द्विविध है, यथा – आलम्बन कम्मट्ठान एवं आलम्बनक भावना-कम्मट्ठान। इनमें से त्रैभूमिक संस्कार नामक आलम्बन एवं पठवीकसिण-आदि आलम्बन 'आलम्बन कम्मट्ठान' हैं। इसीलिये 'कम्मस्स ठानं कम्मट्ठानं' के अनुसार भावना-आदि कर्म के आधारभूत आलम्बन को 'कम्मट्ठान' (कर्मस्थान) कहते हैं। इसी आशय की अपेक्षा से विभावनीकार ने "दुविधभावनाकम्मस्स पवत्तिट्ठानत्ताय कम्मट्ठानभूतं आरम्मणं[1]" – ऐसा कहा है।

भावना करना 'आलम्बनकभावनाकम्मट्ठान' है। 'कम्मस्स ठानं कम्मट्ठानं' के अनुसार पश्चिम पश्चिम भावनाकर्म के आधारभूत पूर्व पूर्व भावनाकर्म 'आलम्बनक-कम्मट्ठान' हैं। इसी अभिप्राय की अपेक्षा से विभावनीकार ने "उत्तरुत्तरयोगकम्मस्स पदट्ठानत्ताय कम्मट्ठानभूतं भावनावीथि[2]" – ऐसा कहा है। अर्थात् उत्तरोत्तर भावनाकर्म की आसन्नकारण होने से कम्मट्ठानभूत भावना वीथि 'आलम्बनकभावनाकम्मट्ठान' कही जाती है।

शमथकम्मट्ठाननय

२. शमथ कम्मट्ठान – १० कसिण, १० अशुभ, १० अनुस्मृतियाँ, ४ अप्रमाण्यायें (अप्पमञ्ञा), १ आहार में प्रतिकूल संज्ञा, १ चतुर्धातुव्यवस्थान एवं ४ आरूप्य – इस प्रकार शमथ कम्मट्ठान कुल ४० होते हैं। इन कम्मट्ठानों का विस्तृत विवेचन आगे यथास्थान किया जायेगा।

---

१. विभा०, पृ० १९४।

२. विभा०, पृ० १९५।

चरितसङ्गहो

३. रागचरिता, दोसचरिता, मोहचरिता, सद्धाचरिता, बुद्धिचरिता, वितक्कचरिता चेति छब्बिधेन चरितसङ्गहो।

रागचरित, द्वेषचरित, मोहचरित, श्रद्धाचरित, बुद्धिचरित, एवं वितर्क-चरित – इस तरह छह प्रकार से चरितसङ्ग्रह जानना चाहिये।

तिस्सो भावना

४. परिकम्मभावना, उपचारभावना, अप्पनाभावना* चेति तिस्सो भावना।

परिकर्मभावना, उपचारभावना एवं अर्पणाभावना – इस प्रकार तीन भावनायें जाननी चाहिये।

तीणि निमित्तानि

५. परिकम्मनिमित्तं, उग्गहनिमित्तं, पटिभागनिमित्तञ्चेति† तीणि निमित्तानि च‡ वेदितब्बानि।

परिकर्म निमित्त, उद्ग्रह निमित्त एवं प्रतिभाग निमित्त – इस प्रकार तीन निमित्त जानने चाहिये।

चरित सङ्ग्रह

३. [यहाँ उल्लिखित 'चरित' शब्द के स्थान पर अट्ठकथा एवं टीकाओं में 'चरिया' शब्द प्राप्त होता है। पुद्गल का विशेषण होने पर 'रागचरित' आदि तथा भाव की विवक्षा में 'चर्या' (चरिया) शब्द समीचीन प्रतीत होते हैं[1]।]

चरिया – स्वभाव से या दूसरों की अपेक्षा से बहुलतया प्रवृत्ति को 'चरिया' कहते हैं। रागचरित पुद्गल द्वेष या मोह आदि उत्पन्न होने योग्य आलम्बनों में, उन द्वेष या मोह-आदि को उत्पन्न न होने देने के लिये अपने पर नियन्त्रण कर सकता है; किन्तु राग उत्पन्न होने योग्य आलम्बनों के उपस्थित होने पर आत्मनियन्त्रण कर पाने में सर्वथा असमर्थ होता है। अन्य चरितों से युक्त पुद्गलों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार जानना चाहिये। इसलिये 'चरणं पवत्तनं चरिया' – इस प्रकार विग्रह करना चाहिये। अर्थात् सर्वदा होनेवाली प्रवत्ति को ही 'चरिया' कहते हैं। एक सत्त्व में एकविध चरित का होना ही आवश्यक नहीं है। कुछ सत्त्वों के विषय में 'यह पुद्गल

---

* अप्पणा० – सी० (सर्वत्र)। † पतिभाग० – म० (क) (सर्वत्र)।
‡ स्या० में नहीं।
१. तु० – पटि० म० अ०, द्वि० भा०, पृ० १३९।

अमुक चरितवाला है'—ऐसा स्पष्ट नहीं होता तथा कुछ सत्त्वों में २-३ चरित भी मिश्रितरूप से रहते हैं। अतः पुद्गलों के अनुसार चरितभेद इस प्रकार जानना चाहिये—

"रागादिके तिके सत्त सत्त सद्धादिके तिके।
एक-द्वि-तिकमूळम्हि मिस्सतो सत्तसत्तकं[1]॥"

अर्थात् राग-आदि त्रिक में ७, श्रद्धा-आदि त्रिक में ७ तथा एकमूल, द्विमूल एवं त्रिमूल में मिश्रितरूप से ४९ (सप्तसप्तक) चरित होते हैं। इस तरह कुल मिला कर ६३ चरित होते हैं।

रागादिके तिके सत्त—राग, द्वेष एवं मोह के पृथक् पृथक् प्राधान्य से ३ तथा इनके परस्पर मिश्रण से ४ = ७ चरित होते हैं, यथा—१. रागचरित, २. द्वेषचरित, ३. मोहचरित, ४. रागद्वेषचरित, ५. रागमोहचरित, ६. द्वेषमोहचरित तथा ७. राग-द्वेषमोहचरित। इस प्रकार राग, द्वेष एवं मोह के सम्बन्ध से एकचरित, द्विचरित एवं त्रिचरित-आदि ७ प्रकार के पुद्गल होते हैं।

सत्त सद्धादिके तिके—श्रद्धाचरित, बुद्धिचरित, वितर्कचरित, श्रद्धाबुद्धिचरित, श्रद्धावितर्कचरित, बुद्धिवितर्कचरित एवं श्रद्धाबुद्धिवितर्कचरित—इस प्रकार श्रद्धा-आदि के सम्बन्ध से ७ प्रकार के पुद्गल होते हैं।

एकमूल—इसमें राग-आदि को मूल बनाकर उसका श्रद्धा-आदि के साथ योग करने पर ७-७ चरित होते हैं, यथा—रागश्रद्धाचरित, रागबुद्धिचरित, रागवितर्कचरित, रागश्रद्धाबुद्धिचरित, रागश्रद्धावितर्कचरित, रागबुद्धिवितर्कचरित. एवं रागश्रद्धाबुद्धिवितर्क-चरित—इस प्रकार राग को मूल बनाकर ७ चरित होते हैं। इसी तरह द्वेष को मूल बनाकर ७ तथा मोह को मूल बनाकर भी ७ चरित होते हैं। इस प्रकार एकमूल २१ चरित होते हैं।

द्विमूल—राग एवं द्वेष को मूल बनाकर उनका श्रद्धा-आदि के साथ योग करने पर ७ चरित, राग एवं मोह को मूल बनाकर उनका श्रद्धा-आदि के साथ योग करने पर ७ चरित तथा द्वेष एवं मोह को मूल बनाकर उनका श्रद्धा-आदि के साथ योग करने पर ७ चरित होते हैं। इस प्रकार द्विमूल २१ चरित होते हैं।

त्रिमूल—राग, द्वेष एवं मोह को मूल बनाकर उनका श्रद्धा-आदि के साथ संयोग करने पर ७ चरित होते हैं।

इस तरह रागादि त्रिक में ७, श्रद्धादि त्रिक में ७, एकमूल में २१, द्विमूल में २१ तथा त्रिमूल में ७=६३ चरित होते है। उन चरितों से युक्त पुद्गल भी ६३ प्रकार के होते हैं। कुछ लोग दृष्टिचरित के साथ ६४ चरित मानते हैं[2]।

---

१. विभा०, पृ० ११५।
२. विभा०, पृ० ११५।

परचित्तविजानन ज्ञान के बिना दूसरों के चरितों को जान पाना अत्यन्त दुष्कर है। परन्तु ईर्यापथ, कृत्य, भोजन, दर्शन, एवं धार्मिक प्रवृत्ति-आदि से चरितों का अनुमान किया जा सकता है।

"इरियापथतो किच्चा भोजना दस्सनादितो।
धम्मप्पवत्तितो चेव चरियायो विभावये[1] ॥"

रागचरित – रागचरित पुद्गल के ईर्यापथ-आदि निम्न प्रकार से जानने चाहिये।

ईर्यापथ – वह (रागचरित) स्वाभाविक रूप से चलते हुये भी बड़ी चतुराई से चलता है। धीरे-धीरे पैर रखता है। धीरे-धीरे पैर रखते हुये भी समरूप से पैर रखता है और वैसे ही उठाता है। इसके पैर का मध्य भाग पृथ्वी का स्पर्श नहीं करता।

कृत्य – सम्मार्जन (झाड़ू लगाना)-आदि कृत्यों में रागचरित पुद्गल झाड़ू को अच्छी तरह पकड़ कर धीरे-धीरे बालुका कणों को न बिखेरते हुये, सेढुण्ड के बिछे फूलों के समान बिछाते हुए शुद्ध एवं बराबर झाड़ू लगाता है। सम्मार्जन कृत्य की ही भाँति वस्त्र धोने, रंगने-आदि सभी कृत्यों को निपुणता, मधुरता एवं सत्कार-पूर्वक करना है।

भोजन – रागचरित पुद्गल को स्निग्ध एवं मधुर भोजन प्रिय होता है। भोजन करते समय न अधिक बड़े, गोल कौर करके धीरे-धीरे रस का स्वाद लेते हुये भोजन करता है। कुछ स्वादिष्ट भोजन प्राप्त होने पर सौमनस्य को प्राप्त होता है।

दर्शन – रागचरित थोड़ा भी मनोरम रूप देखकर विस्मित की तरह बड़ी देर तक देखते रहता है। थोड़े भी गुण में आसक्त होता है। यथार्थ (विद्यमान) दोष को भी नहीं देखता। वहाँ से हटने के समय भी न छोड़ने की इच्छावाले के समान सापेक्ष ही जाता है।

धर्मप्रवृत्ति – रागचरित में माया, शाठ्य, घमण्ड, पापेच्छा, बड़ी-बड़ी आशायें, असन्तोष, दूसरे को चोट पहुँचाना, चपलता आदि-बातें बहुलता से होती हैं।

श्रद्धाचरित – श्रद्धाचरित पुद्गल के ईर्यापथ, कृत्य, भोजन एवं दर्शन रागचरितवाले पुद्गल की ही तरह होते हैं। केवल धर्मप्रवृत्ति में माया-आदि अकुशल धर्म न होकर श्रद्धा, त्याग, दान, शील, धर्मदेशना, धर्मश्रवण-आदि कुशल धर्म होते हैं।

द्वेषचरित –

ईर्यापथ – द्वेषचरित पुद्गल चलते हुये पादाग्र से खोदते हुये की तरह चलता है, सहसा पैर रखता है, सहसा उठाता है तथा पैर रखने के

---

1. विसु०, पृ० ७१।

समय खींचते हुये के समान रखता है।

कृत्य – द्वेषचरित पुद्गल दृढ़तापूर्वक सम्मार्जनी (झाड़ू) पकड़कर शीघ्रतापूर्वक दोनों ओर बालू बिखरते हुए कर्कश शब्द के साथ अशुद्ध एवं विषम रूप से झाड़ू लगाता है।

भोजन – द्वेषचरितवाले पुद्गल को रूक्ष, एवं अम्ल भोजन प्रिय होता है। भोजन करते हुये मुँहभर कौर लेकर रस का आस्वाद न लेते हुये शीघ्रता के साथ भोजन करता है। कुछ भी अस्वादिष्ट भोज्य वस्तु प्राप्त होने पर दौर्मनस्य को प्राप्त होता है।

दर्शन – द्वेषचरित पुद्गल थोड़ा भी अमनोरम रूप (दृश्य) देखकर दुःखित की तरह बहुत देर तक नहीं देखता। थोड़ा भी दोष देखकर प्रतिकार (प्रतिघात) करने लगता है। यथार्थ (विद्यमान) गुणों को भी ग्रहण नहीं करता। (अमनोरम स्थल से) हटते समय छोड़ने की इच्छावाले की तरह अनपेक्ष होकर जाता है।

धर्मप्रवृत्ति – द्वेषचरित पुद्गल में क्रोध, उपनाह[1] (दूसरे के अपराधों को गाँठ बांधकर रखना) म्रक्ष[2] (दूसरे के गुणों को नष्ट करना) पळास[3] (=प्रदाश, दूसरों के गुणों को देखकर उन्हें अपने गुणों के समान कहना), ईर्ष्या, मात्सर्य-आदि धर्म प्रधानता से होते हैं।

प्रज्ञाचरित या बुद्धिचरित – बुद्धिचरित पुद्गल के ईर्यापथ-आदि द्वेषचरित पुद्गल की तरह होते हैं, किन्तु उसमें सौवचस्य, कल्याणमित्रता, भोजन में मात्रा का ज्ञान, स्मृति एवं सम्प्रज्ञान, जागरणशीलता, संवेजनीय (जहाँ पर संवेग होना चाहिये ऐसे) स्थानों में संवेग, एवं संवेग का ठीक ठीक प्रयत्न करना-आदि धर्म प्रमुखता से होते हैं।

मोहचरित –

ईर्यापथ – मोहचरित पुद्गल परिव्याकुलगति से चलता है। भयभीत या साशङ्क की तरह पैर रखता है तथा उठाता है। उसका पैर सहसा अनुपीडित (पादाग्र एवं पार्ष्णि से सहसा संनिरुद्ध) होता है।

---

१. द्र० – विभ०, पृ० ४२६; विभ० अ०, पृ० ४९७। तु० – अभि० को० ५:४९ पर भाष्य; वि० प्र० वृ०, पृ० ३०७; अभि० समु०, पृ० ८; त्रिं० भा०, पृ० २९-३०।

२. द्र० – विभ०, पृ० ४२६; विभ० अ०, पृ० ४९७-४९८। तु० – अभि० को० ५:४८ पर भाष्य; वि० प्र० वृ०, पृ० ३०८; त्रिं० भा०, का० १२, पृ० २९-३०।

३. द्र० – विभ०, पृ० ४२६; विभ० अ०, पृ० ४९८। तु० – अभि० को० ५:४९ पर भाष्य; वि० प्र० वृ०, पृ० ३०७; अभि० समु०, पृ० ८; त्रिं० भा०, का० १२, पृ० २९-३०।

कृत्य – मोहचरित पुद्गल शिथिलतापूर्वक सम्मार्जनी ग्रहण करके उलाटते पलाटते (कूड़े कर्कट का) आलोडन करते हुये अशुद्ध एवं विषम झाड़ू लगाता है। वह सभी कर्मों में शिथिल एवं परिव्याकुल (अस्तव्यस्त) होता है।

भोजन – मोहचरित पुद्गल अनियत रुचि वाला होता है। भोजन करते हुये न गोल और छोटा कौर करके बर्तन में छींटते हुये, मुख पर लपेटते हुये, विक्षिप्त-चित्त, नाना प्रकार के वितर्क करता हुआ भोजन करता है।

दर्शन – मोहचरित पुद्गल किसी भी रूप को देखकर परप्रत्ययनेयबुद्धि होता है। दूसरे को निन्दा करते हुये सुनकर स्वयं निन्दा करता है तथा प्रशंसा करते हुये सुनकर खुद भी प्रशंसा करता है। स्वयं अज्ञान एवं उपेक्षा के कारण उपेक्षक (उपेक्षा करनेवाला) ही होता है। शब्दश्रवण-आदि में भी यही क्रम जानना चाहिये।

धर्मप्रवृत्ति – मोहचरितवाले में स्त्यान, मिद्ध, औद्धत्य, कौकृत्य, विचिकित्सा, आदानग्राहिता, (अकारण दृढ़ आग्रह) दुष्प्रतिनिसर्गता (यथागृहीत मिथ्या आग्रह में दृढ़ रहना) आदि धर्म प्रधानतया होते हैं।

वितर्कचरित – वितर्कचरित पुद्गल मोहचरित की तरह होता है। किन्तु उसमें आलापबाहुल्य, अनेक लोगों के समूह के साथ रहने में दिलचस्पी, कुशलानुयोग में अरति, अनवस्थितकृत्यता, रात्रि में 'मैं ऐसा करूँगा, ऐसा करूँगा' आदि सोचना, दिन में उन सोचे हुये कर्मों का अनुष्ठान, इधर उधर (उस उस आलम्बन में) दौड़ना, आदि धर्म बहुलता से होते हैं।

रागचरितवाले का स्थान भी प्रसादकर एवं मधुराकार होता है। द्वेषचरितवाले का कड़ा और मोहचरित वाले का अस्तव्यस्त। बैठने में भी यही क्रम होता है। रागचरितवाला धीरे से बराबर बिछावन बिछाकर धीरे धीरे सोकर अङ्ग प्रत्यङ्गों को समेटकर सुन्दर ढङ्ग से सोता है। उठने के समय भी शीघ्र न उठकर सशंकित की तरह उठकर धीरे से प्रत्युत्तर देता है। द्वेषचरित शीघ्रतापूर्वक जैसे तैसे बिछावन बिछाकर शरीर को फेंके हुये की तरह भृकुटि को चढ़ाकर सोता है। उठने के समय भी शीघ्र उठकर कुपित की तरह प्रत्युत्तर देता है। मोहचरित बेतुके (विकृत) आकार में बिछावन बिछाकर शरीर को फेंके हुये की तरह अधिकतर अधोमुख होकर सोता है। उठने के समय 'हुँ, हुँ' करता हुआ देर में उठता है।

श्रद्धाचरित आदि चूंकि रागचरित आदि पुद्गलों के सदृश होते हैं, अतः उनका उसी तरह ईर्यापथ होता है[1]।

उपर्युक्त चर्याओं के अनुसार ईर्यापथ आदि देखकर 'यह पुरुष इस चरितवाला है' – ऐसा जाना जा सकता है; किन्तु कुछ पुद्गल केवल एकचरित वाले ही नहीं होते;

---

१. विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – विसु०, पृ० ७१-७२।

अपितु उनमें दो तीन चरितों का मिश्रण होता है, अतः उनका एकान्त रूप से ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। तथा कुछ बुद्धिमान् पुद्गल स्मृति एवं सम्प्रज्ञान के बल से इन्द्रियों का संयम करके रहते हैं, अतः उनके मूल-चरित का पता लगाना एक दुष्कर कार्य है।

इन ईर्यापथ आदि द्वारा चरितों के परिज्ञान की विधि न तो पालि में ही उल्लिखित है और न पुराण अट्ठकथाओं में। इन्हें आचार्य परम्परा के आधार पर जानकर विसुद्धिमग्ग-अट्ठकथाचार्य ने निरूपित किया है। 'परचित्त विजानन' ज्ञान द्वारा ही इन चरितों का एकान्तरूपेण यथावत् ज्ञान किया जा सकता है।

चरितों का कारण – सब मनुष्यों के समान होने पर भी क्यों उनके चरितों में नाना भेद होते हैं ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। पूर्व पूर्व भव में जब कुशल कर्म किये जाते हैं, तब 'इनके द्वारा हमें अनागत भव में अमुक भोग, ऐश्वर्य-आदि प्राप्त हों' – इस प्रकार की भोग-कामना (लोभ) से युक्त होकर कुछ पुद्गल कुशल कर्म करते हैं। उन कर्मों के फलस्वरूप जब मनुष्यत्व आदि फल प्राप्त होता है, तब वह पुरुष रागचरित होता है। इसी प्रकार द्वेष से युक्त होकर कर्म करने के परिणाम-स्वरूप पुरुष द्वेषचरित होता है। पूर्वभव में मोह (अज्ञान) से युक्त होकर कर्म करनेवाला मोहचरित, प्रज्ञा से विवेक करके या प्रज्ञावान् होने की कामना करके कुशलकर्म करनेवाला बुद्धिचरित, श्रद्धा से युक्त होकर कर्म करनेवाला श्रद्धाचरित तथा कामवितर्क-आदि वितर्कों से युक्त होकर कुशलकर्म करनेवाला पुद्गल वितर्क-चरित होता है। इस प्रकार चरितों के भेद में पूर्वजन्म के कर्म प्रधानतया कारण होते हैं। अतः कुलपुत्रों को कुशलकर्मों का सम्पादन करते समय श्रद्धा एवं प्रज्ञा से युक्त होकर ही कर्म करना चाहिये।

वासना – अकुशल कर्मों के सम्बन्ध में क्लेशधर्मों की शक्ति को 'वासना' कहते हैं। कुशल कर्मों के सम्बन्ध में सम्यक् छन्द को 'वासना' कहते हैं। ये वासनायें सत्त्वों की सन्तान में अनुशयधातु की तरह प्रत्येक भव में अनुशयन करती हैं। इसलिये पूर्व कर्मों के अनुसार रागचरित होनेवाले पुद्गल की सन्तान में अकुशल वासनायें बहुलतया प्रवृत्त होती हैं। उन अकुशल वासनाओं का इस भव में भी उपशमन या दमन नहीं किया जा सका, तो ये अनागत भव में भी अनुस्यूत होकर चली जाती हैं। द्वेष, मोह एवं वितर्क चरितवालों के विषय में भी इसी तरह जानना चाहिये। बुद्धिचरित पुद्गल की सन्तान में प्रज्ञावासना होती है। अतः उसे उसकी अभिवृद्धि के लिये यत्न करना चाहिये। इसी तरह श्रद्धाचरित पुद्गल के बारे में भी जानना चाहिये। निष्कर्ष यह है कि अकुशल वासनाओं का प्रहाण करके कुशल वासनाओं के उत्पाद एवं अभिवृद्धि के लिये प्रयास करना चाहिये।

कम्मट्ठानसमुद्देसो

दस कसिणानि

६. कथं ?

पथवीकसिणं*, आपोकसिणं, तेजोकसिणं, वायोकसिणं, नीलकसिणं, पीतकसिणं, लोहितकसिणं ओदातकसिणं, आकासकसिणं, आलोककसिणञ्चेति इमानि दस कसिणानि नाम ।

कैसे ? पृथ्वीकसिण, अप्कसिण, तेजःकसिण, वायुकसिण, नीलकसिण, पीतकसिण, लोहितकसिण, अवदातकसिण, आकाशकसिण एवं आलोककसिण – इस तरह ये १० कसिण (कात्स्न्यं) होते हैं ।

कम्मट्ठान समुद्देश

दस कसिण

६. पथवीकसिणं – पृथ्वी कसिण की भावना करते समय कम से कम एक बालिश्त चार अङ्गुल के फैलाव में बनाये हुये मिट्टी के गोले को 'पृथ्वी' कहते हैं। इसी प्रमाण के लिये 'सूप के बराबर या शराव के बराबर' कहा गया है। अधिक से अधिक 'खलिहान में दँवरी (दावन) करने के समय चार बैल जितनी जगह में घूम सकें' इतने बड़े आकार के गोले को 'पृथ्वी' कहते हैं। कसिण शब्द सकल (कात्स्न्यं) अर्थ में आता है। अतः पृथ्वीकसिण की भावना करनेवाले योगी को जितने बड़े आकार में पृथ्वी बनायी गयी हो, उस सम्पूर्ण पृथ्वी की भावना करनी चाहिये। उसके किसी भी अंश का परित्याग नहीं करना चाहिये। 'पथवी येव कसिणं पथवीकसिणं' अर्थात् यह पृथ्वी (मिट्टी का गोला) ही सकल रूप में भावना करने के योग्य आलम्बन है। उस बाह्य पृथ्वी (गोले) के सदृश ज्ञान में उत्पन्न प्रतिभागनिमित्त को उपचार से 'पृथ्वी कसिण' कहते हैं। उस प्रतिभागनिमित्त आलम्बन का आलम्बन करके प्राप्त ध्यान भी उपचार से 'पृथ्वीकसिणध्यान' कहा जाता है। इसका विस्तार 'विसुद्धिमग्ग' से जानना चाहिये[1]।

[पृथ्वी, अप्, तेजस् वायु-आदि कसिणों की भावना करने के इच्छुक योगी के लिये पूर्वकृत्य, कर्त्तव्य, विघ्न, अनुकूलता आदि अनेक बातों का ज्ञान आवश्यक होता है। इनका वर्णन विसुद्धिमग्ग में विस्तारपूर्वक किया गया है। अतः जिज्ञासु को वहीं से इनका सम्यक् परिज्ञान करना चाहिये। विस्तारभय से हम यहाँ सङ्क्षेप में ही कसिण सम्बन्धी कुछ ज्ञातव्य बातों का उल्लेख करेंगे]

---

*. पठवी० – सी०, स्या०, (सर्वत्र)।

१. द्र० – विसु०, पृ० ८४; विसु० महा०, प्र० भा०, पृ० १७५।

आपोकसिणं – जैसे पृथ्वीकसिण की भावना की जाती है, वैसे ही अप्‌कसिण की भावना करने के इच्छुक योगी को सुखपूर्वक बैठ कर कसिण के चार दोषों को दूर करते हुये नील, पीत या श्वेत रंगवाले जल में से किसी एक रंगवाले जल को न लेकर जो अभी भूमि पर न पहुँचा हो, आकाश में ही शुद्ध वस्त्र द्वारा गृहीत हो अथवा दूसरा भी उसी प्रकार का स्वच्छ निर्मल जल हो, उसे पात्र या कुण्डिका में बराबर भरकर उसमें अप्‌ की भावना करनी चाहिये। भावना करते समय वर्ण एवं लक्षण को मन में न लाकर; अपितु अप्‌ के प्रज्ञप्तिधर्म में चित्त को रखकर उसके अनेक पर्यायों में से किसी एक प्रसिद्ध नाम का उच्चारण करते हुय 'अप्' की भावना करनी चाहिये। पुष्करिणी, तडाग या समुद्र के जल को निमित्त बनाकर भी अप्‌-कसिण की भावना की जा सकती है[1]।

तेजोकसिणं – तेजःकसिण की भावना करने के इच्छुक योगी को तेजस् (अग्नि) में निमित्त ग्रहण करना चाहिये। उसके निर्माण का विधान यह है – गीली एवं अच्छी लकड़ियों को फाड़कर, सुखाकर, टुकड़े-टुकड़े करके योग्य वृक्ष के नीचे अथवा मण्डप में जाकर बर्तन को पकाने के समान राशि करके आग लगाकर चटाई, चमड़े या कपड़े में 'एक बालिश्त चार अङ्गुल' के प्रमाण का छिद्र करना चाहिये। उसे सामने रखकर कहे गये अनुसार ही बैठ नीचे की ओर तृण, काष्ठ या ऊपर की ओर धुंआ, लपट को मन में न लाकर बीच में ही घनी लपट को निमित्त करना चाहिये। 'नील है, पीत है' आदि प्रकार से रंग का प्रत्यवेक्षण नहीं करना चाहिये। स्ववर्ण का ही निश्चय करके अधिकता के अनुसार प्रज्ञप्ति धर्म में चित्त को रखकर अग्नि के पर्यायों में से प्रसिद्ध नाम के अनुसार ही 'तेजस्' की भावना करनी चाहिये।

पूर्व जन्मों में भावना किये हुये योगी को बिना बनाये हुये कसिणमण्डल में निमित्त का ग्रहण करते समय चिराग की लौ में, चूल्हे में, पात्र पकाने के स्थल में या जङ्गल में लगी हुयी आग में – जहाँ कहीं भी आग की लपट को देखते हुये निमित्त उत्पन्न हो जाता है[2]।

वायोकसिणं – वायुकसिण की भावना करने के इच्छुक योगी को वायु में निमित्त ग्रहण करना चाहिये, वह भी देखने या स्पर्श करने के द्वारा। पुराण अट्ठ-कथा में यह कहा गया है – वायु कसिण का अभ्यास करते हुये वायु में निमित्त का ग्रहण करता है। कम्पमान इक्षु के अग्रभाग को लक्ष्य करके देखता है। हिलते-डोलते बाँस के सिरे को, वृक्षाग्र को, या केशाग्र को लक्ष्य करके देखता है। अथवा शरीर पर स्पर्श किये हुये को लक्ष्य करके देखता है।

इसलिये बराबर सिरवाले घने पत्तों से युक्त इक्षु, वेणु या वृक्ष को या चार अङ्गुल के घने केश वाले पुरुष के सिर को वायु से प्रहार करते हुये देखकर

---

1. द्र० – विसु०, पृ० ११४।
2. द्र० – विसु०, पृ० ११४-११५।

'यह वायु इस जगह प्रहार कर रही है' ऐसी स्मृति रखकर या जो वायु खिड़की से या भित्ति छिद्र से प्रवेश कर शरीर पर प्रहार कर रही हो, वहाँ स्मृति रखकर वायु के नामों में से प्रसिद्ध नाम के अनुसार वायु की भावना करनी चाहिये[1]।

नीलकसिणं – नीलकसिण की भावना करने का इच्छुक योगी नीले रंग में निमित्त ग्रहण करता है। पुष्प, वस्त्र या नीले रङ्ग की धातु में। पूर्व जन्म में भावना किये हुये योगी को उस प्रकार के फूल के पौधे, पूजा करने के स्थान में फैले हुये पुष्प, नीले वस्त्र या मणि में से किसी एक को देख कर ही निमित्त उत्पन्न हो जाता है।

अन्य योगी को नीलकमल, गिरिकर्णिक-आदि पुष्पों को लेकर जिस प्रकार केशर या वृन्त दिखाई न पड़े उस प्रकार, पुष्पों के चङ्गोटक (डलिया) या करण्डपटल (पिटारे के पिधान) को (केशर एवं वृन्त को हटाकर) केवल पंखुड़ियों से भरकर फैलाना चाहिये। अथवा नीले रङ्ग के वस्त्र से गठरी बांधकर (चङ्गोटक या करण्डपटल को) भरना चाहिये। काँसे के समान नीली, पलाश के समान नीली या अञ्जन के समान नीली किसी धातु से पृथ्वीकसिण में कहे गये के अनुसार, उठाकर ले जाने योग्य अथवा भित्ति पर ही कसिणमण्डल बनाकर उसे अन्य रङ्गों से पृथक् कर देना चाहिये। उसके पश्चात् 'नील नील' कह कर मन में करना चाहिये[2]।

पीतकसिणं – पीतकसिण में भी यही क्रम है। पीतकसिण की भावना करने का इच्छुक योगी पीतवर्ण में निमित्त ग्रहण करता है। पुष्प, वस्त्र या पीतवर्ण की धातु में। पूर्व जन्म में कृताभ्यास योगी को उस प्रकार के फूल के पौधे, पूजास्थल में फैले हुये पीतपुष्प, वस्त्र या धातुओं में से किसी एक को देखकर ही निमित्त उत्पन्न हो जाता है।

अन्य योगी को कर्णिकार के पुष्पों, पीत वस्त्रों या पीत धातुओं से नीलकसिण में कथित विधि से कसिणमण्डल बनाकर 'पीत-पीत' कहकर मन में करना चाहिये[3]।

लोहितकसिणं – लोहित कसिण में भी यही क्रम है। लोहित कसिण की भावना करने का इच्छुक योगी लोहित कसिण में निमित्त ग्रहण करता है। रक्त-पुष्प, रक्त वस्त्र या रक्त धातु में। पूर्वजन्म में अभ्यास किये हुये योगी को बन्धु-जीवक (अड़हुल) आदि के पौधों, पूजास्थल में फैले हुये रक्त पुष्पों, रक्तवस्त्र, रक्तमणि या धातु में से किसी एक को देखकर ही निमित्त उत्पन्न हो जाता है।

अन्य प्रकार के योगी को जयसुमन, बन्धुजीवक, रक्तकोरण्डक-आदि फूलों, लालरंग के वस्त्र या धातु से कहे गये अनुसार ही कसिणमण्डल बनाकर 'लोहित-लोहित' कहकर मन में करना चाहिये। शेष पूर्ववत् है[4]।

१. द्र० – विसु०, पृ० ११५।
२. विसु०, पृ० ११५।
३. विसु०, पृ० ११६।
४. विसु०, पृ० ११६।

ओदातकसिणं – अवदातकसिण की भावना करने का इच्छुक योगी श्वेतवर्ण में निमित्त का ग्रहण करता है। श्वेतपुष्प, श्वेतवस्त्र या श्वेतवर्ण की धातु में। पूर्वजन्म के अभ्यस्त योगी को उस प्रकार के पौधे, जूही, चमेली-आदि के फैले हुये फूल, कुमुद या पद्म के ढेर, श्वेतवस्त्र या धातु में से किसी एक को देखकर ही निमित्त उत्पन्न हो जाता है। शीशा, चाँदी, और चन्द्रमण्डल में भी उत्पन्न होता है।

अन्य प्रकार के योगी को पूर्वोक्त विधि से श्वेत पुष्पों से, श्वेत वस्त्र से या श्वेत धातु से नीलकसिण में कही गयी विधि से ही कसिणमण्डल बनाकर 'अवदात, अवदात' कहकर मन में करना चाहिये। शेष पूर्ववत् है[1]।

आलोककसिणं – आलोककसिण की भावना करने का इच्छुक योगी आलोक (प्रकाश) में निमित्त का ग्रहण करता है। भित्तिछिद्र में या झरोखे में। पूर्वजन्म के अभ्यस्त योगी को भित्तिछिद्र, या झरोखे-आदि में से किसी एक से सूर्यप्रकाश या चन्द्रप्रकाश के आने पर पृथ्वी पर बने हुये गोल आकार या घने पत्तेवाले पेड़ की शाखाओं के बीच से आकर बने हुये प्रकाशगोलक या घनी शाखाओं से बने मण्डप के बीच से आये हुये प्रकाश के गोलक को देखकर ही निमित्त उत्पन्न हो जाता है।

अन्य प्रकार के योगी को उपर्युक्त प्रकार से बने प्रकाशमण्डल को 'अवभास, अवभास (आलोक, आलोक)' कहकर भावना करनी चाहिये। वैसा करने में असमर्थ योगी को घड़े में दीप जलाकर उसके मुंह को बन्द करके तथा घड़े में छेद करके भित्ति की ओर रखना चाहिये। उस छिद्र से प्रकाश निकल कर भित्ति पर जो गोलाकार बनता है, उसे देख 'आलोक, आलोक' कह कर भावना करनी चाहिये[2]।

आकासकसिणं – परिच्छिन्न आकाशकसिण की भावना करने का इच्छुक योगी आकाश में निमित्त का ग्रहण करता है। भित्ति के छिद्र में, ताड़ के छिद्र में, या झरोखे में। पूर्वजन्म में अभ्यास किये हुये योगी को भित्तिछिद्र-आदि में से किसी एक को देखकर निमित्त उत्पन्न हो जाता है। अन्य प्रकार के योगी को भलीप्रकार से छाये हुये मण्डप में, या चमड़े, चटाई-आदि में से किसी एक में 'एकबालिश्त चार अङ्गुल' का छिद्र करके उसमें या उसी भित्तिछिद्र-आदि में 'आकाश, आकाश' कहकर भावना करनी चाहिये[3]।

इन उपर्युक्त दस कसिणों में से पृथ्वी-आदि चार 'भूतकसिण', नील-आदि चार 'वर्णकसिण', परिच्छिन्नाकाश 'आकाशकसिण' तथा चन्द्र-आदि 'आलोककसिण' हैं।

---

१. विसु०, पृ० ११६।

२. विसु०, पृ० ११६-११७।

३. विसु०, पृ० ११७।

दस असुभा

७. उद्धुमातकं, विनीलकं, विपुब्बकं, विच्छिद्दकं, विक्खायितकं, विक्खित्तकं, हतविक्खित्तकं, लोहितकं, पुळुवकं*, अट्ठिकञ्चेति इमे दस असुभा नाम।

उद्ध्मातक, विनीलक, विपूयक, विच्छिद्रक, विखादितक, विक्षिप्तक, हतविक्षिप्तक, लोहितक, पुलवक, एवं अस्थिक – इस प्रकार ये १० 'अशुभ' नामक कर्म-स्थान हैं।

दस अशुभ

७. 'अशभ' शब्द अशोभन (कुत्सित) अर्थ में प्रयुक्त है। अतः मुख्य रूप से शव को ही 'अशुभ' कहा जाता है; किन्तु मृत्यु के अनन्तर शव के संस्थान (आकार) में नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं, इसलिये उन विकृतियों के अवस्थाविशेष की अपेक्षा से यहाँ 'उद्धुमातक'-आदि १० अशुभ कर्मस्थान कहे गये हैं।

उद्धुमातकं – उ+धुमात+क। यहाँ 'उ' (उत्) उपसर्ग 'ऊर्ध्व' अर्थ में, 'धुमात' फूले हुए के अर्थ में तथा 'क' प्रत्यय कुत्सित अर्थ में है। अतः मृत्यु के पश्चात् क्रमशः उत्पन्न शोथ के कारण वायु से भरी भस्त्रा (भाथी) के समान फूले हुये शव को 'उद्ध्मातक' कहते हैं।

विनीलकं – वि+नील+क। प्रधानतः श्वेत, रक्त आदि वर्णों से मिश्रित नील वर्ण को 'विनील' कहते हैं। कुत्सितार्थक 'क' प्रत्यय के मिलने पर वही 'विनीलक' कहलाता है। अधिक मांसल स्थानों में लाल रङ्ग, पीब एकत्र हुये स्थानों में श्वेत रङ्ग, अधिकांशतः नीले रङ्ग के नील स्थान में नीले वस्त्र को ओढ़े हुये के समान मृत शरीर का यह नाम है।

विपुब्बकं – वि+पुब्ब+क। फटे हुये स्थानों से विस्यन्दमान कुत्सित पीब को 'विपुब्बक' (विपूयक) कहते हैं। इस प्रकार पीब बहते हुये मृत शरीर का यह नाम है।

विच्छिद्दकं – कटने से दो भागों में विभक्त शव को 'विच्छिद्र' कहते हैं। विच्छिद्र ही 'विच्छिद्रक' है। अथवा – प्रतिकूल होने से कुत्सित विच्छिद्र 'विच्छिद्रक' है। मध्य से कटे हुये हुये मृत शरीर का यह नाम है।

विक्खायितकं – इधर उधर से विविध आकार से कुत्ते, शृगाल आदि द्वारा खाये गये अतएव प्रतिकूल होने से कुत्सित मृत शरीर को 'विक्खायितक' (विखादितक) कहते हैं।

---

*. पुलवकं – सी०; पुळवकं – स्या०, म० (ख)।

विक्खित्तकं – विविध प्रकार से क्षिप्त (फेंके हुये) को 'विक्षिप्त' कहते हैं। प्रतिकूल होने से कुत्सित विक्षिप्त 'विक्षिप्तक' है। कहीं हाथ, कहीं पैर और कहीं सिर – इस प्रकार कुत्ते, सियार-आदि द्वारा इधर उधर फेंके हुये मृत शरीर का यह नाम है।

हतविक्खित्तकं – हत एवं पूर्वोक्त प्रकार से विक्षिप्तक को 'हतविक्षिप्तक' कहते हैं। अङ्ग – प्रत्यङ्गों पर शस्त्र-आदि से मार कर कौए के पैर के सदृश किये हुये तथा पहले की तरह फेंके हुये मृत शरीर का यह नाम है।

लोहितकं – यहाँ 'लोहित' शब्द से कुत्सित अर्थ में 'क' प्रत्यय हुआ है। रक्त को छींटता है, फैलाता है और इधर उधर बहाता है, अतः 'लोहितक' कहा जाता है। बहते हुये रक्त से क्लिन्न (सने हुये) मृत शरीर का यह नाम है।

पुळुवकं – पुळुव कृमि को कहते हैं। कीड़ों को विकीर्ण करता है, अतः 'पुळुवक' कहा जाता है। कृमियों से परिपूर्ण (भरे हुये) मृत शरीर का यह नाम है।

अट्ठिकं – अस्थि ही 'अस्थिक' (अट्ठिक) है। अथवा-प्रतिकूल होने से कुत्सित अस्थि ही 'अस्थिक' है। अस्थियों के समूह का भी, एक छोटी-सी अस्थि का भी यह नाम है।

इन १० अशुभ कर्मस्थानों की भावना करने के इच्छुक योगी को चाहिये कि जिन स्थानों पर ये अशुभ कम्मट्ठान सुलभ हों, वहाँ विधिपूर्वक जाकर आचार्य द्वारा उपदिष्ट विधि से निमित्त की प्राप्तिपर्यन्त भावना करें[1]। (विशेष ज्ञान के लिये विसुद्धिमग्ग देखना चाहिये।)

जीवित शरीर भी अशुभ है – अशुभ आकार न केवल मृत शरीर में ही; अपितु जीवित शरीर में भी होता है। जैसे – हाथ-पैर आदि में सूजन (शोथ) आ जाने पर 'उद्ध्मातक', फोड़े-आदि से पीब बहते समय 'विपूयक', अङ्गविशेष से रक्त बहते समय 'लोहितक', किसी घाव में से अस्थि दिखलाई देने पर या दाँत दिखलाई देने पर 'अस्थिक' तथा फोड़े-आदि में कीड़े पड़ जाने पर 'पुळुवक' कम्मट्ठान किया जा सकता है। इतना ही नहीं; अपितु स्वस्थ शरीर में भी केश, लोम, नख, दन्त-आदि कोट्ठास (अवयव) होते ही हैं। इन्हें देखकर भी अशुभ कम्मट्ठान किया जा सकता है।

"यथेव मतसरीरं जीवं पि असुभं तथा।
आगन्तुकालङ्कारेन छन्नत्ता तं न पाकटं[2]॥"

अर्थात् उद्ध्मातक-आदि नाना प्रकार के मृत शरीर जैसे अशुभ होते हैं, उसी प्रकार जीवित शरीर भी अशुभ ही होता है। आगन्तुक अलङ्कारों से आवृत होने के कारण वह अशुभ स्वभाव प्रकट नहीं होता।

---

१. द्र० – विसु०, पृ० ११९-१२०; अट्ठ०, पृ० १६१-१६२; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० २०१-२१७।

२. ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० १३०; अट्ठ०, पृ० १६३।

दस अनुस्सतियो

८. बुद्धानुस्सति, धम्मानुस्सति, सङ्घानुस्सति, सीलानुस्सति, चागानुस्सति, देवतानुस्सति, उपसमानुस्सति, मरणानुस्सति, कायगतासति, आनापानस्सति* चेति इमा दस अनुस्सतियो नाम ।

बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, सङ्घानुस्मृति, शीलानुस्मृति, त्यागानुस्मृति, देवतानुस्मृति, उपशमानुस्मृति, मरणानुस्मृति, कायगतास्मृति, प्राणापानस्मृति, इस प्रकार ये दस अनुस्मृतियाँ हैं ।

"इमं हि सुभतो कायं गहेत्वा तत्थ मुच्छिता ।
बाला करोन्ता पापानि दुक्खा न परिमुच्चरे[1] ॥"

इस स्वभावतः अशुभ शरीर में शुभ संज्ञा ग्रहण करके उस पूतिगन्ध शरीर में मोहित होकर मिथ्याचार-आदि पाप कर्म करते हुये मूढ (बाल) पुद्गल अपाय नामक दुःख से मुक्त नहीं होते ।

"तस्मा पस्सेय्य मेधावी जीवतो वा मतस्स वा ।
सभावं पूतिकायस्स सुभभावेन वज्जितं[2] ॥"

इस प्रकार अशुभ में शुभ संज्ञा करने से अपाय दुःखों से मुक्त न होने के कारण मेधावी पुद्गल अलङ्कारों से आवृत जीवित सत्त्व के अथवा उद्ध्मातक-आदि मृत सत्त्व के पूतिकायगत एकान्त अशुभ स्वभाव को देखें, जो नितराम् शुभ भाव से विवर्जित है ।

१० अनुस्मृतियाँ

८. किसी एक आलम्बन की पुनः पुनः स्मृति करना 'अनुस्मृति' है[3] ।

बुद्धानुस्सति – यहाँ 'बुद्ध' शब्द द्वारा भगवान् बुद्ध के स्कन्धद्रव्यों को न लेकर उस स्कन्धद्रव्य में होनेवाले 'अर्हत्त्व'-आदि ९ गुणों को लेना चाहिये । इन गुणों को ही स्थान्युपचार से 'बुद्ध' कहा गया है । 'बुद्धं अनु सति, बुद्धानुस्सति' भगवान् बुद्ध के अर्हत्त्व-आदि ९ गुणों का पुनः पुनः स्मरण करना 'बुद्धानुस्मृति' है । भगवान् बुद्ध

---

*. आनापानसति – सी० ।

१. विसु०, पृ० १३१ ।

२. विसु०, पृ० १३१ ।

३. "पुनप्पुनं उप्पज्जनतो सति येव अनुस्सति । पवत्तितब्बट्ठानम्हि येव वा पवत्तत्ता सद्धापब्बजितस्स कुलपुत्तस्स अनुरूपा सतीति पि अनुस्सति ।" – विसु०, पृ० १३३ ।
"पुनप्पुनं निरन्तरं सरणं अनुस्सति ।" – प० दी०, पृ० ३६२ ।
"अनु अनु सरणं अनुस्सति ।" – विभा०, पृ० १९६ ।

के गुणों का अनुस्मरण करने में उनका शरीर भी आ जाता है, क्योंकि वह श्रीसम्पन्न होता है और वह भी ९ गुणों में से एक 'भगवा' नामक गुण में गृहीत है।

(अर्हत्त्व-आदि गुणों के विशेष ज्ञान के लिये विसुद्धिमग्ग देखें[1])।

धम्मानुस्सति – 'धर्म' शब्द से परियत्तिधर्म, ४ मार्गधर्म, ४ फलधर्म, एवं निर्वाण का ग्रहण होता है। इन १० धर्मों के 'स्वाक्खात' (स्वाख्यात) आदि ६ गुणों का पुनः पुनः स्मरण करना 'धर्मानुस्मृति' है। इनका विस्तार विसुद्धिमग्ग में देखें[2]।

सङ्घानुस्सति – मार्गस्थ एवं फलस्थ पुद्‌गल को 'आर्य' कहते हैं। मार्गस्थ पुद्‌गल ४ तथा फलस्थ पुद्‌गल भी ४ होते हैं। इस तरह इन आठ पुद्‌गलों को 'आर्य' कहते हैं और इनके संघ को ही 'संघ' कहते हैं। इस सङ्घ के 'सुप्पटिपन्न' (सुप्रतिपन्न) आदि ९ गुण होते हैं। इनका पुनः पुनः स्मरण करना 'सङ्घानुस्मृति' है। (विस्तार के लिये विसुद्धिमग्ग देखें[3])।

सीलानुस्सति – अपने शील की अखण्डता एवं अक्षतता का, उस शील के आधार पर दैविक एवं मानवीय सुखों की कामना न करते हुये तृष्णा से मुक्ति की प्राप्ति का तथा उस शील का आधार करके मार्ग एवं फलपर्यन्त समाधि की प्राप्ति का पुनः पुनः स्मरण करना 'शीलानुस्मृति' है।

"अहो वत मे सीलानि 'अखण्डानि अच्छिद्दानि असबलानि अकम्मासानि भुजिस्सानि विञ्ञूपसत्थानि अपरामट्ठानि समाधिसंवत्तकानी' ति[4]।"

अहो! मेरे शील एकान्त रूप से अखण्ड एवं अछिद्र हैं। अशबल (अमिश्रित), अकल्मष (कालुष्यरहित), तृष्णा की दासता से मुक्त, अनारोपित, समस्त पण्डित जनों द्वारा प्रशंसित होकर समाधि को प्राप्त करानेवाले हैं।

चागानुस्सति – दान किये जाने पर उस देय वस्तु को प्राप्त करनेवाले को प्रसन्नता की प्राप्ति होती है। प्रसन्नता देनेवाले अपने उस दान के गुणों का प्रीतिपूर्वक पुनः पुनः स्मरण करना 'त्यागानुस्मृति' है।

"मनुस्सत्तं सुलद्धं मे य्वाहं चागे सदा रतो।
मच्छेरपरियुट्ठाय पजाय विगतो ततो[5]॥"

---

१. "बुद्धं आरब्भ उप्पन्ना अनुस्सति बुद्धानुस्सति। बुद्धगुणारम्मणाय सतिया एतं अधिवचनं।" – विसु०, पृ० १३३। विशेष ज्ञान के लिये द्र० – विसु०, पृ० १३३-१४४।

२. विसु०, पृ० १३३, १४४-१४७।

३. विसु०, पृ० १४७-१४९।

४. विसु०, पृ० १४९; अं० नि०, तृ० भा०, पृ० ९। विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – विसु०, पृ० १४९-१५०।

५. ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० १५०; अं० नि०, तृ० भा०, पृ० ९। विस्तार के लिये द्र० – विसु०, पृ० १५०-१५१।

जो मैं मात्सर्य से ग्रस्त प्रजा में मात्सर्यरहित होकर त्याग में सदा रत हूँ, अतः दान में रत मेरा मनुष्यत्व का लाभ सफल है।

देवतानुस्सति – श्रद्धा, शील, श्रुत, त्याग एवं प्रज्ञा-आदि गुणों से सम्पन्न मनुष्य इस मनुष्यभूमि से च्युत होकर देवभूमि में उत्पन्न होते हैं। हम भी उसी तरह श्रद्धा शील-आदि गुणों से सम्पन्न हैं। श्रद्धा, शील-आदि गुणों के विपाकस्वरूप उन देव, ब्रह्मा-आदि को देखकर अपने श्रद्धा, शील-आदि गुणों का प्रीतिपूर्वक पुनः पुनः स्मरण करना 'देवतानुस्मृति' है।

"येहि सद्धादिगुणेहि देवता देवतं गता।
मय्हं पि ते संविज्जन्ति अहो मे गुणवन्तता'॥"

जिन श्रद्धा-आदि गुणों द्वारा देवता देवत्व को प्राप्त किये हैं, वे श्रद्धा-आदि गुण मुझ में विद्यमान हैं। अहो? मेरी गुणवत्ता!

उपसमानुस्सति – निर्वाण के शान्त सुखस्वभाव का पुनः पुनः स्मरण करना 'उपशमानुस्मृति' है[2]।

निर्वाण के स्वरूप के विषय में आजकल नाना प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ हैं। कुछ लोग निर्वाण को रूपविशेष एवं नामविशेष कहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि नामरूपात्मक स्कन्ध के भीतर अमृत की तरह एक नित्य धर्म विराजमान है, जो नामरूपों के निरुद्ध होने पर भी अवशिष्ट रहता है। उस नित्य, अजर, अमर, अविनाशी के रूप में विद्यमान रहना ही 'निर्वाण' है। कुछेक का मत है कि निर्वाण की अवस्था में यदि नामरूप धर्म न रहेंगे, तो उस अवस्था में सुख का अनुभव भी कैसे होगा – इत्यादि। हम देखते हैं कि लोग इस प्रकार निर्वाण के स्वरूप का जैसे मन में आता है, वैसा प्रतिपादन करते हैं।

जैसे किसी आलम्बन को प्राप्त करनेवाले किसी पुद्गल को उस आलम्बन के विषय में यथाभूत ज्ञान होता है, उसी तरह निर्वाण को प्राप्त आर्य ही निर्वाण के स्वरूप का यथाभूत ज्ञान कर सकते हैं तथा उसका प्रामाणिकरूप से प्रतिपादन कर सकते हैं। सामान्य पुद्गल उस गम्भीर निर्वाण को यथार्थरूप से नहीं जान सकते। वे अनुमान से उसके स्वरूप का यत्किमपि (जो कुछ) प्रतिपादन करते हैं। उनके इस कथन को इदमित्थं या प्रामाणिक नहीं समझना चाहिये। यहाँ हम निर्वाण के विषय में तद्तद् ग्रन्थों में प्राप्त वचनों के आधार पर तथा उन्हें अपनी बुद्धि के अनुसार युक्तियों की कसौटी पर कस कर वर्णन करेंगे।

निर्वाण चित्त, चैतसिक एवं रूप नामक परमार्थ धर्मों से पृथक् एक परमार्थ धर्म है। अतः नाम-रूप संस्कारों से सर्वथा असम्बद्ध होने के कारण वह नामविशेष

१. ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० १५२; अं० नि०, तृ० भा०, पृ० १०।
२. द्र० – विसु०, पृ० १९८।

एवं रूपविशेष नहीं हो सकता। "अज्झत्ता धम्मा, बहिद्धा धम्मा"[1] धम्मसंगणि की इस मातिका में निर्वाण 'बहिद्धा' धर्म में परिगणित है, अतः यह स्कन्ध के अन्तर्गत रहने वाला अमृत की तरह कोई अविनाशी नित्य धर्म नहीं हो सकता। निर्वाण पुद्गल एवं सत्त्व की तरह कोई वेदक (ज्ञाता) धर्म भी नहीं है और न रूप, शब्द-आदि आलम्बनों की तरह 'वेदयितव्य' धर्म ही है। अतः निर्वाण में वेदयितव्य सुख नहीं है; किन्तु वेदयितव्य सुख से कोटिगुण अधिक शान्तिसुख एकान्तरूप से होता है।

हमारे नित्य के अनुभव में आनेवाला वेदयित सुख (जिसे हम सुख कहते हैं, वह) अनुभव (भोग) के अनन्तर व्ययशील, एवं भङ्गुरस्वभाव होता है। उसके विनाश के अनन्तर हमें फिर नये सुखों की प्राप्ति के लिये इतना अधिक आयास करना पड़ता है कि वह आयासरूप दुःख, उस आयास से लब्ध सुख से कहीं अधिक होता है। इतने आयास से लब्ध सुख से भी जब सन्तुष्टि नहीं होती, तो पुद्गल उसे पुनः पुनः या अधिक परिमाण में प्राप्त करने के लिये पापाचरण तक करने में प्रवृत्त हो जाते हैं। उस मिथ्याचार के फलस्वरूप अपायभूमि में उत्पन्न होते हैं और निरन्तर इस भवचक्र में भ्रमण करते रहते हैं। इस मिथ्या सुख की मृगमरीचिका नें पड़कर मनुष्य की दशा कहाँ तक पहुँच जाती है, इसका स्वयं विचार किया जा सकता है।

इस वेदयित सुख से सर्वथा अमिश्रित यह निर्वाण, नामरूप संस्कार धर्मों का निरोधस्थान होने से उपशम स्वभाववाला धर्म है।

ऐश्वर्यादिसम्पन्न कोई पुद्गल जब प्रगाढ़ निद्रा में विलीन रहता है और उसे किसी प्रकार की जागतिक चेतना नहीं रहती, ऐसी अवस्था में यदि उसे कोई कामगुणों के भोग के लिये जगा देता है, तो उसे अत्यधिक क्रोध हो जाता है। ऐसा क्यों होता है? इसलिये कि जब वह सुषुप्ति अवस्था में था और उसके सम्मुख कोई आलम्बन नहीं था उस समय आलम्बनों के अभाव में उसे जो शान्तिसुख का अनुभव हो रहा था, वह शान्ति-सुख उसे जागृत अवस्था के कामगुणों के भोग से उत्पन्न सुख की अपेक्षा कहीं अधिक प्रतीत होता था। जबकि आलम्बनों के अभाव में उत्पन्न साधारण सुषुप्तिकालिक शान्ति-सुख जागृत अवस्था के ऐश्वर्यभोगजनित सुख से अधिक प्रतीत होता है, तो नामरूपसंस्कारों के निरोध से निर्वाणरूप ऐकान्तिक उपशमसुख कितना गुना अधिक होगा, इसकी स्वयं कल्पना की जा सकती है।

अनागामी एवं अर्हत् आर्यपुद्गल नामरूप स्कन्धों को अत्यधिक भारस्वरूप समझ कर उनसे विरत होने के लिये निरोधसमापत्ति में पर्यापन्न होते हैं। उस समापत्ति काल में वेदयित (किसी भी प्रकार के अनुभव) - कर्म बिलकुल नहीं होते। अथ च चित्त-चैतसिक नामक नामधर्मों का एवं कुछ रूपधर्मों का नया उत्पाद सर्वथा नहीं होता। इस प्रकार नामधर्मों एवं कुछ रूपधर्मों के निरोध से उपशमरूप शान्तिसुख

---

१. ध० स०, पृ० ५, ३२१।

को महान् सुख समझ कर उसे प्राप्त करने के लिये पुद्गल इस समापत्ति का आश्रयण करते हैं।

असंज्ञी एवं अरूपी ब्रह्माओं की अवस्था को देखकर भी उपशमरूप शान्ति-सुख का स्पष्टतया परिज्ञान किया जा सकता है। असंज्ञी ब्रह्माओं की सन्तान में नाम-धर्म एवं वेदयित (वेदना) सर्वथा नहीं होते। वे ५०० कल्पपर्यन्त नामधर्मों से उपशान्त रहकर विहरण करते हैं। अरूपी ब्रह्माओं की सन्तान में रूपधर्मों का सर्वथा अभाव रहता है। वे भी रूपधर्मों से उपशान्त रहकर सुखपूर्वक विहार करते हैं।

सबसे ऊपर की भूमि में रहनेवाले अरूपी ब्रह्मा की सन्तान में भी केवल थोड़े से नामधर्म ही होते हैं; किन्तु जब वह अर्हत् हो जाता है, तब उसकी सन्तान में केवल मनोद्वारावर्जन, ८ महाक्रिया, १ नैवसंज्ञानासंज्ञायतनविपाक, १ क्रिया तथा १ अर्हत् फल – इस तरह कुल १२ चित्त रहते हैं। उनमें भी एकबार में एक चित्त ही होता है। केवल एक ही चित्त होने से तथा अन्य नामरूपधर्मों का निरोध हो जाने से उसे अत्यन्त शान्ति का अनुभव होता है। इस एक चित्त का भी निरोध हो जाने पर उसे सर्वदा के लिये नामरूपधर्मों से सर्वथा विमुक्त उपशमरूप निर्वाणधातु का लाभ होता है।

यह शान्तिसुखस्वरूप निर्वाणधातु सर्वसाधारण कोई एक धर्म नहीं है; अपितु पुद्गल-भेद से उसका स्वरूप पृथक् पृथक् है। अर्थात् निर्वाण एक नहीं; अपितु पुद्गलभेद से अनेक हैं। इसलिये आर्य पुद्गल अपने पृथक् पृथक् स्कन्धों के होने पर भी अपने अपने निर्वाण का आलम्बन करके फलसमापत्ति का आवर्जन करते हैं। जब फलसमापत्ति का आवर्जन करते हैं, तब उस निर्वाणधातु का आलम्बन करके विहार करना भी अत्यन्त शान्तिकर होता है।

'थेरगाथा' 'थेरीगाथा' के स्थविर एवं स्थविरायें सब अर्हत् पुद्गल हैं। उन्होंने निर्वाण का आलम्बन करके होनेवाले उपशमरूप सुख का इसी जन्म में साक्षात्कार किया है। अतः उन्होंने समझ लिया है कि लौकिक आलम्बनों से होनेवाले सुख एवं कुछ समय के लिये निर्वाण को आलम्बन करके होनेवाले शान्तिसुख में कितना भेद होता है। इसीलिये परिनिर्वाण से पहले नाम एवं रूप धर्मों का परित्याग करके सर्वदा के लिये निर्वाण प्राप्त करते समय उन्हें अत्यधिक उल्लास होता है और उस समय वे उदानगाथाओं का गान करते हैं। हमें भी उन वचनों पर विश्वास करके उपशम-स्वभाव उस निर्वाण के गुणों का (अनुमान से निर्धारण करके) आलम्बन करके उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये[1]।

"सदेवकस्स लोकस्स एते वो सुखसम्मता।
यत्थ चेते निरुज्झन्ति तं तेसं दुक्खसम्मतं[2]॥"

देवताओं सहित इस लोक में ये रूप, शब्द-आदि कामगुण आलम्बन सुख समझे जाते हैं। और जिस निर्वाण में ये (रूपशब्दादि कामगुण आलम्बन) निरुद्ध हो जाते हैं,

१. ब० भा० टी०।

२. सं० नि०, तृ० भा० (सळायतनवग्गो), पृ० ११६।

उस (कामगुणों के निरोधस्थान) निर्वाण को वे अन्ध पृथग्जन दुःखरूप ही समझते हैं।

"सुखं दिट्ठमरियेभि सक्कायस्स निरोधनं।
पच्चनीकमिदं होति सब्बलोकेन पस्सतं[1] ॥"

परमार्थ स्वरूप से विद्यमान ५ स्कन्धों के निरोधरूप निर्वाण सुख का आर्य पुद्गलों ने ज्ञानचक्षु से साक्षात्कार किया है। सामान्य पृथग्जनों की दृष्टि के अविषय इस निर्वाण का सम्यक् दर्शन करनेवाले आर्य जन सम्पूर्ण लोक के प्रत्यनीक होते हैं।

मरणानुस्सति – मरण चार प्रकार का होता है। १. एक भव में पर्यापन्न जीवितेन्द्रिय का उपच्छेदरूप मरण, २. अर्हतों का वट्टदुःख से समुच्छेद नामक समुच्छेद-मरण, ३. संस्कारों का क्षणभङ्ग नामक क्षणिकमरण तथा ४. वृक्षमरण, लौह (धातु)-मरण, पारदमरण-आदि की तरह संवृति (सम्मुति)-मरण। इन चारों में से समुच्छेद-मरण का सम्बन्ध सर्वसाधारण से नहीं; अपितु केवल अर्हतों से है। क्षणिकमरण की अनुस्मृति करना दुष्कर है। संवृतिमरण संवेगोत्पाद का विषय नहीं है। अतः ये तीन मरण यहाँ (अनुस्मृति के लिये) अपेक्षित नहीं हैं। केवल जीवितेन्द्रियोपच्छेदरूप मरण ही अनुस्मृति का विषय हो सकता है, अतः वही यहाँ अभिप्रेत है; क्योंकि वह सर्वसाधारण संवेद्य, सुकर एवं संवेगोत्पत्ति का कारण भी होता है। यह जीवितेन्द्रिय का समुच्छेदरूप मरण भी कालमरण एवं अकालमरण भेद से द्विविध होता है। इनमें कालमरण पुण्यक्षय से, आयुःक्षय से या दोनों के क्षय से होता है तथा अकालमरण कर्मोपच्छेदक (विष, शस्त्र-आदि) कर्मों द्वारा होता है। इस जीवितेन्द्रियोपच्छेदरूप मरण का पुनः पुनः स्मरण करना ही 'मरणानुस्मृति' है[2]।

भावनाविधि – मरणानुस्मृति की भावना करने के इच्छुक योगी को एकान्त में जाकर चित्त को अन्य आलम्बनों से खींचकर – 'मरण होगा, जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद होगा' अथवा 'मरण, मरण' कहकर ठीक से मन में करना चाहिये। ठीक से मन में न करनेवाले को प्रिय जन की मत्यु का स्मरण करते समय जन्मदात्री माता द्वारा प्रियपुत्र के मरण की अनुस्मृति के समान शोक उत्पन्न होता है। अप्रियजन की मत्यु के स्मरण में शत्रु के द्वारा शत्रु की मत्यु के अनुस्मरण के समान प्रमोद होता है। मध्यस्थ जन की मत्यु के अनुस्मरण में मृतकों को जलानेवाले डोम के द्वारा मृतकों को देखने के समान संवेग का उत्पाद नहीं होता और अपनी मत्यु के स्मरण में तलवार उठाये जल्लाद (वधक) को देखकर भीरु पुरुष की तरह भय उत्पन्न होता है।

ये उपर्युक्त सभी बातें स्मृति, संवेग एवं ज्ञानविरहित पुरुषों को ही होती हैं। इसलिये वहाँ वहाँ मारे गये और मरे हुये प्राणियों को देखकर, जिन पुद्गलों की पहले सम्पत्ति देखी गयी थी, उनके मरण का आवर्जन करके स्मृति, संवेग एवं ज्ञान को लगाकर 'मरण होगा, मरण होगा' – आदि प्रकार से मन में करना चाहिये[3]।

१. सं० नि०, तृ० भा० (सळायतनवग्गो), पृ० ११६।

२. द्र० – विसु०, पृ० १५५। ३. विसु०, पृ० १५५।

कायगतासति – काय शब्द यहाँ 'समूह' अर्थ में प्रयुक्त है। केश, लोम आदि (३२) कोट्ठासों के समूह को 'काय' कहते हैं। 'काये गता कायगता, कायगता च सा सति चा ति कायगतासति' काय (केश लोम-आदि समूह) में (आलम्बन के वश से) होनेवाली स्मृति को 'कायगतास्मृति' कहते हैं।

भावनाविधि – कायगतास्मृति की भावना करने के इच्छुक योगी को "अत्थि इमस्मिं काये केसा लोमा नखा दन्ता तचो, मंसं न्हारु अट्ठि अट्ठिमिञ्जं वक्कं, हदयं यकनं किलोमकं पिहकं पप्फासं, अन्तं अन्तगुणं उदरियं करीसं मत्थलुङ्गं, पित्तं सेम्हं पुब्बो लोहितं सेदो मेदो, अस्सु वसा खेळो सिङ्घाणिका लसिका मुत्तं ति"[1] – इस प्रकार पुनः पुनः स्मरण करना चाहिये[2]।

आनापानस्सति – 'आनापाने पवत्ता सति आनापानस्सति' आश्वास एवं प्रश्वास में आलम्बनवश प्रवृत्त स्मृति 'आनापानस्मृति' कहलाती है।

उपर्युक्त चालीस कम्मट्ठानों में आनापानस्मृति अत्यधिक प्रशंसित एवं आदृत कम्मट्ठान है। इसका त्रिपिटक में अनेक स्थल पर वर्णन मिलता है। विसुद्धिमग्ग में आचार्य बुद्धघोष ने भी इसका सविस्तर प्रतिपादन किया है। आजकल बौद्ध देशों में विशेष कर ब्रह्मदेश में इसका अत्यधिक प्रचलन है। नर, नारी, बाल, वृद्ध सभी सर्वत्र इसकी भावना करते हुये पाये जाते हैं; क्योंकि बौद्धों के विश्वास के अनुसार यह युग प्रतिपत्ति (पटिपत्ति) या विमुक्ति का युग है।

'आनापान' आश्वासप्रश्वास का पर्याय है। विनयट्ठकथा में बाहर निकलनेवाली वायु को 'आन' तथा भीतर जानेवाली वायु को 'अपान' कहा गया है। यह उत्पत्तिक्रम की दृष्टि से कहा गया है। गर्भस्थ शिशु को मातृकुक्षि में आश्वास-प्रश्वास क्रिया नहीं होती। गर्भ से बाहर आने पर सर्वप्रथम अन्तःस्थ वायु बाहर निकलती है, तदनन्तर बाहर से वायु अन्दर प्रवेश करती है। इस उत्पत्तिक्रम को ध्यान में रखकर पहले बाहर निकलनेवाली वायु को 'आन' तथा भीतर जानेवाली को 'अपान' कहा गया है। सुत्तन्तपिटक में प्रवृत्तिक्रम के अनुसार भीतर जानेवाली वायु को 'आन' (आश्वास) तथा बाहर जानेवाली वायु को 'अपान' (प्रश्वास) कहा गया है।

आनापानस्मृति की भावना करने के इच्छुक योगी को सर्वप्रथम 'प्राण' (आन) का तदनन्तर 'अपान' का आलम्बन करके भावना करनी चाहिये[3]।

[बुद्धानुस्मृति-आदि अनुस्मृतियों में 'स्मृति' शब्द से पूर्व 'अनु' उपसर्ग का प्रयोग हुआ है; किन्तु कायगतास्मृति एवं आनापानस्मृति में नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि बुद्धानुस्मृति-आदि में कहे गये बुद्ध के गुण-आदि धर्म परमार्थ स्वभाव होने से अत्यन्त गम्भीर हैं, अतः उनका पुनः पुनः स्मरण करने से ही यथार्थ ज्ञान हो सकता है। अतएव

---

१. म० नि०, तृ० भा०, पृ० १५३; अं० नि०, तृ० भा०, पृ० ४१।

२. विस्तार के लिये द्र० – विसु०, पृ० १६२-१६३।

३. द्र० – विसु०, पृ० १८०; म० नि०, तृ० भा०, पृ० १४४-१४७।

चतस्सो अप्पमञ्ञायो

१. मेत्ता, करुणा, मुदिता, उपेक्खा चेति इमा चतस्सो अप्पमञ्ञायो नाम; ब्रह्मविहारा* ति पि वुच्चन्ति* ।

मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा – इस प्रकार ये ४ अप्रामाण्यायें हैं। इन्हें ही ब्रह्मविहार भी कहते हैं।

वहाँ वीप्सार्थक 'अनु' का प्रयोग किया गया है। कायगतासति एवं आनापानसति में 'काय' शब्द कोट्ठास-प्रज्ञप्ति अर्थवाला है तथा 'आनापान' शब्द वायुधातु के समूह के अर्थ में अर्थात् समूहप्रज्ञप्ति अर्थवाला है। इस तरह प्रज्ञप्तिधर्म होने से परमार्थ धर्म की तरह गम्भीर न होने के कारण इनमें 'अनु' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है[1]।]

चार अप्रामाण्यायें

१. मेत्ता – 'मिज्जति सिनिय्हतीति मेत्ता' अर्थात् स्नेह करनेवाले धर्म को 'मैत्री' कहते हैं[2]। परमार्थरूप से अद्वेष चैतसिक ही मैत्री है। वह प्रिय एवं मनाप सत्त्वप्रज्ञप्ति का आलम्बन करती है। किसी एक सत्त्वप्रज्ञप्ति का आलम्बन करके जब द्वेष का उत्पाद होता है, तो उस द्वेष से सम्प्रयुक्त चित्त भी स्निग्ध (आर्द्र) न होकर; अपितु शुष्क (रूक्ष) होकर आलम्बन करता है। मैत्री (मेत्ता) सत्त्वों के प्रति स्निग्ध (आर्द्र) होकर आलम्बन करती है।

प्रतिरूपिकामैत्री – तृष्णा के कारण अपने प्रियजनों के प्रति जो स्नेह होता है, उसे मैत्री कहा जा सकता है; किन्तु वह यथार्थ मैत्री (मेत्ता) न होकर प्रतिरूपिका मैत्री है। यथार्थ मैत्री वह है, जिसमें कुशल अथवा क्रिया चित्तों में से कोई एक हो; जबकि तृष्णाजन्य स्नेह की अवस्था में अकुशल लोभचित्त होता है। अपनी भार्या एवं पुत्र आदि के प्रति होनेवाला प्रेम यथार्थ मैत्री नहीं है, उसका मूल तृष्णा है, शास्त्रों में वह 'गेहाश्रित प्रेम' कहा गया है। यह लोभमूल अकुशल चित्त है। यह आवश्यक है कि मैत्रीभावना करते समय द्वेष नामक दूर के शत्रु तथा लोभ नामक समीप के शत्रु से सावधानी के साथ बचकर भावना की जाय। सत्त्वप्रज्ञप्ति का आलम्बन करके मैत्रीचित्त द्वारा जो मैत्रीभावना की जाती है, शास्त्रों के अनुसार उसके ५२८ प्रकार होते हैं।

'अनोधिसो मेत्ताफरण' (अनवधिशः मैत्रीस्फरण) के ५ तथा 'ओधिसो मेत्ताफरण' (अवधिशः मैत्रीस्फरण) के ७=१२ नय होते हैं। इन १२ का 'अवेरा होन्तु, अब्यापज्जा होन्तु, अनीघा होन्तु, सुखी अत्तानं परिहरन्तु' – इन चारों से गुणा करने पर ४८ नय होते हैं। इन ४८ नयों का १० दिशाओं से गुणा करने पर इनकी संख्या ४८० हो

-. ब्रह्मविहारो ति च पवुच्चति – सी०, रो०, म० (क-ख); ब्रह्मविहारा ति वुच्चन्ति – स्या०।

१. व० भा० टी०। २. विभा०, पृ० ११७।

जाती है। इनमें ४८ मूलनय मिला देने पर (जो दिशाओं में नहीं होते) ये ५२८ हो जाते हैं।

अनोधिसो मेत्ताफरण– 'सब्बे सत्ता, सब्बे पाणा, सब्बे भूता, सब्बे पुग्गला, सब्बे अत्तभावपरियापन्ना' – ये ५ भाव किसी पुरुष, स्त्री या बालक में सीमित नहीं होते, अतः इन्हें 'अनोधिसो' (अनवधिशः) मैत्रीस्फरण कहते हैं।

ओधिसो मेत्ताफरण– 'सब्बा इत्थियो, सब्बे पुरिसा, सब्बे अरिया, सब्बे अनरिया, सब्बे देवा, सब्बे मनुस्सा, सब्बे विनिपातिका' – ये ७ भाव स्त्री, पुरुष आदि तक सीमित होते हैं, अतः इन्हें 'ओधिसो' (अवधिशः) मैत्रीस्फरण कहते हैं[1]।

उपर्युक्त १२ प्रकारों से मैत्रीभावना करनेवाले पुद्गल भी १२ प्रकार के होते हैं। इन्हें मैत्रीभावना करते समय 'अवेरा होन्तु...सुखी अत्तानं परिहरन्तु' – इस तरह ४ प्रकार से भावना करनी चाहिये। यथा – 'सब्बे सत्ता अवेरा होन्तु...सब्बे सत्ता सुखी अत्तानं परिहरन्तु';...'सब्बे अत्तभावपरियापन्ना अवेरा होन्तु...सब्बे अत्तभाव-परियापन्ना सुखी अत्तानं परिहरन्तु';...'सब्बा इत्थियो अवेरा होन्तु...सुखी अत्तानं परि-हरन्तु';...'सब्बे विनिपातिका अवेरा होन्तु...सुखी अत्तानं परिहरन्तु'। इस तरह भावना के ४८ प्रकार होते हैं। इनका 'पुरत्थिमाय दिसाय, पच्छिमाय दिसाय, उत्तराय दिसाय, दक्खिणाय दिसाय, पुरत्थिमाय अनुदिसाय, पच्छिमाय अनुदिसाय, उत्तराय अनुदिसाय, दक्खिणाय अनुदिसाय, हेट्ठिमाय दिसाय, उपरिमाय दिसाय' – इन १० दिशाओं से गुणा करने पर इनकी कुल संख्या ४८० हो जाती है। यथा – 'पुरत्थिमाय दिसाय सब्बे सत्ता अवेरा होन्तु, पुरत्थिमाय दिसाय सब्बे सत्ता अब्यापज्जा होन्तु...' – इत्यादि। इस ४८० प्रकार की भावना में दिशाओं से रहित मूल ४८ प्रकार मिला देने पर इनकी संख्या कुल ५२८ हो जाती है। इन ५२८ प्रकार की भावनाओं का अभ्यास करनेवाले पुद्गल भी ५२८ प्रकार के होते हैं[2]।

करुणा – करुणा का वचनार्थ, लक्षण एवं प्रतिरूपिका करुणा आदि का स्वरूप चैतसिक परिच्छेद में कह दिया गया है[3]। यह करुणा भी 'अनोधिसो फरण' और 'ओधिसो फरण' भेद से दो प्रकार की है। इनमें 'अनोधिसो फरण' के ५ तथा 'ओधिसो फरण' के ७ भेद होते हैं। इस तरह करुणा के १२ प्रकार हो जाते हैं। इनका अभ्यास करनेवाले पुद्गल भी १२ प्रकार के होते हैं। करुणा दुःखितसत्त्वप्रज्ञप्ति का आलम्बन करती है, अतः 'सब्बे सत्ता दुक्खा मुञ्चन्तु' – इस तरह इसकी पृथक् पृथक् १२ प्रकार से भावना की जाती है। करुणा के इन १२ प्रकारों का १० दिशाओं से गुणा करने पर यह १२० प्रकार की हो जाती है। यथा – 'पुरत्थिमाय दिसाय सब्बे सत्ता दुक्खा

---

१. द्र० – विभ० अ०, पृ० ३३१।

२. पटि० म०, पृ० ३७९-३८१; विसु०, पृ० २०१, २०९-२१०; विभ०, पृ० ३२७; विभ० अ०, पृ० ३८०-३८२; अट्ठ०, पृ० १५७-१५८।

३. द्र० – अभि० स० २ : ७ की व्याख्या, पृ० १७१-१७२।

मुञ्चन्तु'...इत्यादि। इन १२० प्रकारों में दिशाओं से रहित मूल १२ प्रकार मिला देने से इनकी कुल संख्या १३२ हो जाती है। यह करुणा न केवल दुःखित सत्त्वों का ही; अपितु जिनके दुश्चरित अत्यन्त बलवान् हैं तथा जिनका अनागत भव में अपायभूमि में उत्पाद सुनिश्चित है, ऐसे सुखी सत्त्वों का भी आलम्बन कर सकती है। अर्थात् इस प्रकार के पुद्गलों का आलम्बन करके भी करुणाभावना की जा सकती है[1]।

मुदिता – इसका वचनार्थ, लक्षण एवं प्रतिरूपिका मुदिता आदि का स्वरूप चैतसिक परिच्छेद में कहा जा चुका है[2]। यह भी 'अनोधिसो फरण' एवं 'ओधिसोफरण' भेद से द्विविध होती है। इनमें 'अनोधिसो फरण' के ५ तथा 'ओधिसोफरण' के ७=१२ प्रकार होते हैं। इनका अभ्यास करनेवाले पुद्गल भी १२ प्रकार के होते हैं। यह मुदिता सुखितसत्त्वप्रज्ञप्ति का आलम्बन करती है, अतः 'सब्बे सत्ता यथालद्धसम्पत्तितो मा विगच्छन्तु' – इस तरह इसकी पृथक् पृथक् १२ प्रकार से भावना की जाती है। मुदिता के इन १२ प्रकारों का १० दिशाओं से गुणा करने पर यह १२० प्रकार की हो जाती है। यथा – 'पुरत्थिमाय दिसाय सब्बे सत्ता यथालद्धसम्पत्तितो मा विगच्छन्तु'... इत्यादि। मुदिता के इन १२० प्रकारों में दिशाओं से रहित मूल १२ प्रकार मिला देने से इनकी कुल संख्या १३२ हो जाती है। इनकी भावना करनेवाले सत्त्व भी १३२ प्रकार के होते हैं[3]।

उपेक्खा – 'उपेक्खतीति उपेक्खा' जो धर्म उपेक्षा करता है, अर्थात् जिसका किसी आलम्बन के प्रति न राग होता है और न द्वेष, उसे 'उपेक्षा' कहते हैं। यह परमार्थरूप से 'तत्र-मज्झत्तता' चैतसिक है। यह मैत्री की तरह न तो अन्य सत्त्वों के हित की कामना करती है; न करुणा की भाँति अन्य सत्त्वों के दुःखों का प्रहाण करने की अभिलाषा करती है और न मुदिता के समान अन्य सत्त्वों की सुखसम्पत्ति देखकर सुख का अनुभव ही करती है; अपितु 'सब्बे सत्ता कम्मस्सका' अर्थात् सभी पुद्गल अपने अपने कर्म के धनी हैं, सब अपने कर्म के अनुसार फल भोगते हैं – इस प्रकार विचार करके उनके प्रति उपेक्षा का भाव रखती है। यह उपेक्षितसत्त्वप्रज्ञप्ति का आलम्बन करती है। यह भी 'अनोधिसोफरण' एवं 'ओधिसो फरण' भेद से दो प्रकार की होती है। करुणा की भाँति इसके भी १३२ प्रकार होते हैं। भावना करते समय 'सब्बे सत्ता दुक्खा मुञ्चन्तु' के स्थान पर 'सब्बे सत्ता कम्मस्सका' – इस प्रकार भावना की जाती है[4]। [उपेक्षा करनामात्र 'उपेक्षा ब्रह्मविहार' नहीं है। राग और द्वेष का ज्ञान (संवेदना) न होने से सत्त्वों के प्रति उपेक्षा करनेवाली एक अज्ञानोपेक्षा भी होती है, यह मोह है।]

---

१. द्र० – विसु०, पृ० २१३-२१४; विभ०, पृ० ३२८-३२९; अट्ठ०, पृ० १५८।

२. द्र० – अभि० स० २ : ७ की व्याख्या, पृ० १७२-१७४।

३. द्र० – विसु०, पृ० २१४-२१५; विभ०, पृ० ३३०-३३१; अट्ठ०, पृ० १५८।

४. द्र० – विसु०, पृ० २१५; विभ०, पृ० ३३१-३३२; अट्ठ०, पृ० १५९।

एका सञ्ञा

१०. आहारे पटिकूलसञ्ञा* एका सञ्ञा नाम ।

आहार में प्रतिकूल संज्ञा एक 'संज्ञा' नामक कर्मस्थान है ।

द्विविध उपेक्षा – १० पारमिताओं में परिगणित 'उपेक्षा पारमिता' और 'उपेक्षा ब्रह्मविहार' – इन दोनों में किञ्चिद् भेद होता है। उपेक्षा-पारमिता का स्वभाव मुख्यतः सत्त्वों के द्वारा अपने प्रति किये गये दुश्चरित या सुचरित का आलम्बन करके द्वेष करना या प्रसन्न होना नहीं है। उपेक्षा-ब्रह्मविहार का स्वभाव मुख्यतः सत्त्वों के प्रति मैत्री, करुणा या मुदिता न करके केवल उपेक्षामात्र करना है।

"कथं पन महाकारुणिका बोधिसत्ता सत्तेसु उपेक्खका होन्तीति ? न सत्तेसु उपेक्खका, सत्तकतेसु पन विप्पकारेसु उपेक्खका होन्तीति इदमेवेत्थ युत्तं[1] ।"

ब्रह्मविहार – 'विहरन्ति एतेहीति विहारा, ब्रह्मानो विहारा ब्रह्मविहारा' अर्थात् जिन मैत्री, करुणा आदि धर्मों द्वारा सत्पुरुष विहरण करते हैं, उन्हें 'विहार' कहते हैं। इन चार धर्मों में से किसी एक का सत्त्वों के प्रति स्फरण करके स्थित रहना ही 'ब्रह्म-विहार' (उत्तमविहार) कहलाता है। अथवा – ब्रह्मा के विहार की तरह होने से इन्हें 'ब्रह्मविहार' कहते हैं[2] ।

[ये चारों ब्रह्मविहार आलम्बन-कम्मट्ठान न होकर आलम्बनक-कम्मट्ठान होते हैं।]

एक संज्ञा

१०. सञ्ञा – आहार में जुगुप्साबुद्धि के उत्पाद के लिये भावना करना 'आहार में प्रतिकूल संज्ञा' है। यह प्रतिकूल संज्ञा आलम्बनक धर्म है। इस (संज्ञा) का आलम्बन-भूत कम्मट्ठान 'आहार' है। आहार में प्रतिकूल संज्ञा के उत्पाद के लिये १० नयों का विस्तारपूर्वक वर्णन विसुद्धिमग्ग में किया गया है। यहाँ उनका सङ्क्षेप में वर्णन किया जा रहा है।

"गमना एसना भोगा आसया च निधानतो।
अपक्का च पक्का फला निस्सन्दतो च मक्खना।
एवं दसहाकारेहि इक्खेय्य पटिकूलता[3] ॥"

आहार के प्राप्तिस्थान तक गमन, पर्येषण, भोग, आशय (पित्त, कफ, पीब, लोहित – ये चार आशय होते हैं), निधान (रहने के स्थान – उदर-आदि), अपरिपक्वता (उदर

---

*. पटिक्कूल ० – सी०, स्या०, रो०, ना० ।

१. सीलक्खन्धवग्गटीका ।

२. द्र० – विसु०, पृ० २१८; अट्ठ०, पृ० १५९-१६० ।

३. ब० भा० टी० । तु० – विसु०, पृ० २३४ । विस्तार के लिये द्र० – विसु० पृ० २३४-२३८ ।

एकं ववत्थानं

११. चतुधातुववत्थानं एकं ववत्थानं नाम।

चारों धातुओं का व्यवस्थान (निश्चय) करना एक 'व्यवस्थान' नामक कम्मट्ठान है।

चत्तारो आरुप्पा

१२. आकासानञ्चायतनादयो चत्तारो आरुप्पा नामा ति सब्बथा पि समथनिद्देसे चत्तालीस* कम्मट्ठानानि भवन्ति।

आकाशानन्त्यायतन-आदि चार 'आरूप्य' नामक कम्मट्ठान हैं। इस प्रकार शमथनिर्देश में सर्वथा कुल चालीस कम्मट्ठान होते हैं।

के अन्दर की अपरिपक्वावस्था), परिपक्वता (उदर के भीतर की परिपक्वावस्था), फल (केश, लोम, नख-आदि गन्दगी – इसके फल हैं), निष्यन्द (आहार के पच जाने पर कीचड़-आदि के रूप में निष्यन्द), म्रक्षण (खाने के समय मुख हाथ-आदि का लिपटना-आदि) – इन दस आकारों से आहार की प्रतिकूलता का प्रत्यवेक्षण करें।

एक व्यवस्थान

११. धातुव्यवस्थान – स्कन्ध में पुद्गल, सत्त्व, अहम्, अन्य-आदि संज्ञायें नष्ट कर 'यह चार महाभूतों का समुदाय है' – इस प्रकार के ज्ञान के प्रतिभास के लिये चार महाभूतों का पृथक् पृथक् व्यवस्थापन (निर्धारण) करनेवाला ज्ञान 'धातुव्यवस्थान' है। जैसे – स्कन्ध में 'केसा लोमा...' से लेकर 'मत्थुलुङ्गं' तक २० कोट्ठासों में पृथ्वी का आधिक्य होने से उन्हें 'पृथ्वी धातु' तथा पित्तं...से मुत्तं तक १२ कोट्ठासों में अप्धातु का आधिक्य होने से उन्हें 'अप् धातु' कहते हैं। रूपपरिच्छेद में कहे गये सन्तपन-आदि चार तेजोधातु भी स्कन्ध में होते हैं। तथा ६ वायुधातु भी होते हैं, यथा – ऊर्ध्वंगम वात, अधोगम वात, कुक्षिशय वात, कोष्ठाशय वात, आश्वास-प्रश्वास वात, एवं अङ्गप्रत्यङ्गानुसारी वात। इस प्रकार स्कन्ध में संक्षेप से चार धातु तथा विस्तार से ४२ धातु होते हैं। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं[1]।

चार आरूप्य

१२. आरूप्य – आकाशानन्त्यायतन आदि चार अरूप धर्मों का वचनार्थ, लक्षण, एवं आलम्बन-आदि चित्तपरिच्छेद में कहे जा चुके हैं[2]। उनकी कम्मट्ठान-विधि आगे कही जायगी।

---

*. चत्ताळीस – सी०; चत्ताळीसं – स्या०।

१. विस्तार के लिये द्र० – विसु०, पृ० २३८-२४१।

२. द्र० – अभि० स० १:२२ की व्याख्या, पृ० ७२-७५।

कम्मट्ठानों का भूमि के आधार पर विभाग – देवलोक में अशुभ कम्मट्ठान नहीं होते; क्योंकि वहाँ च्युतिकाल में स्कन्ध का निरोध दीपक के निर्वाण की तरह होता है, अर्थात् कुछ अवशिष्ट नहीं रहता। वहाँ शव (मृतशरीर) प्राप्य नहीं है। केश, लोम आदि कुछ कोट्ठास होते हैं; किन्तु वे कुत्सित न होकर शोभासम्पन्न होते हैं। तथा वहाँ कुत्सित उदर्य (उदरगतभोजन), करीष (मल), थूक (क्ष्वेड), श्लेष्म, नासिकालसिका (सिंघाणिका)-आदि सर्वथा नहीं होते। आहार भी वहाँ अमृत होता है, अतः उसमें प्रतिकूलसंज्ञा नहीं की जा सकती।

अतः देवभूमि में दस अशुभ, कायगतासति एवं आहार में प्रतिकूल संज्ञा – ये १२ कम्मट्ठान नहीं होते।

रूपी ब्रह्मभूमियों में आश्वासप्रश्वास भी नहीं होते, अतः वहाँ उपर्युक्त १२ कम्मट्ठानों के साथ आनापानसति भी नहीं होती। इस तरह इन ब्रह्मभूमियों में १३ कम्मट्ठान नहीं होते।

अरूपभूमि में केवल 'आरूप्य' नामक ४ कम्मट्ठान ही यथायोग्य होते हैं। अर्थात् ऊपर ऊपर की भूमियों में नीचे नीचे के कम्मट्ठान नहीं होते।

इस मनुष्यभूमि में सभी चालीस कम्मट्ठान उपलब्ध होते हैं[1]।

परमार्थ एवं प्रज्ञप्ति – चालीस कम्मट्ठानों में १० कसिण, १० अशुभ, कायगतासति की आलम्बनभूत 'कोट्ठास'-प्रज्ञप्ति, आनापानसति की आलम्बनभूत 'आनापान' प्रज्ञप्ति, चार ब्रह्मविहारों की आलम्बनभूत ४ सत्त्वप्रज्ञप्ति [प्रिय (मनाप) सत्त्वप्रज्ञप्ति, दुःखितसत्त्वप्रज्ञप्ति, सुखितसत्वप्रज्ञप्ति, एवं मध्यस्थसत्त्वप्रज्ञप्ति], चार आरूप्य धर्मों में से प्रथम आरूप्यविज्ञान की आलम्बनभूत आकाशप्रज्ञप्ति एवं तृतीय आरूप्यविज्ञान की आलम्बनभूत 'नास्तिभावप्रज्ञप्ति' – इस प्रकार ये २८ कम्मट्ठान 'प्रज्ञप्तिकम्मट्ठान' हैं।

बुद्धानुस्मृति-आदि के आलम्बनभूत शील, समाधि, प्रज्ञा-आदि बुद्धगुण परमार्थ धर्म हैं। आहार भी रूप-परमार्थ है। चार धातु (महाभूत), द्वितीय एवं चतुर्थ आरूप्य के आलम्बनभूत प्रथम एवं तृतीय आरूप्यविज्ञान भी परमार्थ धर्म हैं। अतः प्रथम ८ अनुस्मृतियों के ८ आलम्बन, आहार, चतुर्धातुव्यवस्थान एवं २ आरूप्य=१२ कम्मट्ठान परमार्थ कम्मट्ठान हैं।

कम्मट्ठानसमुद्देश समाप्त।

---

१. विसु०, पृ० ७७।

सप्पायभेदो

१३. चरितासु पन दस असुभा, कायगतासतिसङ्खाता कोट्ठासभावना च* रागचरितस्स सप्पाया।

१४. चतस्सो अप्पमञ्ञायो, नीलादीनि च चत्तारि कसिणानि दोसचरितस्स।

१५. आनापानं† मोहचरितस्स वितक्कचरितस्स च।

१६. बुद्धानुस्सति-आदयो छ सद्धाचरितस्स।

१७. मरण-उपसम-सञ्ञा-ववत्थानानि‡ बुद्धिचरितस्स।

१८. सेसानि पन सब्बानि पि कम्मट्ठानानि सब्बेसं पि सप्पायानि।

१९. तत्थापि कसिणेसु पुथुलं मोहचरितस्स, खुद्दकं वितक्कचरितस्सेवा§ ति§।

अयमेत्थ सप्पायभेदो।

चरितों में से १० अशुभ एवं कायगतासति नामक कोट्ठासभावना रागचरित के लिये अनुकूल (उपयुक्त) है।

४ अप्रामाण्यायें एवं नील-आदि ४ कसिण द्वेषचरित के लिये अनुकूल हैं।

आनापानसति मोहचरित एवं वितर्कचरित के लिये अनुकूल है।

बुद्धानुस्मृति-आदि ६ अनुस्मृतियाँ श्रद्धाचरित के लिये अनुकूल हैं।

मरणानुस्मृति, उपशमानुस्मृति, संज्ञा एवं चतुर्धातु-व्यवस्थान बुद्धिचरित के लिये अनुकूल हैं।

शेष सभी कम्मट्ठान सभी पुद्गलों के अनुकूल हैं।

उनमें भी १० कसिणों में से स्थूल कसिण मोहचरित के लिये तथा सूक्ष्म कसिण ही वितर्कचरित पुद्गल के लिये अनुकूल होते हैं।

इस कम्मट्ठानसङ्ग्रह में यह 'सप्पायभेद' है।

सप्पायभेद

१३-१९. किस चरित के पुद्गल के लिये कौन कम्मट्ठान अनुरूप होता है ? — इस आशय से किये गये विभाग को 'सप्पायभेद' कहते हैं। ६ चरितों में राग, द्वेष, मोह एवं वितर्क — ये चरित अकुशल या बुरे चरित हैं, अतः इनका प्रहाण करने के लिये इनके,

---

*. ना० में नहीं।   †. आणापानं — रो०।   ‡. ०वुपसमा० — रो०।

§-§. ०चरितस्सेव — सी०, रो०; ०चरितस्सा ति — स्या०।

प्रतिकूल कम्मट्ठानों की भावना करनी चाहिये। श्रद्धा, प्रज्ञा – ये कुशल या अच्छे चरित हैं, अतः इनकी वृद्धि के लिये इन चरितों से अनुकूल कम्मट्ठान की भावना करनी चाहिये।

(क) दस असुभ एवं कायगतासति नामक कोट्ठास-कम्मट्ठान – इस तरह ये ११ कम्मट्ठान रागचरितवालों के अनुरूप कम्मट्ठान हैं। इनकी भावना से रागाग्नि का उपशम होता है।

(ख) द्वेषचरित पुद्गल यदि अनिष्ट का आलम्बन करेगा, तो द्वेष की वृद्धि ही होगी, अतः द्वेष से रहित होने के लिये उसे मैत्री-आदि चार अप्पमञ्ञा, तथा नील, पीत, लोहित एवं अवदात नामक चार कसिण – इस प्रकार ८ कम्मट्ठानों की भावना करनी चाहिये।

(ग) मोहचरित पुद्गल का चित्त चञ्चल एवं उद्धत होता है; क्योंकि वह विचिकित्सा एवं औद्धत्य से सम्प्रयुक्त होता है।

वितर्कचरित वाले पुद्गल का चित्त भी तर्कबहुल होने से चञ्चल ही होता है।

अतः इन दोनों प्रकार के चरितवालों के लिये आनापानसति कम्मट्ठान सबसे अधिक अनुकूल पड़ता है; क्योंकि आनापानकम्मट्ठान में आश्वास-प्रश्वास का विधिपूर्वक आलम्बन किया जाने से चञ्चल एवं उद्धत चित्त पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है।

(घ) स्वभाव से ही श्रद्धावान् पुद्गल जब बुद्ध-आदि आलम्बनों को प्राप्त करता है, तो उसकी श्रद्धा और अभिवृद्ध होने लगती है, अतः उनके लिये बुद्ध, धर्म, संघ, शील, त्याग एवं देवतानुस्मृति–ये ६ कम्मट्ठान अनुकूल पड़ते हैं।

(ङ) प्रज्ञाचरितवाले पुद्गल को जब सूक्ष्म एवं गम्भीर आलम्बन की प्राप्ति होती है, तो उसकी प्रज्ञा और तीव्र एवं प्रखर हो उठती है, अतः सूक्ष्म एवं गम्भीर मरणानुस्मृति एवं उपशमानुस्मृति, आहार में प्रतिकूलसंज्ञा एवं चतुर्धातुव्यवस्थान नामक कम्मट्ठान उनके लिये और उनकी प्रज्ञा को बढ़ाने के लिये अनुकूल होते हैं।

(च) उपर्युक्त कम्मट्ठानों से अवशिष्ट पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, आकाश, एवं आलोक नामक ६ कसिण एवं ४ आरूप्य = १० कम्मट्ठान सभी प्रकार के पुद्गलों के लिये (चाहे उनका कोई भी चरित हो) अनुकूल होते हैं।

इन कसिणों में भी स्थूल आकारवाले कसिणमण्डल[1] मोहचरित पुद्गल के अनुकूल पड़ते हैं; क्योंकि स्वभावतः संमूढ होने के कारण वे सूक्ष्म कसिण-

---

१. चार बैलों द्वारा दँवरी किये जानेवाले स्थान जितने आकारवाले पृथ्वी-आदि कसिणमण्डल स्थूल कसिणमण्डल कहलाते हैं।

भावनाभेदो

२०. भावनासु पन सब्बत्थापि परिकम्मभावना लब्भतेव।

भावनाओं में से परिकर्म भावना सभी कर्मस्थानों में प्राप्त होती ही है।

मण्डल में और अधिक मोह को प्राप्त हो सकते हैं। अतः उनके लिये स्थूल कसिणमण्डल ही अनुकूल हैं।

वितर्कचरित पुद्गल के लिये सूक्ष्म (एक बालिश्त चार अङ्गुल) कसिण-मण्डल अनुकूल पड़ता है; क्योंकि वितर्कचरित पुद्गल का चित्त स्वभावतः अनवस्थित होता है। आलम्बन भी यदि पृथु होगा, तो उसकी अनवस्थितता में और वृद्धि ही होगी। अतः उनके लिये क्षुद्र कसिणमण्डल ही अनुकूल होता है[1]।

अनुकूल कम्मट्ठानों को चुनने के लिये यह 'सप्पायभेद' विशेषरूप से कहा गया है। सामान्य रूप से तो सभी कम्मट्ठान राग-आदि दुश्चरितों का प्रहाण कर श्रद्धा, प्रज्ञा-आदि की अभिवृद्धि करनेवाले होते हैं। अतः सभी चरित के सभी पुद्गलों के लिये सभी कम्मट्ठान अनुकूल ही होते हैं।

सप्पायभेद समाप्त।

भावनाभेद

२०. भावना तीन प्रकार की होती है, यथा—परिकर्म भावना, उपचार भावना एवं अर्पणा भावना।

'परिकरोतीति परिकम्मं' के अनुसार ऊपर ऊपर की भावनाओं को सिद्ध करने-वाली पूर्व भावना 'परिकर्म भावना' है। जैसे—सम्बद्ध किसी कम्मट्ठान का आलम्बन करके मुख से 'पृथ्वी, पृथ्वी' आदि उच्चारण करना या चित्त में आलम्बन धारण करना—इस तरह सर्वप्रथम की जानेवाली भावना 'परिकर्म भावना' कहलाती है। कोई भी कम्मट्ठान इस भावना के बिना सिद्ध नहीं हो सकता। अर्थात् सभी कम्मट्ठान-भावनायें परिकर्मभावना से ही प्रारम्भ की जाती हैं। चूंकि इससे आरम्भ करके ही ऊपर की भावनायें प्राप्त की जा सकती हैं, अतः 'सब्बत्थापि परिकम्मभावना लब्भतेव' कहा गया है। अर्थात् परिकर्मभावना सभी कम्मट्ठानों में प्राप्त होती ही है।

'उप (समीपे) चरति पवत्ततीति उपचारो' अर्थात् अर्पणा भावना के समीप प्रवृत्त होनेवाली भावना 'उपचार भावना' है। जिस तरह ग्राम का समीपवर्ती प्रदेश 'ग्रामोपचार' तथा गृह का समीपवर्ती प्रदेश 'गृहोपचार' कहलाता है, उसी प्रकार अर्पणा-भावना के समीप होनेवाली, उससे पूर्ववर्ती भावना 'उपचारभावना' कही जाती है।

'अप्पोति निविसतीति अप्पना' अर्थात् उपचार भावना से अधिक दृढ़ होकर आल-म्बन में निविष्ट होनेवाला ध्यान 'अर्पणाभावना' कहलाता है[2]।

---

१. द्र०—विसु०, पृ० ७७।

२. द्र०—विसु०, पृ० ९३।

२१. बुद्धानुस्सति-आदीसु* अट्ठसु सञ्ञाववत्थानेसु चा ति दससु कम्मट्ठानेसु उपचारभावना व† सम्पज्जति, नत्थि अप्पना।

२२. सेसेसु पन समतिंसकम्मट्ठानेसु‡ अप्पनाभावना पि सम्पज्जति।

बुद्धानुस्मृति-आदि ८ कर्मस्थान, संज्ञा (आहार में प्रतिकूल संज्ञा) एवं व्यवस्थान (चतुर्धातुव्यवस्थान) – इस प्रकार १० कर्मस्थानों में उपचार भावना ही सम्पन्न होती है, उनमें अर्पणा भावना नहीं ही होती।

शेष ३० कर्मस्थानों में अर्पणाभावना भी सम्पन्न होती है।

२१-२२. बुद्धानुस्मृति-आदि ८ अनुस्मृतियाँ, आहार में प्रतिकूल संज्ञा एवं चतुर्धातु-व्यवस्थान – इन १० कम्मट्ठानों की भावना करने पर उपचार भावना की ही प्राप्ति की जा सकती है, अर्पणा नामक ध्यान की प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि बुद्धगुण-आदि आलम्बन परमार्थ धर्म होने से अत्यन्त गम्भीर होते हैं। अतः जिस प्रकार अत्यन्त गम्भीर एवं अगाध जल में अरित्र (खूंटा) ठोंक कर नाव स्थिर नहीं की जा सकती, फलतः वह अस्थिर ही रहती है, उसी प्रकार बुद्धगुण-आदि आलम्बनों में वितर्क-आदि ध्यानाङ्ग दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित नहीं हो पाते, फलतः अर्पणा भावना की प्राप्ति नहीं हो सकती। अपि च – बुद्धगुण-आदि आलम्बन अनेक होते हैं। उन अनेक गुणों की भावना करते समय एक गुण में ही सन्तुष्ट न हो पाने के कारण एक गुण के बाद दूसरे गुण की भावना करने लगने से, एक आलम्बन में होनेवाले ध्यान की भाँति इन गुणों में ध्यान प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। इस तरह परमार्थ आलम्बन होने के कारण गम्भीर होने से तथा अनेकविध आलम्बन होने से बुद्धानुस्मृति आदि ७ कर्मस्थानों में अर्पणाभावना की प्राप्ति नहीं हो सकती।

मरणानुस्मृति, आहार में प्रतिकूल संज्ञा एवं चतुर्धातुव्यवस्थान – ये कम्मट्ठान भी परमार्थ आलम्बन होने के कारण अतिगम्भीर होते हैं, अतः इनमें भी अर्पणा की प्राप्ति नहीं हो सकती[1]।

"परमत्थगम्भीरत्तानेकत्तानेकलम्बतो।
बुद्धानुस्सति-आदीसु उपचारो व नाप्पना[2]॥"

निर्वाण एवं महग्गत परमार्थ आलम्बन – निर्वाण-आदि आलम्बन परमार्थधर्म होने से अतिगम्भीर होने पर भी शीलविशुद्धि, चित्तविशुद्धि-आदि विशुद्धिक्रम एवं सम्मर्शन आदि ज्ञानक्रम द्वारा क्रमशः धीरे-धीरे आगे बढ़ते जाने के कारण भावना बलवती

---

*. ०आदिसु – सी०, रो०, ना०। †. स्या० में नहीं। ‡. समतिंस० – स्या०, रो०, म० (क)।

1. विसु०, पृ० ७५; प० दी०, पृ० ३६५।

2. ब० भा० टी०।

२३. तत्थापि दस कसिणानि आनापानञ्च पञ्चकज्झानिकानि* ।

२४. दस असुभा कायगतासति च पठमज्झानिका ।

२५. मेत्तादयो तयो चतुक्कज्झानिका

२६. उपेक्खा पञ्चमज्झानिका ति छब्बीसति रूपावचरज्झानिकानि कम्मट्ठानानि ।

२७. चत्तारो पन आरुप्पा आरुप्पज्झानिका ति† ।

अयमेत्थ भावनाभेदो ।

उन (अवशिष्ट) ३० कम्मट्ठानों में से १० कसिण एवं आनापानस्मृति पाँचों ध्यानों से सम्प्रयुक्त होते हैं ।

१० अशुभ एवं कायगतास्मृति प्रथम ध्यान से सम्प्रयुक्त होते हैं ।

मैत्री-आदि तीन ब्रह्मविहार चार ध्यानों से सम्प्रयुक्त होते हैं ।

उपेक्षानामक ब्रह्मविहार केवल पञ्चम ध्यान से ही सम्प्रयुक्त होता है – इस प्रकार २६ कम्मट्ठान रूपावचर ध्यानों से सम्प्रयुक्त होते हैं ।

चार आरूप्य कम्मट्ठान चार आरूप्य ध्यानों से सम्प्रयुक्त होते हैं ।

इस कम्मट्ठानसङ्ग्रह में यह भावनाभेद है ।

होती जाती है, अतः भावनाक्रम के बल से उन (निर्वाण-आदि) आलम्बनों का आलम्बन करके लोकोत्तर अर्पणा की प्राप्ति की जा सकती है ।

अरूपध्यान नीचे नीचे के ध्यानों के आलम्बनों का अतिक्रमण करके क्रमशः प्राप्त होते हैं, अतः वे नीचे नीचे के ध्यानों का अतिक्रमण करने में सामर्थ्यवाली भावना के बल से ऊपर ऊपर के परमार्थ आलम्बनों का आलम्बन करके अर्पणाभावना की प्राप्ति कर सकते हैं ।

"परमत्थगम्भीरे पि भावना-अनुकम्मतो ।
लोकुत्तरो आरुप्पा तु आलम्बसमतिक्कमा[1] ॥"

२३-२७. कम्मट्ठान एवं ध्यान – अर्पणा भावना को प्राप्त कराने में समर्थ ३० कम्मट्ठानों में से १० कसिण एवं आनापानस्मृति = ११ कम्मट्ठानों में से किसी एक की भावना करने से प्रथम ध्यान से लेकर पञ्चम ध्यान तक की प्राप्ति हो सकती है ।

---

*. ०ज्झानिका – रो०; पञ्चकज्झानिकानि – म० (क) (सर्वत्र) । †. अरूपज्झानिका – सी०, स्या० ।

१. ब० भा० टी० ।

१० अशुभ एवं कायगतास्मृति=११ कम्मट्ठानों में से किसी एक की भावना करने से केवल प्रथम ध्यान की ही प्राप्ति होती है।

४ ब्रह्मविहारों में से मैत्री, करुणा या मुदिता की भावना से प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ ध्यान तक प्राप्त किये जा सकते हैं।

उपेक्षा ब्रह्मविहार की भावना से केवल पञ्चम ध्यान की ही प्राप्ति होती है[1]।

अशुभ एवं कायगतास्मृति – १० अशुभ एवं कायगतास्मृति के आलम्बन चण्ड एवं कुत्सित होते हैं। जिस प्रकार प्रचण्ड धारा में नाव यदि अरित्र गाड़ कर स्थिर नहीं की जाती है, तो वह स्थिर नहीं रह सकती, उसी प्रकार कुत्सित (बीभत्स) आलम्बनों में यदि चित्त को आरोपित करनेवाला वितर्करूपी अरित्र नहीं होता है, तो आलम्बन में चित्तसन्तति स्थिर नहीं रह सकती। अतः अशुभ-आदि का आलम्बन करके वितर्करहित द्वितीय आदि ध्यान प्राप्त नहीं हो सकते।

"नावा अरित्तबलेन चण्डसोतम्हि तिट्ठति।
एवासुभेसु चित्तं पि तक्कबलेन तिट्ठति।
तेनेत्थ पठमं झानं न होन्ति दुतियादिनि[2]॥"

मैत्री-करुणा-मुदिता – मैत्री-आदि तीन धर्म, दौर्मनस्य से उत्पन्न व्यापाद, विहिंसा एवं अनभिरति से सर्वथा विमुक्त धर्म हैं। सत्त्वों के प्रति प्रेम के साथ-साथ उनके हितसम्पादन का इच्छुक धर्म 'मैत्री' कहलाता है। सत्त्वों के प्रति द्वेष रखनेवाला धर्म 'व्यापाद' है। यदि व्यापाद अर्थतः द्वेष है, तो दौर्मनस्य से सम्प्रयुक्त होने के कारण वह (व्यापाद) 'दौर्मनस्य से उत्पन्न धर्म है' – ऐसा कहा जा सकता है। फलतः दौर्मनस्य से उत्पन्न द्वेष से विमुक्त मैत्री एकान्ततः सौमनस्य से ही सम्प्रयुक्त हो सकती है। अतः मैत्री कम्मट्ठान से सौमनस्यसम्प्रयुक्त नीचे के ४ रूपध्यान ही प्राप्त हो सकते हैं।

करुणा दुःखी सत्त्वों के प्रति अत्यन्त दयार्द्र होती है। विहिंसा न केवल सत्त्वों के प्रति अकारुणिक ही होती है; अपितु उनकी हिंसा चाहनेवाली भी होती है। वह (विहिंसा) दौर्मनस्य से उत्पन्न द्वेष ही है। अतः विपरीत स्वभाववाली होने से विहिंसा से विमुक्त करुणा एकान्ततः सौमनस्य से ही सम्प्रयुक्त होती है। फलतः करुणा कम्मट्ठान से सौमनस्यसम्प्रयुक्त नीचे के ४ रूपध्यान ही प्राप्त हो सकते हैं।

मुदिता सत्त्वों की सुख-सम्पत्ति देखकर प्रसन्नता का अनुभव करनेवाला धर्म है। अनभिरति दूसरों का सुख एवं सम्पत्ति देखकर अभिरमण न करनेवाला द्वेष है। अतः अनभिरति से विपरीत स्वभाववाली मुदिता दौर्मनस्य से विपरीत सौमनस्य से ही सम्प्रयुक्त हो सकती है। फलतः मुदिता कम्मट्ठान से भी नीचे के ४ रूपध्यान ही प्राप्त हो सकते हैं।

"मेत्तादयो तयो पुब्बा दोमनस्सजनिस्सरा।
सोमनस्साविप्पयोगा हेट्ठाचतुक्कझानिका[3]॥"

---

१. विसु०, पृ० ७५। २. ब० भा० टी०। ३. ब० भा० टी०।

गोचरभेदो

२८. निमित्तेसु पन परिकम्मनिमित्तं उग्गहनिमित्तञ्च सब्बत्थापि यथारहं परियायेन लब्भन्तेव* ।

निमित्तों में परिकर्म निमित्त एवं उद्ग्रह निमित्त सभी कम्मट्ठानों में यथायोग्य पर्याय से उपलब्ध होते हैं ।

उपेक्षा – सत्त्वों के प्रति उपेक्षास्वभाववाला उपेक्षाब्रह्मविहार जब अर्पणा को प्राप्त होता है, तब वह उपेक्षा वेदना से ही सम्प्रयुक्त होता है । अतः उपेक्षा-ब्रह्मविहार द्वारा उपेक्षा अङ्गवाले पञ्चम ध्यान की ही प्राप्ति हो सकती है ।

मैत्री-आदि तीन भावनाओं में से किसी एक भावना द्वारा नीचे के ४ ध्यानों को प्राप्त करके ही उपेक्षा-ब्रह्मविहार की भावना की जा सकती है; क्योंकि सम आलम्बन अपेक्षित होता है और यहाँ सत्त्वप्रज्ञप्ति सम आलम्बन है । कसिण-आदि कम्मट्ठान की भावना द्वारा नीचे के ४ ध्यानों को प्राप्त योगी उपेक्षाब्रह्मविहार की भावना नहीं कर सकता; क्योंकि यहाँ आलम्बन विषम हो जाता है, केवल उपेक्षाब्रह्मविहार की भावना करने से पञ्चम ध्यान की प्राप्ति नहीं की जा सकती ।

"मज्झत्तवेदनायोगा पञ्चमे जातुपेक्खका ।
मेत्तादीहि च लद्धज्झानिकस्सेवेस वत्तति[1] ।।"

उपर्युक्त कथन के अनुसार प्रथम ध्यान के आलम्बनभूत कम्मट्ठान २५ तथा द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ ध्यानों के आलम्बनभूत कम्मट्ठान १४ (१० कसिण, १ आनापानसति, ३ मैत्री-आदि) होते हैं । उपेक्षा-ब्रह्मविहार पञ्चम ध्यान से ही सम्प्रयुक्त होता है । अतः पञ्चम ध्यान के आलम्बनभूत कम्मट्ठान १२ (१० कसिण, १ आनापानसति, १ उपेक्षाब्रह्मविहार) होते हैं । इस प्रकार रूपध्यानों को प्राप्त कराने में समर्थ कम्मट्ठान कुल २६ होते हैं, यथा – १० कसिण, १० अशुभ, १ कोट्ठासपञ्ञत्ति, १ आनापानसति एवं ४ ब्रह्मविहार ।

भावनाभेद समाप्त ।

गोचरभेद

२८. 'निमित्त' शब्द कारण अर्थ में प्रयुक्त होता है । अतः भावना का आलम्बनभूत कारण यहाँ 'निमित्त' कहा गया है । वह तीन प्रकार का होता है, यथा – परिकर्मनिमित्त, उद्ग्रहनिमित्त एवं प्रतिभागनिमित्त ।

---

*. लब्भतेव – स्या० ।

१. ब० भा० टी० ।

इन निमित्तों में से परिकर्मभावना का आलम्बन 'परिकर्मनिमित्त' कहलाता है। जब कम्मट्ठानभावना आरम्भ की जाती है, तब उस भावना के आलम्बनभूत पृथ्वीकसिण-आदि 'परिकर्मनिमित्त' कहे जाते हैं।

'पृथ्वी, पृथ्वी' आदि भावना करने के अनन्तर जब वे पृथ्वी-आदि आलम्बन आँख मूंद लेने पर आँखों से न दिखलाई पड़ने पर भी खुली आँखों से देखने की तरह चित्त द्वारा ग्रहण किये जा सकने लगें, तब वे आलम्बन 'उद्ग्रहनिमित्त' कहलाते हैं। उनका 'उग्गहेतब्बं ति उग्गहं' – ऐसा विग्रह करना चाहिये।

'प्रतिभाग' शब्द सदृश अर्थ में प्रयुक्त होता है। मूल कसिणमण्डल के सदृश चित्त में प्रतिभासित आलम्बन 'प्रतिभागनिमित्त' कहलाता है[1]।

परिकम्मनिमित्तं...लब्भन्तेव – यद्यपि सभी (चालीसों) कम्मट्ठानों में परिकर्म-निमित्त एवं उद्ग्रहनिमित्त उपलब्ध होते हैं; तथापि वे यथायोग्य पर्याय से (गौणरूप) (मुख्यरूप से नहीं) उपलब्ध होते हैं। 'यथायोग्य पर्याय से' इस वाक्य का अर्थ यह है कि उन दोनों निमित्तों का विभाजन चालीसों कम्मट्ठानों में स्पष्टरूप से नहीं किया जा सकता। कुछ कम्मट्ठानों में तो मुख्यरूप से विभाजन हो सकता है; किन्तु कुछ में पर्याय (गौणरूप) से होता है। यथा –

जब पृथ्वीकसिण मण्डल का निर्माण करके उसकी 'पृथ्वी, पृथ्वी' – इस तरह मुख द्वारा उच्चारण करते हुये या आँखों से देखते हुये भावना की जाती है, उस समय वह पृथ्वीकसिण मण्डल 'परिकम्मनिमित्त' है। इसके अनन्तर पृथ्वीकसिण मण्डल से हटकर, अनुरूप स्थान में बैठ उस पृथ्वीकसिण मण्डल का आलम्बन करके भावना करते समय, जब वह (कसिणमण्डल) आँखों से दिखाई देने की तरह स्पष्टतया चित्त द्वारा ग्रहण किया जाने लगता है, उस समय चित्त द्वारा गृहीत वह कसिणमण्डल 'उद्ग्रहनिमित्त' है। इस प्रकार जिन २२ कम्मट्ठानों में प्रतिभाग निमित्त होता है, उनमें परिकम्मनिमित्त एवं उद्ग्रह निमित्त का विभाजन मुख्य रूप से किया जा सकता है।

जिन बुद्धानुस्मृति-आदि १८ कम्मट्ठानों में प्रतिभागनिमित्त उत्पन्न नहीं होता उन कम्मट्ठानों में भावना के प्रारम्भ से ही चित्त द्वारा भावना करनी पड़ती है, अतः किस क्षण में परिकम्मनिमित्त होगा एवं किस क्षण में उद्ग्रहनिमित्त होगा – ऐसा विभाजन करके निश्चय नहीं किया जा सकता। किन्तु बुद्धगुण-आदि आलम्बन जब चित्त में स्पष्ट रूप से अवभासित नहीं होते, तब उन्हें 'परिकम्मनिमित्त' तथा जब स्पष्ट रूप से अवभासित होते हैं, तब उन्हें 'उद्ग्रहनिमित्त' कह सकते हैं, अतः इन आलम्बनों में इन निमित्तों का विभाजन पर्याय से ही किया जा सकता है[2]।

---

१. द्र० – विसु०, पृ० ८४-८५।

२. द्र० – नव० टी०, पृ० १६२।

२९. पटिभागनिमित्तं पन कसिणासुभकोट्ठासानापानेस्वेव लब्भति। तत्थ हि पटिभागनिमित्तमारब्भ उपचारसमाधि अप्पनासमाधि च पवत्तन्ति।

प्रतिभाग निमित्त कसिण, अशुभ, कोट्ठास एवं आनापानस्मृति में ही उपलब्ध होता है। इन (कसिणआदि) में प्रतिभागनिमित्त का आलम्बन करके उपचारसमाधि एवं अर्पणासमाधि प्रवृत्त होती हैं।

३०. कथं?

आदिकम्मिकस्स हि पथवीमण्डलादीसु* निमित्तं उग्गण्हन्तस्स तमारमणं† परिकम्मनिमित्तं ति पवुच्चति; सा च भावना परिकम्मभावना नाम।

कैसे? पृथ्वीमण्डल-आदि में निमित्त को ग्रहण कर रहे आदिकर्मिक योगी का वह निमित्त (आलम्बन) 'परिकर्मनिमित्त' कहा जाता है और परिकर्मनिमित्त को आलम्बन करनेवाला वह भावनाचित्त परिकर्मभावना कहलाता है।

---

२९. बुद्धानुस्मृति-आदि कम्मट्ठान भावना के प्रारम्भ में भी और भावना की परिपक्वावस्था में भी वही बुद्धगुण-आदि ही होते हैं। किसी भी अवस्था में किसी प्रकार के प्रतिरूपक आलम्बन प्रतिभासित नहीं होते। अर्थात् स्वाभाविक बुद्धगुण-आदि आलम्बन ही विभूततया प्रतिभासित होते हैं। अतः बुद्धानुस्मति-आदि ८ अनुस्मृतियाँ, प्रतिकूल संज्ञा १, चतुर्धातुव्यवस्थान १, ब्रह्मविहार ४ एवं आलोक-आदि ४=१८ कम्मट्ठानों में प्रतिभागनिमित्त प्रादुर्भूत नहीं हो सकता। केवल कसिण १०, अशुभ १०, कोट्ठासपञ्ञत्ति (कायगतास्मृति) १, आनापानस्मृति १=२२ आलम्बनों में ही प्रतिभागनिमित्त प्राप्त हो सकता है।

३०. **पृथ्वीकसिण की भावनाविधि**—कामगुणों में दोष देखकर ध्यान, मार्ग एवं फल की एकान्त अभिलाषा करनेवाला कल्याण पृथग्जन स्वसम्बद्ध शील (गृहस्थ योगी के लिये अष्टशील एवं भिक्षु के लिये चतुःपारिशुद्धिशील[1]) का विशोधन करके या उनका सम्यक् परिपालन करके दशविध पलिबोधों[2] (विघ्नों) का समुच्छेद करके प्रिय एवं गुरुभावनीय-आदि गुणों से समन्वागत कल्याणमित्र के समीप जाकर अपनी चर्या के अनुकूल कर्मस्थान ग्रहण करे, तदन्तर १८ प्रकार के अननुरूप विहार[3] का परिवर्जन एवं

---

*. ०दिसु—सी०, रो०, ना० (सर्वत्र)।   †. तमालम्बनं—स्या० ('आलम्बनं' सर्वत्र); तमालम्बणं—रो०।

१. द्र०—विसु०, पृ० २१।

२. "आवासो च कुलं लाभो गणो कम्मञ्च पञ्चमं।
अद्धानं ञाति आबाधो गन्थो इद्धीति ते दसा ति।"—विसु०, पृ० ६१।

३. द्र०—विसु०, पृ० ८०।

३१. यदा पन तं निमित्तं चित्तेन समुग्गहितं होति, चक्खुना पस्सन्त-

जब वह निमित्त चित्त द्वारा भलीभाँति (सम्यग्) गृहीत हो जाता है, चक्षु से देख रहे कि भाँति मनोद्वार के अभिमुख निपात को प्राप्त

पाँच अङ्गों से सम्पन्न अनुरूप विहार[1] का समादान करते हुये केश, नख-आदि क्षुद्र (छोटे) विघ्नों[2] को पहले ही दूर कर कम्मट्ठानभावना प्रारम्भ करे[3]।

पथवीमण्डलादीसु – जिस साधक ने पूर्व जन्म में पृथ्वीकसिण मण्डल की भावना करके ध्यान प्राप्त कर लिया है, उसके लिये कसिणमण्डल बनाना आवश्यक नहीं है। उसे प्राकृत पृथ्वी देखकर ही 'पृथ्वी, पृथ्वी' – इस प्रकार भावना करने से प्रतिभागनिमित्त प्रतिभासित हो सकता है। पूर्व जन्म के अनभ्यस्त योगी को नील, पीत, लोहित एवं अवदात कसिणों से मिश्रण न हो जाये इसलिये इन वर्णों से भिन्न भूरे रंग की मिट्टी लेकर काष्ठफलक या वस्त्रखण्ड पर उसका लेप करके कम से कम एक बालिश्त चार अङ्गुल प्रमाण का गोल कसिणमण्डल बनाना चाहिये तथा उस गोले को नीलवर्ण के किनारे से घेर देना चाहिये। बनाते समय मिट्टी से तृण, कंकण-आदि निकालकर भेरी के पृष्ठतल की तरह बिलकुल सममण्डल का निर्माण करना चाहिये अर्थात् मण्डल ऊबड़ खाबड़ न हो। इस प्रकार बनाकर उसे इष्ट एकान्त स्थान पर ले जाकर रखना चाहिये। उस स्थान की सफाई कर, आसन बिछा, न अधिक दूर न अधिक समीप, जहाँ से मण्डल अच्छी प्रकार दिखाई दे (सवा हाथ की दूरी पर) बैठना चाहिये। बैठकर आँख का अधिक विस्फार या संकोच न कर, जिससे आँख में किसी प्रकार का कष्ट न हो अर्थात् भार न पड़े – इस प्रकार मध्यम रूप में आँख खोल कर कसिण-मण्डल को देखना चाहिये। इस प्रकार देखते हुये पृथ्वी धातु के वर्ण एवं उसके कर्कश-आदि लक्षणों का मनसिकार न करके वर्ण से सम्बद्ध पृथ्वीद्रव्य को ही देखना चाहिये और मुख से 'पृथ्वी, पृथ्वी' आदि का उच्चारण करके या केवल चित्त द्वारा ही आवर्जन करते हुए भावना करनी चाहिये। भावना करते समय बीच-बीच में आँख खोलकर देखते हुये तथा कभी कभी आँख बन्द करके विचार करते हुये, जबतक उद्ग्रहनिमित्त उत्पन्न न हो जाय, तबतक प्रयत्न करना चाहिये[4]।

इस प्रकार की प्रयत्नरूपी भावना 'परिकर्मभावना' एवं भावनीय कसिणमण्डल आलम्बन 'परिकर्मनिमित्त' कहलाता है।

३१. उपर्युक्त प्रकार से आँख खोलते एवं बन्द करते हुये भावना करते समय, जब आँखें बन्द कर लेने पर भी आँख खोल कर देखने की तरह आलम्बन चित्त में

---

१. द्र० – विसु०, पृ० ८२-८३।

२. द्र० – विसु०, पृ० ८३।

३. विस्तार के लिये द्र० – विसु०, पृ० ८०-८३; अट्ठ०, पृ० १३७-१३८।

४. द्र० – विसु०, पृ० ८३-८४।

स्सेव मनोद्वारस्स आपातमागतं, तदा तमेवारम्मणं उग्गहनिमित्तं नाम*; सा च भावना समाधियति† ।

हो जाता है, तब वही आलम्बन 'उद्ग्रहनिमित्त' कहा जाता है। उस उद्ग्रहनिमित्त को आलम्बन करनेवाली भावना समाधि को प्राप्त होती है।

३२. तथासमाहितस्स पनेतस्स ततो परं तस्मिं उग्गहनिमित्ते परिकम्मसमाधिना भावनमनुयुञ्जन्तस्स यदा तप्पटिभागं‡ वत्थुधम्मविमुच्चितं पञ्ञत्तिसङ्खातं भावनामयमारम्मणं चित्ते सन्निसिन्नं समप्पितं होति, तदा तं§ पटिभागनिमित्तं𝜙 समुप्पन्नं𝜙 ति पवुच्चति ।

उस प्रकार परिकर्मसमाधि द्वारा भावना का अनुष्ठान कर रहे इस समाहित योगी को उद्ग्रहनिमित्त प्रतिभासित होने के अनन्तर जब उद्ग्रहनिमित्त के सदृश ही परमार्थ वस्तुधर्म से रहित प्रज्ञप्तिनामक भावनामय आलम्बन चित्त में निश्चलरूप से स्थित एवं समर्पित हो जाता है, तब वह प्रतिभागनिमित्त 'समुत्पन्न हो गया'—ऐसा कहा जाता है।

स्पष्ट प्रतिभासित होने लगता है, तब चित्त द्वारा सम्यग् गृहीत वह आलम्बन 'उद्ग्रहनिमित्त' कहलाता है। इस प्रकार के उद्ग्रहनिमित्त के प्रतिभासित हो जाने पर कसिणमण्डल समीप रहने पर भी उसके द्वारा कोई उपकार न हो सकने से अपने स्थान पर लौटकर प्रतिभागनिमित्त के प्रतिभासित होने पर्यन्त उस (उद्ग्रहनिमित्त) की ही पुनः पुनः भावना करनी चाहिये। यदि किसी कारण उद्ग्रहनिमित्त लुप्त हो जाये, तो पुनः उसी (कसिणमण्डल के) स्थान पर जाकर पूर्वोक्त विधि से भावना करनी चाहिये और जब पुनः उद्ग्रहनिमित्त उत्पन्न हो जाये, तो स्वस्थान पर लौटकर पूर्वकथित नय के अनुसार भावना करनी चाहिये।

इस उद्ग्रहनिमित्त का आलम्बन करके भावना करनेवाला चित्त परिकर्मभावना की श्रेणी में ही आता है; किन्तु परिकर्मनिमित्त का आलम्बन करने के समय की अपेक्षा इस समय समाधि कुछ प्रबल (परिपक्व) हो जाती है, अतः 'सा च भावना समाधियति'—ऐसा कहा गया है[1]।

३२-३३. तथासमाहितस्स—उस उद्ग्रहनिमित्त का आलम्बन करके परिकर्मभावना द्वारा जब पुनः पुनः अभ्यास किया जाता है, तो उस समय श्रद्धा-आदि ५ इन्द्रियों के अत्यन्त विकसित एवं विशुद्ध हो जाने के कारण कुशलचित्तों में बाधा करने-

---

*. नाम होति—स्या०। †. समाधीयति—सी०, रो०।

‡. तंपटिभागं—स्या०। §. स्या० में नहीं।

𝜙-𝜙. ०निमित्तमुप्पन्नं—स्या०।

१. द्र०—विसु०, पृ० ८४-८५।

२३. ततो पट्ठाय* परिबन्धविप्पहीना† कामावचरसमाधिसङ्खाता उपचारभावना निप्फन्ना नाम होति।

उस प्रतिभागनिमित्त के अवभासित होने से लेकर समाधि के प्रतिबन्धक (शत्रुभूत) नीवरण-आदि धर्मों से विप्रहीण, (उन नीवरणधर्मों का प्रहाण करनेवाली) कामावचरसमाधि नामक उपचारभावना निष्पन्न होती है।

वाले 'परिबन्ध' नामक कामच्छन्द-आदि नीवरण धर्म एवं उनके साथ उत्पन्न होनेवाले क्लेश धर्म अपने आप विगलित हो जाते हैं। इस समय भावनाचित्तसन्तति में वितर्क-आदि पांच ध्यानाङ्ग उत्पन्न होते हैं। रूपध्यान-अर्पणा तक न पहुँचने पर भी 'कामावचरचित्त' नामक यह भावनासन्तति, रूपध्यान की ही तरह आलम्बन में अत्यन्त समाहित एवं प्रसादयुक्त होने से रूपध्यान के उपचार (समीप) में प्राप्त हो जाती है। अर्थात् परिकर्मभावना की सीमा का अतिक्रमण करके उपचारभावना की सीमा में आ जाती है। इस उपचारभावना को ही 'उपचारध्यान' कहते हैं।

इस प्रकार भावनाचित्तधातु अत्यन्त प्रसादयुक्त होने से भावनीय आलम्बन भी उद्ग्रहनिमित्त की सीमा का अतिक्रमण करके प्रतिभागनिमित्त के रूप में हो जाता है और वह उद्ग्रहनिमित्त की अपेक्षा अधिक विशुद्ध एवं स्वच्छ होता है। उद्ग्रहनिमित्त में अंगुलियों के चिह्न, रेखायें एवं खुरदुरापन आदि दिखाई पड़ सकते हैं; किन्तु प्रतिभागनिमित्त मेघ से निकले चन्द्रमा, आदर्श (दर्पण) या नीलगगन में उड़ रहे बगुले की तरह एकदम स्वच्छ, विशुद्ध, चिकना एवं स्पष्ट होता है।

विसुद्धिमग्गमहाटीका के "तञ्चे खो पटिभागनिमित्तं नेव वण्णवन्तं न सण्ठानवन्तं अपरमत्थसभावत्ता"¹ – इस वचन के अनुसार परिकर्मनिमित्त एवं उद्ग्रहनिमित्त में पृथ्वीद्रव्य अष्टकलापरूप में स्थित होने के कारण परमार्थधर्म होता है; किन्तु यह प्रतिभागनिमित्त परमार्थस्वभाव नहीं है; क्योंकि इसमें रूप एवं संस्थान नहीं होते। जो परमार्थधर्म होता है, वह कलापसमूह में स्थित होने के कारण अवश्य रूप एवं संस्थान से युक्त होता है। "केवलं हि समाधिलाभिनो उपट्ठानाकारमत्तं"² के अनुसार यह (प्रतिभागनिमित्त) प्रबल समाधिभावना के बल से योगी के चित्त में प्रतिभासित एक प्रकार की प्रज्ञप्तिमात्र है। इसीलिये मूल में 'वत्थुधम्मविमुच्चितं पञ्ञत्तिसङ्खातं भावनामयं चित्ते सन्निसिन्नं समप्पितं' कहा गया है³।

---

*. पट्ठायेव – स्या०। †. ०विप्पहीणा – सी०; पटिबन्ध० – रो०; परिपन्थ० – स्या०, ना० (सर्वत्र)।

१. विसु० महा०, प्र० भा०, पृ० १४७।

२. विसु०, पृ० ८५।

३. विस्तार के लिये द्र० – विसु०, पृ० ८५।

रूपावचरज्झानानि

३४. ततो परं तमेव पटिभागनिमित्तं उपचारसमाधिना समासेवन्तस्स रूपावचरपठमज्झानमप्पेति।

उस (उपचारभावना) के अनन्तर उसी प्रतिभागनिमित्त का उपचारसमाधि द्वारा सम्यग् आसेवन करते हुये योगी का रूपावचर प्रथमध्यान अर्पणा को प्राप्त होता है।

यह प्रतिभागनिमित्त प्रमाण में मूल कसिणमण्डल के जितना ही अवभासित होता है। इस अवभासित छोटे से मण्डल का चित्त द्वारा ही विस्तार करना चाहिये। इसके विस्तार की विधि विसुद्धिमग्ग में वर्णित है। उसे वहीं देखना चाहिये[1]।

सारांश – जब प्रतिभागनिमित्त प्रतिभासित होता है, उस काल की भावनासन्तति को 'उपचारभावना' कहते हैं तथा उस उपचारभावना को 'उपचारध्यान' भी कहते हैं। जब उपचारभावना उत्पन्न होती है, तब वह भावनाचित्तसन्तति कामच्छन्द आदि पाँच नीवरण धर्मों से रहित होती है तथा वितर्क-आदि पाँच ध्यानाङ्ग धर्म उत्पन्न होकर अपने अपने कृत्यों का सम्पादन करते हैं[2]।

रूपावचरध्यान

३४. प्रथमध्यान प्राप्त करने की विधि – प्रतिभागनिमित्त के अवभासित होने से उपचारभावना तक पहुँचने के अनन्तर यदि उसी प्रतिभागनिमित्त का आलम्बन करके पुनः भावना की जाती है, तो ज्ञानी योगी तत्काल ही अर्पणाभावना नामक रूपावचर ध्यान प्राप्त कर लेता है।

यदि योगी ज्ञानी नहीं होता है, तो उसे प्राप्त प्रतिभागनिमित्त का नाश न होने देने के लिये उसकी विशेषरूप से रक्षा करते हुये पुनः पुनः भावना करनी चाहिये। जिस प्रकार भावी चक्रवर्ती पुत्र को गर्भ में धारण करनेवाली माता उसकी विशेषरूप से रक्षा करती है, उसी प्रकार उत्पन्न प्रतिभागनिमित्त की भी रक्षा करनी चाहिये। इस प्रकार रक्षा करते हुये भावना करने को ही 'समासेवन्तस्स' कहा गया है।

समुचित प्रकार से रक्षा न कर पाने के फलस्वरूप यदि प्रतिभागनिमित्त विलुप्त हो जायेगा, तो भावनासन्तति भी उपचारभावना की सीमा से गिरकर परिकर्मभावना की

---

१. विसु०, पृ० १०२।

२. विसु०, पृ० ८५।

३५. ततो परं तमेव* पठमज्झानं, आवज्जनं समापज्जनं अधिट्ठानं वुट्ठानं पच्चवेक्खणा† चेति इमाहि‡ पञ्चहि वसिताहि वसीभूतं कत्वा वितक्कादिकमोळारिकङ्गं पहानाय§ विचारादिसुखुमङ्गुप्पत्तिया पदहतो यथाक्कमं दुतियज्झानादयो यथारहमप्पेन्ति$\phi\phi$ ।

प्रथम ध्यान की प्राप्ति के अनन्तर उसी प्रथम ध्यान को आवर्जन, समावर्जन, अधिष्ठान, व्युत्थान एवं प्रत्यवेक्षण – इन पाँच वशिताओं द्वारा वशीभूत करके वितर्क-आदि औदारिक ध्यानाङ्गों के प्रहाण के लिये तथा विचार-आदि सूक्ष्म ध्यानाङ्गों की उत्पत्ति के लिये प्रयत्न करते हुये योगी के यथाक्रम द्वितीय-आदि ध्यान यथायोग्य अर्पणा को प्राप्त होते हैं ।

सीमा में आ जायेगी । (रक्षा करने की विधि एवं पुनः भावना करने का विधान विसुद्धिमग्ग में देखें[1] ।)

"निमित्तं रक्खतो लद्धपरिहानि न विज्जति ।
आरक्खम्हि असन्तम्हि लद्धं लद्धं विनस्सति[2] ।।"

३५. द्वितीय-आदि ध्यान प्राप्त करने की विधि – द्वितीय आदि ध्यान प्राप्त करने के अभिलाषी साधक को प्राप्त हुये प्रथमध्यान को ही पाँच वशिताओं द्वारा स्ववशीभूत करके पुनः पुनः भावना करनी चाहिये । अन्यथा प्राप्त हुआ प्रथम ध्यान भी विनष्ट हो जायेगा और ऊपर के ध्यानों की प्राप्ति भी असम्भव हो जायेगी । अतः उसे नष्ट न होने देने के लिये तथा ऊपर के ध्यानों का पादक बनाने के लिये उस प्राप्त हुये प्रथम ध्यान का ही पुनः पुनः आवर्जन करना चाहिये । जैसे किसी पाठ को कण्ठस्थ कर लेने पर भी यदि उसका प्रतिदिन अभ्यास न किया जाये, तो उस पर आधिपत्य नहीं हो पाता और समय पर उसका शीघ्रतापूर्वक स्मरण नहीं हो पाता । इसके विपरीत यदि प्रतिदिन स्वाध्याय किया जाता है, तो वह स्ववशीभूत हो जाता है; ठीक उसी प्रकार प्राप्त ध्यान का पुनः पुनः आवर्जन करके उसे अपना अङ्गभूत या वशीभूत बनाना चाहिये । ध्यान के आलम्बन की कुछ देर तक भावना करने से ध्यानचित्त उत्पन्न हो जाता है; किन्तु ध्यानसमापत्तिवीथि के उत्पन्न हो जाने पर भी योगी जिस क्षण चाहे उस क्षण में उठ नहीं पाता अर्थात् लक्षित समय से कुछ पूर्व या पश्चात् उठता है, अतः प्राप्त ध्यान को वशीभूत करने के लिये उपर्युक्त पाँच वशिताओं द्वारा उसका पुनः पुनः अभ्यास करना चाहिये[3] ।

---

*. तदेव – स्या० । †. पच्चवेखना – सी०; पच्चवेक्खणं – स्या० ।
‡. इमानि – रो० । §. पहाणाय – सी० । $\phi\phi$. मप्पेति – स्या० ।
१. विसु०, पृ० ८५-८६ ।
२. विसु०, पृ० ८५ ।
३. द्र० – विसु०, पृ० १०२-१०३ ।

वशितायें – 'वसनं समत्थनं वसी, वसी एव वसिता' अर्थात् सामर्थ्य को 'वशी' कहते हैं और वशी ही 'वशिता' है । यहाँ स्वार्थ में 'ता' प्रत्यय है । अथवा – 'वसनं समत्थनं वसो, वसो यस्स अत्थीति वसी, वसिनो भावो वसिता' अर्थात् सामर्थ्य 'वश' है, वह सामर्थ्य जिसके है, वह समर्थ पुद्गल 'वशी' है और उसका भाव 'वशिता' है । अतः वशिता और वशीभाव शब्द पर्यायवाची हैं ।

आवज्जनवसिता – 'आवज्जने वसिता आवज्जनवसिता' ध्यानाङ्गों का आवर्जन करने में समर्थ पुद्गल का भाव 'आवर्जनवशिता' है । प्रथम ध्यान का समावर्जन करके उससे उठते समय उसमें होनेवाले वितर्क ध्यानाङ्ग का आवर्जन करने के लिये भवङ्ग-चलन, भवङ्गोपच्छेद होने के अनन्तर वितर्क का आलम्बन करनेवाला मनोद्वारावर्जन होता है । तदनन्तर प्रत्यवेक्षण जवन भी (सात बार न होकर) ४-५ बार ही जवित होते हैं। तत्पश्चात् विचार का आवर्जन करने के लिये भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद उत्पन्न होने के बाद मनोद्वारावर्जन का पुनः उत्पाद होता है । तदनन्तर प्रत्यवेक्षण जवन होकर पूर्वोक्त नय के अनुसार प्रीति, सुख एवं एकाग्रता को आवर्जित करनेवाली वीथियों का क्रम से उत्पाद होता है । इस तरह आवर्जन करने में ध्यानाङ्गों का पृथक् पृथक् आवर्जन करनेवाली वीथियों के अन्तराल में अधिक भवङ्ग नहीं होते; केवल आवश्यक भवङ्गचलन एवं भवङ्गोपच्छेद ही होते हैं। ध्यानाङ्गों को शीघ्रतापूर्वक आवर्जित करने की शक्ति को ही 'आवर्जनवशिता' कहते हैं ।

यह वही नय है, जिसका भगवान् बुद्ध-आदि ऋद्धिबल (यमक प्रातिहार्य) का प्रदर्शन करते समय प्रयोग करते हैं ।

इतनी शीघ्रता न होकर यदि वीथियों के अन्तराल में कुछ भवङ्गों का उत्पाद हो भी जाए; फिर भी यदि निरन्तर क्रमशः आवर्जन किया जा सके, तो उसे भी 'आवर्जन-वशीभाव' कहा जा सकता है ।

सङ्क्षेप में अतिशीघ्रतापूर्वक आवर्जन करने में समर्थ मनोद्वारावर्जन की शक्ति को ही 'आवर्जनवशीभाव' कहते हैं[1] ।

समापज्जनवसिता – 'समापज्जने वसिता, समापज्जनवसिता' ध्यान का समावर्जन करने में समर्थ पुद्गल के भाव को 'समापज्जनवसिता' कहते हैं। ध्यान प्राप्त करके विहार करने की इच्छा होने के अनन्तर अधिक भवाङ्ग न होने देकर केवल भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन, परिकर्म, उपचार, अनुलोम, एवं गोत्रभू को ही उत्पन्न करके यथेप्सित ध्यानचित्तों के उत्पाद में सामर्थ्य को 'समापज्जनवशिता' कहते हैं ।

यह वशिता भी यमकप्रातिहार्य-आदि ऋद्धिबल दिखलाते समय समावर्जन करने में अत्यन्त समर्थ महापुरुषों की शक्ति है ।

अत्यन्त शीघ्रता न होने पर भी तथा अन्तराल में कुछ भवङ्गों का उत्पाद हो जाने पर भी 'समापज्जनवशिता' कही जा सकती है ।

---

१. द्र० – विसु०, पृ० १०३ ।

अधिट्ठानवसिता – 'भवङ्गं अभिभुय्य झानं ठपनं अधिट्ठानं' भवङ्ग का अभिभव करके ध्यानसन्तति का प्रतिष्ठापन 'अधिष्ठान' है। 'अधिट्ठाने वसिता, अधिट्ठानवसिता' इस अधिष्ठान में वशीभाव को 'अधिष्ठानवशिता' कहते हैं। ध्यानचित्तों के निरन्तर उत्पाद को 'ध्यानसमापत्ति' कहते हैं। ध्यानसन्तति का विच्छेद करके भवङ्गचित्त के उत्पाद को 'व्युत्थान काल' कहते हैं। यदि साधक एक क्षण मात्र समावर्जन करना चाहता है, तो उस क्षण में भवङ्गपात न होने देने के लिये उसका अभिभव करके; यदि अधिक कालपर्यन्त समावर्जन करना चाहता है, तो समावर्जन के लिये अभीप्सित कालपर्यन्त भवङ्ग-सन्तति का निवारण करके उस ध्यानसन्तति को स्थापित करने में समर्थ शक्तिविशेष 'अधिष्ठानवशिता' है।

वुट्ठानवसिता – 'वुट्ठाने वसिता वुट्ठानवसिता' नियमित काल के अनुसार ध्यान से उठने में समर्थ पुद्गल के भाव को 'व्युत्थानवशिता' कहते हैं। योगी चाहे तो एक क्षण, चाहे तो दस क्षण अर्थात् जितनी देर चाहे उतनी देर तक समापत्ति में रहकर उठने में समर्थ होता है। उस संकल्पित काल से न तो पहले और न बाद में; अपितु ठीक समय पर उठने के सामर्थ्य को ही 'व्युत्थानवशिता' कहा जाता है।

अधिष्ठानवशिता एवं व्युत्थानवशिता में भेद – शीघ्र प्रवाहवाली नदी के ओघ को रोकनेवाले सेतु के सामर्थ्य की तरह भवङ्गवेग को रोकर परिच्छिन्नकालपर्यन्त ध्यानसन्तति को स्थापित करने का सामर्थ्य अथवा भवङ्गपात से रक्षण की योग्यता 'अधिष्ठानवशिता' है।

परिच्छिन्नकाल का अतिक्रमण न करके ध्यान से उठने का सामर्थ्य 'व्युत्थान-वशिता' है।

अथवा – ध्यानसन्तति को परिच्छिन्न काल से ऊपर न जाने देकर उतने कालपर्यन्त प्रतिष्ठापनसामर्थ्य 'अधिष्ठानवशिता' है तथा परिच्छिन्नकाल के भीतर न उठने देकर यथा-कालवश व्युत्थान का सामर्थ्य ही 'व्युत्थानवशिता है'[1]।

पच्चवेक्खणवसिता – 'पच्चवेक्खणे वसिता, पच्चवेक्खणवसिता' ध्यानाङ्गों के प्रत्य-वेक्षण में वशीभाव को 'प्रत्यवेक्षणवशिता' कहते हैं। अर्थात् ध्यानाङ्गों का आवर्जन करनेवाले प्रत्यवेक्षणजवनों के सामर्थ्य को 'प्रत्यवेक्षणवशिता' कहते हैं। ध्यानाङ्गों को आवर्जित करनेवाली वीथियों के अन्तराल में अनेक भवङ्गों को उत्पन्न न होने देकर पुनः पुनः समावर्जन करने में समर्थ शक्ति ही 'प्रत्यवेक्षणवशिता' है। अतः जब आवर्जन-वशीभाव सिद्ध होता है, तो प्रत्यवेक्षणवशिता भी सिद्ध हो जाती है।

मनोद्वारावर्जन की शक्ति को 'आवर्जनवशीभाव' तथा प्रत्यवेक्षणजवनों की शक्ति को 'प्रत्यवेक्षणवशीभाव' कहते हैं[2]।

वितक्कादिकमोळारिकङ्गं...यथारहमप्पेन्ति – उपर्युक्त प्रकार से पाँच वशीभावों की सम्पन्नता के लिये प्रथमध्यान का पुनः पुनः आवर्जन करके ध्यानाङ्गसमूह का

१. विभा०, पृ० २००।

२. द्र० – विसु०, पृ० १०३-१०४; पटि० म०, पृ० ११२-११३।

बहुलतया आवर्जन करने पर वितर्कध्यान के प्रति 'यह ओळारिक है'—ऐसा अवभास होता है।

'यह वितर्क नाना प्रकार के आलम्बनों में चित्त को आरोपित करनेवाला धर्म है। लौकिक आलम्बनों (कामगुणों) के प्रति चित्त के प्रवृत्त होने में इसके आसन्न हेतु होने के कारण कामच्छन्द-नीवरण अन्तराय का एकान्तरूप से सामना करना पड़ेगा। वितर्क न होने पर ही चित्त की शान्ति होगी'—इस प्रकार वितर्क के प्रति आपत्ति (दोष) देखकर योगी वितर्कवर्जित द्वितीयध्यान का लक्ष्य करके वितर्क का प्रहाण करने के लिये तथा प्रथमध्यान से अधिक सूक्ष्म विचार-आदि ध्यानाङ्गों के उत्पाद के लिये प्रतिभागनिमित्त नामक पृथ्वीकसिणप्रज्ञप्ति का ही परिकर्मभावना-आदि तीन भावनाक्रमों द्वारा आलम्बन करके प्रयत्न करता है। (यह भावना वितर्क के प्रति घृणास्वभाव होती है, अतः इसे 'वितर्कविरागभावना' भी कहते हैं)। इस प्रकार भावना करते समय जब तक वितर्क के प्रति अनुरागरूपी निकन्तिका तृष्णा का एकान्तरूप से सर्वथा प्रहाण नहीं हो जाता, तब तक उसे 'परिकर्मभावना' कहते हैं। (यहाँ परिकर्मभावना द्वारा प्रतिभागनिमित्त का ही आलम्बन होता है।) वितर्क के प्रति अनुरक्त निकन्तिका तृष्णा का जब एकान्तरूप से समुच्छेद हो जाता है, तो योगी द्वितीयध्यान के उपचार को प्राप्त हो जाता है। इसके अनन्तर पुनः भावना करने पर वितर्कध्यानाङ्गरहित, प्रथमध्यान से अधिक सूक्ष्म, विचार-आदि चार ध्यानाङ्गों से सम्पन्न 'द्वितीयध्यान' नामक अर्पणाभावना की उत्पत्ति होती है।

तृतीयध्यान प्राप्त करने में भी उपर्युक्त क्रम के अनुसार 'यह विचार भी औदारिक धर्म है। यह वितर्क के साथ होने के स्वभाववाला है, अतः शीघ्र ही वितर्क के साथ योग करके प्रथमध्यान को प्राप्त करा देगा, अतः विचाररहित तृतीयध्यान ही उत्तमध्यान है'—इस प्रकार 'विचार' में आपत्ति (दोष) देखकर योगी विचार के प्रति घृणास्वभाव-वाली 'विचारविरागभावना' को परिकर्म-आदि क्रम के अनुसार आरब्ध करता है। विचार के प्रति अनुरक्त निकन्तिका तृष्णा का जब तक प्रहाण नहीं होता, तब तक वह 'परिकर्मभावना', तथा जब विचार के प्रति अनुरक्त निकन्तिका तृष्णा का प्रहाण हो जाता है, तब वह 'उपचारभावना' कही जाती है। तदनन्तर पुनः भावना करने पर विचाररहित, द्वितीयध्यान से अधिक सूक्ष्म, प्रीति-आदि तीन अङ्गों से सम्पन्न 'तृतीय-ध्यान' नामक अर्पणाभावना की उत्पत्ति होती है।

चतुर्थध्यान प्राप्त करने में भी उपर्युक्त क्रम के अनुसार 'यह प्रीति तर्पणस्वभाव होने के कारण चित्त को सम्यक् शान्ति प्रदान नहीं कर सकती। प्रीति के न होने पर ही चित्त शान्त होगा'—इस प्रकार प्रीति में आपत्ति (दोष) देखकर योगी 'प्रीतिविराग-भावना' का समादान करता है।

पञ्चमध्यान में आरोहण करने के लिये भी उपर्युक्त क्रम के अनुसार 'यह सुख भी प्रीति के सदृश स्वभाववाला ही है, प्रीतिनामक शत्रु के साथ योग करने के कारण तृतीयध्यान में गिरने का भय है'—इस प्रकार सुख में आपत्ति (दोष) देखकर योगी 'सुखविरागभावना' को आरब्ध करता है।

३६. इच्चेवं पथवीकसिणादीसु द्वावीसतिकम्मट्ठानेसु* पटिभागनिमित्त-मुपलब्भति† ।

इस प्रकार पृथ्वीकसिण आदि २२ कम्मट्ठानों में प्रतिभागनिमित्त उपलब्ध होता है।

३७. अवसेसेसु पन अप्पमञ्ञा सत्तपञ्ञत्तियं पवत्तन्ति ।

अवशिष्ट कम्मट्ठानों में से अप्रामाण्यायें सत्त्वप्रज्ञप्ति में प्रवृत्त होती हैं।

इस प्रकार वितर्क के प्रति घृणापूर्वक भावना करने से द्वितीयध्यान, विचार के प्रति घृणापूर्वक भावना करने से तृतीयध्यान, प्रीति के प्रति घृणापूर्वक भावना करने से चतुर्थध्यान तथा सुख के प्रति घृणापूर्वक भावना करने से पञ्चम ध्यान की प्राप्ति होती है। इसे ही 'यथारहमप्पेन्ति' शब्द द्वारा कहा गया है।

इस प्रकार ऊपर ऊपर के ध्यानों में आरोहण करने के लिये भावना करते समय निचले निचले ध्यानाङ्गों में आपत्ति (दोष) देखकर उनमें घृणा होने के कारण जब यह भावना अर्पणा को प्राप्त होती है, तब नीचे नीचे के ध्यानाङ्गों का पुनः प्रादुर्भाव नहीं होता। अतः उन उन ध्यानचित्तों के साथ विशिष्ट ध्यानाङ्ग सम्प्रयुक्त होने में नीचे नीचे के ध्यानाङ्गों के प्रति 'घृणा' नामक अध्याशय का होना तथा उस अध्याशय के अनुसार भावना करना – ये दो कारण ही प्रधान होते हैं।

उपर्युक्त भावनाक्रम वितर्क एवं विचार दोनों के प्रति एकसाथ आपत्ति (दोष) देखने में असमर्थ मन्दप्रज्ञ योगी का भावनाक्रम है। तीक्ष्णप्रज्ञ योगी वितर्क एवं विचार दोनों में एक साथ आपत्ति (दोष) देखने में समर्थ होने के कारण दोनों का एकसाथ अतिक्रमण करके वितर्कविचाररहित द्वितीयध्यान को प्राप्त कर सकता है[1]।

३६. 'आदिकम्मिकस्स हि' से लेकर विस्तारपूर्वक किये गये वर्णन का यह निगमन वाक्य है। प्रतिभागनिमित्त को प्राप्त करनेवाले दस कसिण, दस अशुभ, कोट्ठास एवं आनापान – ये २२ कम्मट्ठान हैं।

३७. **अवसेसेसु** – अर्पणा को धारण करने में समर्थ ३० कम्मट्ठानों में प्रतिभाग-निमित्त को प्राप्त करनेवाले २२ कम्मट्ठान कहे जा चुके हैं। अतः 'अवसेसेसु' शब्द द्वारा अर्पणा को प्राप्त करने में समर्थ अवशिष्ट अप्रामाण्यायें ४, एवं आरूप्य ४=८ कम्मट्ठानों का ग्रहण करना चाहिये। बुद्धानुस्मृति-आदि का पृथक् वर्णन किया जाने वाला है।

---

*. बावीसति० – स्या०; द्वावीसकम्मट्ठानेसु – रो०।

†. उपलब्भन्ति – रो०।

१. विस्तार के लिये द्र० – विसु०, पृ० १०४-११०; अट्ठ०, पृ० १३४-१३८।

अरूपावचरज्झानानि

३८. आकासवज्जितकसिणेसु पन यं किञ्चि कसिणं उग्घाटेत्वा* लद्धमाकासं अनन्तवसेन परिकम्मं करोन्तस्स पठमारुप्पमप्पेति।

आकाशवर्जित नौ कसिणों में किसी भी एक कसिण का उद्घाटन करके प्राप्त आकाशप्रज्ञप्ति का आलम्बन करके 'अनन्त' वश से परिकर्म-भावना करनेवाले योगी की सन्तान में प्रथमारूप्यध्यान अर्पणा को प्राप्त होता है।

चार अप्रामाण्यायें चार सत्त्वप्रज्ञप्तियों का आलम्बन करके उत्पन्न होती हैं। चार प्रकार की सत्त्वप्रज्ञप्तियां कही जा चुकी हैं। यहां तक रूपावचरध्यानों के २६ कम्मट्ठानों का वर्णन हुआ।

रूपावचरध्यान समाप्त।

अरूपावचरध्यान

३८. स्कन्धकाय को 'करजकाय' कहते हैं¹। यहां 'कर' का अर्थ है शुक्रशोणित, उससे उत्पन्न काय को 'करजकाय' कहा जाता है। 'इस करजकाय के कारण ही मारना, पीटना-आदि नाना प्रकार के कलह होते हैं, इसी में अनेकविध व्याधियां (रोग) उत्पन्न होती हैं, इस करजकाय से विमुक्त अरूपभूमि में उपर्युक्त दोष नहीं होंगे और उस भूमि में शान्ति होगी'—इस प्रकार करजकाय रूपधर्मों में आपत्ति (दोष) देखकर अरूपभूमि में पहुंचने के लिये आकाशानन्त्यायतनध्यान का अभिलाषी योगी रूपध्यान के आलम्बनभूत कसिणरूप में भी घृणा करता है, वह कसिणरूप से भी भय खाता है²।

"यथा पिसाचभीरुको रत्ति खाणुम्पि भायति।
एवं करजभीरुको योगी कसिणरूपकं³॥"

जैसे—पिशाचभीरु पुरुष रात्रि में स्थाणु (ठूंठ) को देख उसे पिशाच समझकर भयभीत होता है, उसी तरह करजभीरु योगी कसिणरूप से भी भय खाता है।

करजकाय में आदीनव देखकर रूपविमुक्त अरूपध्यान की प्राप्ति के लिये भावना करना, बुद्धशासन से बाहर के काल में ही सम्भव है, बुद्धशासन के काल में

---

*. उग्घातेत्वा—स्या०।

१. "'करजरूपे' ति यथावुत्तादीनवाधिकरणभावयोग्यं दस्सेतुं वुत्तं; ओळारिकरूपे ति अत्थो।"—विसु० महा०, (१० वां परिच्छेद)।

२. द्र०—"दिस्सन्ति खो पन रूपाधिकरणं दण्डादान—सत्थादान-कलह-विग्गह-विवाद—तुवंतुवं—पेसुञ्ञ-मुसावादा। नत्थि खो पनेतं सब्बसो अरूपे ति। सो इति पटिसंखाय रूपानं येव निब्बिदाय विरागाय निरोधाय पटिपन्नो होति।"—म० नि०, द्वि० भा०, पृ० ८८।

३. ब० भा० टी०। द्र०—विसु०, पृ० २२२।

तो अभिज्ञा को लक्ष्य करके अरूपध्यान की भावना की जाती है[1]। इस पर विचार करना चाहिये।

इस प्रकार करजकाय के साथ कसिण आलम्बन में भी भय एवं घृणा करनेवाला योगी रूपावचर पञ्चम ध्यान को पाँच वशिताओं द्वारा सम्पन्न करने के लिये पुनः पुनः भावना करके ध्यान से उठते समय 'यह पञ्चमध्यान हमारे द्वारा कुत्सित एवं घृणित समझे जानेवाले कसिणरूप का आलम्बन कर रहा है' – ऐसा सोचते हुये, जैसे द्वेष्य (शत्रु) का सत्कार करनेवाला भी द्वेष का पात्र होता है, उसी प्रकार पञ्चमध्यान के प्रति भी द्वेष या घृणा करता है। तथा 'नीचे के चतुर्थ ध्यान में आनेवाले सुख के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रखने के कारण यह (पञ्चमध्यान) वस्तुतः शान्तस्वभाव नहीं होता और अरूपध्यान की अपेक्षा यह (पञ्चमध्यान) ओळारिकधर्म भी है' – इस प्रकार उसमें आपत्ति देखता है।

इस प्रकार रूपपञ्चमध्यान में आदीनव देखनेवाले तथा प्रथम आरूप्यविज्ञान को उपशमरूप समझनेवाले योगी को आकाशकसिणवर्जित ९ कसिणों में से किसी एक कसिणमण्डल को यथेच्छ विस्तृत करके रखना चाहिये। ऐसा करने पर चित्त में अतिविशाल प्रतिभागनिमित्त कसिणमण्डल अवभासित होता रहेगा[2]।

अनन्तवसेन परिकम्मं करोन्तस्स – उस समय अवभासित कसिणमण्डल का आलम्बन न करके कसिणमण्डल द्वारा व्याप्त प्रदेश का 'अनन्तो आकासो, अनन्तो आकासो' इस प्रकार से आकाशप्रज्ञप्ति का ही चित्त द्वारा मनसिकार करना 'परिकम्मं' कहा जाता है। इस प्रकार पुनः पुनः परिकर्म भावना करने से जैसे किसी ढक्कन से ढके हुये कुम्भ पर से ढक्कन उठाने पर कुम्भमुख के भीतर खाली एवं शून्य विवर दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार भावना के बल से विस्तृत प्रतिभागनिमित्त कसिणमण्डल के हटने पर उससे व्याप्त देश में अनन्त आकाश परिलक्षित होता है। इस तरह फैला कर रखे हुये कसिणमण्डल का मनसिकार न करना ही 'कसिण का उद्घाटन' कहा जाता है। कसिणमण्डल का हटाना पलंग पर से बिस्तरे को हटाने या तवे पर से रोटी को हटाने की तरह नहीं है; अपितु उसका मनसिकार न करना ही है।

"कसिणं उग्घाटेन्तो सो, न किलञ्जं पूपं पि वा।
केवलं तमनावज्जं, आकासो इति इक्खति[3]॥"

कसिण का उद्घरण करता हुआ योगी उसे चटाई बटोरने या कड़ाही से अपूप को निकालने की तरह नहीं निकालता; अपितु केवल उसका आवर्जन नहीं करता और इसीलिये वह 'यह अनन्त आकाश है' ऐसा देखता है।

पठमारुप्पमप्पेति – मूल कसिणमण्डल का मनसिकार न करने से चित्त में अवभासित आकाशप्रज्ञप्ति का आलम्बन करके परिकर्मभावना द्वारा 'आकासो अनन्तो,

१. ब० भा० टी०।
२. द्र० – विसु०, पृ० २२२-२२३।
३. ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० २२३।

३६. तमेव पठमारुप्पविञ्ञाणं* अनन्तवसेन परिकम्मं करोन्तस्स दुतियारुप्पमप्पेति ।

उसी प्रकार प्रथम आरूप्यविज्ञान का आलम्बन करके अनन्तवश परिकर्मभावना करनेवाले योगी की सन्तान में द्वितीय आरूप्यविज्ञान अर्पणा को प्राप्त होता है।

आकासो-अनन्तो' – ऐसी पुनः पुनः भावना करते हुये जब रूपपञ्चम ध्यान के प्रति अनुरक्त निकन्तिका तृष्णा से विमुक्ति हो जाती है, तब उपचारभावना की स्थिति आ जाती है। तदनन्तर पुनः आकाशप्रज्ञप्ति की भावना करने पर प्रथमारूप्यविज्ञान नामक आकाशानन्त्यायतन ध्यान-अर्पणा की उत्पत्ति होती है।

'आकासो अनन्तो' इस पद में 'अनन्त' शब्द का अर्थ है 'जिसका अन्त अर्थात् सीमा न हो'। आकाशप्रज्ञप्ति परमार्थ न होने से इसकी उत्पादनामक-आदि सीमा तथा भङ्ग-नामक अन्तिम सीमा भी नहीं होती, अतः आकाश को 'अनन्त हैं' – ऐसा कहा जाता है'।

आकासवज्जितकसिणेसु – कसिणमण्डल को हटाने में आकाश कसिण का परिवर्जन क्यों किया गया है? – वह इसलिये कि आकाशकसिण हटाने योग्य कसिण नहीं है; क्योंकि आकाशकसिण स्वभाव से ही विवर या शून्यरूप होने से उस आकाश-कसिण का आलम्बन न कर हटाने पर भी मूल आकाश की तरह ही होता है, कोई विशेषता नहीं होती। नीचे नीचे के आलम्बनों का अतिक्रमण करने से ही ऊपर ऊपर के अरूपी ध्यानों की प्राप्ति हो सकती है। आकाशकसिण हटाया न जा सकने के कारण उस (आकाश) का ही पुनः पुनः आलम्बन करना होगा और उसका अतिक्रमण न हो सकेगा। इस प्रकार आकाशकसिण हटाया नहीं जा सकता। हटाने में असमर्थता होने के कारण उसी की पुनः पुनः भावना की जाती है और इसीलिये उसका अतिक्रमण नहीं किया जाता। नीचे के आलम्बनों का अतिक्रमण न होगा, तो ऊपर के ध्यानों की प्राप्ति भी असम्भव होगी। अतएव कसिणमण्डलों के हटाने में आकाश का परिवर्जन किया गया है।

३६. द्वितीय आरूप्यध्यान – विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान प्राप्त करने का अभिलाषी योगी आकाशानन्त्यायतन ध्यान की पुनः पुनः भावना करके जब उसमें अभ्यस्त हो जाता है, तब आकाशानन्त्यायतन ध्यान से उठते समय 'मेरे द्वारा प्राप्त प्रथमारूप्यध्यान भी रूपावचर पञ्चम ध्यान नामक शत्रु का अत्यन्त निकटवर्ती है तथा इसकी पुनः पुनः भावना न करने पर या प्रमाद करने पर पुनः पञ्चम रूपध्यान में गिरने का भय है, यह ध्यान द्वितीयारूप्यध्यान के बराबर शान्त नहीं है' – इस प्रकार इस प्रथमा-रूप्य ध्यान में आपत्ति (दोष) देखकर आकाशप्रज्ञप्ति का आलम्बन न करके; अपितु उसका

---

*. पठमारूप – स्या०।

१. विसु०, पृ० २२३; विभ०, पृ० २६५, ३१४-३१५; अट्ठ०, पृ० १६४-१६७।

अतिक्रमण करके तथा उस प्रथमारूप्यविज्ञान का आलम्बन करके 'अनन्तं विञ्ञाणं, अनन्तं विञ्ञाणं' इस प्रकार पुनः पुनः भावना करता हुआ उस आलम्बन में दृढ़ होकर जब प्रथमारूप्यविज्ञान के प्रति अनुरक्त निकन्तिका तृष्णा से भी विमुक्त हो जाता है, तब वह उपचार भावना को प्राप्त होता है । तदनन्तर पुनः भावना करने पर द्वितीयारूप्यविज्ञान नामक विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान-अर्पणा की उत्पत्ति होती है[1] ।

['अनन्तं विञ्ञाणं' इस में प्रथमारूप्यविज्ञान चूँकि अनन्त आकाशप्रज्ञप्ति का आलम्बन करता है, अतः कारण (आलम्बन) के 'अनन्त' इस नाम का कार्य (आलम्बनक) विज्ञान में उपचार करके कारणोपचार से विज्ञान को भी 'अनन्त' कहा जाता है । यहाँ आलम्बन और चित्त में 'आलम्बन' कारण है तथा 'आलम्बनक चित्त' कार्य है । इस नय के अनुसार 'अनन्त' अर्थात् उत्पाद-भङ्ग से अपरिच्छिन्न आकाशप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाले प्रथमारूप्यविज्ञान को 'अनन्तविज्ञान' कहा गया है । अथवा –

द्वितीय आरूप्यध्यान को आरब्ध करनेवाला भावनाचित्त जब प्रथमारूप्यविज्ञान का आलम्बन करता है, उस समय वह विज्ञान के उत्पाद का परिच्छेद करके, स्थिति का परिच्छेद करके अथवा भङ्ग का परिच्छेद करके आलम्बन नहीं करता; अपितु अपरिच्छिन्न सम्पूर्ण विज्ञान का आलम्बन करता है । इस प्रकार आलम्बनक भावनाचित्त द्वारा अपरिच्छिन्न या अनन्त विज्ञान का आलम्बन किया जाता है, अतः उसे 'अनन्तविज्ञान' कहते हैं । इस नय के अनुसार अपरिच्छिन्नरूप से आलम्बन किये गये विज्ञान को ही 'अनन्तविज्ञान' कहा जाता है । भावना करते समय 'अनन्त' शब्द को छोड़कर केवल 'आकासो आकासो; विञ्ञाणं विञ्ञाणं' कहते हुये भी भावना की जा सकती है[2] ।]

द्वितीय आरूप्यध्यान को प्राप्त करने के लिये भावना करनेवाला योगी प्रथमारूप्यविज्ञान में आदीनव देखते हुये भी द्वितीय आरूप्यध्यान की प्राप्ति के लिये प्रथमारूप्यविज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कोई उपयुक्त आलम्बन न होने के कारण प्रथमारूप्यविज्ञान का ही भावनाक्रम के साथ आलम्बन करता है, जैसे – राजा में दोष देखते हुये भी मन्त्री अपनी जीविका के लिये राजसेवा से अतिरिक्त कोई अन्य कार्य सुलभ न होने के कारण उससे विरत नहीं होता ।

[चतुर्थ आरूप्यविज्ञान एवं उसका भावनाक्रम भी इसी प्रकार है । तृतीय आरूप्यविज्ञान में आदीनव देखते हुये भी वह (चतुर्थ आरूप्यविज्ञान) तृतीय आरूप्यविज्ञान का आलम्बन करता है ।]

"आलम्बनं करोतेव, अञ्ञाभावेन तं इदं ।
दिट्ठदोसम्पि राजानं वुत्तिहेतु जनो यथा[3] ॥"

---

१. विसु०, पृ० २२६; विभ०, पृ० २९५, ३१५; अट्ठ०, पृ० १६७-१६८ ।

२. विसु०, पृ० २२६ ।

३. ब० भा० टी० ।

४०. तमेव* पठमारुप्पविञ्ञाणाभावं† पन नत्थि किञ्चीति परिकम्मं करोन्तस्स ततियारुप्पमप्पेति।

उस प्रथम आरूप्यविज्ञान की अभावनामक 'नास्तिभावप्रज्ञप्ति' का आलम्बन करके 'नास्ति किञ्चित्'–इस प्रकार परिकर्मभावना करनेवाले योगी की सन्तान में तृतीय-आरूप्यविज्ञान अर्पणा को प्राप्त होता है।

---

४०. तृतीय आरूप्यध्यान – आकिञ्चन्यायतन ध्यान को प्राप्त करने का अभिलाषी योगी विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान की पुनः पुनः भावना करके जब उसमें अभ्यस्त हो जाता है, तब विज्ञानानन्त्यायतनध्यान से उठते समय 'मेरे द्वारा प्राप्त विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान भी आकाशानन्त्यायतन नामक शत्रु का अत्यन्त निकटवर्ती है तथा यह तृतीय आरूप्यध्यान के सदृश शान्त भी नहीं है – इस प्रकार द्वितीयारूप्यध्यान में आदीनव देखकर और प्रथमारूप्यविज्ञान नामक आलम्बन का भी आलम्बन न कर; अपितु उसका अतिक्रमण कर 'नास्तिभावप्रज्ञप्ति' आलम्बन का लक्ष्य करके "नत्थि किञ्चि, नत्थि किञ्चि"[1] – इस प्रकार पुनः पुनः भावना करता हुआ आलम्बन में दृढ होकर जब द्वितीयारूप्यविज्ञान के प्रति अनुरक्त निकन्तिका तृष्णा से भी विमुक्त हो जाता है, तब उपचारभावना को प्राप्त होता है। तदनन्तर पुनः भावना करने पर तृतीयारूप्यविज्ञान नामक आकिञ्चन्यायतन ध्यान-अर्पणा की उत्पत्ति होती है[2]।

['नत्थि किञ्चि' – इसमें प्रथमारूप्यविज्ञान उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाने के कारण तथा उसका भङ्गमात्र भी अवशिष्ट न रहने के कारण 'यह कुछ भी नहीं है' (नत्थि किञ्चि) – ऐसी भावना की जाती है। 'किञ्चि' शब्द को छोड़कर केवल 'नत्थि-नत्थि' कहते हुये भी भावना की जा सकती है।]

द्वितीयारूप्यध्यान प्रथमारूप्यविज्ञान का आलम्बन करता है। इस प्रथमारूप्य-विज्ञान का अतिक्रमण करने से ही तृतीयारूप्यविज्ञान की प्राप्ति होगी। अतिक्रमण का अर्थ 'प्रस्तुत (प्रथमारूप्यविज्ञान) आलम्बन का आलम्बन न कर अन्य आलम्बन का आलम्बन करना' है। अतः यहाँ प्रथमारूप्यविज्ञान नामक आलम्बन का आलम्बन न करके 'नत्थि किञ्चि' इस प्रकार परिकर्म किया जाता है। इससे प्रथमारूप्यविज्ञान के लुप्त हो जाने से प्रथमारूप्यविज्ञान की नास्तिभावप्रज्ञप्ति ही शेष रहती है। जैसे कोई पुरुष कार्यवश बाहर जाते समय मार्गस्थ सभामण्डप में भिक्षुसङ्घ को देखता है तथा लौटते समय कार्य सम्पन्न हो जाने से सभा विसर्जित हो जाने के कारण उस सभामण्डप में भिक्षुसङ्घ को न देखकर भिक्षुसंघ के अभाव को देखता है, इसी प्रकार प्रथम आरूप्यविज्ञान के नष्ट हो जाने पर उस (प्रथमारूप्यविज्ञान) के स्थान में अभाव का ही आलम्बन करने से तृतीय आरूप्यध्यान प्राप्त होता है[3]।

---

*. ना० में नहीं। †. पठमारूप० – स्या०।

१. म० नि०, तृ० भा०, पृ० २२।

२. विसु०, पृ० २२७; विभ०, पृ० २९५, ३१५-३१६; अट्ठ०, पृ० १६८।

३. विसु०, पृ० २२७-२२८।

४१. ततियारुप्पं सन्तमेतं पणीतमेतं ति परिकम्मं करोन्तस्स चतुत्थारुप्पमप्पेति ।

तृतीय आरूप्यविज्ञान का आलम्बन करके 'यह तृतीय आरूप्यविज्ञान शान्त है, प्रणीत है' – इस प्रकार भावना करनेवाले योगी की सन्तान में चतुर्थ आरूप्यविज्ञान अर्पणा को प्राप्त होता है ।

[यह 'नास्तिभाव' परमार्थस्वभाव न होकर प्रज्ञप्तिमात्र होता है, अतः इसे 'नत्थिभावपञ्ञत्ति' भी कहते हैं ।]

४१. नैवसंज्ञानासंज्ञायतनध्यान को प्राप्त करने का अभिलाषी योगी पूर्वोक्त नय के अनुसार तृतीयारूप्यध्यान की भावना करके जब अभ्यस्त हो जाता है, तब ध्यान से उठते समय 'मेरे द्वारा प्राप्त आकिञ्चन्यायतनध्यान विज्ञानानन्त्यायतन नामक शत्रु का अत्यन्त निकटवर्ती है तथा यह चतुर्थध्यान के सदृश शान्त भी नहीं है, संज्ञायें गण्डस्फोट की तरह होती हैं, अतः नैवसंज्ञानासंज्ञायतनसमापत्ति ही उत्तम होती है'[1] – इस प्रकार आकिञ्चन्यायतनध्यान में आदीनव देखकर नैवसंज्ञानासंज्ञायतनध्यान को उत्तम एवं प्रणीत समझकर नास्तिभावप्रज्ञप्ति-आलम्बन का आलम्बन न करके या उसका अतिक्रमण करके और तृतीयारूप्यध्यान का आलम्बन करके 'सन्तमेतं, पणीतमेतं' – इस प्रकार पुनः पुनः भावना करता हुआ जब आकिञ्चन्यायतन के प्रति अनुरक्त निकन्तिका तृष्णा से भी विमुक्त हो जाता है, तब उपचारभावना को प्राप्त होता है । तदनन्तर पुनः भावना करने पर चतुर्थारूप्यविज्ञान नामक नैवसंज्ञानासंज्ञायतन ध्यान-अर्पणा की उत्पत्ति होती है[2] ।

['सन्तमेतं' – यह तृतीय आरूप्य ध्यान नास्तिभाव का आलम्बन करने में समर्थ होने के कारण शान्त होता है । 'पणीतमेतं' – यह तृतीय आरूप्यध्यान केवल नास्तिभाव का ही आलम्बन करनेवाला होने से प्रणीत है । कतिपय चित्त किसी एक द्रव्य का आलम्बन करके ही अभिरमण कर सकते हैं; किन्तु यह (तृतीयारूप्यध्यान) नास्तिभावप्रज्ञप्ति का भी आलम्बन कर अभिरमण कर सकने में समर्थ होने के कारण शान्त एवं प्रणीत है – इस प्रकार योगी जन इसकी प्रशंसा करते हैं ।

चतुर्थ आरूप्यध्यान में होनेवाले चित्त-चैतसिकों की तरह शान्त न होने से परिकर्म करते समय यद्यपि 'शान्त नहीं हैं' – इस प्रकार आदीनव देखकर भावना की जाती है और अभाव का ही आलम्बन करने में समर्थ होने के कारण 'शान्त है, प्रणीत है' – इस प्रकार प्रशंसा भी की गई है; तथापि दोष के अनुसार आदीनव देखकर और गुण के अनुसार प्रशंसा करके भावना करने से पूर्वापरविरोध नहीं होता । जैसे – कुरूप एवं सुशील युवती में उसके रूप की निन्दा करने पर भी शील की प्रशंसा की जा सकती है ।]

---

१. "सञ्ञा रोगो सञ्ञा गण्डो सञ्ञा सल्लं, असञ्ञा सम्मोहो, एतं सन्तं एतं पणीतं यदिदं 'नेवसञ्ञानासञ्ञं' ति ।" – म० नि०, तृ० भा०, पृ० २३-२४ ।

२. विसु०, पृ० २२८; विभ०, पृ० २६५, ३१६; अट्ठ०, पृ० १६८ ।

४२. अवसेसेसु च दससु कम्मट्ठानेसु बुद्धगुणादिकमारमणमारब्भ परिकम्मं कत्वा तस्मिं निमित्ते साधुकमुग्गहिते तत्थेव परिकम्मञ्च समाधियति,* उपचारो च सम्पज्जति† ।

अवशिष्ट दस कम्मट्ठानों में बुद्धगुण-आदि आलम्बनों का आलम्बन कर परिकर्म करके उन बुद्धगुण-आदि आलम्बनों के सम्यक् गृहीत होने पर उन आलम्बनों (बुद्धगुण आदि) में ही परिकर्मभावना समाहित होती है तथा उपचारभावना भी सम्पन्न होती है ।

प्रशंसित होने पर भी अभीष्ट नहीं – तृतीय आरूप्य ध्यान के प्रशंसनीय होने से उसकी प्रशंसा की जाने पर भी उस (तृतीयारूप्यध्यान) का समावर्जन करने की अभिलाषा न होने के कारण अपनी अभिलाषा के अनुसार तृतीयारूप्यध्यान का अतिक्रमण करके चतुर्थारूप्यध्यान की प्राप्ति हो सकती है। जैसे – कोई राजा प्रदर्शनी में जाने पर वहाँ हस्तिदन्त से निर्मित सुन्दर मूर्तियों को देखकर दन्तकार की प्रशंसा करता है; फिर भी वह स्वयं दन्तकार (मूर्तिकार) नहीं होना चाहता ।

"दन्तकारे वण्णेन्तो पि, न राजा तब्बकामिको ।
असमापत्तिकामो व, योगी ततियतिक्कमो[1] ॥"

चार आरूप्यध्यानों की क्रमिक श्रेष्ठता – इन चारों आरूप्य समापत्तियों में उपेक्षा एवं एकाग्रता नामक दो ध्यानाङ्ग समान रूप से उपलब्ध होने के कारण आपाततः ये (चारों ध्यान) समान प्रतीत होते हैं; परन्तु नीचे नीचे की समापत्तियों से ऊपर ऊपर की समापत्तियाँ भावना के आधिक्य के कारण उत्तम होती हैं। जैसे – किसी चार मंजिले घर में प्रथमतल से द्वितीय, द्वितीयतल से तृतीय तथा तृतीयतल से चतुर्थतल अधिक सजा हुआ एवं अलङ्कृत हो, अथवा किसी तन्तुवाय द्वारा निर्मित पट क्रमशः श्रेष्ठ चार प्रकार के तन्तुओं से निर्मित हो, तो उनमें गृहत्व एवं पटत्व अविशिष्ट होने पर भी गृह के तलों एवं पट के भागों में श्रेष्ठता के क्रम से तरतमभाव होता ही है, उसी प्रकार चारों आरूप्य भूमियों को समझना चाहिये ।

"सुपणीततरा होन्ति, पच्छिमा पच्छिमा इध ।
उपमा तथा विञ्ञेय्या, पासादतलसाटिका[2] ॥"

(यहाँ तक अर्पणाभावना तक पहुँचने में समर्थ ३० कम्मट्ठानों का निरूपण हुआ ।)

अरूपावचर ध्यान समाप्त ।

४२. यहाँ अर्पणाभावना तक पहुँचने में असमर्थ बुद्धानुस्मृति-आदि अवशिष्ट १० कम्मट्ठानों की भावना एवं उनके निमित्तों का प्रतिपादन किया जाता है। बुद्धानुस्मृति

---

*. समाधीयति – रो० । †. उप्पज्जति – स्या० ।

१. तु० – विसु०, पृ० २२६; अट्ठ०, पृ० १६९ ।

२. विसु०, पृ० २३१; अट्ठ०, पृ० १७१ ।

पञ्च अभिञ्ञायो

४३. अभिञ्ञावसेन पवत्तमानं पन रूपावचरपञ्चमज्झानं अभिञ्ञापादकपञ्चमज्झाना वुट्ठहित्वा अधिट्ठेय्यादिकमावज्जेत्वा* परिकम्मं करोन्तस्स रूपादीसु† आरम्मणेसु यथारहमप्पेति।

अभिज्ञा के वश से प्रवर्तमान रूपावचर पञ्चमध्यान, अभिज्ञा के पादकभूत पञ्चमध्यान से उठकर अधिष्ठेय आलम्बन-आदि का आवर्जन करके परिकर्मभावना करनेवाले योगी की सन्तान में, रूप-आदि आलम्बनों में यथायोग्य अर्पणा को प्राप्त होता है।

कम्मट्ठान की भावना करने का अभिलाषी योगी अर्हत्-गुणों की भावना करना चाहता है, तो उसे अर्हत्-गुणों का आलम्बन करके "इति पि भगवा अरहं"—इत्यादि प्रकार से परिकर्म करना चाहिये। यहाँ गुण परिकर्मनिमित्त है तथा भावना परिकर्मभावना है। 'सम्मासम्बुद्ध'-आदि अन्य गुणों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

इन गुणों का सम्यग् ग्रहण हो जाने पर (उद्ग्रहनिमित्त प्रतिभासित हो जाने पर) उपर्युक्त परिकर्मभावना सम्पन्न हो जाती है। इससे अधिक समाधि होने पर वह नीवरण-आदि क्लेश धर्मों के निवृत्त हो जाने से उपचारभावना की सीमा में पहुँच जाती है। (बुद्धगुण-आदि में 'आदि' शब्द द्वारा धर्मगुण-आदि शेष ९ कम्मट्ठानों का ग्रहण करना चाहिये[1]।)

४० कम्मट्ठान समाप्त।

पाँच अभिज्ञायें

४३. 'अभिञ्ञावसेन...पञ्चमज्झानं'—'अभि विसेसतो जानातीति अभिञ्ञा' अर्थात् समाधिप्राबल्य के कारण शक्ति तीव्र हो जाने से विशेष रूप से जानने वाला, रूपावचरपञ्चमध्यानगत ज्ञान ही 'अभिज्ञा' है। 'अभिज्ञा' शब्द में 'अभि' शब्द 'विशेष' अर्थ में है। जिस पुद्गल ने अभी पारमिताओं की पूर्ति नहीं की है, उसे अभिज्ञा की प्राप्ति के लिये सर्वप्रथम पृथ्वीकसिण का आलम्बन करके तथा अप्-कसिण-आदि आलम्बनों का आलम्बन करके अनेक बार ध्यानों का समावर्जन करना चाहिये। इसी प्रकार चार अधिपतिधर्मों को सम्मुख करके (पुरे कत्वा) सम्पूर्ण (नौ) ध्यानों एवं (दस) कसिणों में वशिता की प्राप्ति तक भावना करनी चाहिये। ऐसा करने पर ही इस अभिज्ञा की प्राप्ति की जा सकती है। जिन पुद्गलों ने पारमिताओं की पूर्ति कर ली है, उन्हें पूर्वोक्त विधि से भावना न करने पर भी मार्ग की प्राप्तिमात्र से अथवा रूप-पञ्चमध्यान की प्राप्तिमात्र से ही अभिज्ञा की प्राप्ति हो सकती है।

---

*. ०मावज्जित्वा—स्या०। †. रूपादिसु०—सी०, ना०।

1. अं० नि०, तृ० भा०, पृ० ८।

2. सम्यग् एवं विस्तृत ज्ञान के लिये द्र०—विसु०, पृ० ७४, १११।

४४. अभिञ्ञा च नाम –

इद्धिविधं* दिब्बसोतं परचित्तविजानना† ।
पुब्बेनिवासानुस्सति दिब्बचक्खू ति पञ्चधा ॥

अयमेत्थगोचरभेदो ।
निट्ठितो च समथकम्मट्ठाननयो ।

अभिज्ञायें ये हैं –

ऋद्धिविध अभिज्ञा, दिव्यश्रोत्र अभिज्ञा, परचित्तविजानन अभिज्ञा, पूर्वनिवासानुस्मृति अभिज्ञा, एवं दिव्यचक्षु-अभिज्ञा – इस प्रकार अभिज्ञा पञ्चविध हैं।

इस कम्मट्ठानसङ्ग्रह में यह 'गोचरभेद' है।
शमथकम्मट्ठाननय समाप्त।

अभिञ्ञापादक...मावज्जेत्वा – पूर्वोक्त विधि के अनुसार चित्त को वशीभूत करके अथवा उसका दमन करके किसी एक अभिज्ञा की प्राप्ति के लिये सर्वप्रथम अभिज्ञा के पादकभूत पञ्चमध्यान का समावर्जन करना चाहिये। उक्त ध्यान से उठने के अनन्तर अभिज्ञा से सम्बद्ध अधिष्ठेय (अधिष्ठान करने योग्य) आलम्बनों में से किसी एक का लक्ष्य करके 'सतं होमि, सहस्सं होमि' – इत्यादि द्वारा परिकर्म करना चाहिये। अर्थात् इस समय परिकर्म करनेवाली कामजवनमनोद्वारवीथि होती है। यह परिकर्मवीथि अधिष्ठान करनेवाली वीथि होने के कारण 'अधिष्ठानवीथि' भी कही जाती है।

'अधिट्ठातब्बं ति अधिट्ठेय्यं' अर्थात् जिस आलम्बन का अधिष्ठान किया जाता है, उसे 'अधिष्ठेय' कहते हैं। जब सौ निर्मित कायों का निर्माण अभीष्ट हो, तब 'सतं होमि' तथा जब सहस्र निर्मित कायों का निर्माण अभीष्ट हो, तब 'सहस्सं होमि' – इस प्रकार परिकर्म करना चाहिये। इस प्रकार परिकर्म किये हुये तथा अधिष्ठान किये हुये (अधिष्ठित) आलम्बन को 'अधिष्ठेय' कहते हैं। यहाँ जिस आलम्बन का वर्णन किया गया है, वह नानाविध ऋद्धियों में से अधिष्ठान-ऋद्धि का उद्देश्य करके ही कहा गया है। 'अधिट्ठेय्यादिकं' में 'आदि' शब्द द्वारा अन्य ऋद्धियों से सम्बद्ध आलम्बनों का ग्रहण करना चाहिये।

रूपादीसु...मप्पेति – इस परिकर्मवीथि के होने के अनन्तर प्रस्तुत ग्रन्थ में पुनः पादकध्यानवीथि का प्रतिपादन न करके "सम्बद्ध रूपालम्बन-आदि आलम्बनों में से किसी एक का आलम्बन करके रूपपञ्चमध्यानवीथि 'अभिज्ञा' इस नाम से अर्पणा को प्राप्त होती है" – ऐसा कहा गया है। अट्ठकथाओं में कुछ स्थलों पर पुनः पादकध्यानवीथि का प्रतिपादन किया गया है तथा कुछ स्थलों में नहीं भी किया गया है। युक्तियों के साथ विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि अभिज्ञा में अभ्यस्त पुद्गलों के लिये पादकध्यानवीथि का उत्पाद आवश्यक नहीं है। उनमें परिकर्मवीथि के अनन्तर अभिज्ञावीथि हो सकती है; किन्तु जो अभ्यस्त नहीं हैं, उनमें पादकध्यानवीथि के अनन्तर अभिज्ञावीथि होनी चाहिये। जब यह अभिज्ञा-वीथि होती है, तब साथ ही साथ निर्मित रूप-आदि कायों का आविर्भाव भी होता है।

४४. **इद्धिविधं** – 'इज्झतीति इद्धि, इद्धिया विधो यस्सा ति इद्धिविधं' जो सिद्ध (सम्पन्न) होती है, वह 'ऋद्धि' है। जिस ज्ञान की ऋद्धि में प्रकार होते हैं, वह

*. इद्धिविधा – रो०।　　†. ०विजाननं – ना०।

'ऋद्धिविध' है। यहाँ नाना प्रकार की ऋद्धियों से सम्पन्न ज्ञान को 'ऋद्धिविध' कहा गया है। ऋद्धि शब्द के प्रसङ्ग में १० ऋद्धियाँ कही जाती हैं। यथा – अधिट्ठानिद्धि (अधिष्ठान-ऋद्धि), विकुब्बनिद्धि (विकुर्वाण-ऋद्धि), मनोमयिद्धि (मनोमयऋद्धि), ञाणविप्फारिद्धि (ज्ञानविस्फारऋद्धि), समाधिविप्फारिद्धि (समाधिविस्फारऋद्धि), अरियिद्धि (आर्यऋद्धि), कम्मजिद्धि (कर्मज-ऋद्धि), पुञ्ञवतो इद्धि (पुण्यवान् की ऋद्धि), विज्जामयिद्धि (विद्यामयऋद्धि), और तत्थ तत्थ सम्मापयोगपच्चया इद्धि (तत्र तत्र सम्यक्प्रयोगप्रत्यया ऋद्धि)[1]।

इन १० ऋद्धियों में से अधिट्ठानिद्धि, विकुब्बनिद्धि एवं मनोमयिद्धि – ये तीन ही ऋद्धिविध अभिज्ञा के प्रभेद हैं, शेष ७ ऋद्धियों का इन अभिज्ञाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है।

अधिट्ठानिद्धि – 'बहुभावादिकस्स अधिट्ठानं यस्सा ति अधिट्ठाना, अधिट्ठाना च सा इद्धि चा ति अधिट्ठानिद्धि' अर्थात् जो ऋद्धि बहुभाव (एक होकर भी अनेक होना)-आदि का अधिष्ठान करती है, वह 'अधिष्ठान-ऋद्धि' है। एक होकर बहुत होना, बहुत होकर पुनः एक होना, आविर्भूत होना, तिरोभूत होना, कुड्य (दीवार), प्राकार, पर्वत-आदि के मध्य से शरीर से बिना स्पर्श करते हुए आकाश में चलने की भाँति गमन करना, पृथ्वी में पानी की तरह उन्मज्जन-निमज्जन करना, पानी पर पृथ्वी की तरह चलना, पृथ्वी को पानी एवं पानी को पृथ्वी बनाना, पालथी मारकर आकाश में पक्षी की भाँति उड़ना, सूर्य एवं चन्द्र का हाथ से स्पर्श करना एवं ब्रह्मभूमि पर्यन्त सशरीर चले जाना-आदि अधिष्ठान-ऋद्धि के अनेक प्रकार होते हैं।

विकुब्बनिद्धि – 'विविधं कुब्बनं यस्सा ति विकुब्बना, विकुब्बना च सा इद्धि चा ति विकुब्बनिद्धि' – जिस ऋद्धि के बल से नाना प्रकार के रूपों को धारण किया जाता है, वह 'विकुर्वाण-ऋद्धि' है। यथा – अपने रूप एवं संस्थान (आकार) को छोड़कर अन्य रूप एवं संस्थानों का धारण करना, जैसे – नाग, गरुड़, कुम्भण्ड, यक्ष, गन्धर्व, देव, ब्रह्मा, समुद्र, पर्वत, वन, मृग, हस्ती, अश्व इत्यादि के रूपों को धारण करना।

परिकर्म करते समय अपनी इच्छा के अनुसार 'मैं नाग होऊँ, गरुड़ होऊँ' इत्यादि आकार से परिकर्म किया जाता है।

मनोमयिद्धि – 'मनसा निब्बत्ता मनोमया, मनोमया च सा इद्धि चा ति मनोमयिद्धि' चित्त से निर्वृत्त ऋद्धि को 'मनोमयऋद्धि' कहते हैं। असिधारिका (म्यान) में तलवार की तरह, केंचुली में सर्प की तरह अपने स्कन्ध (काय) के भीतर उसी वर्ण एवं आकृति के दूसरे काय का निर्माण करना, 'मनोमयऋद्धि' है।

पादकध्यान की समापत्ति करने के बाद 'यह काय सुषिर हो' इत्यादि आकार से परिकर्म करके जब अभिज्ञावीथि का उत्पाद होता है, तो काय में सुषिरता उत्पन्न हो

---

१. द्र० – पटि० म०, पृ० ४६७-४७७; विसु०, पृ० २६१-२६२।

जाती है। तदनन्तर पुनः पादकध्यान का समावर्जन करके 'इस काय के अन्दर अन्य काय उत्पन्न हो' – इस प्रकार परिकर्म करके जब अभिज्ञावीथि होती है, तब उस शरीर में तत्सदृश एक अन्य काय का उत्पाद होता है। इस प्रकार परिकर्म एवं अभिज्ञावीथि के सम्पन्न होने पर इष्ट ऋद्धि की सिद्धि होती है।

'विकुब्बनिद्धि' में स्वशरीर का त्याग करके अन्य शरीर का धारण करना होता है। इस 'मनोमयिद्धि' में स्वशरीर का त्याग न करते हुये तत्सदृश अन्य शरीर का निर्माण होता है।

इन दोनों ऋद्धियों से अवशिष्ट ऋद्धि 'अधिट्ठानिद्धि' है।

दिब्बसोतं – 'दिवि भवं दिब्बं, दिब्बं च तं सोतञ्चा ति दिब्बसोतं, दिब्बसोतं विया ति दिब्बसोतं' देवभूमि में होनेवाले श्रोत्र को 'दिव्यश्रोत्र' कहते हैं, उसकी तरह होने के कारण अभिज्ञा को भी 'दिव्यश्रोत्र' कहते हैं। देव एवं ब्रह्माओं के अपने विशिष्ट कर्म से उत्पन्न श्रोत्रप्रसाद श्लेष्म, पित्त, लोहित, वायु-आदि विघ्नों से रहित होने के कारण अत्यन्त स्वच्छ होते हैं, अतः वे बहुत दूर के एवं अत्यन्त धीमे शब्दों को भी सुनने में समर्थ होते हैं। यह दिव्यश्रोत्र-अभिज्ञा भी विशिष्ट समाधि से उत्पन्न होती है, अतः यह भी देव-ब्रह्माओं के श्रोत्र की तरह दूरस्थ एवं अत्यन्त मन्द शब्दों को सुनने में समर्थ होती है।

[इसका विस्तार एवं भावनाविधि आदि विशुद्धिमार्ग में देखना चाहिये। आगे आनेवाली अभिज्ञाओं का भी यहाँ सङ्क्षेप में ही वर्णन होगा।]

परचित्तविजानना – 'परेसं चित्तं परचित्तं, परचित्तं विजानातीति परचित्तविजानना' दूसरे के चित्तों को जानने में समर्थ अभिज्ञा 'परचित्तविजानना अभिज्ञा' कहलाती है। इसे 'चेतोपरियाभिञ्ञा' (चेतःपर्याय-अभिज्ञा) भी कहते हैं।

पुब्बेनिवासानुस्सति – 'निवसीयिंसू ति निवासा, पुब्बे निवासा पुब्बनिवासा, पुब्बनिवासानं अनुस्सति पुब्बनिवासानुस्सति' अनेक पूर्व भवों में जिन जिन योनियों में या शरीरों में निवास किया गया है, उन्हें 'पूर्वेनिवास' कहते हैं, उनके अनुस्मरण को 'पूर्वेनिवासानुस्मृति' कहा जाता है। अर्थात् 'निवास' शब्द द्वारा न केवल अपनी निवास-भूमि ही; अपितु पूर्व पूर्व भवों में अपने चित्त द्वारा आलम्बन किये गये स्वस्कन्ध, पर-स्कन्ध, उन स्कन्धों से सम्बद्ध नाना प्रकार के गोत्र, निर्वाणप्राप्त किसी परिचित व्यक्ति का निर्वाण-आदि सबका चित्त द्वारा निवास किया गया होने से अथवा प्रत्यक्षतः आलम्बन किया गया होने से ग्रहण होता है। इसलिये पूर्वेनिवास दो प्रकार का कहा गया है, यथा– आलम्बननिवास एवं अध्युषित (अज्झवुत्थ)-निवास। इनमें से आलम्बन किये गये परस्कन्ध-आदि 'आलम्बननिवास' तथा वास किये गये स्वस्कन्ध 'अज्झवुत्थ (अध्युषित)-निवास' हैं। इन सभी का स्मरण करनेवाला, स्मृति चैतसिक से सम्प्रयुक्त ज्ञान 'पूर्वेनिवासानुस्मृति अभिज्ञा' है।

दिब्बचक्खु – देव एवं ब्रह्माओं के अपने विशिष्ट कर्म से उत्पन्न चक्षुःप्रसाद श्लेष्म, पित्त, लोहित, वायु आदि विघ्नों से रहित होने के कारण अत्यन्त स्वच्छ होते

हैं। अतः वे अत्यन्त दूरस्थ एवं अत्यन्त सूक्ष्म रूपों को भी देखने में समर्थ होते हैं। यह दिव्यचक्षु नामक अभिज्ञा भी विशिष्ट समाधि के बल से उत्पन्न होती है, अतः यह भी देव और ब्रह्माओं के चक्षुःप्रसादों की तरह अत्यन्त दूरस्थ एवं सूक्ष्म रूपों के परिज्ञान में समर्थ होती है। यहाँ तक कि यह पुद्गलों की च्युति एवं प्रतिसन्धि को भी देखने में समर्थ होती है, अतः इसे 'च्युत्युपपादज्ञान' भी कहते हैं।

अभिज्ञाओं की संख्या कहीं ५ कहीं ६ कहीं ७ कही गयी है। उनमें पाँच अभिज्ञायें तो ऊपर मूल में वर्णित पाँच अभिज्ञायें ही हैं। 'अभिज्ञा ६ हैं' — ऐसा कहने पर उपर्युक्त पाँच अभिज्ञाओं के साथ 'आस्रवक्षयज्ञान' को मिलाने से वे (अभिज्ञायें) ६ हो जाती हैं। आस्रव (या आसव) धर्मों का क्षय करनेवाले अर्हत्-मार्गज्ञान को 'आस्रव-क्षय-अभिज्ञा' कहते हैं। यह अभिज्ञा लोकोत्तर है, शेष पाँच लौकिक हैं। 'अभिज्ञा ७ हैं' — ऐसा कहने पर मूल ५ अभिज्ञाओं के साथ 'यथाकर्मोपग (यथाकम्मूपग)-अभिज्ञा' एवं 'अनागतांश' (अनागतंस) — अभिज्ञा' को मिलाने से वे (अभिज्ञायें) ७ हो जाती हैं।

यथाकम्मूपगाभिञ्ञा — दिव्यचक्षु-अभिज्ञा प्राप्त हो जाने पर इन (यथाकर्मोपग एवं अनागतांश) अभिज्ञाओं की सिद्धि भी हो जाती है, अतः अभिधम्मत्थसङ्गहकार ने इनका पृथक् वर्णन नहीं किया है। परन्तु यहाँ इनकी विशेष शक्ति का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

'यथाकम्मं उपगच्छन्तीति यथाकम्मूपगा' कर्म के अनुसार उन उन भवों में गमन करनेवाले सत्वों को 'यथाकर्मोपग' कहते हैं। उन सत्वों के पूर्वकर्मों को जाननेवाले ज्ञान को 'यथाकर्मोपगाभिज्ञा' (यथाकम्मूपगाभिञ्ञा) कहते हैं। सर्वप्रथम योगी दिव्य-चक्षु द्वारा उन उन भवों में पहुँचनेवाले सत्वों को देखता है, तदनन्तर उसमें पादक-ध्यान का समावर्जन करके उस ध्यान से उठते समय 'किस कर्म के कारण इस भूमि में उत्पाद होता है' — इस प्रकार विचार करनेवाली परिकर्मवीथि उत्पन्न होती है। इसके पश्चात् पुनः पादकध्यान का समावर्जन करके जब 'अभिज्ञा वीथि' होती है, तब उन उन भवों में पहुँचने के कारणभूत कर्मों का सम्यक् ज्ञान होता है।

अनागतंसाभिञ्ञा — किसी सत्त्व के अनागत भव में होनेवाले विषयों को जाननेवाला ज्ञान 'अनागतांश अभिज्ञा' है।

दूरस्थ पुद्गल को दिव्यचक्षु द्वारा देखकर उसके अतीत भव एवं प्रत्युत्पन्न भव के कृत कर्मों को यथाकर्मोपगज्ञान द्वारा जानकर 'इन कर्मों के कारण अनागतभव में क्या परिणाम होगा' — इस प्रकार परिकर्म वीथि होती है। तदनन्तर पादकध्यानवीथि उत्पन्न होकर जब अभिज्ञावीथि होती है, तो उसके सम्पूर्ण अनागत विषयों का परिज्ञान हो जाता है[1]।

गोचरभेद समाप्त।

शमथकम्मट्ठान नय समाप्त।

---

१. अभिज्ञा सम्बन्धी विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० — विसु०, 'इद्धिविध-निद्देसो' एवं 'अभिञ्ञानिद्देसो' (१२ वाँ एवं १३वाँ परिच्छेद); पटि० मं०, पृ० १२४-१२६, ४६७-४७७; दी० नि०, प्र० भा०, पृ० ६८-७४।

विपस्सनाकम्मट्ठाननयो

४५. विपस्सनाकम्मट्ठाने पन सीलविसुद्धि, चित्तविसुद्धि, दिट्ठिविसुद्धि, कङ्खावितरणविसुद्धि, मग्गामग्गञाणदस्सनविसुद्धि, पटिपदाञाणदस्सनविसुद्धि, ञाणदस्सनविसुद्धि चेति सत्तविधेन विसुद्धिसङ्गहो।

विपश्यना कम्मट्ठान में शीलविशुद्धि, चित्तविशुद्धि, दृष्टिविशुद्धि, काङ्क्षावितरणविशुद्धि, मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि, प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि, एवं ज्ञानदर्शनविशुद्धि – इस तरह सात प्रकार से विशुद्धिसङ्ग्रह जानना चाहिये[1]।

तीणि लक्खणानि

४६. अनिच्चलक्खणं, दुक्खलक्खणं, अनत्तलक्खणञ्चेति तीणि लक्खणानि।

अनित्यलक्षण, दुःखलक्षण, एवं अनात्मलक्षण – ये तीन लक्षण जानने चाहिये।

विपश्यनाकम्मट्ठान

४५. इस विपश्यना कम्मट्ठान में जानने योग्य वस्तुयें इस प्रकार हैं, यथा – सात विशुद्धियां, तीन लक्षण, तीन अनुपश्यनायें, दस ज्ञान, तीन विमोक्ष एवं तीन विमोक्षमुख। इनमें सात विशुद्धि आदि का सविस्तर वर्णन यथाप्रसङ्ग किया जायगा। यहां अनित्य, दुःख एवं अनात्म नामक तीन लक्षणों का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

तीन लक्षण

४६. लक्षण – 'लक्खीयति लक्खितब्बं अनेना ति लक्खणं' अर्थात् जिसके द्वारा लक्षितव्य धर्मों को लक्षित किया जाता है, उसे 'लक्षण' कहते हैं। अर्थात् 'धर्म संस्कृत हैं अथवा नहीं हैं' इस बात की परीक्षा करने की कसौटी को 'लक्षण' कहते हैं। लक्षण तीन प्रकार के होते हैं, यथा – अनित्यता, दुःखता एवं अनात्मता। किसी एक धर्म को लेकर उसकी 'यह धर्म नित्य है या अनित्य ?' – इस प्रकार परीक्षा करने पर यदि यह ज्ञात हो कि यह निश्चितरूप से नाशस्वभाव है, तो 'यह संस्कृतधर्म है' – ऐसा निश्चय करना चाहिये। इसी तरह परीक्षा करने पर धर्म यदि दुःखस्वभाव या अनात्मस्वभाव ज्ञात हों, तो 'ये धर्म एकान्ततः संस्कृत हैं' – ऐसा निश्चय करना चाहिये।

---

1. तु० – वी० नि०, तृ० भा०, पृ० २३३। द्र० – म० नि०, प्र० भा०, पृ० १९४-१९८।

[यदि धर्म नित्य एवं दुःखाभावस्वरूप होने से संस्कृत निश्चित नहीं होता है, तो 'वह अवश्य असंस्कृत निर्वाण या प्रज्ञप्तिधर्म होगा' – ऐसा जानना चाहिये ।]

अनित्यलक्षण – अनित्य नाम-रूपात्मक संस्कृत धर्म 'अनित्य' कहे जाते हैं। उन अनित्य संस्कृत धर्मों के परिचायक चिह्न को 'अनित्य लक्षण' कहते हैं। वह चिह्न 'खयट्ठेन अनिच्चं' के अनुसार 'विनाश' ही है। 'अनिच्चस्स लक्खणं अनिच्च-लक्खणं' अनित्य संस्कृत धर्मों के लक्षण (स्वभाव) को 'अनित्यलक्षण' कहा जाता है। अथवा – 'अनिच्चस्स भावो अनिच्चता, अनिच्चता येव लक्खणं अनिच्चता-लक्खणं' (यहाँ 'ता' प्रत्यय का लोप करके 'अनिच्चलक्खणं' यह शब्द सिद्ध होता है।) अनित्य संस्कृत धर्मों का स्वभाव 'अनित्यता' है, यह अनित्यता ही लक्षण है, अतः इसे 'अनित्यलक्षण' कहते हैं।

इसी प्रकार दुःख एवं दुःखलक्षण तथा अनात्म एवं अनात्मलक्षण के भेद भी जानना चाहिये[1]।

जीवात्मा – आत्मा के सम्बन्ध में आत्मवादोपादान के वर्णनप्रसङ्ग में पर्याप्त कहा जा चुका है[2]। यहाँ जीवात्मा के विषय में सङ्क्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। बुद्धशासन से बाहर तैर्थिकों द्वारा जीवात्मा के स्वरूप-आदि के बारे में नाना प्रकार की कल्पना की जाती है और अनेकविध दृष्टियों का उपादान किया जाता है। जैसे – चक्षु, नासिका, कर्ण आदि अङ्ग-प्रत्यङ्गों से युक्त सम्पूर्ण शरीर आत्मा का आवास है। आत्मा इस आवास में निवास करते हुये नानाविध कर्मों का सम्पादन करता है, पूर्वकृत कुशल-अकुशल कर्मों का फल भोगता है तथा प्रत्युत्पन्न भव के वीर्य (प्रयत्न) का भी फल भोगता है-आदि। कुछ लोगों का मन्तव्य है कि यह आत्मा हृदयस्थान में रहता है तथा परमाणु की भाँति अत्यन्त सूक्ष्म होता है। अन्य लोग कहते हैं कि आत्मा का परिमाण चमरी गाय की पुच्छ के केशाग्र का शततमांश होता है। कुछेक का कहना है कि आत्मा का परिमाण स्कन्ध के परिमाण के अनुसार होता है, यथा – यदि स्कन्ध छोटा होगा, तो आत्मा छोटा तथा स्कन्ध बड़ा होगा, तो आत्मा भी बड़ा होगा-आदि। कुछ लोग यह प्रतिपादन करते हैं कि स्कन्ध के भीतर आश्वास-प्रश्वास के आवागमन के लिये इडा एवं पिङ्गला नामक दो नाड़ियाँ होती हैं, उन दोनों के मध्य में एक सुषुम्ना नामक बड़ी नाड़ी होती है। वह नाड़ी सीधे ऊपर जाकर ब्रह्मरन्ध्र में मिल जाती है। (मरते समय इस छिद्र से निकलने पर आत्मा ब्रह्मभूमि में पहुँच जाता है, अतः इसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं।) इन नाड़ियों के सङ्गमस्थल सहस्रदलकमल में चन्द्रमा के प्रकाश की भाँति एक शीतल प्रकाशपुञ्ज होता है, यहाँ आत्मा निवास करता है।

---

१. द्र० – विसु०, पृ० ४३०-४३२; विभ० अ०, पृ० ४९-५२

२. द्र० – अभि० स० ७ : ७ पृ० ७४०-७४३।

तिस्सो अनुपस्सना

४७. अनिच्चानुपस्सना, दुक्खानुपस्सना, अनत्तानुपस्सना चेति तिस्सो अनुपस्सना।

अनित्यानुपश्यना, दुःखानुपश्यना एवं अनात्मानुपश्यना – इस प्रकार ये तीन अनुपश्यनायें जाननी चाहिये।

इस प्रकार नाम और रूप धर्मों का स्वभाव और उनकी उत्पत्ति का स्वभाव न जानने के कारण शासन से बाह्य तैर्थिक लोग आत्मा के नाना प्रकार के आकार और आवासों की कल्पना करते हैं।

अनात्म – रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान नामक पाँच स्कन्ध उपर्युक्त आत्मा न होने से 'अनात्म' हैं। 'नत्थि अत्ता येसू ति पि अनत्ता' अर्थात् पाँच स्कन्धों में आत्मा न होने से ये 'अनात्म' हैं। नाम-रूपात्मक स्कन्धों से व्यतिरिक्त निर्वाण एवं प्रज्ञप्ति धर्मों में भी आत्मा नहीं है। अतः संस्कृत एवं असंस्कृत सभी धर्म सर्वथा 'अनात्म' हैं।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि अनित्य एवं दुःख द्वारा संस्कृत धर्मों का तथा अनात्म शब्द द्वारा संस्कृत एवं असंस्कृत सभी प्रकार के धर्मों का ग्रहण होता है। इसीलिये "सब्बे सङ्खारा अनिच्चा, सब्बे सङ्खारा दुक्खा" कहकर पुनः "सब्बे धम्मा अनत्ता" – ऐसा कहा गया है[1]।

अनात्मलक्षण – लोग विश्वास करते हैं कि नाम-रूप धर्मों में आत्मा नामक एक नित्य एवं सारभूत धर्म होता है, जिसकी इच्छा से नामरूपात्मक धर्म परिचालित होते हैं; किन्तु बुद्धि द्वारा परीक्षा करने पर इनमें 'नित्य एवं सारभूत कुछ भी तत्त्व नहीं है' – ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है। वे नाम–रूप धर्म किसी भी वस्तु को अपने वश में नहीं कर सकते तथा स्वयं भी किसी के वशवर्ती नहीं होते; अपितु कार्यकारणवश उत्पाद के समनन्तर निरुद्ध होते हैं। इसीलिये 'सारभूत न होना' एवं 'वशी न होना' – ये पञ्चस्कन्धों में आत्मा न होने का लक्षण है।

सङ्क्षेपतः नाम-रूप धर्मों की विपरिणामता 'अनित्यलक्षण' है, उदयव्यय एवं परिपीडन स्वभाव 'दुःखलक्षण' है तथा असारता एवं अवशवर्तिता 'अनात्मलक्षण' है।

तीन अनुपश्यनायें

४७. त्रैभूमिक संस्कृत धर्मों के अनित्य लक्षण, दुःख लक्षण एवं अनात्म लक्षण अवभासित होने के लिये पुनः पुनः विपश्यना करनेवाला ज्ञान ही 'अनुपश्यना' कहलाता है।

---

१. द्र० – खु० नि०, प्र० भा० (धम्म०), पृ० ४३।

दस विपस्सनाञाणानि

४८. सम्मसनञाणं, उदयब्बयञाणं*, भङ्गञाणं†, भयञाणं, आदीनवञाणं, निब्बिदाञाणं, मुञ्चितुकम्यताञाणं‡, पटिसङ्खाञाणं, सङ्खारुपेक्खाञाणं, अनुलोमञाणञ्चेति दस विपस्सनाञाणानि।

सम्मर्शन ज्ञान, उदयव्यय ज्ञान, भङ्गज्ञान, भयज्ञान, आदीनवज्ञान, निर्विदाज्ञान, मोक्तुकाम्यताज्ञान, प्रतिसंख्याज्ञान, संस्कारोपेक्षाज्ञान एवं अनुलोमज्ञान – इस प्रकार ये १० विपश्यना ज्ञान जानने चाहिये।

तयो विमोक्खा

४९. सुञ्ञतो विमोक्खो, अनिमित्तो विमोक्खो, अप्पणिहितो विमोक्खो चेति तयो विमोक्खा।

शून्यता विमोक्ष, अनिमित्त विमोक्ष एवं अप्रणिहित विमोक्ष – इस प्रकार ये तीन विमोक्ष जानने चाहिये।

तीणि विमोक्खमुखानि

५०. सुञ्ञतानुपस्सना, अनिमित्तानुपस्सना, अप्पणिहितानुपस्सना चेति तीणि विमोक्खमुखानि च वेदितब्बानि।

शून्यतानुपश्यना, अनिमित्तानुपश्यना एवं अप्रणिहितानुपश्यना – इस प्रकार ये तीन विमोक्षमुख जानने चाहिये।

विसुद्धिभेदो

सीलविसुद्धि

५१. कथं? पातिमोक्खसंवरसीलं§, इन्द्रियसंवरसीलं, आजीवपारिसुद्धिसीलं, पच्चयसन्निस्सितसीलञ्चेति चतुपारिसुद्धिसीलं सीलविसुद्धि नाम।

कैसे? प्रातिमोक्षसंवर शील, इन्द्रियसंवरशील, आजीवपारिशुद्धि शील एवं प्रत्ययसन्निश्रितशील – इस प्रकार यह चतुःपारिशुद्धि शील 'शील-विशुद्धि' कहलाता है।

४८-५०. १० विपश्यनाज्ञान, ३ विमोक्ष एवं ३ विमोक्षमुख – इनका वर्णन आगे यथास्थान किया जायेगा।

विशुद्धिभेद

शीलविशुद्धि

५१. कायदुश्चरित, वाग्दुश्चरित एवं मनोदुश्चरित के अनुत्पाद के लिये अपने काय, वाक् एवं मनस् का संवरण (संयमन) करना ही 'शील' है।

---

*. उदयव्यय० – सी० (सर्वत्र)। †. भवङ्ग० – रो०।

‡. मुञ्चितु० – म० (क, ख)। §. पाटिमोक्ख० – स्या०।

'पातिं मोक्खेतीति पातिमोक्खं' – अर्थात् जो धर्म अपने पालन करनेवाले को अपाय एवं सांसारिक (वट्ट) दुःखों से मुक्त कर देता है, उसे 'प्रातिमोक्ष' कहते हैं। 'संवरति एतेना ति संवरो' अर्थात् जिसके द्वारा कायद्वार, वाग्द्वार एवं मनोद्वार का संवरण किया जाता है, वह 'संवर' कहलाता है। 'पातिमोक्खमेव संवरो पातिमोक्खसंवरो' प्रातिमोक्ष (शिक्षापद) ही संवर भी होता है, अतः उसे ही 'प्रातिमोक्षसंवर' कहते हैं। 'पातिमोक्खसंवरो च सो सीलञ्चा ति पातिमोक्खसंवर-सीलं' प्रातिमोक्षसंवर ही शील भी है, अतः वह 'प्रातिमोक्षसंवरशील' कहलाता है।

भिक्षु-भिक्षुणी प्रातिमोक्ष में आनेवाले शील ही संक्षेप से 'प्रातिमोक्षसंवर-शील' हैं[1]।

विस्तार से ९११८०५०३६००० शिक्षापदों में से कुछ इन्द्रियसंवर, आजीव-पारिशुद्धि, एवं प्रत्ययसन्निश्रित शील को छोड़कर सब शिक्षापद 'प्रातिमोक्षसंवरशील' हैं।

यह प्रातिमोक्षसंवरशील श्रद्धाप्रधान होता है। श्रद्धासम्पन्न पुद्गल ही इनका पालन करने में समर्थ होते हैं। इसके द्वारा केवल काय एवं वाक् का संवरण ही किया जा सकता है, मन का नहीं। अतएव 'मनोद्वारे अनापत्ति' कहा गया है। अर्थात् मनोद्वार में विकार आने पर भी प्रातिमोक्षसंवरशील का भङ्ग नहीं होता।

इन्द्रियसंवरसीलं – 'इन्द्रियानं संवरो इन्द्रियसंवरो' इन्द्रियों का संवरण करनेवाला शील ही 'इन्द्रियसंवरशील' है। अर्थात् अभिध्या, दौर्मनस्य-आदि अकुशल धर्मों के अनुत्पाद के लिये चक्षु-आदि ६ इन्द्रियों का संवरण करना ही 'इन्द्रिय-संवरशील' है।

यह शील स्मृतिप्रधान होता है। सभी देखे गये, सुने गये-आदि धर्मों में अकुशलों के अनुत्पाद के लिये दृढ़तापूर्वक स्मरण रखने से ही इस शील की रक्षा की जा सकती है। यदि स्मरण दृढ़ न होगा, तो एकान्त में रहते हुये भी इस शील का भङ्ग हो सकता है। सङ्क्षेप से चित्त के संयम द्वारा ही इस शील की रक्षा सम्भव है[2]।

आजीवपारिसुद्धिसीलं – जीविकोपार्जन के लिये किये जानेवाले कायकर्म एवं वाक्कर्म 'आजीव' कहलाते हैं। उन आजीवनामक कायप्रयोग एवं वाग्प्रयोग की विशुद्धि के कारणभूत शील ही 'आजीवपारिशुद्धि शील' हैं।

---

१. द्र० – विसु०, पृ० १०-११; विभ०, पृ० २९४-२९६; अट्ठ०, पृ० ३१३-३१६।

२. द्र० – विसु०, पृ० १३-१५; विभ०, पृ० २९८-२९९; म० नि०, प्र० भा०, पृ० २३१; अट्ठ०, पृ० ३१६-३१७।

'आजीवन्ति एतेना ति आजीवो, आजीवस्स पारिसद्धि आजीवपारिसुद्धि' अर्थात् जिस कायप्रयोग एवं वाक्प्रयोग द्वारा मनुष्य जीवित रहते हैं, उसे 'आजीव' कहते हैं। उसकी परिशुद्धि ही 'आजीवपारिशुद्धि' कही जाती है।

भगवान् बुद्ध द्वारा गर्हित कुलदूषण, अनेसन (अन्वेषण) आदि मिथ्याजीव से विमुख होकर परिशुद्ध (परितःशुद्ध) होने के लिये चार प्रत्ययों (चीवर, पिण्डपात, शयनासन, एवं भैषज्य) का धर्म के अनुसार अन्वेषण करके जीविका का निर्वाह करने से ही इस शील की रक्षा की जा सकती है।

इस शील में वीर्य, प्रधान होता है। वीर्य के अभाव में आलस्य के कारण उपर्युक्त प्रत्ययों की अनायास प्राप्ति के लिये कुलदूषण-आदि कर्मों को करने से इस शील का भङ्ग हो जाता है।

जीविका के लिये मिथ्याप्रयुक्त कायदुश्चरित, वाग्दुश्चरित ही 'मिथ्याजीव' कहे जाते हैं। यथा—अपने लाभसत्कार के लिये उपासक-उपासिकाओं को कुछ वस्तुएँ देना, अपने प्रति लोगों की श्रद्धा पैदा करने के लिये स्वयं को बढ़ा चढ़ाकर कहना, दान देने के लिये प्रोत्साहित करना, दवा देना, अनागत का फल कहना-आदि कर्मों द्वारा प्राप्त वस्तु न केवल तत्सम्बद्ध भिक्षु ही के लिये; अपितु सम्पूर्ण शासन के लिये भी भोग करने योग्य नहीं है[1]।

"अनेसनाय चित्तं पि, अजनेत्वा विचक्खणो।
आजीवं परिसोधेय्य सद्धापब्बजितो यतीति[2]॥"

बुद्धशासन एवं अपने अनागत का विचार करनेवाला विद्वान् श्रद्धा से प्रव्रजित यति (शासन के भार को वहन करने में समर्थ) भिक्षु (शासन एवं अपने गुणों को मलिन न होने देने के लिये) भगवान् बुद्ध द्वारा गर्हित कुलदूषण-आदि द्वारा चार प्रत्ययों के अन्वेषण में चिन्तनमात्र भी न करके इस क्षणभङ्गुर जीवन के लिये मिथ्याजीव का समाश्रयण न कर आजीव की परिशुद्धि करे।

पच्चयसन्निस्सितसीलं – चीवर, पिण्डपात, शयनासन एवं भैषज्य नामक चार प्रत्ययों में निश्रित शील ही 'प्रत्ययनिश्रितशील' है।

आजीवपारिशुद्धि द्वारा धर्मपूर्वक प्राप्त चार प्रत्ययों का "पटिसङ्खा योनिसो चीवरं पटिसेवामि, यावदेव सीतस्स पटिघाताय, उण्हस्स पटिघाताय डंसमकसवातातप-सिरिंसपसम्फस्सानं पटिघाताय यावदेव हिरिकोपीनप्पटिच्छादनत्थं पटिसेवामि"[3]— आदि द्वारा प्रत्यवेक्षण करके सेवन करना चाहिये। अर्थात् योनिशः प्रत्यवेक्षण करके मैं चीवर का सेवन करता हूँ। शीत के प्रतिघात के लिये, उष्णता के अपनोदन के लिये तथा डंस, मच्छर, वात, आतप, सर्प आदि के संस्पर्शों के प्रतिघात के लिये अथवा

---

१. द्र० – विसु०, पृ० १५-२०।

२. विसु०, पृ० २८।

३. दु० – म० नि०, प्र० भा०, पृ० १४; विसु०, पृ० ११।

लज्जा के स्थानों को ढँकने मात्र के लिये चीवर धारण करता हूँ। प्रत्यवेक्षण करते समय केवल मुख से उच्चारणमात्र करना नहीं है; अपितु मन से अर्थ को जान प्रत्यवेक्षण करना चाहिये।

उपर्युक्त विधि से प्रत्यवेक्षण न करके वर्ण (रूप) – सम्पन्नता आदि के लिये प्रमादपूर्वक आसेवन करने से इस शील का भङ्ग हो जाता है। कम से कम अरुणोदय से पहले प्रतिदिन इन चार प्रत्ययों का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये। चीवर पहनते समय, भोजन करते समय, विहार में प्रवेश एवं विहार से निर्गमन करते समय तथा औषधि ग्रहण करते समय इन प्रत्ययों का प्रत्यवेक्षण अत्युत्तम है।

[पिण्डपात, शयनासन एवं भैषज्य प्रत्ययों की प्रत्यवेक्षण विधि विशुद्धिमार्ग में देखना चाहिये।]

कुत्सित पञ्चस्कन्ध से सम्बद्ध, भोगने योग्य चार प्रत्यय भी कुत्सित ही हैं – इस प्रकार प्रतिकूल संज्ञा द्वारा प्रत्यवेक्षण एवं पञ्चस्कन्ध के साथ ये चार प्रत्यय भी धातु (पृथ्वी-आदि) – समूह ही हैं, – इस प्रकार धातुमनसिकार द्वारा भी प्रत्यवेक्षण किया जा सकता है। इस प्रतिकूलसंज्ञा एवं धातुमनसिकार द्वारा प्रत्यवेक्षण न करने से भी शील का भङ्ग नहीं होता। उपर्युक्त 'पटिसङ्खा योनिसो' आदि द्वारा प्रत्यवेक्षण न करने से शील का भङ्ग हो जाता है।

यह प्रज्ञाप्रधान शील है। प्रज्ञा द्वारा ही इनका प्रत्यवेक्षण किया जा सकता है[1]।

चतुपारिसुद्धिसीलं – उपर्युक्त चार प्रकार के शीलों को ही 'चतुःपारिशुद्धिशील' कहते हैं। इन चार शीलों का भङ्ग हो जाने पर उन्हें पुनः विशुद्ध करने के चार प्रकार (नय) होते हैं। यथा –

"देसना – संवरो – एट्ठि – पच्चवेक्खणभेदतो।
सुद्धि चतुब्बिधा वुत्ता, मुनिनादिच्चबन्धुना[2]॥"

देशनाशुद्धि – जब प्रातिमोक्षसंवरशील का भङ्ग हो जाता है, तब अपने साथ रहनेवाले भिक्षु को 'मेरा यह शील भङ्ग हो गया है' – ऐसा कहना चाहिये। इस प्रकार कहने से 'थुल्लच्चय'-आदि पाँच छोटी आपत्तियों की पुनः विशुद्धि हो जाती है। इसीलिये देशना द्वारा विशुद्धि कही गयी है। संघादिसेस आपत्तियों के लिये परिवास एवं मानत्त व्रत करना तथा पाराजिक आपत्ति के लिये भिक्षुभाव को छोड़ना-आदि भी देशनाशुद्धि कही जा सकती है। यथा –

"चागो यो भिक्खुभावस्स सा पाराजिकदेसना[3]।"

जो भिक्षुभाव का परित्याग है, वह पाराजिक देशना है। इसलिये संघादिसेस आपत्तियों के होने पर परिवास एवं मानत्त का अधिष्ठान करने से पुनः शील-

१. द्र० – विसु०, पृ० २९-२३; म० नि०, प्र० भा०, पृ० १४-१५; अट्ठ०, पृ० ३१८-३२०।
२. तु० – विसु०, पृ० २१।
३. खुद्दकसिक्खा।

चित्तविसुद्धि

५२. उपचारसमाधि अप्पनासमाधि चेति दुविधो पि समाधि चित्तविसुद्धि नाम।

उपचारसमाधि एवं अर्पणासमाधि – इस प्रकार द्विविध समाधि चित्तविशुद्धि है।

विशुद्धि होती है तथा पाराजिक आपत्ति होने पर भिक्षुभाव के त्याग से ही 'शीलविशुद्धि' होती है।

उपर्युक्त विधि से आपत्तियों की देशना करने से मार्ग, फल, निर्वाण एवं ध्यान की प्राप्ति के विघ्न नष्ट हो जाते हैं। छोटी सी आपत्ति की भी देशना न करने से मार्ग, फल, निर्वाण एवं ध्यान में विघ्न होते हैं।

संवरशुद्धि – चक्षु-आदि ६ इन्द्रियों में से किसी एक द्वारा लोभ, द्वेष-आदि उत्पन्न होने पर 'पुनः ऐसा नहीं होगा' – ऐसा अधिष्ठान करके संवरण करने पर 'इन्द्रियसंवरशील' की पुनः विशुद्धि हो जाती है।

पर्येष्टिशुद्धि – कुलदूषण, अन्वेषण-आदि मिथ्या-आजीव का परित्याग करके धर्मपूर्वक अन्वेषण करने से ही आजीवपारिशुद्धिशील की विशुद्धि होती है।

प्रत्यवेक्षणशुद्धि – प्राप्त चार प्रत्ययों का प्रत्यवेक्षण करके परिभोग करने से प्रत्ययसंनिश्रितशील की पुनः विशुद्धि होती है।

उपर्युक्त चतुःपारिशुद्धिशील की रक्षा या पालना करने से ही भिक्षु की शीलविशुद्धि होती है। गृहस्थ योगियों के लिये अपने अनुरूप शील की रक्षा या पालना करने से ही शीलविशुद्धि कही गयी है।

चित्तविशुद्धि

५२. कामच्छन्द नीवरण-आदि मलों से चित्त की विशुद्धि को 'चित्तविशुद्धि' कहते हैं। शमथकम्मट्ठान को आरब्ध करके जब योगी उपचार भावना तक पहुँचता है, तब चित्त नीवरणधर्मों से विशुद्ध हो जाता है, अतः उपचार भावना को 'चित्तविशुद्धि' कहते हैं। अर्पणाभावना द्वारा चित्त विशुद्धि के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है। इसलिये विपश्यनाभावना को आरब्ध करने का अभिलाषी योगी शमथकम्मट्ठान की सर्वप्रथम उपचारसमाधिपर्यन्त या अर्पणासमाधिपर्यन्त भावना करके अपने चित्त को नीवरण आदि मलों से विशुद्ध करे।

'चित्तस्स विसुद्धि चित्तविसुद्धि' नीवरण धर्मों से चित्त की विशुद्धि को ही 'चित्तविशुद्धि' कहा गया है।

दिट्ठिविसुद्धि

५३. लक्खण-रस-पच्चुपट्ठान-पदट्ठानवसेन* नाम-रूपपरिग्गहो दिट्ठि-विसुद्धि नाम।

लक्षण, रस, प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान के वश से नाम-रूप धर्मों का परिग्रह (ग्रहण) 'दृष्टिविशुद्धि' कहलाता है।

दृष्टिविशुद्धि

५३. चित्त-चैतसिक नामक नाम एवं निष्पन्न रूपधर्मों की चित्तपरिच्छेद, चैतसिकपरिच्छेद और रूपपरिच्छेद में कहे गये लक्षण, रस, प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान के अनुसार विपश्यना करने से 'विजाननलक्षण चित्त है, अनुभवनलक्षण वेदना है, सञ्जाननलक्षण संज्ञा है, विकार को प्राप्त होने के स्वभाववाला यह स्कन्ध रूप है; इन पाँच स्कन्धों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान) से अतिरिक्त 'आत्मा' नामक कोई पृथग् धर्म नहीं होता'—इत्यादि प्रकार का ज्ञान हो सकता है। ऐसे ज्ञान को ही 'आत्मोपादान' नामक मल से विशुद्ध होने के कारण 'दृष्टिविशुद्धि' कहा गया है।

'दस्सनं दिट्ठि, विसुज्झतीति विसुद्धि, दिट्ठि येव विसुद्धि दिट्ठिविसुद्धि'—अर्थात् दर्शनस्वभाव धर्म ही 'दृष्टि' (ज्ञान) है, आत्ममल से विशुद्ध ज्ञान ही 'विशुद्धि' है, नाम-रूप धर्मों को अनित्य-आदि लक्षणों से जाननेवाला ज्ञान ही आत्ममल से विशुद्ध होने के कारण 'दृष्टिविशुद्धि' कहा जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ (अभिधम्मत्थसङ्गहो) अभिधर्मपिटक पालि के आधार पर निर्मित ग्रन्थ है। अतः इसमें अभिधम्मपालि में वर्णित सभी चित्त, चैतसिक एवं रूप धर्मों की लक्षण-आदि द्वारा विपश्यना करना 'दृष्टिविशुद्धि' कही गयी है। सुत्तन्तपिटक पालि में चार महाभूतधातु, आकाशधातु एवं विज्ञानधातु नामक ६ धातुओं का परिच्छेद करके विचार करने मात्र से ही योगी दृष्टिविशुद्ध होकर मार्ग एवं फल को प्राप्त करते हुये देखे जाते हैं। इन ६ धातुओं के लक्षण, रस-आदि रूपसमुद्देश में कहे जा चुके हैं। इन ६ धातुओं की लक्षण, रस, प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान द्वारा विपश्यना करना अशिक्षित योगियों के लिये बहुत कठिन होगा; किन्तु अशिक्षित होने पर भी विपश्यना करके मार्ग एवं फल को प्राप्त करनेवाले योगी शिक्षित योगियों से भी अधिक संख्या में देखे जाते हैं, इसलिये किसी उपयुक्त नियम का अनुसरण करके वीर्यपूर्वक भावना करने से, जो नामरूप धर्मों की लक्षण-आदि द्वारा विपश्यना नहीं कर सकते-ऐसे असमर्थ योगी सामान्य ज्ञान मात्र से भी दृष्टि-विशुद्धि प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ सङ्क्षेप से दृष्टिविशुद्धि के अभ्यास के प्रकार का दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

---

*. ०पच्चुपट्ठानवसेन—सी०, रो०।

उन उन आलम्बनों का जानना 'विज्ञानस्कन्ध' है। काय द्वारा चेष्टा करना, वाक् द्वारा कहना एवं चित्त द्वारा चिन्तन करना-आदि 'संस्कारस्कन्ध' है। नानाविध अच्छे बुरे का अनुभव करना 'वेदनास्कन्ध' है। उन उन आलम्बनों का संजानन 'संज्ञा-स्कन्ध' है। इन चार स्कन्धों को 'नामधर्म' कहते हैं। विकृत होनेवाला यह स्कन्ध 'रूप' कहा जाता है (पृथ्वी, जल, पर्वत, वन, वृक्ष एवं गृह-आदि भी रूपधर्म हैं, लेकिन विपश्यना करने में इनकी अधिक उपयोगिता न होने से यहाँ इनका ग्रहण नहीं किया गया है।) इतना ज्ञान होने मात्र से ही किसी वस्तु के देखने पर 'यह रूप है, यह नाम है' – इत्यादि द्वारा तथा इस नाम में भी 'यह विजाननलक्षण विज्ञान है' – इत्यादि द्वारा विभाजन करना चाहिये। इस प्रकार विभाजन करके आत्मदृष्टि से रहित होने के लिये निम्न प्रकार से भावना करनी चाहिये।

"यथा पि अङ्गसम्भारा होति सद्दो रथो इति।
एवं खन्धेसु सन्तेसु, होति सत्तो ति सम्मुति[1]॥"

जैसे – चक्र, नेमि-आदि अङ्गों की समूहसामग्री से 'रथ' नामक प्रज्ञप्ति होती है, उसी प्रकार नामस्कन्ध एवं रूपस्कन्ध के होने पर उनमें 'सत्त्व' नामक प्रज्ञप्ति होती है। पुनश्च –

"यथा पटिच्च कट्ठादिं अगारं ति पवुच्चति।
एवं पटिच्च अट्ठयादिं सरीरं ति पवुच्चति[2]॥"

जैसे – काष्ठ-आदि की अपेक्षा करके 'आगार' कहा जाता है, उसी प्रकार अस्थि आदि की अपेक्षा करके 'शरीर' कहा जाता है। पुनश्च –

"रज्जुयोगा दारुयन्तं सव्यापारं व खायति।
एवं सुञ्ञं नामरूपं अञ्ञमञ्ञसमायुतं[3]॥"

जैसे – रज्जु के योग से काष्ठ की बनी हुयी कठपुतलियाँ जाना, आना-आदि व्यापार से युक्त प्रतीत होती हैं, उसी प्रकार आत्मा से शून्य नामरूपात्मक पञ्चस्कन्ध अन्योऽन्य सम्बद्ध होकर जाना, आना, बैठना आदि व्यापार से युक्त की तरह प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार पुनः पुनः भावना करने से 'नास्ति सत्वः' (सत्व नहीं है), 'नास्ति पुद्गलः' (पुद्गल नहीं है), 'नास्ति आत्मा' (आत्मा नहीं है), 'नास्ति-पुरुषः' (पुरुष नहीं है), 'नास्ति स्त्री' (स्त्री नहीं है); अपितु केवल नामरूप ही हैं – इस प्रकार यथाभूत ज्ञान होने से आत्मदृष्टि नामक मल से विशुद्ध होकर योगी दृष्टिविशुद्धि के क्षेत्र में आ जाता है। यह दृष्टिविशुद्धि ही 'नामरूप' नामक

---

१. सं० नि०, प्र० भा०, पृ० १३५; मिलि०, पृ० ३०; विसु०, पृ० ४१९।
२. तु० – म० नि०, प्र० भा०, पृ० २४०; विसु०, पृ० ४१९।
३. तु० – विसु०, पृ० ४२०।

कङ्खावितरणविसुद्धि

५४. तेसमेव च* नामरूपानं पच्चयपरिग्गहो कङ्खावितरणविसुद्धि नाम।

उन नाम-रूप धर्मों का प्रत्ययपरिच्छेदपूर्वक ग्रहणसामर्थ्य 'काङ्क्षावितरण-विशुद्धि' कहलाता है।

संस्कारधर्मों का परिच्छेद करने के कारण 'नामरूपववत्थानञाण' या 'संखार-परिच्छेदञाण' नाम से कही जाती है[1]।

काङ्क्षावितरणविशुद्धि

५४. 'मैं अतीत भव में था कि नहीं?' या 'सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध हुये कि नहीं?' इत्यादि प्रकार से शंका करना 'कङ्खा' कही जाती है। जिस ज्ञान द्वारा इस प्रकार की शंकाओं का अतिक्रमण किया जाता है, वह ज्ञान 'काङ्क्षावितरण' है। वह ज्ञान अहेतुकदृष्टि, विषमहेतुकदृष्टि – आदि मलों से सुविशुद्ध होने के कारण 'विशुद्धि' भी कहा जाता है। अतएव 'कङ्खं वितरति अतिक्कमति एताया ति कङ्खा-वितरणा, कङ्खावितरणा येव विसुद्धि कङ्खावितरणविसुद्धि' – इस प्रकार विग्रह किया जाता है।

काङ्क्षावितरणविशुद्धि के लिये सर्वप्रथम दृष्टिविशुद्धि द्वारा सम्यग् ज्ञात नाम-रूप धर्मों के प्रत्ययों (कारणों) का परिग्रह करना चाहिये। इन कारणों का विचार करने से भी पहले अहेतुकदृष्टि एवं विषमहेतुकदृष्टि पर विचार कर लेना आव-श्यक है।

अहेतुकदृष्टि – 'नाम-रूप धर्म कारण के बिना स्वयं (अपने-आप) उत्पन्न होते हैं' – इस प्रकार की मिथ्यादृष्टि 'अहेतुक दृष्टि' कहलाती है। यदि इस प्रकार का मत सत्य होगा, तो रूपस्कन्ध एक ही आकार-प्रकार का होगा; क्योंकि कारणों के न होने से कार्यगत संस्थाननानात्व कैसे होगा? वस्तुतः कारणभेद ही संस्थानभेद का नियामक हो सकता है। इसी तरह नामधर्मों में भी यदि चक्षुर्विज्ञान बिना कारण के स्वयं उत्पन्न होता है, तो क्यों वह चक्षुःप्रसाद में ही उत्पन्न होता है, श्रोत्रप्रसाद या घ्राणप्रसाद में क्यों उत्पन्न नहीं होता? अपिच – क्यों वह रूपालम्बन का समागम होने पर ही देखने में समर्थ होता है? क्यों सर्वदा देखने में समर्थ नहीं होता? इत्यादि प्रश्न होंगे, इसलिये रूपस्कन्ध में परस्पर असमानता तथा चक्षुर्विज्ञान का केवल

---

*. रो०, ना० में नहीं।

1. 'दिट्ठिविसुद्धि' से सम्बद्ध विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – 'दिट्ठिविसुद्धिनिद्देसो' विसु० (१८ वाँ परिच्छेद)।

चक्षु में ही कभी-कभी उत्पाद देखकर 'ये नाम-रूप धर्म अकारण उत्पन्न नहीं होते, अवश्य इनके कारण होने चाहिये' – इत्यादि सिद्ध होता है[1]।

विषमहेतुक दृष्टि – 'ब्रह्मा, विष्णु, ईश्वर या महेश्वर-आदि ही सृष्टि का निर्माण करते हैं, अतः समस्त नाम-रूप धर्म इन्हीं के द्वारा उत्पन्न होते हैं' – इस प्रकार की मिथ्यादृष्टि 'विषमहेतुक दृष्टि' कहलाती है। कुछ लोग इन ब्रह्मा आदि को नाम-रूप धर्मों का मुख्य कारण निरूपित करते हैं, अतः इस विषय पर यहाँ सङ्क्षिप्त विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

जगत् के निर्माता वे ब्रह्मा-आदि नाम-रूप-स्कन्धात्मक हैं? या आकाश की भाँति नाम-रूप धर्मों से शून्य (विरहित) हैं? यदि वे नाम-रूप-स्कन्धात्मक हैं, तो उनके उन नाम-रूपों का कोई अन्य कारण अवश्य होना चाहिये। यदि कहें कि उनके नाम-रूप बिना कारण स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं, तो यह तर्क अहेतुक-दृष्टि में पतित हो जायगा। अपिच – यदि उनके नाम-रूप अहेतुक उत्पन्न होते हैं, तो उन अहेतुक नामरूपस्कन्धों से युक्त निर्माता संख्या में एक ही क्यों होगा? नियामक न होने से वे संख्या में अनेक भी हो सकते हैं। यदि कहें कि वे नामरूप-स्कन्धात्मक न होकर केवल अनन्तशक्तिसम्पन्न विज्ञानमात्र होते हैं, तो वह विज्ञान भी नामधर्म ही होगा। यदि कहें कि वह विज्ञान न नाम है और न रूप है, तो नाम-रूपों से भिन्न वह विज्ञान कहाँ स्थित है? यदि आकाश में स्थित होता है, तो आकाश का निर्माण किसने किया? यदि इसने ही आकाश का भी निर्माण किया है, तो आकाश की उत्पत्ति से पूर्व वह कहाँ स्थित था? यदि आकाश का निर्माण इसने नहीं किया है, तो जो अभावरूप आकाश का निर्माण करने में भी असमर्थ है, वह भावरूप सृष्टि का निर्माण कैसे करेगा और फिर उसकी अनन्तशक्तिता कैसी?

पुनः प्रश्न उठता है कि अनन्तशक्त्यात्मक इस विज्ञान में अनन्तशक्तिता कहाँ से आई? यदि किसी अन्य से प्राप्त होती है, तब तो यह उसका दास हो जायगा। यदि अपने-आप प्राप्त होती है, इसकी प्राप्ति से पूर्व या सृष्टिनिर्माण से पूर्व वह अनन्तशक्तिसम्पन्न नहीं कहा जा सकेगा।

अपिच – यह बतावें कि इस सृष्टि का निर्माण उसने अपने लाभ के लिये किया या अन्य सत्त्वों के हितार्थ किया? यदि कहें कि अपने लाभ के लिये, तब तो उसकी अनन्तशक्तिता पूर्ण नहीं कही जा सकती। यदि 'अन्य सत्त्वों के हितार्थ किया' – यह कहें, तो मनुष्यों को पीड़ा देनेवाले सिंह, व्याघ्र, नाग-आदि का निर्माण उसने क्यों किया? इस प्रश्न का समाधान यथाकथञ्चित् कर भी दिया जाय, तो

---

१. तु० – अ० नि०, प्र० भा०, पृ० १६१-१६२; तत्त्व० ११०-१२७ का०; तत्त्व० प०, पृ० ६२-६७; बोधि० ९ : ११७-११८ का०; बोधि० प०, पृ० २५२-२५३; प्र० वा०, प्र० परि० ३७-४२ का०, पृ० २२-२४; प्रसन्न० (माध्य० टी०), पृ० ३८-३९।

भी यह समझ में नहीं आता कि जरा, मरण-आदि अपरिहार्य भयों का निर्माण उसने क्यों किया ? क्या यही उसकी महाकरुणा है ?

तथा च – यदि कहें कि सृष्टि का निर्माण उसने न तो अपने लाभ के लिये और न तो अन्य सत्त्वों के हितार्थ किया; अपितु क्रीडा (लीला) के लिये किया है, तब तो बिना क्रीडा के भी प्रसन्न रह सकने के ज्ञान एवं सामर्थ्य से विरहित उस अनन्तशक्तिसम्पन्न विज्ञान का एक क्रीडा पर भी आधिपत्य नहीं है – ऐसा कहना पड़ेगा। तथा च – उत्पाद-विनाश से पीडित सत्त्वों को देखकर प्रसन्न होनेवाले की महाकरुणा कैसी ?

इस प्रकार की युक्तियों से परीक्षा करने पर नामरूपों का निर्माता कोई भी नहीं है[1] – ऐसा ज्ञान हो जाता है और इस प्रकार के ज्ञान से विषमहेतुकदृष्टि से विशुद्धि हो जाती है।

समहेतु – विषमहेतुओं का प्रहाण करके कारणकार्य से सम्बद्ध समहेतुओं का अन्वेषण करना चाहिये। इन हेतुओं का 'अविज्जापच्चया सङ्खारा' आदि प्रतीत्य-समुत्पादनय, एवं 'हेतुपच्चयो' आदि पट्ठाननय के अनुसार विचार करने पर सम्यक् ज्ञान हो सकता है। परन्तु अभिधर्मस्वभाव अत्यन्त गम्भीर होने के कारण विचार करने में कठिनाई हो सकती है, अतः रूपस्कन्ध के ज्ञानार्थ कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार नामक हेतुओं द्वारा तथा नामस्कन्ध के ज्ञानार्थ योनिशोमनसिकार हेतु द्वारा विचार करना चाहिये।

कर्म – यह रूपस्कन्ध इस भव में सबसे पहले मातृगर्भ में अत्यन्त सूक्ष्म कलल के रूप में अवस्थित होता है। यह सूक्ष्म कललरूप, माता पिता के शुक्र एवं रजस् के आधार पर होने पर भी पूर्व भव में अविद्या एवं तृष्णा को मूल बनाकर किये गये कर्मों से ही उत्पन्न होता है। ये कर्म दान कर्म, शीलकर्म, भावनाकर्म आदि के रूप में नाना प्रकार के सत्त्वों में नाना प्रकार के होते हैं। एक शील कर्म का नाना प्रकार के पुद्गलों द्वारा एक साथ सम्पादन किया जाने पर भी किसी सत्त्व में श्रद्धा का, किसी में प्रज्ञा का, किसी में स्मृति का, किसी में वीर्य का आधिक्य होने से भेद होता है तथा किन्हीं पुद्गलों में श्रद्धा, प्रज्ञा आदि कुछ भी नहीं होते; फिर भी वे केवल परम्परा का निर्वाह करते हुये ही कर्म करते हैं। इसी कारण जब वह शीलकर्म फल देता है, तब प्रतिपुद्गल रूपस्कन्ध समान न होकर भिन्न भिन्न होता है। इसलिये पूर्वकर्मों के विसदृश होने से उनसे उत्पन्न रूपस्कन्ध की विषमता को विस्तार से जानना

---

१. तु० – अ० नि०, प्र० भा०, पृ० १६१; अभि० को० २ : ६४ का०, पृ० २३५; स्फु०, पृ० २३९; अभि० दी० १५५-१५७ का०; वि० प्र० वृ०, पृ० ११८-१२१; तत्त्व० १५३-१७० का०; तत्त्व० प०, पृ० ७५-७९; प्र० वा०, प्र० परि० १२-३० का०, पृ० ११-१९; बोधि० ९ : ११९ का०; बोधि० प०, पृ० २५३-२५६; प्रसन्न० (माध्य० टी०), पृ० ३९।

चाहिये। आहार, चित्त एवं ऋतुओं से रूप की उत्पत्ति 'रूपसमुट्ठान' में कही जा चुकी है।

नामस्कन्ध के हेतु – चार नामस्कन्धों में विज्ञानस्कन्ध प्रधान होता है। वह विज्ञानस्कन्ध भी अच्छे एवं सत्य को जाननेवाला कुशल, बुरे एवं असत्य (मिथ्या) को जाननेवाला अकुशल, फल के रूप में विपाक, तथा विपाक न होकर जाननेमात्र के रूप में क्रिया – इस तरह चार प्रकार का होता है। इनमें से कुशल, योनिशोमनसिकार से उत्पन्न होता है। अकुशल, अयोनिशोमनसिकार से उत्पन्न होता है। विपाक, पूर्वपूर्व कुशल एवं अकुशल कर्मों से उत्पन्न होता है। क्रिया, क्षीणास्रव पुद्गलों की सन्तान में होती है। विपाक चित्तों में चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति के लिये चक्षु:प्रसाद, रूपालम्बन, आलोक एवं मनसिकार – ये चार हेतु होते हैं। इन चारों हेतुओं का सन्निपात न होने पर हजारों ईश्वरादि निर्माताओं द्वारा प्रयत्न करने पर भी चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इन चारों हेतुओं का सन्निपात होने पर हजारों ईश्वर आदि निर्माताओं द्वारा प्रतिबन्ध किया जाने पर भी चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति रुक नहीं सकती।

"न हेत्थ देवो ब्रह्मा वा संसारस्सत्थि कारको।
सुद्धधम्मा पवत्तन्ति हेतुसम्भारपच्चया[1]॥"

यहाँ (नाम एवं रूप धर्मों की उत्पत्ति में) नाम एवं रूप स्कन्धात्मक संसार का कारक (निर्माता) कोई देव या ब्रह्मा आदि नहीं है; अपितु हेतुसामग्री के कारण केवल शुद्ध धर्ममात्र प्रवृत्त होते रहते हैं।

सोळस कङ्खायो – उपर्युक्त प्रकार से प्रत्युत्पन्नभव में उत्पन्न नाम एवं रूप-धर्मों की उत्पत्ति के कारणों का सम्यक् ज्ञान होने पर 'पूर्वभव में भी कारणवश ही नामरूपस्कन्ध उत्पन्न हुये थे तथा जब तक अर्हत्त्व की प्राप्ति नहीं होती, तब तक कारण से नामरूपों की उत्पत्ति होती रहेगी' – इस प्रकार का ज्ञान होता है और इस ज्ञान से सोलह प्रकार की कङ्खाओं (शंकाओं) का विनाश हो जाता है। ये षोडश शंकायें इस प्रकार हैं:—

'अहोसिं नु खो अहं अतीतमद्धानं?' क्या मैं अतीत भव में था?

'न नु खो अहोसिं अतीतमद्धानं?' क्या मैं अतीत भव में नहीं था?

'किन्नु खो अहोसिं अतीतमद्धानं?' अतीत भव में मैं कौन था? क्षत्रिय, ब्राह्मण या वैश्य आदि जाति में से किस जाति में था।

'कथं नु खो अहोसिं अतीतमद्धानं?' अतीत भव में मैं किस प्रकार के संस्थानवाला था?

'किं हुत्वा किं अहोसिं अतीतमद्धानं'? (जाति के आधार पर) पूर्व के तृतीय-भव में किस जाति में उत्पन्न होकर द्वितीयभव में किस जाति में उत्पन्न हुआ?

---

१. विसु०, पृ० ४२७।

इस प्रकार अतीतभव को आधार बनाकर उपर्युक्त प्रकार की ५ कङ्खायें (शंकायें) होती हैं।

इसी प्रकार अनागतभव में भी ५ कङ्खायें (शंकायें) होती हैं।

'पच्चुप्पन्नं अद्धानं अज्झत्तं कथंकथी होति' प्रत्युत्पन्न अध्व में होनेवाले स्कन्ध को लेकर कथंकथी (विचिकित्सावान्) होता है। अर्थात् अपने स्कन्धों के विषय में शंका करता है—

'अहं नु खो स्मि ?' मैं हूँ कि नहीं ? इस प्रकार अपने अस्तित्व के बारे में सन्देह करता है।

'नो नु खो स्मि ?' क्या मैं नहीं हूँ ? अपने नास्तित्व के बारे में सन्देह करता है।

'किन्नु खो स्मि ?' मैं कौन हूँ ? इस प्रकार अपनी जाति (ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि) के सम्बन्ध में सन्देहयुक्त होता है।

'कथं नु खो स्मि ?' मैं किस प्रकार के संस्थान (आकार) वाला हूँ। दीर्घ हूँ या ह्रस्व हूँ। (शरीर के ह्रस्व-दैर्घ्य को तो सभी जानते हैं। यह प्रश्न जीव के सम्बन्ध में हैं)।

'अयं नु खो सत्तो कुतो आगतो; 'सो कुहिंगामी भविस्सति ?' यह सत्त्व कहाँ से आया है और कहाँ जायेगा ? इस प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में उसके आवागमन के बारे में सन्देह करता है[1]।

जब कारणों के अनुसार कार्य की उत्पत्ति का सम्यक् ज्ञान हो जाता है, तो उपर्युक्त शंकाओं का उत्पाद नहीं होता। तथा अविद्या द्वारा आवृत ८ स्थानों (पहले कहे जा चुके हैं[2]) से सम्बद्ध सन्देहों का भी निवारण हो जाता है। इस प्रकार इन सभी प्रकार की शंकाओं का अतिक्रमण करके जब अहेतुकदृष्टि, एवं विषम-हेतुकदृष्टि नामक मलों से भी विशुद्धि हो जाती है, तब काङ्क्षावितरणविशुद्धि की उत्पत्ति होती है।

इस काङ्क्षावितरणविशुद्धि को कार्यधर्मों की स्थिति के कारणों को जानने-वाली होने से 'धम्मट्ठितिञाण' (धर्मस्थिति ज्ञान), नामरूपों को कारणों के साथ यथाभूतरूप में जानने से 'यथाभूतञाण' तथा 'सम्मादस्सन' (सम्यग्दर्शन) भी कहते हैं।

दृष्टिविशुद्धि में केवल नाम एवं रूप धर्मों का ही ज्ञान होता है, उनके कारणों का ज्ञान नहीं होता। इस काङ्क्षावितरणविशुद्धि में नामरूपधर्मों के साथ उनके कारणों का भी ज्ञान होता है—यही दोनों में विशेष है।

---

१. म० नि०, प्र० भा०, पृ० १२; विसु०, पृ० ४२३-४२४; अट्ठ०, पृ० २८३।

२. द्र०—अभि० स० ८; ४ पृ० ८१२-८१५।

मग्गामग्गञाणदस्सनविसुद्धि

५५. ततो परं पन* तथापरिग्गहितेसु सप्पच्चयेसु तेभूमकसङ्खारेसु† अतीतादिभेदभिन्नेसु खन्धादिनयमारब्भ कलापवसेन सङ्खिपित्वा अनिच्चं खयट्ठेन, दुक्खं भयट्ठेन‡, अनत्ता असारकट्ठेना ति अद्धानवसेन, सन्ततिवसेन, खणवसेन

काङ्क्षावितरणविशुद्धि के अनन्तर उस प्रकार से परिगृहीत, सप्रत्यय, अतीत-आदि भेद से भिन्न त्रैभूमिक संस्कारों में स्कन्धादिनय आरब्ध करके कलाप (समूह) के वश से सङ्क्षिप्त करके क्षय अर्थ से अनित्य, भय अर्थ से दुःख, सारहीन अर्थ से अनात्म – इस प्रकार अध्व (काल) के वश से,

---

चूळसोतापन्न पुद्गल – स्रोतापन्न पुद्गल अपनी सन्तान में विद्यमान दृष्टि एवं विचिकित्सा का अशेष प्रहाण कर सकता है। इस काङ्क्षावितरणविशुद्धि को प्राप्त योगी उस दृष्टि एवं विचिकित्सा का समूल समुच्छेद न कर सकने पर भी बहुत समय तक उन्हें अपनी सन्तान से हटा सकता है। अतएव स्रोतापन्न के सदृश होने के कारण इस काङ्क्षावितरणविशुद्धि को प्राप्त पुद्गल 'चूळसोतापन्न पुद्गल' कहा जाता है[1]। शीलविशुद्धि एवं चित्तविशुद्धि के द्वारा विशुद्ध होकर दृढ़ शील एवं दृढ़ समाधि से सम्पन्न होने के कारण वह चूळस्रोतापन्न पुद्गल दुश्चरित आदि अकुशल कर्मपथों का सम्पादन नहीं कर सकता। मार्ग एवं फल को प्राप्त न होने पर भी वह अनागत भव में एकान्तरूप से सुगति को प्राप्त करेगा, इसमें सन्देह नहीं। इसीलिये मनुष्य योनि में उत्पन्न सत्त्वों को कम-से-कम चूळस्रोतापन्न होने के लिये भरसक प्रयत्न करना चाहिये।

"विसुद्धसीलचित्तेहि कङ्खावितरणञाणिको।
चूलसोतापन्नो नाम तदत्थं वायमे ततो[2]॥"

विशुद्ध चतुःपारिशुद्धिशील एवं विशुद्ध चित्त के साथ दृष्टि एवं विचिकित्सा नामक मलों का प्रहाण करने में समर्थ कांक्षावितरणविशुद्धि ज्ञान को प्राप्त योगी 'चूळस्रोतापन्न' कहलाता है, इसलिये प्रत्येक पुद्गल को चूळसोतापन्न होने के लिये वीर्य (उत्साह) करना चाहिये[3]।

मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि

५५. मार्ग एवं अमार्ग को जानने तथा देखने को 'मार्गामार्गदर्शनज्ञान' कहते हैं। अर्थात् विशुद्धि में संलग्न होने पर योगी की सन्तान में पूर्व अनुत्पन्न अवभास (शारीरिक कान्ति), प्रीति-आदि १० धर्म उत्पन्न हो जाते हैं। इस समय अपने शरीर में कान्ति

---

*. ना० में नहीं। †. तेभूमिक० – स्या०। ‡. खयट्ठेन – स्या०।

१. द्र० – विभ० अ०, पृ० २५६।

२. ब० भा० टी०।

३. 'कङ्खावितरणविसुद्धि' के विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – 'कङ्खावितरण-विसुद्धिनिद्देसो' विसु० (१९वाँ परिच्छेद)।

वा सम्मसनञाणेन* लक्खणत्तयं सम्मसन्तस्स, तस्सेव पच्चयवसेन खणवसेन च उदयब्बयञाणेन उदयब्बयं समनुपस्सन्तस्स च –

> ओभासो पीति पस्सद्धि अधिमोक्खो च पग्गहो ।
> सुखं ञाणमुपट्ठानमुपेक्खा च निकन्ति चेति ॥

ओभासादिविपस्सनुपक्किलेसपरिबन्धपरिग्गहवसेन† मग्गामग्गलक्खणववत्थानं‡ मग्गामग्गञाणदस्सनविसुद्धि नाम ।

सन्तति के वश से, क्षण के वश से, सम्मर्शन ज्ञान द्वारा लक्षणत्रय का सम्मर्शन करते हुये तथा उन्हीं (त्रैभूमिक संस्कारों) में प्रत्यय के वश से एवं क्षण के वश से उदयव्यय ज्ञान द्वारा उदयव्यय की पुनःपुनः विपश्यना करनेवाले योगी की सन्तान में अवभास, प्रीति, प्रश्रब्धि, अधिमोक्ष (श्रद्धा), प्रगह (विशेष वीर्य), सुखवेदना, विपश्यनाज्ञान, स्मृति, उपेक्षा (तत्रमध्यस्थतोपेक्षा एवं आवर्जनोपेक्षा) और निकन्ति (सूक्ष्म तृष्णा) – इस प्रकार विपश्यना को उपक्लिष्ट करनेवाले बाधक (शत्रुभूत) अवभास-आदि (१०) का परिच्छेद करके ग्रहण करने के वश से मार्ग एवं अमार्ग के लक्षणों की व्यवस्था करनेवाला ज्ञान 'मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि' कहलाता है ।

एवं प्रीति-आदि देखकर उनके प्रति अनुराग (निकन्ति) हो जाने से यदि योगी 'मुझे मार्ग एवं फल की प्राप्ति हो गई' – ऐसा मानने लगता है, तो उसका विपश्यनाक्रम बिगड़ जाता है । ऐसे समय शरीरकान्ति आदि के प्रति उत्पन्न निकन्ति नामक तृष्णा का प्रहाण करके पुनः विपश्यना भावना करने से पुनः मार्ग प्राप्त हो जाता है, इसे ही 'मार्ग' कहते हैं । इस तरह शरीरकान्ति-आदि के प्रति अनुरक्त न होकर विपश्यना करना ही मार्ग-फल की प्राप्ति का कारणभूत सम्यग् 'मार्ग' है तथा शरीर कान्ति-आदि के प्रति अनुरक्त होना मार्ग-फल की प्राप्ति का 'अमार्ग' है – इन मार्ग एवं अमार्ग को जाननेवाला ज्ञान ही 'मार्गामार्गज्ञानदर्शन विशुद्धि' है ।

सम्मर्शनज्ञान

'सम्मसीयते एतेना ति सम्मसनं' जिस ज्ञान द्वारा सम्मर्शन किया जाता है, उसे 'सम्मर्शन ज्ञान' कहते हैं ।

पूर्वकथित चार विशुद्धियों के क्षण में अनित्य, दुःख, अनात्म रूप से विपश्यना नहीं की जाती । शीलविशुद्धि के क्षण में केवल शील की विशुद्धि के लिये प्रयास होता है । चित्तविशुद्धि में चित्त के विशोधन के लिये या समाधि की प्राप्ति के लिये प्रयत्न होता है । दृष्टिविशुद्धि में नाम-रूप धर्मों का परिच्छेद करके उनका

---

*. सम्मसण० – रो० । †. ०परिपन्थ० – स्या, ना० ।

‡. मग्गलक्खण० – स्या० ।

सम्यग् ज्ञान किया जाता है तथा कांक्षावितरणविशुद्धि के समय नाम-रूप धर्मों के मुख्य कारणों का अन्वेषण किया जाता है।

इस मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि की उत्पत्ति के लिये नाम-रूप धर्मों का कारणों के साथ परिच्छेद करके ज्ञात त्रैभूमिक नाम-रूपों को अनित्य-आदि तीन लक्षणों में आरोपित करके उनका सम्मर्शनज्ञान द्वारा विचार किया जाता है।

सम्मर्शन के चार नय – सम्मर्शन के ४ प्रकार हैं, यथा – १. कलापसम्मर्शन (कलापवसेन), २. अध्वसम्मर्शन (अद्धानवसेन), ३. सन्ततिसम्मर्शन (सन्ततिवसेन) तथा ४. क्षणसम्मर्शन (खणवसेन)।

कलापसम्मर्शन – अतीत भव में उत्पन्न रूप या प्रत्युत्पन्न भव में उत्पन्न रूप-इत्यादि प्रकार से धर्मों का विभाग न कर समग्र रूपस्कन्ध, समग्र वेदनास्कन्ध-इत्यादि प्रकार से सम्पूर्ण एक एक स्कन्ध का सम्पिण्डन करके सम्मर्शन करना 'कलापसम्मर्शन' है।

अध्वसम्मर्शन – अतीतभव में उत्पन्न रूपस्कन्ध, प्रत्युत्पन्नभव में उत्पन्न रूप-स्कन्ध-इत्यादि प्रकार से भवभेद करके सम्मर्शन करना 'अध्वसम्मर्शन' है।

सन्ततिसम्मर्शन – एकभव में उत्पन्न रूपस्कन्ध का 'यह शीत रूप सन्तति है' 'यह उष्णरूप सन्तति है' इत्यादि प्रकार से विभाजन करके सम्मर्शन करना 'सन्तति-सम्मर्शन' है।

क्षणसम्मर्शन – एक रूपसन्तति में ही उत्पाद-स्थिति-भङ्ग नामक क्षणों से भेद करके सम्मर्शन करना 'क्षणसम्मर्शन' है।

इन चारों नयों में कलापसम्मर्शन नय सबसे ज्यादा सुकर होता है। ऊपर ऊपर के सम्मर्शन क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर होते हैं।

अतीतादिभेदभिन्नेसु खन्धादिनयमारब्भ – 'अतीतादि' शब्द में 'आदि' शब्द द्वारा (समुच्चयपरिच्छेद में 'भेदाभावेन' की व्याख्या के प्रसङ्ग में कथित) अनागत, प्रत्युत्पन्न -आदि ११ प्रकारों का ग्रहण करना चाहिये[1]। 'खन्धादि' शब्द में 'आदि' शब्द द्वारा 'पटिसम्भिदामग्ग' में वर्णित चक्षुर्द्वार-आदि ६ द्वार, रूपालम्बन-आदि ६ आलम्बन, चक्षुर्विज्ञान-आदि ६ विज्ञान, चक्षुःसंस्पर्श (चक्खुसम्फस्स)-आदि ६ स्पर्श, चक्षुःसंस्पर्शजा (चक्खुसम्फस्सजा) वेदना-आदि ६ वेदनायें, रूपसंज्ञा-आदि ६ संज्ञायें, रूपसञ्चेतना-आदि ६ चेतनायें, रूपतृष्णा - आदि ६ तृष्णायें, रूप-वितर्क-आदि ६ वितर्क, रूपविचार-आदि ६ विचार, पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, आकाश एवं विज्ञान नामक ६ धातु, पृथ्वीकसिण-आदि १० कसिण, ३२ कोट्ठास, १२ आयतन, १८ धातु, १९ लौकिक इन्द्रियाँ (३ अलौकिक इन्द्रियों की विपश्यना नहीं की जा सकती), काम, रूप एवं अरूप नामक ३ धातु, कामभव-आदि (धातुकथा में उल्लि-

१. द्र० – अभि० स० ७ : ४७ पृ० ७१८।

सित) ९ भव, कसिण-आलम्बनवर्जित आलम्बनों का आलम्बन करने वाले ४ रूपध्यान, ४ अप्पमञ्ञा, ४ अरूपसमापत्ति एवं सम्पूर्ण प्रतीत्यसमुत्पाद का ग्रहण होता है[1]।

'खन्धादिनय' में 'नय' शब्द द्वारा 'पटिसम्भिदामग्ग' में कथित स्कन्धभेद से सम्मर्शन करनेवाला नय एवं द्वारभेद से सम्मर्शन करनेवाला नय – इन सबका ग्रहण होता है[2]।

कलापसम्मर्शन नय – "सब्बं रूपं अनिच्चं खयट्ठेन, दुक्खं भयट्ठेन, अनत्ता असारकट्ठेन; सब्बा वेदना अनिच्चा खयट्ठेन, दुक्खा भयट्ठेन, अनत्ता असारकट्ठेन; सब्बा सञ्ञा अनिच्चा खयट्ठेन, दुक्खा भयट्ठेन, अनत्ता असारकट्ठेन; सब्बे सङ्खारा अनिच्चा...; सब्बं विञ्ञाणं अनिच्चं खयट्ठेन, दुक्खं भयट्ठेन, अनत्ता असारकट्ठेन।" – अर्थात् सभी रूप क्षयस्वभाव होने से अनित्य, भयजनक होने से दुःख एवं सारहीन होने से अनात्म लक्षण हैं। सभी वेदनायें क्षय अर्थ से अनित्य, भय अर्थ से दुःख, एवं असार अर्थ से अनात्म; सभी संज्ञायें क्षय अर्थ से अनित्य, भय अर्थ से दुःख एवं असार अर्थ से अनात्म; सभी संस्कार क्षय अर्थ से अनित्य... सभी विज्ञान क्षय अर्थ से अनित्य, भय अर्थ से दुःख एवं असार अर्थ से अनात्म लक्षण हैं – इस प्रकार सम्मर्शन करना चाहिये[3]।

अनिच्चं खयट्ठेन – रूप-आदि स्कन्धों का उत्पाद एवं विनाश देखा जाने से उनकी अनित्यता सुस्पष्ट होती है। यदि कोई धर्म अपने कारणों से उत्पन्न होकर पुनः नष्ट न हो, तो उसे 'नित्य' कहा जा सकता है; किन्तु ऐसा कोई एक भी धर्म उपलब्ध नहीं होता। सभी धर्म अपने कारणों से उत्पन्न होने के समनन्तर ही निरुद्ध हो जाते हैं, इसीलिये रूप-आदि पञ्चस्कन्ध अनित्य हैं।

दुक्खं भयट्ठेन – नष्ट होनेवाले सभी धर्म एकान्त रूप से भयावह होते हैं। स्वसन्तान में विद्यमान रूपस्कन्ध भी विनष्ट होनेवाला है, अतः वह भी भयावह है। पृथ्वी-आदि ४ महाभूत दुष्ट कालसर्प की भाँति कहे गये हैं। जैसे – किसी अपराध के दण्डस्वरूप किसी व्यक्ति को ४ महानागों के बीच में यह कह कर छोड़ दिया जाय कि जब तक तुम इनकी भोजन-आदि द्वारा सम्यक् सुश्रूषा करते रहोगे, तुम्हें इनसे कोई भय नहीं है; किन्तु जब कभी इस नियम में व्यतिक्रम होगा, तो ये तुम्हें डँस लेंगे। वह व्यक्ति प्रतिदिन भयपूर्वक कितनी भी सावधानी से उनका पर्युपस्थान (सेवा) करे, एक न एक दिन अवश्य कालकवलित हो जाता है। ठीक इसी प्रकार की स्थिति इन ४ महाभूतों की भी है। मनुष्य प्रतिदिन आहार-आदि द्वारा इनका परिपोषण करता है; फिर भी व्याधियाँ होती हैं, जरा आती है और एक दिन मरण भी अवश्य होता ही है। इस प्रकार रूपस्कन्ध विनश्वरस्वभाव होने से भयावह होता

---

१. द्र० – पटि० म०, पृ० ८-१२।
२. द्र० – पटि० म०, पृ० ५८-५९।
३. द्र० – पटि० म०, पृ० ५८-५९; विसु०, पृ० ४३१-४३२।

है। यही स्थिति सभी नाम एवं रूप धर्मों की है, उनमें भयोत्पादक लक्षण अत्यधिक होते हैं।

अनत्ता असारकट्ठेन – पूर्वोक्त कथन के अनुसार जिस प्रकार रूपधर्म अनित्य एवं दुःख स्वरूप हैं, उसी प्रकार उनमें कुछ भी सारभूत तत्त्व न होने से वे अनात्म-लक्षण भी हैं। रूपस्कन्ध की ही भाँति वेदना-आदि स्कन्धों में भी अनित्य-आदि की भावना करनी चाहिये। अनित्य, दुःख एवं अनात्म – ये तीनों लक्षण परस्पर अत्यन्त सम्बद्ध हैं। सारहीनता के कारण विनश्वरता होती है, विनश्वरता के कारण भयोत्पादकता तथा भयोत्पादकता के कारण दुःखरूपता होती है। भय एवं दुःख इष्ट न होने पर भी होते ही हैं, अतः इनमें किसी का भी आधिपत्य नहीं होता। इस तरह रूप-आदि धर्म अनित्य, दुःख एवं अनात्म लक्षण होते हैं। परस्पर की सम्बद्धता के कारण इन तीन लक्षणों में से किसी एक लक्षण का भी सम्यग् ज्ञान हो जाने पर अन्य दो लक्षणों का ज्ञान स्वयं (अपने-आप) ही हो जाता है।

अध्वसम्मर्शन नय – "यं अतीतं रूपं तं यस्मा अतीते येव खीणं, नयिमं भवं सम्पत्तं ति अनिच्चं खयट्ठेन (दुक्खं भयट्ठेन, अनत्ता असारकट्ठेन); यं अनागतं अनन्तरभवे निब्बत्तिस्सति तं पि तत्थेव खीयिस्सति, न ततो परं भवं गमिस्सतीति अनिच्चं खयट्ठेन (दुक्खं भयट्ठेन, अनत्ता असारकट्ठेन); यं पच्चुप्पन्नं रूपं तं पि इधेव खीयति, न इतो गच्छतीति अनिच्चं खयट्ठेन (दुक्खं भयट्ठेन, अनत्ता असार-असारकट्ठेन)[1]।" – अर्थात् अतीत भव में उत्पन्न रूपस्कन्ध अतीतभव में ही नष्ट हो चुका, वह इस प्रत्युत्पन्न भव में प्राप्त नहीं हुआ, अतः क्षय अर्थ से अनित्य है, भयप्रद अर्थ से दुःख है तथा सारहीन अर्थ से अनात्म है। जो रूपस्कन्ध अनागत अनन्तर भव में उत्पन्न होगा, वह उसी अनागत भव में नष्ट हो जायगा, उसके बाद होनेवाले भव में नहीं जायगा, अतः वह क्षय अर्थ से अनित्य, भयप्रद अर्थ से दुःख तथा सारहीन अर्थ से अनात्म है। जो प्रत्युत्पन्न रूपस्कन्ध है, वह भी इसी भव में नष्ट हो जाता है, यहाँ से अन्यत्र (अन्य भव में) नहीं जाता, अतः वह भी क्षय अर्थ से अनित्य, भयप्रद अर्थ से दुःख तथा सारहीन अर्थ से अनात्म है – इस प्रकार सम्मर्शन करना चाहिये।

इस अध्वसम्मर्शन नय में धर्मों का भव (काल) – भेद से भेद करके सम्मर्शन करना ही ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है; फिर भी अज्झत्त (अध्यात्म) बहिद्धा (बाह्य) भेद करके भी 'यं अज्झत्तं तं पि अज्झत्तमेव खीयति, न बहिद्धाभावं गच्छतीति अनिच्चं खयट्ठेन...; यं बहिद्धारूपं तं पि बहिद्धा येव खीयति, न अज्झत्तभावं गच्छतीति अनिच्चं खयट्ठेन, दुक्खं भयट्ठेन, अनत्ता असारकट्ठेन' – इस प्रकार भावना की जा सकती है। इसी प्रकार 'यं ओळारिकं तं पि तथेव खीयति न सुखुमभावं गच्छतीति' इस प्रकार औदारिक-सूक्ष्म भेद से भेद करके; 'यं हीनं तं पि तथेव खीयति' – इस प्रकार हीन-प्रणीत भेद करके तथा 'यं दूरे तं पि तथेव खीयति, न सन्तिके-

---

१. विसु०, पृ० ४३१।

भावं गच्छतीति' – इत्यादि रूप से दूरे-सन्तिके भेद से भिन्न करके भी भावना की जा सकती है[1]।

वेदनास्कन्ध-आदि ४ नाम स्कन्धों की भी इसी प्रकार भावना करनी चाहिये। अथवा – द्वार, आलम्बन आदि द्वारा भेद करके भी उन (नाम स्कन्धों) की भावना की जा सकती है[2]।

सन्ततिसम्मर्शन नय – धूप में उष्ण रूपसन्तति का उत्पाद होता है। छाया में पहुँचने पर उस उष्ण रूपसन्तति का विनाश होकर शीतल रूप सन्तति का उत्पाद होने लगता है। रुग्णतावस्था में रुग्ण रूपसन्तति का उत्पाद होता है तथा स्वस्थ हो जाने पर उस रुग्ण रूपसन्तति का विनाश होकर स्वस्थ रूपसन्तति का उत्पाद होता है। बैठने के समय उत्पन्न रूपसन्तति का उठने के समय विनाश हो जाता है और उत्थानकालिक रूपसन्तति का उत्पाद होता है। वार्तालाप के समय उत्पन्न रूप सन्तति का मौन काल में विनाश होकर मौनकालिक रूपसन्तति का उत्पाद होता है। इस प्रकार कृत्यपरिवर्तन, स्थानपरिवर्तन एवं ईर्यापथपरिवर्तन के साथ-साथ रूपसन्तति में भी परिवर्तन हो जाता है। रूपालम्बन का आलम्बन करनेवाली चित्त-वीथिसन्तति शब्दालम्बन का आलम्बन करनेवाली चित्तवीथिसन्तति में नहीं पहुँचती, अनिष्टालम्बन का अनुभव करनेवाली दुःखवेदनासन्तति इष्ट, मध्यस्थ या अतीष्टा-लम्बन का अनुभव करने के क्षण में नहीं रहती। रूपालम्बन की संज्ञा करनेवाली संज्ञास्कन्धसन्तति शब्दालम्बन की संज्ञा करनेवाली संज्ञास्कन्धसन्तति में नहीं पहुँचती। रूपालम्बन को प्रेरित करनेवाली संस्कारस्कन्धसन्तति शब्दालम्बन को प्रेरित करने-वाली संस्कारस्कन्धसन्तति में नहीं पहुँचती। इसी तरह रूपालम्बन को जाननेवाली विज्ञान-स्कन्धसन्तति शब्दालम्बन को जाननेवाली विज्ञानस्कन्धसन्तति में नहीं पहुँचती।

इसी प्रकार और विस्तार करके सन्ततिसम्मर्शन नय जानना चाहिये।

उष्ण रूपसन्तति शीतल रूपसन्तति में न पहुँचकर विनष्ट हो जाती है, अतः अनित्य है, भयप्रद होने से दुःख है, असार होने से अनात्म है – इस प्रकार सन्ततियों के बारे में सम्मर्शन करना चाहिये।

क्षणसम्मर्शन नय – उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग – इनमें से किसी एक क्षण के रूप में 'अतीत क्षण में उत्पन्न रूप प्रत्युत्पन्न क्षण में न पहुँचकर नष्ट हो जाता है, अतः अनित्य है तथा अतीत भवङ्गचित्त भवङ्गचलन तक न पहुँचने से अनित्य है' – इस प्रकार रूपवीथि एवं नामवीथि की भावना की जा सकती है।

कहा जाता है कि भगवान् बुद्ध के अतिरिक्त अन्य पुद्गलों में इस क्षण-सम्मर्शन नय का अवभासित होना अत्यन्त दुष्कर है; किन्तु अनुमान द्वारा कल्पना करके प्रयत्नपूर्वक इसकी भावना करनी चाहिये।

---

१. द्र० – विसु०, पृ० ४३१।

२. द्र० – विसु०, पृ० ४३२।

इस प्रकार त्रैभूमिक संस्कारों में कलापसम्मर्शन-आदि नयों द्वारा अनित्य, दुःख एवं अनात्म लक्षणों द्वारा सम्मर्शन (मनन) करनेवाला ज्ञान ही 'सम्मर्शन ज्ञान' कहलाता है[1]।

"तेभूमकसङ्खारेसु पस्सतो लक्खणत्तयं।
सम्मसननामं ञाणं जातं पठमयोगिनो[2] ॥"

अर्थात् त्रैभूमिक संस्कारों में लक्षणत्रय को देखनेवाले प्रथम (प्रारम्भिक) योगी की सन्तान में 'सम्मर्शन' नामक ज्ञान उत्पन्न होता है।

उदयव्ययज्ञान

सम्मर्शन ज्ञान के परिपक्व होने के अनन्तर पुनः भावना करने पर उदयव्यय ज्ञान उत्पन्न होता है। नाम-रूप धर्म अपने उत्पाद से पूर्व सत् (विद्यमान) नहीं रहते। निरोध के अनन्तर भी वे किसी रूप में अनुस्यूत नहीं रहते। जिस तरह वीणा बजाते समय उसके तारों पर अँगुलियाँ पड़ते ही शब्द उत्पन्न होते हैं और अँगुलियाँ उठते ही पूर्वोत्पन्न शब्द निरुद्ध हो जाते हैं, उसी तरह नाम-रूप धर्म भी कारणसामग्री सन्निधान के अव्यवहित उत्तरक्षण में उत्पन्न होकर उत्पादसमनन्तर ही निरुद्ध हो जाते हैं। अतः उत्पद्यमान सभी नाम-रूप धर्म न पहले न पीछे किसी भी प्रकार की सत्ता से सम्बद्ध न होते हुये प्रतिक्षण नवीन ही उत्पन्न होते हैं[3]।

"अनुप्पन्ना वुप्पज्जन्ति उप्पन्ना पि निरुज्झरे।
निच्चं नवा व सङ्खारा वीणासद्दसमूपमा[4] ॥"

अर्थात् वीणाजन्य शब्दों की भाँति सभी संस्कार पहले अनुत्पन्न रहकर पश्चात् उत्पन्न होते हैं तथा उत्पन्न होकर समनन्तर निरुद्ध होते हैं। इस तरह वे सर्वदा नवीन ही होते हैं।

पच्चयवसेन, खणवसेन – पूर्वोक्त प्रकार से विचार करने के अनन्तर नामरूप धर्मों की कारणों के साथ पुनः विपश्यना करनी चाहिये। रूपधर्मों की उत्पत्ति के कारण (हेतु) काङ्क्षावितरणविशुद्धि के प्रकरण में कथित नय के अनुसार अविद्या, तृष्णा एवं आहार हैं। इन कारणों के विद्यमान होने पर अनुत्पत्ति असम्भव है। नामधर्मों के कारण (=हेतु) अविद्या, तृष्णा, कर्म एवं स्पर्श हैं–ऐसा जानना चाहिये। इन कारणधर्मों को जान कर 'अविद्या होने से नामरूप होते हैं, यदि अविद्या का अशेष प्रहाण किया जा सके, तो इन (नामरूपों) की उत्पत्ति भी नहीं होगी'– इस प्रकार पुनः पुनः भावना करने पर उत्पादभङ्गनामक उदयव्ययलक्षण का स्पष्ट अवभास होगा।

---

१. विस्तार के लिये द्र० – विसु०, पृ० ४३०-४४५।
२. ब० भा० टी०।
३. द्र० – विसु०, पृ० ४४५-४४६; पटि० म०, पृ० ६०-६१।
४. द्र० – विसु०, पृ० ४४६।

उसके स्पष्ट अवभासित होने पर उत्पादक्षण और भङ्गक्षण का भी पृथक् पृथक् अवबोध होगा। क्षण के स्पष्ट अवबोध के लिये विशेष प्रयत्न आवश्यक नहीं है।

पानी में रेखा की तरह (जैसे–पानी में की गई रेखा तत्क्षण ही दिखाई पड़ती है, पूर्व पूर्व क्षण में उत्पन्न रेखा विलुप्त होती जाती है, उसी प्रकार) नामरूप धर्म उत्पन्न होकर विनष्ट होते रहते हैं। वे पानी के बुलबुले की तरह उत्पन्न होकर विनष्ट होते हैं। जैसे—सुई के अग्रभाग पर सरसों रखने पर वह रखने के समय ही गिर जाती है, उसी तरह नामरूप धर्म उत्पाद के अनन्तर ही विनष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार उत्पाद एवं भङ्ग क्षण को स्पष्ट करनेवाले उदयव्ययज्ञान की उत्पत्ति होती है[1]।

"तेभूमकसङ्खारेसु पस्सतो उदयब्बयं।
उदयब्बयनामं ञाणं जातं दुतिययोगिनो[2]॥"

अर्थात् त्रैभूमिक संस्कारों में उदय-व्यय को देखनेवाले द्वितीय योगी की सन्तान में उदयव्ययनामक ज्ञान उत्पन्न होता है।

विपश्यना के दस उपक्लेश

ओभासो (अवभास) – उपर्युक्त नय के अनुसार नाम-रूप धर्मों के उदयव्यय का स्पष्ट ज्ञान होने से चित्त की अत्यन्त स्वच्छता हो जाने पर सर्वप्रथम चित्तज कान्ति उत्पन्न होती है, तदनन्तर चित्तज कान्ति के अनुबन्ध में ही चित्तप्रत्यय-ऋतुसमुत्थान कान्तियाँ उत्पन्न होती हैं। ज्ञान की तीक्ष्णता के अनुपात में उपर्युक्त कान्तियों का फैलाव स्वनिवासस्थान, गृह, आराम (उपवन), अर्धगव्यूति, गव्यूति, योजन, दो योजन आदि से लेकर ब्रह्मभूमि पर्यन्त होता है। उस समय 'मुझमें पहले कभी इस प्रकार की कान्तियाँ उत्पन्न नहीं हुई थीं, अब उत्पन्न हुई हैं, इस प्रकार की कान्तियों का उत्पादक चित्त अवश्य ही मार्ग अथवा फल चित्त होगा, मुझे मार्ग या फल की प्राप्ति हो गई है'– इस प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है; फलतः योगी कम्मट्ठान छोड़कर उत्पन्न कान्तियों के प्रति अनुरक्त होने लगता है। इस कारण उसका विपश्यनाभावना क्रम भ्रष्ट हो जाता है।

पीति – केवल अवभास ही नहीं; अपितु चैतसिक परिच्छेद में कथित क्षुद्र, क्षणिक-आदि ५ प्रीतियाँ[3] भी यथायोग्य उत्पन्न होकर योगी में प्रीत्युद्रेक का उत्पाद करती हैं।

---

१. द्र० – विसु०, पृ० ४४७-४४८; पटि० म०, पृ० ६१-६३।
२. ब० भा० टी०।
३. द्र० – अभि० स०, पृ० १२०।

पस्सद्धि (प्रश्रब्धि) – काय एवं चित्त दोनों का व्युपशम होने से काय एवं चित्त प्रश्रब्धियाँ उत्पन्न होती हैं[1]। इनके उत्पाद के समय योगी अत्यन्त उपशान्त हो जाता है, फलतः कम्मट्ठान में ही रमण करने लगता है।

अधिमोक्खो – कम्मट्ठान में 'अधिमुच्चन' (सद्दहन) करनेवाली श्रद्धा उत्पन्न होती है। यह मामूली (सामान्य) श्रद्धा नहीं है; अपितु चित्त-चैतसिकों में अत्यधिक प्रसाद (प्रसन्नता) उत्पन्न करनेवाली है, अतः इसे 'अधिमोक्ष' कहते हैं। यह अधिमोक्ष नामक चैतसिक नहीं है। 'अधिमुच्चतीति अधिमोक्खो' – यह इसका विग्रह है।

पग्गहो (प्रग्रह) – विपश्यनाचित्त को अनुत्साहित न होने देने के लिये उसे उत्प्रेरित करनेवाले वीर्य की उत्पत्ति होती है।

सुखं – स्पर्श होने पर जैसे तैल सम्पूर्ण रूई में व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार योगी की सन्तान में उत्तम चित्तजरूपों को व्याप्त करनेवाली सुखा वेदना उत्पन्न होती है।

ञाणं (ज्ञान) – वज्र की तरह अत्यन्त कठोर एवं तीक्ष्ण विपश्यनाज्ञान की उत्पत्ति होती है। अर्थात् विपश्यना करते करते नामरूपों का उत्पाद एवं व्यय अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है।

उपट्ठानं (उपस्थान) – कम्मट्ठान आलम्बन में सुमेरु की तरह अत्यन्त दृढ़ एवं अचल स्मृति की उत्पत्ति होती है।

उपेक्खा (उपेक्षा) – विपश्यनोपेक्षा एवं आवर्जनोपेक्षा नामक दो उपेक्षाओं की उत्पत्ति होती है। उदय एवं व्यय के अत्यन्त सुस्पष्ट होने पर उदयव्यय की विपश्यना करने में कोई अतिरिक्त व्यापार अपेक्षित न होने से अनायास ही विपश्यना में समर्थ ज्ञान से सम्प्रयुक्त तत्रमध्यस्थतोपेक्षा 'विपश्यनोपेक्षा' है तथा उस उदयव्यय का आवर्जन करने की इच्छा होने पर अतिशीघ्रतापूर्वक आवर्जन करने में समर्थ चेतना 'आवर्जनोपेक्षा' है।

निकन्ति – अवभास-आदि द्वारा प्रतिमण्डित विपश्यना के प्रति आसक्त सूक्ष्म तृष्णा 'निकन्ति' है। यह निकन्ति भी योगी की सन्तान में विद्यमान होती है।

उस निकन्ति (तृष्णा) के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण योगी उसे तृष्णा नहीं समझ पाता; अपितु वह उसे 'विपश्यनारति' समझने लगता है।

प्रीति-आदि की उत्पत्ति होते समय भी 'मुझमें पहले कभी इस प्रकार की प्रीति-आदि की उत्पत्ति नहीं हुई थी, अब हुई है, इस तरह की प्रीति-आदि का उत्पादक चित्त अवश्य ही मार्ग या फल चित्त होगा, मुझे मार्ग अथवा फल की प्राप्ति हो गई है' – इस प्रकार की भ्रान्ति का उत्पाव हो जाता है, फलतः योगी विपश्यनाभावना मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है।

---

१. द्र० – अभि० स०, पृ० १५५-१५७।

उपक्किलेस (उपक्लेश) – विपश्यना को क्लिष्ट करनेवाले धर्मों को 'उपक्लेश' कहते हैं। ओभास (अवभास) से लेकर उपेक्षा तक कहे गये उपर्युक्त ९ धर्म अकुशल धर्म नहीं है। इस उदयव्यय ज्ञान के उत्पन्न होने पर इनका भी अनिवार्यतया उत्पाद होता है। प्रीति-आदि धर्म विपश्यनाचित्त से सम्प्रयुक्त होनेवाले धर्म भी होते हैं, अतः अवभास-आदि को मुख्य उपक्लेश धर्म नहीं कहा जा सकता; किन्तु 'ये अवभास-आदि मुझमें उत्पन्न हुये हैं' – इस प्रकार की उपादानदृष्टि, 'ये अत्यन्त अनुराग के योग्य हैं' – इस प्रकार के मान, तथा 'यह मेरा अवभास आदि है' – इस प्रकार से ग्रहण करनेवाली तृष्णा—इन तीन धर्मों के ये अवभास आदि ९ धर्म आधारभूत आलम्बन होते हैं। ये तृष्णा, मान एवं दृष्टि विपश्यनाचित्त को क्लिष्ट करनेवाले मुख्य उपक्लेशक धर्म हैं। आलम्बनक तृष्णा, मान एवं दृष्टि के 'उपक्लेश' इस नाम का आलम्बनभूत अवभास-आदि ९ धर्मों में उपचार करके फलोपचार या स्थान्युपचार से इन अवभास-आदि को भी 'उपक्लेश धर्म' कहा जा सकता है। अन्तिम धर्म निकन्ति तो मुख्यरूप से उपक्लेशक धर्म होता ही है। उस निकन्ति का आलम्बन करके पश्चिम पश्चिम तृष्णा, मान एवं दृष्टि धर्मों की उत्पत्ति होने से फलोपचार एवं स्थान्युपचार से भी वह उपक्लेश धर्म कही जा सकती है।

इस प्रकार अवभास, प्रीति-आदि विपश्यना के उपक्लेशक धर्म वस्तुरूप से संख्या में दस होते हैं। एक एक का आलम्बन करनेवाले तृष्णा, मान एवं दृष्टि धर्मों से गुणा करने पर इन क्लेशधर्मों की कुल संख्या ३० हो जाती है[1]।

न केवल कम्मट्ठानकर्म में अकुशल (अनिपुण) योगी, इन अवभास-आदि धर्मों के प्रति अनुरक्त होकर कम्मट्ठानमार्ग से भ्रष्ट हो जाता है; अपितु कुशल (निपुण) योगी की सन्तान में भी ये अवभास-आदि तृष्णा, मान एवं दृष्टि के आधार होकर उनके विपश्यनाचित्त को क्लिष्ट करनेवाले विघ्नदायक धर्म हो सकते हैं। अतः इन अवभास आदि के प्रति अनुराग करना 'अमार्ग' है। इन के प्रति ध्यान न देकर अपने द्वारा आरब्ध विपश्यना को समुचित रूप से करना ही मार्ग एवं फल की प्राप्ति का कारणभूत सम्यग् 'मार्ग' है – इस प्रकार मार्ग एवं अमार्ग का परिच्छेद करनेवाले ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यह ज्ञान सामान्य ज्ञानमात्र नहीं है; अपितु मार्ग एवं अमार्ग को आँख से देखने की तरह देखनेवाला विशेष ज्ञान है, अतः 'दर्शन' कहा जाता है। तथा विपश्यना के उपक्लेशक धर्मों से विशुद्ध होने के कारण 'विशुद्धि' भी कहलाता है। अतः इसे 'मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि' कहते हैं[2]।

इतने मात्र विपश्यना क्रम से उदयव्यय ज्ञान परिपूर्ण नहीं होता। अवभास आदि द्वारा विघ्न किया जाने पर विपश्यना क्रम बीच में अवरुद्ध भी हो सकता है। अतः सम्मर्शनज्ञान एवं उदयव्ययज्ञान का पूर्वभाग मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि का क्षेत्र माना जा सकता है।

---

१. द्र० – विसु०, पृ० ४४८-४५१; पटि० म०, पृ० ३४८-३५० ।
२. द्र० – विसु०, पृ० ४५१-४५२ ।

पटिपदाञाणदस्सनविसुद्धि

५६. तथापरिबन्धविमुत्तस्स पन तस्स उदयब्बयञाणतो पट्ठाय याचानुलोमा तिलक्खणं विपस्सनापरम्पराय पटिपज्जन्तस्स नव विपस्सनाञाणानि पटिपदाञाणदस्सनविसुद्धि नाम।

उस प्रकार प्रतिबन्धक (परिपन्थी) धर्मों से विमुक्त योगी की सन्तान में उदयव्यय ज्ञान से लेकर अनुलोम ज्ञान की प्राप्तिपर्यन्त तीन लक्षणों को आरोपित करके विपश्यना ज्ञान की परम्परा से भावना करनेवाले योगी की सन्तान में उत्पन्न ९ विपश्यना ज्ञान 'प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि' कहलाते हैं।

प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि

५६. परिबन्धविमुत्तस्स – 'परिबन्धन्तीति परिबन्धा' विपश्यना क्रम में प्रतिबन्धक (विघ्नकारक) एवं उस (विपश्यना क्रम) के विनाशक अवभास-आदि विपश्यनोपक्लेशक धर्मसमूह 'परिबन्ध' कहे जाते हैं। मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि द्वारा उन 'परिबन्ध' नामक विघ्नसमूह से विनिर्मुक्त योगी 'परिबन्धविमुक्त' कहलाता है।

उदयब्बयञाणतो पट्ठाय – पहले उदयव्ययज्ञान उत्पन्न होने पर भी विपश्यनोपक्लेशक धर्मों द्वारा विघ्न किया जा सकने के कारण अनित्य, अनात्म-आदि तीन लक्षण स्पष्ट नहीं होते। इसलिये उन उपक्लेशधर्मों से विमुक्त होने के अनन्तर इन तीन लक्षणों का स्पष्ट ज्ञान होने के लिये उदयव्यय ज्ञान की पुनः भावना की जाती है। इस उदयव्ययज्ञान से लेकर अनुलोम ज्ञान तक पहुँच जाने पर प्रतिपदाज्ञान-दर्शन विशुद्धि का क्षेत्र समाप्त हो जाता है।

पटिपदाञाणदस्सनविसुद्धि – मार्ग एवं फल प्राप्त करने में कारणभूत आचरण को 'प्रतिपदा' कहते हैं। त्रैभूमिक संस्कारों को अनित्य, दुःख एवं अनात्म रूप में जानने के कारण उसे 'ज्ञान' भी कहते हैं। यह केवल सामान्यज्ञान मात्र न होकर आँख से देखने की तरह स्पष्ट जाननेवाला होने के कारण 'दर्शन' भी कहा जाता है। प्रतिपक्षभूत क्लेशधर्मों से अत्यन्त विरहित और अत्यन्त विशुद्ध होने से यह 'विशुद्धि' भी कहा जाता है। इसलिये इसे प्रतिपदाज्ञानदर्शन विशुद्धि' कहते हैं[1]।

भङ्गज्ञान

उदयव्ययज्ञान द्वारा नाम एवं रूप धर्मों के उदय (उत्पाद) एवं व्यय (निरोध) दोनों की सुस्पष्ट विपश्यना की जाने से जब नाम-रूप धर्मों के उदय एवं व्यय स्पष्ट प्रतिभासित होने लगते हैं, तब इन (उदय एवं व्यय) के अत्यन्त शीघ्रता से घटित होने

---

१. द्र० – विसु०, पृ० ४५३-४५४।

के कारण इन दोनों में से उदय का आलम्बन न कर पा सकने के कारण केवल भङ्ग का ही दर्शन हो पाता है। जैसे हमें किसी तालाब में उत्पन्न होनेवाले बुलबुलों के उत्पाद का उतना स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता जितना उनके विनाश का दर्शन होता है। योगी जब प्रत्युत्पन्न नाम-रूप धर्मों के भङ्ग की विधिपूर्वक विपश्यना करने में समर्थ हो जाता है, तो जब वह अतीत, अनागत नाम-रूप धर्मों का अनुमान से आलम्बन करके विपश्यना करता है, तब भी उनके भङ्ग का ही आलम्बन हो पाता है। किसी एक संस्कार के भङ्ग को आलम्बन बनानेवाले भङ्गज्ञान के भी भङ्ग का आलम्बन करने में जब कोई अन्य ज्ञान समर्थ हो जाता है, तब भङ्गज्ञान अपने विकास की चरम कोटि को प्राप्त हो जाता है[1]।

"सङ्खारा मे बुब्बुलं व भिज्जरे भिज्जरे खणं।
पस्सतो वं भङ्गञाणं जातं ततिययोगिनो[2]॥"

अर्थात् ये नाम-रूप संस्कार धर्म पानी के बुलबुलों की भाँति क्षण क्षण में निरन्तर विनष्ट हो रहे हैं—इस प्रकार विपश्यना करनेवाले तृतीय योगी की सन्तान में 'भङ्गज्ञान' उत्पन्न हो जाता है।

भयज्ञान

जिस प्रकार दीर्घायुष्य एवं सुख की कामना करनेवाले पुद्गल सिंह व्याघ्र-आदि से व्याप्त भयानक जङ्गल को देखकर 'यह भय स्थान है'—ऐसा सोचकर उस जंगल से तथा इसी तरह आयुष्य एवं सुख के विघातक अन्य अन्तरायों से भयभीत होते हैं; उसी प्रकार नाम एवं रूप धर्मों में केवल भङ्गज्ञान के द्रष्टा योगी 'इन नामरूप धर्मों का अतीत भव में भी भङ्ग हुआ था, प्रत्युत्पन्न भव में भी भङ्ग हो रहा है, एवं अनागत भव में भी भङ्ग होगा, ये नामरूप भयोत्पादक हैं'—इस प्रकार उनके भङ्ग ज्ञान से भयभीत होते हैं और उस समय उनमें भयज्ञान की उत्पत्ति होती है।

"निरुद्धातीता सङ्खारा पच्चुप्पन्ना च भिज्जरे।
अनागता भिज्जिस्सन्ति सब्बे पि भायितब्बका[3]॥"

अर्थात् हमारी सन्तान में बार बार उत्पन्न होकर निरुद्ध हो चुके संस्कार अतीत हो गये हैं, प्रत्युत्पन्न संस्कार भी निरुद्ध हो रहे हैं तथा इसी प्रकार अनागत संस्कार भी अवश्य ही निरुद्ध होंगे, अतः सभी संस्कारधर्म भय को उत्पन्न करनेवाले हैं।

भयज्ञान की निर्भयता—यहाँ प्रश्न होता है कि भयज्ञान को स्वयं संस्कारधर्मों से भय होता है या भयज्ञान के द्रष्टा योगी को भय होता है?

समाधान—भय स्वभावतः द्वेषजवन है। अतः महाकुशलों में सम्प्रयुक्त भयज्ञान को भय नहीं होता; न तो योगी को ही भय होता है। वस्तुतः त्रैभूमिक संस्कारधर्मों की 'ये भयोत्पादक धर्म हैं'—इस प्रकार विपश्यना करने से विपश्यनाज्ञान ही 'भयज्ञान' कहलाता है। जिस प्रकार अपने साथियों एवं माता-पिता आदि को कष्ट पहुँचानेवाले

---

१. द्र०—विसु०, पृ० ४५४-४५६; पटि० म०, पृ० ६३-६५।

२. ब० भा० टी०। तु०—विसु०, पृ० ४५७। ३. ब० भा० टी०।

लड़के को देखकर 'यह लड़का बड़ा भयानक है' – ऐसा कहा जाता है; फिर भी बड़ी आयुवाले व्यक्ति उससे भयभीत नहीं होते, उसी प्रकार इसे जानना चाहिये'[1]।

आदीनवज्ञान, निर्वेदज्ञान एवं मोक्तुकामताज्ञान

नाम एवं रूप धर्मों में 'ये भयानक धर्म हैं' – इस प्रकार भयज्ञान उत्पन्न होने के अनन्तर उन नामरूपात्मक संस्कार धर्मों में आदीनव देखनेवाले आदीनवज्ञान की उत्पत्ति होती है। आदीनव देखने से उन संस्कार धर्मों के प्रति निर्विण्ण (उदासीन) होनेवाले निर्वेदज्ञान की उत्पत्ति होती है। (भय, आदीनव एवं निर्वेद – ये तीनों ज्ञान प्रारम्भ में अर्थात् उत्पन्न होते समय पृथक् पृथक् दृष्टिगोचर होते हैं; किन्तु अभ्यास हो जाने पर एक ज्ञान में भी ये तीनों स्वभाव रह सकते हैं।) निर्वेदज्ञान के उत्पाद के अनन्तर 'जाल में फँसी मछली जैसे जाल से मुक्त होना चाहती है' – उस प्रकार संस्कार धर्मों से मुक्ति चाहनेवाले 'मोक्तुकामताज्ञान' की उत्पत्ति होती है[2]।

"भयतो पट्ठानेनेव आदीनवञ्च जानतो।
निब्बिन्दतो सङ्खारेसु जातं मुञ्चितुकम्यता[3]॥"

अर्थात् संस्कार धर्मों में भयज्ञान होने से उनमें आदीनव देखकर उनसे निर्विण्ण होते हुये योगी की सन्तान में उनसे 'मोक्तुकामता' नामक ज्ञान उत्पन्न होता है।

प्रतिसंख्याज्ञान

संस्कारधर्मों में अनित्य-दुःख-अनात्म लक्षणों की पुनः पुनः विपश्यना करनेवाला ज्ञान 'प्रतिसंख्या' (पटिसङ्खा) ज्ञान है। (पटि=प्रति=वीप्सा; सङ्खा=संख्या=विपश्यना; ञाणं=ज्ञान – इस प्रकार पदच्छेद करना चाहिये।)

मोक्तुकामताज्ञान द्वारा संस्कार धर्मों से केवल मुक्त होने की कामनामात्र होती है; योगी उनसे मुक्त हो नहीं जाता। इस प्रतिसंख्याज्ञान द्वारा योगी उन संस्कारधर्मों से यद्यपि मुक्त होना चाहता है; किन्तु चाहने पर भी वे धर्म आसानी से छूट नहीं पाते, अतः वह (योगी) उन (संस्कार धर्मों) में नित्य, सुख एवं आत्मोपादान दृष्टि उत्पन्न न होने देने के लिये अनित्य-दुःख-अनात्म लक्षणों की पुनः विपश्यना करता है। जिस प्रकार मछली पकड़नेवाले व्यक्ति के हाथ में कभी सहसा मछली के स्थान पर सर्प का सिर आ जाता है, तब पहले तो वह उसे बड़ी मछली समझ कर प्रसन्न होता है; किन्तु बाद में 'यह सर्प है' – ऐसा जान लेने पर भी डँस लेने के भय से उसे एकाएक नहीं छोड़ता; अपितु युक्तिपूर्वक उसे दुर्बल बनाकर धीरे से छोड़ता है, इसी प्रकार नामरूपात्मक संस्कार धर्मों के प्रति पहले अनुराग होने पर भी जब उनमें अनित्य, दुःख एवं अनात्म लक्षण दिखाई पड़ते हैं, तो भय, आदीनव, निर्वेद एवं मोक्तुकामता

---

1. द्र० – विसु०, पृ० ४५८।
2. द्र० – विसु०, पृ० ४५८-४६१; पटि० म०, पृ० ६५-६७, १०७।
3. अ० भा० टी०।

ज्ञान होने के अनन्तर योगी उन संस्कार धर्मों से सर्वथा मुक्त होने के लिये उनकी अनित्य-दुःख-अनात्म लक्षणों द्वारा पुनः विपश्यना करता है[1]।

संस्कारोपेक्षाज्ञान

प्रतिसंख्याज्ञान द्वारा संस्कारधर्मों को छोड़ देने के बाद उन संस्कार धर्मों को भय-आदीनव-आदि द्वारा न देखकर उनकी उपेक्षा करने में समर्थज्ञान 'संस्कारोपेक्षा-ज्ञान' कहलाता है। इस ज्ञान द्वारा उपेक्षा होने पर योगी 'इन संस्कारधर्मों का आलम्बन भी नहीं करता' – ऐसा नहीं कहा जा रहा है; क्योंकि सभी विपश्यनाज्ञान संस्कारधर्मों का आलम्बन करके ही प्रवृत्त होते हैं; अपितु उनका आलम्बन करने पर भी न तो उनमें अनुराग करता है और न उन्हें भयानक ही समझता है, केवल उनकी उपेक्षा करके उनमें अनित्य-दुःख-अनात्म की विपश्यनामात्र करता है[2]।

"मुञ्चितुकामतो येव पटिसङ्खाय जानतो।
सङ्खारुपेक्खानामं ञाणं जातं नवमयोगिनो[3]॥"

अर्थात् संस्कार धर्मों को छोड़ने की इच्छा होने से उन्हें प्रतिसंख्याज्ञान (मोक्तुकामता के बाद पुनः तीन लक्षणों के द्वारा विपश्यना करनेवाला ज्ञान) द्वारा जानते हुये नवम योगी की सन्तान में संस्कारोपेक्षा नामक ज्ञान उत्पन्न होता है।

अनुलोमज्ञान

इस ज्ञान से ऊपर जाने पर योगी को मार्ग एवं फल की प्राप्ति होगी। इसलिये ऊपर के मार्गज्ञान एवं फलज्ञान में प्राप्त होनेवाले बोधिपक्षीय धर्मों के तथा उदयव्यय आदि नीचे के ८ ज्ञानों के अनुरूप होने के कारण इस ज्ञान को 'अनुलोम ज्ञान' कहा जाता है।

यह अनुलोमज्ञान भी अपने से पूर्व के ८ ज्ञानों की तरह अनित्य, अनात्म एवं दुःख लक्षणों द्वारा ही विपश्यना करता है। इसलिये यह पूर्व के ज्ञानों के अनुरूप होता है। मार्गक्षण में प्राप्त होनेवाले बोधिपक्षीय धर्मों को प्राप्त करना योगी का मुख्य उद्देश्य होता है। इस उद्देश्य के अनुसार यह ज्ञान उन बोधिपक्षीय धर्मों को एकान्त रूप से प्राप्त करनेवाला होने से उन बोधिपक्षीय धर्मों के भी अनुरूप होता है। इसे इस उपमा द्वारा समझना चाहिये – जैसे किसी राजा के मन्त्रियों ने किसी अपराध का धर्मशास्त्रों के अनुसार निर्णय दिया और राजा ने उस निर्णय की घोषणा कर दी तो राजा की यह आज्ञा धर्मशास्त्रों के अनुरूप भी होती है और मन्त्रियों के अनुरूप भी होती है।

यह अनुलोमज्ञान, मार्गवीथि में आनेवाले परिकर्म, उपचार एवं अनुलोम कृत्यों को करनेवाला ज्ञान है। गोत्रभू, संस्कारधर्मों को आलम्बन नहीं करता; केवल निर्वाण

---

१. द्र० – विसु०, पृ० ४६१-४६३; पटि० म०, पृ० ३०७।
२. द्र० – विसु०, पृ० ४६३-४६५; पटि० म०, पृ० ६७-७२।
३. ब० मा० टी०।

५७. तस्सेवं* पटिपज्जन्तस्स पन विपस्सनापरिपाकमागम्म इदानि अप्पना उप्पज्जिस्सतीति भवङ्गं वोच्छिन्दित्वा उप्पन्नमनोद्वारावज्जनानन्तरं†

उपर्युक्त विपश्यना क्रम से भावना करनेवाले उस योगी की सन्तान में विपश्यनाज्ञान की परिपक्वता की अपेक्षा से 'अब अर्पणा नामक लोकोत्तर मार्ग उत्पन्न होगा' – इस प्रकार सोचने के क्षण में भवङ्ग का उच्छेद करके

का ही आलम्बन करता है, अतः वह विपश्यनाज्ञान में सम्मिलित नहीं होता। अपितु विपश्यनाज्ञान के मूर्धा के सदृश होने से विपश्यना में सङ्गृहीत होता है[1]।

अनुलोमज्ञान की उत्पत्ति – संस्कारोपेक्षाज्ञान द्वारा संस्कारधर्मों के प्रति उपेक्षा करके पुनः अनित्य, दुःख, अनात्म लक्षणों की बार बार विपश्यना करने पर संस्कारधर्मों का आलम्बन करने की कामना न होने से उन धर्मों से निरपेक्ष होकर संस्कार धर्मों से विमुक्त निर्वाण की ओर चित्त का झुकाव होता है। परन्तु निर्वाण को सीधे प्राप्त न कर पाने से निर्वाण को खोजते खोजते अन्त में (यह ज्ञान) संस्कार धर्मों का ही आलम्बन करता है। इसे उपमा द्वारा यों समझना चाहिये – पुराने समय में समुद्र यात्रा करनेवाले यात्री जलपोत में अपने साथ एक कौआ ले जाया करते थे। जब वे मार्ग भूल जाते थे, तब किनारा खोजने के लिये कौआ छोड़ते थे। वह कौआ यद्यपि किनारा खोजने के लिये जलपोत से उड़कर भिन्न भिन्न दिशाओं में जाता है; किन्तु किनारा न मिलने पर पुनः पुनः उसी जलपोत पर लौटकर आ जाता है, अन्त में किनारा मिल जाने पर किनारे पर चला जाता है। इसी प्रकार संस्कारधर्मों से उपेक्षा हो जाने पर यह ज्ञान निर्वाण को खोजने के लिये इधर उधर दौड़ता है; किन्तु निर्वाण दिखाई न पड़ने के कारण बीच बीच में पुनः उन्हीं संस्कारधर्मों का आलम्बन करता है। निर्वाण दिखाई देने पर 'परिकर्म, उपचार, अनुलोम' – इस क्रम से अनुलोमज्ञान उत्पन्न होने के बाद योगी गोत्रभू द्वारा निर्वाण का आलम्बन करके मार्ग की प्राप्ति तक पहुँच सकता है। इस प्रकार उदयव्ययज्ञान से लेकर अनुलोम ज्ञान तक क्रमशः उत्पन्न होनेवाले नौ विपश्यना ज्ञानों को 'प्रतिपदाज्ञान दर्शन विशुद्धि' कहते हैं[2]।

"सङ्खारा लीनचित्तस्स वीतसङ्खारमेसतो।
अनुलोमनामं ञाणं जातं दसमयोगिनो[3]॥"

अर्थात् संस्कारधर्मों से लीन (उदासीन) चित्तवाले, अतएव वीतसंस्कार (निर्वाण) का अन्वेषण करनेवाले दशम योगी की सन्तान में 'अनुलोम' नामक ज्ञान उत्पन्न होता है।

५७. इस पालि द्वारा मार्गप्राप्ति के आसन्न काल में अनुलोमज्ञान की सन्तति दिखलायी गयी है। इसमें प्रयुक्त 'द्वे तीणि विपस्सनाचित्तानि' – इस वाक्य द्वारा परिकर्म,

---

*. तस्सेव – स्या०।

†. ०मनोद्वारानन्तरं – ना०; उप्पन्नं मनोद्वारावज्जनानन्तरं – रो०।

१. द्र० – विसु०, पृ० ४७५।

२. द्र० – विसु०, पृ० ४६५-४६६; पटि० म०, पृ० ७३-७६; ३०८।

३. ब० भा० टी०।

द्वे तीणि विपस्सनाचित्तानि यं किञ्चि अनिच्चादिलक्खणमारब्भ परिकम्मो-पचारानुलोमनामेन पवत्तन्ति।

उत्पन्न मनोद्वारावर्जन के अनन्तर २-३ विपश्यनाचित्त जिस किसी एक अनित्य-आदि लक्षण का आलम्बन करके 'परिकर्म, उपचार, अनुलोम' नाम से प्रवृत्त होते हैं।

५८. या* सिखापत्ता†, सा‡ सानुलोमा§ सङ्खारुपेक्खा वुट्ठानगामिनी§§ विपस्सना ति चϕ पवुच्चति$।

जो शिखर को प्राप्त है तथा अनुलोम ज्ञान के साथ होता है—ऐसा वह संस्कारोपेक्षाज्ञान 'व्युत्थानगामिनी विपश्यना' कहलाता है।

उपचार एवं अनुलोम – ये तीन विपश्यना चित्त कहे गये हैं। तीक्ष्ण पुद्गल की चित्तवीथि में उपचार एवं अनुलोम – ये दो विपश्यना चित्त तथा मन्द पुद्गल की चित्तवीथि में परिकर्म, उपचार एवं अनुलोम – ये तीन विपश्यना चित्त प्रवृत्त होते हैं[1]।

५८. वुट्ठानगामिनी विपस्सना – मार्गधर्म को 'व्युत्थान' कहते हैं। उस व्युत्थान नामक मार्ग को प्राप्त करने की कारणभूत विपश्यना 'व्युत्थानगामिनी विपश्यना' कहलाती है।

स्पष्टीकरण – सभी मार्ग, संस्कार धर्मों का आलम्बन न कर केवल निर्वाण का ही आलम्बन करते हैं। इसलिये मार्ग धर्म, संस्कार नामक आलम्बन निमित्तों से उत्तीर्ण (व्युत्थित) होते हैं। मार्ग प्राप्त हो जाने पर स्कन्ध सन्तति दीर्घकाल तक संसारवट्ट (संसारवर्त) में प्रवृत्त नहीं होती। यहाँ तक कि वह स्रोतापत्तिमार्ग की प्राप्ति मात्र से ही कामभूमि में अधिक से अधिक सात भव तक प्रवृत्त हो सकती है, इससे अधिक नहीं। इसीलिये मार्ग धर्म, निरन्तर प्रवर्तमान वट्टस्कन्धों (सांसारिक स्कन्धों) से व्युत्थित (विमुक्त) धर्म कहे जाते हैं। इस प्रकार संस्कार एवं वर्तप्रवृत्त (वट्टपवत्त = संसार-प्रवृत्त) धर्मों से व्युत्थित (निर्गत) होने के कारण मार्ग को 'व्युत्थान' कहा जाता है। उस व्युत्थान नामक मार्ग की प्राप्ति में कारणभूत विपश्यना को, जो संस्कारोपेक्षाज्ञान का अन्तिम भाग एवं अनुलोमज्ञान ही है, 'व्युत्थानगामिनी विपश्यना' कहते हैं।

---

*. या विपस्सना – स्या०। †. सिखाप्पत्ता – रो०, म० (ख)।
‡. रो० में नहीं। §. अनुलोमा – स्या०। §§. ०गामिणी – सी०।
ϕ. स्या० में नहीं। $. वुच्चति – स्या०, ना०।
*. – $ यह पाठ म० (क) में कोष्ठान्तर्गत है।
१. द्र० – विसु०, पृ० ४७५। विस्तार के लिये द्र० – अभि० स० (अप्पनाजवनवार) पृ० ३४२-३५२।

५९. ततो परं गोत्रभुचित्तं* निब्बानमालम्बित्वा पुथुज्जनगोत्तमभिभवन्तं अरियगोत्तमभिसम्भोन्तञ्च पवत्तति।

अनुलोम के अनन्तर प्रवृत्त होनेवाला गोत्रभू चित्त निर्वाण का आलम्बन करके पृथग्जन गोत्र का अभिभव करते हुये तया आर्य गोत्र प्रात करते हुए प्रवृत्त होता है।

उस 'संस्कारोपेक्षा' नामक ज्ञान के पूर्वभाग, मध्यभाग एवं मार्गवीथि से सम्बन्ध रखनेवाला अन्तिमभाग – इस प्रकार तीन विभाग किये जा सकते हैं। इनमें से पूर्वभाग एवं मध्यभाग का व्युत्थानगामिनी विपश्यना से कोई सम्बन्ध नहीं होता। मनोद्वारावर्जन के अनन्तर ७ वार जवन नाम से संस्कारोपेक्षा ज्ञान के प्रवृत्त होने पर बीच में कुछ भवङ्ग अन्तरित करके पुनः भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद एवं मनोद्वारावर्जन होने के अनन्तर 'परिकर्म, उपचार, अनुलोम' नामक अनुलोमज्ञान प्रवृत्त होता है। (अनुलोम के बाद मार्ग एवं फल उत्पन्न होंगे।) इस प्रकार अनुलोमज्ञान से सम्बद्ध और समीपचारी संस्कारोपेक्षाज्ञान का अन्तिम भाग (इसे ही शिखरप्राप्त कहा गया है।) तथा अनुलोम ज्ञान 'व्युत्थानगामिनी विपश्यना' कहलाते हैं[1]।

"सङ्खारभूतनिमित्तवट्टखन्धपवत्ततो।
वुट्ठानं याय गच्छन्ति एसा वुट्ठानगामिनी[2]॥"

अर्थात् जिस विपश्यना ज्ञान द्वारा संस्कार नामक निमित्तों (आलम्बनों) एवं वर्तप्रवृत्त (वट्टपवत्त=सांसारिक) धर्मों से उत्तर (निर्गत) लोकोत्तर मार्ग की प्राप्ति होती है। उसे 'व्युत्थानगामिनी विपश्यना' कहते हैं।

५९. गोत्रभुचित्तं – 'गोत्तं भवति अभिभवतीति गोत्रभु' अर्थात् पृथग्जन गोत्र का अभिभव करनेवाला चित्त 'गोत्रभू चित्त' है। यहाँ सत्कायदृष्टि एवं विचिकित्सा से अविरहित (सम्प्रयुक्त) स्कन्धसन्तति 'पृथग्जन गोत्र' कही गयी है।

अपि च – 'गोत्तं भवति अभिसम्भुणातीति गोत्रभु' – अर्थात् आर्य गोत्र को प्राप्त करानेवाला चित्त 'गोत्रभूचित्त' है। सत्कायदृष्टि एवं विचिकित्सा से विरहित स्कन्ध सन्तति 'आर्य गोत्र' कही गयी है।

गोत्रभू चित्त के उत्पाद मात्र से यद्यपि आर्य गोत्र में पहुँचना नहीं होता; तथापि मार्ग के निकट होने से समीपोपचार से उसे 'आर्य गोत्र में पहुंच गया है' – ऐसा कहा जाता है[3]।

---

* गोत्रभू० – सी०, स्या०।

१. द्र० – विसु०, पृ० ४६८।

२. ब० भा० टी०।

३. द्र० – विसु०, पृ० ४४७; पटि० म०, पृ० ७३।

निब्बानमालम्बित्वा – यह गोत्रभू चित्त अपने उत्पाद से पूर्व किसी आवर्जन चित्त के उपस्थित न होने पर भी निर्वाण का आलम्बन कर सकता है।

जैसे किसी बड़ी नहर को लांघ कर दूसरे किनारे पहुँचने की इच्छावाला पुरुष वेग से दौड़कर नहर के इस किनारे वृक्ष की शाखा में बँधी हुई एवं लटकती हुई रस्सी या लाठी को पकड़ कूदकर दूसरे किनारे जाने के लिये झुके, ढले, लटके हुये शरीरवाला होकर दूसरे किनारे के ऊपरी भाग को पाकर उसे छोड़, कांपते हुए दूसरे किनारे गिरकर धीरे से खड़ा हो जाता है, ऐसे ही योगी भी भव, योनि, गति, स्थिति और निवास के दूसरे किनारे विद्यमान निर्वाण में प्रतिष्ठित होना चाहते हुए, उदयव्यय की अनुपश्यना-आदि द्वारा वेग से दौड़कर, आत्मभाव–रूपी वृक्ष की शाखा में बांधकर लटकी हुई रूपस्कन्ध की रस्सी या वेदना आदि में से किसी एक डण्डे को 'अनित्य है, दुःख है, अनात्म है' – इस प्रकार के अनुलोम के आवर्जन द्वारा पकड़कर उसे नहीं छोड़ते हुए ही प्रथम अनुलोमचित्त से कूदकर, द्वितीय से दूसरे किनारे जाने के लिये झुके, ढले, लटके हुए शरीरवाले के समान निर्वाण की ओर झुके, ढले, लटके हुए मनवाला होकर, तृतीय से दूसरे किनारे के ऊपरी भाग को पाने के समान इस समय पाने योग्य निर्वाण के समीप होकर उस चित्त के निरोध से संस्कारों के उस आलम्बन को छोड़कर गोत्रभूचित्त से संस्काररहित दूसरे किनारे रूपी निर्वाण में गिरता है; किन्तु एक आलम्बन में आसेवन को प्राप्त न होने से प्रकम्पित होता हुआ, उस पुरुष के समान उसी समय सुप्रतिष्ठित नहीं हो जाता; प्रत्युत उसके बाद मार्गज्ञान से प्रतिष्ठित होता है[1]।

इस उपमा के अनुसार मार्गवीथि में कारणों के अनुसार मनोद्वारावर्जन-आदि पूर्वचित्तों द्वारा संस्कार धर्मों का आलम्बन करने से तथा गोत्रभू, मार्ग एवं फल द्वारा निर्वाण का आलम्बन करने से एक वीथि में भी आलम्बन भेद होता है।

अनुलोमज्ञान एवं गोत्रभू में विशेष –

परिकर्म आदि अनुलोमज्ञान मोह-रूपी अन्धकार का प्रहाण कर सकता है; किन्तु निर्वाण का साक्षात्कार नहीं कर सकता।

गोत्रभू निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है; किन्तु मोह का प्रहाण नहीं कर सकता।

जैसे एक चक्षुष्मान् पुरुष 'नक्षत्रयोग को जानूंगा' सोचकर रात्रि में निकलकर चन्द्रमा को देखता है। किन्तु घने बादलों से ढके होने के कारण वह देख नहीं पाता। तब एक हवा आकर घने बादलों को, दूसरी मध्यम बादलों को, तथा तीसरी हवा आकर सूक्ष्म बादलों को भी उड़ा देती है। अब वह पुरुष चन्द्रमा को स्पष्टतया देखने में समर्थ हो जाता है।

1. द्र० – विसु०, पृ० ४४७–४७८।

मग्गचित्तुप्पत्ति

६०. तस्सानन्तरमेव मग्गो दुक्खसच्चं परिजानन्तो, समुदयसच्चं पजहन्तो, निरोधसच्चं सच्छिकरोन्तो, मग्गसच्चभावनावसेन*, अप्पनावीथिमोतरति। ततो परं द्वे तीणि† फलचित्तानि पवत्तित्वा‡ भवङ्गपातो व होति।

गोत्रभू चित्त के अनन्तर ही मार्ग, दुःख सत्य का परिज्ञान (परिच्छेद करके ज्ञान) करते हुये, समुदय सत्य का प्रहाण करते हुये, निरोध सत्य का साक्षात् करते हुए, मार्गसत्य की भावना के बल से अर्पणावीथि में उतरता है। मार्ग चित्त के एक वार प्रवृत्त होने के अनन्तर २ या ३ वार फलचित्त प्रवृत्त होकर भवङ्गपात ही होता है।

यहाँ त्रिविध बादलों के समान स्थूल, मध्यम एवं सूक्ष्म मोहरूपी अन्धकार हैं। तीन हवाओं के सदृश तीन (परिकर्म-उपचार-अनुलोम) अनुलोम चित्त हैं। चक्षुष्मान् पुरुष के समान गोत्रभूज्ञान है। चन्द्रमा के समान निर्वाण है। बादलों से रहित आकाश में उस पुरुष द्वारा विशुद्ध चन्द्र देखे जाने के समान सत्य (निर्वाण) को ढकनेवाले मोहरूपी अन्धकार के दूर हो जाने पर गोत्रभू-ज्ञान द्वारा विशुद्ध निर्वाण देखना है।

जैसे तीन हवायें चन्द्र को ढकनेवाले बादलों को ही उड़ा सकती हैं, चन्द्रमा को नहीं देख सकती, ऐसे ही अनुलोम ज्ञान मोह को ही नष्ट कर सकते हैं, निर्वाण को नहीं देख सकते। जैसे वह पुरुष चन्द्रमा को ही देख सकता है, बादलों को नहीं उड़ा सकता, ऐसे ही गोत्रभूज्ञान निर्वाण को ही देख पाने में समर्थ है, क्लेशरूपी अन्धकार का नाश करने में समर्थ नहीं है।

इस प्रकार गोत्रभू निर्वाण का सर्वप्रथम द्रष्टा होने के कारण मार्ग से पूर्व आवर्जन के स्थान पर रहता है[1]।

मार्गचित्त की उत्पत्ति

६०. गोत्रभू चित्त का निरोध होने के अनन्तर ४ कृत्यों को एक साथ सम्पन्न करनेवाला मार्ग चित्त उत्पन्न होता है। जिस प्रकार दीपक बत्ती को जलाना, अन्धकार को नष्ट करना, प्रकाश को उत्पन्न करना एवं तैल को समाप्त करना—इन ४ कृत्यों को एक साथ सिद्ध करता है, उसी प्रकार मार्ग धर्म भी दुःख सत्य का 'यह दुःख सत्य इतना ही है, यह इन लौकिक चित्त, चैतसिक एवं रूप धर्मों से न तो न्यून है और न अधिक'-इस प्रकार परिच्छेद करके जानना

---

* मग्गसच्चं भावनावसेन – सी०, रो०, ना०, म० (क, ख)।

† तीनि – रो०।

‡ पवत्तित्वा निरुज्झति, ततो परं – स्या०।

1. द्र० – विसु०, पृ० ४७८; अट्ठ०, पृ० १८९।

नामक परिज्ञाकृत्य, तृष्णा एवं लोभ नामक समुदय सत्य का प्रहाण करना नामक प्रहाणकृत्य, निरोध (निर्वाण) सत्य का साक्षात् करना नामक साक्षात्क्रियाकृत्य एवं मार्ग सत्य को स्वसन्तान में उत्पन्न करना नामक भावनाकृत्य–इस प्रकार इन ४ सत्यों को एक साथ सम्पन्न कर सकता है[1]।

यहाँ आलम्बन प्रतिवेध एवं असम्मोह प्रतिवेध – इन दो प्रतिवेधों का ज्ञान कर लेना चाहिये ।

मार्ग क्षण में निर्वाण का ज्ञान निर्वाण को आलम्बन बनाकर ही होता है, अतः इस प्रकार का ज्ञान 'आलम्बन प्रतिवेध' कहलाता है ।

दुःख सत्य का ज्ञान मोहरहित होकर ही किया जा सकता है, अतः इस प्रकार का ज्ञान 'असम्मोह प्रतिवेध' कहलाता है ।

भावार्थ – योगी मार्गक्षण में दुःखसत्य का आलम्बन नहीं करता; अपितु निर्वाण का ही आलम्बन करता है; तथापि वह दुःख सत्य का ज्ञान असम्मोह प्रतिवेध द्वारा परिच्छेद करके कर लेता है । कहा भी गया है – "चत्तारि सच्चानि एकप्पटिवेधानि"[2] अर्थात् चारों आर्य सत्यों का प्रतिवेध एक ज्ञान द्वारा होता है । यहाँ यह ज्ञातव्य है कि योगी निरोध सत्य का ज्ञान आलम्बन करके भी करता है, अतः निर्वाण का बोध आलम्बन प्रतिवेध द्वारा भी होता है; शेष सत्यों का बोध असम्मोह प्रतिवेध द्वारा होता है ।

निरोध सत्य के विषय में आलम्बन प्रतिवेध एवं असम्मोह प्रतिवेध- दोनों हो सकते हैं । ये आलम्बन एवं असम्मोह प्रतिवेध स्वरूपतः मार्गसत्य में सम्प्रयुक्त 'सम्यग् दृष्टि' ही है ।

"निरोधं ... पटिविज्झतीति एतेन निरोधसच्चमेकं आरम्मणपटिवेधेन, चत्तारि पि सच्चानि असम्मोहपटिवेधेन मग्गञ्जाणं पटिविज्झति[3] ।"

मार्गचित्त एक बार प्रवृत्त होने के अनन्तर फलचित्त तीक्ष्ण पुद्गल में ३ बार तथा मन्द पुद्गल में २ बार ही प्रवृत्त होता है । तदनन्तर भवङ्गपात हो जाता है[4] ।

मन्द पुद्गल की मार्गवीथि

'न	द	म	प	उ	नु	गो	मा	फ	फ'	भ
०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००

इसके बाद प्रत्यवेक्षण वीथियाँ होती हैं ।

---

१. द्र० – विसु०, पृ० ४६० ; पटि० म०, पृ० १३२]; सं० नि०, चतु० भा०, पृ० ३७४ ।

२. पटि० म०, पृ० ३५२ ।

३. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ३०४ ।

४. द्र० – विसु०, पृ० ४७१ ।

पच्चवेक्खणवीथि

६१. पुन भवङ्गं वोच्छिन्दित्वा* पच्चवेक्खणञाणानि† पवत्तन्ति।

पुनः भवङ्ग का विच्छेद करके प्रत्यवेक्षण ज्ञान प्रवृत्त होते हैं।

६२. मग्गं फलञ्च निब्बानं पच्चवेक्खति पण्डितो।
हीने‡ किलेसे‡ सेसे च पच्चवेक्खति वा न वा॥

लोकोत्तर ज्ञान सम्पन्न पण्डित मार्ग, फल एवं निर्वाण का प्रत्यवेक्षण करता है। प्रहीण क्लेशों एवं अवशिष्ट क्लेशों का प्रत्यवेक्षण करता भी है या नहीं भी करता।

प्रत्यवेक्षण वीथि

६१–६२. फल जवन २–३ बार होने के अनन्तर भवङ्गपात होकर जब भवङ्गसन्तति विच्छिन्न होती है, तब 'मैंने इस मार्ग द्वारा निर्वाण का लाभ किया' – इस प्रकार मार्ग का प्रत्यवेक्षण करनेवाली वीथि, 'मुझे मार्ग के फल का भी अनुभव हुआ है' – इस प्रकार फल का प्रत्यवेक्षण करनेवाली वीथि, 'मैंने निर्वाण का साक्षात्कार किया है' – इस प्रकार निर्वाण का प्रत्यवेक्षण करनेवाली वीथि, 'मैंने इतने क्लेशों का प्रहाण किया है' – इस प्रकार प्रहीण क्लेशों का प्रत्यवेक्षण करनेवाली वीथि तथा 'इतने क्लेश अभी अवशिष्ट हैं' – इस प्रकार शेष क्लेशों का प्रत्यवेक्षण करनेवाली वीथि – इस तरह ५ प्रकार की प्रत्यवेक्षण-वीथियाँ होती हैं।

इनमें से 'मग्गं फलञ्च निब्बानं पच्चवेक्खति' – इस वचन के अनुसार मार्ग, फल एवं निर्वाण का प्रत्यवेक्षण करनेवाली तीन वीथियाँ एकान्तरूप से होती हैं – यह दिखलाया गया है। तथा 'हीने किलेसे सेसे च पच्चवेक्खति वा न वा' – इस वचन द्वारा ग्रन्थकार ने, प्रहीण क्लेशों एवं शेष क्लेशों का प्रत्यवेक्षण करनेवाली ये दो वीथियाँ कुछ पुद्गलों में होती हैं, कुछ में नहीं – यह दिखाया है।

मार्ग, फल एवं निर्वाण का प्रत्यवेक्षण करनेवाली वीथियाँ एकान्त (निश्चित) रूप से होती ही हैं – इस विषय में आचार्यों के विभिन्न मत हैं।

'चूळदुक्खक्खन्धसुत्तट्ठकथा' के अनुसार प्रत्यवेक्षण वीथि के ५ प्रकारों में से एक या दो तो एकान्तरूप से होंगी; किन्तु वे कौन होंगी – इसका कोई निश्चय नहीं। कोई पुद्गल प्रहीण क्लेशों का, कोई अवशिष्ट क्लेशों का तथा

---

*. पन विच्छिन्दित्वा – स्या०।

†. पच्चवेक्खन० – म० (ख)।

‡–‡. पहीने किलेसे – स्या०।

ञाणदस्सनविसुद्धि

९३. छब्बिसुद्धिकमेनेवं* भावेतब्बो चतुब्बिधो ।
ञाणदस्सनविसुद्धि नाम मग्गो पवुच्चति ।।

अयमेत्थ विसुद्धिभेदो ।

इस तरह ६ प्रकार की विशुद्धियों के क्रम के अनुसार उत्पादयितव्य (भावयितव्य) ४ प्रकार का मार्ग 'ज्ञान-दर्शनविशुद्धि' कहलाता है ।

इस विपश्यना कर्मस्थान नय में यह 'विशुद्धिभेद' है ।

कोई मार्ग, फल एवं निर्वाण में से किसी एक, दो या तीनों का प्रत्यवेक्षण करता है ।

"सा पन न सब्बेसं परिपुण्णा होति, एको हि पहीणकिलेसमेव पच्चवेक्खति, एको अवसिट्ठकिलेसमेव, एको मग्गमेव, एको फलमेव, एको निब्बानमेव। इमासु पन पञ्चसु पच्चवेक्खणासु एकाव, द्वे व, नो लद्धुं न वट्टति[१] ।"

अभिधम्मत्थसङ्गह में 'मग्गं फलञ्च निब्बानं' इस वचन द्वारा मार्ग के प्रत्यवेक्षण का सर्वप्रथम कथन करने पर भी उपर्युक्त अट्ठकथा में प्रहीणक्लेश के प्रत्यवेक्षण को सर्व प्रथम स्थान दिया गया है, अतः उन मार्ग-फल आदि पांच प्रत्यवेक्षणाओं का यथेच्छ क्रम करके भावना की जा सकती है ।

इस प्रकार स्रोतापत्ति मार्ग प्राप्त होने पर पांच प्रत्यवेक्षण वीथियाँ, सकृदागामी एवं अनागामी मार्ग प्राप्त होने पर पांच पांच वीथियाँ, तथा अर्हत् मार्ग प्राप्त होने के अनन्तर (शेष क्लेशों का प्रत्यवेक्षण आवश्यक न होने के कारण) चार वीथियाँ – इस प्रकार प्रत्यवेक्षण वीथियाँ कुल १९ प्रकार की होती हैं[२] ।

ज्ञानदर्शनविशुद्धि

९३. शीलविशुद्धि-आदि पूर्वोक्त ६ विशुद्धियों के अनुसार क्रमशः प्राप्य मार्ग 'ज्ञानदर्शनविशुद्धि' कहलाता है[३] ।

'चतुसच्चं जानातीति ञाणं, पच्चक्खतो पस्सतीति दस्सनं, किलेसमलतो विसुज्झनं विसुद्धि' अर्थात् जो चार आर्यसत्यों को जानता है, वह 'ज्ञान' पद से अभिहित होता है। जो प्रत्यक्षतः देखता है, वह 'दर्शन' कहलाता है। क्लेश मलों से विशुद्ध होना 'विशुद्धि' है। इस तरह क्लेश मलों से विशुद्ध, चार आर्यसत्यों को प्रत्यक्षतः देखनेवाला ज्ञान 'ज्ञानदर्शनविशुद्धि' है ।

---

*. छब्बिसुद्धिक्कमेनेवं – स्या०, ना० ।

१. म० नि० अ०, प्र० भा० (मूलपण्णासट्ठकथा), पृ० ३३९ ।

२. द्र० – विसु०, पृ० ४७९-४८० । ३. द्र० – विसु०, पृ० ४७७-४८१ ।

विमोक्खभेदो

६४. तत्थ अनत्तानुपस्सना अत्ताभिनिवेसं मुञ्चन्ती* सुञ्ञतानुपस्सना नाम विमोक्खमुखं होति।

उस विपश्यना खण्ड में अनात्मानुपश्यना आत्माभिनिवेश का त्याग करने में समर्थ होती हुयी 'शून्यतानुपश्यना' नामक विमोक्षमुख होती है।

---

७ विशुद्धियों में शीलविशुद्धि एवं चित्तविशुद्धि सब विशुद्धियों की मूल हैं। यदि ये दो विशुद्धियाँ मूल में न हों, तो ऊपर की विशुद्धियों का उत्पाद अशक्य है। इन दोनों के अतिरिक्त अवशिष्ट ऊपर की ५ विशुद्धियाँ शरीरस्थानीय हैं। यह अट्ठकथा का मत है। विभावनी के अनुसार ऊपर की ५ विशुद्धियों में से ज्ञानदर्शनविशुद्धि को वर्जित कर अवशिष्ट ४ विशुद्धियाँ ही शरीरस्थानीय हैं। विभावनीकार ज्ञानदर्शनविशुद्धि को मूर्धस्थानीय कहना चाहते हैं[1]।

७ विशुद्धियाँ एवं १० ज्ञान – शीलविशुद्धि, चित्तविशुद्धि दृष्टिविशुद्धि एवं काङ्क्षावितरणविशुद्धि में नामरूप धर्मों का अनित्य, दुःख एवं अनात्म लक्षणों द्वारा सम्मर्शन नहीं किया जाने के कारण उस समय इनमें सम्मर्शनज्ञान नहीं होता। मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि में सम्मर्शनज्ञान एवं उदयव्ययज्ञान का पूर्वभाग होता है। प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि में उदयव्ययज्ञान का अन्तिमभाग, भङ्गज्ञान, भयज्ञान, आदीनवज्ञान, निर्वेद (निब्बिदा) ज्ञान, मोक्तुकाम्यता (मुञ्चितुकम्यता) ज्ञान, प्रतिसंख्याज्ञान, संस्कारोपेक्षाज्ञान, एवं अनुलोम ज्ञान होते हैं। ज्ञानदर्शनविशुद्धि में कोई विपश्यनाज्ञान नहीं होता; क्योंकि निर्वाण का आलम्बन करने से संस्कारधर्मों में अनित्य-दुःख-अनात्म की विपश्यना नहीं की जा सकती।

विशुद्धिभेद समाप्त।

विमोक्षभेद

६४. 'पटिपक्खतो विमुच्चतीति विमोक्खो' अर्थात् प्रतिपक्षभूत क्लेश धर्मों से विमुच्यमान (मुक्त हो रहे) धर्म 'विमोक्ष' कहलाते हैं। इस निर्वचन के अनुसार मार्ग धर्म 'विमोक्ष' कहे जाते हैं।

'पटिपक्खतो विमुच्चित्था ति विमोक्खो' अर्थात् प्रतिपक्षभूत क्लेश धर्मों से विमुक्त धर्म 'विमोक्ष' हैं। इस निर्वचन के अनुसार फलधर्म 'विमोक्ष' कहलाते हैं।

इस मार्ग-फल नामक विमोक्ष में प्रवेशद्वार की भाँति होने से व्युत्थानगामिनी विपश्यना 'विमोक्षमुख' कहलाती है।

---

*. मुञ्चन्ति – रो० (सर्वत्र)।

1. द्र० – विभा०, पृ० २०६।

६५. अनिच्चानुपस्सना विपल्लासनिमित्तं मुञ्चन्ती अनिमित्तानुपस्सना नाम विमोक्खमुखं*

अनित्यानुपश्यना विपर्यासनिमित्त का त्याग करने में समर्थ होती हुई 'अनिमित्तानुपश्यना' नामक विमोक्षमुख होती है।

६६. दुक्खानुपस्सना तण्हापणिधिं मुञ्चन्ती अप्पणिहितानुपस्सना† नाम विमोक्खमुखं‡।

दुःखानुपश्यना तृष्णाप्रणिधि का त्याग करने में समर्थ होती हुई 'अप्रणिहितानुपश्यना' नामक विमोक्षमुख होती है।

'आत्मा है' इस प्रकार के अभिनिवेश को 'आत्माभिनिवेश' कहते हैं। तीन प्रकार की अनुपश्यनाओं में से जो अनुपश्यना आत्माभिनिवेश का त्याग करने में समर्थ होती है, वह अनुपश्यना (अनात्मानुपश्यना) शून्यतानुपश्यना नामक 'विमोक्षमुख' कहलाती है।

६५. अनित्यधर्मों को 'ये नित्य हैं' – इस प्रकार विपर्यस्त (उलटे) रूप में समझनेवाले संज्ञा, चित्त एवं दृष्टि नामक तीन धर्मों को 'विपर्यास' (विपल्लास) कहते हैं[1]। ये विपर्यास धर्म, क्लेश धर्मों की उत्पत्ति के कारण या निमित्त होने के कारण 'विपर्यासनिमित्त' भी कहे जाते हैं। तीन अनुपश्यनाओं में से जो अनुपश्यना विपर्यासनिमित्त का त्याग करने में समर्थ होती है, वह अनुपश्यना (अनित्यानुपश्यना) अनिमित्तानुपश्यना नामक 'विमोक्षमुख' कहलाती है।

६६. संस्कार आलम्बनों में चित्त को दृढ़तापूर्वक रखनेवाली या उनकी अभिलाषा करनेवाली तृष्णा 'तृष्णाप्रणिधि' कहलाती हैं। तीन अनुपश्यनाओं में से जो अनुपश्यना तृष्णाप्रणिधि का त्याग करने में समर्थ होती है, वह अनुपश्यना (दुःखानुपश्यना) अप्रणिहितानुपश्यना नामक 'विमोक्षमुख' कहलाती है[2]।

---

*. सी०, रो०, म० (क, ख) में नहीं, विमोक्खमुखं होति – स्या०।

†. अप्पनिहिता० – रो०।

‡. सी०, रो०, म० (क, ख) में नहीं; विमोक्खमुखं होति – स्या०।

१. द्र० – विसु०, पृ० ४८५।

२. तीनों विमोक्षमुखों के विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – विसु०, पृ० ४६६; पटि० म०, पृ० २६०।

६७. तस्मा, यदि वुट्ठानगामिनी* विपस्सना अनत्ततो विपस्सति, सुञ्ञतो विमोक्खो नाम होति मग्गो; यदि अनिच्चतो विपस्सति, अनिमित्तो विमोक्खो नाम; यदि दुक्खतो विपस्सति, अप्पणिहितो विमोक्खो नामा ति च† मग्गो विपस्सनागमनवसेन तीणि‡ नामानि लभति। तथा फलञ्च मग्गागमनवसेन मग्गवीथियं।

इसलिये यदि व्युत्थानगामिनी विपश्यना (संस्कार धर्मों की) अनात्मरूप से विपश्यना करती है, तो मार्ग 'शून्यताविमोक्ष' नामवाला होता है। यदि अनित्य-रूप से विपश्यना करती है, तो मार्ग 'अनिमित्तविमोक्ष' नामवाला तथा यदि दुःखरूप से विपश्यना करती है, तो मार्ग 'अप्रणिहितविमोक्ष' नामवाला होता है। इस प्रकार मार्ग मार्गोत्पत्ति की कारणभूत विपश्यना से सम्बद्ध होने के कारण तीन नामों को प्राप्त करता है। उसी प्रकार फल भी फलोत्पत्ति के कारणभूत मार्ग से सम्बद्ध होने के कारण मार्गवीथि में तीन नामों को प्राप्त करता है।

६७. उस व्युत्थानगामिनी विपश्यना तक पहुंचने से पहले संस्कार धर्मों में अनित्य, दुःख, अनात्म – इस प्रकार नाना प्रकार की विपश्यना करनी पड़ती है। यदि व्युत्थानगामिनी विपश्यना नाम-रूप धर्मों में से किसी एक का 'यह अनात्म है' – इस प्रकार विपश्यना करती है, तो यह विपश्यना आत्माभि-निवेश का प्रहाण करने में समर्थ होने के कारण 'शून्यतानुपश्यना' नामक 'विमोक्ष-मुख' होती है। यदि उस शून्यतानुपश्यना नामक विमोक्षमुख से निःसरण करके मार्ग प्राप्त होता है, तो वह मार्ग 'शून्यताविमोक्ष' कहलाता है। यदि व्युत्थान-गामिनी विपश्यना नाम-रूप धर्मों में से किसी एक का 'यह अनित्य है' – इस प्रकार विपश्यना करती है, तो यह विपश्यना नित्यताविपर्यास के कारणभूत संज्ञा, चित्त एवं दृष्टि नामक विपर्यास निमित्तों का प्रहाण करने में समर्थ होने के कारण 'अनिमित्तानुपश्यना' नामक 'विमोक्षमुख' होती है। यदि उस अनिमित्ता-नुपश्यना नामक विमोक्षमुख से निःसरण करके मार्ग प्राप्त होता है, तो वह मार्ग 'अनिमित्तविमोक्ष' कहलाता है। यदि व्युत्थानगामिनी विपश्यना नाम-रूप धर्मों में से किसी एक का 'यह दुःख है' – इस प्रकार विपश्यना करती है, तो यह विपश्यना नाम-रूप संस्कारों में अभिलाषा करनेवाली तृष्णाप्रणिधि का प्रहाण करने में समर्थ होने के कारण 'अप्रणिहितानुपश्यना' नामक 'विमोक्षमुख' होती है। यदि उस अप्रणिहितानुपश्यना नामक विमोक्षमुख से निःसरण करके मार्ग प्राप्त होता है, तो वह मार्ग 'अप्रणिहितविमोक्ष' कहलाता है। इस प्रकार विपश्यनागमन के वश से मार्ग में तीन प्रकार के नाम प्राप्त होते हैं।

---

*. वुट्ठानगामिनि – म० (क, ख)।

†. रो० में नहीं।

‡. तीनि – रो०।

६८. फलसमापत्तिवीथियं पन यथावुत्तनयेन विपस्सन्तानं यथासकं* फलमुप्पज्जमानम्पि* विपस्सनागमनवसेनेव सुञ्ञतादिविमोक्खो ति वो† पवुच्चति‡ ।

फलसमापत्तिवीथि में यथोक्त नय के अनुसार विपश्यना करनेवाले पुद्गलों की सन्तान में स्वमार्गानुसार उत्पन्न होनेवाला फल भी अपने उत्पाद की कारणभूत विपश्यना से सम्बद्ध होने के कारण शून्यता-आदि विमोक्ष कहा जाता है ।

फल की उत्पत्ति के कारणभूत मार्ग 'मग्गागमन' हैं। मार्गवीथि में आनेवाले २ या ३ फल भी मार्ग के नाम के अनुसार नाना नामवाले होते हैं। यदि मार्ग 'शून्यताविमोक्ष' होता है, तो फल 'शून्यताविमोक्ष फल'; यदि मार्ग 'अनिमित्तविमोक्ष' होता है, तो फल 'अनिमित्तविमोक्ष फल' तथा यदि मार्ग 'अप्रणिहितविमोक्ष' होता है, तो फल भी 'अप्रणिहितविमोक्ष फल' होता है[1] ।

इन्द्रिय भेद से विपश्यना भेद – योगी तीन प्रकार के होते हैं, यथा – श्रद्धेन्द्रियाधिक्य, समाधीन्द्रियाधिक्य एवं प्रज्ञेन्द्रियाधिक्य ।

श्रद्धेन्द्रियाधिक्य योगी प्रायः अनित्य की विपश्यना करनेवाला होता है, अतः वह अनिमित्तविमोक्षमुख द्वारा 'अनिमित्तविमोक्ष' नामक मार्ग एवं फल प्राप्त करता है ।

समाधीन्द्रियाधिक्य योगी प्रायः दुःख की विपश्यना करनेवाला होता है, अतः वह अप्रणिहितविमोक्षमुख द्वारा 'अप्रणिहितविमोक्ष' नामक मार्ग एवं फल प्राप्त करता है ।

प्रज्ञेन्द्रियाधिक्य योगी प्रायः अनात्म की विपश्यना करनेवाला होता है, अतः वह शून्यताविमोक्षमुख द्वारा 'शून्यताविमोक्ष' नामक मार्ग एवं फल प्राप्त करता है[2] ।

६८. फलसमापत्ति के आसन्न काल में नाम – रूप धर्मों की अनित्य, दुःख, अनात्म रूप से विपश्यना की जाती है । यद्यपि मार्गवीथि में आनेवाले मार्गों द्वारा अपना 'शून्यताविमोक्ष' आदि नाम फलों को दिया जाता था; किन्तु फलसमापत्ति में चूंकि मार्ग नहीं आते, अतः मार्गों द्वारा अपना नाम फल धर्मों को नहीं दिया जा सकता । अतः फलसमापत्ति से पूर्व होनेवाली

–. यथासकफल० – म० (ख); ० फलं समुप्पज्जमानम्पि – स्या० ।

†. स्या० में नहीं ।

‡. वुच्चति – रो० ।

१. द्र० – विसु०, पृ० ४६६–४६७, ४७४; अट्ठ०, पृ० १८०–१८३; पटि० म०, पृ० २१४–२१५ ।

२. द्र० – अट्ठ०, पृ० १८२; विसु०, पृ० ४६९–४७०; पटि० म०, पृ० २१४–२१५ ।

६९. आरम्मणवसेन पन सरसवसेन च नामत्तयं सब्बत्थ* सब्बेसम्पि सममेव† ।

अयमेत्थ विमोक्खभेदो ।

निर्वाण-आलम्बन से सम्बद्ध होने के कारण तथा अपने स्वभाव से सम्बद्ध होने के कारण 'शून्यताविमोक्ष' आदि तीन नाम, सभी मार्गवीथि एवं फलसमापत्ति-वीथियों में, सभी पुद्गलों की सन्तान में समान ही होते हैं ।

इस विपश्यना कर्मस्थान में यह 'विमोक्षभेद' है ।

विपश्यना ही फल को 'शून्यताविमोक्ष' आदि नाम दे सकती है । जैसे – समापत्ति की पूर्ववर्ती विपश्यना यदि शून्यतानुपश्यना होगी, तो फल 'शून्यताविमोक्ष' नामवाला होगा ।

यथासकं फलमुप्पज्जमानम्पि – फलसमापत्ति के समावर्जन काल में फल अपने मार्ग के अनुसार ही होते हैं । अर्थात् प्रथम प्राप्त मार्ग यदि अपनी प्राप्ति के काल में 'शून्यताविमोक्षमार्ग' होगा, तो फलसमापत्ति के काल में उत्पन्न फल भी उस शून्यता विमोक्षमार्ग का विपाकभूत फलचित्त ही होगा । इस प्रकार प्रथम प्राप्त मार्ग का फल होने पर भी वस्तुस्थिति यह है कि वह मार्ग फल-समापत्तिकाल में उत्पन्न अपने फल को 'शून्यताविमोक्ष' आदि नाम नहीं दे सकता; क्योंकि प्रथम प्राप्त मार्ग एवं समापत्तिकालिक फल अत्यन्त दूर होते हैं । समापत्ति के आसन्न काल में प्रवृत्त विपश्यना ही फल के अत्यन्त समीप होने के कारण उत्पन्न फल को 'शून्यताविमोक्ष' आदि नाम दे सकती है ।

६९. मार्ग एवं फल के 'शून्यताविमोक्ष' आदि नाम केवल विपश्यना के सम्बन्ध से ही नहीं होते; अपितु आलम्बनों के सम्बन्ध से तथा अपने स्वभाव से भी होते हैं ।

स्पष्टीकरण – मार्ग एवं फल धर्मों का आलम्बन निर्वाण ही होता है । वह निर्वाण शून्यता, अनिमित्त एवं अप्रणिहित – इस तरह तीन प्रकार का होता है । उस निर्वाण का आलम्बन करनेवाले मार्ग एवं फल भी, वे चाहें मार्गवीथि में हों, चाहें फलवीथि में, सर्वत्र शून्यताविमोक्ष, अनिमित्तविमोक्ष या अप्रणिहितविमोक्ष आदि नाम प्राप्त कर सकते हैं ।

अपने स्वभाव के अनुसार निष्पन्न होने के कारण भी इन मार्ग एवं फलों के 'शून्यताविमोक्ष' आदि तीन नाम होते हैं । जैसे – मार्ग एवं फल धर्म राग-आदि क्लेशों से सर्वथा शून्य (रहित) होते हैं, अतः वे सर्वदा ही 'शून्यताविमोक्ष' होते हैं । संस्कार निमित्तों का आलम्बन न कर सर्वथा निर्वाण का ही आलम्बन करने के कारण वे सर्वदा

---

*. सब्बत्थापि – स्या० ।

†. सममेव च – सी०, रो०; सममेवा ति – म० (क); सममेव चा ति – म० (ख) ।

पुग्गलभेदो

७०. एत्थ पन सोतापत्तिमग्गं भावेत्वा दिट्ठिविचिकिच्छापहानेन* पहीनापायगमनो† सत्तक्खत्तुपरमो सोतापन्नो नाम होति।

इन (उपर्युक्त ४) मार्गों में से स्रोतापत्ति मार्ग का उत्पाद हो जाने पर दृष्टि एवं विचिकित्सा संयोजन का प्रहाण हो जाने से पुद्गल प्रहीणापायगमन (जिसका अपाय भूमियों में गमन प्रहीण हो चुका है) होकर 'सत्तक्खत्तुपरम' (सप्तकृत्वपरम=अधिक से अधिक कामभूमि में ७ बार जन्म लेनेवाला) नामक स्रोतापन्न हो जाता है।

'अनिमित्तविमोक्ष' ही होते हैं तथा राग-आदि क्लेशों की अभिलाषा न करने के कारण वे सर्वदा 'अप्रणिहितविमोक्ष' ही होते हैं।

इस प्रकार आलम्बन के वश से एवं अपने स्वभाव के वश से मार्ग एवं फल धर्म सर्वदा 'शून्यताविमोक्ष' आदि नामवाले ही होते हैं[1]।

ऊपर कहा गया है कि "व्युत्थानगामिनी विपश्यना यदि नाम-रूप धर्मों में से किसी एक की 'यह अनात्म है'–इस प्रकार विपश्यना करती है, तो यह (विपश्यना) शून्यता-विमोक्ष नामक विमोक्षमुख होती है"–इस वचन से ऐसा भ्रम हो सकता है कि केवल अनात्म या केवल अनित्य या केवल दुःख अर्थात् किसी एक लक्षण की विपश्यना करनेमात्र से मार्ग प्राप्त हो सकता है; वस्तुतः ऐसा नहीं होता। केवल एक लक्षण की विपश्यनामात्र से कदापि मार्ग प्राप्त नहीं हो सकता; अपितु तीनों लक्षणों की विपश्यना अपेक्षित होती है। मार्ग प्राप्त करनेवाले योगी द्वारा पहले ही अर्थात् सम्मर्शन-आदि पूर्व पूर्व ज्ञानों के क्षण में अनित्य, दुःख, अनात्म लक्षणों द्वारा अनेक बार अनेक प्रकार की विपश्यना की भी चुकी है। इस व्युत्थानगामिनी विपश्यना वीथि में केवल एक वीथि द्वारा अनित्य, दुःख, अनात्म–इन तीनों लक्षणों की विपश्यना नहीं की जा सकती, इनमें से किसी एक की ही विपश्यना की जा सकती है, इस कारण 'यदि वुट्ठानगामिनी विपस्सना अनत्ततो विपस्सति'–आदि कहा गया है[2]।

विमोक्षभेद समाप्त।

पुद्गलभेद

७०. सोतापन्नो–स्कन्धपञ्चक में आत्मा का उपादान करना 'सत्कायदृष्टि' है। शाश्वतदृष्टि, उच्छेददृष्टि, नास्तिदृष्टि, अहेतुकदृष्टि एवं अक्रियादृष्टि–ये दृष्टियाँ सत्कायदृष्टि की मूलभूत दृष्टियाँ होती हैं। इसलिये दस क्लेशों में 'दृष्टि क्लेश' सबसे

---

*. पहाणेन–सी० (सर्वत्र)। †. पहीणा०–सी०।

१. द्र०–अट्ठ०, पृ० १८२-१८३; विसु०, पृ० ४७४।

२. अट्ठ०, पृ० १८३; विसु०, पृ० ४६८-४६९।

दुर्धर्ष होता है। विचिकित्सा भी दृष्टि की अनुचर होती है। वह अपने सम्मुखस्थित बुद्ध-आदि रत्नत्रय को देखने पर भी उनमें संशय करती है, प्रत्युत्पन्न आदि भवों के चक्र में विद्यमान होने पर भी उनके अस्तित्व में सन्देह करती है। 'अविद्या आदि से संस्कार आदि' स्वरूपवाले प्रतीत्यसमुत्पाद में संशयालु होती है। स्रोतापन्न होनेवाला योगी दृष्टि विशुद्धि एवं काङ्क्षावितरण विशुद्धि के काल में ही इन दृष्टि एवं विचिकित्सा क्लेशों को दुर्बल एवं कुछ-कुछ प्रहाण के योग्य कर देता है तथा संसार के विषय में एवं नाम-रूपात्मक स्कन्धों के विषय में सम्यक् परिचित हो जाता है, अतः स्रोतापत्तिमार्ग के क्षण में इन दृष्टि एवं विचिकित्सा नामक क्लेशों का अशेष प्रहाण कर देता है। यहाँ तक कि अनुशयधातुमात्र भी अवशिष्ट नहीं रहती[1]।

पहीनापायगमनो – दृष्टि एवं विचिकित्सा का अशेष प्रहाण हो जाने से स्रोतापन्न पुद्गल में १२ अकुशल चित्तों में से दृष्टिगत-सम्प्रयुक्त चित्त एवं विचिकित्सासम्प्रयुक्त चित्त सर्वथा नहीं होते। अवशिष्ट अन्य अर्थात् दृष्टिगतविप्रयुक्त, द्वेषमूल एवं औद्धत्य-सहगत चित्त हो सकते हैं। इनके होने पर भी इनकी अपायभूमि को प्राप्त कराने की शक्ति नष्ट हो जाती है। इसीलिये स्रोतापन्न पुद्गल की सन्तान में ईर्ष्या, मात्सर्य-आदि औदारिक (स्थूल) अकुशल नहीं होते[2]। स्रोतापन्न होने से पहले किये हुये अपाय-गमनीय अकुशल कर्म हो सकते हैं; किन्तु ये अकुशल कर्म स्वतः अपाय प्राप्त कराने में असमर्थ होते हैं। जब भी ये (अकुशल) अपाय प्राप्त कराने में समर्थ होते हैं, तब अविद्या, तृष्णा-आदि संसारमूल (वट्टमूल) धर्मों के सहयोग से ही समर्थ होते हैं। सोतापन्न की सन्तान में विद्यमान अविद्या, तृष्णा-आदि संसारमूल धर्मों में अपाय प्राप्त कराने की शक्ति नहीं होती, अतः स्रोतापन्न होने से पहले किये हुये अपायगमनीय अकुशल कर्म भी अविद्या, तृष्णा-आदि संसारमूल क्लेश धर्मों का सहयोग न मिलने से अपाय प्राप्त कराने में समर्थ नहीं होते।

सत्तक्खत्तुपरमो – 'सत्तक्खत्तुं परमं यस्सा ति सत्तक्खत्तुपरमो' अर्थात् जिस स्रोता-पन्न पुद्गल का अधिक से अधिक प्रमाण (सीमा) सात बार प्रतिसन्धि लेने का होता है, उसे 'सत्तक्खत्तुपरमो' कहा गया है। अर्थात् स्रोतापन्न होने के अनन्तर अधिक से अधिक सात भव तक ही प्रतिसन्धि होने की अवधि है। सात बार प्रतिसन्धि होने के अनन्तर वह एकान्तरूप से अर्हत् होगा। उसका अष्टम भव कथमपि नहीं हो सकता[3]।

कुछ पारमियों को प्राप्त पृथग्जन भी जिनका चित्त दान-आदि कुशल धर्मों से परिवासित होता है, वे क्रीडादि मनोरञ्जक हेतुओं में रस ही नहीं लेते; प्रत्युत क्रीडादि सांसारिक धर्मों को देखकर संवेग को प्राप्त होते हैं। इस संवेग के कारण उनका ज्ञान अभिवृद्ध एवं परिपक्व होता है तथा ज्ञान की परिपक्वता के साथ ही संवेग भी

---

१. द्र० – पु० प०, पृ० २७; सं० नि०, चतु० भा०, पृ० १७७।
२. द्र० – अट्ठ०, पृ० २८४-२८५।
३. द्र० – पु० प०, पृ० २५; सं० नि०, द्वि० भा०, पृ० ४०५; विभ०, पृ० ३११; विभ० अ०, पृ० ४३३।

दृढ होता जाता है। जब साधारण पृथग्जन की भी यह स्थिति होती है, तो दृष्टि एवं विचिकित्सा का प्रहाण किये हुये स्रोतापन्न पुद्गल के बारे में तो कहना ही क्या है! संसार के लौकिक कामगुण-आलम्बनों में कभी-कभी किञ्चित् आसक्ति या अनुराग हो भी सकता है; फिर भी उनकी सन्तान में संसार के प्रति विरागता का उत्पाद करनेवाली मूल निर्वेद (निब्बिदा) धातु परिपक्व, दृढ़ एवं सर्वदा वर्धनशील होती है। उनकी सन्तान में श्रद्धा-आदि इन्द्रियों की सर्वदा अभिवृद्धि होती रहती है और उनकी जितनी अभिवृद्धि हो गई रहती है, उसी के अनुपात में उनकी अनुशयधातु भी दुर्बल हो जाती है। अतः सभी स्रोतापन्न पुद्गल ७ बार से अधिक प्रतिसन्धि नहीं लेते। 'रतनसुत्त' में भी कहा गया है—

"किञ्चापि ते होन्ति भुसं पमत्ता न ते भवं अट्ठममादियन्ति[1]।"

त्रिविध स्रोतापन्न—'सत्तक्खत्तुपरमो' में 'परम' शब्द द्वारा प्रतिसन्धि लेने की अधिकतम सीमा कही गयी है। इसका आशय यह है कि ७ से कम प्रतिसन्धियाँ भी हो सकती हैं। इसलिये केवल एक भवमात्र में प्रतिसन्धि लेनेवाला 'एकबीजी स्रोतापन्न', २ से लेकर ६ भव के बीच में यथायोग्य प्रतिसन्धि लेनेवाला 'कोलंकोल स्रोतापन्न' तथा ७ भवपर्यन्त प्रतिसन्धि लेनेवाला 'सत्तक्खत्तुपरम स्रोतापन्न' होता है। इस प्रकार स्रोतापन्न तीन प्रकार के होते हैं।

'एकं बीजं यस्सा ति एकबीजी' अर्थात् जिस स्रोतापन्न का 'एक प्रतिसन्धि' नामक भवबीज होता है, उसे 'एकबीजी' कहते हैं।

'कुलतो कुलं गच्छतीति कोलङ्कोलो' अर्थात् एक कुल से दूसरे कुल में प्रतिसन्धि लेकर जानेवाला स्रोतापन्न 'कोलङ्कोल (कुलङ्कुल) स्रोतापन्न' कहलाता है[2]। (पुद्गल जब स्रोतापन्न हो जाता है, तब उसकी निम्न कुल में प्रतिसन्धि नहीं होती—यह विशेषतः जानना चाहिये।)

त्रैविध्य का कारण—अपनी स्वभावभूत पारमिता के अनुसार श्रद्धा, प्रज्ञा-आदि इन्द्रियाँ भी मृदु, मध्य या तीक्ष्ण होती हैं। जिसकी श्रद्धा, प्रज्ञा-आदि इन्द्रियाँ मृदु (मन्द) होती हैं, उसे मृद्विन्द्रिय पुद्गल, जिसकी उपर्युक्त इन्द्रियाँ मध्य होती हैं, उसे मध्येन्द्रिय पुद्गल तथा जिसकी इन्द्रियाँ तीक्ष्ण होती हैं, उसे तीक्ष्णेन्द्रिय पुद्गल कहते हैं। इस प्रकार श्रद्धा-आदि इन्द्रियों के मृदु, मध्य-आदि क्रम के अनुसार पुद्गल भी त्रिविध होते हैं।

इनमें से मृद्विन्द्रिय पुद्गल 'सत्तक्खत्तुपरम स्रोतापन्न', मध्येन्द्रिय पुद्गल 'कोलङ्कोल स्रोतापन्न' तथा तीक्ष्णेन्द्रिय पुद्गल 'एकबीजी स्रोतापन्न' होता है[3]।

---

१. खु० नि० (खु० पा०), पृ० ७।

२. द्र०—पु० प०, पृ० २५; विसु०, पृ० ५०४; विभ० अ०, पृ० ४३३, सं० नि०, चतु० भा०, पृ० १७७।

३. द्र०—विसु०, पृ० ५०४; विभ० अ०, पृ० ४३३।

अथवा – 'पुग्गलपञ्ञत्ति-अट्ठकथा' के अनुसार ऊपर के मार्गों के लिये आरब्ध विपश्यपना जब तीक्ष्ण होती है, तब 'एकबीजी' जब मध्य होती है, तब 'कालङ्कोल' तथा जब मृदु होती है, तब 'सत्तक्खत्तुपरम' स्रोतापन्न होता है[1] ।

एकबीजी स्रोतापन्न, स्रोतापन्न होने के अनन्तर एक भव में और प्रतिसन्धि लेकर उसी भव में सकृदागामी, अनागामी एवं अर्हत् हो जाता है।

कोलङ्कोल स्रोतापन्न अधिक से अधिक ६ बार प्रतिसन्धि लेता है। इन्हीं प्रतिसन्धियों के काल में सकृदागामी, अनागामी एवं अर्हत् हो जाता है।

सत्तक्खत्तुपरम स्रोतापन्न ७ भवपर्यन्त प्रतिसन्धि लेता हुआ ६ भव के बीच में सकृदागामी हो भी सकता है अथवा नहीं भी; किन्तु सप्तम भव में अवश्य अनागामी एवं अर्हत् हो जाता है।

ये एकबीजी-आदि तीन विभाग कामभूमि में रहनेवाले पुद्गलों में ही होते हैं, रूप या अरूप भूमि के पुद्गलों में नहीं होते, यथा – कहा भी गया है –

"तयो पि इमे सोतापन्ना कामभवसेन वुत्ता, रूपारूपभवे पन बहुका पि पटिसन्धियो गण्हन्ति[2] ।"

विशेष प्रकार के स्रोतापन्न – अधुना त्रायस्त्रिंश भूमि में निवास करनेवाला, क्रमशः ऊपर ऊपर की भूमियों में निवास करता हुआ, अन्त में अकनिष्ठ भूमि में परिनिर्वाण करनेवाला पुद्गल उपर्युक्त त्रिविध स्रोतापन्नों में परिगणित नहीं होता। तथा केवल मनुष्यभूमि में ही या केवल देवभूमि में ही ७ बार प्रतिसन्धि लेनेवाला पुद्गल भी उपर्युक्त त्रिविध पुद्गलों में सङ्गृहीत नहीं होता। "सत्तक्खत्तुं देवे च मानुसे च सन्धावित्वा संसरित्वा दुक्खस्सन्तं करोति[3]" – आदि पालि के अनुसार देवभूमि एवं मनुष्यभूमि को मिलाकर प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गल ही 'सत्तक्खत्तुपरम' एवं 'कालंकोल' कहे जाते हैं। केवल मनुष्यभूमि में ही एक बार प्रतिसन्धि लेनेवाला पुद्गल 'एकबीजी' कहा जाता है। इसलिये पूर्वकथित त्रिविध पुद्गलों के अतिरिक्त भी स्रोतापन्न पुद्गलों का अस्तित्व जानना चाहिये।

वादान्तर – "सत्तक्खत्तुं देवे च मानुसे च सन्धावित्वा संसरित्वा दुक्खस्सन्तं करोति" – इस पालि के अनुसार 'मनुष्यभूमि एवं देवभूमि को मिश्रित करके ७ बार प्रतिसन्धि ले सकता है' – इस प्रकार का आशय व्यक्त किया गया है; किन्तु कुछ लोग "सचे, उदायि! आनन्दो अवीतरागो कालं करेय्य, तेन चित्तप्पसादेन सत्तक्खत्तुं देवेसु देवरज्जं करेय्य, सत्तक्खत्तुं इमस्मिं येव जम्बुदीपे महारज्जं करेय्य[4]" – इस पालि का आश्रय करके 'सत्तक्खत्तुपरम' पुद्गल मनुष्यभूमि में ७ बार एवं देवभूमि में ७ बार – इस तरह

---

१. द्र० – पु० प० अ०, पृ० ४६; विभ० अ०, पृ० ४३३।
२. पटि० म० अ०, द्वि० भा०, पृ० ६७।
३. पु० प०, पृ० २५। द्र० – अ० नि०, प्र० भा०, पृ० २१८।
४. अ० नि०, प्र० भा०, पृ० २११।

७१. सकदागामिमग्गं* भावेत्वा राग-दोस-मोहानं तनुकरत्ता† सकदागामी नाम होति, सकिंदेव इमं लोकं आगन्त्वा‡।

सकृदागामिमार्ग का उत्पाद कर राग, द्वेष एवं मोह नामक धर्मों को तनु (दुर्बल) करने से एक बार ही इस कामभूमि में प्रतिसन्धि लेने से 'सकृदागामी' नामक पुद्गल होता है।

---

१४ बार प्रतिसन्धि ले सकता है'—ऐसा मानते हैं; किन्तु उस पालि का अभिप्राय यह है कि यदि मनुष्य भूमि में उत्पन्न होता है, तो नरेन्द्र के रूप में ७ वार, यदि देवभूमि में उत्पन्न होता है, तो देवेन्द्र के रूप में ७ वार प्रतिसन्धि लेता है, १४ वार नहीं। ऐसा मानने पर "अट्ठानमेतं भिक्खवे ! अनवकासो, यं दिट्ठिसम्पन्नो अट्ठमं निब्बत्तेय्य"—आदि विभङ्ग-पालि से सामञ्जस्य भी हो जाता है[1]।

कुछ लोग "इतो सत्त ततो सत्त संसारानि चतुद्दस।

निवासमभिजानामि यत्थ मे वुसितं पुरे[2]॥"—इस पालि के अनुसार '१४ वार प्रतिसन्धि ले सकता है'—ऐसा प्रतिपादन करते हैं; किन्तु वे लोग 'यत्थ मे वुसितं पुरे' (जहाँ मैं पहले रह चुका हूँ)—इस पाद पर ध्यान न देने से तथा मूलग्रन्थ पर भी ध्यान न देने से प्रमादवश ही ऐसा कहते हैं[3]।

७१. सकदागामी—'राग-दोस-मोहानं तनुकरत्ता' इस वचन के अनुसार जब पुद्गल सकृदागामी होता है, तब वह राग, द्वेष एवं मोह धर्मों को दुर्बल कर देता है। अर्थात् पृथग्जनों की भाँति सकृदागामी पुद्गल की सन्तान में राग, द्वेष-आदि पुनः पुनः उत्पन्न नहीं होते। यदि वे कदाचित् उत्पन्न होते भी हैं, तो तीक्ष्ण नहीं होते।

'सकिं आगच्छतीति सकदागामी' केवल एक बार प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गल को 'सकृदागामी' कहते हैं[4]। सकृदागामी पुद्गल ६ प्रकार के होते हैं, यथा—

१. 'इध पत्वा इध परिनिब्बायी'—इस मनुष्य भूमि में सकृदागामी होकर इसी भव में अनागामी एवं अर्हत् होकर परिनिर्वाण प्राप्त करनेवाला पुद्गल।

२. 'इध पत्वा तत्थ परिनिब्बायी'—इस मनुष्य भूमि में सकृदागामी होकर द्वितीयभव में देवभूमि में प्रतिसन्धि लेकर वहीं अनागामी एवं अर्हत् होकर परिनिर्वाण प्राप्त करनेवाला पुद्गल।

३. 'तत्थ पत्वा तत्थ परिनिब्बायी'—उस देवभूमि में सकृदागामी होकर उसी देवभूमि में परिनिर्वाण प्राप्त करनेवाला पुद्गल।

---

*. सकिदा०—स्या० (सर्वत्र)। †. तनुत्ता—स्या०।

‡. आगन्ता—ना०।

१. विभ०, पृ० ३९१।

२. दी० नि०, द्वि० भा०, (महावग्ग), पृ० १५५।

३. उपर्युक्त समस्त वर्णन के विस्तार के लिये द्र०—प० दी०, पृ० ३९३-३९४।

४. द्र०—पु० प०, पृ० २५, २७; विसु०, पृ० ५०४।

४. 'तत्थ पत्वा इध परिनिब्बायी' – उस देवभूमि में सकृदागामी होकर द्वितीय-भव में इस मनुष्यभूमि में प्रतिसन्धि लेकर परिनिर्वाण प्राप्त करनेवाला पुद्गल।

५. 'इध पत्वा तत्थ निब्बत्तित्वा इध परिनिब्बायी' – इस मनुष्यभूमि में सकृदागामी होकर, द्वितीयभव में देवभूमि में प्रतिसन्धि लेकर, तृतीय भव में पुनः इस मनुष्यभूमि में प्रतिसन्धि लेकर परिनिर्वाण प्राप्त करनेवाला पुद्गल। (यह दो बार प्रतिसन्धि लेता है।)

६. 'तत्थ पत्वा इध निब्बत्तित्वा तत्थ परिनिब्बायी' – उस देवभूमि में सकृदागामी होकर, द्वितीयभव में इस मनुष्य भूमि में प्रतिसन्धि लेकर, तृतीय भव में पुनः देवभूमि में प्रतिसन्धि लेकर परिनिर्वाण प्राप्त करनेवाला पुद्गल। (यह भी दो बार प्रतिसन्धि लेता है। इसका उल्लेख कुछ अट्ठकथाओं में ही है।) इस प्रकार सकृदागामी पुद्गल षड्विध होते हैं[1]।

'सकिंदेव इमं लोकं' – इस पालि में 'इमं लोकं' – इस वचन द्वारा मनुष्यलोक कहा गया है। इसके अनुसार मनुष्य भूमि में सकृदागामी होकर द्वितीय भव में देवभूमि में प्रतिसन्धि लेकर, तृतीय भव में पुनः इस मनुष्यभूमि में प्रतिसन्धि लेनेवाला पञ्चम सकृदागामी पुद्गल ही मुख्यरूप से सकृदागामी होता है। शेष ५ पुद्गल राग, द्वेष एवं मोह को तनु (दुर्बल) करने के कारण सदृशोपचार से 'सकृदागामी' कहे जाते हैं[2]।

'महापरिनिब्बानसुत्तट्ठकथा' के "इमं लोकं' ति इमं कामावचरं लोकं सन्धाय वुत्तं[3]" – इस वचन के अनुसार मनुष्यभूमि एवं देवभूमि दोनों को कामावचरभूमि कहने के कारण अपनी सकृदागामी होने की भूमि से द्वितीय भव में अन्य भूमि में प्रतिसन्धि लेकर, तृतीय भव में पुनः अपनी सकृदागामी होनेलाली भूमि में प्रतिसन्धि लेनेवाले पञ्चम एवं षष्ठ सकृदागामी पुद्गल ही मुख्य रूप से सकृदागामी कहे गये हैं।

उपर्युक्त दोनों अट्ठकथाओं में 'इमं लोकं' की 'कामभूमि' – यह व्याख्या करने-वाली अट्ठकथा ही अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होती है; क्योंकि 'इमं लोकं' यह पालि काम एवं देव – दोनों भूमियों को अपने में अन्तर्भूत करती है। उनमें से जिस भूमि में भगवान् ने उपदेश किया है, उसी भूमि को 'इमं लोकं' द्वारा कहा गया है।

उपर्युक्त षड्विध सकृदागामी पुद्गलों के अतिरिक्त कामभूमि में सकृदागामी होकर रूपभूमि में जानेवाले तथा रूपभूमि में ही सकृदागामी होनेवाले अन्य पुद्गल भी होते हैं। ये सब रूढि से सकृदागामी कहे जाते हैं।

---

१. द्र० – पु० प०, पृ० २६-२७; म० नि०, चतु० भा०, पृ० ६६; सं० नि०, चतु० भा०, पृ० १७७; विसु०, पृ० ५०४।

२. द्र० – पु० प० अ०, पृ० ४८।

३. दी० नि० अ०, द्वि० भा० (महावग्गट्ठकथा), पृ० १३३।

७२. अनागामिमग्गं भावेत्वा कामराग-ब्यापादानं* अनवसेसप्पहानेन अनागामी† नाम होति, अनागन्त्वा‡ इत्थत्तं ।

अनागामी मार्ग का उत्पाद कर कामराग एवं व्यापाद का अनवशेष प्रहाण कर देने से पुनः इस कामभूमि में प्रतिसन्धि लेने के लिये न आने के कारण पुद्गल 'अनागामी' नामवाला होता है ।

७३. अरहत्तमग्गं भावेत्वा अनवसेसकिलेसप्पहानेन अरहा नाम होति, खीणासवो लोके अग्गदक्खिणेय्यो§ ।

अयमेत्थ पुग्गलभेदो ।

अर्हत्-मार्ग का उत्पाद करके अनवशेष (सम्पूर्ण) क्लेशों का प्रहाण कर देने से पुद्गल क्षीणास्रव एवं लोक में अग्रदक्षिणेय 'अर्हत्' नामवाला होता है ।

इस विपश्यना कर्मस्थाननय में यह 'पुद्गलभेद' है ।

---

७२. अनागामी – 'आगच्छति सीलेना ति आगामी, न आगामी अनागामी' – इस कामभूमि में प्रतिसन्धि लेकर स्वभावतः पुनः इस कामभूमि में न आनेवाला पुद्गल 'अनागामी' कहलाता है ।

अनागामी कामराग एवं व्यापाद नामक क्लेशों का अशेष प्रहाण कर देता है, अतः उसकी सन्तान में कामतृष्णा का लेश भी न होने के कारण उसके लिये पुनः इस कामभूमि में आने का प्रश्न ही नहीं उठता । रूपराग एवं अरूपराग का प्रहाण न कर सकने के कारण वह रूप या अरूप भूमि में प्रतिसन्धि ले सकता है[1] ।

७३. अर्हत् – योगी नीचे के मार्गों द्वारा जिन क्लेशों का प्रहाण करने में असमर्थ रहता है, अर्हत् पुद्गल उन सभी अवशिष्ट क्लेशों का सर्वथा प्रहाण कर देता है । १० क्लेश धर्मों में से रूपराग एवं अरूपराग नामक लोभ का एकदेश, दृष्टिगतविप्रयुक्त और औद्धत्यसहगत चित्तों में सम्प्रयुक्त मोह का एकदेश, मान, स्त्यान, औद्धत्य, आह्रीक्य एवं अनपत्राप्य नामक क्लेश; तथा ६ संयोजनों में से रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य एवं अविद्या नामक ५ ऊर्ध्वभागीय संयोजन – इनका नीचे के मार्गों द्वारा प्रहाण नहीं किया जा सकता । इन क्लेश एवं संयोजन धर्मों का केवल अर्हत्मार्ग द्वारा ही अनवशेष (सर्वथा) प्रहाण किया जा सकता है[2] ।

मार्गों द्वारा क्लेशों का प्रहाण – मार्गों द्वारा क्लेशों का प्रहाण किया जाने में मार्ग, अतीत क्लेशों का प्रहाण करता है या अनागत क्लेशों का प्रहाण करता है या

---

*. ०ब्यापादानं – रो० । †. अनागामि – रो० । ‡ अनागन्ता – ना० ।

§. ०ति – म० (क, ख) ।

१. द्र० – पु० प०, पृ० २६-२७; विसु, पृ० ५०४ ।

२. द्र० – पु० प०, पृ० २८; सं० नि०, द्वि० भा०, पृ० ४०५-४०६; सं० नि०, चतु० भा०, पृ० १७५; विसु०, पृ० ५०१ ।

प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) क्लेशों का प्रहाण करता है?—यह एक स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है।

समाधान—अतीत क्लेश जो स्वतः ही निरुद्ध हो चुके हैं, उनके प्रहाण का कोई अर्थ ही नहीं है। अनागत क्लेश अभी उत्पन्न ही नहीं हुये हैं, अतः उनके भी प्रहाण का कोई प्रश्न नहीं है। प्रत्युत्पन्न क्लेशों के उत्पादक्षण में मार्गचित्त का उत्पाद नहीं हो सकता, अतः प्रत्युत्पन्न क्लेशों का भी मार्ग द्वारा प्रहाण असम्भव है। वस्तुतः 'भूमिलद्धुप्पन्न' (भूमिलब्धोत्पन्न) नामक अनुशय क्लेशधातु का प्रहाण ही मार्ग द्वारा होता है। अनुशय क्लेश प्रत्युत्पन्न, अतीत या अनागत—इन कालभेदों में विभक्त नहीं होता। उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग से रहित वह एक सर्वदा विद्यमान क्लेशधारा है, उसे (अनुशय-क्लेश को) ही 'भूमिलद्धुप्पन्न' कहते हैं। यहाँ मार्ग द्वारा उसी का प्रहाण अभीष्ट है।

"एतेन किं दीपितं होति? भूमिलद्धानं किलेसानं पहानं दीपितं होति। भूमिलद्धा पन किं अतीतानागता उदाहु पच्चुप्पन्ना ति? भूमिलद्धुप्पन्ना येव नाम ते[1]।"

भूमिलद्धुप्पन्न—क्लेशों के आधारभूत लौकिक पाँच स्कन्ध 'भूमि' हैं। उस भूमि को प्राप्त क्लेश 'भूमिलब्ध' हैं। उनका जब तक मार्ग द्वारा प्रहाण नहीं होता, तब तक वे अनुशयधातु के रूप में सर्वदा विद्यमान रहते हैं, अतः वे 'उत्पन्न' भी कहे जाते हैं। इस प्रकार मार्ग द्वारा प्रहीण न होने से लौकिक पञ्चस्कन्धों में सर्वदा विद्यमान अनुशय धातु 'भूमिलब्धोत्पन्न क्लेश' है।

वृक्ष में विद्यमान वह शक्ति, जो पत्र, पुष्प, फल-आदि का उत्पाद करती है, वह वृक्ष के किसी देशविशेष में न रहकर सम्पूर्ण वृक्ष में व्याप्त होकर रहती है। पत्र, पुष्प, फल-आदि को न चाहनेवाला कोई व्यक्ति यदि उन पत्र, पुष्प-आदि का छेदन करता है, तो इससे उसकी अभीष्टसिद्धि नहीं हो सकती। इसके लिये उसे वृक्षस्थित उत्पादक शक्ति के प्रतिबन्धक उपायों—जैसे कच्छप की अस्थि-आदि के प्रयोग का आश्रयण करना पड़ता है। वैसे ही विपश्यना की अविषय 'अनुशय' नामक क्लेशधातु भी लौकिक पञ्चस्कन्धों में (चाहे वे किसी भी भूमि में हों, वृक्षस्थित उत्पादक शक्ति की भाँति) सर्वदा विद्यमान रहती है। वह अनुशय नामक क्लेश धातु ही 'भूमिलब्ध' कहलाती है। मार्ग द्वारा जब तक उसका प्रहाण नहीं हो जाता, तब तक वह सर्वदा विद्यमान रहती है। वह (अनुशयधातु) उत्पाद-स्थिति-भङ्ग नियम की परिधि में नहीं आती, अतः उसे अतीत, अनागत या प्रत्युत्पन्न भी नहीं कह सकते। वह अभावप्रज्ञप्ति भी नहीं है। वह केवल 'भूमिलब्ध' नाम से ही जानी जाती है। क्लेशों के सर्वथा प्रहाण का अभिलाषी योगी मार्गरूपी प्रतिबन्धक उपाय द्वारा उसी अनुशयधातु का प्रहाण करता है। फलतः वृक्षरूपी पञ्चस्कन्धों में पत्र-पुष्परूपी क्लेशों का उत्पाद सर्वदा के लिये अवरुद्ध हो जाता है[2]।

पुद्गलभेद समाप्त।

---

१. विसु०, पृ० ४८८।

२. द्र०—विसु०, पृ० ४८८-४८९; अट्ठ०, पृ० ५५।

समापत्तिभेदो

७४. फलसमापत्तिवीथियो* पनेत्थ सब्बेसम्पि यथासकफलवसेन† साधारणा व।

इस पुद्गलभेद में फलसमापत्तिवीथियाँ सभी फलस्थ पुद्गलों में अपने फल के अनुसार साधारण ही होती हैं।

७५. निरोधसमापत्तिसमापज्जनं पन अनागामीनञ्चेव अरहन्तानञ्च लब्भति।

निरोधसमापत्ति का समावर्जन केवल अनागामी एवं अर्हत् पुद्गलों की सन्तान में ही उपलब्ध होता है।

समापत्तिभेद

७४. फलसमापत्ति – ध्यान, फल एवं निरोध धर्मों की सम्यक् प्राप्ति ही क्रमशः ध्यानसमापत्ति, फलसमापत्ति एवं निरोधसमापत्ति कहलाती है। यहाँ ध्यानसमापत्ति का प्रसङ्ग न होने से उसे न कहकर फलसमापत्ति एवं निरोध समापत्ति ही कही जा रही हैं।

फलसमापत्ति का समावर्जन करते समय सभी आर्य पुद्गल स्वसम्बद्ध फल का ही समावर्जन कर सकते हैं। जैसे – स्रोतापन्न पुद्गल स्रोतापत्तिफल का ही समावर्जन कर सकता है; अन्य का नहीं।

फलसमापत्ति में समाहित योगी जब तक उस समापत्ति से उठता नहीं, तब तक फलचित्त ही पुनः पुनः निरन्तर प्रवृत्त होते रहते हैं। जब सङ्कल्पित काल पूर्ण हो जाता है, तब फलचित्तसन्तति का निरोध होकर भवङ्गचित्त का उत्पाद होता है। इस प्रकार फलचित्तसन्तति का रुक जाना ही 'समापत्ति से उठना' कहलाता है[1]।

७५. निरोधसमापत्ति – निरोधसमापत्ति का समावर्जन करना, सभी आर्य पुद्गलों का विषय नहीं है। आठ समापत्तियों के लाभी अनागामी एवं अर्हत् पुद्गल ही उसका समावर्जन कर सकते हैं। क्योंकि अनागामी एवं अर्हत् पुद्गलों की समाधि परिपूर्ण हो चुकी रहती है। अतः निरोधसमापत्ति का समावर्जन ये ही कर सकते हैं[2]।

स्पष्टीकरण – अपने चित्त चैतसिकों के अनुत्पाद के लिये उन पर नियन्त्रण करना, उन आलम्बनों का आलम्बन न करने से ही सिद्ध हो सकता है। अपने सन्निकट प्राप्त आलम्बनों का आलम्बन न करना, अथच निरालम्ब अवस्था में रहना – यह सामान्य समाधि के वश की बात नहीं है। स्रोतापन्न एवं सकृदागामी पुद्गलों की भी समाधि इतनी प्रबल नहीं होती कि वे समीपप्राप्त आलम्बनों का आलम्बन करने से अपने चित्त-चैतसिकों को रोक कर निरालम्ब अवस्था में रह सकें।

---

*. फलसमापत्तिवीथियं – सी०, म० (ख); फलसमापत्ति – स्या०; फलसमापत्तियो – ना०। †. यथासकं – स्या०।

१. फलसमापत्ति के सम्यग्ज्ञान के लिये द्र० – विसु०, पृ० ४६७-४६८।

२. द्र० – विसु०, पृ० ४६६; पटि० म०, पृ० ४।

७६. तत्थ यथाक्कमं पठमज्झानादिमहग्गतसमापत्तिं समापज्जित्वा वुट्ठाय तत्थगते सङ्खारधम्मे तत्थ तत्थेव विपस्सन्तो याव आकिञ्चञ्ञायतनं* गन्त्वा ततो परं अधिट्ठेय्यादिकं पुब्बकिच्चं कत्वा नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं समापज्जति। तस्स द्विन्नं अप्पनाजवनानं परतो वोच्छिज्जति† चित्तसन्तति। ततो‡ निरोधसमापन्नो नाम होति।

उस निरोधसमापत्ति के समावर्जन में यथाक्रम प्रथमध्यान आदि महग्गत समापत्ति का समावर्जन करके समापत्ति से उठकर उस समापत्तिकाल में अवभासित संस्कार धर्मों की उस उस समापत्ति से उठने के क्षण में विपश्यना करते हुये, चित्त-सन्तति द्वारा आकिञ्चन्यायतन ध्यान तक जाकर, उस आकिञ्चन्यायतन ध्यान के अनन्तर अधिष्ठेय-आदि ४ पूर्वकृत्य करके नैवसंज्ञानासंज्ञायतन ध्यान का समावर्जन करता है। उस नैवसंज्ञानासंज्ञायतन ध्यान के दो अर्पणाजवनों के अनन्तर चित्तसन्तति का विच्छेद हो जाता है। इस तरह उस चित्तसन्तति का विच्छेद हो जाने से (योगी) निरोध में समापन्न होता है। (अथवा – निरोधसमापत्ति का समावर्जन सिद्ध होता है।)

---

७६. निरोधसमापत्ति के समावर्जन का क्रम – निरोधसमापत्ति के समावर्जन का अभिलाषी पुद्गल सर्वप्रथम अपने द्वारा प्राप्त लौकिक ध्यानों में से प्रथम ध्यान का समावर्जन करता है। उस प्रथमध्यान से उठने के अनन्तर उस प्रथम ध्यान में आनेवाले एक एक संस्कार (चित्त-चैतसिक) धर्मों का अनित्य-दुःख-अनात्म लक्षणों द्वारा विपश्यना करता है। इसी तरह द्वितीय-आदि ध्यानों में भी समावर्जन एवं विपश्यना आदि करते हुये आकिञ्चन्यायतनध्यान तक पहुंचता है। किन्तु तदनन्तर नैवसंज्ञानासंज्ञायतन ध्यान का समावर्जन न करके पहले अधिष्ठान-आदि ४ पूर्वकृत्यों को करता है। ('आदि' शब्द द्वारा सङ्घपटिमानना, सत्थुपक्कोसन एवं अद्धानपरिच्छेद का ग्रहण करना चाहिये।) पूर्वकृत्य करने के अनन्तर नैवसंज्ञानासंज्ञायतन ध्यान का समावर्जन करते समय ध्यान अनेक बार न होकर केवल दो बार अर्पणाजवन होने के अनन्तर ही चित्तसन्तति निरुद्ध हो जाती है। (यहाँ नैवसंज्ञानासंज्ञायतन ध्यानजवन ही 'अर्पणाजवन' कहा गया है।) जब चित्त-

---

*. आकिञ्चायतनं – ना०।

†. वोच्छिज्जति – रो०।

‡. ततो परं – स्या०।

७७. वुट्ठानकाले पन अनागामिनो अनागामिफलचित्तं, अरहतो* अरहत्तफलचित्तं एकवारमेव पवत्तित्वा भवङ्गपातो† होति। ततो परं पच्चवेक्खणञाणं‡ पवत्तति§।

अयमेत्थ समापत्तिभेदो।

निट्ठितो϶ च विपस्सनाकम्मट्ठाननयो϶।

समापत्ति से उठने के काल में अनागामी पुद्गल की सन्तान में अनागामिफलचित्त तथा अर्हत् पुद्गल की सन्तान में अर्हत्फलचित्त एक वार ही प्रवृत्त होकर भवङ्गपात हो जाता है। उस भवङ्ग के अनन्तर प्रत्यवेक्षण ज्ञान प्रवृत्त होता है।

इस विपश्यनाकम्मट्ठान नय में यह 'समापत्तिभेद' है।

विपश्यनाकम्मट्ठान नय समाप्त।

७८. भावेतब्बं पनिच्चेवं भावनाद्वयमुत्तमं।
पटिपत्तिरसस्सादं पत्थयन्तेन सासने॥

इति अभिधम्मत्थसङ्गहे कम्मट्ठानसङ्गहविभागो नाम
नवमो परिच्छेदोθ।

बुद्धशासन में प्रतिपत्ति (पटिपत्ति) – रस के आस्वादनरूप ध्यान, मार्ग एवं फल को चाहनेवाले पुद्गलों को उपर्युक्त क्रम से शमथ एवं विपश्यना नामक उत्तम भावनाद्वय का उत्पाद करना चाहिये।

इस प्रकार 'अभिधम्मत्थसङ्गह' में 'कम्मट्ठानसङ्गहविभाग' नामक नवम परिच्छेद समाप्त।

सन्तति निरुद्ध हो जाती है, तो चैतसिक एवं चित्तज रूप भी उत्पन्न नहीं होते। उन चित्त, चैतसिक एवं चित्तज रूपों के निरोध को ही 'निरोधसमापत्ति' कहते हैं[1]।

समापत्तिभेद समाप्त।

विपश्यनाकम्मट्ठाननय समाप्त।

७८. यह प्रेरक गाथा है। शमथ और विपश्यना – ये दो उत्तम भावनायें हैं। परियत्ति और प्रतिपत्ति के भेद से बुद्धशासन द्विधा विभक्त है। उनमें बुद्धवचनों का अध्ययन 'परियत्ति' है। शील-आदि का विशोधन करके उपर्युक्त सात विशुद्धियों के क्रम से अर्हत्त्व प्राप्ति के लिये विपश्यना करना 'प्रतिपत्ति' है। इस बुद्धशासन में उस

---

*. ०च-स्या०। †. ०व – स्या०। ‡. ०ञाणानि – स्या०; पच्चवेक्खणं – रो०; पच्चवेक्खनं – म० (ख)। §. पवत्तन्ति – स्या०; पवत्ततीति – म० (क)।

϶. ϶. रो० में नहीं। θ. ०अभिधम्मत्थसङ्गहं निट्ठितं – रो०।

१. निरोधसमापत्ति के विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – विसु०, पृ० ५०१-५०३; अभि० स० ४:४१ पृ० ३८१ तथा 'वीथिसमुच्चय' में 'निरोधसमापत्ति-वीथि' पृ० ४४९-४५३।

निगमनं

चारित्तसोभितविसालकुलोदयेन*,
सद्धाभिवुड्ढपरिसुद्धगुणोदयेन† ।
नम्बव्हयेन‡ पणिधाय परानुकम्पं;
यं पत्थितं§ पकरणं परिनिट्ठितं तं ॥

चारित्र्य से सुशोभित विशाल कुल में उत्पन्न तथा श्रद्धा की अभिवृद्धि से परिशुद्ध गुणों से विभूषित 'नम्ब' नामक दायक द्वारा परानुकम्पा का प्रणिधान करके जिस (अभिधम्मत्थसङ्गह नामक) प्रकरण की प्रार्थना की गई थी, वह प्रकरण समाप्त हो गया।

पत्थना

पुञ्ञेन तेन विपुलेन तु मूलसोमं,
धञ्ञाधिवासमुदितोदितमायुगन्तं§§ ।
पञ्ञावदातगुणसोभितलज्जिभिक्खू;
मञ्ञन्तु पुञ्ञविभवोदयमङ्गलाय ॥

इति अनुरुद्धाचरियेन रचितं अभिधम्मत्थसङ्गहं नाम पकरणं☉ ।*

श्रद्धा, छन्द, मीमांसा एवं वीर्य से सम्पन्न इस ग्रन्थ के प्रणयनरूपी पुण्य से धन्य (भाग्यवान्) पुद्‌गलों के निवासस्थानभूत तथा प्रथितकीर्ति उस 'मूलसोम' नामक विहार को प्रज्ञा-आदि अवदात (शुभ्र) गुणों से विभूषित लज्जाशील भिक्षु चतुर्युगपर्यन्त पुण्य और विभव के उदय तथा मङ्गल के लिये मानें अर्थात् अप्रमादपूर्वक उसकी रक्षा करें।

इस प्रकार आचार्य अनुरुद्ध द्वारा रचित 'अभिधम्मत्थसङ्गह' नामक प्रकरण समाप्त।

प्रतिपत्ति के अमृतमय रस का आस्वादन करने के इच्छुक पुद्‌गलों को उपर्युक्त दोनों भावनाओं का उत्पाद करना चाहिये।

अभिधर्मप्रकाशिनी व्याख्या में 'कम्मट्ठानसङ्ग्रह विभाग' नामक नवम परिच्छेद समाप्त।

– रो० में नहीं।   †. ०वुद्ध० – स्या०।

‡. नम्बव्हयेन – म० (क)। § पट्ठितं – स्या०। §§. ०मायुकन्तं – म० (ख)।

☉. ०निट्ठितं – सी०; ०गन्थतो पञ्ञासाधिकानि अट्ठसतानि समत्तानि, अभिधम्मत्थसङ्गहो निट्ठितो – स्या०।

वीथिसमुच्चय

(रूपवीथि)

परिशिष्ट - २

'वीथि समुच्चय' में प्रयुक्त

ज्ञातव्य साङ्केतिक शब्द और उनके द्वारा सङ्केतित अर्थ –

साङ्केतिक शब्द	सङ्केतित अर्थ
०००	उत्पाद-स्थिति-भङ्ग
उ	उत्पाद
ठि	स्थिति
भं	भङ्ग
भ	भवङ्ग
ती	अतीतभवङ्ग
न	भवङ्गचलन
द	भवङ्गोपच्छेद
प	पञ्चद्वारावर्जन
च	चक्षुर्विज्ञान
सो	श्रोत्रविज्ञान
घा	घ्राणविज्ञान
जि	जिह्वाविज्ञान
का	कायविज्ञान
प० व०	पञ्चविज्ञान
स	सम्पटिच्छन
ण	सन्तीरण
वो	वोट्ठपन
ज	जवन
त	तदालम्बन
म	मनोद्वारावर्जन
झ	ध्यान
भि	अभिज्ञा
मा	मार्ग
फ	फल
टि	प्रतिसन्धि
चु	च्युति

वीथिसमुच्चय

कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार नामक कारणों से उत्पन्न रूप-कलापसन्तति को आजकल 'रूपवीथि' कहते हैं। यह रूपवीथि कामपुद्गल की वीथि एवं रूपपुद्गल की वीथि – इस प्रकार द्विविध होती है। इनमें से कामपुद्गल की वीथि भी गर्भेशयक (गब्भसेय्यक) पुद्गल की वीथि तथा संस्वेदज और औपपादुकों की वीथि – इस प्रकार दो प्रकार की होती है। यहाँ गब्भसेय्यक पुद्गल की वीथि का ही प्रतिपादन किया जायगा।

इस रूपवीथि के प्रसङ्ग में विद्वज्जन कर्मप्रत्यय आहारजकलाप, चित्तप्रत्यय आहारजकलाप, ऋतुप्रत्यय आहारजकलाप, आहारप्रत्यय आहारजकलाप एवं बाह्य (बहिद्धा) ऋतु से उत्पन्न ऋतुजकलाप – इन का प्रतिपादन नहीं करते, वे केवल अभिधम्मत्थसङ्गह में आनेवाले कलापों का ही प्रतिपादन करते हैं, अतः हम भी यहाँ उन्हीं का प्रतिपादन करेंगे। चित्तज, ऋतुज एवं आहारज कलापों में भी शब्दनवक, लहुतादेकादशक – आदि कलाप स्कन्ध में सर्वदा प्राप्त नहीं होते, अतः उनका प्रतिपादन न करके सर्वदा प्राप्य शुद्धाष्टक-कलाप सन्तति का ही यहाँ प्रतिपादन किया जायगा। इन रूपकलाप सन्ततियों का चित्तवीथि सन्तति के साथ अध्ययन करने से उनका ज्ञान सुगम हो जाता है, अतः चित्तवीथि की प्रतिसन्धिवीथि, चक्षुर्द्वारिक अतिमहन्तालम्बनवीथि, निरोध-समापत्तिवीथि एवं मरणासन्नवीथियों को भी पुनः देखना चाहिये।

कर्मजकलाप – गर्भेशयक पुद्गल की सन्तान में निरन्तर उत्पन्न एवं नष्ट होनेवाली रूपकलापसन्तति कर्मजकलापसन्तति, चित्तजकलापसन्तति, ऋतुजकलापसन्तति एवं आहारजकलापसन्तति – इस प्रकार चतुर्विध होती है। इनमें से 'तत्थ...कुसलाकुसल-कम्ममभिसङ्खतं अज्झत्तिकसन्ताने कम्मसमुट्ठानरूपं पटिसन्धिमुपादाय खणे खणे समुट्ठापेति'[1] – के अनुसार प्रतिसन्धि चित्त के उत्पादक्षण में कायदशक, भावदशक एवं वस्तुदशक नामक ३ कर्मज कलाप उत्पन्न होते हैं। स्थितिक्षण में ये तीन कलाप पुनः उत्पन्न होते हैं तथा भङ्गक्षण में भी ये तीन कलाप पुनः उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार क्षण क्षण में ३-३ कर्मजकलाप पुनः पुनः उत्पन्न होकर बृंहित होते रहते हैं। प्रतिसन्धि के अनन्तर जब ये १६ वें भवङ्ग के भङ्गक्षण में पहुंचते हैं, तब प्रतिसन्धि के उत्पादक्षण में उत्पन्न ३ कर्मजकलाप १७ चित्तक्षण (रूप की) आयु परिपूर्ण हो जाने से निरुद्ध हो जाते हैं। इसलिये १६ वें भवङ्ग के भङ्गक्षण में १५३ कर्मजकलाप होते हैं। उनमें से ३ कलाप उत्पद्यमान, १४७ विद्यमान (स्थीयमान) एवं तीन कलाप निरुध्यमान – इस प्रकार पृथक् पृथक् गणना करके समझना चाहिये। जीवित नवक एवं दशक-आदि की उत्पत्ति से पहले उत्पद्यमान, स्थीयमान एवं निरुध्यमान कलाप बराबर (समसंख्याक) होते हैं।

---

१. अभि० स० ६ : ३१ पृ० ६७५ ।

चित्तजकलाप – 'आरुप्पविपाक-द्विपञ्चविञ्ञाणवज्जितं पञ्चसत्ततिविधम्पि चित्तं चित्तसमुट्ठानरूपं पठमभवङ्गमुपादाय जायन्तमेव समुट्ठापेति'[1] – के अनुसार प्रतिसन्धिचित्त के अनन्तर प्रथम भवङ्ग से लेकर चित्त के प्रत्येक उत्पादक्षण में चित्तजकलाप पुनः पुनः उत्पन्न होकर बृंहित होते रहते हैं। प्रथम भवङ्ग के उत्पादक्षण में उत्पन्न चित्तजकलाप जब मनोद्वारावर्जन के भङ्गक्षण में पहुँचते हैं, तब उनकी १७ चित्तक्षण (रूप की) आयु पूर्ण हो जाती है, अतः वे निरुद्ध हो जाते हैं। इसलिये मनोद्वारावर्जन के भङ्गक्षण में १७ चित्तजकलापों में से (उत्पादक्षण में ही उत्पद्यमान होकर स्थितिक्षण एवं भङ्ग-क्षण में उत्पद्यमान नहीं होने से) स्थीयमान (विद्यमान) १६ कलाप, निरुध्यमान १ कलाप – इस प्रकार पृथक् पृथक् गणना करके जानना चाहिये। अनन्तर (पीछे-पीछे के) काल में भी जब जब पञ्चविज्ञान उत्पन्न नहीं होते एवं निरोधसमापत्ति का काल नहीं होता, उस समय भी ये चित्तज कलाप इसी प्रकार होते हैं।

ऋतुजकलाप – 'सीतुण्होतुसमञ्ञाता तेजोधातु ठितिप्पत्ता व उतुसमुट्ठानरूपं... समुट्ठापेति'[2] – के अनुसार प्रतिसन्धि चित्त के साथ उत्पन्न ३ कर्मज कलापों में ऋतु-नामक तेजोधातु भी होती है। वह ऋतु प्रतिसन्धिचित्त के स्थितिक्षण में स्वयं भी स्थितिक्षण में पहुँची हुई होने से ३ ऋतुजकलापों का उत्पाद करती है। प्रतिसन्धि चित्त के स्थितिक्षण में उत्पन्न ३ कर्मज कलापों में आनेवाली ऋतु से भी प्रतिसन्धिचित्त के भङ्गक्षण में और ३ ऋतुजकलाप उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार कर्मजकलाप से सम्बद्ध कर्मप्रत्यय ऋतुजकलाप प्रत्येक क्षण में बृंहित होते रहते हैं।

प्रथम भवङ्ग के उत्पादक्षण में उत्पन्न चित्तजकलाप में आनेवाली ऋतु भी प्रथम-भवङ्ग के स्थितिक्षण में एक ऋतुजकलाप को उत्पन्न करती है। द्वितीय भवङ्ग के उत्पाद-क्षण में उत्पन्न चित्तजकलाप में आनेवाली ऋतु भी द्वितीय भवङ्ग के स्थितिक्षण में ऋतुजकलाप को उत्पन्न करती है। इस प्रकार चित्तजकलापों से सम्बद्ध चित्तप्रत्यय ऋतुजकलाप भी चित्त के प्रत्येक स्थितिक्षण में बृंहित होते रहते ह, इसलिये कर्मप्रत्यय ऋतुज एवं चित्तप्रत्यय ऋतुज कलापसमूह प्रथमभवङ्ग के स्थितिक्षण में १३, भङ्गक्षण में १६, द्वितीय भवङ्ग के उत्पादक्षण में १९ एवं स्थितिक्षण में २३ होते हैं। इस प्रकार वीथि-प्रारूप में उद्धृत संख्या देखकर जानना चाहिये। [१३ कलाप, १६ कलाप-आदि कहने में कलाप के प्रकार ही कहे जाते हैं। ये १३ कलापसमूह स्कन्ध में अनेक हो सकते हैं। प्रतिसन्धिवीथि में बहिद्धा आहारजरूप नहीं होने के कारण आहारजरूपों का प्रतिपादन छोड़ दिया गया है।]

जीवितनवककलाप – ये जीवितनवककलाप अट्ठकथाओं के अनुसार कामभूमि में रहनेवाले पुद्गलों की सन्तान में भी काय-भाव दशक की तरह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर विद्यमान होने से, प्रतिसन्धि होने के अनन्तर किसी एक चित्त के उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग – इन तीनों में से किसी एक के साथ हो सकने पर भी गणना करने की

---

१. अभि० स० ६ : ३२ पृ० ६७९।
२. अभि० स० ६ : ३६ पृ० ६८६।

सुविधा के लिये 'चित्त के उत्पादक्षण में होते हैं' – इस प्रकार स्वीकार करेंगे। सर्व प्रथम उत्पन्न जीवितनवककलाप को, अपने उत्पादक चित्त के उत्पादक्षण में पहले से ही विद्यमान १५३ कर्मज कलापों में जोड़ने से कर्मज कलापों की कुल संख्या १५४ हो जाती है। स्थितिक्षण में १५५, भङ्गक्षण में १५६ – इस प्रकार क्षण-क्षण में बढ़ते जाने से प्रथम जीवितनवककलाप के उत्पाद के अनन्तर ५१ वें क्षुद्रक्षण तक पहुँचते पहुँचते वे कर्मजकलाप २०४ हो जाते हैं। उनमें से उत्पद्यमान कलाप ४, निरुध्यमान कलाप ४ एवं विद्यमान-कलाप १९६ – इस प्रकार विभाजन कर जब तक चक्षुरादि उत्पन्न नहीं होते, तब तक आगे भी इसी प्रकार होते रहते हैं – ऐसा जानना चाहिये।

चित्तजकलाप १७ ही होते हैं। जीवितनवकलाप जब स्थितिक्षण में पहुँचता है, तब जीवितनवककलाप में आनेवाली ऋतु, ऋतुजकलाप को उत्पन्न करने लगती है, अतः पूर्वस्थित ऋतुजकलाप १७० के साथ वे १७१ हो जाते हैं। इस प्रकार क्षण क्षण में पुनः पुनः उत्पन्न होकर जीवितनवककलाप जब जब स्थितिक्षण में पहुँचते हैं, तब तब कर्मप्रत्यय ऋतुजकलाप १ और बढ़ जाता है– इस प्रकार बढ़ते बढ़ते जब ५१ वें क्षुद्रक्षण में पहुँचते हैं, तब सर्वप्रथम उत्पन्न जीवितनवककलाप एवं उस जीवितनवककलाप से सम्बद्ध ऋतुजकलाप भी निरुद्ध हो जाते हैं। जिस समय उस सर्वप्रथम उत्पन्न जीवितनवककलाप की आयु पूर्ण होती है, उस समय ऋतुजकलाप २२० होते हैं। इसके बाद चित्त के उत्पादक्षण में उत्पन्न जीवितनक-कलाप से सम्बद्ध कर्मप्रत्यय ऋतुजकलाप १ और बढ़ जाता है, अतः उनकी कुल संख्या २२१ हो जाती हैं। इसके अनन्तर ऋतुजकलाप न बढ़ते हैं और न कम ही होते हैं। उन २२१ कलापों में उत्पद्यमान कर्मप्रत्यय ऋतुज कलाप ४, (चित्तप्रत्यय ऋतुजकलाप चित्त के प्रत्यक उत्पादक्षण में ही निरुद्ध हो जाने से) निरुध्यमानकलाप ५, एवं स्थीयमान कलाप २१२ होते हैं। चित्त के स्थितिक्षण में (चित्तप्रत्यय १ ऋतुज कलाप सर्वदा होते रहने से) उत्पद्यमान कलाप ५, निरुध्यमान कलाप ४ एवं स्थीयमानकलाप २१२ होते हैं। चित्त के भङ्गक्षण में (चित्तप्रत्यय ऋतुजकलाप उत्पन्न एवं विनष्ट न होने से) उत्पद्यमान कलाप ४, निरुध्यमान कलाप ४ एवं स्थीयमान कलाप २१३ होते हैं – इस प्रकार प्रत्येक क्षण के कलापों को वीथि का प्रारूप को देखकर जान लेना चाहिये।

आहारजकलाप – [प्रतिसन्धि लेने के १ सप्ताह या दो सप्ताह बाद आहारज कलाप प्रादुर्भूत होते हैं – इस प्रकार प्रायः माना जाता है। इस विषय में हम अपना मत रूपप्रवृत्तिक्रम में कह चुके हैं।] 'ओजासङ्खातो आहारो आहारसमुट्ठानरूपं अज्झोहरणकाले ठानप्पत्तो व समुट्ठापेति'[1] के अनुसार माता द्वारा भुक्त आहार जब शिशु के शरीर में व्याप्त हो जाता है, तब उस आहार में विद्यमान ओजस् उत्पन्न होकर यदि स्थितिक्षण को प्राप्त होता है, तो वह आहारजकलाप का उत्पाद करता है। वह आहा-रजकलाप चित्त के उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग – इन क्षणों में से किसी भी क्षण में उत्पन्न हो सकता है; फिर भी समझने की सुविधा के लिये 'चित्त के उत्पादक्षण में उत्पन्न होता है' – इस प्रकार ग्रहण करें। खाये हुए आहार में ओजस् नया-नया होने के कारण चित्त के

१. द्र० – अभि० स० ६ : ३७ पृ० ६८७।

प्रत्येक क्षण में आहारज कलाप भी सर्वदा उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिये सर्वप्रथम चित्त के उत्पादक्षण में आहारजकलाप १, स्थितिक्षण में २, भङ्गक्षण में ३ – इस प्रकार बढ़ते बढ़ते जब सर्वप्रथम उत्पन्न आहारजकलाप ५१ वें क्षुद्रक्षण में पहुँचता है, तब तक आहारज कलाप भी ५१ हो जाते हैं। इनमें से उत्पद्यमान कलाप १, निरुध्यमानकलाप १, स्थीयमानकलाप ४९ होते हैं। इस प्रकार स्कन्ध में आहारजकलाप न्यूनाधिक न होकर ५१ ही होते हैं।

कर्मज एवं चित्तज कलाप न्यूनाधिक नहीं होते। किन्तु सर्वप्रथम आहारज-कलाप उत्पन्न होने के बाद जब स्थितिक्षण में पहुँचता है, तब वह ऋतुज कलाप उत्पन्न करने लगता है, अतः पूर्वविद्यमान २२१ ऋतुज कलापों में १ ऋतुज कलाप और बढ़ जाता है। इस नय के अनुसार आहार से सम्बद्ध आहारप्रत्यय ऋतुज कलाप प्रतिक्षण एक-एक बढ़ते जाने से ५१ क्षुद्रक्षण पूर्ण होने तक वे बढ़कर ५१ कलाप हो जाते हैं। इस समय ऋतुजकलाप २७२ हो जाते हैं। उन कलापों के उत्पद्यमान, निरुध्यमान और स्थीयमान भेद भी ज्ञातव्य हैं। तदनन्तर जब तक चक्षु-आदि का उत्पाद नहीं होता, तब तक चतुर्ज कलाप न्यूनाधिक नहीं होते – एतद्विषयक सम्यग्ज्ञान वीथि का प्रारूप देखकर कर लेना चाहिये।

चक्षुरादि चतुष्क का उत्पत्ति काल – अट्ठकथा एवं मूलटीका के अनुसार चक्षु, श्रोत्र, घ्राण एवं जिह्वा प्रसाद नामक ४ कर्मजकलाप ११ वें सप्ताह में पूर्वापर भाव से उत्पन्न होते हैं। वे युगपत् (एकक्षण में) किसी भी तरह उत्पन्न नहीं हो सकते; किन्तु जानने की सुविधा के लिये वे चित्त के उत्पादक्षण में युगपत् उत्पन्न होते हैं – ऐसा मानें। यदि कर्मज-कलाप बढ़ते हैं, तो कर्मप्रत्यय ऋतुजकलाप भी स्थितिक्षण में बढ़ते हैं – इस प्रकार निःसन्देह जानना चाहिये। इसलिये सर्वप्रथम उत्पन्न चित्त के उत्पादक्षण में पूर्वविद्यमान २०४ कर्मजकलापों में ये ४ कलाप और मिल जाने से वे २०८ कलाप हो जाते हैं। ऋतुजकलाप उस क्षण में २७२ ही होते हैं। स्थितिक्षण में कर्मजकलाप २१२, ऋतुजकलाप २७६, भङ्गक्षण में कर्मजकलाप २१६, ऋतुजकलाप २८० – इसी प्रकार ५१ क्षुद्रक्षण पूर्ण होने तक ४-४ कलाप बढ़ते जाते हैं। जब ५१ वाँ क्षुद्रक्षण पूर्ण होता है, तब तक कर्मज कलाप ४०८ तथा तदुत्तर क्षण में ऋतुजकलाप ४७६ हो जाते हैं। यहाँ उत्पद्यमान, निरुध्यमान एवं स्थीयमान कलापों को उपर्युक्त नय के अनुसार जानना चाहिये। तदनन्तर जब तक पञ्चविज्ञानवीथि एवं निरोध समापत्ति का काल उपस्थित नहीं होता, तब तक ये चतुर्जकलाप न्यूनाधिक नहीं होते। उपर्युक्त सभी बातें रूपवीथि का प्रारूप देख कर जानना चाहिये।

पञ्चविज्ञानवीथि का उत्पत्ति काल – पञ्चविज्ञान रूप का उत्पाद नहीं कर सकते। अतः पञ्चविज्ञान के उत्पादक्षण में १६ चित्तजकलाप ही होते हैं। उनमें से उत्पद्यमान कलाप १५ एवं निरुध्यमान कलाप १ होने से पञ्चविज्ञान के उत्पाद से लेकर १७ वें चित्तक्षण के भङ्ग तक १६ चित्तजकलाप ही होते हैं। उस १७ वें चित्त के भङ्गक्षण में निरुध्यमान कलाप नहीं है। वे १६ कलाप स्थीयमान ही होकर १८ वें चित्त के उत्पादक्षण में और १ चित्तजकलाप के बढ़ जाने से पुनः १७ कलाप होकर स्थित रहते हैं। तदनन्तर न्यूनाधिक नहीं होते।

निरोधसमापत्तिकाल — निरोधसमापत्तिकाल में चित्त न होने के कारण नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतन जवन के भङ्गक्षण में १७ चित्तजकलाप ही होते हैं। उसके बाद ३-३ क्षुद्रक्षण के काल में १-१ चित्तजकलाप कम होते जाते हैं, अतः नैवसंज्ञानासंज्ञायतन जवन के अनन्तर १६ वें चित्तक्षण के काल तक सभी चित्तजकलाप निरुद्ध हो जाते हैं। निरोधसमापत्ति से उठते समय अनागामी फल या अर्हत् फल के उत्पाद से लेकर १-१ कलाप पुनः पुनः उत्पन्न होने से १७ वें चित्तक्षण में पुनः १७ चित्तजकलाप उत्पन्न हो जाते हैं। ऋतुजकलाप चित्तजकलापों के न्यूनाधिक्य के आधार पर न्यूनाधिक होते रहते हैं। कर्मजकलाप जब तक मरणासन्न काल नहीं होता, तब तक न्यूनाधिक नहीं होते।

मरणासन्नकाल — उपर्युक्त कर्मजरूपसन्तति, चित्तजरूपसन्तति, आहारजरूपसन्तति एवं ऋतुजरूपसन्तति की अपेक्षा करके 'चतुसमुट्ठानरूपकलापसन्तति कामलोके दीपजाला विय नदीसोतो विय च यावतायुकमब्बोच्छिन्ना पवत्तति'[1] — इस प्रकार कहा गया है। इस चतुसमुत्थान रूपकलापसन्तति को ही 'काय' कहते हैं। उस रूपकलापसन्तति नामक 'काय' में क्लेश अनुशयधातु के रूप में अनुशयन करते रहते हैं; फलतः सम्बद्ध आलम्बन से समागम होते समय उस क्लेश अनुशय धातु से अकुशल आदि धर्मों का उद्गमन होने से उनसे रूपकलाप उत्पन्न होकर सञ्चित होते रहते हैं और यही क्रम आजीवन चलता रहता है। मरणासन्नकाल में जब उपर्युक्त रूपकलापों के निरुद्ध होने का समय आ जाता है, तब 'मरणकाले पन चुतिचित्तोपरि सत्तरसमचित्तस्स ठितिकालमुपादाय कम्मजरूपानि न उप्पजन्ति'[2] के अनुसार च्युतिचित्त के पूर्ववर्ती सत्रहवें चित्त के स्थिति क्षण से लेकर नये कर्मजकलापों का उत्पाद नहीं होता। इस प्रकार प्रतिक्षण ८-८ कर्मज कलापों का निरोध होते रहने से च्युतिचित्त के भङ्गक्षण में सभी कर्मज कलाप एकदम निरुद्ध हो जाते हैं। तदनन्तर चित्तजकलाप भी, च्युतिचित्त के अनन्तर नये चित्तजकलापों का उत्पाद न होने के कारण निरुद्ध होते जाते हैं। इस प्रकार प्रतिक्षण १-१ कलाप कम करके गणना करने पर च्युतिचित्त के अनन्तर ४८ वें क्षण में सभी चित्तज कलाप निरुद्ध हो जाते हैं। आहारजकलाप च्युतिचित्त के भङ्गक्षण तक उत्पन्न हो सकने के कारण च्युतिचित्त के अनन्तर ५० वें क्षुद्रक्षण के काल में निरुद्ध होते हैं। ऋतुजकलाप 'याव मतकळेवरसङ्खाता पवत्तन्ति'[3] के अनुसार केवल शव पर्यन्त ही नहीं; अपितु अस्थियों के गल जाने के बाद भी पृथ्वीधातु के रूप में अवशिष्ट रहते हैं।

[संस्वेदज एवं उपपादुक सत्त्वों की रूपकलाप सन्तति को भी इसी नय के आधार पर जानना चाहिये।]

---

१. द्र० — अभि० स० ६ : ५७ पृ० ७११।

२. द्र० — अभि० स० ६ : ५८ पृ० ७१४।

३. द्र० — अभि० स० ६ : ५८ पृ० ७१४।
अभि० स० : १२३

प्रतिसन्धिकाल की प्राथमिक वीथि –

चित्त	क्षण	कर्मज-कलाप	चित्तज-कलाप	ऋतुज-कलाप	त्रिजकलाप-योग
	उ०	३	०	०	३
टि	ठि०	६	०	३	९
	भं०	९	०	६	१५
	०	१२	१	९	२२
१ भ	०	१५	१	१३	२९
	०	१८	१	१६	३५
	०	२१	२	१९	४२
२ भ	०	२४	२	२३	४९
	०	२७	२	२६	५५
	०	३०	३	२९	६२
३ भ	०	३३	३	३३	६९
	०	३६	३	३६	७५
	०	३९	४	३९	८२
४ भ	०	४२	४	४३	८९
	०	४५	४	४६	९५
	०	४८	५	४९	१०२
५ भ	०	५१	५	५३	१०९
	०	५४	५	५६	११५
	०	५७	६	५९	१२२
६ भ	०	६०	६	६३	१२९
	०	६३	६	६६	१३५
	०	६६	७	६९	१४२
७ भ	०	६९	७	७३	१४९
	०	७२	७	७६	१५५
	०	७५	८	७९	१६२
८ भ	०	७८	८	८३	१६९
	०	८१	८	८६	१७५

	०	८४	९	८९	१८२
९ भ	०	८७	९	९३	१८९
	०	९०	९	९६	१९५
	०	९३	१०	९९	२०२
१० भ	०	९६	१०	१०३	२०९
	०	९९	१०	१०६	२१५
	०	१०२	११	१०९	२२२
११ भ	०	१०५	११	११३	२२९
	०	१०८	११	११६	२३५
	०	१११	१२	११९	२४२
१२ भ	०	११४	१२	१२३	२४९
	०	११७	१२	१२६	२५५
	०	१२०	१३	१२९	२६२
१३ भ	०	१२३	१३	१३३	२६९
	०	१२६	१३	१३६	२७५
	०	१२९	१४	१३९	२८२
१४ भ	०	१३२	१४	१४३	२८९
	०	१३५	१४	१४६	२९५
	०	१३८	१५	१४९	३०२
१५ भ	०	१४१	१५	१५३	३०९
	०	१४४	१५	१५६	३१५
	०	१४७	१६	१५९	३२२
१६ भ	०	१५०	१६	१६३	३२९
	०	१५३	१६	१६६	३३५
	०	१५३	१७	१६९	३३९
१७ भ	०	१५३	१७	१७०	३४०
	०	१५३	१७	१७०	३४०
	०	१५३	१७	१७०	३४०
१८ भ	०	१५३	१७	१७०	३४०
	०	१५३	१७	१७०	३४०

जीवितनवक कलाप के सर्वप्रथम उत्पत्तिकाल की वाथि –

चित्त	क्षण	कर्मज-कलाप	चित्तज-कलाप	ऋतुज-कलाप	त्रिजकल योग
उ०	०	१५४	१७	१७०	३४१
चित्त ठि०	०	१५५	१७	१७१	३४३
भं०	०	१५६	१७	१७२	३४५
	०	१५७	१७	१७३	३४७
चित्त	०	१५८	१७	१७४	३४९
	०	१५९	१७	१७५	३५१
	०	१६०	१७	१७६	३५३
चित्त	०	१६१	१७	१७७	३५५
	०	१६२	१७	१७८	३५७
	०	१६३	१७	१७९	३५९
चित्त	०	१६४	१७	१८०	३६१
	०	१६५	१७	१८१	३६३
	०	१६६	१७	१८२	३६५
चित्त	०	१६७	१७	१८३	३६७
	०	१६८	१७	१८४	३६९
	०	१६९	१७	१८५	३७१
चित्त	०	१७०	१७	१८६	३७३
	०	१७१	१७	१८७	३७५
	०	१७२	१७	१८८	३७७
चित्त	०	१७३	१७	१८९	३७९
	०	१७४	१७	१९०	३८१
	०	१७५	१७	१९१	३८३
चित्त	०	१७६	१७	१९२	३८५
	०	१७७	१७	१९३	३८७
	०	१७८	१७	१९४	३८९
चित्त	०	१७९	१७	१९५	३९१
	०	१८०	१७	१९६	३९३

	०	१८१	१७	१९७	३९५
चित्त	०	१८२	१७	१९८	३९७
	०	१८३	१७	१९९	३९९
	०	१८४	१७	२००	४०१
चित्त	०	१८५	१७	२०१	४०३
	०	१८६	१७	२०२	४०५
	०	१८७	१७	२०३	४०७
चित्त	०	१८८	१७	२०४	४०९
	०	१८९	१७	२०५	४११
	०	१९०	१७	२०६	४१३
चित्त	०	१९१	१७	२०७	४१५
	०	१९२	१७	२०८	४१७
	०	१९३	१७	२०९	४१९
चित्त	०	१९४	१७	२१०	४२१
	०	१९५	१७	२११	४२३
	०	१९६	१७	२१२	४२५
चित्त	०	१९७	१७	२१३	४२७
	०	१९८	१७	२१४	४२९
	०	१९९	१७	२१५	४३१
चित्त	०	२००	१७	२१६	४३३
	०	२०१	१७	२१७	४३५
	०	२०२	१७	२१८	४३७
चित्त	०	२०३	१७	२१९	४३९
	०	२०४	१७	२२०	४४१
	०	२०४	१७	२२१	४४२
चित्त	०	२०४	१७	२२१	४४२
	०	२०४	१७	२११	४४२

आहारज कलाप के सर्वप्रथम उत्पत्तिकाल की वीथि

चित्त	क्षण	कर्मज-कलाप	चित्तज-कलाप	आहारज-कलाप	ऋतुज-कलाप	चतुर्ज-कलाप योग
	०	२०४	१७	१	२२१	४४३
चित्त	०	२०४	१७	२	२२२	४४५
	०	२०४	१७	३	२२३	४४७
	०	२०४	१७	४	२२४	४४९
चित्त	०	२०४	१७	५	२२५	४५१
	०	२०४	१७	६	२२६	४५३
	०	२०४	१७	७	२२७	४५५
चित्त	०	२०४	१७	८	२२८	४५७
	०	२०४	१७	९	२२९	४५९
	०	२०४	१७	१०	२३०	४६१
चित्त	०	२०४	१७	११	२३१	४६३
	०	२०४	१७	१२	२३२	४६५
	०	२०४	१७	१३	२३३	४६७
चित्त	०	२०४	१७	१४	२३४	४६९
	०	२०४	१७	१५	२३५	४७१
	०	२०४	१७	१६	२३६	४७३
चित्त	०	२०४	१७	१७	२३७	४७५
	०	२०४	१७	१८	२३८	४७७
	०	२०४	१७	१९	२३९	४७९
चित्त	०	२०४	१७	२०	२४०	४८१
	०	२०४	१७	२१	२४१	४८३
	०	२०४	१७	२२	२४२	४८५
चित्त	०	२०४	१७	२३	२४३	४८७
	०	२०४	१७	२४	२४४	४८९
	०	२०४	१७	२५	२४५	४९१
चित्त	०	२०४	१७	२६	२४६	४९३
	०	२०४	१७	२७	२४७	४९५

	०	२०४	१७	२८	२४८	४९७
चित्त	०	२०४	१७	२९	२४९	४९९
	०	२०४	१७	३०	२५०	५०१
	०	२०४	१७	३१	२५१	५०३
चित्त	०	२०४	१७	३२	२५२	५०५
	०	२०४	१७	३३	२५३	५०७
	०	२०४	१७	३४	२५४	५०९
चित्त	०	२०४	१७	३५	२५५	५११
	०	२०४	१७	३६	२५६	५१३
	०	२०४	१७	३७	२५७	५१५
चित्त	०	२०४	१७	३८	२५८	५१७
	०	२०४	१७	३९	२५९	५१९
	०	२०४	१७	४०	२६०	५२१
चित्त	०	२०४	१७	४१	२६१	५२३
	०	२०४	१७	४२	२६२	५२५
	०	२०४	१७	४३	२६३	५२७
चित्त	०	२०४	१७	४४	२६४	५२९
	०	२०४	१७	४५	२६५	५३१
	०	२०४	१७	४६	२६६	५३३
चित्त	०	२०४	१७	४७	२६७	५३५
	०	२०४	१७	४८	२६८	५३७
	०	२०४	१७	४९	२६९	५३९
चित्त	०	२०४	१७	५०	२७०	५४१
	०	२०४	१७	५१	२७१	५४३
	०	२०४	१७	५१	२७२	५४४
चित्त	०	२०४	१७	५१	२७२	५४४
	०	२०४	१७	५१	२७२	५४४

चक्षुरादिचतुष्क कलापों के सर्वप्रथम उत्पत्तिकाल की वीथि

चित्त	क्षण	कर्मज-कलाप	चित्तज-कलाप	आहारज-कलाप	ऋतुज-कलाप	चतुर्जकलाप-योग
	०	२०८	१७	५१	२७२	५४८
चित्त	०	२१२	१७	५१	२७६	५५६
	०	२१६	१७	५१	२८०	५६४
	०	२२०	१७	५१	२८४	५७२
चित्त	०	२२४	१७	५१	२८८	५८०
	०	२२८	१७	५१	२९२	५८८
	०	२३२	१७	५१	२९६	५९६
चित्त	०	२३६	१७	५१	३००	६०४
	०	२४०	१७	५१	३०४	६१२
	०	२४४	१७	५१	३०८	६२०
चित्त	०	२४८	१७	५१	३१२	६२८
	०	२५२	१७	५१	३१६	६३६
	०	२५६	१७	५१	३२०	६४४
चित्त	०	२६०	१७	५१	३२४	६५२
	०	२६४	१७	५१	३२८	६६०
	०	२६८	१७	५१	३३२	६६८
चित्त	०	२७२	१७	५१	३३६	६७६
	०	२७६	१७	५१	३४०	६८४
	०	२८०	१७	५१	३४४	६९२
चित्त	०	२८४	१७	५१	३४८	७००
	०	२८८	१७	५१	३५२	७०८
	०	२९२	१७	५१	३५६	७१६
चित्त	०	२९६	१७	५१	३६०	७२४
	०	३००	१७	५१	३६४	७३२
	०	३०४	१७	५१	३६८	७४०
चित्त	०	३०८	१७	५१	३७२	७४८
	०	३१२	१७	५१	३७६	७५६

	०	३१६	१७	५१	३८०	७६४
चित्त	०	३२०	१७	५१	३८४	७७२
	०	३२४	१७	५१	३८८	७८०
	०	३२८	१७	५१	३९२	७८८
चित्त	०	३३२	१७	५१	३९६	७९६
	०	३३६	१७	५१	४००	८०४
	०	३४०	१७	५१	४०४	८१२
चित्त	०	३४४	१७	५१	४०८	८२०
	०	३४८	१७	५१	४१२	८२८
	०	३५२	१७	५१	४१६	८३६
चित्त	०	३५६	१७	५१	४२०	८४४
	०	३६०	१७	५१	४२४	८५२
	०	३६४	१७	५१	४२८	८६०
चित्त	०	३६८	१७	५१	४३२	८६८
	०	३७२	१७	५१	४३६	८७६
	०	३७६	१७	५१	४४०	८८४
चित्त	०	३८०	१७	५१	४४४	८९२
	०	३८४	१७	५१	४४८	९००
	०	३८८	१७	५१	४५२	९०८
चित्त	०	३९२	१७	५१	४५६	९१६
	०	३९६	१७	५१	४६०	९२४
	०	४००	१७	५१	४६४	९३२
चित्त	०	४०४	१७	५१	४६८	९४०
	०	४०८	१७	५१	४७२	९४८
	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
चित्त	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२

पञ्चविज्ञानवीथि के उत्पत्तिकाल की वीथि

चित्त	क्षण	कर्मज-कलाप	चित्तज-कलाप	आहारज-कलाप	ऋतुज-कलाप	चतुर्कलाप-योग
	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
ती	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
न	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
द	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
प	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
	०	४०८	१६	५१	४७५	९५०
पं० वि०	०	४०८	१६	५१	४७५	९५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	९५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	९५०
स	०	४०८	१६	५१	४७५	९५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	९५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	९५०
ण	०	४०८	१६	५१	४७५	९५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	९५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	९५०
वो	०	४०८	१६	५१	४७५	९५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	९५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	९५०
ज	०	४०८	१६	५१	४७५	९५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	९५०

	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
ज	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
ज	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	६०५
	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
ज	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
ज	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
ज	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
	०	५०८	१६	५१	४७५	६५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
ज	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
[illegible]	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
त	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
भ	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
ज	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०

	०	४०८	१६	५१	४७५	९५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	९५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	९५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	९५०
भ	०	४०८	१६	५१	४७५	९५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	९५०
	०	४०८	१७	५१	४७५	९५१
भ	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२

निरोध समापत्ति कालिक वीथि

चित्त	क्षण	कर्मज-कलाप	चित्तज-कलाप	आहारज-कलाप	ऋतुज-कलाप	चतुर्जकलाप-योग
	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
श	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
श	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
यहाँ से कोई चित्त नहीं होते।		यहाँ से लेकर ४०८ ही कलाप होते हैं	१६	यहाँ से लेकर ५१ कलाप ही होते हैं	४७६	९५१
			१६		४७५	९५०
			१६		४७५	९५०
			१५		४७५	९४९
			१५		४७४	९४८
			१५		४७४	९४८
		,,	१४	,,	४७४	९४७
		,,	१४	,,	४७३	९४६
		,,	१४	,,	४७३	९४६
		,,	१३	,,	४७३	९४५
		,,	१३	,,	४७२	९४४
		,,	१३	,,	४७२	९४४

„	१२	„	४७२	९४३
„	१२	„	४७१	९४२
„	१२	„	४७१	९४२
„	११	„	४७१	९४१
„	११	„	४७०	९४०
„	११	„	४७०	९४०
„	१०	„	४७०	९३९
„	१०	„	४६९	९३८
„	१०	„	४६९	९३८
„	९	„	४६९	९३७
„	९	„	४६८	९३६
„	९	„	४६८	९३६
„	८	„	४६८	९३५
„	८	„	४६७	९३४
„	८	„	४६७	९३४
„	७	„	४६७	९३३
„	७	„	४६६	९३२
„	७	„	४६६	९३२
„	६	„	४६६	९३१
„	६	„	४६५	९३०
„	६	„	४६५	९३०
„	५	„	४६५	९२९
„	५	„	४६४	९२८
„	५	„	४६४	९२८
„	४	„	४६४	९२७
„	४	„	४६३	९२६
„	४	„	४६३	९२६
„	३	„	४६३	९२५
„	३	„	४६२	९२४
„	३	„	४६२	९२४

		„	२	„	४६२	९२३
		„	२	„	४६१	९२२
		„	२	„	४६१	९२२
		„	१	„	४६१	९२१
		„	१	„	४६०	९२०
		„	१	„	४६०	९२०
		„		„	४६०	९१९
		„		„	४५९	९१८
		४०८		५१	४५९	९१८

निरोधसमापत्ति से उत्थानकाल की वीथि

चित्त	क्षण	कर्मज-कलाप	चित्तज-कलाप	आहारज-कलाप	ऋतुज-कलाप	चतुर्ज-कलाप योग
	०	४०८	१	५१	४५९	९१९
फ	०	४०८	१	५१	४६०	९२०
	०	४०८	१	५१	४६०	९२०
	०	४०८	२	५१	४६०	९२१
भ	०	४०८	२	५१	४६१	९२२
	०	४०८	२	५१	४६१	९२२
	०	४०८	३	५१	४६१	९२३
भ	०	४०८	३	५१	४६२	९२४
	०	४०८	३	५१	४६२	९२४
	०	४०८	४	५१	४६२	९२५
भ	०	४०८	४	५१	४६३	९२६
	०	४०८	४	५१	४६३	९२६
	०	४०८	५	५१	४६३	९२७
भ	०	४०८	५	५१	४६४	९२८
	०	४०८	५	५१	४६४	९२८
	०	४०८	६	५१	४६४	९२९
भ	०	४०८	६	५१	४६५	९३०
	०	४०८	६	५१	४६५	९३०

	०	४०८	७	५१	४६५	६३१
भ	०	४०८	७	५१	४६६	६३२
	०	४०८	७	५१	४६६	६३२
	०	४०८	८	५१	४६६	६३३
भ	०	४०८	८	५१	४६७	६३४
	०	४०८	८	५१	४६७	६३४
	०	४०८	९	५१	४६७	६३५
भ	०	४०८	९	५१	४६८	६३६
	०	४०८	९	५१	४६८	६३६
	०	४०८	१०	५१	४६८	६३७
भ	०	४०८	१०	५१	४६९	६३८
	०	४०८	१०	५१	४६९	६३८
	०	४०८	११	५१	४६९	६३९
भ	०	४०८	११	५१	४७०	६४०
	०	४०८	११	५१	४७०	६४०
	०	४०८	१२	५१	४७०	६४१
भ	०	४०८	१२	५१	४७१	६४२
	०	४०८	१२	५१	४७१	६४२
	०	४०८	१३	५१	४७१	६४३
भ	०	४०८	१३	५१	४७२	६४४
	०	४०८	१३	५१	४७२	६४४
	०	४०८	१४	५१	४७२	६४५
भ	०	४०८	१४	५१	४७३	६४६
	०	४०८	१४	५१	४७३	६४६
	०	४०८	१५	५१	४७३	६४७
भ	०	४०८	१५	५१	४७४	६४८
	०	४०८	१५	५१	४७४	६४८
	०	४०८	१६	५१	४७४	६४९
भ	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०
	०	४०८	१६	५१	४७५	६५०

	०	४०८	१७	५१	४७५	९५१
भ	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२

मरणासन्नकालिक वीथि

चित्त	ण	कर्मज-कलाप	चित्तज-कलाप	आहारज-कलाप	ऋतुज-कलाप	चतुर्जकलाप योग
	०	४०८	१७	५१	४७६	९५२
ती	०	४००	१७	५१	४७६	९४४
	०	३९२	१७	५१	४६८	९२८
	०	३८४	१७	५१	४६०	९१२
भ	०	३७६	१७	५१	४५२	८९६
	०	३६८	१७	५१	४४४	८८०
	०	३६०	१७	५१	४३६	८६४
द	०	३५२	१७	५१	४२८	८४८
	०	३४४	१७	५१	४२०	८३२
	०	३३६	१७	५१	४१२	८१६
प	०	३२८	१७	५१	४०४	८००
	०	३२०	१७	५१	३९६	७८४
	०	३१२	१६	५१	३८८	७६७
च	०	३०४	१६	५१	३७९	७५०
	०	२९६	१६	५१	३७१	७३४
	०	२८८	१६	५१	३६३	७१८
स	०	२८०	१६	५१	३५५	७०२
	०	२७२	१६	५१	३४७	६८६
	०	२६४	१६	५१	३३९	६७०
ण	०	२५६	१६	५१	३३१	६५४
	०	२४८	१६	५१	३२३	६३८
	०	२४०	१६	५१	३१५	६२२
चो	०	२३२	१६	५१	३०७	६०६
	०	२२४	१६	५१	२९९	५९०

	०	२१६	१६	५१	२९१	५७४
ज	०	२०८	१६	५१	२८३	५५८
	०	२००	१६	५१	२७५	५४२
	०	१९२	१६	५१	२६७	५२६
ज	०	१८४	१६	५१	२५९	५१०
	०	१७६	१६	५१	२५१	४९४
	०	१६८	१६	५१	२४३	४७८
ज	०	१६०	१६	५१	२३५	४६२
	०	१५२	१६	५१	२२७	४४६
	०	१४४	१६	५१	२१९	४३०
ज	०	१३६	१६	५१	२११	४१४
	०	१२८	१६	५१	२०३	३९८
	०	१२०	१६	५१	१९५	३८२
ज	०	११२	१६	५१	१८७	३६६
	०	१०४	१६	५१	१७९	३५०
	०	९६	१६	५१	१७१	३३४
त	०	८८	१६	५१	१६३	३१८
	०	८०	१६	५१	१५५	३०२
	०	७२	१६	५१	१४७	२८६
त	०	६४	१६	५१	१३९	२७०
	०	५६	१६	५१	१३१	२५४
	०	४८	१६	५१	१२३	२३८
म	०	४०	१६	५१	११५	२२२
	०	३२	१६	५१	१०७	२०६
	०	२४	१६	५१	९९	१९०
चु	०	१६	१६	५१	९१	१७४
	०	८	१६	५१	८३	१५८

रूपवीथि समाप्त ।

वीथिसमुच्चय समाप्त ।

—:०:—

पट्ठान समुच्चय

परिशिष्ट -- ३

पट्ठानसमुच्चय

पट्ठाननय – पट्ठान शब्द में 'प' उपसर्ग 'प्रकार' अर्थ में प्रयुक्त है। 'ठान' शब्द प्रत्यय शब्द का पर्याय होने से 'कारण अर्थ में व्यवहृत होता है। यहाँ कार्य धर्मों की कारणभूत प्रत्ययशक्ति एवं शक्तिमान् धर्मसमूह 'ठान' (कारण) कहे गये हैं। 'नानप्पकारानि ठानानि एत्था ति पट्ठानं' अर्थात् जिस ग्रन्थ में नाना प्रकार की कारणभूत प्रत्ययशक्ति एवं शक्तिमान् धर्म प्रतिपादित होते हैं, उस ग्रन्थ को 'पट्ठान' कहते हैं।

६ हेतुओं में से एक मोह हेतु में भी हेतुशक्ति, अधिपतिशक्ति एवं सहजात-शक्ति – आदि भेद से अनेक शक्तियाँ होती हैं। इस प्रकार एक एक धर्म की अनेकविध शक्तियाँ पट्ठानपालि में कही गयी हैं। तथा एक हेतुप्रत्यय में धर्मरूप से ६ प्रकार के हेतु विद्यमान होने से भी उसे अनेक कहा जा सकता है। इस प्रकार धर्मस्वरूप से अनेक शक्तिमान् प्रत्ययसमूह पट्ठानपालि में कहे गये हैं। इस पट्ठानशास्त्र में 'अमुकधर्म, अमुक धर्म का अमुक प्रत्यय शक्ति द्वारा उपकार करता है' – इस प्रकार का नय 'पट्ठाननय' कहलाता है।

तीनराशि – पट्ठाननय में प्रत्यय, प्रत्ययोत्पन्न एवं प्रत्यनीक – ये तीन धर्म-राशि प्रधान होती हैं। इन राशियों के समझ लेने पर पट्ठानशास्त्र के समझने में कोई कठिनाई नहीं रहती। उन तीनों राशियों को मिलाकर 'त्रिराशि' यह नामकरण बर्मी भाषा में किया गया है। बर्मी में लिखित यह त्रिराशि एक अट्ठकथा की भांति अत्यन्त उपयोगी है। अतः उस 'त्रिराशि' को ही आधार बनाकर तथा टीका टिप्पणियों द्वारा उसे समझने योग्य बनाकर 'पट्ठानसमुच्चय' नामक इस प्रकरण का प्रतिपादन किया जा रहा है।

इस पट्ठानसमुच्चय में प्रवेश से पूर्व इसमें मुख्य रूप से प्रयुक्त प्रत्यय, प्रत्ययोत्पन्न एवं प्रत्यनीक शब्दों का सम्यक् ज्ञान कर लेना चाहिये, अतः यहाँ सर्वप्रथम इन शब्दों की संक्षिप्त व्याख्या की जा रही है।

प्रत्यय – 'पति + अय' – यहाँ 'पति' (प्रति) शब्द 'प्रतीत्य' अर्थात् 'अपेक्षा करके' – इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'अय' शब्द 'प्रवर्त्तन' इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'पटिच्च फलं अयति एतस्मा ति पच्चयो' अर्थात् जिन कारणधर्मों की अपेक्षा करके फलधर्म (प्रत्ययोत्पन्न धर्म) प्रवृत्त होते हैं, उन कारण धर्मों को 'प्रत्यय' कहते हैं।

यह 'प्रत्यय' शब्द व्युत्पत्ति के रूप में 'कारण' अर्थ में प्रयुक्त होता है तथा परिभाषिक के रूप में 'उपकारक' – इस अर्थ में होता है। अनुत्पन्न फल (कार्य = प्रत्ययोत्पन्न) धर्मों का उत्पाद करना एवं किसी एक कारण से उत्पन्न प्रत्ययोत्पन्न धर्मों को स्थितिक्षण में स्थित (विद्यमान) रखना – इन कृत्यों को 'उपकार' कहते हैं। जैसे – किसी श्रेष्ठी का किसी दरिद्र मनुष्य पर कोई काम देकर अनुग्रह करना तथा प्राप्त हुए कार्य में किसी प्रकार की हानि न होने देकर उसे अच्छी तरह

हेतुप्रत्यय

१. हेतुप्रत्यय की त्रिराशि – 'हेतुपच्चयो' इस प्रत्ययोद्देश में तीन स्वरूप धर्म होते हैं, । जैसे – प्रत्यय, प्रत्ययोत्पन्न एवं प्रत्यनीक । इनमें से लोभ,

---

चलते रहने देना 'उपकार' कहा जाता है । उसी तरह 'उत्पन्न करना' एवं 'स्थित रखना' – इन दोनों को 'उपकार' कहा जाता है ।

प्रत्ययोत्पन्न एवं प्रत्यनीक – 'पच्चयतो उप्पन्नं पच्चयुप्पन्नं' के अनुसार कारण (प्रत्यय) से उत्पन्न कार्य (फल) धर्मों को 'प्रत्ययोत्पन्न' कहते हैं ।

प्रत्यनीक का पालिरूप 'पच्चनीक' है । 'पति+अनीक' – यहाँ 'प्रति' शब्द 'विपरीत' अर्थ में प्रयुक्त है। 'अनीक' शब्द 'समूह' अर्थ में होता है । अतः प्रत्ययोत्पन्न धर्मों में न आकर उन प्रत्ययोपन्न धर्मों से विपरीत धर्मसमूह 'प्रत्यनीक' कहा जाता है।

कुछ आचार्य कहते हैं कि प्रत्ययधर्मों से उपकार प्राप्त न होने से उन प्रत्यय धर्मों से विरुद्ध होने के कारण इन्हें 'पच्चनीक' (प्रत्यनीक) कहा जाता है। यदि उन आचार्यों का कथन सत्य होगा, तो मोहमूलद्वय में आनेवाला मोह जो हेतुप्रत्यय में सङ्गृहीत होने के बाद प्रत्यनीक में भी सङ्गृहीत होता है, वह (मोह) मोहमूलद्वय में स्वयं अपना विरोधी 'प्रत्यनीक' हो जायगा। अतः उन आचार्यों के कथन पर विचार करना चाहिये ।

अपि च "कुसलं धम्मं पटिच्च कुसलो धम्मो उप्पज्जति हेतुपच्चया... न हेतुपच्चया"[1] आदि पालि में 'हेतुप्रत्यय से उत्पन्न प्रत्ययोत्पन्न धर्म, हेतुप्रत्यय से अनुत्पन्न प्रत्यनीकधर्म' – इस प्रकार प्रत्ययोत्पन्न एवं प्रत्यनीक धर्मों को अनुलोम एवं प्रतिलोम के रूप में कहा जाने से प्रत्ययोत्पन्न के विरोधी धर्मसमूह को (प्रत्ययोत्पन्न में न आकर उस प्रत्ययोत्पन्न के विपरीत धर्मसमूह को) 'प्रत्यनीक' कहते हैं – ऐसा निःसंदेह समझना चाहिये ।

प्रतीत्यसमुत्पादनय द्वारा कार्य-कारण सम्बन्ध का सामान्य ज्ञान कर लेने के बाद इस पट्ठाननय द्वारा कार्य-कारण के सम्बन्ध में 'अमुक धर्म अमुक धर्म का अमुक शक्ति से सम्बद्ध होकर उपकार करता है' – इस प्रकार का सूक्ष्म ज्ञान किया जा सकता है। फलतः इस पट्ठान शास्त्र का सम्यक् ज्ञान होने पर 'इस अवकाशलोक (जगत्) के सहित सत्त्वों के नामरूपस्कन्धों का निर्माण करनेवाला कोई परमात्मा (ईश्वर) आदि नहीं है तथा इस स्कन्ध के भीतर सभी विषयों का कर्ता एवं अनुभविता (अनुभव करनेवाला) जीवात्मा-आदि नहीं है' – इस प्रकार की निर्मल सम्यग् दृष्टि का उत्पाद होकर यथाभूत अनात्मज्ञान उत्पन्न हो सकता है । अतः प्रस्तुत पट्ठानसमुच्चय का सम्यग् रूप से पुनः पुनः अध्ययन करना चाहिये ।

हेतुप्रत्यय

१. हेतुपच्चयो – 'हेतुपच्चयो' इस शब्द द्वारा शक्तिमान् ६ हेतु एवं उन ६ हेतुओं की शक्ति का ग्रहण होता है । जैसे सुमहान् वृक्षों में जल ग्रहण

---

१. पट्ठान, प्र० भा०, पृ० २० ।

द्वेष एवं मोह; अलोभ, अद्वेष, एवं अमोह – ये ६ हेतु नामक प्रत्ययधर्म हेतुशक्ति से (हेतुरूप से) उपकार करनेवाले होते हैं। सहेतुक चित्त ७१, मोहमूलद्वय में सम्प्रयुक्त मोह को छोड़कर चैतसिक ५२, सहेतुक चित्तज रूप एवं सहेतुक प्रतिसन्धि कर्मजरूप– ये धर्म हेतुप्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न धर्म' होते हैं तथा अहेतुकचित्त १८, छन्दवर्जित अन्य समान चैतसिक १२, मोहमूलद्वय में मोह, अहेतुकचित्तज रूप, अहेतुक प्रतिसन्धि कर्मजरूप, बाहिररूप, आहारजरूप, असंज्ञिकर्मजरूप एवं प्रवृत्ति कर्मजरूप – ये धर्म हेतुप्रत्यय के 'प्रत्यनीक धर्म' होते हैं।

करनेवाला एक प्रधान मूल (जड़) होता है और उस मूल के कारण सम्पूर्ण वृक्ष दृढ़ एवं पुष्ट होता रहता है तथा उस मूल में सम्पूर्ण वृक्ष को स्थिर, दृढ़ एवं पुष्ट करने में समर्थ विशेष शक्ति निहित होती है, उसी तरह लोभ – आदि ६ हेतुओं में भी सम्प्रयुक्त धर्मों को स्थिर, दृढ़ एवं पुष्ट करने में समर्थ विशेष शक्ति निहित होती है। अर्थात् किसी एक अभीष्ट आलम्बन में जब लोभ रूपी मूल-अनुषक्त (लग्न) हो जाता है, तब सम्प्रयुक्त धर्म भी उसी आलम्बन में दृढ़तापूर्वक स्थित हो जाते हैं। लोभमूल जितना दृढ़ होता है, सम्प्रयुक्त धर्म भी उतने ही दृढ़ होते हैं। तथा जितना लोभमूल दृढ़ होता है, चेतना के भी उतने ही दृढ़ होने से अनन्तर काल में फल देते समय लोभ की दृढ़ता के अनुसार ही चेतना अकुशल फल देती है। द्वेष – आदि मूलों के बारे में भी इसी प्रकार जानना चाहिये। इस प्रकार वृक्ष के मूल की तरह सम्बद्ध आलम्बन में सम्प्रयुक्त धर्मों को दृढ़ता पूर्वक स्थापित करने में समर्थ शक्तिविशेष 'हेतुशक्ति' कहलाता है।

इस प्रकार के शक्तिविशेष से उपकार प्राप्त न होनेवाले अहेतुक चित्त मूलविरहित होने से, हवा के झोंके से पानी के ऊपर इधर-उधर तैरनेवाली लताओं की भांति, सम्बद्ध आलम्बन एवं कृत्यों में अदृढ़ एवं अस्थिर होते हैं।

रूप का उपकार करना – यहाँ प्रश्न होता है कि ६ हेतु सम्प्रयुक्त चित्त, चैतसिक, चित्तज रूप एवं प्रतिसन्धि कर्मज रूपों का उपकार करनेवाले होने से, जिस प्रकार वे सम्बद्ध आलम्बन में दृढ़ होने के लिये सम्प्रयुक्त चित्त, चैतसिकों का उपकार करते हैं, उसी प्रकार रूप धर्मों का भी दृढ़ होने के लिये उपकार कर सकते हैं कि नहीं?

उत्तर – रूप धर्म अनालम्बन-स्वभाव (आलम्बन का ग्रहण न कर सकनेवाले) होते हैं, अतः सम्बद्ध आलम्बन में दृढ़ होने के लिये हेतुधर्म रूपधर्मों का उपकार नहीं कर सकते। शक्तिमान् हेतु धर्मों के साथ साथ उत्पन्न होने के कारण उन्हें (रूप धर्मों को) प्रत्ययोत्पन्न धर्मों में सङ्गृहीत किया जाता है। जैसे – प्रभावशाली किसी पुरुष विशेष के अपने मकान एवं परिवार पर शासन करते समय उसके प्रभाव से उसके परिवार वाले भी शक्तिशाली एवं प्रभावशाली होते हैं; फिर भी उसके शासन का प्रभाव

की वजह से उस मकान में कोई दृढ़ता आदि वैशिष्टय नहीं आता। हालांकि उसके शासन में मकान भी रहता है, उसी तरह ६ हेतुओं से उपकार प्राप्त करनेवाले प्रत्ययोत्पन्न धर्मों में रूप धर्म भी आते हैं; तथापि उन ६ हेतुओं की वजह से इन रूप धर्मों में कोई विशेष (वैशिष्टय) नहीं आता। यहाँ प्रभावशाली पुरुष की तरह हेतु-धर्म हैं, परिवार की तरह सम्प्रयुक्त चित्त-चैतसिक धर्म हैं तथा मकान की भांति चित्तज एवं प्रतिसन्धिकर्मज रूप हैं। (सहजात, कर्म, इन्द्रिय, ध्यान एवं मार्ग प्रत्ययों के द्वारा रूप धर्मों का उपकार किया जाने में भी इसी प्रकार जानना चाहिये।)

अथवा – किसी एक रूपालम्बन में जब लोभ होता है, तब चक्षु भी उस रूपालम्बन में अभिनिध्यान (ध्यानपूर्वक देखना) कृत्य करता है। उसका इस प्रकार का कृत्य, रूपालम्बन के अभिनिध्यान के लिये अर्थात् उससे हटने न देने के लिये लोभ हेतु द्वारा चित्तज रूपों का हेतुशक्ति से उपकार करने से ही सम्पन्न होता है। द्वेष हेतु द्वारा उपकार करने पर व्यक्तिविशेष को मारने पीटने – आदि के समय सन्नद्धता, क्रोध से रक्तेक्षणता एवं देह का कम्पन – आदि रूपविकार होते हैं। मोह हेतु द्वारा उपकार करने पर सम्पूर्ण शरीर जड़, भारी एवं आलस्य युक्त होता है। अलोभ – आदि हेतुओं द्वारा उपकार करने पर सम्बद्ध आलम्बन में आसक्ति नहीं होती, द्वेष नहीं होता एवं शरीर में जडता न होकर स्फूर्ति – आदि होते हैं – ऐसा जानना चाहिये। इसी प्रकार सहजात – आदि द्वारा उपकार करने पर भी समझना चाहिये।

हेतु – 'हिनोति पतिट्ठाति एत्था ति हेतु' – अर्थात् जिस धर्म में प्रत्ययोत्पन्न (फल) धर्म प्रतिष्ठित होते हैं, उसे 'हेतु' कहते हैं। यहाँ 'हेतु' शब्द 'कारण' अर्थ में नहीं; अपितु सम्बद्ध प्रत्ययोत्पन्न (फल) धर्मों के प्रतिष्ठित होने के 'आधार' – इस अर्थ में होता है। 'हेतु च सो पच्चयो चा ति 'हेतुपच्चयो' जो हेतु होते हुए प्रत्यय भी होता है, उसे 'हेतु प्रत्यय' कहते हैं। यहाँ 'हेतु प्रत्यय' शब्द द्वारा शक्तिमान् ६ हेतुओं का ही मुख्यरूप से ग्रहण होता है। जिस प्रकार 'मनुष्य एवं मनुष्य की शक्ति' इस प्रकार कहने में 'मनुष्य' शब्द से सम्पूर्ण 'मनुष्य शरीर' का एवं 'मनुष्य की शक्ति' इससे मनुष्यशरीर से भिन्न उसकी चित्तशक्ति का ग्रहण किया जाता है, उस प्रकार यहाँ शक्ति एवं शक्तिमान् धर्मों का विभाजन नहीं किया जा सकता। आसक्ति को भी 'लोभ' कहते हैं तथा सम्बद्ध आलम्बन में दृढ़तापूर्वक आसक्त करनेवाले उस के स्वभाव को भी 'लोभ हेतु की शक्ति' कहते हैं। इस प्रकार शक्ति एवं शक्तिमान् धर्मों का विभाजन न किया जा सकने के कारण 'हेतु च सो पच्चयो च' – ऐसा कहा गया है। इस विग्रह के अनुसार यद्यपि शक्तिमान् धर्मों का ही मुख्यरूप से निर्देश किया गया है; फिर भी यहाँ उन धर्मों के हेतुशक्तिविशेष का ही ग्रहण किया जाता है। "कुसला अकुसला धम्मा", – आदि धम्मसंगणिपालि में जिसप्रकार स्वरूप (अभिधेय) धर्मों की प्रधानता है, उस प्रकार यहाँ 'हेतु पच्चयो, आरम्मणपच्चयो' – आदि में सामान्यतः

स्वरूप धर्मों को प्रधान मान कर भी विशेषरूप से उन उन धर्मों की उपकार करने में समर्थ विशेष शक्ति को ही प्रधान माना जाता है, अतः प्रत्येक प्रत्यय में उसकी शक्ति का ही प्रधान रूप से ग्रहण करना चाहिये । जैसे कहा भी गया है –

"इधापि वा 'हेतु च सो पच्चयो चा ति' धम्मेनेव धम्मसत्ति दस्सेति, न हि 'हेतुपच्चयो' ति आदिको उद्देसो कुसलादिउद्देसो विय धम्मपधानो, अथ खो धम्मानं उपकारपधानो ति[1] ।"

प्रत्ययोद्देश – पट्ठान पालि में "हेतुपच्चयो, आरम्मणपच्चयो ... अविगतपच्चयो" – इस प्रकार इन २४ प्रत्ययों की संख्यामात्र दिखलानेवाली पालि 'प्रत्ययोद्देश' कहलाती है । तदनन्तर उक्त "हेतू हेतु-सम्पयुत्तकानं धम्मानं तं समुट्ठानानं च रूपानं हेतुपच्चयेन पच्चयो" – इत्यादि प्रकार से विस्तार दिखलानेवाली पालि 'प्रत्ययनिर्देश' कही जाती है । इस पट्ठानसमुच्चय में प्रत्ययोद्देश के आधार पर व्याख्या की जायेगी । अतः प्रारम्भ म "'हेतुपच्चयो' इस प्रत्ययोद्देश में" आदि कहा गया है ।

'हेतुपच्चयो' इस प्रत्ययोद्देश में यद्यपि प्रत्यय, प्रत्ययोत्पन्न एवं प्रत्यनीक – इस प्रकार ये तीनों प्राप्त नहीं हो सकते, केवल ६ हेतु नामक प्रत्यय ही प्राप्त हो सकते हैं; फिर भी उन प्रत्ययों से सम्बद्ध होकर उपकार प्राप्त करनेवाले (उपकृत) प्रत्ययोत्पन्न धर्मों एवं उपकार प्राप्त न करनेवाले प्रत्यनीक धर्मों को भी एक साथ दिखलाने की दृष्टि से "'हेतुपच्चयो' इस प्रत्ययोद्देश में तीन स्वरूप होते हैं, जैसे – प्रत्यय, प्रत्ययोत्पन्न एवं प्रत्यनीक" – इस प्रकार कहा गया है । अर्थात् 'हेतुपच्चयो' इस प्रत्ययोद्देश के सातत्य में प्रत्यय, प्रत्ययोत्पन्न एवं प्रत्यनीक – ये तीनों धर्म जाने जाते हैं ।

प्रत्ययोत्पन्न धर्म – (हेतु प्रत्यय में प्रत्यय धर्म तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं) प्रत्ययोत्पन्न धर्मों में मोहमूलद्वय में सम्मिलित मोह के वर्जित होने पर भी लोभमूल एवं द्वेषमूल में सम्प्रयुक्त मोह के अवशिष्ट रहने से ५२ चैतसिक कहे गये हैं । चित्तज रूपों में सहेतुक चित्त से उत्पन्न रूप एवं अहेतुक चित्त से उत्पन्न रूप – इस प्रकार रूप द्विविध होते हैं । उनमें से अहेतुक चित्तज रूपों को वर्जित करने के लिये 'सहेतुक चित्तज रूप' – ऐसा कहा गया है । कर्मज रूपों में भी प्रतिसन्धिकाल में होनेवाले कर्मज एवं प्रवृत्तिकाल में होनेवाले कर्मज – इस प्रकार कर्मज रूप द्विविध होते हैं । उनमें से प्रवृत्ति कर्मज रूपों को वर्जित करना चाहिये । प्रतिसन्धिकर्मज रूपों में भी सहेतुक प्रतिसन्धिचित्त के साथ उत्पन्न होनेवाले कर्मज एवं अहेतुक प्रतिसन्धिचित्त के साथ उत्पन्न होनेवाले कर्मज – इस प्रकार प्रतिसन्धिकर्मज रूप द्विविध होते हैं । उनमें से अहेतुक प्रतिसन्धि कर्मज रूपों को वर्जित करने के लिये 'सहेतुक प्रतिसन्धिकर्मज रूप' – इस प्रकार कहा गया है (अहेतुकचित्तज एवं अहेतुक प्रतिसन्धिकर्मज रूप – इन ६ हेतुओं के साथ नहीं होते, अतः वे प्रत्यनीक में समाविष्ट होंगे ।)

---

१. पट्ठान मू० टी०, पृ० १६८ ।

प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न की उत्पत्ति – सभी ६ हेतुओं के द्वारा सहेतुकचित्त, चैतसिक, चित्तज रूप एवं प्रतिसन्धिकर्मज रूपों का विना नियम के एक साथ (युगपत्) उपकार नहीं किया जा सकता; अपितु सहोत्पन्न धर्मों का ही उपकार किया जा सकता है। यदि द्वितीय परिच्छेद में उक्त 'सम्प्रयोगनय' का समुचित ज्ञान होगा, तो प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्न की उत्पत्ति समझने में कठिनाई नहीं होगी। इसलिये यहाँ प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्न के उत्पाद के बारे में केवल नमूनामात्र दिखलाया जायगा।

लोभमूल प्रथमचित्त में १९ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं; उनमें (१९ में) आनेवाला लोभ 'प्रत्यय' है, इस लोभ से सम्प्रयुक्त चित्त, चैतसिक तथा लोभमूल प्रथम चित्त से उत्पन्न चित्तजरूप 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं। उनमें आनेवाला मोह 'प्रत्यय' है, उस मोह से सम्प्रयुक्त चित्त, चैतसिक एवं चित्तज रूप 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं। (जब 'लोभ' प्रत्यय होता है, तब 'मोह' प्रत्ययोत्पन्न तथा जब 'मोह' प्रत्यय होता है, तब 'लोभ' प्रत्ययोत्पन्न – इस प्रकार अन्योन्य उपकार भी जानना चाहिये।)

महाकुशल प्रथम चित्त में ३३ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं। उनमें आनेवाला अलोभ 'प्रत्यय' है, उस अलोभ से सम्प्रयुक्त चित्त, चैतसिक एवं महाकुशल प्रथम चित्त से उत्पन्न चित्तज रूप 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं। (अद्वेष एवं अमोह को भी इसी प्रकार जानना चाहिये। यहाँ अलोभ, अद्वेष एवं अमोह – ये तीनों हेतु परस्पर प्रत्यय – प्रत्ययोत्पन्न होकर अन्योन्य उपकार करते हैं। जब विरति एवं अप्पमञ्ञा सम्प्रयुक्त होते हैं, तब उन सम्प्रयुक्त चैतसिकों को भी प्रत्ययोत्पन्न में सङ्गृहीत करना चाहिये।)

महाविपाक प्रथमचित्त एवं ३३ चैतसिक जब प्रतिसन्धि कृत्य करते हुए उत्पन्न होते हैं, तब उनमें आनेवाला अलोभ 'प्रत्यय' है। उस अलोभ से सम्प्रयुक्त चित्त, चैतसिक एवं सहोत्पन्न कर्मज रूप 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं। (अद्वेष एवं अमोह के बारे में भी इसी प्रकार जानना चाहिये। अरूपभूमि में उत्पन्न हेतुओं के द्वारा रूप धर्मों का उपकार नहीं किया जा सकता – इसे भी कारण के साथ जानना चाहिये।)

प्रत्यनीक – हेतुओं के साथ उत्पन्न नहीं होनेवाले धर्मों को हेतुशक्ति के द्वारा उपकार प्राप्त न होने के कारण हेतुप्रत्यनीक में सङ्गृहीत किया जाता है। पच्चनीक पट्ठानपालि में कथित नय के अनुसार इस प्रत्यनीक में सभी रूपों को पृथक्-पृथक् नामोल्लेखपूर्वक संगृहीत किया गया है। उनमें से अहेतुकचित्त, चैतसिक, अहेतुक चित्तजरूप एवं अहेतुक प्रतिसन्धिकर्मज रूपों को जान लेना चाहिये। यहाँ सत्त्वों की सन्तान से बाहर वन, पर्वत – आदि के रूप में उत्पन्न होनेवाले अनिन्द्रियबद्ध ऋतुज रूपों को बाहिर रूप; सत्त्वों की सन्तान में आहार से उत्पन्न रूपों को आहारजरूप तथा सत्त्वों की सन्तान में ऋतु से उत्पन्न रूपों की ऋतुजरूप कहा गया है। उन्हें (ऋतुज रूपों को) इन्द्रियबद्ध ऋतुज रूप भी कहा जाता है। (जीवितेन्द्रिय से असम्बद्ध निर्जीव रूपों को 'अनिन्द्रियबद्ध' तथा जीवितेन्द्रिय से सम्बद्ध सजीव रूपों को 'इन्द्रियबद्धरूप' कहते हैं।)

आलम्बनप्रत्यय

२. आलम्बनप्रत्यय की त्रिराशि – 'आरमणपच्चयो' – इस प्रत्ययोद्देश में तीन स्वरूप होते हैं, यथा – प्रत्यय, प्रत्ययोद्देश एवं प्रत्यनीक। उनमें से प्रत्युत्पन्न, अतीत एवं अनागत चित्त ८९, चैतसिक ५२, रूप २८, कालविमुक्त निर्वाण एवं प्रज्ञप्ति – ये षड्विध आलम्बनप्रत्यय धर्म, आलम्बनशक्ति से उपकार करनेवाले धर्म होते हैं। ८९ चित्त एवं ५२ चैतसिक ये धर्म आलम्बन प्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न धर्म' होते हैं। तथा चित्तज रूप, प्रतिसन्धिकर्मज रूप, बाहिररूप, आहारजरूप, असंज्ञिकर्मज रूप एवं प्रवृत्तिकर्मज रूप – ये धर्म आलम्बन प्रत्यय के 'प्रत्यनीक धर्म' होते हैं।

"'बाहियं' ति एतेन अनिन्द्रियबद्धरूपं दस्सेति, पुन 'आहारसमुट्ठानं, उतुसमुट्ठानं' ति एतेहि सब्बं इन्द्रियबद्धं आहार-उतुसमुट्ठानरूपं[1] ।"

असंज्ञिब्रह्माओं की सन्तान में पूर्वकर्म के विपाकस्वरूप प्रतिसन्धि एवं प्रवृत्ति काल में उत्पन्न रूपों को 'असंज्ञिकर्मज रूप' कहते हैं। (असंज्ञि-ऋतुजरूप इन्द्रियबद्ध ऋतु-जरूप में सम्मिलित हो गये हैं।) कामभूमि एवं रूपभूमि में रहनेवाले पुद्गलों की सन्तान में प्रतिसन्धि के स्थिति क्षण से लेकर प्रवृत्ति काल में क्षण क्षण में उत्पन्न कर्मज रूप 'प्रवृत्तिकर्मज रूप' कहे जाते हैं। (असंज्ञिकर्मजरूप पृथक् कह दिये जाने से इन प्रवृत्तिकर्मज रूपों में उनका सङ्ग्रह नहीं होता।) प्रतिसन्धि-कर्मजरूप चित्त के साथ उत्पन्न होने एवं स्थित होने से सहोत्पन्न हेतुओं से उपकार को प्राप्त होते हैं। प्रवृत्तिकर्मज रूप चित्त से सम्बद्ध नहीं होते; अपितु पूर्व कर्म से ही सम्बद्ध होते हैं, इसलिये यदि कर्म की शक्ति क्षीण नहीं होती है, तो चित्त न होने पर भी अर्थात् निरोधसमापत्तिकाल में भी वे (प्रवृत्तिकर्मजरूप) उत्पन्न हो सकते हैं, इसलिये प्रवृत्तिकर्मजरूप प्रत्ययोत्पन्न में संगृहीत न होकर प्रत्यनीक में संगृहीत होते हैं।

"पटिसन्धियं हि कम्मजरूपानं चित्तपटिबद्धा पवत्ति; चित्तवसेन उप्पज्जन्ति चेव तिट्ठन्ति च... पवत्तियं पन तेसं चित्ते विज्जमाने पि कम्मपटिबद्धा व पवत्ति न चित्तपटिबद्धा; अविज्जमाने चापि चित्ते निरोधसमापन्नानं उप्पज्जन्ति येव[2] ।"

हेतुप्रत्यय समाप्त।

२. आलम्बन-प्रत्यय – 'आरमण' एवं 'आलम्बन' शब्दों का स्वभाव समान होने पर भी शब्दार्थ में भेद होता है। इन दोनों शब्दों का विग्रह आलम्बन संग्रह में किया जा चुका है[3]। 'आरमण' शब्द 'अत्यन्त रमण करने के योग्य' – इस अर्थ में

---

१. पट्ठान मू० टी०, पृ० २०६।

२. पट्ठान-अट्ठकथा, पृ० ३५५।

३. द्र० – अभि० स०, पृ० २४७-२४८।

होता है। नाना प्रकार के सुगन्धित पुष्प एवं लताओं – आदि से अलंकृत उद्यान के अत्यन्त रमणीय होने से जैसे उसमें 'रमणीयत्व' नामक एक प्रकार का शक्तिविशेष होता है, उसी तरह आलम्बन में भी चित्त–चैतसिकों द्वारा 'रमण करने योग्य' एक शक्तिविशेष होता है । इसीलिये सभी चित्त–चैतसिक आलम्बन के विना प्रवृत्त नहीं हो पाते । इस तरह जिस वजह से चित्त–चैतसिक धर्म विरक्त रहने में असमर्थ होते हैं, वह रमणीयत्व नामक शक्तिविशेष 'आरमणशक्ति' कहलाता है । 'आलम्बन' शब्द अवलम्ब (सहारा) या आश्रय देनेवाले के अर्थ में प्रयुक्त होता है । जिस प्रकार उठने बैठने एवं चलने – आदि में असमर्थ व्यक्ति लाठी एवं रस्सी आदि के अवलम्ब से उठ, बैठ एवं चल सकने में समर्थ हो जाता है, अतः उस लाठी, बेंत एवं रस्सी आदि में सहारा देने योग्य शक्तिविशेष माना जाता है । उसी प्रकार सभी चित्त चैतसिक धर्म किसी एक आलम्बन का विना अवलम्ब लिये प्रवृत्त होने में असमर्थ होते हैं। इस कारण जिस धर्म का विना अवलम्ब (आश्रय) लिये चित्त, चैतसिक प्रवृत्त होने में असमर्थ होते हैं, वह अवलम्बनीयत्व नामक (धारण करने योग्य) शक्ति विशेष 'आलम्बनशक्ति' कहलाता है। (जैसे लाठी, सब से असम्बद्ध होकर अकेले भी स्थित हो सकती है, उसी तरह नाम, प्रज्ञप्ति एवं निर्वाण आलम्बन भी किसी से सम्बद्ध न होते हुये अकेले ही स्वतन्त्रतापूर्वक स्थित होते हैं। जैसे रस्सी अपने अवयवभूत अनेक तन्तुओं के समूह से निर्मित होती है, उसी तरह आलम्बन भी रूप कलापों के समूह के रूप में अवस्थित होते हैं । इसीलिये कहा गया है कि – नाम आलम्बन, निर्वाण एवं प्रज्ञप्ति लाठी के सदृश हैं तथा रूपालम्बन रस्सी की भांति हैं ।

प्रत्यय – प्रत्यय धर्मों में उल्लिखित प्रत्युत्पन्न, अतीत एवं अनागत शब्द चित्त, चैतसिक एवं रूप धर्मों के विशेषण हैं। तथा 'काल विमुक्त' शब्द निर्वाण एवं प्रज्ञप्ति का विशेषण है । अर्थात् चित्त, चैतसिक एवं रूप आलम्बन प्रत्युत्पन्न, अतीत एवं अनागत – इन तीनों कालों में यथायोग्य होनेवाले आलम्बन हैं तथा निर्वाण और प्रज्ञप्ति उन तीनों कालों से मुक्त होने के कारण 'काल विमुक्त' नामक आलम्बन हैं। 'षड्विध आलम्बनप्रत्यय धर्म' – इसमें २८ रूपों में परिगणित रूप शब्द, गन्ध, रस एवं स्प्रष्टव्य – नामक पाँच रूपी धर्म रूपालम्बन हैं । तथा अवशिष्ट रूप, चित्त, चैतसिक, निर्वाण एवं प्रज्ञप्ति धर्मालम्बन है । इसलिये चित्त, चैतसिक, रूप, प्रज्ञप्ति एवं निर्वाण – इन पांच धर्मों को ही ६ आलम्बन कहते हैं । प्रत्ययोत्पन्न धर्म स्पष्ट हैं ।

प्रत्यनीक – आलम्बन का ग्रहण न करनेवाले 'अनालम्बन' नामक सभी रूप प्रत्यनीक धर्म हैं। उन सभी रूपों को एक साथ (समूह रूप में) न कहकर यहाँ पच्चनीक पालि के अनुसार 'चित्तज रूप, प्रतिसन्धिकर्मज' – इत्यादि प्रकार से पृथक् पृथक् कहा गया है ।

प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्न – जब चक्षुर्द्वारिक वीथि होती है, तब प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन 'प्रत्यय' है। उस रूपालम्बन का आलम्बन करनेवाले पञ्चद्वारावर्जन – आदि चक्षुर्द्वारिक-वीथिचित्त एवं चैतसिक 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं – इस तरह वीथि के अनुसार जानना चाहिये।

अधिपतिप्रत्यय

३. **अधिपतिप्रत्यय** – 'अधिपतिपच्चयो' – इस प्रत्ययोद्देश में अधिपतिप्रत्यय आलम्बनाधिपति एवं सहजाताधिपति – इस प्रकार द्विविध होता है।

(क) **आलम्बनाधिपति प्रत्यय की त्रिराशि** – आलम्बनाधिपति में तीन स्वरूप होते हैं, यथा – प्रत्यय, प्रत्ययोद्देश एवं प्रत्यनीक। उनमें से गुरुकरणीय प्रत्युत्पन्न, अतीत, अनागत एवं इष्ट १८ निष्पन्नरूप; द्वेषमूलद्वय, मोहमूलद्वय एवं दुःखसहगत कायविज्ञानवर्जित चित्त ८४; द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य एवं विचिकित्सावर्जित चैतसिक ४७ एवं कालविमुक्त निर्वाण – ये ६ आलम्बनप्रत्ययधर्म आलम्बनाधिपति शक्ति से उपकार करनेवाले धर्म होते हैं। गुरुकारक लोभमूलचित्त ८, महाकुशलचित्त ८, महाक्रिया ज्ञानसम्प्रयुक्त चित्त ४, लोकोत्तरचित्त ८; द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, विचिकित्सा एवं अप्पमञ्ञावर्जित चैतसिक ४५ – ये धर्म आलम्बनाधिपतिप्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' धर्म होते हैं। जब गुरुकारक नहीं होते, तब एवं सर्वदा गुरुकारक न होनेवाले लौकिक चित्त ८१ एवं चैतसिक ५२ तथा चित्तजरूप, प्रतिसन्धिकर्मज रूप, बाहिर रूप, आहारज रूप, असंज्ञिकर्मज रूप एवं प्रवृत्तिकर्मज रूप – ये धर्म आलम्बनाधिपति प्रत्यय के 'प्रत्यनीकधर्म' होते हैं।

अर्थात् उन-उन आलम्बनों का आलम्बन करनेवाले वीथिचित्त 'प्रत्ययोत्पन्न' तथा उस वीथि का आलम्बन 'आलम्बनप्रत्यय' है – इस प्रकार जानना चाहिये।

आलम्बनप्रत्यय समाप्त।

३. क. **आलम्बनाधिपति प्रत्यय** – अपने से सम्बद्ध आलम्बनक धर्मों पर अधिकार करके उन पर आधिपत्य करने में समर्थ शक्ति 'आलम्बनाधिपति प्रत्यय' है, जैसे – रूपालम्बन सामान्य रूपालम्बन एवं अत्यधिक सुन्दर विशेष रूपालम्बन – इस प्रकार द्विविध होता है। सामान्य रूपालम्बन में केवल आलम्बनशक्ति ही होती है, आलम्बनाधिपति शक्ति नहीं होती। अत्यधिक सुन्दर विशेष रूपालम्बन में आलम्बनशक्ति एवं आलम्बनाधिपति शक्ति दोनों होती हैं। आलम्बनाधिपतिशक्तिवाले रूपालम्बन अपना आलम्बन करनेवाले आलम्बनक लोभमूल चित्त पर यथेच्छ अधिकार करके उसे प्रभावित (अधीन) कर सकते हैं। उन्हें बिना देखे वह नहीं रह सकता। जैसे – प्रभावती के रूपालम्बन की आलम्बनाधिपति शक्ति के कारण बोधिसत्त्व कुश राजकुमार ने १०० योजन की दूरी एक दिन में तय कर ली। तथा गुत्तिल नामक वीणावादक के वीणाशब्दरूपी शब्दालम्बन की आलम्बनाधिपति शक्ति के कारण एक वेश्या अपने महल की खिड़की से कूद गयी। इस प्रकार सामान्य आलम्बन से अधिक आकृष्ट करने में समर्थ विशेष शक्तिशाली आलम्बन 'आलम्बनाधिपति प्रत्यय' होते हैं। इसलिये प्रत्यय धर्मों में 'गुरुकरणीय' एवं प्रत्ययोत्पन्न

में 'गुरुकारक' – ऐसा विशेषण दिया गया है। अर्थात् गुरु किये जाने योग्य आलम्बन 'प्रत्यय' हैं, एवं गुरु करनेवाले चित्त-चैतसिक 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं।

प्रत्यय – प्रत्यय धर्मों में कथित प्रत्युत्पन्न, अतीत एवं अनागत शब्द चित्त, चैतसिक एवं रूप धर्मों के विशेषण हैं तथा 'इष्ट' शब्द निष्पन्न रूप धर्मों का विशेषण है। अर्थात् २८ रूपों में १० अनिष्पन्न रूप परमार्थ स्वभाव न होने से अथच प्रज्ञप्तिस्वभाव होने से गुरुकरणीय नहीं हैं। निष्पन्न रूपों में भी अनिष्ट आलम्बन निष्पन्नरूप गुरुकरणीय नहीं हैं। इसलिये 'इष्ट निष्पन्न रूप १८' – इस प्रकार कहा गया है। चित्तों में द्वेषमूल, मोहमूल एवं दुःख-सहगत कायविज्ञान गुरु करने योग्य चित्त नहीं होते। इसलिये सम्प्रयुक्त द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य एवं विचिकित्सा के साथ उन चित्तों को वर्जित किया गया है।

८ लोभमूल चित्त द्वेषमूल, मोहमूल एवं दुःखसहगत कायविज्ञानवर्जित लौकिक चित्त ७६, उन चित्तों से सम्प्रयुक्त चैतसिक ४७ एवं चतुर्ज इष्ट १८ निष्पन्न रूपों का गुरु (ज्येष्ठ) करके आलम्बन करते हैं। (चतुर्ज इष्ट – इस विशेषण से कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार नामक ४ कारणों से यथा योग्य उत्पन्न इष्ट आलम्बन निष्पन्नरूप गृहीत होते हैं। यहाँ 'इष्ट' शब्द से केवल स्वभावतः इष्ट ही नहीं; अपितु परिकल्पित इष्ट-आलम्बन का भी ग्रहण करना चाहिये।) उपर्युक्त कथन के अनुसार 'अत्यन्त सुन्दर रूपालम्बन का आलम्बन करके आसक्त होनेवाली चक्षुर्द्वार मनोद्वारिक वीथि होने पर रूपालम्बन 'आलम्बनाधिपति प्रत्यय' है। लोभजवन आलम्बनाधिपति प्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं तथा अपने लौकिक ध्यान के प्रति अत्यन्त आस्वाद (रसानुभूति) होते समय लौकिक ध्यान चित्त एवं चैतसिक 'आलम्बनाधिपति प्रत्यय' हैं एवं लोभजवन आलम्बनाधिपति प्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं। इस प्रकार जानना चाहिये।

८ महाकुशल चित्त १७ लौकिक चित्तों को गुरु करके आलम्बन करते हैं। अपने एवं दूसरों के कुशल धर्मों का आवर्जन एवं आलम्बन करते समय जब अपने ध्यान कुशल धर्मों का चाव के साथ समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षण कुशलजवनवीथि होती है, तब लौकिक कुशल-आलम्बन 'आलम्बनाधिप्रति प्रत्यय' हैं तथा गुरु करने-वाले महाकुशलजवन एवं ३३ चैतसिक आलम्बनाधिपति प्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं। (विरति चैतसिक, व्यतिक्रमितव्य धर्म का एवं अप्पमञ्ञा चैतसिक प्रज्ञप्ति का ही आलम्बन करते हैं। लौकिक कुशल धर्म व्यतिक्रमितव्य एवं प्रज्ञप्ति – दोनों नहीं होने से विरति एवं अप्पमञ्ञा का वर्जन करके '३३ चैतसिक' कहा गया है। तथा अप्पमञ्ञा की आलम्बनभूत सत्त्वप्रज्ञप्ति गुरुकरणीय आलम्बनों में परिगणित न होने से अप्पमञ्ञा प्रत्ययोत्पन्न में बिलकुल नहीं आती।)

ज्ञानसम्प्रयुक्त महाकुशल एवं क्रिया (=८) अपने अपने नौ (९) लोकोत्तर धर्मों का दृढतापूर्वक आलम्बन करते हैं। स्रोतापन्न पुद्गल के ज्ञानसम्प्रयुक्त महाकुशल (प्रत्यवेक्षण-वीथि एवं समापत्तिवीथि के काल में) अपने स्रोतापत्तिमार्ग, स्रोतापत्तिफल एवं निर्वाण को ही गुरु करके आलम्बन करते हैं। दूसरों के मार्ग, फल एवं निर्वाण का सामान्य रूप से आलम्बन करते हैं। अपने सकृदागामी एवं अनागामी मार्ग, फल एवं

३. (ख) सहजाताधिपतिप्रत्यय की त्रिराशि – सहजाताधिपतिप्रत्यय में तीन स्वरूप होते हैं, यथा – प्रत्यय, प्रत्ययोद्देश एवं प्रत्यनीक। उनमें से जब अधिपतिप्रत्यय (शक्ति) से उपकार करते हैं, तब एवं सर्वदा अधिपति प्रत्यय (शक्ति) से उपकार करनेवाले मोहमूलद्वय एवं हसितोत्पादवर्जित ५२ साधिपतिजवन नामक नामस्कन्ध में होनेवाले छन्द, वीर्य एवं वीमंसा तथा ५२ साधिपति जवन नामक चित्त के ३ या ४ अधिपति धर्म स्वरूपों में से कोई एक – ये धर्म 'सहजाताधिपति प्रत्यय' होते हैं। जब अधिपतिप्रत्यय से उपकार प्राप्त

निर्वाण में भी इसी प्रकार जानना चाहिये। अर्हत् पुद्गल के ज्ञानसम्प्रयुक्त महाक्रिया-चित्त भी अपने अर्हत् मार्ग, अर्हत् फल एवं निर्वाण का ही आलम्बन करते हैं। यहाँ प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न धर्मों को भी पूर्वनय के अनुसार जान लेना चाहिये।

लोकोत्तर चित्त भी अमृत निर्वाण का गुरु करके आलम्बन करते हैं। यहाँ भी दूसरों के निर्वाण का अपने मार्ग एवं फल द्वारा बिल्कुल आलम्बन न किया जा सकने के कारण अपने मार्ग एवं फल अपने निर्वाण का ही आलम्बन करते हैं – ऐसा जानना चाहिये। यहाँ निर्वाण 'आलम्बनाधिपति प्रत्यय' है। अपने मार्ग एवं फल तथा विरति के साथ ३६ चैतसिक आलम्बनाधिपति प्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं – इस प्रकार जानना चाहिये। ये लोकोत्तर चित्त सर्वदा निर्वाण का ही आलम्बन करते हैं, अतः सर्वदा प्रत्ययोत्पन्न में ही गृहीत होते हैं, प्रत्यनीक में कदापि नहीं।

प्रत्यनीक – 'जब गुरुकारक नहीं होते तब' इस वचन से अनेकान्तता का निर्देश किया गया है, अतः जिस समय गुरु नहीं करते, उस समय के लोभमूल ८, महाकुशल ८, ज्ञानसम्प्रयुक्त महाक्रिया ४ 'प्रत्यनीक' हैं (ये धर्म उपर्युक्त आलम्बनों को कभी कभी गुरु भी करते हैं तथा उपर्युक्त आलम्बन या अन्य आलम्बनों को कभी कभी गुरु न करके सामान्यरूप से भी आलम्बन करते हैं।) ये धर्म जब गुरु करके आलम्बन करते हैं, तब 'प्रत्ययोत्पन्न' होते हैं तथा जब गुरु नहीं करते, तब 'प्रत्यनीक' होते हैं। 'सर्वदा गुरुकारक न होनेवाले' इस वचन से सर्वदा गुरु नहीं करनेवाले (लोभमूल, महाकुशल एवं महाक्रिया चित्तों से अवशिष्ट) लौकिक चित्तों का निर्देश किया गया है। रूप धर्म अनालम्बन धर्म होने से 'गुरु करके आलम्बन करते हैं या नहीं' – इस प्रकार का सन्देह अनावश्यक है।

आलम्बनाधिपतिप्रत्यय समाप्त।

३. (ख) सहजाताधिपति प्रत्यय – इस सहजाताधिपतिप्रत्यय का स्वरूप समझाने के लिये प्रायः चक्रवर्ती राजा की उपमा दी जाती है। यहाँ किसी देश के अद्वितीय राजा से उपमा दी जा रही है। जैसे राजा अपने देश में अकेले ही आधिपत्य कर सकता है, उसी प्रकार सहोत्पन्न चित्त एवं चैतसिक नामस्कन्ध में से कोई एक ही अधिपति होने से सहजात चित्त-चैतसिकों को प्रभावित करने में समर्थ 'सहजाताधिपति प्रत्यय' होता है। जब छन्द अधिपतिप्रत्यय कृत्य करता है, तब उसमें सम्प्रयुक्त धर्मों पर

करते हैं, तब एवं सर्वदा अधिपतिप्रत्यय से उपकार प्राप्त करनेवाले साधिपतिजवन ५२, विचिकित्सावर्जित चैतसिक ५१, एवं साधिपति चित्तज रूप — ये धर्म सहजाताधिपतिप्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' धर्म होते हैं। जब अधिपतिप्रत्यय से उपकार प्राप्त नहीं करते, तब एवं सर्वदा उपकार प्राप्त न करनेवाले कामचित्त ५४, महग्गत विपाकचित्त ९ एवं चैतसिक ५२, जब अधिपतिप्रत्यय से उपकार करते हैं, तब एवं सर्वदा उपकार करनेवाले ५२ साधिपतिजवन नामक नामस्कन्ध में विद्यमान ३ या ४ अधिपति धर्मस्वरूपों में से कोई एक, निरधिपति चित्तजरूप, प्रतिसन्धि कर्मज रूप, बाहिररूप, आहारज रूप, ऋतुजरूप, असंज्ञिकर्मज रूप एवं प्रवृत्तिकर्मज रूप — ये धर्म-सहजाताधिपति प्रत्यय के 'प्रत्यनीक' धर्म होते हैं।

आधिपत्य करके उन्हें प्रभावित करने में समर्थ शक्ति आ जाती है। उस शक्ति को ही 'सहजाताधिपति शक्ति' कहते हैं। इसी प्रकार वीर्य, वीमंसा एवं चित्त नामक अधिपतिप्रत्ययों के विषय में भी जानना चाहिये। (इन चारों में से एक कालविशेष में एक ही अधिपतिप्रत्यय हो सकता है[1]।

यहाँ प्रश्न होता है कि सप्तम परिच्छेद में कथित नय के अनुसार जब 'चित्तवतो किं नाम न सिज्झति' आदि पूर्वाभिसंस्कार से उत्साहित किये गये धर्म ही अधिपति-प्रत्यय हो सकते हैं तो फस्स, वेदना — आदि धर्म भी उसी तरह उत्साहित कर देने पर क्यों 'अधिपति' नहीं हो सकते ?

उत्तर — उत्साहित करने पर भी सभी धर्म उत्साहसम्पन्न नहीं हो सकते, स्वभाव से उत्साह होने योग्य बीज होने पर ही वे उत्साहित करने पर उत्साह को प्राप्त होते हैं। जैसे — स्वभावतः जड़ (मन्द) छात्र गुरु द्वारा पुनः पुनः उत्साहित किया जाने पर भी तीव्र (तीक्ष्ण) नहीं हो पाता, यदि कुछ होता भी है, तो भी वह यथेष्ट नहीं हो पाता; उसी तरह स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना — आदि धर्म पूर्वाभिसंस्कार द्वारा उत्साहित किये जाने पर भी शक्तिसम्पन्न नहीं होते, अर्थात् स्पर्श की स्पार्शन शक्ति, वेदना एवं संज्ञाओं की अनुभवन एवं संज्जानन शक्ति स्पष्टतया बृंहित नहीं हो सकतीं। चेतना नामक धर्म की भी शक्ति अपने आप वृद्ध (बृंहित) नहीं होगी, छन्द चित्त, वीर्य एवं वीमंसा धर्मों के तीक्ष्ण होने पर ही चेतना तीक्ष्ण होती है। जैसे — स्वभावतः तीक्ष्णता नामक बीजवाला छात्र थोड़ा सा उत्साहित कर दिये जाने पर शीघ्र आगे बढ़ (उठ) जाता है, अर्थात् तीक्ष्ण हो जाता है, उसी तरह स्वभावतः तीक्ष्णता नामक बीजवाले छन्द, वीर्य — आदि भी पूर्वाभिसंस्कार द्वारा उत्साहित किये जाने पर अधिपति हो जाने तक शक्ति-सम्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार पूर्वाभिसंस्कार के कारण शक्ति के होने एवं न होने से स्पर्श आदि धर्मों को 'अधिपति' न कहकर छन्द — आदि को ही 'अधिपति' कहते हैं।

---

१. इसका कारण सप्तम परिच्छेद 'अधिपति एको व लब्भति' की व्याख्या में देखें।

प्रत्यय – 'जब अधिपति प्रत्यय से उपकार करते हैं तब' – इस वचन का मोहमूल एवं हसितोत्पाद से अतिरिक्त कामजवनों से अभिप्राय है। कामजवन नामस्कन्ध में आनेवाले छन्द, वीर्य, वीमंसा एवं कामजवनचित्त कभी कभी अधिपतिप्रयय होते हैं। इसलिये जब वे अधिपतिप्रत्यय से उपकार करते हैं, तब अधिपतिप्रत्यय होते हैं तथा जब अधिप्रत्यय से उपकार नहीं करते, तब वे अधिपतिप्रत्यय नहीं होते। 'सर्वदा अधिपतिप्रत्यय से उपकार करने वाले' – इस वचन का अर्पणाजवनों से अभिप्राय है। अर्पणाजवन नामस्कन्ध में होनेवाले छन्द, वीर्य, वीमंसा एवं चित्त में से कोई एक सर्वदा अधिपतिप्रत्यय से उपकार करता है।

'५२ साधिपतिजवन नामक नामस्कन्ध में होनेवाले छन्द, वीर्य, वीमंसा' – इसमें अधिपति के साथ होनेवाले जवन 'साधिपतिजवन' कहे गये हैं तथा चित्त-चैतसिक नामक नामस्कन्ध भी जवन कहे जाते हैं। अतः '५२ साधिपतिजवन नामक नामस्कन्ध' कहा गया है। इस कथन के अनुसार यहाँ ५२ साधिपतिजवनों में होनेवाले छन्द, वीर्य एवं वीमंसा – इस भेद से ३ अधिपतिधर्म ही प्राप्त होते हैं, चित्ताधिपति नहीं। इसलिये '५२ साधिपतिजवन नामक चित्त' – इस प्रकार आगे कहा गया है। '३ या ४ अधिपति धर्म स्वरूपों में से कोई एक' यहाँ ३ संख्या का वीमंसा-अधिपति नहीं होनेवाले अकुशलजवन एवं ज्ञानविप्रयुक्तजवनों से अभिप्राय है। (जवन का अधिपति होना तथा मोहमूल एवं हसितोत्पाद का वर्जन करना – इस के बारे में सप्तम परिच्छेद की व्याख्या देखें।)

प्रत्ययोत्पन्न – 'जब अधिपतिप्रत्यय से उपकार प्राप्त करते हैं, तब एवं सर्वदा अधिपतिप्रत्यय से उपकार प्राप्त करनेवाले' – इस वाक्य को '५२ साधिपतिजवन, ५१ चैतसिक एवं साधिपति चित्तजरूप' से सम्बद्ध करना चाहिये। उनमें से 'जब अधिपतिप्रत्यय से उपकार प्राप्त करते हैं, तब' इससे कामजवन चित्त, चैतसिक एवं चित्तज रूपों का ग्रहण होता है। तथा 'सर्वदा अधिपतिप्रत्यय से उपकार प्राप्त करनेवाले' – इससे अपर्णाजवन चित्त, चैतसिक, एवं चित्तज रूपों का ग्रहण होता है। 'अधिपतिस्वरूपवर्जित साधिपतिजवन ५२, चैतसिक ५१' कहने में छन्दाधिपति से उपकार करते समय छन्द प्रत्ययोत्पन्न में गृहीत नहीं होता, अतः उसका वर्जन किया गया है। उसी प्रकार वीर्य, वीमंसा एवं चित्त अधिपतिप्रत्यय होते समय वे प्रत्ययोत्पन्न में गृहीत नहीं हो सकते, अतः उनका भी वर्जन किया गया है। जब उपकार करते हैं, तब प्रत्ययोत्पन्न से वर्जित किये जाते हैं, जब उपकार नहीं करते, तब प्रत्ययोत्पन्न में आ जाते हैं, अतः उनकी संख्या कम नहीं होती, अतः '५२ साधिपतिजवन एवं विचिकित्सावर्जित चैतसिक ५१' – इस प्रकार कहा गया है। मोहमूलद्वय के साधिपति जवन में न आने से उन से ही सम्प्रयुक्त विचिकित्सा का वर्जन किया गया है। अधिपतिप्रत्यय को प्राप्त करनेवाले चित्त से उत्पन्न रूपों को 'साधिपति चित्तज रूप' कहा गया है।

प्रत्यनीक – 'जब अधिपतिप्रत्यय से उपकार प्राप्त नहीं करते तब' इससे अधिपतिप्रत्यय से कभी कभी उपकार प्राप्त करनेवाले लोभमूल, द्वेषमूल, महाकुशल, महाक्रियाजवन एवं उन जवनों से सम्प्रयुक्त चैतसिकों का अभिप्राय है। वे धर्म जब अधिपतिप्रत्यय से उपकार

अनन्तर एवं समनन्तर प्रत्यय

४. **अनन्तरप्रत्यय की त्रिराशि**—'अनन्तरपच्चयो' इस प्रत्ययोद्देश में तीन स्वरूप होते हैं, यथा—प्रत्यय, प्रत्ययोत्पन्न एवं प्रत्यनीक। इनमें से अर्हतों के च्युतिवर्जित पूर्व पूर्व ८९ चित्त और ५२ चैतसिक—ये धर्म अनन्तर-प्रत्यय से उपकार करनेवाले 'प्रत्ययधर्म' हैं। अर्हतों की च्युति के साथ पश्चिम-पश्चिम ८९ चित्त एवं ५२ चैतसिक—ये धर्म अनन्तरप्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' धर्म हैं। चित्तजरूप, प्रतिसन्धि-कर्मजरूप, बाहिररूप, आहारज-रूप, ऋतुजरूप, असंज्ञिकर्मज रूप एवं प्रवृत्तिकर्मज रूप—ये धर्म अनन्तर-प्रत्यय के 'प्रत्यनीकधर्म' हैं।

५. समनन्तरप्रत्यय भी इसी प्रकार का है।

प्राप्त करते हैं, तब प्रत्ययोत्पन्न होते हैं, जब उपकार प्राप्त नहीं करते, तब प्रत्यनीक होते हैं 'सर्वदा उपकार प्राप्त नहीं करनेवाले' इससे अधिपतिप्रत्यय से सर्वदा उपकार प्राप्त न करनेवाले मोहमूल, अहेतुकक्रिया, कामविपाक, महग्गतविपाक एवं उन चित्तों से सम्प्रयुक्त चैतसिकों का अभिप्राय है। वे धर्म सर्वदा 'प्रत्यनीक' में गृहीत होते हैं।

'जब अधिपतिप्रत्यय से उपकार करते हैं, तब एवं सर्वदा उपकार करनेवाले ५२ साधिपतिजवन नामक नामस्कन्ध में विद्यमान ३ या ४ अधिपतिधर्मस्वरूपों में से कोई एक'—यह वाक्य प्रत्यय धर्मों में आनेवाले धर्मों का ही पुनः कथन करनेवाला वाक्य है। लोभमूल प्रथमचित्त में सम्प्रयुक्त छन्द जब प्रत्यय होता है, तब प्रत्ययोत्पन्न में नहीं आ सकता, अपितु प्रत्यनीक में ही आयेगा। इस प्रकार प्रत्यय होनेवाले १-१ धर्म प्रत्यनीक में आना चाहिये। अधिपति प्रत्यय को प्राप्त न होनेवाले चित्तों से उत्पन्न रूपों को 'निरधिपति चित्तजरूप' कहते हैं।

प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्न—लोभमूल प्रथम चित्त में १९ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं। वहाँ जब चित्त बहुत तीक्ष्ण होता है, तब चित्त अधिपतिप्रत्यय होता है तथा छन्द, वीर्य के साथ ये १९ चैतसिक एवं चित्तजरूप प्रत्ययोत्पन्न होते हैं। (यहाँ प्रत्यय में आने-वाला चित्त पुनः प्रत्यनीक में भी आ जाता है।) छन्द तीक्ष्ण होने पर वह छन्दाधिपति होता है तथा वीर्य तीक्ष्ण होने पर वह वीर्याधिपति होता है—इस प्रकार जानना चाहिये। ज्ञान से सम्प्रयुक्त महाकुशल आदि में जब ज्ञान तीक्ष्ण होता है, तब वह वीमंसा—अधिपति-प्रत्यय होता है—इस प्रकार अपने ज्ञान का विस्तार करके जान लेना चाहिये। प्रत्यय होनेवाले धर्म सर्वदा प्रत्यनीक में आते हैं।

सहजाताधिपतिप्रत्यय समाप्त।

४. **अनन्तरप्रत्यय**—अनन्तर में 'अन्तर' शब्द बीच (मध्य) के काल तथा पूर्व एवं अपर—इन दो चित्तों के बीच में स्थित एक धर्म—इस तरह दो अर्थों में होता है। इसमें अपरनय के अनुसार 'अन्तरयतीति अन्तरं' जो धर्म अन्तर (व्यवधान) करता है, उसे 'अन्तर' कहते हैं। 'नत्थि येस अन्तरं ति अनन्तरं' जिन धर्मों के बीच कोई अन्तर

नहीं है उन्हें 'अनन्तर' कहते हैं। इस विग्रह के अनुसार पूर्व एवं अपर इन दोनों को अनन्तर कहना चाहिये; किन्तु इस प्रकार का अन्तर न होना, पूर्वचित्त की शक्ति से ही सम्भव होने के कारण पूर्व-चित्त की शक्ति को ही 'अनन्तरप्रत्यय' कहते हैं।

पूर्व-पूर्व चित्तों द्वारा अपने निरोध के अनन्तर पुनः एक प्रकार के चित्त का उत्पाद करने में 'कोई भी एक चित्त हो जाए'—इस प्रकार का अनियमित रूप से उपकार नहीं किया जाता; अपितु वीथि परिच्छेद में कथित चित्त नियम के अनुसार चक्षुर्विज्ञान अपने अनन्तर सम्पटिच्छन्न उत्पन्न होने के लिये एवं सम्पटिच्छन्न अपने अनन्तर सन्तीरण उत्पन्न होने के लिये—इसी प्रकार अपने अनन्तर सम्बद्ध चित्त-चैतसिकों के ही उत्पाद के लिये नियमतः उपकार किया जाता है। अतः अपने अनन्तर उत्पन्न होने योग्य चित्तों को चित्त-नियम के अनुसार उत्पन्न करने में समर्थ पूर्व-पूर्व चित्तों की शक्ति को ही 'अनन्तरप्रत्यय' कहते हैं।

५. समनन्तरप्रत्यय—'सुट्ठु अनन्तरं ति समनन्तरं' जिनमें अधिक अन्तर नहीं होता—ऐसे धर्म या जिनमें अन्तरित (व्यवहित) करनेवाला कोई धर्म नहीं होता - ऐसे धर्मों को 'समनन्तर' कहते हैं। अर्थात् अधिक व्यवधान न होकर पश्चिम-चित्त का उत्पाद करने में समर्थ पूर्व-चित्त की शक्ति 'समनन्तरप्रत्यय' है। पूर्व-चित्त एवं अपर-चित्त—इस प्रकार द्विविध विभाजन करने पर भी पूर्व-चित्त के भङ्ग एवं पश्चिम-चित्त के उत्पाद के बीच में अन्तर (अवकाश) नहीं होने से अर्थात् एक चित्त की तरह ही होने से 'अधिक अन्तर नहीं होता—ऐसा कहा गया है।

जैसे—रूपधर्मों के ८ या ९ आदि कलापों के समूह के रूप में होने से उनका संस्थान अभिव्यक्त होता है, उनमें जिस तरह यह कलाप इस कलाप के ऊपर है, नीचे है, पूर्व है, पश्चिम है - इत्यादि प्रकार का विभाजन करने योग्य (कलापों के बीच बीच में) अन्तर (आकाश) होता है, उस तरह नाम-धर्मों में संस्थान नहीं होता तथा एक क्षण में २-३ चित्त भी युगपत् नहीं होते, अतः उनका उपर्युक्त प्रकार से विभाजन नहीं किया जा सकता; अपितु पूर्व एवं अपर चित्त एक ही तरह प्रतीत होने की भाँति सम्बद्ध होकर रहते हैं।

'तत्थ पुरिमपच्छिमानं निरोधुप्पादन्तराभावतो निरन्तरुप्पादनसमत्थता अनन्तरपच्चयो, रूपधम्मानं विय संठानाभावतो पच्चयपच्चयुप्पन्नानं सहावट्ठानाभावतो च 'इधमितो हेट्ठा उद्धं तिरियं' ति विभागाभावा अत्तना एकत्तमिव उपनेत्वा सुट्ठु अनन्तरभावेन उप्पादन-समत्थता समनन्तरपच्चयता'।"[1]

उपर्युक्त टीका-वाक्य अनन्तर एवं समनन्तर प्रत्ययों का शक्ति-भेद कहनेवाला वाक्य नहीं है; अपितु समनन्तर में 'सं' शब्द की वजह से विद्यमान अभिप्राय-विशेष दिखलानेवाला वाक्य है। अनन्तर एवं समनन्तर में धर्मस्वरूप, उपकार एवं शक्ति में कोई भेद नहीं होता। जैसे—रूप के उत्पाद को ही उपचय एवं सन्तति—इस तरह दो प्रकार से कहा जाता है, उसी तरह एक शक्ति को ही अनन्तर एवं सम-

१. पट्ठान मू० टी०, पृ० १७०।

नन्तर – इस तरह विनेयजन के अध्याशय के अनुसार दो प्रकार से कहा जाता है। इसलिये अट्ठकथा में भी कहा गया है कि –

"यो अनन्तरपच्चयो स्वेव समनन्तरपच्चयो, व्यञ्जनमेव हेत्थ नानं, उपचयसन्तति-आदीसु विय[1]।"

वादान्तर – आचार्य भदन्तरेवत 'अत्थानन्तरताय अनन्तरपच्चयो, कालानन्तरताय समनन्तरपच्चयो' किसी अर्थ (द्रव्य) का व्यवधान न होने से 'अनन्तरप्रत्यय' तथा काल का व्यवधान न होने से 'समनन्तरप्रत्यय' कहते हैं। इस प्रकार वे अनन्तर एवं समनन्तर प्रत्यय में भेद करते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि चक्षुर्विज्ञान के भङ्ग एवं सम्पटिच्छन्न के उत्पाद के बीच में किसी परमार्थ धर्म का व्यवधान न होते हुए चक्षुर्विज्ञान के द्वारा सम्पटिच्छन्न का उपकार करना ही 'अनन्तरशक्ति' है तथा चक्षुर्विज्ञान के भङ्गक्षण के अनन्तर काल का व्यवधान न होते हुए उसका सम्पटिच्छन्न के उत्पाद के लिये उपकार करने में समर्थ होना 'समनन्तरशक्ति' है। इस पर अट्ठकथाकार कहते हैं कि आचार्य का यह वचन 'निरोधसमापत्ति का पूर्ववर्ती नेवसञ्ञानासञ्ञायतन जवन समापत्ति के काल में कुछ व्यवधान होने पर भी फलजवन का समनन्तर-शक्ति से उपकार कर सकता है' – इस पालि से विरुद्ध होता है।

अट्ठकथा के अनुसार 'निरोध समापत्ति का समावर्जन करते समय पूर्वभाग का नेवसञ्ञानासञ्ञायतन जवन, समापत्ति से उठते समय फलजवन का, समापत्ति काल का व्यवधान होने पर भी किसी परमार्थ द्रव्य का व्यवधान न होने से अनन्तर एवं समनन्तर – इन दोनों शक्तियों से उपकार करता है तथा असंज्ञिभूमि में पहुँचने से पूर्व कामभूमि की च्युति, असंज्ञिभूमि में ५०० कल्प का व्यवधान होने पर भी असंज्ञिभूमि से फिर कामभूमि में होनेवाली प्रतिसन्धि का उपकार कर सकती है। इसलिये 'अनन्तर' एवं 'समनन्तर' में काल का व्यवधान न होना प्रधान नहीं; अपितु किसी परमार्थ द्रव्य का व्यवधान न होना ही अनन्तर-समनन्तर कहा जाता है। यहाँ अट्ठकथा के अनुसार अनन्तर में 'अन्तर' शब्द द्वारा व्यवधान करनेवाले द्रव्य का ही ग्रहण करना चाहिये, बीच के काल का नहीं[2]।

मूलटीकावाद – मूलटीकाचार्य का कहना है कि काल यह परमार्थधर्मों की उत्पत्ति की अपेक्षा करके व्यवहृत प्रज्ञप्तिमात्र है, निरोधसमापत्ति का समावर्जन काल एवं असंज्ञिभूमि का उत्पत्तिकाल – यह नामधर्मों की उत्पत्तिरूप नामकाल नहीं है; अपितु रूपधर्मों की उत्पत्तिरूप काल है। नामधर्मों के अन्योन्य सम्बन्ध में नामकाल का व्यवधान है कि नहीं? – इस पर विचार करना चाहिये। नैवसंज्ञानासंज्ञायतन जवन एवं फल जवन तथा असंज्ञिसत्त्व की पूर्व-च्युति एवं पश्चिम प्रतिसन्धि – इनमें नाम-काल का व्यवधान नहीं है। इस प्रकार नामकाल का व्यवधान न होना ही 'अनन्तर' है – इस प्रकार मूलटीकाकार द्वारा भदन्तरेवत के वाद का समर्थन करते हुए व्याख्या की गई है[3]। यहाँ

---

१. पट्ठान अ०, पृ० ३४६।
२. पट्ठान अ०, पृ० ३४६।
३. पट्ठान मू० टी०, पृ० १७०।

मूलटीका के अनुसार काल का व्यवधान न होना एवं किसी एक द्रव्य का व्यवधान न होना – इन दोनों को अनन्तर एवं समनन्तर कहा गया है।

यहाँ प्रश्न होता है कि निरोधसमापत्ति के काल में एवं असंज्ञिभूमि भूमि में उत्पत्ति के काल में रूपधर्म उत्पन्न होते रहते हैं। वे रूपधर्म नैवसंज्ञानासंज्ञायतनजवन एवं फलजवनों का तथा असंज्ञी की पूर्व-च्युति एवं अपर प्रतिसन्धियों का व्यवधान करके स्थित रहते हैं कि नहीं ?

उत्तर – रूप-सन्तति एवं नाम-सन्तति स्वभाव से ही पृथक् पृथक् होती हैं, इसलिये रूप-धर्म नामधर्मों की सन्तति में व्यवधान नहीं कर सकते। इसीलिये जैसे– पूर्व-पूर्व जवन पश्चिम-पश्चिम जवनों का एवं पूर्व-पूर्व भवङ्ग पश्चिम-पश्चिम जवनों का उपकार करते हैं, वैसे ही नैवसंज्ञानासंज्ञायतन-जवन फल-धर्मों का तथा असंज्ञिभमि में पहुँचने से पूर्व की च्युति (असंज्ञिभूमि से लौटकर) पश्चिम कामप्रतिसन्धि का, कोई व्यवधान न होते हुए एक सन्तति होने के लिये उपकार कर सकती है।

प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्न – अर्हत् की च्युति के अनन्तर उपकार करने के लिये कोई चित्त अवशिष्ट न होने से प्रत्यय में अर्हत् के च्युति चित्त का वर्जन किया गया है। च्युति से पूर्व जवनों या भवङ्गों के द्वारा अर्हतों के च्युति चित्त का उपकार किया जाने से प्रत्ययोत्पन्न में अर्हत् के च्युति चित्त का समावेश किया गया है।

प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्न की उत्पत्ति – वीथि-सन्तति को देखकर सम्प्रयुक्त चैतसिकों के साथ पञ्चद्वारावर्जन 'प्रत्यय' सम्प्रयुक्त चैतसिकों के साथ चक्षुर्विज्ञान 'प्रत्ययोत्पन्न' – इस प्रकार तदालम्बनपर्यन्त जानना चाहिये। द्वितीय तदालम्बन चित्तोत्पाद 'प्रत्यय' प्रथम भवङ्ग चित्तोत्पाद 'प्रत्ययोत्पन्न' प्रथम भवङ्ग 'प्रत्यय' द्वितीयभवङ्ग चित्तोत्पाद 'प्रत्ययोत्पन्न' – इस प्रकार जान लेना चाहिये। निरोधसमापत्तिकाल में समावर्जन का पूर्ववर्ती नैव-संज्ञानासंज्ञायतन कुशल या क्रिया जवन चित्तोत्पाद 'प्रत्यय', समापत्ति से उठते समय अनागामी फल-जवन या अर्हत् फल-जवन 'प्रत्ययोत्पन्न'; पूर्वभव का च्युति चित्तोत्पाद 'प्रत्यय', वर्तमान भव का प्रतिसन्धि-चित्त 'प्रत्ययोत्पन्न' तथा असंज्ञिभूमि में पहुँचने से पहले कामभूमि का च्युति चित्तोत्पाद 'प्रत्यय', (असंज्ञिभूमि से च्युत होकर) कामभूमि में पुनः प्रतिसन्धि-चित्तोत्पाद 'प्रत्ययोत्पन्न' – इस प्रकार जब तक परिनिर्वाण नहीं होता, तब तक पूर्व-पूर्व चित्त चैतसिकों के द्वारा पश्चिम-पश्चिम चित्त-चैतसिकों का अनन्तर-समनन्तर शक्ति से उपकार किया जाता है। रूपधर्म उस प्रकार उपकार को प्राप्त न होने से सर्वदा 'प्रत्यनीक' ही होते हैं।

अनन्तर-समनन्तरप्रत्यय समाप्त।

सहजातप्रत्यय

६. **सहजातप्रत्यय की त्रिराशि**—'सहजातपच्चयो' इस प्रत्ययोद्देश में दो स्वरूप होते हैं, यथा—प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न। उनमें से अन्योन्य का, अन्योन्य नामस्कन्ध, चित्तजरूप एवं प्रतिसन्धिकर्मजरूप का उपकार करनेवाले सभी ८९ चित्त एवं ५२ चैतसिक नामक प्रवृत्ति-प्रतिसन्धि नामस्कन्ध ४, अन्योन्य का एवं उपादाय रूपों का उपकार करनेवाले चित्तज, प्रतिसन्धिकर्मज, बाहिर, आहारज, ऋतुज, असंज्ञिकर्मज एवं प्रवृत्ति कर्मज—इस प्रकार सभी ४ महाभूत, अन्योन्य उपकार करनेवाले पञ्चवोकार प्रतिसन्धि नामस्कन्ध एवं हृदयवस्तु—ये धर्म सहजातशक्ति से उपकार करनेवाले 'प्रत्यय' धर्म होते हैं।

अन्योन्य की अपेक्षा करके सभी ८९ चित्त एवं ५२ चैतसिक नामक प्रवृत्ति-प्रतिसन्धि ४ नामस्कन्ध, उपादाय रूपों के साथ सभी ४ महाभूत, पञ्चवोकार प्रतिसन्धि नामस्कन्ध की अपेक्षा करके हृदयवस्तु, हृदयवस्तु की अपेक्षा करके पञ्चवोकार प्रतिसन्धि नामस्कन्ध—ये धर्म सहजात प्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' धर्म होते हैं। (यहाँ प्रत्यनीक नहीं हैं)।

---

६. **सहजातप्रत्यय**—'जायतीति जातो, सह जातो सहजातो' जो उत्पन्न होता है, वह 'जात' है तथा जो साथ उत्पन्न होता है, उसे 'सहजात' कहते हैं। जैसे—दीपक अपने उत्पाद के साथ प्रकाश होने के लिये उपकार करता है, उसी तरह अपने उत्पाद के साथ प्रत्ययोत्पन्न धर्मों के उत्पाद के लिये उपकार करने में समर्थ शक्ति 'सहजात-प्रत्यय' है। इस प्रकार सहजात के रूप में उपकार करने में सहोत्पन्न सभी धर्मों में सहजातशक्ति नहीं हो सकती। अर्थात् सहोत्पन्न चित्त-चैतसिक अन्योन्य, महाभूत अन्योन्य, प्रतिसन्धि नामस्कन्ध एवं हृदयवस्तु अन्योन्य—सहजातशक्ति से उपकार कर सकते हैं, किन्तु एक साथ उत्पन्न रूपधर्म अपने उपकारक धर्मों का सहजात शक्ति से उपकार नहीं, कर सकते।

नामस्कन्ध एवं रूप—यहाँ अन्योन्य का, अन्योन्य नामस्कन्ध, चित्तजरूप एवं प्रतिसन्धिकर्मजरूप का उपकार करनेवाले ८९ चित्त एवं ५२ चैतसिक नामक प्रवृत्ति-प्रतिसन्धि नामस्कन्ध ४—यह वाक्य अभिधम्मत्थसङ्गह के 'चेतचैतसिका धम्मा अञ्ञमञ्ञं सहजातरूपानञ्च' का अनुवादमात्र है। इस वाक्य में चित्त-चैतसिक धर्मों को ही चार नामस्कन्ध कहा गया है। वह नामस्कन्ध प्रवृत्तिनामस्कन्ध एवं प्रतिसन्धिनामस्कन्ध इस तरह दो प्रकार का होता है। उसमें से प्रतिसन्धिनामस्कन्ध अन्योन्य का एवं सहोत्पन्न प्रतिसन्धिकर्मज रूपों का उपकार करते हैं। प्रवृत्तिनामस्कन्ध अन्योन्य का एवं सहोत्पन्न चित्तजरूपों का उपकार करते हैं। ऊपर त्रिराशि में 'अन्योन्य का, अन्योन्य-नामस्कन्ध, चित्तजरूप एवं प्रतिसन्धि कर्मजरूप का'—इस प्रकार दो वाक्य कहे गये हैं। इनमें से पहले वाक्य का चतुवोकार भूमि में होनेवाले नामस्कन्ध एवं पञ्चवोकारभूमि में रूपधर्मों का उत्पाद करने में असमर्थ चतुर्विज्ञान-आदि नामस्कन्ध से अभिप्राय है।

दूसरे वाक्य का पञ्चवोकारभूमि में होने प्रतिसन्धिनामस्कन्ध एवं रूपधर्मों का उत्पाद करने में समर्थ प्रवृत्तिनामस्कन्ध से अभिप्राय है। यहाँ 'अन्योन्य' शब्द से नामस्कन्ध का परस्पर उपकार करना कहा गया है।

पहले वाक्य के अनुसार प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्न की उत्पत्ति इस प्रकार है – चतुवोकारभूमि में प्रतिसन्धिकाल में अरूपविपाकचित्त एवं ३० चैतसिक नामक प्रतिसन्धि नामस्कन्ध के उत्पाद में विज्ञानस्कन्ध 'प्रत्यय' एवं शेष ३ नामस्कन्ध 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं, शेष नामस्कन्ध 'प्रत्यय' एवं विज्ञानस्कन्ध 'प्रत्ययोत्पन्न'; वेदनास्कन्ध 'प्रत्यय' 'एवं शेष नामस्कन्ध 'प्रत्ययोत्पन्न'; शेष नामस्कन्ध 'प्रत्यय' एवं वेदनास्कन्ध 'प्रत्ययोत्पन्न' – इसी प्रकार एक-एक स्कन्ध 'प्रत्यय' एवं अवशिष्ट ३-३ स्कन्ध 'प्रत्ययोत्पन्न' तथा ३-३ स्कन्ध 'प्रत्यय' एवं एक-एक स्कन्ध 'प्रत्ययोत्पन्न' तथा २ स्कन्ध 'प्रत्यय' एवं दो स्कन्ध 'प्रत्ययोत्पन्न' – इस प्रकार अन्योन्य उपकार करते हैं। चतुवोकारभूमि में प्रवृत्तिकाल में एवं पञ्चवोकारभूमि में रूप का उत्पाद करने में असमर्थ चक्षुर्विज्ञान-आदि के उत्पादकाल में भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

दूसरे वाक्य के अनुसार प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्न की उत्पत्ति इस प्रकार है – पञ्चवोकारभूमि में प्रतिसन्धिकाल में सम्बद्ध प्रतिसन्धि चित्त - चैतसिक नामक नामस्कन्ध एवं कर्मज रूप के उत्पाद में विज्ञानस्कन्ध 'प्रत्यय' एवं शेष ३ नामस्कन्ध एवं कर्मजरूप-'प्रत्ययोत्पन्न,' शेष ३ नामस्कन्ध 'प्रत्यय' एवं विज्ञानस्कन्ध और कर्मजरूप 'प्रत्ययोत्पन्न' – इस प्रकार १ स्कन्ध 'प्रत्यय' एवं ३ स्कन्ध और कर्मजरूप 'प्रत्ययोत्पन्न,' ३ स्कन्ध 'प्रत्यय' एवं १ स्कन्ध और कर्मजरूप 'प्रत्ययोत्पन्न' तथा २ स्कन्ध 'प्रत्यय' एवं २ स्कन्ध और कर्मज-रूप 'प्रत्ययोत्पन्न' – इस प्रकार अन्योन्य उपकार करते हैं। (कर्मजरूप प्रत्ययोत्पन्न ही होते हैं, प्रत्यय नहीं।) प्रवृत्तिकाल में लोभमूल प्रथमचित्त-चैतसिक नामक नामस्कन्ध एवं उस चित्त से उत्पन्न चित्तजरूप के उत्पाद में विज्ञानस्कन्ध 'प्रत्यय' एवं शेष तीन स्कन्ध एवं चित्तजरूप 'प्रत्ययोत्पन्न' – इसी प्रकार सभी चित्तों के बारे में जानना चाहिये

महाभूत एवं उपादायरूप – 'अन्योन्य का एवं उपादायरूपों का उपकार करनेवाले चित्तजरूप, प्रतिसन्धिकर्मज...सभी ४ महाभूत' – यह वाक्य अभिधम्मत्थसङ्गह के 'महाभूता अञ्ञमञ्ञं उपादारूपानञ्च' का अनुवादमात्र है। इस वाक्य के अनुसार ४ महाभूत अन्योन्य उपकार करते हैं एवं अपने साथ एक कलाप में उत्पन्न उपादायरूपों का भी उपकार करते हैं। चित्तजरूप एवं प्रतिसन्धि कर्मजरूप आदि का चित्तज महाभूत एवं प्रतिसन्धिकर्मज महाभूत-आदि महाभूतों से ही अभिप्राय है। यहाँ 'सभी महाभूत' – इस प्रकार एक नाम रखना चाहिये था; किन्तु 'पट्ठान' पालि. के अनुसार चित्तज एवं प्रतिसन्धिकर्मज-आदि पृथक्-पृथक् कहे गये हैं।

प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्न – चित्तज रूपकलाप में ८ या ९ रूप उत्पन्न होते हैं। उनमें आनेवाली पृथ्वीधातु जब 'प्रत्यय' होती है, तब शेष तीन महाभूत एवं उपादायरूप 'प्रत्ययोत्पन्न' होते हैं। जब शेष महाभूत 'प्रत्यय' होते हैं, तब पृथ्वी धातु एवं उपादायरूप 'प्रत्ययोत्पन्न' होते हैं। इसी तरह जब एक धातु 'प्रत्यय' होती है, तब शेष तीन धातु एवं उपादायरूप 'प्रत्ययोत्पन्न' होते हैं। जब दो धातु 'प्रत्यय' होती है, तब शेष दो धातु एवं

उपादायरूप 'प्रत्ययोत्पन्न' होते हैं – इसी प्रकार अन्य महाभूतों के बारे में भी जानना चाहिये। यहाँ महाभूत ही अन्योन्य उपकार कर सकते हैं। उपादायरूप कभी भी 'प्रत्यय' नहीं होते, वे सर्वदा 'प्रत्ययोत्पन्न' ही होते हैं। इसी प्रकार प्रतिसन्धिकाल में कायदशक-कलाप आदि, बहिद्धा रूपों में ऋतुजकलाप एवं आहारजकलाप, अज्झत्त रूपों में ऋतुजकलाप, असंज्ञिकर्मजकलाप एवं प्रवृत्तिकर्मजकलापों में आनेवाले महाभूत एवं उपादायरूपों के बारे में भी जानना चाहिये।

प्रतिसन्धि नामस्कन्ध एवं हृदयवस्तु – 'अन्योन्य उपकार करनेवाले पञ्चवोकार प्रतिसन्धि नामस्कन्ध एवं हृदयवस्तु' – यह वाक्य 'अभिधम्मत्थसङ्गहो' के 'पटिसन्धिक्खणे वत्थुविपाका अञ्ञमञ्ञं' – इस पालि का अनुवादमात्र है। उपर्युक्त कथन के अनुसार पञ्चवोकारभूमि में प्रतिसन्धि चित्त-चैतसिक तथा कर्मजकलाप में हृदयवस्तु होती है। उसमें जब प्रतिसन्धि चित्त-चैतसिक नामक ४ नामस्कन्ध 'प्रत्यय' होते हैं, तब हृदयवस्तु 'प्रत्ययोत्पन्न' होती हैं। जब हृदयवस्तु 'प्रत्यय' होती है, तब प्रतिसन्धि नामस्कन्ध 'प्रत्ययो-त्पन्न' होते हैं। इसी प्रकार पञ्चवोकार भूमि के सत्त्वों के प्रतिसन्धिकाल में प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्न का भेद जानना चाहिये।

उपर्युक्त वचनों के अनुसार त्रिविध सहजात प्रत्यय जानना चाहिये।

१. अन्योन्य का, अन्योन्य नामस्कन्ध, चित्तजरूप एवं प्रतिसन्धिकर्मजरूप का उपकार करनेवाले ४ नामस्कन्ध।

२. अन्योन्य का एवं उपादायरूपों का उपकार करनेवाले ४ महाभूत।

३. अन्योन्य का उपकार करनेवाले प्रतिसन्धिनामस्कन्ध एवं हृदयवस्तु।

इस प्रकार सहजातप्रत्यय त्रिविध होते हैं। इसलिये 'तिविधो होति सहजात-पच्चयो'[1] – ऐसा कहा गया है।

प्रत्ययोत्पन्न – अन्योन्य की अपेक्षा करके सभी ८९ चित्त एवं ५२ चैतसिक नामक प्रवृत्तिप्रतिसन्धि ४ नामस्कन्ध' – इस वाक्य में ४ नामस्कन्ध अन्योन्य की अपेक्षा करके 'प्रत्ययोत्पन्न' होते हैं, जैसे– –विज्ञानस्कन्ध यदि 'प्रत्यय' होता है, तो उस विज्ञानस्कन्ध की अपेक्षा करके शेष ३ नामस्कन्ध 'प्रत्ययोत्पन्न' होते हैं। जब शेष ३ नामस्कन्ध 'प्रत्यय' होते हैं, तो उनकी अपेक्षा करके विज्ञानस्कन्ध 'प्रत्ययोत्पन्न' होता है – इस प्रकार अन्योन्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

'उपादायरूपों के साथ सभी ४ महाभूत' – यहाँ 'सभी' शब्द द्वारा चित्तज महाभूत, प्रतिसन्धिकर्मज महाभूत, बाह्य महाभूत, ऋतुज महाभूत, असंज्ञिकर्मज महाभूत एवं प्रवृत्तिकर्मज महाभूत – इस प्रकार सभी महाभूत अभिप्रेत हैं। वे महाभूत अन्योन्य की अपेक्षा करके 'प्रत्ययोत्पन्न' होते हैं, जैसे – जब पृथ्वीमहाभूत 'प्रत्यय' होता है, तब उस महाभूत की अपेक्षा करके शेष ३ महाभूत 'प्रत्ययोत्पन्न' होते हैं। इसी प्रकार अन्य महाभूतों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये। उपादायरूप सर्वदा प्रत्ययोत्पन्न ही होते हैं। इसलिये 'सभी उपादायरूप' – ऐसा न कहने पर भी सभी उपादायरूपों का ग्रहण करना चाहिये।

---

१. द्र० – अभि० स० ८:२९ पृ० ८४५।

अन्योन्यप्रत्यय

७. **अन्योन्यप्रत्यय की त्रिराशि** – 'अञ्ञमञ्ञपच्चयो' – इस प्रत्ययोद्देश में तीन स्वरूप होते हैं, यथा – प्रत्यय, प्रत्ययोद्देश एवं प्रत्यनीक। इनमें से अन्योन्य का उपकार करनेवाले ८९ चित्त एवं ५२ चैतसिक नामक प्रवृत्ति प्रतिसन्धि ४ नामस्कन्ध, अन्योन्य का उपकार करनेवाले चित्तज, प्रतिसन्धि-कर्मज, बाहिर, आहारज, ऋतुज, असंज्ञिकर्मज एवं प्रवृत्तिकर्मज – इस प्रकार सभी ४ महाभूत, अन्योन्य का उपकार करनेवाले पञ्चवोकार प्रतिसन्धि नामस्कन्ध और हृदयवस्तु – ये धर्म अन्योन्यप्रत्यय से उपकार करनेवाले धर्म होते हैं। अन्योन्य की अपेक्षा करके ८९ चित्त एवं ५२ चैतसिक-नामक प्रवृत्ति-प्रतिसन्धि ४ नामस्कन्ध, अन्योन्य की अपेक्षा करके चित्तज, प्रतिसन्धिकर्मज, बाहिर, आहारज, ऋतुज, असंज्ञिकर्मज एवं प्रवृत्तिकर्मज रूप – इस प्रकार सभी ४ महाभूत, पञ्चवोकार प्रतिसन्धि नामस्कन्ध की अपेक्षा करके हृदयवस्तु, हृदयवस्तु की अपेक्षा करके पञ्चवोकार प्रतिसन्धि नामस्कन्ध – ये धर्म अन्योन्य प्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' धर्म होते हैं। नाम-स्कन्ध की अपेक्षा करके चित्तजरूप, (हृदयवस्तु वर्जित) प्रतिसन्धिकर्मज-रूप, ४ महाभूतों की अपेक्षा करके चित्तज, प्रतिसन्धिकर्मज, बाहिर, आहारज, ऋतुज, असंज्ञिकर्मज, प्रवृत्तिकर्मज, एवं उपादायरूप – ये धर्म अन्योन्य प्रत्यय के 'प्रत्यनीक' धर्म होते हैं।

'पञ्चवोकार प्रतिसन्धि नामस्कन्ध की अपेक्षा करके हृदयवस्तु एवं हृदयवस्तु की अपेक्षा करके पञ्चवोकार प्रतिसन्धि नामस्कन्ध' – यह वाक्य सुस्पष्ट है। 'अञ्ञमञ्ञपच्चय' (अन्योन्यप्रत्यय) के प्रत्ययोत्पन्न में भी यही वाक्य आयेगा।

प्रत्यनीक – इस सहजातप्रत्यय में सभी संस्कृत धर्मों के प्रत्ययोत्पन्न में आजाने से 'प्रत्यनीक' के लिये कोई संस्कृतधर्म अवशिष्ट नहीं है। यद्यपि निर्वाण एवं प्रज्ञप्ति अवशिष्ट हैं; तथापि कारण से उत्पन्न कार्यनामक प्रत्ययोत्पन्न में असंस्कृत निर्वाण एवं प्रज्ञप्ति के न आने से वे धर्म प्रत्यनीक में संगृहीत नहीं हो सकते।

सहजातप्रत्यय समाप्त।

७. **अन्योन्यप्रत्यय** – 'अञ्ञमञ्ञं हुत्वा पच्चयो अञ्ञमञ्ञपच्चयो' अन्योन्य अर्थात् परस्पर उपकार करनेवाली शक्ति 'अन्योन्यप्रत्यय' है। जैसे किसी तिपाई के तीन पाद अन्योन्य का उपकार करके स्थित रहते हैं, यदि उनमें से एक पाद भी टूट जाता है, तो अवशिष्ट दो पाद तिपाई के स्थित होने के लिये उपकार नहीं कर सकते। उसी प्रकार सहोत्पन्न धर्मों का अन्योन्य उपकार करने में समर्थ शक्ति 'अन्योन्यप्रत्यय' है।

प्रत्यय – 'अन्योन्य का उपकार करने वाले ८९ चित्त' – आदि तीन (प्रत्यय-सम्बन्धी) वाक्य अभिधम्मत्थसङ्गह की 'चित्तचेतसिका धम्मा अञ्ञमञ्ञं, महाभूता अञ्ञमञ्ञं, पटिसन्धिक्खणे वत्थुविपाका अञ्ञमञ्ञं ति च तिविधो अञ्ञमञ्ञपच्चयो" इस पालि के अनुवादमात्र हैं।

इसमें प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न की उत्पत्ति सहजातप्रत्यय की भाँति है।

प्रत्यनीक – नामस्कन्ध की अपेक्षा करके चित्तजरूप, (हृदयवस्तुवर्जित) प्रतिसन्धि कर्मजरूप' – यहाँ प्रवृत्तिकालिक पञ्चवोकार भूमि में चित्त-चैतसिक एवं चित्तजरूपों के उत्पन्न होने में नामस्कन्ध अन्योन्य प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्न होते हैं, चित्तजरूप प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्न में सम्मिलित नहीं होते। उन सहोत्पन्न नामस्कन्ध की अपेक्षा करके चित्तज-रूप प्रत्यनीक हो जाते हैं। पञ्चवोकार प्रतिसन्धिकाल में प्रतिसन्धि नामस्कन्ध एवं कर्मजरूपों के उत्पन्न होने में ४ नामस्कन्ध अन्योन्य प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्न होते हैं। उस प्रतिसन्धि नामस्कन्ध के साथ उत्पन्न (हृदयवस्तुवर्जित) अन्य कर्मज रूप अन्योन्यप्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न में सम्मिलित न हो सकने के कारण 'प्रत्यनीक' हो जाते हैं। हृदय-वस्तु प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न – दोनों में हो सकती है।

जैसे – जब प्रतिसन्धि नामस्कन्ध 'प्रत्यय' होते हैं, तब हृदयवस्तु 'प्रत्ययोत्पन्न' और जब हृदयवस्तु 'प्रत्यय' होती है, तब ४ प्रतिसन्धि नामस्कन्ध 'प्रत्ययोत्पन्न' होते हैं। इस प्रकार हृदयवस्तु प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न दोनों में सम्मिलित हो सकती है।

'४ महाभूतों की अपेक्षा करके चित्तज, प्रतिसन्धिकर्मज' आदि वाक्य में चित्तज उपादायरूप, प्रतिसन्धिकर्मज उपादायरूप-आदि को जानना चाहिये। जब चित्तजकलाप होते हैं, तब ४ महाभूत अन्योन्य प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न होते हैं। उन महाभूतों की अपेक्षा करके सहोत्पन्न उपादायरूप प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न में नहीं आते; वे केवल 'प्रत्यनीक' ही होते हैं। प्रतिसन्धिकर्मज उपादाय रूप-आदि में भी कर्मजकलाप में महाभूत अन्योन्य प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न होते हैं। उन कर्मज महाभूतों की अपेक्षा करके सहोत्पन्न उपादाय-रूप 'प्रत्यनीक' हो जाते हैं – इस प्रकार जानना चाहिये।

उपर्युक्त कथन के अनुसार चित्त-चैतसिक धर्म चित्तजरूपों के प्रति सहजातशक्ति (प्रत्यय) होने पर भी अन्योन्यशक्ति नहीं हैं। महाभूत उपादायरूपों के प्रति सहजात-शक्ति होने पर भी अन्योन्यशक्ति नहीं है। इस प्रकार सहजातशक्ति का क्षेत्र अति विस्तृत एवं अन्योन्य-शक्ति का क्षेत्र अल्प होने से जब वे सहजातप्रत्यय होते हैं, तब अन्योन्य प्रत्यय नहीं हो सकते। अत एव मूलटीका में कहा गया है कि "सहजाताधिपच्चयो होन्तो येव हि कोचि अञ्ञमञ्ञपच्चयो न होति[2]।"

अन्योन्यप्रत्यय समाप्त।

---

१. द्र० – अभि० स० ८ : १० पृ० ८४६।

२. पट्ठान मू० टी०, पृ० १७१।

निश्रयप्रत्यय

८. **निश्रयप्रत्यय की त्रिराशि**—'निस्सयपच्चयो' इस प्रत्ययोद्देश में निश्रयप्रत्यय सहजातनिश्रय एवं पुरेजातनिश्रय—इस प्रकार द्विविध होता है। इनमें से सहजातनिश्रय सहजातप्रत्यय के सदृश होता है। पुरेजातनिश्रय भी वस्तुपुरेजातनिश्रय एवं वस्त्वालम्बन पुरेजातनिश्रय—इस प्रकार द्विविध होता है।

---

८. **निश्रयप्रत्यय**—'निस्सयन्ति एत्था ति निस्सयो'—जिस प्रत्ययधर्म में प्रत्ययोत्पन्न-धर्म आश्रय करके रहते हैं, वह प्रत्ययधर्म 'निश्रय' है। जैसे—पृथ्वी वृक्ष-आदि का अधिष्ठानाकार के रूप में उपकार करती है, उसी तरह कुछ प्रत्ययोत्पन्नधर्मों का अधिष्ठानाकार के रूप में उपकार करने में समर्थशक्ति 'निश्रयप्रत्यय' है। अथवा—जैसे चित्रपट्ट चित्र का निश्रयाकार के रूप में उपकार करता है, उसी तरह कुछ प्रत्ययोत्पन्न धर्मों का निश्रयाकार के रूप में उपकार करने में समर्थ शक्ति 'निश्रयप्रत्यय' है। यहाँ अधिष्ठानाकार के रूप में उपकार करना—इस वचन का पृथ्वीधातु एवं चक्षुर्वस्तु-आदि ६ वस्तुरूपों से अभिप्राय है। निश्रयाकार के रूप में उपकार करना—इस वचन का पृथ्वीधातु से अवशिष्ट ३ महाभूत एवं चित्त-चैतसिक नामक नामस्कन्ध से अभिप्राय है। इसलिये निश्रयशक्ति से उपकार का योगी के ज्ञान द्वारा विचार करने पर चक्षुर्वस्तु-आदि ६ वस्तुरूपों एवं पृथ्वीधातु का उपकार करना (वृक्षों की आधारभूत पृथ्वी की तरह) प्रत्ययोत्पन्न धर्मों के अधिष्ठानाकार के रूप में प्रतिभासित होता है। शेष ३ महाभूत एवं नाम धर्मों का उपकार करना (चित्र का उसके निश्रयभूत चित्रपट्ट की तरह) निश्रयाकार के रूप में प्रतिभासित होता है।

"तरुआदीनं पठवी विय अधिट्ठानाकारेन पठवीधातु सेसधातूनं चक्खादयो च चक्खुविञ्ञाणादीनं उपकारका, चित्तकम्मस्स पटादयो विय निस्सयाकारेन खन्धादयो तंतं-निस्सयानं खन्धादीनं[1]।"

सहजातनिस्सय—उपर्युक्त सहजात प्रत्ययधर्म ही अधिष्ठान नामक निश्रयशक्ति होने से 'सहजात निश्रय' कहलाते हैं। जैसे पृथ्वी महाभूत शेष महाभूत एवं उपादाय रूपों का अधिष्ठान भी होती है और सहजात भी होती है; शेष ३ महाभूत पृथ्वी महाभूत एवं उपादाय रूपों का निश्रय भी होते हैं एवं सहजात भी होते हैं—इस प्रकार आश्रयस्वभाव धर्म ही सहजातशक्ति होते हैं। केवल सहजात होने मात्र से कोई धर्म सहजात-शक्ति नहीं हो सकते, अतः महाभूत के साथ उत्पन्न उपादायरूप एवं चित्त-चैतसिक नाम-स्कन्ध के साथ उत्पन्न चित्तजरूप एवं प्रतिसन्धि कर्मजरूप अधिष्ठान एवं निश्रयस्वभाव न होने के कारण सहजात प्रत्यय न होकर प्रत्ययोत्पन्न ही होते हैं। इस प्रकार किसी एक प्रत्यय की शक्ति का अन्य सदृश प्रत्ययों की शक्ति से तुलना करने पर यथाभूत ज्ञान हो सकता है।

---

१. पट्ठान मू० टी०, पृ० १७१।

क. वस्तुपुरेजातनिश्रय – वस्तुपुरेजातनिश्रय में तीन स्वरूप होते हैं। यथा – प्रत्यय, प्रत्ययोत्पन्न एवं प्रत्यनीक।

उनमें से प्रवृत्तिकालिक ६ वस्तु – ये धर्म वस्तुपुरेजातनिश्रय शक्ति से उपकार करनेवाले 'प्रत्यय' धर्म होते हैं।

अथवा – मन्दायुक, अमन्दायुक एवं मध्यमायुक – इस प्रकार इन त्रिविध चक्षुर्वस्तुओं में से मध्यमायुक होते हुए एक बार अतीत हुए अतीत-भवङ्ग के साथ उत्पन्न चक्षुर्वस्तु, मन्दायुक, अमन्दायुक एवं मध्यमायुक – इस प्रकार त्रिविध कायवस्तुओं में से मध्यमायुक होते हुए एक बार अतीत हुए अतीत भवङ्ग के साथ उत्पन्न कायवस्तु, प्रतिसन्धि – आदि पूर्व-पूर्व चित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु, निरोधसमापत्ति से उठते समय पूर्वकालिक एक चित्तक्षण काल में उत्पन्न हृदयवस्तु, मरणासन्न काल में च्युतिचित्त से पूर्ववर्त्ती सत्रहवें चित्त के साथ उत्पन्न ६ वस्तु – ये धर्म वस्तुपुरेजातनिश्रय प्रत्यय से उपकार करनेवाले धर्म होते हैं।

प्रवृत्तिकाल में जब पञ्चवोकारभूमि में उत्पन्न होते हैं, तब एवं सर्वदा उत्पन्न होनेवाले ४ अरूपविपाकवर्जित सप्त विज्ञानधातु एवं ५२ चैतसिक – ये धर्म वस्तुपुरेजातनिश्रय प्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' धर्म होते हैं। जब चतुवोकारभूमि में होते हैं, तब एवं सर्वदा होनेवाले लोभमूलचित्त ८, मोह-मूल २, मनोद्वारावर्जन १, महाकुशल ८, महाक्रिया ८, अरूपावचरचित्त १२, स्रोतापत्ति मार्गवर्जित लोकोत्तरचित्त ७, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य एवं अप्पमञ्ञावर्जित चैतसिक ४६, पञ्चवोकारप्रतिसन्धि १५, चैतसिक ३५, चित्तजरूप, प्रतिसन्धिकर्मजरूप, बाहिररूप, आहारजरूप, ऋतुजरूप, असंज्ञिकर्मजरूप एवं प्रवृत्तिकर्मज रूप – ये धर्म वस्तुपुरेजातनिश्रय प्रत्यय के 'प्रत्यनीक' धर्म होते हैं।

क. वस्तुपुरेजातनिश्रय – जो धर्म 'वस्तुरूप' भी होते हैं, प्रत्ययोत्पन्न धर्मों के उत्पाद से पूर्व उत्पन्न होने से 'पुरेजात' भी होते हैं एवं अधिष्ठान नामक निश्रय-शक्ति भी होते हैं, वे धर्म ही वस्तुपुरेजातनिश्रय प्रत्यय से उपकार कर सकते हैं, अतः चक्षुर्वस्तु – आदि ६ वस्तुरूप ही 'वस्तुपुरेजातनिश्रय शक्ति' होते हैं। [केवल प्रत्ययोत्पन्न धर्मों के उत्पाद से पहले उत्पन्न होनेमात्र से उन्हें पुरेजातनिश्रयप्रत्यय नहीं समझना चाहिये; अपितु अत्थिपच्चय (अस्तिप्रत्यय) के 'पुरेजातत्थि' में परिगणित होने से पूर्व उत्पन्न होकर अस्तिस्वभाव से स्थितिक्षण में विद्यमान (अनिरुद्ध) धर्मों को ही 'पुरेजात' मानना चाहिये।]

प्रत्यय – प्रथम नय में 'प्रवृत्तिकालिक ६ वस्तु' कहकर उसका विस्तार दिखलाने के लिये 'अथवा' ऐसा कहा गया है। उनमें से चक्षुर्वस्तु-आदि ५ वस्तुरूप, प्रतिसन्धिक्षण

में चक्षुर्विज्ञान-आदि का उपकार नहीं कर सकते । प्रतिसन्धिचित्त के साथ उत्पन्न हृदय-वस्तु भी प्रथम भवङ्ग के उत्पादक्षण में पहुँचने पर (प्रवृत्तिकाल में) ही उपकार कर सकती है । इस प्रकार ६ वस्तुएँ प्रवृत्तिकाल में ही सम्बद्ध चित्तों का उपकार करने में समर्थ होने से प्रथमनय में 'प्रवृत्तिकालिक ६ वस्तु' – ऐसा कहा गया है ।

मध्यमायुक होते हुए एक बार अतीत हुए अतीतभवङ्ग के साथ उत्पन्न चक्षुर्वस्तु –

'चक्षुर्द्वारवीथि में जब चक्षुर्विज्ञान का उत्पाद होता है, तब स्थिति क्षण में विद्यमान ४९ चक्षुःप्रसाद होते हैं' – इस प्रकार 'वीथिसमुच्चय' में कहा जा चुका है। उन ४९ प्रकार के चक्षुःप्रसादों में से सर्व प्रथम अतीत भवङ्ग के साथ उत्पन्न चक्षुःप्रसाद यदि चक्षुर्द्वारिक वीथि के आलम्बन की अपेक्षा करता है, तो वह आलम्बन के न तो पहले और न पीछे ही निरुद्ध होता है; अपितु उस आलम्बन के साथ (युगपत्) निरुद्ध होता है, अतः इसे 'मध्यमायुक-चक्षुःप्रसाद' कहते हैं । उन ४९ प्रकार के प्रसादों में इसके अति बलवान् होने से चक्षुर्विज्ञान इस 'मध्यमायुकचक्षुःप्रसाद' का ही आश्रय करता है – इस प्रकार कहा जाता है । पूर्ववर्ती आचार्य उस सर्वप्रथम अतीत भवङ्ग के साथ उत्पन्न चक्षुः प्रसाद को 'वस्तुपुरेजातनिश्रयप्रत्यय' एवं चक्षुर्विज्ञान को वस्तुपुरेजात-निश्रयप्रत्यय का 'प्रत्ययोत्पन्न' कहते हैं। इस प्रकार वे वस्तुपुरेजातनिश्रयशक्ति से उपकार करने के लिये सर्वप्रथम अतीत भवङ्ग के साथ उत्पन्न एक चक्षुर्वस्तु का ही प्रत्यय के रूप में निर्धारण करते हैं।

'चक्षुर्विज्ञान चक्षुर्वस्तु का आश्रय करता है' – इस कथन में सामान्यतः एक वस्तु के ऊपर दूसरी वस्तु के स्थित होने की तरह चक्षुर्विज्ञान चक्षुर्वस्तु के ऊपर स्थित होता है – इस प्रकार भ्रम हो सकता है, वस्तुतः स्थिति इस प्रकार की नहीं है; अपितु 'आचार्य का आश्रय करके शिष्य रहते हैं' – इस कथन में जैसे आचार्य के न होने पर शिष्य नहीं रह सकते, आचार्य के आश्रय (अवलम्ब) से ही शिष्य रह सकते हैं – उसी प्रकार चक्षुर्वस्तु के न होने पर चक्षुर्विज्ञान नहीं हो सकता; चक्षुर्वस्तु का आश्रय करके ही चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न एवं स्थित हो सकता है – ऐसा समझना चाहिये । अत एव 'चक्षुर्वस्तु चक्षुर्विज्ञान का आश्रय है' – इस प्रकार कहा गया है । अन्य वस्तुओं का आश्रय करनेवाले अन्य विज्ञानों के बारे में भी ऐसा ही समझना चाहिये ।

"तंनिस्सयता चस्स न एकदेसेन अल्लियनवसेन इच्छितब्बा अरूपभावतो; अथ खो गुरुराजादीसु सिस्सराजपुरिसादीनं विय तप्पटिबद्धवुत्तिताय"[1] –

इस महाटीका के अनुसार जब चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है, तब स्थितिक्षण में विद्यमान ४९ प्रकार की चक्षुर्वस्तुओं में से कोई भी वस्तु (सभी वस्तु) चक्षुर्विज्ञान की आश्रयभूत निश्रयशक्ति होगी ही । वे चक्षुर्वस्तुयें चक्षुर्विज्ञान के उत्पाद के पहले उत्पन्न होने से 'पुरेजात' भी होती हैं तथा स्थितिक्षण में अतिबलवान् होकर विद्यमान रहने से 'पुरेजातत्थि' भी होती हैं, अतः केवल एक मध्यमायुक चक्षुःप्रसाद का ही निर्धारण न कर ४९ प्रकार के चक्षुःप्रसाद या उनमें से कोई एक वस्तुपुरेजातनिश्रयप्रत्यय है तथा चक्षुर्विज्ञान उस निश्रयप्रत्यय का प्रत्ययोत्पन्न है – इस प्रकार कहा जा सकता है । ऐसा कहने पर किसी विरोधी

१. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १२४।

प्रमाण के न होने से 'मन्दायुक, अमन्दायुक एवं मध्यमायुक' – ऐसा भेद करना तथा केवल एक मध्यमायुक चक्षु:प्रसाद को ही चक्षुर्विज्ञान का आश्रय कहना युक्तियुक्त नहीं है अथ। च– एक चक्षु:प्रसाद ही चक्षुर्विज्ञान का वस्तुपुरेजातनिश्रयशक्ति से उपकार कर सकता है – इस प्रकार का मत आधुनिक आचार्य स्वीकार नहीं करते।

अपि च – 'रूप परिच्छेद' में कथित नय के अनुसार जब कर्मजकलाप उत्पन्न होते हैं, तब एक-एक क्षण में अनेक कलाप उत्पन्न होते हैं। चक्षु:प्रसादों के उत्पत्ति-स्थान चक्षु:पिण्ड के कृष्णभाग में भी करोड़ों चक्षु:प्रसाद उत्पन्न होते हैं। उन में कुछ उत्पाद, कुछ स्थिति तथा कुछ भङ्ग क्षण में – इस प्रकार वे नाना प्रकार से स्थित होते हैं। इस लिये अतीत भवङ्ग के साथ उत्पन्न चक्षु:प्रसाद भी अनेक होते हैं। यहाँ प्रश्न यह होता है कि पूर्ववर्ती आचार्यों के अनुसार यदि एक मध्यमायुक चक्षु:प्रसाद को ही चक्षुर्विज्ञान का आश्रय कहा जाता है – तो अतीत भवङ्ग के साथ उत्पन्न अनेक चक्षु:वस्तुओं में से चक्षुर्विज्ञान किस वस्तु का आश्रय करेगा? तथा यदि यह कहा जाय कि 'जिस एक प्रसाद में रूपालम्बन प्रादुर्भूत होता है, उसका आश्रय करता है' – तो ऐसा कहने पर भी वस्तुस्थिति यह है कि 'एक प्रसाद में आलम्बन प्रादुर्भूत नहीं हो सकता' – यह हम वीथिपरिच्छेद में कह चुके हैं। अतः 'मध्यमायुक एक चक्षुर्वस्तु ही वस्तुपुरेजातनिश्रयप्रत्यय होता है' – पूर्वाचार्यों का यह मत पालि, अट्ठकथा एवं मूलटीका-आदि से अप्रमाणित होने से 'जब चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है, तब स्थितिक्षण में विद्यमान अनेक चक्षुर्वस्तुएँ वस्तुपुरेजातनिश्रयशक्ति होती हैं' – यह नि:सन्देह मानना चाहिये। श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एवं कायवस्तुओं के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

प्रतिसन्धि-आदि पूर्व-पूर्व चित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु – प्रतिसन्धि चित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु जब प्रथम भवङ्ग का उत्पाद होता है, तब स्थितिक्षण में पहुँच जाती है, इसलिये वह हृदयवस्तु 'वस्तुपुरेजातनिश्रय-प्रत्यय' है। प्रतिसन्धि के अनन्तर प्रथम-भवङ्ग वस्तुपुरेजातनिश्रयप्रत्यय का 'प्रत्ययोत्पन्न है' इसी प्रकार (जब तक मरणासन्नकाल नहीं होता, तब तक) पूर्व-पूर्व चित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु 'प्रत्यय' (द्विपञ्चविज्ञान से अतिरिक्त अन्य) पश्चिम-पश्चिम चित्त 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं। इसीलिये कहा गया है कि –

'पटिसन्धिचित्तस्स उप्पादक्खणे उप्पन्नं ठानप्पत्तं पुरेजातं वत्थुं निस्साय ततियं भवङ्गं उप्पज्जति, इमिना व नयेन यावतायुकं चित्तप्पवत्ति वेदितब्बा'[1]।"

विचारणीय – 'पश्चिम-पश्चिम चित्त पूर्व-पूर्व चित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करता है' – इस वचन में अति बलवान् वस्तु का निर्धारण किया गया है – ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार निर्धारण करने में पूर्व-पूर्व चित्त के उत्पाद के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु, पूर्व-पूर्व चित्त की स्थिति के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु एवं भङ्ग के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु – ये तीन प्रकार की हृदयवस्तुएँ जब पश्चिम-पश्चिम-चित्तों का उत्पादक्षण होता है, तब स्थितिक्षण में विद्यमान रहती हैं। इन तीनों में से स्थिति एवं भङ्ग क्षण के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय न करके क्यों पूर्वचित्त के

---

१. विसु० पृ० ४३४।

उत्पाद के साथ उत्पन्न हृदय का आश्रय करता है ? तथा यदि अति बलवान् वस्तु का निर्धारण करना है, तो पूर्वचित्त के भङ्ग के साथ उत्पन्न होकर स्थितिक्षण में पहुँची हुई नवीन हृदयवस्तु का ही निर्धारण क्यों नहीं किया जाता ? अपिच – जब पश्चिम-पश्चिम चित्त का उत्पाद होता है, तब स्थितिक्षण में विद्यमान तीन प्रकार की हृदयवस्तुओं के अतिरिक्त ४६ हृदयवस्तुएँ और अवशिष्ट रहती हैं। ये ४९ प्रकार की हृदयवस्तुएँ भी ४९ क्षण में उत्पाद की अपेक्षा से परिगणित वस्तुएँ हैं। एक-एक क्षण में एक-एक का उत्पाद होता है, तो अनेक वस्तुरूपों का युगपद् उत्पाद् हो सकने से जब पश्चिम-पश्चिम चित्तों का उत्पाद होता है, तब स्थितिक्षण में विद्यमान ४९ प्रकार के ऐसे वस्तु-रूप भी अनेक होंगे। वे अनेक वस्तुएँ 'वस्तु' भी होती हैं, और 'पुरेजात' भी होती हैं, तों क्यों ये निश्रयशक्ति नहीं होती ? ये कुछ प्रश्न विद्वानों द्वारा विचारणीय हैं।

निरोधसमापत्ति से उठते समय पूर्वकालिक एक चित्तक्षणकाल में उत्पन्न हृदयवस्तु – जब निरोधसमापत्ति से उठा जाता है, तब सर्वप्रथम अनागामि-फलजवन या अर्हत् फलजवन होता है। उन जवनों के पूर्व निरोधसमापत्ति के काल में चित्त नहीं होते, अतः 'पूर्व-पूर्व चित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु' – इस प्रकार न कहकर 'पूर्वकालिक एक चित्तक्षणकाल में उत्पन्न हृदयवस्तु' – ऐसा कहा गया है।

मरणासन्नकाल...६ वस्तु – 'मरणकाले पन चुतिचित्तोपरि सत्तरसमचित्तस्स ठिति-कालमुपादाय कम्मजरूपानि न उप्पज्जन्ति'[1] – इस पालि के अनुसार च्युतिचित्त की अपेक्षा से पूर्ववर्ती १७ वें चित्त के उत्पादक्षण में अन्तिम ६ वस्तुएँ होती हैं। उसके बाद उस भव में वस्तुरूप नहीं होते, अतः 'च्युतिचित्त से ऊर्ध्व १६ वें चित्त से लेकर च्युतिपर्यन्त सभी चित्त पूर्ववर्ती सत्रहवें चित्त के साथ उत्पन्न अन्तिम वस्तुरूप का ही आश्रय करते हैं। (कुछ लोग 'सत्रहवें चित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु' – ऐसा कहते हैं – यह विचारणीय है।)

प्रत्ययोत्पन्न – पञ्चवोकारभूमि में ही वस्तुरूप होते हैं, अतः प्रत्ययोत्पन्न धर्म पञ्चवो-कार भूमि में होनवाले धर्म ही होंगे। 'जब पञ्चवोकारभूमि में उत्पन्न होते हैं, तब' इस वाक्य का चतुवोकारभूमि में होनेवाले लोभमूलचित्त-आदि ४२ चित्तों से अभिप्राय है। 'सर्वदा उत्पन्न होनवाले' – इस वाक्य का पञ्चवोकारभूमि में ही सर्वदा उत्पन्न होकर चतुवोकारभूमि में कभी न होनेवाले द्वेषमूल-आदि ४३ चित्तों से अभिप्राय है। ४ अरूपविपाक पञ्चवोकार-भूमि में न होने से वर्जित किये गये हैं।

प्रत्यनीक – चतुवोकारभूमि में वस्तुरूपों का आश्रय न कर उत्पन्न होने से चतुवोकार भूमि के चित्त-चैतसिक 'प्रत्यनीक' ही होते हैं। यहाँ 'जब चतुवोकार-भूमि में होते हैं तब' – इस वाक्य का पञ्चवोकारभूमि में भी होनेवाले लोभमूल आदि चित्तों से अभिप्राय है। 'सर्वदा होनेवाले' – इस वाक्य का चतुवोकारभूमि में ही सर्वदा होने-वाले ४ अरूपावचरविपाक चित्तों से अभिप्राय है। चतुवोकार भूमि में होनेवाले सभी चित्त सत्त्वप्रज्ञप्ति का आलम्बन नहीं करते, अतः चैतसिकों में से अप्पमञ्ञाओं का वर्जन किया गया है। द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य एवं कौकृत्य – इनका उनसे सम्प्रयुक्त द्वेषमूलचित्तों के

१. द्र० – अभि० स० ६ : ५८ की व्याख्या पृ० ७१४।

ख. वस्त्वालम्बन पुरेजातनिश्रय – वस्त्वालम्बन पुरेजातनिश्रयप्रत्यय में तीन स्वरूप होते हैं, यथा – प्रत्यय, प्रत्ययोत्पन्न एवं प्रत्यनीक। इनमें से मरणासन्न काल में च्युतिचित्त से ऊपर (पूर्व) गणना करने पर सत्रहवें चित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु – यह धर्म वस्त्वालम्बन पुरेजातनिश्रय शक्ति से उपकार करने वाला धर्म है। मरणासन्न काल में मनोद्वारावर्जन, कामजवन २९, तदालम्बन ११, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, विरति एवं अप्पमञ्ञावर्जित चैतसिक ४६ – ये धर्म वस्त्वालम्बन पुरेजातनिश्रय प्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' धर्म हैं। जब वस्त्वालम्बन पुरेजातनिश्रयप्रत्यय को प्राप्त नहीं होते, तब एवं सर्वदा प्राप्त न होनेवाले ८९ चित्त, ५२ चैतसिक, चित्तजरूप, प्रतिसन्धिकर्मज रूप, बाहिररूप, आहारजरूप, ऋतुजरूप, असंज्ञिकर्मजरूप एवं प्रवृत्ति कर्मजरूप – ये धर्म धर्म वस्त्वालम्बन पुरेजातनिश्रयप्रत्यय के 'प्रत्यनीक' धर्म होते हैं।

न होने से वर्जन किया गया है। विरतियाँ मार्ग एवं फल चित्तों में भी सम्प्रयुक्त होती हैं, अतः वर्जित नहीं की गयीं। पञ्चवोकार प्रतिसन्धि चित्त-चैतसिक अपने साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करते हैं, अतः वह हृदयवस्तु पुरेजात न होकर 'सहजात' होने से 'पच्चनीक' में सङ्गृहीत की गयी है।

वस्तुपुरेजातनिश्रयप्रत्यय समाप्त।

ख. प्रत्यय – जो धर्म वस्तुरूप भी होता है, प्रत्ययोत्पन्न धर्मों का आलम्बन भी होता है, प्रत्ययोत्पन्नधर्मों के उत्पाद से पहले उत्पन्न होकर स्थितिक्षण में विद्यमान भी होता है एवं निश्रयशक्ति से आश्रय भी होता है, वह धर्म हृदयवस्तु ही है, इसलिये यहां हृदयवस्तु ही 'प्रत्यय' होती है; किन्तु कुछ लोग केवल मरणासन्न हृदयवस्तु का ही ग्रहण करके प्रकृतिकालिक हृदयवस्तु का ग्रहण नहीं करना चाहते। दूसरे लोग दोनों का ग्रहण करना चाहते हैं। उनमें से प्रथम आचार्यों के मतानुसार जो चित्त जिस हृदयवस्तु का आश्रय करता है, वह चित्त उस हृदयवस्तु का ही आलम्बन करेगा। ऐसा होने पर हृदयवस्तु निश्रय भी होती है और आलम्बन भी होती है और इस प्रकार लक्षण से अनुकूल होती है। मरणासन्नकाल में मनोद्वारावर्जन-आदि चित्त च्युतिचित्त से ऊर्ध्व १७ वें चित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करते हैं। अपनी प्रत्युत्पन्न हृदयवस्तु का आलम्बन करके अनित्य – आदि की भावना करके यदि सौमनस्य होकर, दौर्मनस्य होकर या औद्धत्य होकर मरणासन्न जवन होते हैं, तो वे मनोद्वारावर्जन – आदि वीथिचित्त उस अन्त में उत्पन्न हृदयवस्तु का ही आलम्बन करेंगे – इस प्रकार एक धर्म का निश्रय एवं आलम्बन – दोनों होना केवल एक मरणासन्न हृदयवस्तु में ही सम्भव है। अर्थात् केवल मरणासन्न हृदयवस्तु ही आश्रयवस्तु एवं आलम्बन दोनों हो सकती है। प्राकृतकाल (जो मरणासन्न काल नहीं है) में पूर्व-पूर्व उत्पन्न हृदयवस्तु का पश्चिम-पश्चिम चित्त आश्रय करते हैं। उस पूर्व-पूर्व चित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का पश्चिम-पश्चिम चित्त लगातार रूप से आलम्बन नहीं कर सकते। 'कर सकते हैं' – ऐसा कहने पर एक

वीथि में ही आलम्बन का भेद हो जायेगा और मनोद्वारावर्जन के द्वारा आवर्जित आलम्बन का पश्चिम-पश्चिम जवनों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता – ऐसा अर्थ हो जाएगा। जैसे – यदि पूर्व-पूर्व चित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय भी किया जा सकता है। और आलम्बन भी किया जा सकता है, तो भवङ्गोपच्छेद के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का मनोद्वारावर्जन के द्वारा आवर्जन किया जाकर, प्रथम जवन को मनोद्वारावर्जन के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आलम्बन करना पड़ेगा – इस प्रकार मनोद्वारावर्जन के द्वारा आलम्बन किये गये आलम्बन को जवन ग्रहण नहीं करेंगे, फलतः पूर्वचित्त का आलम्बन एवं पश्चिमचित्त का आलम्बन असदृश होगा। मार्गवीथि, फलसमापत्ति-वीथि-आदि विशिष्ट वीथियों के अतिरिक्त अन्य सामान्य वीथियों में इस प्रकार आवर्जन के आलम्बन का पुनः विना ग्रहण किये वीथिचित्त नहीं होते एवं वीथिचित्तों का भी आलम्बन भेद नहीं होता। इस प्रकार प्रकृतिकालिक हृदयवस्तु के निश्रय एवं आलम्बन दोनों युगपत् न हो सकने के कारण इस वस्त्वालम्बन पुरेजातनिश्रयप्रत्यय में मरणासन्न हृदयवस्तु का ही ग्रहण किया जाता है।

परमार्थदीपनी का मत – परमत्थदीपनीकार आदि दूसरे प्रकार के आचार्य कहते हैं कि 'प्रकृतिकाल में भी हृदयवस्तु कभी-कभी निश्रय एवं आलम्बन दोनों युगपत् हो सकती हैं'। उन आचार्यों का अभिप्राय यह है कि प्रत्युत्पन्न हृदयवस्तु का आलम्बन करके विपश्यना एवं सौमनस्य-आदि होते समय मनोद्वारावर्जन हृदयवस्तु का आवर्जन करता है और पश्चिम-पश्चिम जवन भी हृदयवस्तु का ही आलम्बन करते हैं। चीटियों की सन्तति के गमन करने की तरह सन्ततिप्रज्ञप्ति के रूप में 'एक' ही प्रतीयमान सम्बद्ध हृदयवस्तुसन्तति में 'यह उनकी हृदयवस्तु है, यह हमारी हृदयवस्तु है' – ऐसा विभाजन करके आलम्बन नहीं किया जा सकता। वस्तुतः मनोद्वारावर्जन से लेकर पीछे-पीछे के जवन सामान्य हृदयवस्तु का ही आश्रय करते हैं एवं आलम्बन करते हैं। इस प्रकार आश्रय भी हृदयवस्तु एवं आलम्बन भी हृदयवस्तु होने से प्रकृतिकालिक हृदयवस्तुएँ कभी-कभी 'वस्त्वालम्बन पुरेजातनिश्रय' हो सकती हैं। (मरणासन्न हृदयवस्तु प्रथमनय की भाँति ही है।)

प्रत्ययोत्पन्न – प्रत्ययोत्पन्न के बारे में भी कुछ मतभेद हैं। कुछ आचार्य उनमें अभिज्ञा को सम्मिलित करना चाहते हैं और कुछ आचार्य नहीं। उनमें से अभिज्ञा के ग्रहण में अनिच्छा प्रकट करनेवाले आचार्यों का मत है कि 'अभिज्ञा-वीथि मरणासन्न-वीथि नहीं हो सकती, यदि मरणासन्न-वीथि नहीं हो सकती है, तो अभिज्ञाचित्त हृदयवस्तु का आश्रय भी करता है एवं आलम्बन भी करता है – ऐसा युगपत् नहीं हो सकता।' किन्तु मरणासन्न अभिज्ञावीथि के बारे में वीथिसमुच्चय में कह दिया गया है, अतः इस मत का समर्थन नहीं किया जा सकता। अभिज्ञा का ग्रहण करनेवाले मत में 'किस अभिज्ञा का ग्रहण किया जायेगा' – इस प्रकार विचार करना चाहिये। दिव्यचक्षु-आदि अभिज्ञा प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन-आदि का ही आलम्बन करती हैं, अतः वे (अभिज्ञाचित्त) यहाँ गृहीत नहीं हो सकतीं। ऋद्धिविध अभिज्ञा अपने करजकाय का आलम्बन कर सकती है। करजकाय में हृदयवस्तु भी सम्मिलित है, इसलिये ऋद्धिविध अभिज्ञा का ही ग्रहण हो सकता

उपनिश्रयप्रत्यय

१. उपनिश्रयप्रत्यय की त्रिराशि – 'उपनिस्सयपच्चयो' इस प्रत्ययोद्देश में उपनिश्रयप्रत्यय आलम्बनोपनिश्रय, अनन्तरोपनिश्रय एवं प्रकृत्युपनिश्रय – इस तरह तीन प्रकार का होता है। इनमें से आलम्बनोपनिश्रय आलम्बनाधिपति के सदृश होता है और अनन्तरोपनिश्रय अनन्तरप्रत्यय के सदृश होता है। प्रकृत्युपनिश्रय में तीन स्वरूप होते हैं, यथा – प्रत्यय,

---

है। अपनी हृदयवस्तु का आलम्बन करके यदि मरणासन्न अभिज्ञा-वीथि होती है, तो मनोद्वारावर्जन, परिकर्म, उपचार, अनुलोम, गोत्रभू एवं अभिज्ञाचित्तों का आश्रय भी हृदयवस्तु एवं आलम्बन भी हृदयवस्तु होने से वे वस्त्वालम्बन पुरेजातनिश्रयप्रत्यय के प्रत्ययोत्पन्न हो सकते हैं। (परमत्थदीपनी के अनुसार प्रवृत्ति-अभिज्ञाजवन भी प्रत्ययोत्पन्न हो सकते हैं।)

उन आचार्यों के अनुसार जो कि अभिज्ञाजवन के साथ विद्यमान प्रवृत्तिकाल की हृदयवस्तु को भी 'प्रत्यय' मानते हैं, त्रिराशि को इस प्रकार बदलना पड़ेगा –

"जब निश्रय भी होती है एवं आलम्बन भी होती है, तब प्रत्युत्पन्न हृदयवस्तु वस्त्वालम्बन पुरेजातनिश्रयप्रत्यय से उपकारक धर्म होती है। वस्त्वालम्बन पुरेजातनिश्रय प्रत्यय से जब उपकार को प्राप्त होते हैं, तब मनोद्वारावर्जन, कामजवन २९, तदालम्बन ११, अभिज्ञाद्वय, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, विरति एवं अप्पमञ्ञावर्जित चैतसिक ४४ – ये धर्म वस्त्वालम्बन पुरेजातनिश्रयप्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' धर्म होते हैं।"

चैतसिकसम्प्रयोग में अपनी हृदयवस्तु का आलम्बन करके ईर्ष्या, मात्सर्य एवं कौकृत्य नहीं हो सकते। हृदयवस्तु व्यतिक्रमितव्य वस्तु नहीं होती एवं सत्त्वप्रज्ञप्ति भी व्यतिक्रमितव्य नहीं होती – इसलिये विरति एवं अप्पमञ्ञा हृदयवस्तु का आलम्बन नहीं कर सकतीं, अत एव ईर्ष्या-आदि का वर्जन किया गया है। 'जब उपकार को प्राप्त नहीं होते, तब' – इस वाक्य से कभी-कभी वस्त्वालम्बन पुरेजातनिश्रयशक्ति से उपकार प्राप्त करनेवाले मनोद्वारावर्जन आदि का अभिप्राय है। अर्थात् जब उपकार प्राप्त होते हैं, तब वे प्रत्ययोत्पन्न होते हैं तथा जब उपकार प्राप्त नहीं होते, तब 'प्रत्यनीक' होते हैं। 'सर्वदा उपकार प्राप्त न होनेवाले' – इस वाक्य का सर्वदा उपकार प्राप्त न होनेवाले द्विपञ्चविज्ञान, मनोधातुत्रय एवं अभिज्ञावर्जित अर्पणाजवनों से अभिप्राय है।

वस्त्वालम्बनपुरेजातनिश्रयप्रत्यय समाप्त।

निश्रयप्रत्यय समाप्त।

१. उपनिश्रय – जैसे उपायास में 'उप' शब्द 'अधिक' अर्थ में होता है, वैसे ही उपनिश्रय में प्रयुक्त 'उप' शब्द भी 'अधिक' अर्थ में होता है। 'भुसो निस्सयो उपनिस्सयो' अधिक निश्रय उपनिश्रय है। यहाँ सामान्य निश्रयशक्ति न होकर अत्यधिक निश्रयशक्ति ही 'उपनिश्रय' कहलाती है। यह उपनिश्रयप्रत्यय वृष्टि के समान कही जाती है। जैसे – वृष्टि, वृष्टि का आश्रय करके वृद्ध एवं पुष्ट होनेवाले वृक्षों एवं

प्रत्ययोद्देश एवं प्रत्यनीक। इनमें से बलवान् पूर्व-पूर्व ८९ चित्त, ५२ चैतसिक, २८ रूप एवं प्रत्यय होने योग्य कुछ प्रज्ञप्ति – ये धर्म प्रकृत्युपनिश्रय प्रत्यय से उपकार करनेवाले धर्म होते हैं। पश्चिम-पश्चिम चित्त ८९, चैतसिक ५२, – ये धर्म प्रकृत्युपनिश्रयप्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' धर्म होते हैं। चित्तजरूप, प्रतिसन्धिकर्मजरूप, बाहिररूप, आहारजरूप, ऋतुजरूप, एवं प्रवृत्तिकर्मजरूप – ये धर्म प्रकृत्युपनिश्रयप्रत्यय के 'प्रत्यनीक' धर्म होते हैं।

सत्त्वों की अत्यन्त उपकारक होती है, उसी तरह आलम्बन, अनन्तर एवं प्रकृत्युपनिश्रय-धर्म भी अपने से सम्बद्ध प्रत्ययोत्पन्न धर्मों के बलवान् निश्रयकारण होते हैं।

निश्रय एवं उपनिश्रय में भेद – मूलभूत निश्रयशक्ति 'उपनिश्रय' है। प्रत्ययोत्पन्न फलधर्मों के उत्पाद के समय उनकी अविनाभावरूप से कारणभूत निश्रयशक्ति 'निश्रय' है। जैसे – ओदन निष्पन्न होने के लिये धान (बीज), क्षेत्र (खेत), वृष्टि (जल) – ये मूलभूत निश्रय होते हैं। ओदन पकाने के पात्र (बर्तन), इन्धन (लकड़ी) एवं अग्नि-आदि उसके अविनाभावी कारणभूत निश्रय होते हैं। उसी तरह चक्षुर्विज्ञान विपाकचित्त उत्पन्न होते समय बलवान् कर्म मूलभूत निश्रय (उपनिश्रय) होते हैं। चक्षुर्वस्तु, चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होते समय अविनाभावी निश्रय होती है।

आलम्बनोपनिश्रय – सामान्य आलम्बन न हो कर लोभनीय आलम्बन एवं प्रीति, प्रश्रब्धि आदि के उत्पाद के लिये अत्यन्त रमणीय आलम्बन आलम्बनक चित्तों के उत्पाद के लिये महान् कारण होने से 'आलम्बनोपनिश्रयप्रत्यय' कहे जाते हैं। वे धर्म आलम्बनाधिपतिप्रत्यय से प्रत्यय, प्रत्ययोत्पन्न एवं प्रत्यनीक - सभी में समान होते हैं। केवल शक्तिमात्र विशेष होती है। जैसे – अपने से सम्बद्ध आलम्बनक चित्तोत्पादों को बिना आलम्बन न रहने देने के लिये आकृष्ट एवं प्रभावित करने में समर्थ शक्ति 'आलम्बनाधिपति शक्ति' है तथा आलम्बनक चित्तोत्पादों के उत्पाद के लिये अधिक निश्रय होनेवाले धर्म ही आलम्बनोपनिश्रयशक्ति हैं।

अनन्तरोपनिश्रय – अनन्तर प्रत्यय धर्म समूह ही पश्चिम-पश्चिम चित्तों के उत्पाद के लिये अत्यन्त आवश्यक निश्रयकारण होते हैं, अतः 'अनन्तरोपनिश्रय' कहलाते हैं। यहाँ केवल शक्तिमात्र का भेद होता है। जैसे – अपने अनन्तर यथायोग्य चित्तोत्पादों को उत्पन्न करने में समर्थ शक्ति 'अनन्तर शक्ति' है। पश्चिम पश्चिम चित्तों के उत्पाद के लिये महान् निश्रय कारण ही 'उपनिश्रय शक्ति' है। इस तरह धर्मस्वरूप में भेद न होने पर भी शक्तियों का नानात्व होने के कारण उन शक्तियों के अनुसार नाना प्रकार का नामकरण किया गया है।

प्रकृत्युपनिश्रय – 'पकत + उपनिस्सय' अथवा 'पकति + उपनिस्सय' – इस प्रकार द्विविध पदच्छेद किया जाता है। 'पकत' में 'प' शब्द 'भृश' अर्थ में होता है। यह भृश शब्द भी अधिक एवं सुष्ठु इत्यादि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। यहाँ भृश शब्द सुष्ठु का पर्याय है, अतः 'सुट्ठु करीयित्था ति पकतो' इस प्रकार विग्रह करना चाहिये। अर्थात् सुष्ठु कृत 'प्रकृत' है। मुख्यरूप से प्रत्ययोत्पन्न (फल)

धर्मों को उत्पन्न करने के लिये किये गये (कृत) को 'प्रकृत' कहते हैं। यहाँ 'कृत' में अपनी सन्तान में उत्पादित तथा आलम्बन के वश से अथवा समागम के वश से उपसेवित – ये दोनों अर्थ संगृहीत होते हैं। अतः 'पकतो उपनिस्सयो पकतूपनिस्सयो' – ऐसा विग्रह किया जाता है। अर्थात् सुष्ठु प्रकार से कृत बलवान् निश्रय कारण ही 'प्रकृत्युपनिश्रय' कहलाते हैं।

अथवा – 'पकतिया येव उपनिस्सयो पकतूपनिस्सयो' अर्थात् स्वभाव से बलवान् निश्रय कारण ही 'पकतूपनिस्सय' है। इस नय में आलम्बन शक्ति एवं अनन्तरशक्ति से असंसृष्ट स्वभावतः बलवान् एक प्रकार का कारण 'प्रकृति' कहा गया है। जैसे – सर्वप्रथम श्रद्धा उत्पन्न होने के अनन्तर उस श्रद्धा की अपेक्षा से पश्चिम-पश्चिम कुशल धर्मों के वृद्ध होने (बढ़ने) में पूर्ववर्ती श्रद्धा आलम्बनशक्ति या अनन्तरशक्ति नहीं होती; वह स्वभाववश ही पश्चिम-पश्चिम कुशल धर्मों की वृद्धि के लिये एक प्रकार का महान् कारण होती है। इसीलिये अट्ठकथा में भी कहा गया है कि –

"पकत्तिया येव वा उपनिस्सयो पकतूपनिस्सयो। आरम्मणानन्तरेहि असम्मिस्सो ति अत्थो[1]।"

यहाँ प्रकृत्युपनिश्रय का आलम्बन एवं अनन्तर प्रत्यय से बिलकुल असम्मिश्रण है – ऐसा नहीं समझना चाहिये; अपितु केवल आलम्बन एवं अनन्तर के स्वभाव से सम्मिश्रण नहीं है। स्वभाव (प्रकृति) से ही बलवान् कारण प्रकृत्युपनिश्रय हो सकते हैं। यदि आलम्बन एवं अनन्तर स्वभाव से सम्मिश्रण हो जाय तो, वे और अधिक बलवान् हो जायेंगे – ऐसा जानना चाहिये। इस प्रकार मानने पर मार्ग चेतना के द्वारा फल धर्मों का उपकार करने में वह अनन्तर एवं प्रकृति – दोनों प्रत्यय हो सकती है। इस प्रकार आगे कहे जानेवाले वाक्य से भी अनुकूल होगा।

प्रत्यय – यहाँ 'बलवान्' शब्द का अनेक बार प्रयोग किया गया है। यह शब्द चित्त, चैतसिक, रूप एवं प्रज्ञप्ति से सम्बद्ध है। वह उपनिश्रय में प्रयुक्त 'उप' शब्द के द्वारा अभिव्यक्त है। इसलिये अपनी अपेक्षा से अनन्तर काल में चित्त – चैतसिकों को उत्पन्न करने में सामर्थ्यमात्र को बलवान् नहीं कहा जाता; अपितु अत्यन्त तीक्ष्ण एवं बलवत्तर स्वभाव ही यहाँ 'बलवान्' कहा गया है। जैसे – कर्म दो प्रकार के होते हैं। १. अतिबलवान् कर्म एवं २. दुर्बल कर्म। उनमें जो कर्म दूसरे कर्मों द्वारा बाधित नहीं किये जा सकते, उन्हें 'बलवान् कर्म' कहते हैं तथा जो कर्म किसी कर्म द्वारा बाधित किये जाने पर नष्ट हो जाते हों, वे कर्म 'दुर्बल कर्म' हैं। इस दुर्बल कर्म का प्रकृत्युपनिश्रय से कोई सम्बन्ध नहीं है; अपितु बलवान् कर्म से ही सम्बन्ध है। 'प्रत्यय' होने योग्य कुछ प्रज्ञप्ति' – यहाँ अनेक प्रज्ञप्तियां होती हैं; फिर भी अशुभ प्रज्ञप्ति, कोट्ठासप्रज्ञप्ति एवं कसिणप्रज्ञप्ति – आदि कुछ प्रज्ञप्तियाँ प्रकृत्युपनिश्रय प्रत्यय नहीं हो सकतीं। केवल पुद्गल नामक सत्त्वप्रज्ञप्ति एवं सेनासन (शयनासन) आदि कुछ प्रज्ञप्तियाँ ही 'पुग्गलो सेनासनं' आदि द्वारा प्रकृत्युपनिश्रय कही जाती हैं, इसलिये प्रत्यय होने योग्य 'कुछ प्रज्ञप्तियाँ' – ऐसा कहा गया है। (प्रत्ययोत्पन्न एवं प्रत्यनीक में कोई कठिनता नहीं है।)

---

१. पट्ठान अ०, पृ० ३४८।

'रागादयो पन धम्मा सद्धादयो च सुखं दुक्खं पुग्गलो भोजनं उतु सेनासनञ्च यथा-रहं अज्झत्तञ्च बहिद्धा च कुसलादिधम्मानं, कम्मं विपाकानं ति च, बहुधा होति पकतू-पनिस्सयो'[1] ।

इस पालि में 'रागादयो... सेनासनञ्च' इससे प्रत्ययधर्मों का 'कुसलादिधम्मानं' इससे प्रत्ययोत्पन्न धर्मों का दिग्दर्शन कराया गया है तथा 'कम्मं' इससे प्रत्यय धर्मों का 'विपाकानं' इससे प्रत्ययोत्पन्न धर्मों का दिग्दर्शन कराया गया है । 'यथारहं अज्झत्तं च बहिद्धा च' इस पद को 'कुसलादिधम्मानं' इससे सम्बद्ध करके 'राग – आदि प्रत्यय धर्म अपनी सन्तान में विद्यमान कुशलादि धर्मों का एवं दूसरों की सन्तान में विद्यमान कुशलादि-धर्मों का यथायोग्य उपकार करते हैं – इस प्रकार जानना चाहिये ।

'रागादयो पन' इसमें 'आदि' शब्द से द्वेष, मोह, दृष्टि, प्रार्थना (पत्थना) – आदि अकुशल दुश्चरित धर्मों का ग्रहण करना चाहिये । 'सद्धादयो' में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से शील, श्रुत, त्याग, प्रज्ञा - आदि कुशल सुचरित धर्मों का ग्रहण करना चाहिये । सुख, दुःख, पुद्गल, भोजन, ऋतु, एवं शयनासन आदि पट्ठान में कथित 'प्रत्यय' हैं । यहाँ सुख, दुःख – आदि से निर्वाण से अतिरिक्त अव्याकृत धर्मसमूह एवं प्रत्यय होने योग्य कुछ प्रज्ञप्तियों का ग्रहण करना चाहिये ।

रागादि से कुशलादि की उत्पत्ति – सर्वप्रथम कामगुण धर्मों में आसक्तिमूलक राग उत्पन्न होता है । उस राग से मानव कामगुणों का भोग करने के लिये मनुष्यभूमि एवं देव-भूमि की प्राप्ति के कारणभूत कुशल कर्म करता है । उस राग के उपशम के लिये या उस राग का अशेष प्रहाण करने के लिये दान, शील एवं शमथ-विपश्यना भावना करता है । भावना करने से ध्यान, अभिज्ञा एवं मार्ग की प्राप्ति होती है । यह सब होने में राग 'प्रकृत्युपनिश्रय प्रत्यय' है । उपर्युक्त काम, महग्गत एवं लोकोत्तर कुशल प्रकृत्युपनिश्रय प्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्नधर्म' होते हैं ।

सर्वप्रथम राग उत्पन्न होकर उस राग से पीछे पीछे के राग वृद्ध होते (बढ़ते) हैं । उस राग के कारण अपने वश में न आनेवाले पुद्गलों के प्रति हिंसा, चौर्य, लुण्ठन – आदि कर्म करते समय पूर्व-पूर्व राग 'प्रकृत्युपनिश्रय प्रत्यय' होते हैं और पश्चिम-पश्चिम अकुशल प्रकृत्युपनिश्रय प्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' धर्म होते हैं ।

इस राग के कारण उत्पन्न कुशल-अकुशल धर्मों के विपाक का भोग करने में तथा उस राग का अशेष प्रहाण करने के लिये मार्ग की भावना करके फलचित्त एवं क्रियाचित्त होने में राग 'प्रत्यय' होते हैं । विपाक एवं क्रिया (अव्याकृत) 'प्रत्ययोत्पन्न' होते हैं ।

अपनी सन्तान में विद्यमान राग के प्रति दूसरों के उद्विग्न होने पर या किसी एक के राग को जानकर दूसरे में रागचित्त के उत्पन्न होने पर या इस राग को कारण बनाकर कुशल, अकुशल, विपाक एवं क्रिया के उत्पन्न होने पर अपना राग दूसरों में होनेवाले कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत (विपाक एवं किया) धर्मों का उपकार करते हैं । इस

---

१. द्र० – अभि० स०, पृ० ८४४ ।

प्रकार राग अपनी एवं दूसरों की सन्तान में कुशल, अकुशल एव अव्याकृत धर्मों का प्रकृत्युपनिश्रय शक्ति से उपकार कर सकते हैं। इसी प्रकार द्वेष-आदि का उपकार भी जानना चाहिये।

श्रद्धा-आदि से कुशलादि की उत्पत्ति – सर्वप्रथम श्रद्धा उत्पन्न होती है। उस श्रद्धा से मानव दान, शील-आदि मार्गपर्यन्त कुशलधर्मों का सम्पादन करता है। यहाँ श्रद्धा 'प्रकृत्युपनिश्रयप्रत्यय' है तथा दान-आदि कुशल उस प्रकृत्युपनिश्रय प्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं। उस श्रद्धाधर्म की अपेक्षा करके दान-आदि करते समय यदि अकुशल धर्म बढ़ते हैं, तो वह श्रद्धा 'प्रत्यय' होती है एवं अकुशल धर्म 'प्रत्ययोत्पन्न' होते हैं। उस श्रद्धा से कुशल या अकुशल कर्म करने के बाद सम्बद्ध विपाक एवं क्रिया उत्पन्न होने पर श्रद्धा 'प्रत्यय' एवं अव्याकृत-धर्म 'प्रत्ययोत्पन्न' होते हैं। अपनी श्रद्धा दूसरों को कहने से दूसरों की श्रद्धा बढ़ने पर तथा कहना न मानने से अकुशलधर्मों के बढ़ने पर परिणामस्वरूप कुशल-अकुशल फल प्राप्त होने पर अपनी श्रद्धा दूसरों के कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत धर्मों का प्रकृत्युपनिश्रय शक्ति से उपकार करती है। इस प्रकार श्रद्धा अपनी सन्तान में एवं दूसरों की सन्तान में कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत धर्मों का उपकार करती है। इसी प्रकार शील, व्रत-आदि के द्वारा किया जानेवाला उपकार भी समझना चाहिये।

सुख-आदि से कुशलादि की उत्पत्ति – (कायविज्ञान से सम्प्रयुक्त कायिकी सुख-वेदना एवं कायिकी दुःखवेदना को सुख एवं दुःख कहते हैं।) कायिक सुख प्राप्त होते समय उस सुख की अपेक्षा करके कुछ लोग अपने सुख की निरन्तर वृद्धि के लिये दान, शील-आदि कुशल कर्म करते हैं। कुछ लोग सुख भोग कर अकुशल धर्म ही बढ़ाते हैं। उन कुशल एवं अकुशल कर्मों के कारण प्रत्यक्ष या परोक्ष-जीवन में विपाक का अनुभव करना पड़ता है। इसलिये अपना सुख अपने कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत धर्मों के उत्पाद के लिये उपकार करता है। किसी एक व्यक्ति के सुखी भाव को देखकर या सुनकर देखनेवाले दूसरे लोगों को भी उसी प्रकार का सुख इष्ट होने से कुशल-आदि करने पर वह सुख दूसरों के कुशलादि का भी उपकार करता है। दुःखानुभूति होते समय उस दुःख से मुक्ति पाने के लिये दान-आदि करते समय वह दुःख कुशलधर्मों का उपकार करता है। दुःख से छुटकारा पाने के लिये अथवा उस दुःख को हल्का करने के लिये अकुशल कर्म करते समय वह दुःख अकुशलधर्मों का उपकार करता है एवं फल (विपाक) देते समय अव्याकृतधर्मों का उपकार करता है। किसी का दुःख देखकर या सुनकर कुशल-आदि करने पर दुःख के द्वारा दूसरों के कुशलादि का उपकार किया जाता है।

कल्याणमित्र-आदि से कुशलादि की उत्पत्ति – कल्याणमित्र पुद्गल का आश्रय करके कुशल धर्म सम्पन्न होने पर, अर्हत् होने तक भावना करके अर्हत् फल और क्रियाध्यान प्राप्त कर लेने पर तथा उस कल्याणमित्र के कारण अकुशल धर्म होने पर उस कल्याण-मित्र द्वारा दूसरों के कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत धर्मों का उपकार किया जाता है। अकल्याणमित्र द्वारा भी इसी प्रकार कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत धर्मों का उपकार होना जानना चाहिये। अनुकूल ऋतु, भोजन एवं शयनासन-आदि द्वारा

कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत धर्मों का उपकार किया जाना भी जानना चाहिये। 'कम्मं विपाकानं' में 'कर्म' शब्द से बलवान् कर्म का एवं 'विपाक' शब्द से नामविपाक का ग्रहण करना चाहिये। बलवान् कुशल, अकुशल कर्मों से प्रवृत्ति-प्रतिसन्धिकाल में विपाक-विज्ञान उत्पन्न होने पर कर्म 'प्रत्यय' एवं सम्प्रयुक्त चैतसिकों के साथ 'विपाकविज्ञान' 'प्रत्ययोत्पन्न' होते हैं।

उत्पादित एवं उपसेवित प्रत्यय – उपर्युक्त त्ययों में से राग-आदि एवं श्रद्धा-आदि धर्म अपनी आध्यात्मिक सन्तान में भावना के वश से 'उत्पादित प्रत्यय' हैं। पुद्गल, भोजन, ऋतु एवं शयनासन आदि बाह्य धर्म खाने, छूने-आदि द्वारा 'उपसेवित प्रत्यय' हैं। इसी अभिप्राय की अपेक्षा से आचार्य अनुरुद्ध भी अपने नामरूपपरिच्छेद में कहते हैं –

"राग सद्धादयो धम्मा अज्झत्तमनुपादिता।
सत्तसङ्खारधम्मा च बहिद्धोपनिसेविता[1]॥"

प्रकृत्युपनिश्रयप्रत्यय चित्त, चैतसिक एवं रूप के साथ पुद्गल, ऋतु एवं शयनासन पर्यन्त व्यापक होने से बहुविध होते हैं। किन्तु यहाँ विचारणीय है कि इतना विस्तृत प्रकृत्युप-निश्रयप्रत्यय क्यों केवल चित्तचैतसिक धर्मों का ही उपकार करता है, वह रूपधर्मों का उपकार क्यों नहीं करता? जैसे – पृथ्वी एवं जल-आदि द्वारा बीज से अङ्कुरका उत्पाद और क्रमशः वृक्ष के पुष्ट होने में पृथ्वी एवं जल-आदि उन वृक्ष-आदि का प्रकृत्युपनिश्रयशक्ति से उपकार करते हैं तथा औषधि के सेवन द्वारा शरीर के स्वस्थ होने पर वह औषधि रूपधर्मों का प्रकृत्यु-पनिश्रयशक्ति से उपकार करती है – ऐसा माना जा सकता है कि नहीं?

उत्तर – प्रकृत्युपनिश्रय में 'प्रकृति' शब्द का गम्भीरतया विचार करना चाहिये। सम्यग् व्याख्यात 'प्रकृति' शब्द अपनी सन्तान में ही उत्पादित एवं उपसेवित दोनों अर्थों में हो सकता है। उस उत्पादित एवं उपसेवित का केवल नाम धर्मों से ही सम्बन्ध हो सकता है। रूपधर्मों के अचेतन एवं अव्यापारवान् होन से वे उत्पादित भी नहीं हो सकते और उपसेवित भी नहीं हो सकते। इसलिये जो नामधर्म-सन्तति राग-श्रद्धा-आदि का उपसेवन करती है, वही (नामधर्मसन्तति) अपने द्वारा उत्पादित एवं उपसेवित राग, पुद्गल आदि के फल का अनुभव कर सकती है। रूपधर्म राग, पुद्गल-आदि के फल का अनुभव करने के अधिकारी (योग्य) नहीं हैं। इसलिये विस्तृत भी यह प्रकृत्युपनिश्रय रूपधर्मों का (अभिधर्मनय के अनुसार) उपकार करने का अधिकारी नहीं है।

सूत्रान्त प्रकृत्युपनिश्रय – 'इमस्मि सति इदं होति, इमस्मि असति इदं न होति' – इस कारण के होने पर यह कार्य होता है, इस कारण के न होने पर यह कार्य नहीं होता – इस प्रकार सूत्रपिटक के अनुसार रूप धर्म भी उस प्रकृत्युपनिश्रयशक्ति के द्वारा उपकार लाभ कर सकते हैं। इसलिये चित्त, चैतसिक, रूप एवं प्रज्ञप्तियों द्वारा चित्त, एवं चैतसिक धर्मों का उपकार किया जाने में अभिधर्म नय तथा चित्त, चैतसिक, रूप एवं प्रज्ञप्तियों द्वारा चित्त, चैतसिक और रूप धर्मों का उपकार किया जाने में सूत्रान्त नय है। इस प्रकार दो नयों का भेद जानना चाहिये।

प्रकृत्युपनिश्रयप्रत्यय समाप्त।

उपनिश्रयप्रत्यय समाप्त।

---

१. नाम० परि० ८२६ का०, पृ० ५२ (इसमें बहुत पाठभद हैं)। एवं विभा०, पृ० १८९।

पुरेजातप्रत्यय

१०. पुरेजातप्रत्यय की त्रिराशि – 'पुरेजात पच्चयो' इस प्रत्ययोद्देश में पुरेजातप्रत्यय वस्तुपुरेजात एवं आलम्बनपुरेजात – इस प्रकार द्विविध होता है। उनमें से वस्तुपुरेजात वस्तुपुरेजातनिश्रय के सदृश होता है। आलम्बन-पुरेजात में तीन स्वरूप होते हैं, यथा – प्रत्यय, प्रत्ययोद्देश एवं प्रत्यनीक। इनमें से प्रत्युत्पन्न १८ निष्पन्न रूप—ये धर्म आलम्बनपुरेजात शक्ति से उप-कार करनेवाले धर्म होते हैं। जब आलम्बनपुरेजातप्रत्यय से उपकार प्राप्त करते हैं, तब एवं सर्वदा उपकार प्राप्त करनेवाले कामचित्त ५४, अभिज्ञाद्वय एवं अप्पमञ्ञावर्जित चैतसिक ५० – ये धर्म आलम्बनपुरेजात-प्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' धर्म होते हैं। जब आलम्बनपुरेजातप्रत्यय से उपकार प्राप्त नहीं करते, तब एवं सर्वदा उपकार प्राप्त नहीं करनेवाले (द्विपञ्च-विज्ञान १० और मनोधातुत्रयवर्जित) चित्त ७६, चैतसिक ५२, चित्तजरूप, प्रतिसन्धिकर्मजरूप, बाहिररूप, आहारजरूप, ऋतुजरूप, असंज्ञिकर्मज रूप एवं प्रवृत्तिकर्मज रूप – ये धर्म[1] आलम्बनपुरेजात प्रत्यय के 'प्रत्यनीक' धर्म होते हैं।

---

१०. **पुरेजातप्रत्यय** – 'पुरे जायित्वा ति पुरेजातो' – अर्थात् प्रत्ययोत्पन्न धर्मों से पहले उत्पन्न होनेवाले धर्म 'पुरेजात' हैं। सम्बद्ध प्रत्ययोत्पन्न धर्मों का निश्रय के रूप में या आलम्बन के रूप में उपकार करने के लिये उन (प्रत्ययोत्पन्न धर्मों) के उत्पाद से पहले उत्पन्न होकर विद्यमान रहने में समर्थ शक्ति 'पुरेजातप्रत्यय' है। 'पुरेजात' यह केवल पूर्व उत्पन्न होने के अर्थ में ही नहीं है; अपितु निरुद्ध न होकर अस्तिस्वभाव से स्थितिक्षण में विद्यमान होने के अर्थ में है। यहाँ पूर्वाचार्यों ने पुरेजातप्रत्यय की उपमा सूर्य एवं चन्द्र से दी है। कल्प के आदि काल में उत्पन्न सूर्य एवं चन्द्र आज तक विद्यमान रहते हुए अपने अनन्तर उत्पन्न होनेवाले धर्मों का प्रकाश देकर उपकार करते हैं, उसी प्रकार प्रत्ययोत्पन्न धर्मों से पूर्व उत्पन्न होकर निरुद्ध न होतेहुए स्थितिक्षण में विद्यमान रहकर अपने अनन्तर उत्पन्न चित्त-चैतसिकों का उपकार करने में समर्थशक्ति 'पुरेजात' है। दो प्रकार के 'पुरेजात' में से वस्तुपुरेजात वस्तुपुरेजातनिश्रय के सदृश होता है।

आलम्बनपुरेजात – अभिधम्मत्थसङ्गहो में 'पञ्चारमणानि च पञ्चविञ्ञाण-वीथिया" इस पाठ द्वारा आलम्बनपुरेजात दिखलाया गया है। इसके अनुसार 'प्रत्युत्पन्न पञ्चालम्बन ही आलम्बनपुरेजातप्रत्यय से उपकार करते हैं' – इस प्रकार मालूम होता है; किन्तु 'चक्खुं अनिच्चतो दुक्खतो अनत्ततो विपस्सन्ति"[2] – आदि पट्ठानपालि के अनुसार प्रत्युत्पन्न चक्षुःप्रसाद का आलम्बन करके विपश्यना करते समय वह प्रत्युत्पन्न चक्षुःप्रसाद

---

१. द्र०-अभि० स०, पृ० ८४३।

२. पट्ठान प्र० भा०, पृ० १४३।

पुरेजात भी होता है एवं आलम्बन भी होता है, अतः वह 'आलम्बनपुरेजात' हो सकता है। श्रोत्रप्रसाद आदि प्रसादरूप, भावरूप एवं जीवितरूपों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार जाननों चाहिये। (अनिष्पन्नरूप एकान्तरूप से परमार्थ न होने से उन्हें प्रत्युत्पन्न नहीं कहा जा सकता, अतः वे आलम्बन पुरेजात नहीं हो सकते।)

प्रत्ययोत्पन्न – द्विपञ्चविज्ञान एवं मनोधातु सर्वदा प्रत्युत्पन्न पञ्चालम्बन का आलम्बन करके पञ्चद्वारवीथि में ही होने के कारण आलम्बनपुरेजात शक्ति से सर्वदा उपकार लाभ करते हैं, अतः 'सर्वदा उपकार प्राप्त करनेवाले' – ऐसा कहा गया है। शेष कामचित्त एवं अभिज्ञा धर्म जब प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूप का आलम्बन करते हैं, तब आलम्बनपुरेजात प्रत्यय से उपकार प्राप्त कर सकते हैं, जब शेष आलम्बनों का आलम्बन करते हैं, तब आलम्बनपुरेजात शक्ति से उपकार लाभ नहीं करते, अतः 'जब आलम्बन-पुरेजात प्रत्यय से उपकार प्राप्त करते हैं, तब' – ऐसा कहा गया है। निष्पन्नरूप सत्त्व-प्रज्ञप्ति न होने से चैतसिकों में से अप्पमञ्ञाओं का वर्जन किया गया। महग्गत और लोकोत्तर चित्त इन निष्पन्नरूपों का आलम्बन नहीं करते (वे केवल कसिण प्रज्ञप्ति का ही आलम्बन करते हैं), अतः प्रत्ययोत्पन्न धर्मों में गृहीत नहीं होते। प्रत्यनीक में 'जब उपकार प्राप्त नहीं करते, तब' इस वाक्य का सर्वदा उपकार प्राप्त करनेवाले द्विपञ्चविज्ञान एवं मनोधातुत्रय से वर्जित कामचित्तों से अभिप्राय है। 'सर्वदा उपकार प्राप्त न करनेवाले' इस वाक्य का सर्वदा उपकार प्राप्त न कर सकनेवाले महग्गत एवं लोकोत्तर चित्तों से अभिप्राय है।

प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न की उत्पत्ति – प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन का आलम्बन करके चक्षुर्द्वारिक वीथि होने पर वह प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन 'प्रत्यय' है। चक्षुर्विज्ञान के साथ चक्षुर्द्वारिक वीथिचित्त 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं। शब्दालम्बन-आदि का आलबम्न करके श्रोत्र-द्वारिक वीथिचित्त-आदि होने पर भी इसी प्रकार जानना चाहिये। चक्षुर्वस्तु का आलम्बन करके विपश्यना करने पर प्रत्युत्पन्न चक्षुर्वस्तु 'प्रत्यय' है। विपश्यना करनेवाली मनो-द्वारिक जवनवीथि 'प्रत्ययोत्पन्न' है। अपनी प्रत्युत्पन्न वस्तु के प्रति आसक्ति होने पर लोभजवन, दौर्मनस्य होने पर द्वेषजवन, सन्देह एवं अनवस्थिति होने पर विचिकित्सा एवं औद्धत्यजवन होते हैं। इसमें प्रत्युत्पन्न वस्तु 'प्रत्यय' है एवं जवन 'प्रत्ययोत्पन्न' धर्म हैं। श्रोत्रवस्तु का आलम्बन करने पर भी इसी प्रकार जानना चाहिये। प्रत्युत्पन्न रूपा-लम्बन का आलम्बन करके दिव्यचक्षु अभिज्ञा, प्रत्युत्पन्न शब्दालम्बन का आलम्बन करके दिव्यश्रोत्र अभिज्ञा होने पर वे रूप, शब्द आदि आलम्बन 'प्रत्यय', तथा अभिज्ञाचित्त 'प्रत्ययोत्पन्न' होते हैं। ऋद्धिविध अभिज्ञा द्वारा अधिष्ठान किया जाते समय भी स्कन्ध में विद्यमान कोई एक प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूप 'प्रत्यय' तथा ऋद्धिविध अभिज्ञा 'प्रत्ययोत्पन्न' होती है। इस प्रकार प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न की उत्पत्ति जानना चाहिये।

पुरेजातप्रत्यय समाप्त।

पश्चाज्जातप्रत्यय

११. पश्चाज्जात (पच्छाजात) प्रत्यय की त्रिराशि – 'पच्छाजातपच्चयो' – इस प्रत्ययोद्देश में तीन स्वरूप होते हैं, यथा – प्रत्यय, प्रत्ययोद्देश एवं प्रत्यनीक। इनमें से जब पञ्चवोकारभूमि में होते हैं, तब एवं सर्वदा होनेवाले चार अरूपविपाकवर्जित प्रथमभवङ्ग-आदि पश्चिम-पश्चिम ८५ चित्त एवं ५२ चैतसिक – ये धर्म पश्चाज्जातप्रत्यय से उपकार करनेवाले धर्म होते हैं। प्रतिसन्धि-आदि पूर्व-पूर्व चित्तों के साथ उत्पन्न होकर रूप के स्थितिक्षण में पहुँचनेवाले एकजकाय, द्विजकाय, त्रिजकाय एवं चतुर्जकाय – ये पश्चाज्जातप्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न धर्म' होते हैं। चित्त ८९, चैतसिक ५२ पश्चिम-पश्चिम चित्त के साथ उत्पन्न चित्तजरूप, प्रतिसन्धि कर्मजरूप, बाहिररूप, आहारजरूप, ऋतुजरूप, असंज्ञिकर्मजरूप एवं प्रवृत्तिकर्मजरूप – ये धर्म पश्चाज्जातप्रत्यय के 'प्रत्यनीक' धर्म होते हैं।

---

११. पश्चाज्जातप्रत्यय – 'पच्छा जायतीति पच्छाजातो' – प्रत्ययोत्पन्न धर्मों के पश्चात् उत्पन्न होनेवाले धर्मों को 'पश्चाज्जात' कहते हैं। प्रत्ययोत्पन्न धर्मों के पश्चात् उत्पन्न होकर पूर्व उत्पन्न प्रत्ययोत्पन्न धर्मों का उपकार करनेवाली शक्ति 'पश्चाज्जातप्रत्यय' है। अट्ठकथा में पश्चाज्जातप्रत्यय की गृध्रपोतक का उपकार करनेवाली आहार-आशा-चेतना से उपमा दी गई है। गृध्र पक्षी आहार की गवेषणा करके स्वयं ही खा लेते हैं। घोसले में स्थित अपने शिशुओं के लिये आहार नहीं लाते; किन्तु घोसले में स्थित गृध्र शावक अपने माता-पिता द्वारा अपने लिये आहार लाने की आशा किये रहते हैं। उस आहार में की गई आशा (रसतृष्णा) को ही 'आहाराशा' कहते हैं। इस आहाराशा से सम्प्रयुक्त चेतना 'आहारराशाचेतना' है। आहार बिना किये भी इस आहाराशाचेतना के द्वारा गृध्रपोतकों के शरीर का उपष्टम्भन किया जाता है, फलतः गृध्रपोतक अपने आप स्वयं आहार खोजने में समर्थ होने के काल तक जीवित रहते हैं। अर्थात् यदि आहार नहीं मिलता है, तो उन्हें (गृध्रपोतकों को) मर जाना चाहिये; किन्तु इस आहाराशाचेतना के उपकार से वे जीवित रह जाते हैं। यहाँ पश्चाज्जात चित्त-चैतसिकों में आनेवाला चेतना-चैतसिक ही आहाराशाचेतना कहा गया है। इसलिये इस आहाराशाचेतना द्वारा न केवल उपमा दिखलायी गयी है; अपितु पश्चाज्जात-शक्ति से उपकार करना भी दिखलाया गया है। गृध्रपोतक की आहाराशाचेतना अपने उत्पाद से पूर्व उत्पन्न एवं स्थितिक्षण को प्राप्त स्कन्ध में रहनेवाले रूपसमूहों का अपने उत्पाद काल में पश्चाज्जात शक्ति से उपकार करती है।

प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्न – यहाँ प्रतिसन्धिचित्त के साथ उत्पन्न एवं प्रतिसन्धि-चित्त के स्थितिक्षण में विद्यमान कर्मजरूपों को 'एकजकाय' कहते हैं। प्रतिसन्धिचित्त के भङ्गक्षण में विद्यमान रूपसमूह को 'द्विजकाय' कहते हैं। इस क्षण में कर्मज रूपसमूह एवं ऋतुज रूपसमूह – इस तरह दो प्रकार के कारणों से उत्पन्न रूपसमूह

स्थितिक्षण में विद्यमान रहते हैं। प्रतिसन्धि के अनन्तर प्रथमभवङ्ग के स्थितिक्षण में विद्यमान रूपसमूह को 'त्रिजकाय' कहते हैं। इस क्षण में कर्मज, चित्तज एवं ऋतुज ये तीनों प्रकार के रूपसमूह स्थितिक्षण में विद्यमान होते हैं। आहारजरूप उत्पन्न होने के अनन्तर स्थितिक्षण में विद्यमान रूपसमूह 'चतुर्जकाय' कहा जाता है। उस क्षण से लेकर कामभूमि में (निरोधसमापत्तिकाल को छोड़कर) चतुर्जकाय सर्वदा उत्पन्न होकर विद्यमान होते रहते हैं। रूपभूमि में केवल 'त्रिजकाय' ही होते हैं। इस प्रकार पूर्वाचार्य रूपप्रवृत्तिक्रम (षष्ठ परिच्छेद) के अनुसार एकजकाय-आदि का विभाजन करते हैं।

मीमांसा – 'प्रतिसन्धि-आदि पूर्व-पूर्व चित्तों के साथ उत्पन्न होकर रूप के स्थिति-क्षण में पहुँचनेवाले' – इस प्रकार ऊपर कहा गया है। इसके अनुसार अर्थ यह होता है कि पूर्व-पूर्व चित्तों के साथ उत्पन्न रूपों का ही पश्चिम-पश्चिम चित्त उपकार करते हैं तथा पूर्व-पूर्व चित्तों के स्थिति एवं भङ्ग के साथ उत्पन्न रूपों का उपकार नहीं करते। अपि च – पूर्व-पूर्व चित्तों के साथ उत्पन्न सभी रूपों का पीछे के २-३ चित्तों के बाद उत्पन्न चित्त भी उपकार नहीं कर सकते। 'अतीतभवङ्ग के साथ उत्पन्न रूपों का केवल भवङ्ग ही उपकार कर सकते हैं, भवङ्गोपच्छेद एवं पञ्चद्वारावर्जन-आदि उपकार नहीं कर सकते' – इस प्रकार का अर्थ निकलता है; किन्तु यह ठीक नहीं। वस्तुतः पश्चिम चित्त जब जब उत्पन्न होते हैं, तब तब सम्पूर्ण शरीर में विद्यमान रूपों का (उत्पन्न होकर स्थितिक्षण में विद्यमान सभी कर्मज, चित्तज, ऋतुज एवं आहारज रूपों का) बलवान् होने के लिये उपकार करते हैं। इस तरह का उपकार करने में समर्थ शक्ति 'पश्चाज्जातशक्ति' कहलाती है। इसलिये पूर्व चित्तों के उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग के साथ यथासम्भव उत्पन्न सभी रूपों का जब तक वे निरुद्ध नहीं होते, तब तक पश्चिम-पश्चिम चित्त पुनः-पुनः उपकार करते रहते हैं। यह अभिप्राय उपर्युक्त त्रिराशि से अच्छी तरह प्रकट न होने पर भी पालि एवं अट्ठकथा से प्रमाणित है। यथा –

"पच्छाजाता चित्तचेतसिका धम्मा पुरेजातस्स इमस्स कायस्स पच्छाजातपच्चयेन पच्चयो[1]"।

"'इमस्स कायस्सा' ति इमस्स चतुसमुट्ठानिक-तिसमुट्ठानिक-भूतुपादारूपसङ्खातस्स कायस्स[1]"।

[कामभूमि के सत्त्वों के कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार नामक ४ कारणों से उत्पन्न काय को 'चतुसमुट्ठानिक' कहते हैं। आहारजरूप को प्राप्त न होनेवाले ब्रह्माओं के काय को 'तिसमुट्ठानिक' कहते हैं। उन कारणों से उत्पन्न भूतरूप एवं उपादाय-रूपसमूह को 'काय' कहते हैं। पालि और अट्ठकथाओं के अनुसार 'पश्चिम-पश्चिम उत्पन्न चित्त-चैतसिक 'पश्चाज्जातप्रत्यय' हैं। पूर्व उत्पन्न होकर स्थितिक्षण को प्राप्त रूपसमूह (पूर्वचित्त के उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग के साथ उत्पन्न या २-३ चित्तों से पूर्व उत्पन्न अनिरुद्ध सभी रूपसमूह) 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं – इस प्रकार

---

१. पट्ठान प्र० भा०, पृ० ८।

१. पट्ठान अ०, पृ० ३७२।

जानना चाहिये। एकज, द्विज, त्रिज एवं चतुर्ज तथा पूर्व-पूर्व चित्त के साथ उत्पन्न – इस प्रकार विभाजन करना आवश्यक नहीं है ।]

उपकार – यहाँ प्रश्न होता है कि स्वसम्बद्ध कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार से उत्पन्न रूपधर्मों का पश्चिम-पश्चिम चित्तों द्वारा उपकार किया जाने से क्या लाभ होता है?

उत्तर – रूपसन्तति की चिरकाल तक अवस्थिति के लिये लाभ होता है। जैसे – सम्बद्ध प्रत्ययोत्पन्न धर्मों का प्रत्ययधर्मों द्वारा उपकार किया जाने में जनकशक्ति, उपष्टम्भक शक्ति एवं जनकोपष्टम्भक शक्ति – इन तीन शक्तियों में से किसी एक के द्वारा उपकार किया जाता है। इस पश्चाज्जातप्रत्यय में उपष्टम्भकशक्ति होती है। पश्चाज्जातप्रत्यय सम्बद्ध कारणों से उत्पन्न रूप धर्मों का उपष्टम्भक के रूप में उपकार करता है। जिस प्रकार बीज से उत्पन्न अङ्कुर का पानी द्वारा पुनः उपष्टम्भ न किया जाने पर वह पुष्ट एवं वृद्ध न होकर तत्काल सूख कर नष्ट हो जाता है तथा माता-पिता के शुक्र-शोणित से उत्पन्न शिशु दुग्धपान-आदि उपष्टम्भक-शक्ति के न होने पर जीवित नहीं रह सकता – उसी तरह कर्म से उत्पन्न कर्मजरूप भी अपने निरोधकाल में सदृश रूपसन्तति की प्रवृत्ति के लिये उपकार करके निरुद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार का उपकार करने में वे चित्त के द्वारा पश्चाज्जातशक्ति से उपष्टम्भन कर दिया जाने से बलवान् होने के कारण ही पुनः पुनः उपकार कर सकते हैं। चित्तज, ऋतुज एवं आहारज रूपसन्ततियों का यथायोग्य जीवित रहने के लिये चित्त-चैतसिकों द्वारा उपकार किया जाता है। इस प्रकार पश्चिम-पश्चिम चित्तों द्वारा पश्चाज्जात शक्ति से उपकार करना रूपसन्तति की चिरकाल तक अवस्थिति के लिये लाभदायक होता है।

"पच्छाजातपच्चये असति सन्तानट्ठितिहेतुभावं अगच्छन्तस्स कायस्स उपट्ठम्भनवसेन उपकारका पच्छाजाता चित्तचेतसिका धम्मा पच्छाजातपच्चयो[1]।'

[असंज्ञिभूमि में विना पश्चाज्जात के उपकार से रूपसन्तति के चिरकालतक स्थित रह सकने के कारण इस पश्चाज्जात से उपकार प्राप्त न होने पर उसमें बिलकुल बल नहीं रहता – ऐसा नहीं समझना चाहिये; अपितु पश्चाज्जातशक्ति के उपकार से रूपसन्तति में अधिक बल का सञ्चार होता है।)

प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्न – प्रथम भवङ्ग के उत्पन्न होते समय स्थितिक्षण में पहुँचे हुए अनेक रूप होते हैं। यहाँ प्रथमभवङ्ग 'प्रत्यय' है, अनेक रूप 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं। इसी प्रकार च्युतिपर्यन्त प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न का भेद जानना चाहिये।

प्रत्यनीक – यह विचारणीय है कि चूँकि चित्त-चैतसिक प्रत्ययोत्पन्न में नहीं आते, अतः उनका तो प्रत्यनीक में सम्मिलित किया जाना उचित है; किन्तु असंज्ञिसत्त्ववर्जित सभी सत्त्वों की सन्तान में विद्यमान रूप प्रत्ययोत्पन्न में गृहीत होकर क्यों वे पुनः प्रत्यनीक में सम्मिलित होते हैं?

---

१. विभा०, पृ० १८४-१८५।

आसेवनप्रत्यय

१२. आसेवनप्रत्यय की त्रिराशि – 'आसेवनपच्चयो' इस प्रत्ययोद्देश में तीन स्वरूप होते हैं, यथा – प्रत्यय, प्रत्ययोत्पन्न एवं प्रत्यनीक। उनमें से सजातीय अन्तिम जवनवर्जित पूर्व-पूर्व लौकिक जवन ४७, चैतसिक ५२ – ये धर्म आसेवन प्रत्यय से उपकार करनेवाले धर्म होते हैं। प्रथमजवन एवं फलजवनवर्जित पश्चिम-पश्चिम जवन ५१, चैतसिक ५२ – ये धर्म आसेवनप्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' धर्म होते हैं। २९ कामजवनों का प्रथम जवन, आवर्जनद्वय, विपाक ३६, चैतसिक ५२, चित्तजरूप, प्रतिसन्धि कर्मजरूप, बाहिररूप, आहारजरूप, ऋतुजरूप, असंज्ञिकर्मजरूप एवं प्रवृत्तिकर्मजरूप – ये धर्म आसेवनप्रत्यय के 'प्रत्यनीक' धर्म होते हैं।

पश्चाज्जात शक्ति स्थितिक्षण में प्राप्त रूपों का ही उपकार करती है, वह उनका उत्पादक्षण में उपकार नहीं कर सकती। अतः प्रत्ययोत्पन्न नहीं हो सकनेवाले एवं उत्पादक्षण के रूपों को लक्षित करके सविञ्ञाणक रूपों का प्रत्यनीक में संग्रह किया गया है। उपर्युक्त प्रत्यनीक में 'पश्चिम-पश्चिम चित्त के साथ उत्पन्न चित्तज रूप' – इस प्रकार कहना परिपूर्ण कथन नहीं है, चाहे पश्चिम हो चाहे पूर्व सभी चित्तजरूप, आहारजरूप, ऋतुजरूप, प्रवृत्तिकर्मजरूप एवं सर्वप्रथम प्रतिसन्धिचित्त के साथ उत्पन्न प्रतिसन्धि कर्मजरूप को प्रत्यनीक में सम्मिलित करना चाहिये। (असंज्ञिकर्मजरूप एवं बाह्यरूप तो प्रत्यनीक हैं ही)। इसलिये पट्ठानपालि में पच्छाजातपच्चनीक को अधिपतिपच्चनीक के सदृश कहकर अधिपतिपच्चनीक में "कुसलं एकं खन्धं पटिच्च तयो खन्धा चित्तसमुट्ठानञ्चरूपं...पटिसन्धिक्खणे विपाकाब्याकतं एकं खन्धं पटिच्च तयो खन्धा कटत्ता च रूपं"[2] – इस प्रकार कहा गया है।

त्रिविधजात – सहजात में 'जात' शब्द उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग तीनों क्षणों में विद्यमान नाम एवं रूप धर्मों के अर्थ में होता है। पुरेजात में 'जात' शब्द स्थिति क्षण में विद्यमान रूप के अर्थ में होता है, तथा पच्छाजात में 'जात' शब्द उत्पाद एवं स्थिति क्षण में विद्यमान नामधर्मों के अर्थ में होता है। इस प्रकार प्रत्ययशक्तियों के अनुसार त्रिविध 'जात' शब्द का अर्थभेद होता है।

पश्चाज्जातप्रत्यय समाप्त।

१२. आसेवनप्रत्यय – पुनः पुनः करना या प्रवृत्त होना 'आसेवन' है। एक प्रकार के धर्म का ही पुनः पुनः उत्पाद करना 'आसेवन' है। इसलिये 'चक्षुर्विज्ञान के बाद सम्पटिच्छन, सम्पटिच्छन के बाद सन्तीरण – इस प्रकार असदृशधर्मों (एक प्रकार के धर्म के बाद दूसरे प्रकार के असदृश धर्मों) का उत्पन्न होना 'आसेवन' नहीं है। वस्तुतः एक जवन के बाद उसी प्रकार के दूसरे जवनों को पुनः पुनः उत्पन्न करने में समर्थ

---

२. पट्ठान प्र० भा०, पृ० ३४।

शक्ति ही 'आसेवन' है। अथवा – अपने सदृश दूसरे अन्य धर्मों के उत्पाद के लिये अपनी शक्ति देना एवं अपनी शक्ति वासित (भावित) करना 'आसेवन' है।

इस प्रकार अपने सदृश अन्य धर्मों का पुनः पुनः उत्पाद करने से एवं सदृश धर्म होने के लिये अपनी शक्ति को वासित करने से पीछे-पीछे उत्पन्न होनेवाले धर्म अपने अपने कृत्यों में प्रगुण (अभ्यस्त) होकर बलवान् हो जाते हैं – यह 'आसेवन' का फल है। जैसे – किसी एक ग्रन्थ का अध्ययन करते समय प्रारम्भ में कठिनाई होने पर भी जब पुनः पुनः पढ़ने से वह अभ्यस्त हो जाता है, तो फिर कठिनाई नहीं होती। इस प्रकार कठिनाई न होने में पूर्व-पूर्व अध्ययन पश्चिम-पश्चिम अध्ययन का सुगम होने के लिये उपकार करता है, उसी प्रकार अपने अनन्तर अपने सदृश किसी एक धर्म का प्रबल होने के लिये उपकार करने में समर्थशक्ति आसेवनशक्ति है।

यथा – "आसेवनट्ठेन अनन्तरानं पगुणबलभावाय उपकारको धम्मो आसेवनपच्चयो। गन्थादीसु पुरिमपुरिमाभियोगो विय[1]।"

"कुसलादिभावेन अत्तना सदिसस्स पयोगेन करणीयस्स पुनप्पुनं करणं पवत्तनं आसेवनट्ठो अत्तसदिसतापादनं वासनं वा[2]।"

प्रत्यय – 'सजातीय अन्तिम जवन' इसके द्वारा कुशल जाति, अकुशल जाति एवं क्रिया जाति में से अपनी जाति का अन्तिम जवन कहा गया है। ७ बार जवन होने पर सप्तम जवन, पाँच वार जवन होने पर पञ्चम जवन एवं अन्तिम ध्यान जवन – ये अन्तिम जवन कहे जाते हैं। उन जवनों के अनन्तर पुनः जवन न होने से वे जवन आसेवन प्रत्यय नहीं हो सकते। अतः उनका वर्जन किया गया है। जैसे ८० वर्ष की आयुवाले पुरुष का शरीर अपने उत्पाद से लेकर ४० वर्ष पर्यन्त वृद्ध एवं पुष्ट होता रहता है और ४० वर्ष के बाद प्रयत्न (औषधि सेवन-आदि) करने पर भी धीरे-धीरे क्षीण होते हुए ८० वें वर्ष में नष्ट हो जाता है। तथा वृक्ष भी अङ्कुरोत्पाद से लेकर पूर्ण विकसित होने तक वृद्ध एवं पुष्ट होता रहता है। तदनन्तर प्रयत्न (जल सेचन आदि) करने पर भी धीरे धीरे क्षीण होता हुआ नष्ट हो जाता है। अन्तिम क्षण में कितना भी प्रयास करने पर मनुष्य या वृक्ष आगे जीवित रहने में समर्थ नहीं होते। उसी प्रकार ७ बार जवन होते समय प्रथम जवन के आसेवन को द्वितीयजवन, द्वितीय जवन के आसेवन को तृतीय जवन प्राप्त करते हुए चतुर्थजवन पर्यन्त पुष्टि होती रहती है। चतुर्थ जवन के बाद आसेवन का लाभ होने पर भी पञ्चम जवन से लेकर उनकी शक्ति धीरे-धीरे कम होती जाती है। जब सत्तम जवन होता है, तब एक बार भी जवन का उत्पाद करने में समर्थ आसेवन-शक्ति के न होने से जवनसन्तति निरुद्ध (नष्ट) हो जाती है। इस प्रकार सत्तम जवन में शक्ति के क्षीण हो जाने से उसे आसेवनप्रत्यय में वर्जित किया गया है। इसी प्रकार अन्य अन्तिम जवनों की आसेवनशक्ति का क्षीण होना भी जानना चाहिये [यह सप्तम जवन यद्यपि आसेवनशक्ति से पश्चिम-पश्चिम जवनों का उत्पाद करने में असमर्थ होता है;

१. पट्ठान अ०, पृ० ३४८।
२. पट्ठान मू० टी०, पृ० १७२।

तथापि किसी एक कर्म का सम्पादन करते समय सप्तम जवन तक पहुँचने पर ही वह कर्म कर्मपथ होता है। इसलिये अतिभारी आनन्तर्य कर्म-आदि सप्तमजवनचेतना ही होते हैं।]

इन प्रत्यय धर्मों में केवल लौकिक जवन ही सङ्गृहीत हो सकते हैं। मार्गजवन अपनी एक बार प्रवृत्ति से ही क्लेश धर्मों का समुच्छेद करने में समर्थ होता है, अतः अपने अनन्तर पुनः किसी एक मार्ग की उत्पत्ति के लिये आसेवन देने के लिये व्यापारवान् नहीं होता। अपने अनन्तर उत्पन्न होनेवाले फल जवनों के (मार्ग जवन कुशल जाति, फलजवन अव्याकृत जाति) असदृश जाति के होने से वह उन्हें अपनी आसेवनशक्ति नहीं दे सकता। अतः मार्गजवनों में आसेवनशक्ति नहीं है। फलजवन कर्म के अनुसार होनेवाले विपाकमात्र होते हैं, अतः उनमें भी कोई विशेष आसेवनशक्ति नहीं होती। अतः उन फलजवनों के साथ सभी विपाकधर्म न केवल आसेवनप्रत्यय ही नहीं होते; अपितु कर्म के अनुसार होनेवाले धर्म होने से दूसरों का आसेवन भी ग्रहण नहीं कर सकते। अतः वे प्रत्ययोत्पन्न धर्मों में भी सङ्गृहीत नहीं होते। आवर्जनद्वय भी प्रादुर्भूत आलम्बन का ही आलम्बन करने से अतिरिक्त आसेवन देने में समर्थ न होने के कारण प्रत्ययों में भी नहीं आते तथा अपने पूर्ववर्ती भवङ्ग में भी आसेवनशक्ति के न होने से (वे आवर्जन) प्रत्ययोत्पन्न भी नहीं हो सकते।

प्रत्ययोत्पन्न – अपने से पूर्व आसेवन शक्ति से उपकार करने में समर्थ किसी धर्म के न होने से प्रत्ययोत्पन्न में प्रथम जवन का वर्जन किया गया है। यह प्रथम जवन कामजवन ही है। सभी ध्यानजवन एवं मार्गजवन अपने पूर्ववर्त्ती गोत्रभू एवं व्यवदान कृत्य करनेवाले कामजवनों से सर्वदा आसेवन प्राप्त करते हैं। इसलिये प्रत्यनीक में '२९ कामजवनों का प्रथमजवन' – ऐसा कहा गया है।

प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न – कामजवनवार में प्रायः ७ बार जवन होते हैं। उनमें प्रथम जवन 'प्रत्यय' द्वितीय 'प्रत्ययोत्पन्न', द्वितीय जवन 'प्रत्यय' तृतीय जवन 'प्रत्ययोत्पन्न', इसी प्रकार षष्ठ जवन 'प्रत्यय' और स तम जवन 'प्रत्ययोत्पन्न' होता है। अर्पणा जवनवार में परिकर्म, उपचार, अनुलोम, गोत्रभू एवं ध्यान यह क्रम होता है – इसमें परिकर्म 'प्रत्यय' उपचार 'प्रत्ययोत्पन्न', उपचार 'प्रत्यय' एवं अनुलोम 'प्रत्ययोत्पन्न'... गोत्रभू 'प्रत्यय' एवं ध्यानजवन 'प्रत्ययोत्पन्न' होते हैं। समापत्तिकाल में पूर्व-पूर्व ध्यान 'प्रत्यय' एवं पश्चिम-पश्चिम ध्यान 'प्रत्ययोत्पन्न', स्रोतापत्तिमार्गवीथि में गोत्रभू 'प्रत्यय' एवं मार्गजवन 'प्रत्ययोत्पन्न' तथा ऊपर की मार्ग वीथियों में व्यवदान 'प्रत्यय' एवं ऊपर के मार्गजवन 'प्रत्ययोत्पन्न' होते हैं – इस प्रकार जानना चाहिये।

गोत्रभू-व्यवदान, ध्यान और मार्ग क्रमशः काम, महग्गत, एवं लोकोत्तर होते हैं। इस प्रकार भूमिभेद होने पर भी कुशल जाति की दृष्टि से समान होने के कारण गोत्रभू और व्यवदान, ध्यान और मार्गों का आसेवन शक्ति से उपकार कर सकते हैं। इस प्रकार अन्तिम जवन प्रत्यय नहीं होता, प्रथमजवन प्रत्ययोत्पन्न नहीं हो सकता तथा फलजवन प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न दोनों नहीं हो सकता। अतः अभिधम्मत्थसङ्गहो के 'पुरिमानि जवनानि पच्छिमानं जवनानं आसेवनवसेन' – इस पाठ में पूर्व जवनों एवं पश्चिम जवनों को यथायोग्य जानना चाहिये। (अभिज्ञावीथि एवं मरणासन्नवीथि – आदि में भी प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न की उत्पत्ति वीथि के अनुसार जान लेनी चाहिये।)

आसेवनप्रत्यय समाप्त।

कर्मप्रत्यय

१३. कर्मप्रत्यय – 'कम्मपच्चयो' इस प्रत्ययोद्देश में कर्मप्रत्यय सहजातकर्म एवं नानाक्षणिककर्म – इस प्रकार द्विविध होता है।

क. सहजात कर्मप्रत्यय की त्रिराशि – सहजातकर्म में तीन स्वरूप होते हैं, यथा – प्रत्यय, प्रत्ययोद्देश एवं प्रत्यनीक। इनमें से ८९ चित्तों में सम्प्रयुक्त ८९ चेतना – ये धर्म सहजात कर्मप्रत्यय से उपकार करनेवाले धर्म होते हैं। ८९ चित्त, चेतनावर्जित ५१ चैतसिक, चित्तजरूप एवं प्रतिसन्धिकर्मजरूप – ये धर्म सहजात कर्मप्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्नधर्म' होते हैं। ८९ चित्त में सम्प्रयुक्त ८९ चेतना, बाहिररूप, आहारजरूप, ऋतुजरूप, असंज्ञिकर्मजरूप एवं प्रवृत्तिकर्मजरूप – ये धर्म सहजात कर्मप्रत्यय के 'प्रत्यनीक' धर्म होते हैं।

ख. नानाक्षणिक कर्मप्रत्यय की त्रिराशि – नानाक्षणिक कर्मप्रत्यय में तीन स्वरूप होते हैं। यथा – प्रत्यय, प्रत्ययोत्पन्न एवं प्रत्यनीक। इनमें से अतीत कुशल-अकुशल ३३ चेतना – ये धर्म नानाक्षणिक कर्मप्रत्यय से उपकार

---

१३. क. सहजातकर्म – 'करणं कम्मं' – करना ही कर्म है। जिस प्रकार शरीर के व्यापारविशेष को 'कायविज्ञप्ति' एवं वाणी के व्यापारविशेष को 'वग्विज्ञप्ति' कहते हैं, उसी प्रकार चित्त के व्यापारविशेष को 'प्रयोगव्यापार' कहते हैं। धर्मस्वरूप से वह चेतना ही है। इस चेतना की व्यापारवान् ज्येष्ठ शिष्य से उपमा दी गई है[1]। उस चेतना की विशेष व्यापारवती शक्ति ही 'कर्मप्रत्यय' है। दो प्रकार के कर्मों में से सहजात धर्मों का उपकार करनेवाली चेतना सहजात कर्मप्रत्यय होने से वह प्रत्ययोत्पन्न न हो सकने के कारण प्रत्यनीक में भी आती है।

प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न – लोभमूल प्रथम चित्त एवं चैतसिक उत्पन्न होने पर उनमें आनेवाली चेतना 'प्रत्यय' है। लोभमूल प्रथम चित्त, चेतनावर्जित १८ चैतसिक एवं लोभमूल चित्त से उत्पन्न चित्तजरूप 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं। (इस प्रकार अर्हत्फल चित्त पर्यन्त जानना चाहिये।) प्रतिसन्धिकृत्य करके जब महाविपाक प्रथम चित्त एवं चैतसिक उत्पन्न होते हैं, तब उनमें आनेवाली चेतना 'प्रत्यय' एवं महाविपाक प्रथम चित्त, चेतनावर्जित चैतसिक ३२ एवं प्रतिसन्धिकर्मज रूप 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं। इसी प्रकार सभी प्रतिसन्धि चित्तों को जानना चाहिये। अरूपभूमि में उत्पन्न होते समय प्रत्ययोत्पन्न में रूप धर्म नहीं आते – यही विशेष है। प्रत्यनीक सुस्पष्ट है।

सहजातकर्म समाप्त।

ख. नानाक्षणिककर्म – नानाक्षण में होने वाले कर्म ही 'नानाक्षणिककर्म' हैं। सहजातकर्म फल (प्रत्ययोत्पन्न) के साथ युगपत् (एकक्षण) में उत्पन्न होते हैं; किन्तु ये नानाक्षणिककर्म युगपत् (एकक्षण) में नहीं होते; अपितु फल (प्रत्ययोत्पन्न) धर्मों से पूर्व उत्पन्न होते हैं।

---

१. द्र० – अभि० स० पृ० १०५।

करनेवाले धर्म होते हैं। विपाकचित्त ३६, चैतसिक ३८, प्रतिसन्धिकर्मज-रूप, असंज्ञिकर्मजरूप एवं प्रवृत्तिकर्मजरूप – ये धर्म नानाक्षणिक कर्मप्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' धर्म होते हैं। कुशलचित्त २१, अकुशलचित्त १२, क्रियाचित्त २०, चैतसिक ५२, चित्तजरूप, बाहिररूप, आहारजरूप एवं ऋतुजरूप – ये धर्म नानाक्षणिक कर्मप्रत्यय के 'प्रत्यनीक' धर्म होते हैं।

इस प्रकार प्रत्ययोत्पन्न धर्मों से नाना (पृथक्) क्षणों में होनेवाली चेतनायें 'नानाक्षणिक कर्मप्रत्यय' हैं। जैसे – बीज जल एवं मृत्तिका आदि उपष्टम्भक कारणों के प्राप्त होने पर अङ्कुरित और पुष्ट हो सकता है, उसी तरह नानाक्षणिक चेतना भी गति, काल, उपधि एवं प्रयोग नामक उपष्टम्भक कारण[1] प्राप्त होने पर महान् विपाक नामस्कन्ध और कर्मज-रूपों का उत्पाद कर उन्हें पुष्ट कर सकती है। अपि च – जैसे दीपक प्रज्वलित होने पर अन्धकारविध्वंसन एवं प्रकाशदान – इन दोनों कृत्यों का युगपत् सम्पादन कर सकता है, उसी प्रकार कुशल-अकुशल चेतना भी सहोत्पन्न धर्मों का सहजात-शक्ति से उपकार कृत्य एवं विपाक धर्मों का नानाक्षणि-कशक्ति से उत्पाद कृत्य – इन दोनों कृत्यों का युगपत् सम्पादन कर सकती है।

वे कुशल-अकुशल चेतनायें अपने निरोध के अनन्तर कुछ क्षण अन्तरित करके या अनेक भव अन्तरित करके भी विपाक प्रदान कर सकती हैं। सामान्यतया इस पर विश्वास नहीं होता; किन्तु लोक में भी कारण निरोध के अनन्तर फल देनेवाले अनेक उदा-हरण देखे जाते हैं। जैसे – अच्छे माता-पिता अपने बच्चे को प्रारम्भ से ही अच्छी औषधि एवं पुष्टिकारक भोजन देते हैं। बड़ा होने पर आहार, औषधि एवं उनसे उत्पन्न रूपों के अवशिष्ट न रहने पर भी उसका स्वास्थ्य अन्य बच्चों की अपेक्षा अच्छा होता है। इसी प्रकार पूर्व कर्मों के निरुद्ध हो जाने पर उनका फल दूसरों को प्राप्त न होकर स्वयं को ही प्राप्त होता है। इस प्रकार अन्य उदाहरण भी हो सकते हैं। इसलिये कुशल-अकुशल चेतनाओं के निरुद्ध होने के ब.द उन के द्वारा फल दिया जाने में कोई सन्देह नहीं रखना चाहिये।

शक्ति की विद्यमानता – कुशल-अकुशल चेतनायें निरुद्ध हो जाने पर भी अशेष निरुद्ध नहीं होतीं; उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग होकर परमार्थ स्वभाव से नष्ट हो जाने पर भी उन कुशल-अकुशल चेतनाओं की शक्ति अवशिष्ट रहती है। यहाँ कुशल-अकुशल चित्तों की उत्पत्ति एवं विपाकचित्तों की उत्पत्ति का गंभीरतया विचार करना चाहिये। उन-उन कृत्यों को करते समय जवन चित्तों से सम्मिश्रण हो जाने के कारण विपाक चित्तों की उत्पत्ति का ज्ञान न होने पर भी जब केवल विपाकचित्त ही होते हैं – ऐसे सुषुप्ति काल में वे सुस्पष्टतया जाने जा सकते हैं। विपाकचित्तसंतति की उत्पत्ति अत्यन्त धीमी होती है।

---

१. अच्छे (कल्याण) कर्मों से सुगति भूमि में होना 'गति' है। राजा, अमात्य आदि के कुल में उत्पन्न होना 'उपधि' है। सुयोय (अनुकूल) समय 'काल' है तथा कार्य-सम्पादन का ज्ञान 'प्रयोग' है। द्र० – अ० नि० अ०, द्वि० भा०, पृ० ११२-११३; विभ० अ०, पृ० ४४४।

उन विपाक चित्तों से सम्प्रयुक्त चेतना भी अधिक व्यापारवती नहीं होती। इसीलिये सुषुप्ति काल में स्कन्ध, अचल एवं शान्त रहता है। सामान्य कुशल-अकुशल चित्तों की उत्पत्ति का ज्ञान न होने पर भी अत्यन्त तीक्ष्ण चेतना से किये गये कुशल-अकुशलों की उत्पत्ति सुस्पष्ट होती है। किसी प्रिय आलम्बन में लोभचित्त की उत्पत्ति एवं अप्रिय आलम्बन में द्वेषचित्त की उत्पत्ति सुस्पष्ट जानी जा सकती है। इसलिये चेतनायें उत्पाद-स्थिति-भङ्ग के रूप में निरुद्ध हो जाने पर भी उन की शक्ति स्कन्धसन्तति में विद्यमान रहती है। किसी एक चित्त के द्वारा किसी अन्य चित्त का अनन्तरशक्ति से उपकार करते समय उस चित्तसन्तति में अनेक चेतनाओं की शक्ति होती है।

काल, गति, उपधि एवं प्रयोग हीन होने से अकुशल चेतना शक्ति से अकुशल फल उत्पन्न होते हैं। काल, गति आदि के प्रणीत होने से कुशल चेतना शक्ति से कुशल फल उत्पन्न होते हैं। चेतना के निरुद्ध होते समय उसके धर्म स्वरूप के निरुद्ध हो जाने पर भी उसकी नानाक्षणिक कर्मशक्ति विद्यमान रहती है। फल देने के बाद या फल देने का अवकाश प्राप्त न करनेवाले अहोसिकर्म होते समय उन चेतनाओं की शक्ति क्षीण हुई रहती है।

"यस्मिं हि सन्ताने कुसलाकुसलचेतना उप्पज्जति तत्थ यथाबलं तादिसं विसेसाधानं कत्वा निरुज्झति। यतो तत्थेव अवसेसपच्चयसमवाये तस्सा फलभूतानि विपाककटत्तारूपानि निब्बत्तिस्सन्ति"[1]।

अर्थात् जिस सन्तान में कुशल-अकुशल चेतना उत्पन्न होती है और जिस विशेषाधान से उसी सन्तान में ही अवशिष्ट काल, गति, उपधि एवं प्रयोग कारणों का समागम होने पर (उस चेतना के) फलभूत विपाक नामस्कन्ध एवं कटत्ता रूप उत्पन्न होंगे, उस सन्तान में बल के अनुसार विपाक एवं कटत्ता रूप का उत्पाद करने में समर्थ शक्तिविशेष का आधान करके वह चेतना निरुद्ध हो जाती है।

प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न की उत्पत्ति – (प्रत्ययोत्पन्न धर्म जब उत्पन्न होते हैं, तब नानाक्षणिक कर्मचेतना निरुद्ध हो चुकी रहती है। अतः प्रत्यय धर्मों में "अतीत' विशेषण दिया गया है)। अतीत लोभमूल प्रथमचित्त में संप्रयुक्त चेतना 'नानाक्षणिक कर्मप्रत्यय' है। उस चेतना से अपायभूमि में प्रतिसन्धि विपाक नामस्कन्ध, प्रतिसन्धि कर्मजरूप, प्रवृत्तिकालिक अकुशलविपाक चक्षुर्विज्ञान-आदि नामस्कन्ध एवं प्रवृतिकाल में होनेवाले सभी अनिष्ट कर्मजरूप नानाक्षणिक कर्मप्रत्यय के 'प्रत्योत्पन्न' हैं। इसी अन्य प्रकार अकुशल नानाक्षणिक कर्मप्रत्यय एवं उनके प्रत्योत्पन्न धर्मों को जानना चाहिये।

अतीत महाकुशल प्रथमचित्त में सम्प्रयुक्त चेतना 'नानाक्षणिक कर्मप्रत्यय' है। उस चेतना से कामसुगतिभूमि में प्रतिसन्धि विपाक नामस्कन्ध, प्रतिसन्धि कर्मजरूप, प्रवृत्तिकालिक कुशलविपाक चक्षुर्विज्ञान-आदि विपाक नामस्कन्ध एवं प्रवृत्तिकाल में उत्पन्न सभी इष्ट कर्मजरूप नानाक्षणिक कर्मप्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं।

रूपावचर कुशलचेतना 'प्रत्यय' तथा रूपभूमि में प्रतिसन्धि नामस्कन्ध, कर्मजरूप एवं प्रवृत्ति नामस्कन्ध कर्मजरूप – ये धर्म 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं। संज्ञाविरागभावनारूपी अतीत रूपा-

१. पट्ठान अनु०, पृ० २३२।

विपाकप्रत्यय

१४. **विपाकप्रत्यय की त्रिराशि** – 'विपाकपच्चयो' इस प्रत्ययोद्देश में तीन स्वरूप होते हैं, यथा – प्रत्यय, प्रत्ययोद्देश एवं प्रत्यनीक। उनमें से अन्योन्य का एवं अन्योन्य नामस्कन्ध, चित्तजरूप, प्रतिसन्धिकर्मजरूप का उपकार करनेवाले ३६ विपाकचित्त और ३८ चैतसिक नामक प्रवृत्ति-प्रतिसन्धि ४ नाम-स्कन्ध – ये धर्म विपाकप्रत्यय से उपकार करनेवाले धर्म होते हैं। अन्योन्य की अपेक्षा करके विपाकचित्त ३६, चैतसिक ३८ नामक नामस्कन्ध, उन नाम-स्कन्धों द्वारा यथायोग्य उपकार प्राप्त (विज्ञप्तिद्वयवर्जित) चित्तजरूप एवं प्रतिसन्धिकर्मजरूप – ये धर्म विपाकप्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्नधर्म' होते हैं। कुशलचित्त २१, अकुशलचित्त १२, क्रियाचित्त २० एवं चैतसिक ५२ नामक नामस्कन्ध, उन कुशल, अकुशल और क्रिया नामक नामस्कन्ध के द्वारा यथायोग्य उपकार प्राप्त चित्तजरूप, बाहिररूप, आहारजरूप, ऋतुजरूप, असंज्ञिकर्मजरूप एवं प्रवृत्तिकर्मजरूप – ये धर्म विपाकप्रत्यय के 'प्रत्यनीकधर्म' होते हैं।

वचर पञ्चमध्यान में सम्प्रयुक्त चेतना 'प्रत्यय' है। असंज्ञिकर्मजरूप (प्रतिसन्धि एवं प्रवृत्ति दोनों) 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं।

मार्गजवन में सम्प्रयुक्त चेतना 'प्रत्यय' है। फलजवन नामस्कन्ध 'प्रत्ययोत्पन्न' है।

नानाक्षणिककर्मप्रत्यय समाप्त।

कर्मप्रत्यय समाप्त।

१४. **विपाकप्रत्यय** – विपाकधर्मों का स्वभाव उपर्युक्त चेतना कर्म के स्वभाव से विपरीत होता है। कुशल-अकुशल जवन अनागतकाल में फल देने के लिये, एवं प्रत्युत्पन्न काल में कायकर्म, वाक्कर्म एवं चित्तकर्म नामक क्रियाओं के उत्पाद के लिये व्यापारवान् होते हैं। विपाकचित्त कुशल-अकुशल कर्मों से उत्पन्न होते हैं, अतः उनमें उसी तरह के व्यापार नहीं होते। इसलिये कुशल-अकुशलों की उत्पत्ति शान्ति (धीरे) से नहीं होती, विपाक चित्तों की उत्पत्ति शान्ति के साथ होती है। इन विपाकचित्तों की उपशान्ति सुषुप्ति काल में जब भवङ्ग होते हैं, तब स्पष्ट ज्ञात होती है। सुषुप्ति काल में भवङ्ग नामक चित्तसन्तति ही होती है। इन विपाकचित्तों की उत्पत्ति इतनी सूक्ष्म होती है कि इनमें चित्त उत्पन्न हो रहा है – ऐसा भान नहीं हो पाता। सुषप्तिकाल में कायकर्म, वाक्कर्म एवं चित्तकर्म की क्रिया भी नहीं होती। पञ्चद्वारवीथि के काल में यदि पञ्चविज्ञान, सम्पटिच्छन-आदि विपाकचित्त ही होते, तो उसमें वीथि का होना भी प्रतीत नहीं होता। जवनों के होने से ही पञ्चद्वारवीथियाँ स्पष्ट होती हैं। विपाकचित्त व्यापार-रहित होकर उपशमस्वभाव होते हैं। स्वयं व्यापाररहित होकर उपशान्त होने से सहोत्पन्न धर्मों का भी व्यापाररहित होकर उपशान्त होने के लिये उपकार करते हैं। इस प्रकार का उपकार करने में समर्थ शक्ति 'विपाकप्रत्यय' है।

आहारप्रत्यय

१५. आहारप्रत्यय – 'आहारपच्चयो' – इस प्रत्ययोद्देश में आहार-प्रत्यय रूप-आहार एवं नाम-आहार – इस प्रकार द्विविध होता है।

क. रूप-आहार की त्रिराशि – रूप-आहार में तीन स्वरूप होते हैं, यथा – प्रत्यय, प्रत्ययोद्देश एवं प्रत्यनीक। उनमें से कवलीकार आहार नामक भोजन-आदि में विद्यमान बाह्य ओजस् – ये धर्म रूप-आहारप्रत्यय से उपकार करनेवाले धर्म होते हैं। आहारसमुत्थानरूप – ये धर्म रूप-आहारप्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्नधर्म' होते

"निरुस्साहसन्तभावेन निरुस्साहसन्तभावाय उपकारको विपाकधम्मो विपाकपच्चयो[1]।"

"तेन उस्साहो ति च किरियामयचित्तुप्पादस्स पवत्ति-आकारो वेदितब्बो। तो ब्यापारो ति च वुच्चति न विरियुस्साहो[2]।"

प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न – विपाकचित्तों में आरूप्यविपाक एवं द्विपञ्चविज्ञान रूप का उत्पाद नहीं कर सकते तथा जब अरूपभूमि में होते हैं, तब चार फलचित्त भी रूप का उत्पाद नहीं कर सकते। इसलिये प्रत्ययोत्पन्न में 'यथायोग्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। विपाक नामस्कन्ध विज्ञप्तिरूप का भी उत्पाद नहीं कर सकते। अतः 'विज्ञप्ति-र्वाजत चित्तजरूप' कहा गया है। प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न की उत्पत्ति सहजातप्रत्यय की भाँति जानना चाहिये।

[विशेष – चित्त-चैतासिकों के अन्योन्य उपकार करने पर 'एकक्खन्धं पटिच्च तयो खन्धा' – इस प्रकार 'स्कन्ध' शब्द का प्रयोग किया जाता है तथा चित्त-चैतसिकों के अन्योन्य उपकार न करने पर 'स्कन्ध' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता – यह पट्ठान का नियम है।]

प्रत्यनीक – अभिज्ञावर्जित अर्पणाजवन विज्ञप्तिरूप का उत्पाद न कर सकने के कारण तथा जब अरूपभूमि में होते हैं, तब नामस्कन्ध द्वारा रूप का उत्पाद न किया जा सकने के कारण 'नामस्कन्ध के द्वारा यथायोग्य उपकार प्राप्त चित्तजरूप' – इस प्रकार कहा गया है। नामस्कन्ध केवल चित्तजरूप का ही उपकार करते हैं, अतः 'नामस्कन्ध के द्वारा यथायोग्य उपकार प्राप्त' – इस विशेषण को चित्तजरूप से ही सम्बद्ध करना चाहिये।

विपाकप्रत्यय समाप्त।

१५. आहारप्रत्यय – 'सकसकपच्चयुप्पन्ने आहरतीति आहारो – अपने अपने प्रत्ययोत्पन्न धर्मों को धारण करनेवाले को 'आहार' कहते हैं। यद्यपि हेतु, आलम्बन – आदि प्रत्यय भी अपने से सम्बद्ध प्रत्ययोत्पन्न धर्मों को धारण करते हैं; किन्तु आध्यात्मिक सन्तान में (स्कन्ध-सन्तति में) अत्यन्त उपकार करने से कवलीकार-आदि चार धर्मों को ही 'आहार' कहते हैं।

---

१. पट्ठान अ०, पृ० ३४६।

२. पट्ठान अनु०, पृ० २३२।

हैं। ८९ चित्त, ५२ चैतसिक, चित्तजरूप, प्रतिसन्धिकर्मज रूप, बाहिररूप, ऋतुजरूप, असंज्ञिकर्मज रूप एवं प्रवृत्तिकर्मज रूप – ये धर्म रूप-आहारप्रत्यय के 'प्रत्यनीकधर्म' होते हैं।

अथवा – आध्यात्मिक सन्तान में होनेवाला चतुसमुट्ठानिक ओजस् एवं बाह्य सन्तान में होनेवाला ऋतुज ओजस् – ये धर्म रूप-आहार प्रत्यय से उपकार करनेवाले धर्म होते हैं। समानकलाप-ओजस्-वर्जित समानकलाप एवं असमान-कलाप चतुसमुट्ठानिक रूप–ये धर्म रूप–आहारप्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' धर्म होते हैं। ८९ चित्त, ५२ चैतसिक एवं बाह्यरूप – ये धर्म रूप-आहारप्रत्यय के 'प्रत्यनीक' धर्म होते हैं।

यहाँ प्रत्ययोत्पन्न धर्मों को चिरकाल तक स्थित रहने के लिये उपष्टम्भन करना ही 'धारण' कहा गया है।

इन आहारप्रत्यय धर्मों में केवल उपष्टम्भन शक्ति होती है, उनमें प्रत्ययोत्पन्न धर्मों को उत्पन्न करने में समर्थ जनक-शक्ति नहीं होती – लोगों को इस प्रकार की भ्रान्ति हो सकती है। वस्तुतः उनमें जनकशक्ति भी होती है। जनक-शक्ति से उपकार करने में यहाँ केवल उत्पादमात्र ही इष्ट नहीं है; अपितु निरन्तर प्रवृत्त होने के लिये उपष्टम्भन भी अभिप्रेत होने से 'उपष्टम्भन' शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे – भोजन करते समय उस आहार से केवल आहारजरूप का ही उत्पाद नहीं होता; अपितु उससे सम्पूर्ण शरीर में विद्यमान कर्मज, चित्तज एवं ऋतुजरूप भी उपष्टब्ध एवं पुष्ट होते हैं। इस प्रकार उपष्टब्ध एवं पुष्ट होने से वे कर्मज – आदि रूप अविच्छिन्नरूप से निरन्तर वृद्ध होते रहते हैं। नाम – आहार भी सहोत्पान्न धर्मों का उत्पाद करते हैं एवं निरन्तर वृद्ध होने के लिये उपष्टम्भ भी करते हैं।

"जनयमानो पि हि आहारो अविच्छेदवसेन उपट्ठम्भयमानो येव जनेतीति उपट्ठम्भनभावो आहारभावो[1]।"

प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न – भोजन आदि में विद्यमान ओजस् 'रूप-आहारप्रत्यय' है। आहारसमुट्ठानिक रूप 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं। प्रत्यनीक सुस्पष्ट हैं।

अथवा – प्रथमनय में बाह्य आहार के द्वारा जनक शक्ति से उपकार करने का सामर्थ्यमात्र कहा गया है। यद्यपि वह 'कुसलतिक पटिच्चवार' के अनुकूल है; तथापि आध्यात्मिक आहार द्वारा जनक-शक्ति एवं उपष्टम्भक-शक्ति दोनों से उपकार किये जा सकनेवाले विषय एवं बाह्य आहार के द्वारा उपष्टम्भक-शक्ति से उपकार किये जा सकनेवाले विषय – इत्यादि अनेक विषय अवशिष्ट रह जाते हैं। जैसे – स्कन्ध में कर्मसमुट्ठान रूपसन्तति, चित्त समुट्ठान रूपसन्तति, ऋतुसमुट्ठान रूपसन्तति एवं आहारसमुट्ठान रूपसन्तति – इस प्रकार की अनेक सन्ततियाँ होती हैं। उन रूपसन्ततियों में आनेवाला ओजस् (ऋतु की तरह) आहारसमुट्ठान रूपकलाप का उत्पाद करके अन्य रूप कलापों का उपष्टम्भन कर सकता है। बाह्य ओजस् भी स्कन्ध में आहारजरूप का उत्पाद कर सकता है तथा अपने द्वारा उत्पादित आहारजरूपों से अतिरिक्त अन्य ओजस्-

---

१. पट्ठान मू० टी०, पृ० १७२-१७३।

ख. नाम-आहार की त्रिराशि – नाम-आहारप्रत्यय में तीन स्वरूप होते हैं, जैसे – प्रत्यय, प्रत्ययोत्पन्न एवं प्रत्यनीक। इनमें से स्पर्श, चेतना एवं विज्ञान नामक तीन नाम-आहारधर्म नाम-आहारशक्ति से उपकार करनेवाले धर्म होते हैं। ८९ चित्त, ५२ चैतसिक, चित्तजरूप एवं प्रतिसन्धिकर्मजरूप – ये धर्म नामआहारप्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्नधर्म' होते हैं। बाह्यरूप, आहारजरूप, ऋतुजरूप, असंज्ञिकर्मजरूप एवं प्रवृत्तिकर्मजरूप – ये धर्म नामआहारप्रत्यय के 'प्रत्यनीकधर्म' होते हैं।

द्वारा उत्पादित आहारजरूपों का उपष्टम्भन भी कर सकता है। शेष त्रिजरूप केवल उपष्टम्भन ही कर सकते हैं। इसलिये चूँकि प्रथमनय में अध्यात्मओजस् के द्वारा उत्पाद करने में अध्यात्म एवं बाह्य दोनों ओजस् के द्वारा उपष्टम्भन करना नहीं आता, अतः 'अथवा' कह कर द्वितीयनय का प्रतिपादन किया गया है।

"चतुसन्ततिसमुट्ठानो कबळीकाराहारो किञ्चापि इमस्स कायस्सा ति अविसेसतो वुत्तो। विसेसतो पनायमेत्थ आहारसमुट्ठानरूपस्स जनको चेव अनुपालको च हुत्वा आहारपच्चयेन पच्चयो होति। सेसतिसन्ततिसमुट्ठानस्स अनुपालको हुत्वा आहारपच्चयेन पच्चयो होति[1]।"

प्रत्यय – स्कन्ध के भीतर कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार इन चार कारणों से पृथक्-पृथक् उत्पन्न होनेवाले कर्मसमुट्ठान, चित्तसमुट्ठान, ऋतुसमुट्ठान एवं आहारसमुट्ठान रूप-कलापसन्तति में आनेवाले ओजस् को 'आध्यात्मिक सन्तान में होनेवाला चतुसमुट्ठानिक ओजस्' कहा गया है। बाह्यभोजन – आदि को 'ऋतुज' कहते हैं। उस ऋतुजरूप में आनेवाले ओजस् को 'बाह्यसन्तान में होनेवाला ऋतुज ओजस्' कहा गया है।

प्रत्ययोत्पन्न – 'समानकलापओजस्वर्जित समानकलाप एवं असमानकलाप चतुसमुट्ठानिकरूप' – इसका अभिप्राय है, जैसे – चक्षुर्दशक में आनेवाला ओजस् जब प्रत्यय होता है, तब वह प्रत्ययोत्पन्न में नहीं आ सकता। इससे अवशिष्ट समानकलाप में स्थित ९ रूप एवं असमानकलाप कर्मज, चित्तज, ऋतुज एवं आहारज रूप (स्कन्ध के भीतर विद्यमान सभी रूप) प्रत्ययोत्पन्न होते हैं।

रूप-आहारप्रत्यय समाप्त।

नाम-आहार – जब स्पर्श 'प्रत्यय' होता है, तब चेतना एवं विज्ञान 'प्रत्ययोत्पन्न' होते हैं। जब चेतना 'प्रत्यय' होती है, तब स्पर्श एवं विज्ञान 'प्रत्ययोत्पन्न' होते हैं। जब विज्ञान 'प्रत्यय' होता है, तब स्पर्श एवं चेतना 'प्रत्ययोत्पन्न' होते हैं। इसलिये प्रत्ययोत्पन्न में इन तीनों का वर्जन न कर सभी चित-चैतसिकों का ग्रहण किया गया है। लोभमूल प्रथमचित्त, चैतसिक एवं चित्तज रूप एक साथ उत्पन्न होने पर स्पर्श 'प्रत्यय' होता है। चित्त, स्पर्शवर्जित १८ चैतसिक एवं चित्तज रूप 'प्रत्ययोत्पन्न' होते

---

१. पट्ठान अ०, पृ० ३७८।

इन्द्रियप्रत्यय

१६. **इन्द्रियप्रत्यय** – 'इन्द्रियपच्चयो' इस प्रत्ययोद्देश में इन्द्रियप्रत्यय सहजात इन्द्रिय, पुरेजात इन्द्रिय एवं जीवितेन्द्रिय – इस प्रकार त्रिविध होता है।

क. सहजात इन्द्रियप्रत्यय की त्रिराशि – सहजात इन्द्रियप्रत्यय में तीन स्वरूप होते हैं, यथा – प्रत्यय, प्रत्ययोत्पन्न एवं प्रत्यनीक। इनमें से जीवित, चित्त, वेदना, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, एकाग्रता एवं प्रज्ञा नामक ८ नाम इन्द्रिय धर्म – ये धर्म सहजात इन्द्रियप्रत्यय से उपकार करनेवाले धर्म होते हैं। ८९ चित्त, ५२ चैतसिक, चित्तजरूप एवं प्रतिसन्धिकर्मजरूप – ये धर्म सहजात इन्द्रिय-प्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्नधर्म' होते हैं। वाहिररूप, आहारजरूप, ऋतुजरूप, असंज्ञिकर्मजरूप एवं प्रवृत्तिकर्मजरूप – ये धर्म सहजात इन्द्रियप्रत्यय के 'प्रत्यनीक' धर्म होते हैं।

हैं। उसी तरह चेतना एवं विज्ञान का प्रत्यय होना एवं अवशेष धर्मों का प्रत्ययोत्पन्न होना भी जानना चाहिये। प्रतिसन्धिकृत्य के समय सम्बद्ध चित्त, चैतसिक एवं प्रतिसन्धि कर्मजरूपों के उत्पाद में स्पर्श 'प्रत्यय' होता है तथा चित्त, चैतसिक एवं प्रतिसन्धिकर्मजरूप 'प्रत्ययोत्पन्न' होते हैं – इस प्रकार जानना चाहिये।

नाम – आहार समाप्त।
आहार प्रत्यय समाप्त।

१६. **इन्द्रियप्रत्यय** – 'इन्दतीति इन्द्रियं' – जो धर्म ऐश्वर्यवाला या आधिपत्य करनेवाला होता है, वह 'इन्द्रिय' है। चक्षुःप्रसाद जितना स्वच्छ होता है, उतना ही चक्षुर्विज्ञान के द्वारा रूपालम्बन का दर्शन स्पष्ट होता है। दर्शन की कितनी ही इच्छा होने पर भी यदि चक्षुःप्रसाद दुर्बल होता है, तो दर्शनकृत्य भी दुर्बल हो जाता है। इसलिये चक्षुः-प्रसाद का दर्शनकृत्य पर ऐश्वर्य या आधिपत्य होता है। इसी प्रकार सम्बद्ध कृत्य में अपनी इच्छानुसार आधिपत्य करने में समर्थशक्ति 'इन्द्रिय' कहलाती है। (इन्द्रिय एवं इन्द्रिय की विशेष शक्ति समुच्चयविभाग में देखें।)

सहजात इन्द्रिय – सहोत्पन्न नाम एवं रूप धर्मों पर आधिपत्य करनेवाला धर्म 'सह-जात इन्द्रिय' है। इस धर्म का स्वरूप जीवित, चित्त-आदि ८ नाम इन्द्रिय है।

प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न की उत्पत्ति – लोभमूल प्रथमचित्त, चैतसिक एवं चित्तज-रूप उत्पन्न होते समय उसमें आनेवाला जीवित 'इन्द्रियप्रत्यय' है, शेष चित्त-चैतसिक 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं। लोभमूल प्रथमचित्त 'प्रत्यय' है, सम्प्रयुक्त चैतसिक एवं चित्तजरूप 'प्रत्य-योत्पन्न' हैं। इसी प्रकार वेदना, श्रद्धा, वीर्य-आदि प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न की उत्पत्ति भी जानना चाहिये।

सहजात इन्द्रियप्रत्यय समाप्त।

ख. पुरेजात इन्द्रियप्रत्यय की त्रिराशि – पुरेजात इन्द्रिय में तीन स्वरूप होते हैं। यथा – प्रत्यय, प्रत्ययोत्पन्न एवं प्रत्यनीक। इनमें से मन्दायुक, अमन्दायुक एवं मध्यमायुक – इस प्रकार त्रिविध चक्षुर्वस्तुओं में से मध्यमायुक होकर १ बार अतीत हुए अतीत भवङ्ग के साथ उत्पन्न चक्षुर्वस्तु, मध्यमायुक होकर १ बार अतीत हुए अतीत भवङ्ग के साथ उत्पन्न कायवस्तु – ये धर्म पुरेजात इन्द्रियप्रत्यय से उपकार करनेवाले धर्म होते हैं। द्विपञ्चविज्ञान १०, सर्वचित्तसाधारण चैतसिक ७ – ये धर्म पुरेजात इन्द्रियप्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' धर्म होते हैं। द्विपञ्चविज्ञान १० वर्जित ७९ चित्त, चैतसिक ५२, चित्तजरूप, प्रतिसन्धिकर्मजरूप, बाहिररूप, आहारजरूप, ऋतुजरूप, असंज्ञिकर्मजरूप एवं प्रवृत्तिकर्मजरूप – ये धर्म पुरेजात इन्द्रियप्रत्यय के 'प्रत्यनीकधर्म' होते हैं।

ग. रूपजीवित इन्द्रियप्रत्यय की त्रिराशि – रूपजीवित में तीन स्वरूप होते हैं। यथा – प्रत्यय, प्रत्ययोत्पन्न एवं प्रत्यनीक। इनमें से प्रवृत्ति-प्रतिसन्धि काल के सभी रूप-जीवित-इन्द्रिय – ये धर्म रूप-जीवित इन्द्रिय-शक्ति से उपकार करनेवाले होते हैं। रूपजीवित-इन्द्रियवर्जित समान-कलाप ९ कर्मजरूप – ये धर्म रूपजीवित इन्द्रियप्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं। ८९ चित्त, ५२ चैतसिक, चित्तजरूप, बाहिररूप, आहारजरूप, ऋतुजरूप, प्रतिसन्धिकर्मजरूप, असंज्ञिकर्मजरूप एवं प्रवृत्तिकर्मजरूप में विद्यमान रूप-जीवित इन्द्रिय – ये धर्म रूपजीवित इन्द्रियप्रत्यय के 'प्रत्यनीकधर्म' होते हैं।

पुरेजात इन्द्रिय – चक्षुर्द्वारवीथि में चक्षुर्विज्ञान चक्षुर्वस्तु का आश्रय करता है। वह चक्षुर्वस्तु चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति से पहले उत्पन्न होने से पुरेजात भी होती है तथा दर्शनकृत्य में आधिपत्य होने से 'इन्द्रिय' भी होती है। अतः उसमें पुरेजात इन्द्रिय-शक्ति होती है। श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एवं काय इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार जानना चाहिये। मन्दायुक-आदि का ज्ञान निश्रयप्रत्यय की तरह कर लेना चाहिये। चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति से पहले उत्पन्न होकर स्थितिक्षण में पहुँचनेवाली चक्षुर्वस्तु 'प्रत्यय' है, चक्षुर्विज्ञान, सर्वचित्तसाधारण ७ चैतसिक 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं – इस प्रकार प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न का भेद जानना चाहिये।

पुरेजात इन्द्रियप्रत्यय समाप्त।

रूपजीवित इन्द्रिय – चाहे प्रवृत्तिकाल हो चाहे प्रतिसन्धिकाल – जब जब कर्मजकलाप होते हैं, तब तब जीवित रूप भी होते हैं। वे जीवितरूप अपने साथ एक कलाप में होनवाले कर्मजरूपों का अनुपालन करते हैं और अनुपानकृत्य में उनका आधिपत्य होता है। इसलिये प्रवृत्ति एवं प्रतिसन्धि काल के सभी रूपजीवित इन्द्रियप्रत्यय होते हैं। वे रूपजीवित सर्वदा प्रत्यय होने से प्रत्ययोत्पन्न में न आकर प्रत्यनीक में आते हैं।

चक्षुर्दशक कलाप में जीवितरूप 'प्रत्यय' है, जीवित से शेष समानकलाप (एक ही कलाप में होनेवाले) ६ कर्मजरूप 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं। श्रोत्रदशक-आदि ८ कर्मजकलापों के बारे में भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

यहाँ प्रश्न होता है कि रूपजीवित को सहजात कर्मजरूपों का उपकार करने से सहजात इन्द्रिय में गृहीत होना चाहिये; क्यों उसे पृथक् इन्द्रिय निरूपित किया गया है ?

उत्तर – यद्यपि जीवित सहजात समानकलाप कर्मजरूपों का उत्पाद करते हैं; तथापि वे उनका नाम-इन्द्रिय की तरह उत्पादक्षण में स्पष्टतया उपकार नहीं कर सकते। जिस प्रकार ओजस् अपने सहोत्पन्न रूपों का उपष्टम्भन करता है, उसी प्रकार जीवितरूप भी स्थितिक्षण में पहुँचने पर ही अनुपालक के रूप में उनका उपकार करता है। इसलिये रूप-जीवित को सहजात एवं पुरेजात – इन दोनों में सम्मिलित न करके पृथक् निरूपित किया गया है।

"रूपजीवितेन्द्रियं चेत्थ ओजा विय ठितिक्खणे उपकारकत्ता सहजातपच्चयेसु न गह्यतीति विसुं वुत्तं[1]।"

दो भाव इन्द्रियाँ प्रत्यय नहीं – स्त्रीन्द्रिय एवं पुरुषेन्द्रिय में क्यों इन्द्रियप्रत्यय-शक्ति नहीं मानी जाती ? लिङ्ग, निमित्त, कुत्त एवं आकप्प – ये भावरूपों के फल (प्रत्ययोत्पन्न) हैं, अतः स्त्रीन्द्रिय एवं पुरुषेन्द्रिय 'इन्द्रियप्रत्यय' हैं और लिङ्ग-आदि इन्द्रियप्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं – इस प्रकार क्यों नहीं माना जाता ?

उत्तर – यह इन्द्रियप्रत्यय अस्तिप्रत्यय में सम्मिलित है, अतः यदि इन्द्रियप्रत्यय होता है, तो उसे अस्तिप्रत्यय भी होना चाहिये। अस्तिप्रत्यय का स्वभाव प्रत्यय एवं प्रत्ययो-त्पन्न दोनों का चाहे उत्पादक्षण हो चाहे स्थितिक्षण विद्यमान होना है। भावरूप प्रतिसन्धिक्षण में ही होते हैं; किन्तु उस प्रतिसन्धिक्षण में लिङ्ग-आदि नहीं होते – इस प्रकार जब भावरूप होते हैं, तब लिङ्ग-आदि के विद्यमान न होने से अस्तिस्वभाव सिद्ध न होने के कारण भावरूपों द्वारा लिङ्ग-आदि का इन्द्रिय-शक्ति से उपकार नहीं किया जा सकता।

प्रश्न – यदि प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न दोनों के विद्यमान होने पर ही उपकार होता है, तो इसे भावदशक कलाप में अपने साथ उत्पन्न होनेवाले ६ रूपों का एवं जिस प्रकार ओजस् अन्यकलाप में विद्यमान रूपों का उपष्टम्भक के रूप में उपकार करता है, उसी तरह (भावरूप को) अन्य कलाप में विद्यमान रूपों का उपष्टम्भक के रूप में उपकार करना चाहिये ?

उत्तर – इसका सहोत्पन्न ६ रूपों पर एवं अन्य कलापों में होनेवाले रूपों पर किसी भी तरह से आधिपत्य नहीं हो सकता – इसलिये सहोत्पन्न रूपों का एवं अन्य कलापों में विद्यमान रूपों का भावरूप के द्वारा उपकार नहीं किया जा सकता।

"यस्मा पन भावदसके पि रूपानं इत्थिन्द्रियं न जनकं, नापि अनुपालकं, उपट्ठम्भकं वा, न च अञ्ञकलापरूपानं; तस्मा तं जीवितिन्द्रियं विय सकलापरूपानं, आहारो विय वा

१. विभा०, पृ० १६१।
अभि० स० : १३२

ध्यानप्रत्यय

१७. ध्यानप्रत्यय की त्रिराशि – 'झानपच्चयो' – इस प्रत्ययोद्देश में तीन स्वरूप होते हैं, यथा – प्रत्यय, प्रत्ययोद्देश एवं प्रत्यनीक। इनमें से १० द्विपञ्च-विज्ञान वर्जित ७९ चित्त में होनेवाले वितर्क, विचार, प्रीति, एकाग्रता एवं वेदना नामक ५ ध्यान धर्मस्वरूप – ये धर्म ध्यानशक्ति से उपकार करने-वाले धर्म होते हैं। द्विपञ्चविज्ञानवर्जित ७९ चित्त, ५२ चैतसिक, चित्तज-रूप एवं प्रतिसन्धिकर्मजरूप – ये धर्म ध्यान प्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्नधर्म' होते हैं। द्विपञ्चविज्ञान १०, सर्वचित्तसाधारण चैतसिक ७, बाह्यरूप, आहारज-रूप, ऋतुजरूप, असंज्ञिकर्मजरूप एवं प्रवृत्तिकर्मजरूप – ये धर्म ध्यानप्रत्यय के 'प्रत्यनीक' धर्म होते हैं।

कलापन्तररूपानञ्च इन्द्रिय-अत्थि-अविगतपच्चयो ति न वुत्तं। एस नयो पुरिसि-न्द्रिये पि[1]।"

प्रश्न – इन्द्रियशक्ति न होने के कारण जब ये भावरूप लिङ्ग-आदि का उपकार नहीं कर सकते एवं सहजातरूपों का भी उपकार नहीं कर सकते, तो फिर क्यों उन्हें 'इन्द्रिय' कहा जाता है ?

उत्तर – भावरूपद्वय यद्यपि लिङ्ग-आदि का इन्द्रिय-शक्ति से उपकार नहीं कर सकते; तथापि वे सूत्रान्तनय के अनुसार प्रकृत्युपनिश्रय शक्ति से उपकार कर सकते हैं, अतः उसमें ऐश्वर्य (आधिपत्य) होता है, इसलिये उन्हें 'इन्द्रिय' कहते हैं। अर्थात् जिस सन्तान में स्त्रीभावरूप होता है, उस सन्तान में उस (भावरूप) के बल से लिङ्ग, निमित्त, कुत्त एवं आकप्प-आदि कोमल एवं शरीरावयव छोटे होते हैं। जिस सन्तान में पुरुषभावरूप होता है, उस सन्तान में लिङ्ग, निमित्त, कुत्त एवं आकप्प-आदि कठोर एवं शरीरावयव बड़े होते हैं[2]। यहाँ भावरूप के द्वारा 'हमारी सन्तान में लिङ्ग-आदि इस प्रकार के होने चाहिये' – इस प्रकार का प्रणिधान नहीं किया जाता; फिर भी उनमें सूत्रान्त प्रकृत्युपनिश्रयशक्तिरूप ऐश्वर्य होने के कारण उन्हें 'इन्द्रिय' कहा गया है।

रूपजीवित इन्द्रियप्रत्यय समाप्त।

इन्द्रियप्रत्यय समाप्त।

१७. ध्यानप्रत्यय – 'झायति उपनिज्झायतीति झानं' – जो आलम्बन का उपनिध्यान करता है वह 'ध्यान' है। यहाँ 'झायति' शब्द की व्याख्या 'उपनिज्झायति' – की गई है। इसमें 'उप' शब्द आलम्बन के समीप पहुँच कर उसमें संलग्न रहने का द्योतक है। अर्थात् किसी एक आलम्बन पर सटे रहने की तरह ध्यान करने को 'उपनिध्यान' कहते हैं। उस तरह ध्यान करने में समर्थशक्ति 'ध्यानप्रत्यय'

---

१. ध० स० मू० टी०, पृ० १५०-१५१।

२. लिङ्ग-आदि की व्युत्पत्ति – अट्ठ०, पृ० २५८ में देखें।

मार्गप्रत्यय

१८. **मार्गप्रत्यय की त्रिराशि** – 'मग्गपच्चयो' इस प्रत्ययोद्देश में तीन स्वरूप होते हैं, यथा – प्रत्यय, प्रत्ययोद्देश एवं प्रत्यनीक। उनमें से सहेतुक ७१ चित्त में होनेवाले प्रज्ञा, वितर्क, सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्म्मान्त, सम्यग्-आजीव, वीर्य, स्मृति, एकाग्रता एवं दृष्टि नामक ९ मार्गाङ्ग धर्मस्वरूप – ये धर्म मार्ग-शक्ति से उपकार करनेवाले "प्रत्ययधर्म' होते हैं। सहेतुकचित्त ७१, चैतसिक ५२, सहेतुक चित्तजरूप, सहेतुक प्रतिसन्धि कर्मज रूप – ये धर्म मार्गप्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्नधर्म' होते हैं। अहेतुकचित्त १८, छन्दवर्जित अन्य-समान चैतसिक १२, अहेतुक चित्तजरूप, अहेतुक प्रतिसन्धिकर्मज रूप, बाह्यरूप, आहारजरूप, ऋतुजरूप, असंज्ञिकर्मज रूप एवं प्रवृत्तिकर्मज रूप – ये धर्म मार्ग-प्रत्यय के 'प्रत्यनीकधर्म' होते हैं।

है। इस उपनिध्यानशक्ति से ध्यान करते समय आलम्बन अत्यन्त व्यक्त हो जाता है। इसीलिये अनुटीका में कहा गया है –

"उपगन्त्वा निज्झानं ति उपनिकच्च निज्झानज्झानारम्मणस्स ञानचक्खुना ब्यत्ततरं ओलोकनं अत्थतो चिन्तनमेव होति[1]।"

पूर्वाचार्यों ने इस ध्यानप्रत्यय की उपमा वृक्ष या पर्वत-आदि पर आरोहण करनेवालों से दी है। जैसे – वृक्षारोही या पर्वतारोही पुद्गल वहाँ स्थित होकर नानाविध वस्तुओं को स्वयं भी देखता है और नीचे आकर दूसरों को भी कहता है। उसी तरह वितर्क-आदि ध्यानधर्म स्वयं भी आलम्बन का ध्यान (चिन्तन) करके उसे ग्रहण करते हैं तथा सहजात-धर्मों का भी अपनी ही तरह आलम्बन का ध्यान करने के लिये ध्यानशक्ति से उपकार करते हैं। इसीलिये वितर्क-आदि की सहायता से किसी एक आलम्बन में एकाग्रता होते समय सम्प्रयुक्त धर्म भी उसी आलम्बन में एकाग्रता के साथ दृढ़तापूर्वक आलम्बन करते हैं।

प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्न – लोभमूल प्रथमचित्त, चैतसिक एवं चित्तजरूपों का सहोत्पाद होने पर वितर्क 'प्रत्यय', वितर्क से अवशिष्ट चित्त, १८ चैतसिक एवं चित्तजरूप 'प्रत्ययो-त्पन्न' होते हैं। इसी तरह विचार, प्रीति, एकाग्रता एवं वेदना भी जानना चाहिये। प्रतिसन्धि-काल में प्रतिसन्धि कर्मजरूपों को प्रत्ययोत्पन्न में गृहीत करना चाहिये। अरूपभूमि में प्रत्य-योत्पन्न में रूपधर्म नहीं होते।

ध्यानप्रत्यय समाप्त।

१८. **मार्गप्रत्यय** – 'मार्ग' शब्द आने-जाने के रास्ते के अर्थ में प्रयुक्त होता है। उस रास्ते के सदृश होनेवाले प्रज्ञा – आदि धर्म भी मार्ग कहे जाते हैं। जैसे – मार्ग अच्छे प्रदेश या बुरे प्रदेश में पहुँचानेवाले होते हैं, उसी तरह प्रज्ञा-आदि सम्यक् मार्गाङ्ग हैं। ये

१. पट्ठान अनु०, पृ० २३५।

सम्प्रयुक्तप्रत्यय

१९. सम्प्रयुक्तप्रत्यय की त्रिराशि – 'सम्पयुत्तपच्चयो' – इस प्रत्ययोद्देश में तीन स्वरूप होते हैं, यथा-प्रत्यय, प्रत्ययोद्देश एवं प्रत्यनीक। इनमें से अन्योन्य उपकार करनेवाले सभी ८९ चित्त, ५२ चैतसिक नामक प्रवृत्ति-प्रतिसन्धि नामस्कन्ध ४ – ये धर्म सम्प्रयुक्त-शक्ति से उपकार करनेवाले 'प्रत्यय-धर्म' होते हैं। अन्योन्य अपेक्षित सभी ८९ चित्त एवं ५२ चैतसिक नामक प्रवृत्ति – प्रतिसन्धि नामस्कन्ध ४ – ये धर्म सम्प्रयुक्तप्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' धर्म होते हैं। चित्तजरूप, प्रतिसन्धिकर्मज रूप, बाह्यरूप, आहारजरूप, ऋतुजरूप, असंज्ञिकर्मज रूप एवं प्रवृत्तिकर्मज रूप – ये धर्म सम्प्रयुक्त-प्रत्यय के 'प्रत्यनीकधर्म' होते हैं।

दुर्गतिभव से सुगति भव एवं संक्लिष्ट भाग से व्यवदान (पवित्र) भाग में पहुँचाते हैं तथा दृष्टि-आदि मिथ्या मार्गाङ्ग सुगति-भव से दुर्गति-भव एवं व्यवदान-भाग से संक्लिष्ट-भाग में पहुँचाते हैं। इसी प्रकार चाहे मिथ्या हों चाहे सम्यक् उन-उन भवों एवं भागों में पहुँचानेवाली शक्ति 'मार्गप्रत्यय' है। अनुटीका आदि में पूर्वाचार्यों ने इस 'मार्गप्रत्यय' की नाव से उपमा दी है। जैसे – नाव इस पार से उस पार या उस पार से इस पार पहुँचाती है, उसी तरह ये धर्म सुगति से दुर्गति या दुर्गति से सुगति में पहुँचाते हैं[1]।

प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्न – लोभमूल प्रथमचित्त में वितर्क, वीर्य, एकाग्रता एवं दृष्टि सम्प्रयुक्त होने पर वितर्क 'मार्गप्रत्यय' है, लोभमूल प्रथमचित्त, वितर्कवर्जित चैतसिक १८ एवं चित्तजरूप 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं। इसी प्रकार सभी मार्गाङ्गों से सम्बद्ध प्रत्यय तथा प्रत्ययोत्पन्न के भेद जानना चाहिये।

मार्गप्रत्यय समाप्त।

१९. सम्प्रयुक्तप्रत्यय – 'सम्प्रयुक्त' में 'सं' (सम्) शब्द 'सम' (अविषम) अर्थ में तथा 'प' (प्र) शब्द 'प्रकार' (प्रकार) अर्थ में प्रयुक्त होता है। जिस प्रकार घृत, मधु, शर्करा एवं तैल – इन चारों पदार्थों को फेंट कर अच्छी तरह एकीभूत करके चतुर्मधु बनाते हैं, उसमें 'यह घृत का रस है, यह मधु का रस है' – इत्यादि प्रकार से विभाजन नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार ४ नामस्कन्ध भी जब सहोत्पन्न होते हैं, तब वे इतने समीकृत (एकीभूत) होते हैं कि 'यह विज्ञानस्कन्ध का स्वभाव है' 'यह वेदनास्कन्ध का स्वभाव है' – इत्यादि प्रकार से नहीं जाना जा सकता। अतः ४ नामस्कन्धों के एकोत्पाद आदि लक्षणों से एकीभूत होकर सम्प्रयुक्त होने में उन्हें अन्योन्य विरोधी न होने देकर एक दूसरे के स्वभाव के अनुकूल करने में समर्थशक्ति 'सम्प्रयुक्तप्रत्यय' है। ['अन्योन्य उपकार करनेवाले' एवं 'अन्योन्य अपेक्षित' की व्याख्या सहजातप्रत्यय की तरह जानें।]

---

१. पट्ठान अनु०, पृ० २३६।

विप्रयुक्तप्रत्यय

२०. **विप्रयुक्तप्रत्यय** – 'विप्पयुत्तपच्चयो' – इस प्रत्ययोद्देश में विप्रयुक्त-प्रत्यय सहजातविप्रयुक्त, पुरेजातविप्रयुक्त एवं पश्चाज्जात विप्रयुक्त – इस प्रकार त्रिविध होता है।

क. सहजात विप्रयुक्त की त्रिराशि – सहजातविप्रयुक्त में तीन स्वरूप होते हैं। यथा – प्रत्यय, प्रत्ययोद्देश एवं प्रत्यनीक। उनमें से जब पञ्चवोकारभूमि में होते हैं, तब एवं पञ्चवोकारभूमि में सर्वदा होनेवाले अरूपविपाक ४, द्विपञ्च-विज्ञान १० एवं अर्हत् के च्युतिवर्जित ७५ चित्त, ५२ चैतसिक नामक प्रवृत्तिप्रति-सन्धि नामस्कन्ध ४, अन्योन्य का उपकार करनेवाले पञ्चवोकार प्रतिसन्धि-नामस्कन्ध एवं हृदयवस्तु – ये धर्म सहजातविप्रयुक्त शक्ति से उपकार

प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न – लोभमूल प्रथमचित्त एवं सम्प्रयुक्त चैतसिक नामक ४ स्कन्धों के सहोत्पन्न होने पर विज्ञानस्कन्ध 'प्रत्यय', चैतसिकस्कन्ध ३ 'प्रत्ययोत्पन्न', वेदना-स्कन्ध 'प्रत्यय' शेष ३ स्कन्ध 'प्रत्ययोत्पन्न' – इसी प्रकार तीन स्कन्ध 'प्रत्यय' एक स्कन्ध 'प्रत्ययोत्पन्न', दो स्कन्ध 'प्रत्यय' दो स्कन्ध 'प्रत्ययोत्पन्न'-आदि अर्हत्-फल नामस्कन्धपर्यन्त जानना चाहिये। रूपधर्म एकोत्पाद आदि चार लक्षणों के अनुसार सम्प्रयुक्त न होने से प्रत्यनीक में सङ्गृहीत होते हैं।

सम्प्रयुक्तप्रत्यय समाप्त।

२०. **विप्रयुक्तप्रत्यय** – यह विप्रयुक्तप्रत्यय सम्प्रयुक्तप्रत्यय से विपरीत है। एकोत्पादत्व आदि प्रकारों से सम्प्रयुक्त न होने के कारण प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न दोनों को अन्योन्य अनुकूल न हो सकने देने में समर्थशक्ति 'विप्रयुक्तप्रत्यय' है; किन्तु सभी सम्प्रयुक्त न होनेवाले धर्मों को विप्रयुक्त नहीं कह सकते। 'यत्थ आसङ्का तत्थ पटिसेधो कातब्बो' – इस परि-भाषा के अनुसार 'यह सम्प्रयुक्तधर्म है कि नहीं?' – ऐसी आसङ्का होने के लिये प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न दोनों के एक साथ समागत (सम्मिलित) होने पर, सम्प्रयुक्त न होने का कारण जानने के लिये विप्रयुक्त कहा गया है। इसलिये पूर्वाचार्यों ने इसे मिले हुए ६ रसों की तरह कहा है। जैसे – ६ रसों को मिलाकर रखने पर भी एक दूसरे से संसृष्ट न होने से वे एकीभूत नहीं होते, उसी तरह प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न एक साथ सम्मिश्रित होने पर भी अन्योन्य अनुकूल न हो सकने के कारण वे एकीभूतरूप से सम्प्रयुक्त नहीं होते; अपितु विप्रयुक्त ही होते हैं।

सहजातविप्रयुक्त – (अरूपविपाक, द्विपञ्चविज्ञान एवं अर्हत् की च्युति रूपधर्मों का उत्पाद न कर सकने के कारण तथा जब अरूपभूमि में होते हैं, तब चित्त भी रूपधर्मों का उत्पाद न कर सकने के कारण – इन चित्तों को वर्जित करके पञ्चवोकारभूमि में होनेवाले ७५ चित्तों का ही ग्रहण किया गया है।)

सहजात विप्रयुक्त प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्नधर्म सहजातप्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न में सङ्गृहीत हुए हैं, अतः वे सम्प्रयुक्तधर्म हैं कि नहीं?' – इस प्रकार वे शंका के योग्य धर्म होते

करनेवाले 'प्रत्ययधर्म' होते हैं। चित्तजरूप, प्रतिसन्धिकर्मजरूप, पञ्चवोकार-प्रतिसन्धि नामस्कन्ध से अपेक्षित हृदयवस्तु एवं हृदयवस्तु से अपेक्षित पञ्चवोकार प्रतिसन्धि नामस्कन्ध – ये धर्म सहजात विप्रयुक्तप्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' धर्म होते हैं। पञ्चवोकार प्रतिसन्धि नामस्कन्ध से अवशिष्ट ८९ चित्त, ५२ चैतसिक, बाह्यरूप, आहारजरूप, ऋतुजरूप, असंज्ञिकर्मज-रूप एवं प्रवृत्तिकर्मजरूप – ये धर्म सहजात विप्रयुक्तप्रत्यय के 'प्रत्यनीकधर्म' होते हैं।

ख. ग. पुरेजातविप्रयुक्त दोनों पुरेजात प्रत्ययों की तरह है तथा पश्चा-ज्जातविप्रयुक्त पश्चाज्जातप्रत्यय की तरह है।

हैं। अर्थात् प्रतिसन्धिकृत्य करनेवाले चित्त प्रतिसन्धिकाल में कर्मजरूपों के साथ होते हैं। वे प्रतिसन्धिचित्त एवं प्रतिसन्धिकर्मजरूप प्रतिसन्धि के उत्पादक्षण में एक साथ समागत होने से 'अन्योन्य सम्प्रयुक्त हैं कि नहीं' – ऐसा सन्देह होता है। प्रतिसन्धि चित्त-चैतसिक नामक नामस्कन्ध एवं आश्रयभूत हृदयवस्तु भी प्रतिसन्धिक्षण में एक साथ होते हैं। प्रवृत्तिकाल में उपर्युक्त ७५ चित्त एवं चैतसिक भी अपने द्वारा उत्पन्न चित्तज रूपों के साथ युगपत् उत्पन्न होते हैं। इसलिये 'वे चित्त एवं रूप सम्प्रयुक्त हैं कि नहीं' – ऐसी शंका होती है। इस प्रकार एकसाथ होने के कारण 'वे सम्प्रयुक्त हैं कि नहीं' – इस प्रकार का सन्देह होने योग्य होने से उन्हें विप्रयुक्त कहा गया है। यथा –

"सम्पयुज्जमानानं हि अरूपानं रूपेहि, रूपानञ्च तेहि सिया सम्पयोगासंका ति तेसं अञ्ञमञ्ञविप्पयुत्तपच्चयता वुत्ता[1]।"

रूपधर्म अन्योन्य विप्रयुक्त नहीं होते – रूपधर्म परस्पर एक दूसरे के विप्रयुक्त भी नहीं होते। सहजातप्रत्यय में चित्त-चैतसिक नामस्कन्धों का परस्पर उपकार दिखलाया गया है। वे नामस्कन्ध अन्योन्य एकान्त सम्प्रयुक्त होने से सहजातविप्रयुक्त नहीं हो सकते। सहजातप्रत्यय में महाभूत अन्योन्य का एवं महाभूत उपादायरूपों का उपकार करते हैं – यह दिखलाया गया था। वे रूप सम्प्रयुक्त एवं विप्रयुक्त दोनों नहीं होते, अतः उन्हें इस विप्रयुक्तप्रत्यय में सङ्गृहीत नहीं किया गया है। धातुकथा में "चतूहि-सम्पयोगो चतूहि विप्पयोगो[2]" – इस प्रकार कहकर सम्प्रयुक्त और विप्रयुक्त का लक्षण नाम-स्कन्ध से ही सम्बद्ध दिखलाया गया है, अतः महाभूत अन्योन्य के एवं महाभूत उपादायरूपों के अविनिर्भोग रूप होने से एक साथ होने पर भी सम्प्रयुक्त एवं विप्रयुक्त दोनों नहीं होने के कारण उनमें विप्रयुक्त-शक्ति नहीं होती।

"रूपानं पन रूपेहि सति पि अविनिब्भोगे विप्पयोगो येव नत्थीति न तेसं विप्प-युत्तपच्चयता। वुत्तं हि 'चतूहि सम्पयोगो चतूहि विप्पयोगो' ति[3]।"

---

१. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० २८५।

२. धातु०, पृ० ४।

३. पट्ठान मू० टी०, पृ० १७४।

प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्न – लोभमूल प्रथम चित्त-चैतसिक नामस्कन्ध से चित्तजरूपों के उत्पन्न होने पर ४ नामस्कन्ध 'विप्रयुक्तप्रत्यय' हैं। चित्तजरूप विप्रयुक्तप्रत्यय के 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं – इस प्रकार अर्हत्फलचित्तपर्यन्त जानना चाहिये। प्रतिसन्धिकाल में महाविपाक प्रथम चित्त-चैतसिक नामस्कन्ध के साथ प्रतिसन्धि कर्मजरूपों के उत्पन्न होने पर प्रतिसन्धि-नामस्कन्ध 'प्रत्यय' प्रतिसन्धि कर्मजरूप 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं। प्रतिसन्धिकाल में महाविपाक चित्त-चैतसिक नामक नामस्कन्ध एवं हृदयवस्तु के साथ उत्पन्न होने पर प्रतिसन्धि नामस्कन्ध 'प्रत्यय' एवं हृदयवस्तु 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं तथा हृदयवस्तु 'प्रत्यय' एवं नामस्कन्ध 'प्रत्ययोत्पन्न' हैं – इसी प्रकार सब जानना चाहिये।

पुरेजातविप्रयुक्त – 'पुरेजात विप्रयुक्त दोनों पुरेजात प्रत्ययों की तरह है' – इस प्रकार कहने से पुरेजातप्रत्यय में कथित वस्तुपुरेजात एवं आलम्बनपुरेजात दोनों के सदृश यह पुरेजातविप्रयुक्त होता है – ऐसी भ्रान्ति हो सकती है। वस्तुतः उन दोनों पुरेजातप्रत्ययों से नहीं; अपितु पुरेजातनिश्रय में वर्णित वस्तुपुरेजातनिश्रय एवं वस्त्वालम्बन पुरेजातनिश्रय – इन दोनों के सदृश यह होता है। क्योंकि रूपालम्बन-आदि आलम्बन आलम्बनक धर्मों से सम्प्रयुक्त न होने के कारण विप्रयुक्त ही नहीं होते। अपि च वे आलम्बन स्कन्ध के बाहर भी हो सकने के कारण आलम्बनकचित्तों से सम्प्रयुक्त होते हैं कि नहीं? – इस प्रकार का सन्देह भी नहीं होता, इसलिये विप्रयुक्तप्रत्यय न होने से आलम्बन-पुरेजात में आनेवाले रूपालम्बन-आदि आलम्बनपुरेजातविप्रयुक्त नहीं कहे जा सकते।

"रूपायतनादयो पन आरम्मणधम्मा किञ्चापि विप्पयुत्तधम्मा, विप्पयुत्तपच्चया पन न होन्ति; किंकारणा? सम्पयोगासंकाय अभावतो"[1]।"

वस्तुरूप एवं विज्ञान की विप्रयुक्तता – चक्षुर्वस्तु-आदि का आश्रय करके चक्षु-र्विज्ञान-आदि के उत्पन्न होने से (पहले अनुपस्थित) विज्ञान वस्तुरूपों के भीतर से निकल कर आने की तरह होता है, इसलिये वस्तु एवं विज्ञान सम्प्रयुक्त हैं कि नहीं – ऐसा सन्देह हो सकता है। उस सन्देह का निराकरण करने के लिये सब वस्तुरूपों को विप्रयुक्त कहा गया है। (प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्न की उत्पत्ति वस्तुपुरेजातप्रत्यय की तरह है)।

"अरूपक्खन्धा चक्खादीनं वत्थूनं अब्भन्तरतो निक्खमन्ता विय उप्पज्जन्तीति सिया तत्थ आसंका 'किन्नु खो इमे इमेहि सम्पयुत्ता उदाहु विप्पयुत्ता'[2] ?"

पश्चाज्जातविप्रयुक्त – पश्चिम-पश्चिम उत्पन्न चित्तों का अपने पूर्व उत्पन्न तथा स्थिति-क्षण में विद्यमान रूपों के साथ समागम होने पर 'वे चित्त एवं रूप सम्प्रयुक्त हैं कि नहीं' – ऐसा सन्देह हो सकता है, अतः उन्हें विप्रयुक्त कहा गया है।

विप्रयुक्त के प्रभेद – विप्रयुक्त अभावविप्रयुक्त एवं विसंसृष्टविप्रयुक्त – इस प्रकार द्विविध होता है। चित्तपरिच्छेद के 'दिट्ठिगतविप्पयुत्तं' – आदि में आनेवाला विप्रयुक्त 'अभावविप्रयुक्त' हैं। उस चित्त में दृष्टि का न होना विप्रयुक्त कहा गया है। धातु-कथा एवं पट्ठान में आनेवाले विप्रयुक्त 'विसंसृष्टविप्रयुक्त' हैं। वहाँ अन्योन्य समागम

१. पट्ठान अ०, पृ० ३८१; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० २८६।
२. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० २८६।

अस्तिप्रत्यय

२१. अस्तिप्रत्यय की त्रिराशि – 'अत्थिपच्चयो' – इस प्रत्ययोद्देश में अस्तिप्रत्यय सहजातास्ति, पुरेजातास्ति, पश्चाज्जातास्ति, आहारास्ति एवं इन्द्रियास्ति – इस तरह पाँच प्रकार का होता है। उनमें से सहजातास्ति तीन सहजात की तरह होता है। पुरेजातास्ति दो पुरेजात की तरह होता है। पश्चाज्जातास्ति पश्चाज्जात की तरह होता है। आहारास्ति रूप-आहार की तरह होता है एवं इन्द्रियास्ति रूपजीवित इन्द्रियप्रत्यय की तरह होता है।

२२-२४. नास्ति एवं विगत प्रत्यय अनन्तरप्रत्यय की तरह होते हैं एवं अविगत अस्तिप्रत्यय की तरह होता है।

पट्ठानत्रिराशि समाप्त।

होने पर भी उनमें संसृष्ट स्वभाव न होना विप्रयुक्त कहा गया है। इन में से धातुकथा विप्रयुक्त में युक्त एवं अयुक्त दोनों को 'विप्रयुक्त' कहा गया है। सहोत्पन्न नाम एवं रूप धर्म एक साथ होने से युक्त होते हैं तथा एकोत्पादता-आदि ४ लक्षणों से संसृष्ट न होने से विप्रयुक्त भी होते हैं। नाम एवं निर्वाण तथा जाति, काल, भूमि, एवं सन्तान भेदवाले नामधर्मों का अन्योन्यसंसर्ग न होने से वे अयुक्त हैं तथा वे अयुक्त धर्म विप्रयुक्त भी कहे गये हैं।

पट्ठान में युक्त होनेवाले (प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न परस्पर संसृष्ट होनेवाले) नाम एवं रूपधर्म ही विप्रयुक्त कहे गये हैं। इसलिये धातुकथा एवं पट्ठान के विप्रयुक्त विसंसृष्ट-विप्रयुक्त के रूप में सदृश होने पर भी धातुकथा विप्रयुक्त में युक्त एवं अयुक्त दोनों होते हैं, पट्ठान विप्रयुक्त में केवल युक्त ही होते हैं।

विप्रयुक्तप्रत्यय समाप्त।

२१-२४. अस्तिप्रत्यय – अस्तिस्वभाव से उपकार करनेवाली शक्ति 'अस्तिप्रत्यय' है। 'अस्ति' इस शब्द के अनुसार इस प्रत्यय में प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न दोनों को प्रत्युत्पन्नकाल में विद्यमान होना चाहिये। अर्थात् चाहे उत्पादक्षण हो, चाहे स्थितिक्षण हो या चाहे भङ्ग-क्षण हो, विद्यमानत्व को ही 'प्रत्युत्पन्नकाल में विद्यमान' कहते हैं। इसलिये पूर्वाचार्यों ने अस्तिप्रत्यय की उपमा वृक्षों का उपष्टम्भन करनेवाली पृथ्वी एवं सुमेरु-आदि पर्वतों से दी है। पृथ्वी एवं पर्वत अपनी विद्यमान अवस्था में अपने ऊपर सम्बद्ध बीज से उत्पन्न (विद्यमान) वृक्षों का पुष्ट होने के लिये उपष्टम्भन करते हैं। इसी तरह अस्तिप्रत्यय-धर्म भी अपने विद्यमान क्षण में अपने समान विद्यमान धर्मों का उपकार करते हैं।

"पच्चुप्पन्नलक्खणेन अत्थिभावेन तादिसस्सेव धम्मस्स उपट्ठम्भकट्ठेन उपकारको धम्मो अत्थिपच्चयो[1]।"

---

१. पट्ठान-अ०, पृ० ३५१।

इस अस्तिप्रत्यय में जनक एवं उपष्टम्भक दोनों शक्तियाँ यथायोग्य होती हैं; किन्तु 'अस्ति' – इस शब्द का गम्भीरतया विचार करने पर ज्ञात होगा कि उत्पाद के अनन्तर स्थितिक्षण में पहुँचने पर ही 'अस्ति' शक्ति स्पष्ट व्यक्त होती है। अर्थात् उत्पाक्षण एवं भङ्गक्षण में अस्ति स्वभाव होने पर भी उत्पद्यमान एवं निरुध्यमान धर्मों में अस्ति स्वभाव स्पष्ट नहीं होता, वह स्थितिक्षण में ही स्पष्ट होता है। इस प्रकार अस्तिप्रत्यय में जनक-शक्ति की अपेक्षा उपष्टम्भकशक्ति के ही प्रधान होने से अट्ठकथा में 'उपट्ठम्भकट्ठेन' तथा मूलटीका में "सति पि जनकत्ते उपट्ठम्भकपधाना[1]" एवं अनुटीका में "पच्चयधम्मस्स यदि पि उप्पादतो पट्ठाय याव भङ्गा लब्भमानत्ता अत्थिभावो, तथापि तस्स यथा उप्पादक्खणतो ठितिक्खणे सातिसयो व्यापारो, एवं पच्चुप्पन्ने पि[2]" – इस प्रकार कहा गया है।

सहजातास्ति – सहजातप्रत्यय में प्रतिपादित प्रत्यय एवं प्रत्ययोत्पन्न धर्म प्रत्युत्पन्न-स्वभाव से विद्यमान होने के कारण अस्तिस्वभाव भी होते हैं। इसलिये 'सहजातास्ति ३ सहजात की तरह है' – ऐसा कहा गया है।

पुरेजातास्ति – 'पुरेजातास्ति दो पुरेजात की तरह होता है'–यहाँ यह वस्तुपुरेजात एवं आलम्बनपुरेजात – इन दो पुरेजात की तरह होता है। वस्तुपुरेजात में प्रतिपादित वस्तुरूप जब प्रत्युत्पन्नधर्म होते हैं, तब वे अस्तिस्वभाव से विद्यमान रहते हैं। आलम्बनपुरेजात धर्म भी अस्तिस्वभाव से विद्यमान प्रत्युत्पन्न-आलम्बन ही होते हैं। (पुरेजातविप्रयुक्त पुरेजात-अस्ति की तरह नहीं होते।)

आहारास्ति एवं इन्द्रियास्ति – पश्चाज्जातास्ति स्वभाव पश्चाज्जातप्रत्यय में कहा जा चुका है। नाम-आहार एवं सहजात इन्द्रिय सहजातास्ति में सम्मिलित हैं। पुरेजात इन्द्रिय भी पुरेजातास्ति में सम्मिलित है। इसलिये 'आहारास्ति रूप-आहार की तरह होता है एवं इन्द्रियास्ति रूपजीवित इन्द्रियप्रत्यय की तरह होता है।

निर्वाण अस्तिप्रत्यय नहीं है – यह प्रश्न होता है कि निर्वाण परमार्थरूप से विद्यमान होने के कारण अस्तिप्रत्यय होता है कि नहीं ?

उत्तर – 'अस्ति' इस शब्द का विचार करने पर कोई धर्म जब विद्यमान होता है, तब प्रत्यय होता है, जब विद्यमान नहीं होता, तब वह प्रत्यय नहीं होता – ऐसा अर्थ सुस्पष्ट ज्ञात होता है। निर्वाण इस तरह कभी विद्यमान या कभी अविद्यमान नहीं होता; अपितु सर्वदा विद्यमान होता है, अतः अस्तिप्रत्यय नहीं होता।

अथवा – किसी एक प्रत्यय की शक्ति अन्य विपरीत प्रत्यय की शक्ति की अपेक्षा से ही व्यक्त होती है। अस्तिप्रत्यय की शक्ति नास्तिप्रत्यय की शक्ति से विपरीत होती है। नास्ति का स्वभाव उत्पाद-स्थिति-भङ्ग रूप से विद्यमान होने के बाद निरुद्ध होनेवाला स्वभाव है। निर्वाण में उस तरह नास्तिशक्ति न होने से उसमें उस नास्तिशक्ति से विपरीत अस्तिशक्ति भी नहीं हो सकती। (निर्वाण में विगत के विपरीत अविगत-शक्ति का न होना भी इसी तरह जानना चाहिये।)

---

१. पट्ठान मू० टी०, पृ० १७५।

२. पट्ठान अनु०, पृ० २३८।

अविगतप्रत्यय – जैसे 'अस्ति' शब्द विद्यमान अर्थ में होता है, उसी तरह 'अविगत' शब्द भी अनिरुद्ध (प्रवृत्त) अर्थ में होता है। इस अविगत प्रत्यय की उपमा पूर्वाचार्यों ने महासमुद्र से दी है, जैसे – महासमुद्र अपने में विद्यमान मत्स्य, कच्छप – आदि जलचर सत्त्वों का जब तक वह सूखता नहीं, तब तक शान्तिपूर्वक जीवित रहने के लिये उपकार करता है। वैसे ही यह अविगतप्रत्यय भी जब तक निरुद्ध नहीं होता, तब तक उपकार करता है। इसलिये परमार्थ स्वभाव से विद्यमान होकर उपकार करनेवाली शक्ति 'अस्तिप्रत्यय' है एवं परमार्थ स्वभाव से अनिरुद्ध होकर उपकार करनेवाली शक्ति 'अविगतप्रत्यय' है।

"अत्थिताय ससभावताय उपकारकता अत्थिपच्चयता, सभावाविगमनेन निरोधस्स अप्पत्तिया उपकारकता अविगतपच्चयता ति पच्चयभावविसेसो धम्माविसेसे पि वेदितब्बो[1]।"

नास्ति एवं विगत प्रत्यय – 'नास्ति' शब्द अभाव के अर्थ में होता है तथा विगत-शब्द निरुद्ध (अप्रवृत्त) अर्थ में होता है। अतः जिस प्रकार बुझा हुआ दीपक अन्धकार के लिये अवकाश प्रदान करता है, उसी तरह अपने अभाव से पीछे होनेवाले धर्मों का उत्पन्न होने के लिये उपकार करना ही 'नास्तिप्रत्यय' है। जिस प्रकार सूर्य की किरणों का निरुद्ध होना, चन्द्रमा के प्रकाशित होने के लिये उपकार करता है, उसी तरह अपने निरोध से पीछे-पीछे के धर्मों को अवकाश देकर उपकार करना 'अविगतप्रत्यय' है। नास्ति का स्वभाव अपने निरोध के अनन्तर शून्यतामात्र है तथा विगत का स्वभाव निरुद्ध होनामात्र है। (निरोध के अनन्तर रहना या न रहना – इसका विगत की शक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका नास्तिशक्ति से सम्बन्ध है।)

"अभावमत्तेन उपकारकता ओकासदानं नत्थिपच्चयता, सभावविगमनेन अप्पवत्तमानानं सभावविगमनेन उपकारकता विगतपच्चयता, नत्थिता च निरोधानन्तरसुञ्ञता, विगतता निरोधप्पत्तता – अयमेतेसं विसेसो[2]।"

परमार्थस्वभाव धर्मों में 'स्पर्श का संस्पर्शन स्वभाव एवं वेदना का अनुभवन स्वभाव' – आदि का यथाभूत ज्ञान दूसरों का उपदेश सुनकर या ग्रन्थ आदि पढ़कर जान लेना मात्र नहीं है। उसका यथाभूत ज्ञान होना अत्यन्त दुष्कर है। उससे भी अधिक दुष्कर उन स्वभावधर्मों की नाना प्रकार की शक्तियों का विभाजन करके एकान्त रूप से जानना है। तथागत ने 'क्लेशधर्मों से विशुद्ध होकर प्रसन्न (स्वच्छ) चित्त-सन्तति में सर्वदा वास करनेवाले सर्वज्ञता ज्ञान के बल से जानकर इन २४ प्रत्ययों का शक्तिविशेष कहा है' – इस प्रकार श्रद्धावान् होकर पुनः पुनः ग्रन्थ देखकर, पण्डितों के समीप जाकर उनसे विचार-विमर्श कर तथा स्वयं गम्भीरतया विचार कर शक्तियों का सम्यक् ज्ञान करने के लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये।

---

१. पट्ठान मू० टी०, पृ० १७५।

२. पट्ठान मू० टी०, पृ० १७५।

"धम्मानं हि सत्तिविसेसे याथावतो अभिसम्बुज्झित्वा तथागतेन चतुवीसति पच्चयविसेसा वुत्ता ति भगवति सद्धाय 'एवं विसेसा एते धम्मा' ति सुतमयञाणं उप्पादेत्वा चिन्ताभावनामयेहि तदभिसमयाय योगो कातब्बो'।"[1]

अस्तिप्रत्यय समाप्त।

पट्ठानत्रिराशिव्याख्या समाप्त।

इस पट्ठानसमुच्चय में प्रतिपादित त्रिराशि के सम्यक् अध्ययन के लिये उन २४ प्रत्ययों का काल, जाति-आदि द्वारा विभाजन करके जानना अत्यावश्यक है। अतः यहाँ संक्षेप में उन्हें काल, जाति-आदि भेद से विभक्त किया जायेगा।

कालभेद

प्रत्युत्पन्न – प्रत्युत्पन्नकाल में १५ प्रत्यय होते हैं, यथा – हेतु, सहजात, अन्योन्य, निश्रय, पुरेजात, पश्चाज्जात, विपाक, आहार, इन्द्रिय, ध्यान, मार्ग, सम्प्रयुक्त, विप्रयुक्त, अस्ति एवं अविगत।

हेतु-आदि प्रत्ययों में प्रत्ययधर्म उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग के रूप में प्रत्युत्पन्नकाल में विद्यमान होते हुये ही उपकार करते हैं। अतीत एवं अनागतकाल में उपकार नहीं करते।

अतीत – अतीतकाल में ५ प्रत्यय होते हैं, यथा – अनन्तर, समनन्तर, आसेवन, नास्ति एवं विगत।

अनन्तरप्रत्यय में पूर्व-पूर्व नामस्कन्ध निरुद्ध होकर अतीत होने पर ही पश्चिम-पश्चिम धर्मों के उत्पाद के लिये उपकार करते हैं। प्रत्युत्पन्न एवं अनागतकाल में उपकार नहीं कर सकते। समनन्तर-आदि भी इसी तरह हैं। (यह प्रत्युत्पन्न, अतीत-आदि भेद केवल प्रत्यय धर्मों से ही सम्बद्ध है, प्रत्ययोत्पन्न धर्मों से नहीं।)

प्रत्युत्पन्न-अतीत – प्रत्युत्पन्न एवं अतीत दोनों काल में उपकार करनेवाला प्रत्यय केवल कर्मप्रत्यय ही है।

दो प्रकार के कर्मप्रत्ययों में से सहजातकर्म उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग से विद्यमान प्रत्युत्पन्नकाल में ही उपकार करता है। नानाक्षणिक कर्म निरुद्ध होकर अतीत होने पर ही उपकार करता है।

त्रैकालिक एवं कालविमुक्त – त्रैकालिक एवं कालविमुक्तप्रत्यय तीन होते हैं, यथा – आलम्बन, अधिपति एवं उपनिश्रय।

रूपालम्बन प्रत्युत्पन्नकाल में भी प्रत्यय होते हैं तथा अतीत एवं अनागतकाल में भी प्रत्यय होते हैं। इस प्रकार रूपालम्बन त्रैकालिक प्रत्यय होते हैं। शब्दालम्बन-आदि को भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

---

१. पट्ठान मू० टी०, पृ० १७५।

धर्मालम्बन में परिगणित निर्वाण एवं प्रज्ञप्ति आलम्बन काल-विमुक्त आलम्बन हैं। अधिपति एवं उपनिश्रय प्रत्ययों को भी इसी प्रकार जानना चाहिये। उपनिश्रय-प्रत्यय में पुद्गल, शयनासन-आदि प्रज्ञप्तियाँ काल-विमुक्त ही होती हैं। यह २४ प्रत्ययों का काल-भेद से विभाजन है।

जाति-भेद

सहजातजाति – सहजातजाति में १५ प्रत्यय होते हैं, यथा – हेतु, सहजाताधिपति, सहजात, अन्योन्य, सहजातनिश्रय, सहजातकर्म, विपाक, नाम-आहार, सहजात-इन्द्रिय, ध्यान, मार्ग, सम्प्रयुक्त, सहजातविप्रयुक्त, सहजातास्ति एवं सहजात-अविगत।

आलम्बनजाति – आलम्बन जाति में ८ प्रत्यय होते हैं, यथा – आलम्बन, आलम्बनाधिपति, वस्त्वालम्बन पुरेजातनिश्रय, आलम्बनोपनिश्रय, आलम्बनपुरेजात, वस्त्वालम्बन पुरेजातविप्रयुक्त, आलम्बन पुरेजातास्ति एवं आलम्बन पुरेजात-अविगत।

अनन्तरजाति – अनन्तरजाति में ७ प्रत्यय होते हैं। यथा – अनन्तर, समनन्तर, अनन्तरोपनिश्रय, आसेवन, प्रकृत्युपनिश्रय और कर्म का एकदेश, नास्ति एवं विगत।

[फल का उपकार करनेवाली मार्गचेतना प्रकृत्युपनिश्रय और नानाक्षणिक कर्म का एकदेश कही गयी है। वह चेतना पश्चिम-पश्चिम चित्त-चैतसिकों का उपकार करनेवाले बलवान् पूर्व चित्तोत्पादों में सम्मिलित होने से प्रकृत्युपनिश्रय का एकदेश कहलाती है। चेतनाधर्म होने से नानाक्षणिक कर्म का एकदेश भी कहलाती है। वह अनन्तर फल धर्मों का उपकार करने से अनन्तरजाति में भी सङ्गृहीत होती है। इन सात अनन्तरजाति प्रत्ययों को अनन्तरोपनिश्रय एवं प्रकृत्युपनिश्रय जाति भी कहते हैं।]

वस्तुपुरेजात जाति – वस्तुपुरेजात जाति में ६ प्रत्यय होते हैं, यथा – वस्तुपुरेजातनिश्रय, वस्तुपुरेजात, पुरेजात-इन्द्रिय, वस्तुपुरेजातविप्रयुक्त, वस्तुपुरेजातास्ति एवं वस्तुपुरेजात-अविगत।

[कुछ लोग इन प्रत्ययों का 'पुरेजात' यह नामकरण करते हैं। यदि पुरेजातमात्र कहा जाता है, तो आलम्बनपुरेजातप्रत्यय भी यहाँ आ जायगा। वे आलम्बन-पुरेजातप्रत्यय आलम्बनजाति में आ चुके हैं। इसलिये अनेक आचार्यों ने इन प्रत्ययों का 'वस्तुपुरेजातजाति' – यह नामकरण किया है।]

पश्चाज्जात जाति – पश्चाज्जात जाति में ४ प्रत्यय होते हैं, यथा – पश्चाज्जात, पश्चाज्जातविप्रयुक्त, पश्चाज्जातास्ति एवं पश्चाज्जात-अविगत।

आहारजाति – आहारजाति में तीन प्रत्यय होते हैं, यथा – रूपआहार, आहारास्ति एवं आहार-अविगत।

रूपजीवितेन्द्रिय जाति – रूपजीवितेन्द्रियजाति में तीन प्रत्यय होते हैं, यथा – रूपजीवितेन्द्रिय, इन्द्रियास्ति एवं इन्द्रिय-अविगत।

प्रकृत्युपनिश्रयजाति – प्रकृत्युपनिश्रय जाति में २ प्रत्यय होते हैं, यथा – १. पश्चिम-पश्चिम चित्त-चैतसिकों का उपकार करनेवाले बलवान् पूर्व-पूर्व चित्तोत्पाद, रूप एवं प्रज्ञप्ति

नामक शुद्ध प्रकृत्युपनिश्रय तथा २. विपाक नामस्कन्ध का उपकार करनेवाले बलवान् कर्म नामक मिश्रक प्रकृत्युपनिश्रय नानाक्षणिक कर्म।

नानाक्षणिक कर्म जाति – नानाक्षणिक कर्म जाति में एक प्रत्यय होता है, यथा – कामविपाक का उपकार करनेवाले दुर्बल कर्म एवं कटत्तारूप का उपकार करनेवाले बलवान् एवं दुर्बल कर्म।

जनक एवं उपष्टम्भक का भेद

उत्पन्न होने मात्र के लिये उपकार करनेवाला तथा स्थितिक्षण में स्थित होने के लिये उपकार न कर सकनेवाला प्रत्यय 'जनकप्रत्यय' है।

जनकप्रत्यय ७ प्रकार के होते हैं, यथा – अनन्तर, समनन्तर, अनन्तर एवं प्रकृति नामक उपनिश्रय का एकदेश, नानाक्षणिक कर्म का एकदेश, आसेवन, नत्थि एवं विगत।

ये सात प्रत्यय अनन्तर उत्पन्न होनेवाले कर्मों का उत्पन्न होने के लिये जनकशक्ति से उपकार करते हैं। स्थितिक्षण एवं भङ्गक्षण में स्थित होने के लिये उपकार नहीं कर सकते।

उत्पन्न करने के लिये स्वयं उपकार न कर जो प्रत्यय अन्य कारणों से उत्पन्न धर्मों को स्थितिक्षण में एवं भङ्गक्षण में स्थित होने के लिये उपष्टम्भन करते हैं, वे प्रत्यय 'उपष्टम्भक प्रत्यय' हैं। वह उपष्टम्भक प्रत्यय केवल १ पश्चाज्जात प्रत्यय ही है। शेष हेतु-आदि १८ प्रत्यय, उत्पन्न होने के लिये भी जनकशक्ति से उपकार कर सकते हैं तथा स्थित होने के लिये भी उपष्टम्भकशक्ति से उपकार कर सकते हैं। इसलिये उन्हें 'जनकोपट्ठम्भक' प्रत्यय कहते हैं।

युगलभेद

यहाँ पाँच प्रकार के युगल होते हैं, यथा – अर्थयुगल, शब्दयुगल, कालप्रतिपक्ष युगल, अन्योन्यप्रतिपक्ष युगल एवं हेतुफल युगल।

इनमें से अनन्तर एवं समनन्तर प्रत्यय 'अर्थयुगल' हैं। निश्रय एवं उपनिश्रय प्रत्यय 'शब्दयुगल' हैं। पुरेजात एवं पश्चाज्जात प्रत्यय 'कालप्रतिपक्ष युगल' हैं। सम्प्रयुक्त एवं विप्रयुक्त प्रत्यय, अस्ति एवं नास्तिप्रत्यय, विगत एवं अविगत प्रत्यय 'अन्योन्यप्रतिपक्ष-युगल' हैं। कर्म एवं विपाक 'हेतुफल युगल' हैं।

भूमि भेद

पञ्चवोकार भूमि में सभी २४ प्रत्यय होते हैं। चतुवोकार भूमि में पुरेजात, पश्चाजात एवं विप्रयुक्तवर्जित २१ प्रत्यय होते हैं। एकवोकार भूमि में सहजात, अन्योन्य, निश्रय, नानाक्षणिककर्म, रूपजीवितेन्द्रिय, अस्ति एवं अविगत – ये ७ प्रत्यय होते हैं।

सर्वासर्वस्थानिक भेद

सभी संस्कृत नाम-रूप धर्म जिस प्रत्यय के विना नहीं हो सकते, उसे 'सर्वस्थानिक प्रत्यय' कहते हैं। वे प्रत्यय ४ होते हैं, यथा – सहजात, निश्रय, अस्ति एवं अविगत। इन प्रत्ययों से अवशिष्ट २० प्रत्यय सभी संस्कृत नाम-रूप धर्मों के कारण नहीं होते; अपितु कुछ नामरूपों के ही कारण होते हैं, अतः वे 'असर्वस्थानिक प्रत्यय' कहलाते हैं।

पट्ठानसमुच्चय समाप्त।

सपरिशिष्ट अभिधम्मत्थसङ्गहो समाप्त।

—:०:—

शब्दानुक्रमणी

आ

ख

ग

घ

ज्ञ

ञा

ट

त

ध

न

प

फ

य

ष

स

—:o:—

उद्धृत-ग्रन्थ-अनुक्रमणिका

-:०:-

गाथा - अनुक्कमणिका

त

द

न

प

भ

म

य

र

ल

व

स

–:०:––

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४७०	५	अकुशल	कुशल
४७१	६	वञ्चते	वुच्चते
४८३	४	शद्धावासा	शुद्धावासा
४८५	३२	मिश्रिता	निश्रिता
४६४	२८	पप्रतिसन्धि	रूपप्रतिसन्धि
५६४	८	कर्मनिमित्त	गतिनिमित्त
,,	१०	,,	,,
,,	१२	,,	,,
,,	१५	,,	,,
,,	१६	,,	,,
५६६	१	सीथि	वीथि
६१६	५	परिच्छदों	परिच्छेदों
६३७	३३	१	२
६५७	११	(हेतु)	'हेतु'
६६१	२५	परिच्छदरूप	परिच्छेदरूप
६६४	१०	एकान्तकर्मज	एकान्तचित्तज
६६६	२७–२८	चक्षुदेशक	चक्षुर्दशक
६६७	२२	अनिरुद्धाचार्य	अनुरुद्धाचार्य
७०६	३	,,	,,
,,	७	,,	,,
,,	११	,,	,,
७८४	४	सम्यक	सम्यक्
७६८	१८	३६	३७
८०७	३	येसङ्खातधम्मानं	येसं सङ्खतधम्मानं
८१४	१	समदय	समुदय
८२४	१	कामभव	कर्मभव
८२४	१८	उत्त्न	उत्पन्न
८२७	१८	निष्पन्दफल	निष्यन्दफल

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८३७	१४	तण्पादान	तण्हुपादान
८४७	१६	पञ्चसङ्खेपो	पञ्चयसङ्खेपो
८८७	१	काट्ठासभावना	कोट्ठासभावना
९२४	१४	पयष्टिशुद्धि	पर्येष्टिशुद्धि

—:०:-